दो शब्द

बहुत वर्षों के बाद निर्ग्रन्थ-प्रवचन-भाष्य का द्वितीय संस्करण पाठकों के हाथों में पहुँच रहा है। इस विशाल ग्रन्थ को पुनः प्रकाशित करने में जिन महानुभावों का पुनीत सहयोग रहा है, उनमें कविवर पं० र० श्री केवल मुनिजी म० विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रथम संस्करण के समय उपाध्याय पं० र० मुनि श्री प्यारचन्दजी म० विद्यमान थे और उन्हीं की प्रबल प्रेरणा से भाष्य की रचना की गई थी। खेद है कि आज उनका पथप्रदर्शन प्राप्त नहीं है। आशा है साहित्यप्रेमी श्री केवल मुनिजी म० उनके अभाव की पूर्ति करेंगे और सर्वजनोपयोगी दिवाकर-साहित्य के प्रसार में समुचित योग देते रहेंगे।

प्रस्तुत भाष्य को अनेक गण्य-मान्य मुनिराजों और विद्वानों ने खूब पसन्द किया है। अनेकानेक पाठकों ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। श्री तिलोकरत्न स्था० जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड पाथर्डी के पाठ्यक्रम में उसे स्थान दिया गया है। मगर लम्बे अर्से से वह अलभ्य हो रहा था। दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय ब्यावर के अधिकारी साधुवाद के पात्र हैं, जिन्होंने साहस करके उसे पुनः सुलभ कर दिया है। साहित्यप्रिय पाठकों का कर्त्तव्य है कि वे इसके अधिक से अधिक प्रचार में अपना सहयोग दें।

निर्ग्रन्थ-प्रवचन-भाष्य में उपलब्ध आगमों के आधार पर जैन धर्म सम्बन्धी मान्यताओं का दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया गया है, जिनमें अहिंसा, समभाव, सत्य और संयम आदि की प्रधानता है। इन दैवी आदर्शों का अनुसरण किए बिना संसार का त्राण नहीं है। आशा है प्रस्तुत रचना से पाठकों के जीवन में दिव्यता की ज्योति जागृत होगी।

भाष्य लेखन में अनेक ग्रन्थों और ग्रन्थकारों की सहायता ली गई है। इन सब के प्रति लेखक हृदय से कृतज्ञता प्रकट करता है।

-: पूर्व ग्राहकों की सूची :-

पुस्तक संख्या		नाम	गांव
१०१	श्रीमान्	वचनमलजी गुलाबचन्दजी सुराणा,	बुलारम
१०१	"	मांगीलालजी भंवरीलालजी श्रीश्रीमाल की माता कुसुमबाई की तरफ से	सिकन्द्राबाद
५०	"	मुलतानमलजी चनणमलजी मरलेचा	बैंगलोर
४५	"	बिरदीचन्दजी मेघजी	बम्बई
२५	"	जुगराजजी भवरलालजी श्रीश्रीमाळ	सिकन्द्राबाद
२५	"	स्वर्गीय जवंतराजजी धारीवाल की धर्मपत्नी सुन्दरबाई की तरफ से	चचलगुडा
२०	"	सायबचन्दजी हस्तीमलजी	सिकन्द्राबाद
१५	"	चम्पालालजी चेतनप्रकाशजी	बैंगलोर
११	"	केशरसिंहजी खींवसरा	उदयपुर
११	"	पारसमलजी की मांताजी की तरफ से	सिकन्द्राबाद
११	"	गणेशीलालजी बाबूलालजी	"
११	"	मूलचन्दजी चुन्नीलालजी दूगड़	हिमापत नगर
७	"	केशरीमलजी सोहनलालजी	तिलोई
५	"	छोगालालजी मिश्रीमलजी बोरा	बुलारम
५	"	खींवराजजी सुराणा सदाबाई की तरफ से	"
५	"	बक्तावरमलजी सुराणा ढोढीबाई की तरफ से	"
५	"	भगवानदासजी	"
५	"	रीखबचन्दजी की माता पार्वतीबाई की तरफ से	"
५	"	भीशमचन्दजी प्रेमराजजी सकलेचा	सिकन्द्राबाद
५	"	के० मांगीलालजी पितलिया	हिमापत नगर
५	"	हीराचन्दजी जेंवतराजजी	"
५	"	जसराजजी पारसमलजी सिंघी	"
५	"	वर जीवन भाई	हैदराबाद
२२	"	गौतम ज्वेलरी मार्ट पाटमार केंट	सीकान
१०	"	मोहनलालजी अमृतलालजी	सोलापुर
१०	"	पुखराजजी सम्पतराजजी	यादगीर
६	"	जयनारायणजी	नासिक
५	"	धर्मचन्दजी कुन्दनमलजी सुराणा	सोलापुर
५	"	कन्हैयालालजी चम्पालालजी	"

दान-दाताओं की सूची

५१)	"	सच्चालालजी दूगड़	कानपुर
५१)	"	मोतीलालजी नेमीचन्दजी	आगरा
१०१)	"	हस्ते पारसमलजी राज कोरपोरेशन ४३/७६ चौक,	कानपुर
२५०)		गुप्त भेंट	

श्री जैनदिवाकरजी म० का संक्षिप्त परिचय

विश्व-वाटिका में अनन्त पुष्प खिले हैं, खिलते हैं और खिलते रहेंगे। वे सब अपनी मधुर मुस्कान के साथ, प्रकृति के अटल-अचल नियम के अनुसार क्षण भर हंस कर, अपने गौरव पर इतरा कर, अन्त में अतीत के अनन्त असीम गर्भ में सदा के लिए विलीन हो जाते हैं। जिस सौन्दर्य-समन्वित सुमन-समूह से संसार में सौरभ नहीं भर जाता, जो निराश हृदयों में आशा एवं उत्साह का नशा नहीं चढ़ा देता, जो अपनी हृदयहारिता से दूसरों के हृदय का हार नहीं बन जाता, जिसमें अपने असाधारण सद्गुणों से जगत् को मुग्ध करने की क्षमता नहीं होती, जिसकी निर्मलता दुनियां के मैल को नहीं धो डालती, आह! उस सुन्दर सुमन का भी कोई जीवन है! उसका जीवन अकारथ है, उसका सौन्दर्य किसी काम का नहीं, उसके असाधारण सद्गुणों से संसार को कुछ भी लाभ नहीं। हां, जो पुष्प अपने सौन्दर्य को, सुरभि को एवं अपने आपको दूसरों के लिए न्यौछावर कर देता है, उसी का जीवन सफल, सार्थक एवं कृतकृत्य हो जाता है, यों तो विश्व-वाटिका में अनन्त पुष्प खिलते हैं और खिलते रहेंगे।

यह जीवनचरित नहीं पढ़ा है, ऐसे पाठकों के लाभार्थ संक्षेप में मुनि श्री के जीवन की मुख्य-मुख्य बातें यहां दी जा रही हैं। आशा है पाठकों को इस से विशेष लाभ होगा और मुनि श्री के आदर्श, पवित्र एवं प्रभावक जीवन से उन्हें प्रेरणा मिलेगी।

जन्म और दीक्षा

मुनिराज का जन्म कार्त्तिक शुक्ला त्रयोदशी, रविवार, विक्रम सं० १६३४ को नीमच (मालवा) में हुआ था। आप के पिता श्री का नाम श्री गंगारामजी और माताजी का नाम श्री केशरां बाई था। आपका बचपन माता-पिता की वात्सल्यमयी गोद में बड़े ही लाड़-प्यार के साथ व्यतीत हुआ। योग्य उम्र होने पर आप ग्रामीण पाठशाला में अध्ययनार्थ प्रविष्ट हुए और वहां गणित, हिन्दी, उर्दू और कुछ अंग्रेजी भाषा का अध्ययन किया।

युवावस्था और दीक्षाग्रहण

महापुरुष यकायक नहीं बनते, वरन् वे अपने पूर्वजन्म के कुछ विशिष्ट संस्कार-कतिपय विशेषताएँ लेकर अवतीर्ण होते हैं। इस प्राकृतिक नियम के अनुसार चरितनायक में बाल्यावस्था से ही कुछ विशेषताएँ थीं। आप में ऐसे कुछ सद्‌गुण विद्यमान थे, जिनसे आपकी असाधारणता टपकती थी। धर्म की ओर बचपन से ही आपकी विशेष अभिरुचि थी। बाल्यावस्था एवं उगती जवानी में जब खेलने-खाने में, मौज-शौक में स्वर्ग का सुख अनुभव हुआ करता है तब आप इसके अपवाद थे। आप का अन्तःकरण विरक्ति के सहज संस्कारों से ओतप्रोत था। आप जल में कमल के समान, संसार-वास करते हुए भी भाव से विरक्त से रहते थे। इसका एक कारण पूर्व-

जन्म के संस्कार और दूसरा कारण शायद माता-पिता की धर्मनिष्ठा थी। आपके माता-पिता भी धर्मानुरागी और आचारपरायण थे। बालक, माता-पिता से केवल शारीरिक संगठन एवं आकृति ही ग्रहण नहीं करता अपितु संस्कार भी बहुलता से ग्रहण करता है। अतएव संतान को धर्मनिष्ठ बनाने के लिए माता-पिता का धर्मनिष्ठ होना अत्यावश्यक है।

एक बार आपकी माताजी ने आपके समक्ष दीक्षा ग्रहण करने की अपनी भावना प्रकट की। यह भावना सुनकर आपको अत्यन्त प्रसन्नता हुई और साथ ही आपने स्वयं भी दीक्षा ग्रहण करने का भाव प्रकट कर दिया। इसके पश्चात् आपको दीक्षा लेने में अनेकानेक विघ्न उपस्थित हुए, फिर भी आपने अपनी दृढ़ता से उन पर विजय प्राप्त की और यद्यपि आपका विवाह हुए सिर्फ दो ही वर्ष व्यतीत हुए थे, फिर भी आपने वैराग्य पूर्वक संवत् १९५२ में कविवर मंगलस्वभावी मुनि श्री हीरालालजी महाराज से मुनि-दीक्षा धारण कर ली।

धन्य है यह वैराग्य! धन्य है यह ज्वलंत अनासक्ति! धन्य है यह दृढ़ता! ऐसे संयमशील मुनिराज धन्य हैं।

यह जीवनचरित नहीं पढ़ा है, ऐसे पाठकों के लाभार्थ संक्षेप में मुनि श्री के जीवन की मुख्य-मुख्य बातें यहां दी जा रही हैं। आशा है पाठकों को इस से विशेष लाभ होगा और मुनि श्री के आदर्श, पवित्र एवं प्रभावक जीवन से उन्हें प्रेरणा मिलेगी।

जन्म और दीक्षा

मुनिराज का जन्म कार्त्तिक शुक्ला त्रयोदशी, रविवार, विक्रम सं० १६३४ को नीमच (मालवा) में हुआ था। आप के पिता श्री का नाम श्री गंगारामजी और माताजी का नाम श्री केशरां बाई था। आपका बचपन माता-पिता की वात्सल्यमयी गोद में बड़े ही लाड़-प्यार के साथ व्यतीत हुआ। योग्य उम्र होने पर आप ग्रामीण पाठशाला में अध्ययनार्थ प्रविष्ट हुए और वहां गणित, हिन्दी, उर्दू और कुछ अंग्रेजी भाषा का अध्ययन किया।

युवावस्था और दीक्षाग्रहण

महापुरुष यकायक नहीं बनते, वरन् वे अपने पूर्वजन्म के कुछ विशिष्ट संस्कार-कतिपय विशेषताएँ लेकर अवतीर्ण होते हैं। इस प्राकृतिक नियम के अनुसार चरितनायक में बाल्यावस्था से ही कुछ विशेषताएँ थीं। आप में ऐसे कुछ सद्गुण विद्यमान थे, जिनसे आपकी असाधारणता टपकती थी। धर्म की ओर बचपन से ही आपकी विशेष अभिरुचि थी। बाल्यावस्था एवं उगती जवानी में जब खेलने-खाने में, मौज-शौक में स्वर्ग का सुख अनुभव हुआ करता है तब आप इसके अपवाद थे। आप का अन्तःकरण विरक्ति के सहज संस्कारों से ओतप्रोत था। आप जल में कमल के समान, संसार-वास करते हुए भी भाव से विरक्त से रहते थे। इसका एक कारण पूर्व-

जन्म के संस्कार और दूसरा कारण शायद माता-पिता की धर्मनिष्ठा थी। आपके माता-पिता भी धर्मानुरागी और आचारपरायण थे। बालक, माता-पिता से केवल शारीरिक संगठन एवं आकृति ही ग्रहण नहीं करता अपितु संस्कार भी बहुलता से ग्रहण करता है। अतएव संतान को धर्मनिष्ठ बनाने के लिए माता-पिता का धर्मनिष्ठ होना अत्यावश्यक है।

एक बार आपकी माताजी ने आपके समक्ष दीक्षा ग्रहण करने की अपनी भावना प्रकट की। यह भावना सुनकर आपको अत्यन्त प्रसन्नता हुई और साथ ही आपने स्वयं भी दीक्षा ग्रहण करने का भाव प्रकट कर दिया। इसके पश्चात् आपको दीक्षा लेने में अनेकानेक विघ्न उपस्थित हुए, फिर भी आपने अपनी दृढ़ता से उन पर विजय प्राप्त की और यद्यपि आपका विवाह हुए सिर्फ दो ही वर्ष व्यतीत हुए थे, फिर भी आपने वैराग्य पूर्वक संवत् १९५२ में कविवर मरुधरस्वामी मुनि श्री हीरालालजी महाराज से मुनि-दीक्षा धारण कर ली।

धन्य है यह वैराग्य! धन्य है यह ज्वलंत अनासक्ति! धन्य है यह दृढ़ता! ऐसे संयमशील मुनिराज धन्य हैं।

जैन दिवाकरजी महाराज की विद्वत्ता का परिचायक है।

अन्य धर्मप्रचारकों की अपेक्षा आपकी प्रचार शैली भी कुछ विशेषता रखती है। धनी-निर्धन, राजा-रंक, उच्च जातीय-हीन जातीय, इत्यादि सभी प्रकार की जनता में आपने प्रचार किया है। राणा, महाराणा, राजा, महाराजा, सेठ, साहूकार एक ओर आप के परम पूत प्रवचन के पीयूष का पान करके अपने आप को धन्य मानते हैं, तो दूसरी ओर आप, समाज में घृणापात्र समझे जाने वाले, जातिमद के कारण ठुकराये हुए व्यक्तियों को भूल नहीं जाते। आप में जैन मुनि के योग्य साम्यभाव विद्यमान है। आप चमारों, खटीकों और वेश्याओं तक को अपना पवित्र संदेश सुनाते हैं और उन्हें ऊंचा उठाने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे लोगों में नैतिक एवं धार्मिक भावनाएं भरते हैं। कितने ही हिंसकों ने आपके उपदेश से आजीवन हिंसा का त्याग किया है, कितने ही मांसभक्षकों ने मांस भक्षण छोड़ कर अपना कल्याण किया है, कितने ही शराबियों ने शराब त्यागी है और भांग, गांजा, तमाखू आदि का भी त्याग किया है।

इस प्रकार मुनि श्री मानव-जाति की नैतिक एवं धार्मिक प्रगति के लिए, जो अन्य समस्त प्रगतियों का मूल है—देवदूत का काम कर रहे हैं।

प्राणी—जगत् में मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है, यह सत्य है, मगर इसका यह अर्थ नहीं है कि मनुष्यों के सिवाय अन्य पशुओं अथवा पक्षियों में चेतना ही नहीं है। अथवा मनुष्य को अन्य प्राणियों पर मनमाना अत्याचार करने का अधिकार है। जैसे मनुष्य को सुख दुःख का संवेदन होता है, उसी प्रकार पशुओं को भी होता है। पशुओं में भी चेतना की अखंड धारा प्रवाहित हो रही है। मगर उन्हें व्यक्त भाषा प्राप्त नहीं है। वे मानवीय भाषा में पुकार नहीं सकते और मनुष्य के कान उनकी पुकार सुन नहीं सकते। तब कौन उन्हें सहृदयता का दान देवे ?

पशुओं का करुण क्रन्दन कान नहीं सुन सकते, मगर हृदय की करुणा, अन्तः-करण की संवेदना उसे अवश्य सुन सकती है। किन्तु वह करुणा एवं संवेदना विरलों को ही प्राप्त होती है। जिन्हें वह प्राप्त होती है वह महामानव की महिमा से मंडित हैं और सच्चे अर्थ में वही मनुष्यता के अधिकारी हैं।

मुनि श्री की करुणा का प्रवाह बहुत विस्तृत और हृदय की संवेदना अतीव उग्र है। इसी से मूक पशुओं का चीत्कार उन्हें सुनाई दिया। उन्होंने सोचा—मनुष्य, पशुओं का वध करता है अर्थात् बड़ा भाई अपने छोटे भाई के प्राणों का ग्राहक बना हुआ है। ऐसा करके बड़ा भाई अपने बड़प्पन को कलंकित करता है और यहां तक कि छुटपन के योग्य भी नहीं रहता। मानव-समाज को इस कलंक से, घोर पाप से, अक्षम्य अपराध से बचाने की ओर महाराज श्री का ध्यान गया। उन्होंने अहिंसा का प्रभावशाली उपदेश

दिया। यही नहीं, वरन् अहिंसा का व्यापक रूप से एवं स्थायी रूप से पालन कराने के लिए आपने राजपूताना के अनेकानेक राजाओं को और ठाकुरों को भी इस भावना के लिए उद्यत किया। यह पहले ही कहा जा चुका है आपका उपदेश हृदय को प्रभावित करने वाला होता है। अतएव आपके सदुपदेश से बहुत से राजाओं एवं जागीरदारों ने अपने-अपने राज्यों में हिंसाबंदी की स्थायी आज्ञाएं जारी की हैं और आपको इस आशय की सनदें लिख दी हैं। उदयपुर के महाराणा साहब ने अनेक बार आपको सदुपदेश देने के लिए आमंत्रित किया है। सं० १९९५ में श्री महाराणा साहब ने खास तौर से अपने कर्मचारी भेजकर उदयपुर में चातुर्मास करने की प्रार्थना की थी। आपने महाराणा सा० की प्रार्थना स्वीकार कर उदयपुर में चातुर्मास किया। कई वार श्री महाराणाजी साहेब ने धर्मोपदेश श्रवण किया, जिसके फल-स्वरूप अनेक उपकार हुए। वर्त्तमान महाराणा सा० के पिताजी भी आपके भक्त थे और आपके उपदेश से उन्होंने भी जीवदया के लिए अनेक कार्य किये थे। मेवाड़, मालवा एवं मारवाड़ के अनेकों जागीरदारों को आपने जीवदया का अमृत पिलाया है और अमुक २ अवसरों पर उन्होंने जीवहिंसा की पूर्ण रूप से या आंशिक रूप से बन्दी की है। यहां विस्तार भय से इन सब बातों का और उन सनदों का उल्लेख नहीं किया जा सकता। जिज्ञासु पाठकों को 'आदर्श मुनि' आदर्श-उपकार पढ़ना चाहिये। 'आदर्श मुनि' लिखे जाने के पश्चात् भी बहुत-सी ऐसी सनदें प्राप्त हुई हैं। तात्पर्य यह है कि मुनि श्री ने न केवल मानव-जाति पर, अपितु पशु-पक्षीगण पर भी असीम उपकार किये हैं। आपने अपना सम्पूर्ण जीवन ही धर्मोपदेश एवं जीवदया के प्रचार के निमित्त अर्पित कर दिया है। उच्च पदस्थ यूरोपियन टेलर साहब जैसे विदेशियों को भी उपदेश देकर आपने जीव दया की ओर आकर्षित किया है।

आपके प्रचार में आपके मधुर स्नेहशील, और प्रसन्नतापूर्ण स्वभाव ने भी काफी सहायता पहुँचाई है। आपके चेहरे पर एक प्रकार की ऐसी प्रसन्नता नृत्य करती रहती है कि सामने वाला शीघ्र ही उसके वश हो जाता है। आपकी प्रकृति बड़ी ही मिलनसार, सीधी-सादी और आकर्षक है।

वक्तृत्व

वक्तृत्वशैली के आकर्षण ने आप को बहुत ही उच्च पद पर प्रतिष्ठित कर दिया है। आप प्रारम्भ से ही-स्वभावसिद्ध वक्ता हैं। व्याख्यान मधुरतामय, सरलतामय, मनोरंजक परन्तु प्रभावशाली होते हैं। जिन्होंने महाराज श्री का एक भी व्याख्यान सुना है वह जानते हैं कि आपके श्रोता किस प्रकार चित्रलिखित-से रह जाते हैं। मुनि श्री का उपदेश सुनकर श्रोता यह समझने लगते हैं कि वे हमारे हृदय के रहस्यों को जानते हैं, वे हमारे दुःखों के निवारक और पापों से त्राता हैं। आपने बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, कन्या विक्रय, अहिंसा, धर्म, मांसाहार, मदिरापान, कुशीलसेवन, संगति, एकता, संगठन, क्षमा, दया, सत्य, क्रोध, मोक्षमार्ग, मनुष्यकर्त्तव्य, लोक सेवा, भक्ति, वैराग्य, अध्यात्म, प्रेम, ज्ञान, आत्मज्ञान, दृढ़ता, इच्छा शक्ति, कर्त्तव्यपालन, संसार की असारता, सामाजिक जीवन, दुराग्रह त्याग, सदाचार, विद्या, तपस्या का आदर्श, जीवन संग्राम में विजय, अतीत स्मृति, धार्मिक पतन, ब्रह्मचर्य, इन्द्रियनिग्रह, पर्युषण पर्व और जैन धर्म, जैनधर्म की श्रेष्ठता, धर्म की तात्त्विक एवं व्यावहारिक मीमांसा, गार्हस्थ्यजीवन, मन की महत्ता, सत्यनिष्ठा इत्यादि इत्यादि अनेक सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, नैतिक, दार्शनिक और व्यावहारिक विषयों पर खूब गवेषणापूर्वक विवेचन किया है और कर रहे हैं एवं मानव जीवन को सर्वाङ्ग-सुन्दर बनाने का भगीरथ प्रयत्न किया है। आप के भाषण सुनकर अनेक कुमार्गगामी सुमार्गगामी बन गये हैं।

आपका हृदय अत्यन्त उदार और सहिष्णु है। आपको किसी सम्प्रदाय विशेष से घृणा या द्वेष तो है ही नहीं, साथ ही आप सब को प्रेम दृष्टि से देखते हैं। यही कारण है कि आप के व्याख्यान में मुसलमान, ईसाई, आर्यसमाजी एवं वैदिक आदि भी खूब रस लेते हैं। आप के व्याख्यान प्रायः सार्वजनिक ही होते हैं। व्याख्यान में आपके उच्चतम और उदार आचार-विचार के चिह्न स्पष्ट रूप से अंकित पाये जाते हैं। आप प्रायः प्रतिदिन, घण्टों व्याख्यान देते हैं।

विशाल अध्ययन

मुनि श्री की वक्तृत्वशैली पर कुछ कहा जा चुका है। एक अच्छे व्याख्याता के लिए और उसमें भी दैनिक व्याख्याता के लिए कितने अधिक वाचन, मनन और अध्ययन आवश्यक है, यह बात विद्वान लोग भली-भांति जानते हैं। विशाल अध्ययन के

निर्ग्रन्थप्रवचन-माहात्म्य

किंपाक फल बाहरी रंग-रूप से चाहे जितना सुन्दर और मनोमोहक दिखलाई पड़ता हो परन्तु उसका सेवन परिणाम में दारुण दुःखों का कारण होता है। संसार की भी यही दशा है। संसार के भोगोपभोग आमोद-प्रमोद, हमारे मन को हरण कर लेते हैं। एक दरिद्र, यदि पुण्योदय से कुछ लक्ष्मी प्राप्त कर लेता है तो मानों वह कृतकृत्य हो जाता है। संतान की कामना करने वाले को यदि संतानप्राप्ति हो गई तो, बस वह निहाल हो गया। जो अदूरदर्शी हैं, वहिरात्मा हैं, उन्हें यह सब सांसारिक पदार्थ मूढ़ बना देते हैं। कंचन और कामिनी की माया उसके दोनों नेत्रों पर अज्ञान का ऐसा पर्दा डाल देती है कि उसे इनके अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नहीं। यह माया मनुष्य के मन पर मदिरा का सा किन्तु मदिरा की अपेक्षा अधिक स्थायी प्रभाव डालती है। वह बेभान हो जाता है। ऐसी दशा में वह जीवन के लिए मृत्यु का आलिंगन करता है, अमर बनने के लिए जहर का पान करता है, सुखों की प्राप्ति की इच्छा से भयंकर दुःखों के जाल की रचना करता है। मगर उसे जान पड़ता है, मानों वह दुःखों से दूर होता जाता है।

अन्त में एक ठोकर लगती है। जिसके लिए मरे पचे खून का पसीना बनाया, वही लक्ष्मी लात मार कर अलग जा खड़ी होती है। जिस संतान के सौभाग्य का उपयोग करके फूले न समाते थे, आज वही संतान हृदय के मर्म स्थान पर हजारों चोटें मार कर न जाने किस ओर चल देती है। वियोग का वज्र ममता के शैल-शिखर को कभी-कभी चूर्ण-विचूर्ण कर डालता है। ऐसे समय में यदि पुण्योदय हुआ तो आंखों का पर्दा दूर हो जाता है और जगत् का वास्तविक स्वरूप एक वीभत्स नाटक की तरह नजर आने लगता है। वह देखता है—आह! कैसी भीषण अवस्था है। संसार के प्राणी मृग-मरीचिका के पीछे दौड़ रहे हैं, हाथ कुछ आता नहीं। "अर्था न सन्ति न च मुञ्चति मां दुराशा" मिथ्या आकांक्षाएं पीछा नहीं छोड़ती और आकांक्षाओं के अनुकूल अर्थ की कभी प्राप्ति नहीं होती। यहां दुःखों का क्या ठिकाना है? प्रातःकाल जो राजसिंहासन पर आसीन थे, दोपहर होते ही वे दर-दर के भिखारी देखे जाते हैं। जहां अभी रंग रेलियां उड़ रही थीं वहीं क्षण भर में हाय हाय की चीत्कार हृदय को चीर डालती है। ठीक ही कहा है--"काहू घर पुत्र जायो काहू के वियोग आयो, काहू राग रंग काहु रोआ रोई परी है।"

गर्भवास की विकट वेदना, व्याधियों की धमा चौकड़ी, जरा-मरण की व्यथाएं नरक और तिर्यंच गति के अपरम्पार दुःख!! सारा संसार मानों एक विशाल भट्टी है और प्रत्येक संसारी जीव उसमें कोयले की नांई जल रहा है!!

वास्तव में संसार का यही सच्चा स्वरूप है। मनुष्य जब अपने आन्तरिक नेत्रों से संसार की इस अवस्था में देख पाता है तो उसके अन्तःकरण में एक अपूर्व

में देख पाते हैं।

हम पहले ही कह चुके हैं कि निर्ग्रन्थों का प्रवचन किसी भी प्रकार की सीमाओं से आवद्ध नहीं है। यही कारण है कि वह ऐसी व्यापक विधियों का विधान करता है जो आध्यात्मिक दृष्टि से अत्युत्तम तो हैं ही, साथ ही उन विधानों में से ऐहलौकिक सामाजिक सुव्यवस्था के लिए सर्वोत्तम व्यवहारोपयोगी नियम भी निकलते हैं। संयम, त्याग, निष्परिग्रहता (और श्रावकों के लिए परिग्रहपरिमाण) अनेकान्तवाद और कर्मादानों की त्याज्यता प्रभृति ऐसी ही कुछ विधियां हैं, जिनके न अपनाने के कारण आज समाज में भीषण विशृंखला दृष्टिगोचर हो रही है। निर्ग्रन्थों ने जिस मूल आशय से इन बातों का विधान किया है उस आशय को सन्मुख रखकर यदि सामाजिक विधानों की रचना की जाय तो समाज फिर हरा भरा, सम्पन्न, सन्तुष्ट और सुखमय बन सकता है। आध्यात्मिक दृष्टि से तो इन विधानों का महत्व है ही पर सामाजिक दृष्टि से भी इनका उससे कम महत्व नहीं है। संयम, उस मनोवृत्ति के निरोध करने का अद्वितीय उपाय है जिससे प्रेरित होकर समर्थ जन आमोद प्रमोद में समाज की सम्पत्ति को × स्वाहा करते हैं। त्याग एक प्रकार के बंटवारे का रुपान्तर है। परिग्रह परिणाम और भोगोपभोग परिणाम, एक प्रकार के आर्थिक साम्यवाद का आदर्श हमारे सामने पेश करते हैं, जिनके लिए आज संसार का बहुत सा भाग पागल हो रहा है। विभिन्न नामों के आवरण में छिपा हुआ यह सिद्धान्त ही एक प्रकार का साम्यवाद है। यहां पर इस विषय को कुछ अधिक लिखने का अवसर नहीं है---तथापि निर्ग्रन्थ-प्रवचन समाज को एक बड़े और आदर्श कुटुम्ब की कोटि में रखता है, यह स्पष्ट है। इसी प्रकार अनेकान्तवाद मतमतान्तरों की मारामारी से मुक्त होने का मार्ग निर्देश करता है और निर्ग्रन्थों की अहिंसा के विषय में कुछ कहना तो पिष्टपेषण ही है। अस्तु।

निर्ग्रन्थ-प्रवचन की तासीर उन्नत बनाना है। नीच से नीच, पतित से पतित, और पापी से पापी भी यदि निर्ग्रन्थ-प्रवचन की शरण में आता है तो उसे भी वह अलौकिक आलोक दिखलाता है, उसे सन्मार्ग दिखलाता है और जैसे धाय माता गंदे बालक को नहला-धुलाकर साफ-सुथरा कर देती है उसी प्रकार यह मलीन से मलीन आत्मा के मैल को हटाकर उसे शुद्ध-विशुद्ध कर देता है। हिंसा की प्रतिमूर्त्ति भयंकर हत्यारे अर्जुन माली का उद्धार करने वाला कौन था? अंजन जैसे चोरों को किसने तारा है? लोक जिसकी परछाई से भी घृणा करते हैं ऐसे चाण्डाल जातीय हरिकेशी को परमादरणीय और पूज्य पद पर प्रतिष्ठित करने वाला कौन है? प्रभव जैसे भयंकर चोर की आत्मा का निस्तार करके उसे भगवान् महावीर का उत्तराधिकारी बनाने का सामर्थ्य किसमें था? इन सब प्रश्नों का उत्तर एक ही है और पाठक उसे समझ गए हैं। वास्तव में निर्ग्रन्थ-प्रवचन पतितपावन है, अशरण-शरण

× क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति समाज का एक एक अंग है अतः उसकी व्यक्तिगत कही जाने वाली सम्पति भी वस्तुतः समाज सम्पत्ति है।

है, अनाथों का नाथ है, दीनों का बन्धु है और नारकियों को भी देव बनाने वाला है। वह स्पष्ट कहता है—

अपवित्रः पवित्रो वा, दुस्थितो सुस्थितोऽपि वा।
यः स्मरेत्परमात्मानम्, स बाह्याभ्यन्तरे शुचिः॥

जिन मुमुक्षु महर्षियों ने आत्महित के पथ का अन्वेषण किया है उन्हें निर्ग्रन्थ प्रवचन की प्रशांत छाया का ही अन्त में आश्रय लेना पड़ा है। ऐसे ही महर्षियों ने निर्ग्रन्थ-प्रवचन की यथार्थता, हितकरता और शान्ति-संतोषप्रदायकता का गहरा अनुभव करने के बाद जो उद्गार निकाले हैं, वे वास्तव में उचित ही हैं और यदि हम चाहें तो उनके अनुभवों का लाभ उठाकर अपना पथ प्रशस्त बना सकते हैं। क्या ही ठीक कहा है—

"इणमेव निग्गंथे पावयणे सच्चे, अणुत्तरे, केवलए संसुद्धे, पडिपुण्णे, णेआउए, सल्लकत्तणे, सिद्धिमग्गे, मुत्तिमग्गे, निव्वाणमग्गे, णिज्जाणमग्गे, अवितहमसंदिद्धं सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे, इहट्ठियाजीवा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति परिणिव्वायंति, सव्वदुक्खाणमंतं करेंति।"

यह उद्गार उन महर्षियों ने प्रकट किये हैं जिन्होंने कल्याणमार्ग की खोज करने में अपना सारा जीवन अर्पण कर दिया था और निर्ग्रन्थ-प्रवचन के आश्रय में आकर जिनकी खोज समाप्त हुई थी। यह उद्गार निर्ग्रन्थ-प्रवचन-विषयक यह स्वरूपोल्लेख, हमें दीपक का काम देता है।

यों तो अनादिकाल से ही समय-समय पर पथप्रदर्शक निर्ग्रन्थ तीर्थङ्कर होते आए हैं परन्तु आज से लगभग अढ़ाई हजार वर्ष पहले चरम निर्ग्रन्थ भ० महावीर हुए थे। उन्होंने जो प्रवचन-पीयूष की वर्षा की थी, उसी में का कुछ अंश यहां संग्रहीत किया गया है।

यह निर्ग्रन्थ-प्रवचन परम मांगलिक है, आधि-व्याधि-उपाधियों को शमन करने वाला, बाह्याभ्यान्तर रिपुओं को दमन करने वाला और समस्त इह-परलोक सम्बन्धी भयों को निवारण करनेवाला है। वह एक प्रकार का महान् कवच है। जहाँ इसका प्रचार है वहाँ भूत-पिशाच, डाकिनी शाकिनी आदि का भय फटक भी नहीं सकता। जो इस प्रवचन-पोत पर आरूढ़ होता है वह भीषण विपत्तियों के सागर को सहज ही पार कर लेता है। यह मुमुक्षु जनों के लिए परम सखा, परम पिता, परम सहायक और परम मार्गनिर्देशक है।

अकारानुक्रमणिका

सांकेतिक शब्दों का खुलासा

(List of Abbreviations)

द = दशवैकालिक सूत्र, अ = अध्याय, गा = गाथा, जी = जीवाभिगम सूत्र, प्रक = प्रकरण, उद्दे = उद्देशा, उ = उत्तराध्ययन सूत्र, स्था = स्थानाङ्ग सूत्र, प्रश्न = प्रश्न व्याकरण सूत्र, सम = समवायांग सूत्र, सू = सूत्र कृताङ्ग सूत्र, प्रथ = प्रथम, ज्ञा = ज्ञाता धर्म कथाङ्ग सूत्र, आ = आचाराङ्ग सूत्र, द्वि = द्वितीय, भ = भगवती सूत्र, श = शतक ।

तृतीय-अध्याय धर्म स्वरूप वर्णन

चतुर्थ अध्याय-आत्म शुद्धि के उपाय

पंचम अध्याय-ज्ञान प्रकरण

छठा अध्याय-सम्यक्त्व निरूपण

श्री निर्ग्रन्थ प्रवचन
विषयानुक्रम

तृतीय-अध्याय धर्म स्वरूप वर्णन

चतुर्थ अध्याय-आत्म शुद्धि के उपाय

पंचम अध्याय-ज्ञान प्रकरण

छठा अध्याय-सम्यक्त्व निरूपण

सातवां अध्याय–धर्म निरूपण

आठवां अध्याय–ब्रह्मचर्य निरूपण

नववां अध्याय–साधुधर्म

बारहवां अध्याय–लेश्या स्वरूप निरूपण

तेरहवां अध्याय–कषाय वर्णन

चौदहवां अध्याय-वैराग्य संबोधन

पन्द्रहवां अध्याय-मनोनिग्रह

सोलहवां अध्याय—आवश्यक कृत्य

सत्रहवां अध्याय—नर्क स्वर्ग निरूपण

अठारहवां अध्याय—मोक्ष-स्वरूप

——×——

आदि में आत्म-स्वरूप का निरूपण द्वादशांगी रूप निर्ग्रन्थ-प्रवचन से प्रस्तुत निर्ग्रन्थ-प्रवचन की एक-रूपता सिद्ध करता है।

प्राकृत गाथा में, आत्मा के सम्बन्ध में प्रधान रूप से तीन विषयों पर विचार किया गया है। वे इस प्रकार हैं:—

(१) आत्मा इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है, क्योंकि वह अमूर्त्त है; जो-जो अमूर्त्त होता है, वह इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं होता; जैसे आकाश। आत्मा अमूर्त्त है अतएव वह इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है।

यहां 'आत्मा इन्द्रियग्राह्य नहीं है' यह प्रतिज्ञा-वाक्य है। 'क्योंकि वह अमूर्त्त है' यह हेतु है। 'जो-जो अमूर्त्त होता है वह इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं होता' यह अन्वयव्याप्ति है। आकाश अन्वय दृष्टान्त है। शेष उपनय और निगमन अंग हैं। इस प्रकार न्याय शास्त्रानुसार अनुमान वाक्य द्वारा आत्मा की इन्द्रिय-ग्राह्यता का निषेध किया गया है।

(२) दूसरे अनुमान-वाक्य द्वारा आत्मा की नित्यता सिद्ध की गई है। आत्मा नित्य है, क्योंकि वह अमूर्त्त है, जो अमूर्त्त होता है वह नित्य होता है, जैसे आकाश। आत्मा अमूर्त्त है अतएव वह नित्य है।

(३) आत्मा यदि नित्य है तो सदैव एक रूप रहना चाहिए। कभी मनुष्य, कभी देव, नारक, पशु-पक्षी आदि विभिन्न अवस्थाओं में वह क्यों प्राप्त होता है? नित्य मानने से जो आत्मा जिस पर्याय में है वह उसी पर्याय में रहेगा। जो दुःखी है वह सदा दुःखी रहेगा और जो सुखी है वह सदा सुखी रहेगा। ऐसी अवस्था में व्रत, अनुष्ठान, तपश्चर्या आदि क्रियाएं व्यर्थ हो जाएंगी।

इस शंका का समाधान करने के लिए उत्तरार्ध में कहा गया है कि मिथ्यात्व, अविरति, कषाय आदि कारणों से आत्मा के साथ कर्मों का बन्ध होता है और उस कर्मबन्ध के कारण ही आत्मा विभिन्न पर्याय-परम्परा का अनुभव करती है। कर्म-बन्ध ही संसार के अर्थात् नरकगति, तिर्यञ्चगति, देवगति और मनुष्यगति के भ्रमण का कारण है।

शंका—आत्मा यदि इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जा सकता तो मन भी आत्मा को जानने में समर्थ नहीं हो सकता। क्योंकि इन्द्रियों द्वारा गृहीत वस्तु ही मन के द्वारा जानी जा सकती है। जिस पदार्थ में इन्द्रियों की प्रवृत्ति नहीं होती उसमें मन भी प्रवृत्त नहीं हो सकता। इस अवस्था में आत्मा को जानने का कोई साधन ही हमारे पास नहीं है, फिर आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास करने का क्या उपाय है?

समाधान—जो वस्तु इन्द्रियों और मन के द्वारा नहीं जानी जाती उसका अस्तित्व अगर अस्वीकार कर दिया जाय तो संसार के बहुत से व्यापार गड़बड़ में पड़ जाएँगे। यही नहीं, बल्कि शंकाकार का अस्तित्व भी सिद्ध नहीं हो सकेगा। कोई भी व्यक्ति अपनी दो-चार पीढ़ियों के पूर्वजों से पहले के पूर्वजों को इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं करता, फिर भी क्या उनके अस्तित्व से इन्कार किया जा सकता है?

कदापि नहीं। इससे यह स्पष्ट हुआ कि पदार्थों को जानने के लिये केवल इन्द्रियां और मन ही साधन नहीं है किन्तु इनके अतिरिक्त अन्य साधन भी हैं। आकाश, काल आदि पदार्थ जैसे इन्द्रिय-ग्राह्य न होने पर भी विद्यमान हैं उसी प्रकार आत्मा भी विद्यमान है।

इन्द्रियों की शक्ति अत्यन्त परिमित है। स्पर्शन-इन्द्रिय सिर्फ स्पर्श को, रसना इन्द्रिय रस को, घ्राण-इन्द्रिय गंध को, चक्षु-इन्द्रिय रूप को और श्रोत्र इन्द्रिय सिर्फ शब्द को ग्रहण करती है। रूप, रस, गंध और स्पर्श आदि सिर्फ जड़ पुद्गल में ही पाये जाते हैं अतएव उसी को इन्द्रियां ग्रहण कर पाती हैं। पुद्गल भी जो सूक्ष्म या अणु रूप होते हैं उन्हें भी इन्द्रियां ग्रहण नहीं कर सकतीं। अतएव सिर्फ इन्द्रियों को और उनके अनुगामी मन को ही ज्ञान का साधन मान लेना पर्याप्त नहीं है। अरूपी और सूक्ष्म रूपी पदार्थों को जानने के लिए अन्यान्य साधन स्वीकार करने पड़ेंगे। आत्मा इन्द्रिय-ग्राह्य गुणों से अर्थात् रूप आदि से रहित है। आचारांग सूत्र में कहा है:—

"से ण दीहे, ण हस्से, ण वट्टे, न तंसे, ण चउरंसे, ण परिमंडले, ण किण्हे, ण णीले, ण लोहिए, ण सुक्किल्ले, ण सुरहिगंधे, ण दुरहिगंधे, ण तित्ते, ण कडुए, ण कसाए, ण अंबिले, ण महुरे, ण कक्खडे, ण मउए, ण गरुए, ण लहुए, ण सीए, ण उण्हे, ण णिद्धे, ण लुक्खे, ण काओ, ण रुहे, ण संगे, ण इत्थी, ण पुरिसे,.......... अरूवी सत्ता .... से ण सद्दे, ण रूवे, ण गंधे, ण रसे, ण फासे।"

अर्थात्:– आत्मा न लम्बा है, न छोटा है, न गोल है, न तिकोना है, न चौकोर है, न परिमंडल है, न काला है, न नीला है, न लाल है, न सफेद है, (अर्थात् चक्षु-इन्द्रिय ग्राह्य गुणों से रहित है) न सुगन्धी है, न दुर्गन्धी है, (घ्राण ग्राह्य गुणों से रहित है) न तिक्त है, न कटुक है, न कसायला है, न खट्टा है, न मीठा है, (जिह्वा-इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है) न कठोर है, न कोमल है, न भारी है, न हल्का है, न ठंडा है, न गर्म है, न चिकना है, न रूखा है, (अर्थात् स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता) न शरीर है, न उत्पादवान् है, न किसी से सम्बद्ध है, न स्त्री है, न पुरुष है।..... वह अरूपी सत्ता है।.......... आत्मा शब्द नहीं है, रूप नहीं है, गंध नहीं है, रस नहीं है, स्पर्श नहीं है।"

तात्पर्य यह है कि:—उल्लिखित गुण पुद्गल के हैं और आत्मा पुद्गल रूप न होने के कारण इन समस्त गुणों से अतीत है—अरूपी है—अमूर्तिक है और इसी कारण वह इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है।

शंका:—इन्द्रियों के द्वारा आत्मा का ग्रहण नहीं होता तो उसे किस प्रकार जाना जा सकता है?

समाधान:—अनुभव-प्रत्यक्ष से, योगी प्रत्यक्ष से अनुमान प्रमाण से और आगम प्रमाण से आत्मा का अस्तित्व प्रमाणित होता है।

(क) अनुभव समस्त प्रमाणों में मुख्य प्रमाण है। उसके आधार पर जो निर्णय किया जाता है वह सर्वथा असंदिग्ध होता है। 'मैं सुखी हूं, मैं दुखी हूं।' इस प्रकार का अनुभव शरीर में नहीं किन्तु उस से भिन्न होता है अतएव इस अनुभव प्रमाण से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है।

(ख) जिन महापुरुषों ने तपश्चरण आदि के द्वारा कैवल्य प्राप्त किया है, जो सर्वज्ञ हो चुके हैं उन्हें प्रत्यक्ष से आत्मा की प्रतीति होती है। उनकी प्रतीति के आधार पर भी हम आत्मा का अस्तित्व स्वीकार कर सकते हैं, क्योंकि वह अभ्रान्त है।

(ग) किसी भी वस्तु का अस्तित्व उसके असाधारण गुणों के कारण सिद्ध होता है। एक वस्तु से दूसरी वस्तु को भिन्न सिद्ध करने का भी एक मात्र उपाय असाधारण गुण ही है। आग से जल को पृथक मानने का कारण यही है कि एक में उष्णता है और दूसरे में शीतलता। यह गुण दोनों के असाधारण हैं अत अग्नि और जल को एक नहीं माना जा सकता। आत्मा में चैतन्य नामक ऐसा असाधारण गुण है जो किसी भी अन्य वस्तु में नहीं पाया जाता, अतएव आत्मा समस्त वस्तुओं से भिन्न है।

(घ) प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषय को जानती है। आँख से रूप का, जिह्वा से रस का, घ्राण से गंध का और श्रोत्र से शब्द का ज्ञान होता है। एक इन्द्रिय का दूसरी इन्द्रिय के विषय से कोई सरोकार नहीं है। ऐसी अवस्था में अगर इन्द्रियों को ही ज्ञाता माना जाय और उनसे भिन्न आत्मा स्वीकार न किया जाय तो सब इन्द्रियों के विषयों का जोड़ रूप ज्ञान कभी नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि 'मैंने रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द को जाना' इस प्रकार का संकलना रूप ज्ञान कदापि नहीं हो सकेगा। किन्तु जब हम पापड़ खाते हैं तब स्पर्श का, रस का, गंध का, रूप का और चर्र-चर्र शब्द का ज्ञान हमें होता है और हम यह भी जानते हैं कि 'इन पांचों विषयों का मुझे ज्ञान हो रहा है' अतएव इंद्रियों के विषयों को जोड़ रूप में जानने वाला इन्द्रियों से भिन्न कोई पदार्थ अवश्य मानना चाहिये और वही पदार्थ आत्मा है।

(ङ) आत्मा ही पदार्थों को जानता है. इन्द्रियाँ नहीं, क्योंकि इन्द्रियों के नाश हो जाने पर भी इन्द्रिय द्वारा जाने हुए पदार्थ का स्मरण होता है। आंख से आज किसी वस्तु को देखा। संयोगवश कल आंख फूट गई। तब क्या आंख से देखे हुए पदार्थ का स्मरण नहीं होता ? अवश्य होता है। इससे भली भांति सिद्ध है कि इन्द्रियों के अभाव में भी जानने वाला कोई पदार्थ है और वही पदार्थ आत्मा है।

(च) 'एगे आया' 'अत्थि मे आया उववाइए' इत्यादि आगम-प्रमाण से भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। नास्तिक चार्वाकों का कथन है कि:—

एए पंच महब्भूया, तेब्भो एगोत्ति आहिया।
अह तेसिं विणासेणं, विणासो होई देहिणो ॥ —सूयगडांग।

अर्थात्:—पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश—यह पांच महाभूत हैं। इन पांच महाभूतों से एक आत्मा उत्पन्न होता है। इन भूतों का नाश होने पर आत्मा का भी नाश हो जाता है।

चार्वाकों का यह कथन भ्रमपूर्ण है। क्योंकि पृथिवी आदि भूतों के गुण और हैं और आत्मा का गुण (चैतन्य) और है। जहां गुण में भेद होता है वहाँ उनके आधारभूत गुणी में भी भेद होता है। अगर यह कहा जाय कि अलग-अलग एक-एक भूत में चैतन्य को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है किन्तु सब भूत मिलकर जब शरीर का आकार धारण करते हैं तब उनसे चैतन्य उत्पन्न होता है, तो इसका समाधान यह होगा कि जो गुण प्रत्येक पदार्थ में—जुदी-जुदी अवस्था में नहीं होता वह उनके समूह में भी नहीं हो सकता। रेत के एक कण में अगर चिकनापन नहीं है तो वह रेत के ढेर में भी नहीं आ सकता। पृथिवी आदि सभी भूत अगर चैतन्यहीन हैं तो उन सब का समूह भी चैतन्यहीन ही होगा। अगर जुदी-जुदी अवस्था में भी भूतों में चेतना शक्ति स्वीकार की जाय तो जब पांचों मिलकर शरीर का आकार धारण करते हैं तब एक शरीर में ही पांच चेतनाएं पाई जानी चाहिए।

इसके अतिरिक्त यदि पांच भूतों के समूह से चैतन्य की उत्पत्ति मानी जाय तो जीव की कभी मृत्यु नहीं होनी चाहिए, क्योंकि मृतक शरीर में भी पांचों भूत विद्यमान रहते हैं।

शंका—मृतक शरीर में वायु और तेज नहीं रहते इसी कारण जीव मृत कहलाता है। अतः मृत शरीर में पांचों भूतों का सद्भाव बताना ठीक नहीं ?

समाधानः—मृतक शरीर में सूजन देखी जाती है अत. वहां वायु का सद्भाव अवश्य है और मवाद की उत्पत्ति होने के कारण तेज का सद्भाव भी मानना पड़ेगा। इस प्रकार पांचों भूतों का अस्तित्व बने रहने के कारण किसी भी जीव की कभी मृत्यु न होनी चाहिए। मगर मृत्यु सभी प्राणियों की यथावसर होती है अतः सिद्ध है कि पांच भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति नहीं हुई है; वरन् चैतन्य गुण वाला आत्मा अलग है।

आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध करने के लिए ऊपर जो कुछ कहा गया है उसके अतिरिक्त और भी अनेक युक्तियां दी जा सकती हैं। जैसे एक ही माता-पिता की सन्तान में बहुत अन्तर देखा जाता है। कोई प्रमादी, अज्ञान, उद्दण्ड और कषायी होता है, कोई उद्योगशील, बुद्धिमान् नम्र और शान्तस्वभाव वाला होता है। एक साथ उत्पन्न होने वाले दो बालकों के स्वभाव में भी यह अन्तर पाया जाता है, इसका कारण पूर्व जन्म के संस्कार ही हैं। पूर्व जन्म के संस्कार तभी अपना प्रभाव दिखला सकते हैं जब परलोक से आने वाला आत्मा स्वीकार किया जाय।

यूरोप में आत्मा और परलोक की खोज के लिए एक परिषद् की स्थापना हुई थी। उसमें यूरोप के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध नास्तिक वैज्ञानिक थे। उन्होंने कई वर्षों तक अन्वेषण करने के पश्चात् परलोक का अस्तित्व स्वीकार किया था और इस प्रकार

आत्मा की नित्यता को स्वीकार किया था। जो लोग विज्ञान को पुरस्कृत करके आत्मा के सम्बन्ध में विचार करते हैं उन्हें इन विज्ञान के आचार्यों की सम्मति का अध्ययन करना चाहिए। ※

कभी-कभी जाति-स्मरण की घटनाएं प्रकाश में आती हैं। यह घटनाएं भी पर-लोक का अस्तित्व प्रमाणित करती हैं। देहली की शान्ति बाई नामक बालिका की घटना बहुत पुरानी नहीं हुई है। उसने अपने पूर्व जन्म का जो वृत्तान्त बतलाया था, जांच करने पर वह सत्य सिद्ध हुआ था। शिकोहाबाद नामक नगर में वेश्या का एक लड़का था। उसे जातिस्मरण ज्ञान हुआ। उसने कहा—मैं ब्राह्मण हूं, पास के ग्राम में मेरे भाई और मेरी स्त्री है। मेरी जमीन गिर्वी रक्खी थी। मैंने कलकत्ते में नौकरी कर के छुड़ाई थी। अन्त में उसके पूर्व जन्म के कुटुम्बी उसके पास आये और उसने उन सब को पहचान लिया। अनेक स्त्रियों के बीच में खड़ी हुई अपनी स्त्री को भी वह पहचान गया। यही नहीं बल्कि स्त्री के वक्षस्थल में एक फोड़ा था, उसका भी उसने जिक्र कर सुनाया।

इस प्रकार जातिस्मरण के पचासों प्रमाण उपलब्ध हैं। इन सब से आत्मा की नित्यता सिद्ध होती है। इसीलिए यहां अमूर्त्त होने के कारण आत्मा को नित्य कहा गया है।

अनेक मतावलम्बी ऐसे हैं जो आत्मा के अस्तित्व को तो स्वीकार करते हैं पर कोई आत्मा को सर्वथा एक मानते हैं, कोई आकाश की भांति सर्वव्यापक मानते हैं, कोई अणु के बराबर मानते हैं, कोई सर्वथा नित्य मानते हैं कोई क्षणिक मानते हैं। इन समस्त मतों पर पूर्ण रूप से विचार किया जाय तो अत्यन्त विस्तार हो जायगा, अतएव संक्षेप में ही इन पर विचार किया जाता है। वेदान्ती लोग कहते हैं:—

एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत्॥

अर्थात् एक ही आत्मा सब भूतों में विद्यमान है। वह एक होने पर भी जल में प्रतिबिम्बित होने वाले चन्द्रमा के समान नाना रूपों में दिखाई देता है। अर्थात् जैसे एक ही चन्द्रमा पचीस-पचास-सौ जल से भरे हुए ग्लासों में अलग अलग नजर आता है उसी प्रकार आत्मा वास्तव में एक ही होने पर भी प्रत्येक शरीर में अलग-अलग प्रतीत होता है।

वेदान्तियों का यह कथन युक्ति संगत नहीं है। जल से भरे हुए ग्लासों में जो चन्द्रमा दिखलाई देता है वह सब में एक-सा होता है। एक ग्लास में अगर

※ हेनरी सिजविक (पाश्चात्य दर्शन के आचार्य), प्रोफेसर क्रुक्स (सभापति) बाल फोर (इङ्गलैण्ड के भूतपूर्व प्रधान मंत्री), विलियम जेम्स (अमरीका के प्रसिद्ध दार्शनिक), बाल फोर स्टीवर्ट (भौतिक विज्ञान के आचार्य), प्रोफेसर मेसर्स, लॉर्ड रेले, सर ऑलिवर लॉज, भौतिक ज्ञान के आचार्य आदि कठोर परीक्षक और नास्तिक विज्ञानवेत्ता इस परिषद् में सम्मिलित थे।

पूर्णिमा का चन्द्र दिखाई दे तो अन्य सब में भी पूर्णिमा का ही चन्द्र दृष्टिगोचर होगा। किसी ग्लास में पूर्णिमा का और किसी में द्वितीया का चन्द्र दिखाई नहीं देता। आत्मा अगर चन्द्रमा की भांति एक होता तो वह भी समस्त शरीरों में एक सरीखा प्रतीत होता, किन्तु ऐसा नहीं होता। इससे जल-चन्द्र का उदाहरण विषम है और इससे आत्माओं की एकता सिद्ध नहीं होती।

यदि आत्मा एक ही हो तो किसी एक प्राणी के द्वारा पाप कर्म का आचरण करने से सभी को दुःख भोगना पड़ेगा और दूसरा यदि तपश्चर्या, सेवा, परोपकार आदि शुभ कार्य करेगा तो उससे सभी सुखी हो जाएंगे। अथवा एक ही समय में स्वर्ग के सुख और नरक के दुःख भोगने पड़ेंगे। लेकिन न तो कभी संसार के समस्त प्राणी एक-सा सुख भोगते हैं, न एक-सा दुःख भोगते हैं और न एक साथ स्वर्ग-नरक जैसी विरोधी पर्यायों का ही अनुभव करते हैं। इसलिए आत्मा को सर्वथा एक मानना उचित नहीं है।

वैशेषिक मत के अनुयायी आत्मा को सर्वव्यापी मानते हैं, वह भी भ्रमपूर्ण है। जहां जिस वस्तु का गुण होता है वहीं उस वस्तु का अस्तित्व मानना उचित है। आत्मा के गुण सुख, दुःख, चैतन्य आदि शरीर में ही पाये जाते हैं। शरीर से बाहर उनकी प्रतीति नहीं होती अतएव शरीर से बाहर उनकी सत्ता नहीं स्वीकार की जा सकती। शरीर में सुई चुभाने से वेदना होती है और शरीर के बाहर आकाश में चुभाने से वेदना नहीं होती। इसका कारण यही है कि शरीर में आत्मा है, शरीर के बाहर आत्मा नहीं है।

इसी प्रकार आत्मा अणु के बराबर भी नहीं है, क्योंकि समस्त शरीर में आत्मा के गुण उपलब्ध होते हैं। अगर आत्मा अणु के बराबर हो तो वह शरीर के किसी एक ही भाग में मौजूद रहेगा, सब जगह नहीं और ऐसी स्थिति में सुख-दुःख की प्रतीति समस्त शरीर में नहीं हो सकती। अतएव आत्मा न व्यापक है न अणु के बराबर है, किन्तु शरीर के बराबर है। जिस जीव का जितना बड़ा शरीर उसका आत्मा भी उतना ही बड़ा है।

इसी प्रकार न आत्मा सर्वथा नित्य है न सर्वथा अनित्य-क्षणिक ही है। सर्वथा नित्य मानने से आत्मा सदा एक ही रूप रहेगा। जो सुखी है वह पाप कर्म का आचरण करने पर भी सुखी ही बना रहेगा और जो दुःखी है वह धर्माचरण करने पर भी दुःखी बना रहेगा। फिर संसार के प्राणी मात्र में दुःख से मुक्त होने की जो सतत चेष्टा देखी जाती है वह निष्फल हो जाएगी और धर्मशास्त्रों के विधि-विधान वृथा हो जाएंगे।

आत्मा को क्षणिक मान लेने से लोक-व्यवहार समाप्त हो जाएंगे। आत्मा सिर्फ एक क्षण भर रहकर, दूसरे क्षण में ही नष्ट हो जाता है तो उसके किये हुए शुभ-अशुभ कर्मों का फल कौन भोगेगा? संसारी आत्मा क्षणविनश्वर होने से मुक्ति की

प्राप्ति किसे होगी ? जिस आत्मा ने कल किसी व्यक्ति को देखा था, वह आत्मा उसी समय समूल नष्ट हो गया तो आज उस व्यक्ति का स्मरण किसे होता है ? बिना देखे दूसरे को स्मरण नहीं हो सकता और देखने वाला नष्ट हो गया। ऐसी अवस्था में स्मृति का ही सर्वथा अभाव हो जाएगा। अतएव आत्मा को सर्वथा क्षणिक मानना लोकविरुद्ध है, अनुभव विरुद्ध है और युक्ति से भी विरुद्ध है।

वास्तव में आत्मा द्रव्यार्थिक नय से नित्य और पर्यायार्थिक नय से अनित्य है। आत्मा की नित्यता का समर्थन पहले किया जा चुका है और मूल में उसे नित्य-प्रतिपादन किया गया है सो द्रव्य की अपेक्षा से समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि कर्मों का संयोग होने के कारण आत्मा यद्यपि संसार-भ्रमण करता है, वह कभी मनुष्य, कभी देव, कभी पशु-पक्षी आदि तिर्यंच और कभी नारकपर्याय में जाता है, फिर भी आत्मा का आत्मपन कभी नष्ट नहीं होता। सुवर्ण जैसे कड़ा, कुंडल अंगूठी आदि भिन्न-भिन्न हालतों में बदलते रहने पर भी सुवर्ण बना रहता है उसी प्रकार आत्मा की अवस्थाएं बदलती रहती हैं पर आत्मा द्रव्य सदैव विद्यमान रहता है।

आत्मा के साथ कर्मों का बन्ध किस प्रकार और किन कारणों से होता है, इन सब प्रश्नों का समाधान आगे कर्मों के विवेचन में किया जायगा।

आत्मा का कर्तृत्व

मूलः—अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणु, अप्पा मे नंदणं वणं ॥ २ ॥
अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ ॥ ३ ॥

छायाः—आत्मा नदी वैतरणी, आत्मा मे कूटशाल्मली।
आत्मा कामदुघा धेनु, आत्मा मे नन्दनं वनम् ॥ २ ॥
आत्मा कर्त्ता विकर्त्ता च, दुखानां सुखानाञ्च।
आत्मा मित्रममित्रञ्च, दुःप्रस्थितः सुप्रस्थितः ॥ ३ ॥

शब्दार्थः—मेरा आत्मा वैतरणी नदी है, मेरा आत्मा कूट शाल्मली वृक्ष है। मेरा आत्मा कामधेनु है और मेरा ही आत्मा नन्दन वन है। (२)

आत्मा ही सुख-दुःख का जनक है और आत्मा ही उनका विनाशक है। सदाचारी-सन्मार्ग पर लगा हुआ आत्मा अपना मित्र है और कुमार्ग पर लगा हुआ—दुराचारी आत्मा ही अपना शत्रु है। (३)

भाष्यः—आत्मा स्वभावतः सिद्ध, बुद्ध, शुद्ध और अनन्त ज्ञानादि गुणों से समृद्ध है, किन्तु अनादि कालीन कर्म-परम्परा से आबद्ध होने के कारण वह नाना पर्यायों का अनुभव करता है। पहले बांधे हुए कर्मों का अबाधाकाल समाप्त होने

पर उदय होता है तब आत्मा में तरह-तरह के शुभ-अशुभ भाव उत्पन्न होते हैं। इन भावों के उदय से फिर नवीन कर्मों का बंध होता है और जब वे उदय में आते हैं तब फिर नवीन कर्मों का बंध हो जाता है। इस प्रकार द्रव्य कर्मों से भाव कर्म और भाव कर्मों से द्रव्य कर्म की उत्पत्ति होने से उनका परस्पर द्विमुख कार्यकारण-भाव है। यहां कर्मोदय से अन्तःकरण में होने वाली परिणति को ही आत्मा कहा गया है। यह परिणति जब अशुभ होती है तो उससे दुःख उत्पन्न करने वाले पाप कर्मों का बन्ध होता है और जब परिणति शुभ होती है तो सुखजनक शुभ कर्मों का बंध होता है। इससे यह स्पष्ट है कि आत्मा की शुभ अशुभ परिणति ही सुख दुःख का कारण होती है। अतएव आत्म-परिणति को आत्मा से अभिन्न विवक्षित करके आत्मा को अपने सुख-दुःख का कारण कहा गया है।

तात्पर्य यह है कि जैसे वैतरणी नदी और नरक में रहने वाला शाल्मली वृक्ष दुःख का कारण होता है उसी प्रकार अशुभ परिणति वाला आत्मा स्वयं अपने दुःख का हेतु है। तथा कामधेनु और नन्दनवन जैसे सुख का कारण होता है उसी प्रकार शुभ परिणति में परिणत आत्मा भी अपने सुख का स्वयमेव कारण बन जाता है।

अगली गाथा में इसी विषय का स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादन किया गया है कि आत्मा स्वयं ही अपने सुख-दुःख को उत्पन्न करता है और स्वयं ही सुख-दुःख का विनाश करता है। अतएव प्रशस्त परिणति वाला आत्मा ही आत्मा का मित्र है और अप्रशस्त परिणति वाला आत्मा अपना शत्रु है।

शंकाः—आत्मा की शुभ-अशुभ परिणति से यदि सुख-दुःख उत्पन्न होते हैं तो यहां आत्मा को ही सुख-दुःख का कर्त्ता और नाशक क्यों कहा गया है? आत्मा की परिणति और आत्मा अलग-अलग हैं। यहां दोनों को एक-मेक क्यों कर दिया है?

समाधान—जैसे मिट्टी रूप उपादान कारण से बने हुए घट को मिट्टी कह सकते हैं, सुवर्ण के बने हुए कड़े को सुवर्ण कह सकते हैं, उसी प्रकार आत्मा रूप उपादान कारण से उत्पन्न होने वाली परिणति को आत्मा कह सकते हैं। जैसे मृत्तिका द्रव्य है और घट उसकी पर्याय है, उसी प्रकार आत्मा द्रव्य है और उसकी शुभा शुभ परिणति पर्याय है। द्रव्य और पर्याय कथंचित् अभिन्न होते हैं। द्रव्य के पर्याय द्रव्य से भिन्न नहीं मालूम होते और पर्यायों से भिन्न द्रव्य का कभी अनुभव नहीं होता। अतएव द्रव्य-पर्याय के अभेद की विवक्षा करके यहां आत्मा को ही सुख दुःख का उत्पादक और विनाशक कहा गया है।

अपने आपको-जो उपादन कारण है—भूल जाता है। ज्ञानी जनों की विचारणा भिन्न प्रकार की होती है। किसी प्रकार का अनिष्ट संयोग प्राप्त होने पर वे अनिष्ट संयोग के निमित्तभूत किसी पुरुष पर द्वेष का भाव नहीं लाते बल्कि यह सोचते हैं कि इस अनिष्टसंयोग से होने वाले कष्ट का उपादान कारण मैं ही हूं। मेरे ही पूर्वोपार्जित कर्मों से यह कष्ट मुझे प्राप्त हुआ है। इसमें अगर कोई पुरुष निमित्त कारण बन गया है तो उसका क्या दोष है? वह निमित्त न बनता तो कोई दूसरा निमित्त बनता। ऐसा विचार कर ज्ञानी जन सदा समता भाव का सेवन करते हैं। समता भाव का सेवन करने से भविष्य में वे अशुभ कर्मों के बंध से छुटकारा पा लेते हैं जब कि अज्ञानी जीव द्वेष के वश होकर अपने भविष्य को फिर दुर्भाग्यपूर्ण बना लेता है।

सांख्यमत के अनुयायी आत्मा को कर्त्ता नहीं स्वीकार करते। उनका कथन यह है कि आत्मा अमूर्त्त, नित्य और सर्वव्यापी है अतएव वह कर्त्ता नहीं हो सकता। कहा भी है:- "अकर्त्ता निर्गुणो भोक्ता, आत्मा कापिलदर्शने।"

अर्थात्:- सांख्य दर्शन में आत्मा अकर्त्ता, निर्गुण, कर्मफल का भोक्ता माना गया है।

सांख्यों की यह मान्यता अज्ञानपूर्ण है। आत्मा यदि सर्वथा नित्य, सर्वथा अमूर्त्त और सर्वथा व्यापक होने के कारण निष्क्रिय है—कर्म का भी कर्त्ता नहीं है तो वह सदैव एक रूप रहेगा। फिर जरा-मरण, हर्ष-विषाद रूप या चतुर्गति रूप संसार कैसे सिद्ध होगा? इसके अतिरिक्त आत्मा यदि कर्मों का कर्त्ता नहीं है तो बिना किये कर्मों का फल कैसे भोग सकता है? अगर बिना किये ही कर्मों का फल भोगता है तो ऐसे भोग की कभी समाप्ति ही नहीं होगी। इस प्रकार नित्य होने के कारण आत्मा को अकर्त्ता मानने से न तो विभिन्न गतियां सिद्ध होगी, न मोक्ष सिद्ध हो सकेगा। कहा भी है:—

को वेएइ अकयं, कयनासो पंचहा गई नत्थि।
देवमणुस्सगयागइ, जाईसरणाइयाणं च ॥

अर्थात्:—आत्मा अगर कर्म नहीं करता तो अकृत कर्म कौन भोगता है? निष्क्रिय होने से आत्मा फल-भोग नहीं कर सकता अतः किये हुए कर्म निष्फल हो जायंगे। अगर नित्य है तो पांच प्रकार की गति सिद्ध नहीं हो सकती। आत्मा यदि व्यापक है तो देवगति-मनुष्यगति आदि में उसका गमनागमन नहीं हो सकता। नित्य होने के कारण आत्मा को कभी विस्मरण नहीं होगा तब जातिस्मरण ज्ञान भी नहीं हो सकता। क्योंकि स्मरण तो विस्मरण के पश्चात् ही हो सकता है।

आत्मा को क्रिया का कर्त्ता न मानकर भी कर्मफल का भोक्ता मानना आश्चर्य-जनक है। क्योंकि 'भोगना' भी एक प्रकार की क्रिया है और जो सर्वथा अकर्त्ता है वह भोग-क्रिया का कर्त्ता (भोक्ता) भी नहीं हो सकता। अतएव आत्मा को अकर्त्ता और जड़ प्रकृति को कर्त्ता मानना युक्ति से सर्वथा ही असंगत है।

कुछ लोग आत्मा को ईश्वर के हवाले कर देते हैं। उनका कहना है कि आत्मा स्वयं अपने सुख-दुःख का भोक्ता नहीं है, वरन् ईश्वर कर्म का फल देता है। कहा भी है:—

अज्ञः जन्तुरनीशोऽयम्, आत्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्, स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥

अर्थात्:—यह अज्ञानी जीव अपने सुख-दुःख को भोगने में स्वयं असमर्थ है इस लिए ईश्वर द्वारा प्रेरित होकर स्वर्ग अथवा नरक में जाता है।

इस प्रकार ईश्वरवादी लोग जीव को सुख दुःख का कर्ता मानते हुए भी स्वयं भोक्ता नहीं मानते। लेकिन यह मान्यता भी प्रतीति से विरुद्ध है। जो विष का भक्षण करता है उसे मारने के लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। जो चने खाकर तेज धूप में खड़ा हो जाता है उसे प्यास लगाने के लिए ईश्वर आता है, यह कल्पना हास्यास्पद है। शराबी शराब पीता है और नशा चढ़ाने के लिए ईश्वर दौड़ा हुआ आता है, यह कल्पना बालकों की-सी कल्पना है। वास्तव में विष स्वयं मारने की शक्ति से युक्त है, चना और धूप में प्यास पैदा करने का सामर्थ्य है, मदिरा में मादकता उत्पन्न करने की क्षमता है। आत्मा के संसर्ग से यह सब वस्तुएं यथा-योग्य फल प्रदान करती हैं। मदिरा का नशा बोतल को नहीं चढ़ता, मनुष्य को ही चढ़ता है। इससे यह सिद्ध होता है कि मदिरा जीव का निमित्त पाकर ही फल देती है।

अगर ईश्वर को ही फल-दाता माना जाय तो मदिरा आदि की शक्ति सिद्ध नहीं होगी अर्थात् नशा चढ़ाने का सामर्थ्य मदिरा में न होकर ईश्वर में ही मानना पड़ेगा। इस प्रकार संसार के समस्त पदार्थ शक्तिहीन हो जाएंगे। अतएव आत्मा को कर्मों का कर्त्ता, और कर्म-फल का भोक्ता स्वीकार करना ही युक्ति और अनुभव के अनुकूल है। कहा भी है:—

जीवो उवयोगमयो, अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई॥

अर्थात्:—जीव उपयोगमय-चेतना स्वभाव वाला है, अमूर्त्तिक है, कर्मों का कर्त्ता है, अपने प्राप्त शरीर के परिमाण वाला है, कर्म-फल का भोक्ता है। वह यद्यपि संसार में स्थित है तथापि ऊर्ध्व गमन करना उसका स्वभाव है।

मूलः—न तं अरी कंठछेत्ता करेइ, जं से करे अप्पणिया दुरप्पया।
से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते, पच्छाणुतावेण दयाविहूणो॥

छाया: न तदरिः कण्ठछेत्ता करोति, यत्स करोत्यात्मीया दुरात्मता।
स ज्ञास्यति मृत्युमुखं तु प्राप्तः, पश्चादनुतापेन दयाविहीनः॥

शब्दार्थः—अपना दुरात्मा जो अनर्थ करता है वह कंठ को छेदने वाला-प्राण-

हारी शत्रु भी नहीं कर सकता। वह दया-हीन दुष्टात्मा जब मृत्यु के मुख में जायगा तब पश्चात्ताप करके अपनी करतूतों को समझेगा। (४)

भाष्य—पहले आत्मा को ही शत्रु और आत्मा को ही मित्र बतलाया गया था। इस गाथा में उसका स्पष्टीकरण किया गया है।

संसार में जिसे शत्रु कहा जाता है वह शारीरिक या अन्य भौतिक ही हानि पहुँचा सकता है। आध्यात्मिक हानि पहुंचाने का सामर्थ्य उसमें नहीं होता। कोई शत्रु मार-पीट सकता है, मकान को नष्ट कर सकता है, शरीर के किसी अवयव की हानि कर सकता है और अधिक से अधिक आत्मा को शरीर से पृथक् कर सकता है। किन्तु इससे आत्मा की कोई हानि नहीं होती। मकान, शरीर आदि संसार के सब पदार्थ पर-पदार्थ हैं और उनका आत्मा के साथ औपाधिक सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध विनश्वर है। किसी भी निमित्त को पाकर पर-पदार्थ आत्मा से भिन्न हो जाते हैं। जब पर-पदार्थों का सम्बन्ध स्वभावतः नष्ट होने वाला ही है तो उसे नष्ट करने में निमित्त बनने वाला शत्रु हमारे द्वेष का पात्र नहीं होना चाहिए। वह हमारी आत्मा का कुछ नहीं बिगाड़ सकता। किन्तु जब आत्मा में दुरात्मा जागृत होती है अर्थात् इष्टसंयोग में रागमय परिणति और अनिष्टसंयोग में द्वेषमय परिणति का उदय होता है तब आत्मिक हानि होती है। इस कषाय-परिणति से आत्मा के गुणों में विकार उत्पन्न होता है और वह विकार अनेक जन्म-जन्मान्तरों में परिभ्रमण का कारण होता है।

संसार में प्रतिदिन हजारों व्यक्तियों की मृत्यु होती है, हजारों लखपति कंगाल बनते हैं और हजारों को भिन्न-भिन्न प्रकार की यातनाएं भोगनी पड़ती हैं। यह सब घटनाएं बुरी हैं, दुःख का कारण हैं फिर भी हम इनसे दुःख का अनुभव नहीं करते, किन्तु जब किसी ऐसे व्यक्ति की मृत्यु होती है जिस पर हमारी ममता होती है तब हम दुःख का अनुभव करते हैं। इसी प्रकार दूसरों का करोड़ रुपया नष्ट हो जाने पर भी हमें दुःख नहीं होता और हमारा एक रुपया खो जाता है तो हम दुःख का अनुभव करते हैं। इसका क्या कारण है? मृत्यु और रुपये का नाश ही अगर दुःख का कारण होता तो दोनों जगह समान रूप से दुःख की अनुभूति होती, पर वह होती नहीं है। इससे स्पष्ट है कि हमारे अन्तरात्मा में मोह-ममता की विद्यमानता ही वास्तव में दुःख का कारण है। अर्थात् प्राण हरण करने वाला शत्रु या खजाना लूटने वाला लुटेरा हमें दुःख नहीं पहुँचाता वरन् प्राणों और खजाने के विषय में हमारी ममता ही हमें दुःख पहुँचाती है। ममता आत्मा की ही दुष्ट परिणति है और दुष्ट परिणति को ही यहां 'दुरात्मा' कहा है। अतएव यह कथन सर्वथा संगत ही है कि आत्मा की दुष्ट परिणति जो अनर्थ करती है वह प्राण हरण करने वाला शत्रु नहीं कर सकता। शत्रु भौतिक खजाना लूट सकता है, आत्मा की दुष्ट परिणति आत्मा के अमूल्य नैसर्गिक गुणों की निधि का अपहरण करती है। प्राण-हारी शत्रु शरीर को ही हानि पहुंचाता है किन्तु दुरात्मा, आत्मा के शुद्ध वीतरागतामय स्वरूप को हानि

पहुंचानी है।

अज्ञान का माहात्म्य अपरम्पार है। प्रत्येक प्राणी अपने जीवन का निश्चित रूप से अन्त जानता है। भोले से भोला व्यक्ति भी यह नहीं समझता कि उसका जीवन अक्षय है—वह कभी काल के गाल में नहीं समावेगा। इतना भान होने पर भी जीवों की बुद्धि पर एक ऐसा पर्दा पड़ा रहता है जिस से वे अपने भविष्य को सुधारने के लिए आगे नहीं बढ़ते। कोई कोई मनुष्य अपने उदर की पूर्ति के लिए अतिशय क्रूर कर्म करते हैं, कोई धनवानों की श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त करने की जघन्य लालसा से अनीति का आश्रय लेते हैं, कोई अपने क्षणिक मनोरंजन के लिए या जिह्वा-लोलुपता के वश में होकर अनार्योचित कार्य करते हैं, कोई इन्द्रियों के दास होकर घोर पाप करने से नहीं झिझकते। जीवन भर उनका इसी प्रकार पापमय व्यापार चलता रहता है, किन्तु जब अनिवार्य रूप से मृत्यु के मुख में प्रवेश करते हैं, और खाली हाथ शरीर को भी यहीं छोड़ कर महाप्रस्थान करने को उद्यत होते हैं, तब उनके नेत्र खुलते हैं। उस समय उन्हें अपने जीवन भर के पाप स्मरण होते हैं। पश्चात्ताप की भीषण अग्नि में उनका अन्तःकरण भस्म होने लगता है, किन्तु 'समय चूकि पुनि का पछताने' इस कहावत के अनुसार उनका पश्चात्ताप वृथा जाता है अर्थात् पश्चात्ताप करने मात्र से पूर्वकृत कर्मों के फल से उन्हें छुटकारा नहीं मिल सकता। जैसे विष-भक्षण करने के पश्चात् पश्चात्ताप करने वाला व्यक्ति विषभक्षण के फल से मुक्त नहीं हो सकता उसी प्रकार पाप कर्मों के फल से बचने के लिये पश्चात्ताप करने वाला पुरुष उन कर्मों के फल से मुक्त नहीं हो सकता।

यहां यह आशंका हो सकती है कि पश्चात्ताप करने से यदि पूर्वकृत कर्मों से मुक्ति नहीं मिलती तो प्रतिक्रमण आदि करने से क्या लाभ है? इसका समाधान यह है कि प्रतिक्रमण करने का उद्देश्य आत्मिक अशुद्धि को हटा कर फिर शुद्धता प्राप्त करना है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—प्रतिक्रमण करने से व्रतों के छिद्र ढंक जाते हैं अर्थात् व्रतों में दोष लगाने वाली प्रवृत्ति दूर हो जाती है, नवीन कर्मों का आस्रव रुक जाता है और निर्दोष चारित्र पालन करके समिति-गुप्ति में सावधानी आती है। तात्पर्य यह है कि हृदय से भाव प्रतिक्रमण करने वाला श्रावक या श्रमण भविष्य में भूल नहीं करता है, उसका आगामी चारित्र निरतिचार हो सकता है। शास्त्र में स्पष्ट उल्लेख है कि 'कडाण कम्माण ण मोक्ख अत्थि' अर्थात् किये हुए कर्मों का फल भोगे बिना उनसे छुटकारा नहीं हो सकता। हाँ, फल में तारतम्य हो सकता है।

हारी शत्रु भी नहीं कर सकता। वह दया-हीन दुरात्मा जब मृत्यु के मुख में जायगा तब पश्चात्ताप करके अपनी करतूतों को समझेगा। (४)

भाष्य — पहले आत्मा को ही शत्रु और आत्मा को ही मित्र बतलाया गया था। इस गाथा में उसका स्पष्टीकरण किया गया है।

संसार में जिसे शत्रु कहा जाता है वह शारीरिक या अन्य भौतिक ही हानि पहुँचा सकता है। आध्यात्मिक हानि पहुंचाने का सामर्थ्य उसमें नहीं होता। कोई शत्रु मार-पीट सकता है, मकान को नष्ट कर सकता है, शरीर के किसी अवयव की हानि कर सकता है और अधिक से अधिक आत्मा को शरीर से पृथक् कर सकता है। किन्तु इससे आत्मा की कोई हानि नहीं होती। मकान, शरीर आदि संसार के सब पदार्थ पर-पदार्थ हैं और उनका आत्मा के साथ औपाधिक सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध विनश्वर है। किसी भी निमित्त को पाकर पर-पदार्थ आत्मा से भिन्न हो जाते हैं। जब पर-पदार्थों का सम्बन्ध स्वभावतः नष्ट होने वाला ही है तो उसे नष्ट करने में निमित्त बनने वाला शत्रु हमारे द्वेष का पात्र नहीं होना चाहिए। वह हमारी आत्मा का कुछ नहीं बिगाड़ सकता। किन्तु जब आत्मा में दुरात्मा जागृत होती है अर्थात् इष्टसंयोग में रागमय परिणति और अनिष्टसंयोग में द्वेषमय परिणति का उदय होता है तब आत्मिक हानि होती है। इस कषाय-परिणति से आत्मा के गुणों में विकार उत्पन्न होता है और वह विकार अनेक जन्म-जन्मान्तरों में परिभ्रमण का कारण होता है।

संसार में प्रतिदिन हजारों व्यक्तियों की मृत्यु होती है, हजारों लखपति कंगाल बनते हैं और हजारों को भिन्न-भिन्न प्रकार की यातनाएं भोगनी पड़ती हैं। यह सब घटनाएं बुरी हैं, दुःख का कारण हैं फिर भी हम इनसे दुःख का अनुभव नहीं करते, किन्तु जब किसी ऐसे व्यक्ति की मृत्यु होती है जिस पर हमारी ममता होती है तब हम दुःख का अनुभव करते हैं। इसी प्रकार दूसरों का करोड़ रुपया नष्ट हो जाने पर भी हमें दुःख नहीं होता और हमारा एक रुपया खो जाता है तो हम दुःख का अनुभव करते हैं। इसका क्या कारण है? मृत्यु और रुपये का नाश ही अगर दुःख का कारण होता तो दोनों जगह समान रूप से दुःख की अनुभूति होती, पर वह होती नहीं है। इससे स्पष्ट है कि हमारे अन्तरात्मा में मोह-ममता की विद्यमानता ही वास्तव में दुःख का कारण है। अर्थात् प्राण हरण करने वाला शत्रु या खजाना लूटने वाला लुटेरा हमें दुःख नहीं पहुँचाता वरन् प्राणों और खजाने के विषय में हमारी ममता ही हमें दुःख पहुँचाती है। ममता आत्मा की ही दुष्ट परिणति है और दुष्ट परिणति को ही यहां 'दुरात्मा' कहा है। अतएव यह कथन सर्वथा संगत ही है कि आत्मा की दुष्ट परिणति जो अनर्थ करती है वह प्राण हरण करने वाला शत्रु नहीं कर सकता। शत्रु भौतिक खजाना लूट सकता है, आत्मा की दुष्ट परिणति आत्मा के अमूल्य नैसर्गिक गुणों की निधि का अपहरण करती है। प्राण-हारी शत्रु शरीर को ही हानि पहुंचाता है किन्तु दुरात्मा, आत्मा के शुद्ध वीतरागतामय स्वरूप को हानि

पहुंचाती है।

अज्ञान का माहात्म्य अपरम्पार है। प्रत्येक प्राणी अपने जीवन का निश्चित रूप से अन्त जानता है। भोले से भोला व्यक्ति भी यह नहीं समझता कि उसका जीवन अक्षय है—वह कभी काल के गाल में नहीं समावेगा। इतना भान होने पर भी जीवों की बुद्धि पर एक ऐसा पर्दा पड़ा रहता है जिस से वे अपने भविष्य को सुधारने के लिए आगे नहीं बढ़ते। कोई कोई मनुष्य अपने उदर की पूर्ति के लिए अतिशय क्रूर कर्म करते हैं, कोई धनवानों की श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त करने की जघन्य लालसा से अनीति का आश्रय लेते हैं, कोई अपने क्षणिक मनोरंजन के लिए या जिह्वा-लोलुपता के वश में होकर अनार्योचित कार्य करते हैं, कोई इन्द्रियों के दास होकर घोर पाप करने से नहीं झिझकते। जीवन भर उनका इसी प्रकार पापमय व्यापार चलता रहता है, किन्तु जब अनिवार्य रूप से मृत्यु के मुख में प्रवेश करते हैं, और खाली हाथ शरीर को भी यहीं छोड़ कर महाप्रस्थान करने को उद्यत होते हैं, तब उनके नेत्र खुलते हैं। उस समय उन्हें अपने जीवन भर के पाप स्मरण होते हैं। पश्चात्ताप की भीषण अग्नि में उनका अन्तःकरण भस्म होने लगता है, किन्तु 'समय चूकि पुनि का पछताने' इस कहावत के अनुसार उनका पश्चात्ताप वृथा जाता है अर्थात् पश्चात्ताप करने मात्र से पूर्वकृत कर्मों के फल से उन्हें छुटकारा नहीं मिल सकता। जैसे विष-भक्षण करने के पश्चात् पश्चात्ताप करने वाला व्यक्ति विषभक्षण के फल से मुक्त नहीं हो सकता उसी प्रकार पाप कर्मों के फल से बचने के लिये पश्चात्ताप करने वाला पुरुष उन कर्मों के फल से मुक्त नहीं हो सकता।

यहां यह आशंका हो सकती है कि पश्चात्ताप करने से यदि पूर्वकृत कर्मों से मुक्ति नहीं मिलती तो प्रतिक्रमण आदि करने से क्या लाभ है? इसका समाधान यह है कि प्रतिक्रमण करने का उद्देश्य आत्मिक अशुद्धि को हटा कर फिर शुद्धता प्राप्त करना है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—प्रतिक्रमण करने से व्रतों के छिद्र ढंक जाते हैं अर्थात् व्रतों में दोष लगाने वाली प्रवृत्ति दूर हो जाती है, नवीन कर्मों का आस्रव रुक जाता है और निर्दोष चारित्र पालन करके समिति-गुप्ति में सावधानी आती है। तात्पर्य यह है कि हृदय से भाव प्रतिक्रमण करने वाला श्रावक या श्रमण भविष्य में भूल नहीं करता है, उसका आगामी चारित्र निरतिचार हो सकता है। शास्त्र में स्पष्ट उल्लेख है कि 'कडाण कम्माण ण मोक्ख अत्थि' अर्थात् किये हुए कर्मों का फल भोगे बिना उनसे छुटकारा नहीं हो सकता। हाँ, फल में तारतम्य हो सकता है।

इसके अतिरिक्त यहां गाथा में 'दयाविहूणो' पद विशेष ध्यान देने योग्य है। 'दया' शब्द यहां उपलक्षण से चारित्र अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'देखना, बिल्ली दही न खा जाए' इस वाक्य में यद्यपि बिल्ली का ही उल्लेख किया गया है पर इसका अभिप्राय यह नहीं है कि कौवा या कुत्ता आए तो उसे दही खाने देना। बल्कि दही खाने वाले सभी प्राणियों का बिल्ली शब्द से कथन किया गया है, इसी प्रकार 'दया' शब्द से यहां चारित्र मात्र का अर्थ ग्रहण किया गया है। 'पढमं नाणं तओ दया'

यहां भी 'दया' शब्द से चारित्र का ही अर्थ अभीष्ट है। अतएव 'दयाविहूणो' का अर्थ है—चारित्र से हीन। अभिप्राय यह हुआ कि जिसका चारित्र शुद्ध नहीं है अर्थात जो अब भी चारित्र का पालन नहीं करता है वह पाप कर्मों को बुरा समझ कर पश्चात्ताप नहीं करता किन्तु केवल आगामी दुःखों के भय के मारे पछताता है। दुःखों से भयभीत होकर ही पश्चात्ताप करने वाला व्यक्ति आर्त्तध्यान के वशीभूत है और वह उल्टे पापकर्मों का उपार्जन करता है।

एक उदाहरण लीजिए। कल्पना कीजिये दो व्यक्ति एक साथ मिलकर किसी मनुष्य की हत्या करते हैं। दोनों पर न्यायालय में मुकदमा चलता है। इस बीच में एक व्यक्ति आवेश उतर जाने के कारण हिंसा को घोर कुकर्म समझ कर अपने कृत्य पर पश्चात्ताप करता है कि 'धिक्कार है मेरे विवेकहीन आवेश को, जिसके वश होकर मैं भीषण पाप करके अपनी आत्मा का अहित कर बैठा।' दूसरा व्यक्ति भी पश्चात्ताप करता है—'हाय ! क्यों मुझे ऐसा आवेश आ गया कि जिसके फल-स्वरूप मुझे अब फांसी पर लटकना पड़ेगा!' यहां यद्यपि दोनों व्यक्ति पश्चात्ताप करते हैं किन्तु दोनों के पश्चात्ताप में आकाश पाताल का अन्तर है। एक चारित्र का मूल्य समझता है, दूसरा फांसी रूप फल से भयभीत है। यह दूसरा व्यक्ति दया-विहीन अर्थात् चारित्र से पतित है अतः उसका पश्चात्ताप भविष्य में भी लाभ-दायक नहीं है। यही नहीं, उसका पश्चात्ताप आर्त्तध्यान रूप होने के कारण पाप-बन्ध का कारण है।

इसी प्रकार निर्दय पुरुष जब मृत्यु के मुख में प्रविष्ट होता है तब वह सोचने लगता है—'हाय ! मैंने जीवन भर पाप कर्म का आचरण करके, नीति-अनीति का भेद भुलाकर, असीम धन संचित किया था पर खेद है कि आज उसमें से अल्प अंश भी मेरे साथ नहीं जा रहा है ! मैंने अपनी जीवित अवस्था में अनेक कुकर्म किये हैं, अब न जाने उनका कितना, कैसा दुष्परिणाम भुगतना पड़ेगा, इत्यादि।' यह सब पश्चात्ताप आत्मिक मलीनता की वृद्धि करता है इससे आत्मशुद्धि नहीं होती। अत-एव विवेकी जनों का कर्त्तव्य है कि वे शास्त्र प्रतिपादित मार्ग का अनुसरण करें। कभी शास्त्र-विरुद्ध प्रवृत्ति न करें। जीवन को अस्थिर समझकर अधिक सावधान रहकर आत्महित की प्रवृत्ति करें, जिस से जीवन के अंतिम समय में शान्ति एवं संतोष बना रहे और पश्चात्ताप करने का अवसर उपस्थित न हो। कभी प्रमाद के वश होकर यदि पाप में प्रवृत्ति हो भी जाय तो किये हुए पापों को अहितकर समझकर, पुनः पापों के आचरण से बचने के लिये पश्चात्ताप करें, सिर्फ पापों के फल से भय-भीत होकर नहीं ॥ ४ ॥

मूलः—अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ॥ ५ ॥

छाया:—आत्मा चैव दमितव्यः आत्मा हि खलु दुर्दमः ।
आत्मा दान्तः सुखी भवति, अस्मिल्लोके परत्र च ॥ ५ ॥

शब्दार्थ:—आत्मा का ही दमन करना चाहिए। आत्मा दुर्दान्त है-उसका दमन करना बड़ा कठिन है। दमन किया हुआ आत्मा इस लोक में और परलोक में सुखी होता है। (५)

भाष्य – पूर्व गाथा में यह प्रतिपादन किया गया है कि दुरात्मा प्राणहारी शत्रु से भी अधिक अनर्थ का कारण होती है। इस गाथा में ऐसा न होने देने का उपाय बताया गया है। यहां यह प्रतिपादन किया गया है आत्मा का दमन करने से उभय लोक में सुख की प्राप्ति होती है।

आत्म-दमन का अर्थ है कषाय आदि कुवासनाओं से वासित अन्तःकरण की प्रवृत्ति का निरोध करना। आत्मा, कषाय से युक्त होकर कुसंस्कारों की ओर गमन करता है, उसका निरोध करना सरल नहीं है। जो संयमी अत्यन्त अप्रमत्त भाव से अपनी चित्तवृत्ति की चौकसी करते हैं जो सत् और असत् प्रवृत्ति के विवेक से विभूषित हैं वे आत्म-दमन करके वर्त्तमान जीवन को भी सुखी बनाते हैं और भावी जीवन को भी सुखमय बनाते हैं।

अज्ञानी जीव संसार के भोगोपभोगों में सुख की कल्पना करके सुखी बनने के लिए सांसारिक पदार्थों का संयोग जुटाने में ही निरन्तर व्यस्त रहते हैं। उन पदार्थों की प्राप्ति में जो पुरुष बाधक प्रतीत होते हैं उनका दमन करने में उन्हें संकोच नहीं होता। एक राजा, अपने प्राप्त राज्य से पर्याप्त सुख का अनुभव न करके अधिक राज्य-विस्तार के लिए दूसरे राजा का दमन करता है और एक व्यापारी दूसरे व्यापारी का दमन करता है। अन्त में यह सब पदार्थ सुख के बदले दुःख का कारण बनते हैं। अतः भगवान् कहते हैं कि दूसरों का दमन करने से नहीं किन्तु अपनी आत्मा का दमन करने से ही सुख की प्राप्ति होती है।

मुक्ति-लाभ के लिए प्रवृत्त पुरुषों में भी अनेक भ्रम घुसे हुए हैं। कई लोगों का विचार है कि दुःख का कारण यह शरीर ही है अतएव शरीर का दमन करने से मुक्ति प्राप्त होगी। ऐसा विचार कर वे आत्म-संशोधन के लक्ष्य को भूल कर शरीर को ही कष्ट पहुंचाने का मार्ग स्वीकार करते हैं। कोई तीखे कांटों पर सोते हैं, कोई ग्रीष्म-काल में पंचाग्नि तप तपते हैं। कोई त्रिशूल की नोंक पर लटक जाते हैं, कोई शीतकाल में जल में पड़े रहते हैं, कोई सूर्य की आतापना लेते हैं, कोई-कोई जल या अग्नि में पड़कर अपने शरीर का अन्त कर देते हैं और अज्ञानवश यह समझ लेते हैं कि ऐसा करने से हमारे दुःखों का भी अन्त हो जायगा। इन सब भ्रान्तियों का निवारण करने के लिए गाथा में 'एव' शब्द का प्रयोग किया गया है। उसका अर्थ यह है कि आत्मिक सुख प्राप्त करने के लिए आत्मा का ही दमन करना चाहिए। जैसे अशुचि पदार्थों से भरे हुए घट पर पानी डालने से घट शुचि नहीं हो सकता, उसी प्रकार

बाह्य शरीर को कष्ट देने से आन्तरिक सर्वोत्तमता नहीं हो सकती। अतएव जिस कष्ट-सहन से आत्मा के ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वह कष्ट सहन बाल तप है और बाल-तप संसार का ही कारण होता है। उससे अक्षय आत्यन्तिक आत्मिक सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी कारण यहां आत्म-दमन का उपदेश दिया गया है।

कुछ लोग, जो आत्मा को नित्य नहीं मानते, यह कहते हैं कि परलोक का अस्तित्व ही नहीं है। अर्थात् शरीर से भिन्न, भवान्तर में जाने वाला आत्मा पदार्थ नहीं है। जैसे जल का बुलबुला जल से भिन्न नहीं है उसी प्रकार शरीर से भिन्न आत्मा नहीं है। जैसे केले की छाल के छिलके उतारते जाइए, तो छिलके ही छिलके अन्त तक निकलते हैं भीतर कोई सारभूत पदार्थ नहीं होता, इसी प्रकार शरीर के भीतर सारभूत आत्मा पदार्थ नहीं है। कहा भी है—

"भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ?"

अर्थात् शरीर भस्म हो जाता है—शरीर के अतिरिक्त और कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो पुनः जन्म धारण करती हो।

इस प्रकार इसी लोक में आत्मा को सीमित मानने वाले तथा अनात्मवादी लोग परलोक के अस्तित्व को अंगीकार नहीं करते। किन्तु वे स्वयं अन्धकार के गर्त में गिरते हैं और दूसरों को भी अपने साथ ले जाते हैं। वे समझते हैं, परलोक का अस्तित्व अस्वीकार कर देने से परलोक सम्बन्धी दुःखों से छुटकारा मिल जायगा, किन्तु ऐसा होना असंभव है। आंख मीचकर अग्नि का स्पर्श करने से क्या अग्नि जलाएगी नहीं ?

पहले आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध किया जा चुका है। जब आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य है तो उसका विनाश कदापि नहीं हो सकता। विज्ञान और समस्त दर्शनशास्त्र एकमत होकर यह स्वीकार करते हैं कि सत् का विनाश और असत् का उत्पाद कभी नहीं होता। अतएव यह भी सिद्ध है कि आत्मा का कदापि विनाश नहीं हो सकता और जब आत्मा अविनश्वर है तो वह एक भव को त्याग कर दूसरे भव में अवश्य जाता है। इस नवीन भव में गमन करने को ही परलोक कहा जाता है, इसलिए परलोक का अस्तित्व अवश्य है।

इस प्रकार शास्त्रकार ने उचित ही कहा है कि शरीर मात्र का या अन्य पुरुषों का दमन करने से वास्तविक सुख की प्राप्ति नहीं होती, वरन् आत्मा का दमन करने से ही इस लोक में और परलोक में सुख की प्राप्ति होती है।

सुख के इस पथ पर चलना सरल कार्य नहीं है। इन्द्रियों के वशीभूत होकर आत्मा में इतनी उच्छृंखलता आ गई है कि वह सन्मार्ग पर न चलकर कुमार्ग की ओर ही दौड़ता है। आत्मा यद्यपि अनन्त शक्ति से सम्पन्न ज्योतिपुंज है फिर भी इन्द्रियों

ने उस शक्ति को तिरोहित करके उसे अपने स्वरूप से च्युत कर दिया है। आत्मा एकदम परावलम्बी बन गया है। इसी कारण सूत्रकार कहते हैं:—'अप्पा हु खलु दुद्दमो' अर्थात् आत्मा का निश्चित रूप से बड़ी कठिनाई से दमन किया जा सकता है। क्योंकि अनादिकाल से वह इन्द्रियों के सिकंजे में फंसी है। जैसे बच्चे को लड्डू का लालच देकर चोर उसका मूल्यवान् आभूषण हरण कर लेता है उसी प्रकार इन्द्रियों ने पराश्रित, विषयजन्य, अल्प और क्षणिक सुख का प्रलोभन देकर उसके अनन्त, स्वाभाविक और अक्षय सुख का अपहरण कर लिया है। सिंह का बच्चा जैसे जन्म-काल से भेड़ों के बीच रहकर अपने पराक्रम को भूल जाता है उसी प्रकार आत्मा इन्द्रियों के संसर्ग में रहकर अपने अनन्त वीर्य को भूल रहा है। यही कारण है कि आत्मा स्वधर्म का परित्याग कर पर-धर्म में रमण कर रहा है और परिणाम स्वरूप नाना गतियों में चक्कर लगाता हुआ असह्य यातनाएं सहन कर रहा है। अतएव सूत्रकार कहते हैं—अगर तुम सच्चा सुख चाहते हो तो आत्मा का दमन करो अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सरता आदि के कुसंस्कार, जो आत्मा की विभाव-परिणति के कारण हैं—उनका परित्याग करो। ऐसा करने से स्वाभाविक सुख प्राप्त होगा।

मूलः—वरं मे अप्पा दंतो, संजमेण तवेण य।
माहं परेहिं दम्मंतो, बंधणेहिं वहेहि य॥ ६॥

छाया—वरं मे आत्मा दान्तः, संयमेन तपसा च। माऽहं परैर्दमितः, बन्धनैर्वधैश्च॥ ६॥

शब्दार्थः—दूसरों के द्वारा बंधन और वध करके दमे जाने की अपेक्षा संयम और तपस्या द्वारा अपने आत्मा का आप ही दमन करना अच्छा है।

भाष्यः—आत्मा का दमन करने से इस लोक में और परलोक में सुख की प्राप्ति होती है, यह उपदेश सुनकर शिष्य उसे प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार करता हुआ कहता है—अपनी आत्मा का दमन करना ही श्रेयस्कर है। अनर्थों को दूर करने के लिए अनर्थों के मूल को ही नष्ट करना उचित है। लोक में कहावत भी है—चोर को पकड़ने की अपेक्षा चोर की मां को ही पकड़ना अधिक अच्छा है, जिससे चोर उत्पन्न ही न हो।

आत्मदमन का सिद्धान्त स्वीकार कर लेने पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि आत्मा के दमन का क्या उपाय है? वह लाठियों से, बंदूकों से या लात घूंसों से तो पीटा नहीं जा सकता, फिर उसे किस प्रकार काबू में किया जा सकता है?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए सूत्रकार कहते हैं:—'संजमेण तवेण य।' अर्थात् संयम और तप के द्वारा आत्मा का दमन होता है। प्राणियों और इन्द्रियों में अशुभ प्रवृत्ति का परित्याग करना संयम कहलाता है। तात्पर्य यह है कि प्राणियों के विषय में अशुभ प्रवृत्ति न होने देना प्राणी संयम कहलाता है और इन्द्रियों की अशुभ प्रवृत्ति न होने देना इन्द्रिय-संयम कहलाता है। अर्थात् हिंसा आदि पापों से विरत

होना तथा इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्ति का निरोध करना संयम है। संयम के एक अपेक्षा से सत्तरह भेद भी हैं। कर्म-क्षय के लिए जो तपस्या की जाती है उसे तप कहते हैं। तप दो प्रकार का है—आभ्यन्तर और बाह्य। इन दोनों के छह-छह भेद हैं, जिनका विस्तृत विवेचन 'मोक्षस्वरूप' नामक अध्ययन में किया जायगा। इस प्रकार संयम और तप के द्वारा आत्मा का दमन किया जाता है।

आत्म-दमन के लिए संयम और तप दोनों को कारण बतलाकर सूत्रकार ने एक रहस्य और भी प्रकट कर दिया है। लोक में बहुत से ऐसे तपस्वी हैं जो दुस्सह शारीरिक कष्ट सहन करते हैं। वे भयंकर शीत सहते हैं, पंचाग्नि तप तपते हैं, कांटों आदि की यातनाएं भोगते हैं। उनका तप भी क्या आत्म-दमन का कारण है? इस प्रश्न का समाधान, तप से पहले संयम का उल्लेख करके सूत्रकार ने कर दिया है। अर्थात् संयम-पूर्वक जो तप किया जाता है वही उभय लोक में सुखदायक होता है। हरित काय का भक्षण, अप्काय का आरम्भ-समारम्भ, अग्निकाय का आरम्भ तथा अन्य त्रस आदि प्राणियों की हिंसा रूप सावद्य व्यापार जहां होता है और इन्द्रियों के विषयों से जहां निवृत्ति नहीं होती वहां शुद्ध संयम का अभाव है और शुद्ध संयम के अभाव में की जाने वाली तपस्या उभय-लोक में सुखकारी नहीं है। मिथ्यात्व के साथ सहन किया जाने वाला कायक्लेश आश्रव का ही कारण होता है और आश्रव संसार का कारण है अतएव उससे मुक्ति नहीं प्राप्त होती। अतएव आत्म-कल्याण के लिए वही तपस्या उपयोगी होती है जो संयम सहित हो या मिथ्यात्व तथा सावद्य व्यापार से रहित हो। यह आशय प्रकट करने के लिए सूत्रकार ने 'संजमेण तवेण य' यहां तप से पहले संयम को स्थान दिया है। संयम से आने वाले कर्म का निरोध होता और तपस्या के द्वारा निर्जरा-पूर्वसंचित कर्मों का आंशिक क्षय होता है।

यहाँ यह आशंका की जा सकती है कि अपने आपको दुःखी बनाने से असाता वेदनीय कर्म का आश्रव होता है और आत्महिंसा का भी पाप लगता है। अन्य प्राणी को कष्ट पहुंचाना पाप है तो तप के द्वारा अपने आपको कष्ट पहुंचाना भी पाप होना चाहिए। अगर ऐसा है तो यहां तप का विधान क्यों किया गया है? जैन मुनि केशलोंच, अनशन, शीतोष्ण परीषह आदि को इच्छापूर्वक क्यों सहन करते हैं? इसका समाधान यह है कि दुःख एक प्रकार की मानसिक परिणति है। बाह्य पदार्थों में दुःख देने की शक्ति नहीं है। जिन पदार्थों को हमारा मन प्रतिकूल समझता है उनका संयोग होने पर वह दुःख का अनुभव करने लगता है। वह दुःख रूप अनुभव ही दुःख कहलाता है। किन्तु वास्तव में उन पदार्थों में दुःख उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है। अगर पदार्थों में दुःखों को उत्पन्न करने का स्वभाव होता तो जो पदार्थ एक पुरुष को दुःख का कारण मालूम होता है वह सभी को समान रूप से दुःख का कारण प्रतीत होता। किन्तु ऐसा नहीं होता। जो पदार्थ एक को दुःखजनक जान पड़ता है वही दूसरे को सुखदायक अनुभव होता है। यही नहीं, भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में तो

एक ही वस्तु, एक ही व्यक्ति को सुख और दुःख पहुंचाने वाली प्रतीत होती है। भूख लगने पर मिठाई सुखदायक मालूम होती है, पर ठूंस-ठूंस कर खा चुकने के पश्चात् एक कौर निगलना भी अत्यन्त कष्टकर हो जाता है। अगर मिठाई सुख--दुःख देती हो तो वह दोनों अवस्थाओं में समान होने के कारण एक-सा सुख या दुःख देती। पर मन की परिणति बदल जाने के कारण वह कभी सुख और कभी दुःखजनक मालूम होती है। इसी प्रकार केशलोंच, अनशन आदि तपस्या को आत्मकल्याण के अर्थी, समभाव के सुरम्य सरोवर में निमग्न रहने वाले मुनिराज कष्ट रूप अनुभव नहीं करते, अतएव तपस्या में आत्म-हिंसा की संभावना भी नहीं की जा सकती। मुनिजन तप को परिणाम में सुखजनक होने के कारण सुख--रूप ही समझते हैं। अतएव उससे असातावेदनीय का आश्रव भी नहीं होता। क्रोध आदि कषायों से प्रेरित होकर जो कष्ट सहन किया जाता है वही असातावेदनीय के आश्रव का कारण होता है। संसार के विषयों से होने वाले महान दुःखों से उद्विग्न भिक्षु उन दुःखों से छूटने में दत्तचित्त होते हैं और शास्त्रोक्त कार्यों में प्रवृत्ति करते हैं अतएव संक्लेश परिणाम का सर्वथा अभाव होने से उन्हें आत्महिंसा का पाप स्पर्श भी नहीं करता।

आत्म-दमन करने वाला उभय लोक में सुख पाता है; पर जो आत्मदमन से विमुख हो कर राग-रंग में मस्त रहता है उसे क्या फल भोगना पड़ता है? इस प्रश्न का निराकरण करने के लिए सूत्रकार ने उत्तरार्ध में कहा है— जो आत्म-दमन नहीं करता वह दूसरों के द्वारा वध और बन्धन आदि उपायों से दमन किया जाता है। अर्थात् जो अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं करता और तपस्या नहीं करता वह पाप-क्रियाओं में प्रवृत्त होकर इस लोक में राजा आदि के द्वारा वध-बंधन के कष्ट भुगतता है और परलोक में यदि नरक गति में जाता है तो दूसरे नारकियों तथा परमाधामी देवों द्वारा वध-बन्धन के कष्ट भोगता है। और तिर्यञ्च गति में जाता है तो दूसरे तिर्यञ्चों तथा मनुष्य आदि के द्वारा वध-बन्धन के कष्ट भोगता है। इस कष्ट-सहन के पश्चात् भी संक्लेश परिणामों के कारण कष्टों की लम्बी परम्परा चली जाती है। अतः बिना संक्लेश परिणामों के, स्वेच्छापूर्वक संयम और तप का आचरण करना ही श्रेयस्कर है, जिससे अनादिकालीन दुःख-परम्परा का सर्वथा विनाश हो जाता है और आत्मा बन्धन से मुक्त होकर एकान्त सुखी बन जाता है। अक्षय सुख का एक मात्र यही राजमार्ग है।

अतएव प्रत्येक विवेकशाली को अपनी शक्ति के अनुसार सकल संयम या एकदेश संयम का पालन करना चाहिए और समाधिपूर्वक यथाशक्ति तपस्या का आचरण करना चाहिए।

यहाँ 'बंधणेहिं वहेहिं य' इन पदों में बहुवचन का प्रयोग करके सूत्रकारने वध-बंधन का बाहुल्य सूचित किया है।

पड़ता है। योगी जन इस युद्ध को अत्यन्त सावधान होकर देखते हैं और दृढ़तापूर्वक उसमें भाग लेते हैं। यही कारण है कि वे अन्त में अपने सम्पूर्ण शत्रुओं का विनाश करके अनन्त सुख के भागी बनते हैं।

लक्ष्य जितना स्थूल होता है उसका भेदना उतना ही सुगम होता है। अत्यन्त सूक्ष्म लक्ष्य को भेदना अत्यन्त कौशल का सूचक है। बाह्य शत्रु स्थूल हैं और स्थूल साधनों से अर्थात् तोप तलवार आदि से उनका दमन किया जाता है, इसलिये उनका दमन सरल है और उसमें केवल पाशविक बल की आवश्यकता है। किन्तु आन्तरिक शत्रु अत्यन्त सूक्ष्म हैं और उन्हें दमन करने के साधन और भी सूक्ष्म हैं, अतएव उसके लिए आत्मिक बल की अपेक्षा रहती है। इसीलिए सूत्रकार ने आत्म-दमन को श्रेष्ठ विजय बतलाया है।

भौतिक युद्ध में विजय पाने से राज्य की प्राप्ति होती है। थोड़े से भूमिभाग पर विजेता शासन करता है किन्तु आध्यात्मिक युद्ध का विजेता तीनों लोकों का शासक बन जाता है। भौतिक युद्ध का विजेता, क्षणिक ऐश्वर्य प्राप्त करता है, आध्यात्मिक युद्ध के विजेता को साक्षात् ईश्वरत्व प्राप्त होता है। भौतिक युद्ध से लाखों शत्रुओं का दमन करने के पश्चात् करोड़ों नये शत्रु बन जाते हैं, आध्यात्मिक युद्ध के विजेता का शत्रु संसार में कोई नहीं रहता। भौतिक विजय, अन्त में घोर पराजय का साधन बनती है, आध्यात्मिक विजय चरम विजय है—इस विजय को प्राप्त कर चुकने के पश्चात् कभी पराजय का प्रसंग नहीं आता। भौतिक विजय के लिए लाखों-करोड़ों प्राणियों के रक्त की धारा बहाई जाती है अतएव उससे आत्मा अत्यन्त मलीन होता है, आध्यात्मिक विजय के लिए मन-वचन-काय से पूर्ण अहिंसा का पालन करना पड़ता है–प्राणी मात्र पर बन्धुभाव रखना होता है और उससे आत्मा निर्मल बनता है। भौतिक युद्ध के विजेता के सामने लोग विना इच्छा के नतमस्तक होते हैं और आध्यात्मिक युद्ध के विजेता के समक्ष न केवल राजा-महाराजा और चक्रवर्ती ही हार्दिक भक्तिभाव से नतमस्तक होते हैं अपितु देवराज इन्द्र भी उसका क्रीत दास बन जाता है। इसलिए सूत्रकार ने आत्मदमन को श्रेष्ठ विजय बतलाया है।

भौतिक विजय से उन्मत्त होकर विजेता जगत् में अन्याय और अत्याचार का उदाहरण उपस्थित करता है, आध्यात्मिक युद्ध का विजेता अपनी वाणी और अपने आचरण के द्वारा नीति, धर्म और सदाचार की स्थापना करके असंख्य जीवों के कल्याण का कारण बनता है। भौतिक युद्ध का विजयी योद्धा दूसरों की स्वाधीनता का अपहरण करता है, उन्हें चूसता है और समाज में विषमता का विष वृक्ष रोपता है किन्तु आध्यात्मिक युद्ध का विजयी सूरमा स्वयं स्वाधीनता प्राप्त करता है, दूसरों को स्वाधीन बनाता है और समता की सुधा का प्रवाह बहाता है। भौतिक विजय मनुष्य को अंधा बनाती है, आध्यात्मिक विजय से आत्मा अलौकिक आलोक का पुंज बन जाता है। भौतिक विजय से मनुष्य की आत्मिक शक्तियां कुंठित हो जाती

हैं, आध्यात्मिक विजय से आत्मा की अनन्त शक्तियां तीक्ष्ण होती हैं। भौतिक विजय नरक का द्वार है, आत्मिक विजय मोक्ष का द्वार है। इसलिए सूत्रकार ने आत्म-दमन को श्रेष्ठ विजय बतलाया है।

भव्य जीवो ! अगर तुम कभी नष्ट न होने वाला अक्षय साम्राज्य चाहते हो, यदि तुम असीम आत्मिक विकास चाहते हो, अगर तुम सम्पूर्ण शत्रुओं का समूल उन्मूलन करना चाहते हो तो बहिर्दृष्टि का परित्याग करके अन्तर्दृष्टि प्राप्त करो। अनादिकाल से जो शत्रु तुम्हारे भीतर छिपे बैठे हैं, जिन्होंने तुम्हें अब तक नरक आदि गतियों के भयंकर दुःख सहन करने को बाध्य किया है, जन्म-मरण आदि की दुःसह यातनाएं दी हैं, इन मिथ्यात्व, अविरति प्रमाद, कषाय आदि शत्रुओं पर विजय प्राप्त करो। यही परम और चरम विजय है।

मूलः—अप्पणामेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण वज्झओ।
अप्पणामेवमप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ॥ ८ ॥

छायाः—आत्मानमेव युध्यस्व, किं ते युद्धेन बाह्यतः।
आत्मनैवात्मानं, जित्वा सुखमेधते ॥ ८ ॥

शब्दार्थः—गौतम ! तू आत्मा के साथ ही युद्ध कर। दूसरे के साथ युद्ध करने से तुझे क्या प्रयोजन है ? जो आत्मा के द्वारा आत्मा को जीतता है वह सुख पाता है।

भाष्य—इससे पूर्व गाथा में दो प्रकार के युद्धों की तुलना करके आत्मिक युद्ध की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। इसके निष्कर्ष के रूप में यहाँ साक्षात् रूप से आत्मिक युद्ध करने का उपदेश दिया गया है। सूत्रकार कहते हैं कि आत्मिक युद्ध ही श्रेष्ठ युद्ध है अतएव अपने आत्मा के साथ ही युद्ध करो। दूसरे के साथ युद्ध करने से कुछ लाभ नहीं है। जैसे कंटकों से बचने के लिए सारी पृथ्वी को चमड़े से मढ़ने का वृथा प्रयास करना अज्ञानतापूर्ण है उसी प्रकार शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए दूसरों से युद्ध करना भी मूर्खतापूर्ण प्रयत्न है। पैर में जूता पहन लेने से समस्त पृथ्वी चर्म से आवृत हो जाती है उसी प्रकार आत्मा पर विजय प्राप्त कर लेने से सारे संसार पर विजय प्राप्त हो जाती है।

आत्मा पर विजय पाने के लिए किन साधनों का प्रयोग करना चाहिए ? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए सूत्रकार कहते हैं—'अप्पणामेवमप्पाणं जइत्ता' अर्थात् आत्मा के द्वारा ही आत्मा पर विजय प्राप्त होती है। तात्पर्य यह है कि जो कोई सफलता संसार के अनित्य पदार्थ के द्वारा प्राप्त की जायगी वह सफलता अनित्य ही होगी। वह क्षणिक साधन पर अवलंबित होने के कारण क्षणिक ही होगी—स्थायी नहीं रह सकती।

इसके अतिरिक्त विजय के लिए दूसरे-बाह्य पदार्थ की यदि सहायता ली

जायगी तो विजेता उस पदार्थ के अधीन रहेगा और इस प्रकार बाह्य पदार्थों की पराधीनता के कारण वह पूर्ण स्वतंत्रता का उपभोग कदापि नहीं कर सकेगा।

जैसा कि पहले प्ररूपण किया गया है- आत्मा के मिथ्यात्व आदि शत्रु इतने सूक्ष्म हैं कि किसी भी बाह्य साधन के द्वारा उन्हें पराजित नहीं किया जा सकता। आत्मा की सद्वृत्ति, आत्मिक सामर्थ्य का विकास और दुर्गुणों के विरोधी सद्गुणों का पोषण- इन सब के द्वारा आत्मा के शत्रु जीते जा सकते हैं; अतएव इन्हें प्राप्त करने की निरन्तर चेष्टा करना प्रत्येक आत्म-कल्याण के अभिलाषी पुरुष का परम कर्त्तव्य है। पर पदार्थों को सुख या दुःख का कारण मानना अज्ञान है। पर पदार्थ से न बंध होता है, न मोक्ष होता है। वस्तुतः रागमय परिणति बंध का कारण है और वीतरागता मोक्ष का कारण है। अतएव अपने दुष्कर्मों को ही दुःख का कारण समझकर अन्य प्राणियों पर कभी द्वेष-भाव न आने देना और अपने पुण्य कर्मों को सुख का कारण मानकर किसी पर राग-भाव न उत्पन्न होने देना, वीतराग भाव में निमग्न रहना-समता-सुधा का पान करना, संवर की आराधना के द्वारा आश्रव को रोक देना, तपस्या आदि से संचित कर्मों का क्षय करना, यही आत्मविजय का प्रशस्त पथ है।

शंका-सूत्रकार ने आत्मा द्वारा आत्मा को जीतने का विधान किया है, सो यह कैसे संगत हो सकता है? जैसे तलवार अपने आप को नहीं काट सकती उसी प्रकार आत्मा अपने आपको कैसे जीतेगा? जय-पराजय का व्यवहार दो पदार्थों में हो सकता है, एक में किस प्रकार संभव है?

समाधान—यहां अभेद में जय पराजय का प्रयोग नहीं किया गया है। यद्यपि कहीं-कहीं एक ही वस्तु कर्त्ता, कर्म और करण भी बन जाती है, जैसे 'सांप अपने को, अपने द्वारा लपेटता है' यहां लपेटने वाला भी सांप है। लपेटा जाने वाला भी सांप है और जिसके द्वारा लपेटा जाता है वह भी सांप है। फिर भी यहां आत्मा की विकार-अवस्था की भेद विवक्षा करके दो वस्तुएं स्वीकार की गई हैं। तात्पर्य यह है कि आत्मा की शुभ या शुद्ध परिणति के द्वारा आत्मा की अशुभ परिणति पर विजय प्राप्त करने को यहां आत्मा पर आत्मा का विजय प्राप्त करना कहा गया है। अतएव यह कथन सर्वथा निर्दोष है।

मूलः—पंचिंदियाणि कोहं, माणं मायं तहेव लोहं च।
दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वमप्पे जिए जियं ॥ ९ ॥

छाया:—पञ्चेन्द्रियाणि क्रोधं मानं मायां तथैव लोभञ्च।
दुर्जयं चैवात्मानं सर्वमात्मनि जिते जितम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थः—पांच इन्द्रियां, क्रोध, मान, माया, लोभ, और मन आदि आत्मा को जीत लेने पर अपने आप जीत लिये जाते हैं ॥ ९ ॥

भाष्य: — इस गाथा में भी आत्म-विजय का महत्त्व प्रकट करते हुए क्रोध आदि कषायों को जीतने का उपाय निरूपण किया गया है। जैसे मूल का नाश होने पर शाखा-प्रशाखाएं स्वतः नष्ट हो जाती हैं उसी प्रकार आत्मा को जीत लेने के पश्चात इन्द्रियां आदि भी स्वतः पराजित हो जाती हैं।

इन्द्र आत्मा को कहते हैं। उसका चिह्न अर्थात् आत्मा के अस्तित्व का जो परिचायक है वह इन्द्रिय है। अथवा 'लीनमर्थं गमयति इति इन्द्रियम्' अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण गुह्य आत्मा का जिसके द्वारा बोध होता है वह इन्द्रिय है। अथवा इन्द्र अर्थात् नाम कर्म के द्वारा जिसकी रचना की गई है उसे इन्द्रिय कहते हैं। तात्पर्य यह है कि कर्मोदय के कारण ज्ञान-स्वरूप होने पर भी आत्मा इतना निर्बल हो गया है कि वह बिना दूसरे के सहारे के स्वयं रूप-रस-गंध-स्पर्श आदि को नहीं जान सकता। इस ज्ञान में इन्द्रियां आत्मा की सहायक होती हैं। आत्मा अमूर्तिक है और वह इन्द्रियग्राह्य नहीं है, अतः आत्मा का अस्तित्व भी इन्द्रियों के द्वारा जाना जाता है। द्रव्य इन्द्रियां नाम कर्म के उदय से बनती हैं, क्योंकि वे पुद्गलमय हैं।

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र (कान) यह पांच इन्द्रियां शास्त्र में प्रतिपादन की गई हैं। चक्षु के अतिरिक्त चार इन्द्रियां अपने-अपने विषय को स्पर्श करके जानती हैं, इसलिए उन्हें प्राप्यकारी कहते हैं। चक्षु रूप को स्पर्श किये बिना ही दूर से जान लेती हैं, इसलिए वह अप्राप्यकारी कहलाती है। इन पांचों इन्द्रियों के अतिरिक्त कर्मेन्द्रिय के नाम से जो लोग वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ को इन्द्रिय मानकर दस इन्द्रियों की कल्पना करते हैं सो ठीक नहीं है। शरीर के एक-एक अवयव को यदि अलग-अलग इन्द्रिय माना जायगा तो इन्द्रियों की संख्या ही स्थिर न हो सकेगी। वास्तव में इन्द्रिय उसी को कहा जा सकता है जो असाधारण कार्य करती हो अर्थात् जिसका कार्य किसी दूसरे अवयव से न हो सकता हो। जैसे रूप का ज्ञान चक्षु-इन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य किसी भी अवयव से नहीं हो सकता। इसलिए चक्षु को इन्द्रिय माना गया है। इसी प्रकार स्वाद का ज्ञान जिह्वा के अतिरिक्त किसी अन्य अवयव से साध्य नहीं है अतः जिह्वा भी इन्द्रिय है। कर्मेन्द्रियां इस प्रकार का असाधारण कार्य नहीं करती हैं अतएव उन्हें इन्द्रिय नहीं कह सकते।

यहां उल्लिखित पांचों इन्द्रियां दो-दो प्रकार की हैं— (१) द्रव्येन्द्रिय और (२) भावेन्द्रिय। निर्वृत्ति और उपकरण को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं तथा लब्धि और उपयोग को भावेन्द्रिय कहते हैं। द्रव्येन्द्रियाँ पुद्गलमय होने के कारण जड़ हैं और नामकर्म के उदय से इनकी रचना होती है। भावेन्द्रिय आत्मा का एक प्रकार का परिणाम हैं— और यह ज्ञानावरण तथा वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से होती हैं।

शरीर में दिखाई देने वाली इन्द्रियों की आकृति, जो पुद्गल स्कंधों से बनती है वह निर्वृत्ति-द्रव्येन्द्रिय है और निर्वृत्ति-इन्द्रिय की भीतरी-बाहरी पौद्गलिक शक्ति, जिसके अभाव में निर्वृत्ति-द्रव्येन्द्रिय ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकती, उपकरण-द्रव्येन्द्रिय कहलाती है।

ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से आत्मा में पदार्थों को जानने की जो शक्ति उत्पन्न होती है वह लब्धि-भावेन्द्रिय है और उस शक्ति का अपने योग्य विषय में व्यापार होना-प्रवृत्त होना उपयोग-भावेन्द्रिय है।

लब्धि के होने पर ही निर्वृत्ति, उपकरण और उपयोग रूप इन्द्रियां होती हैं, इसी प्रकार निर्वृत्ति के होने पर ही उपकरण और उपयोग इन्द्रियां सम्भव हैं और उपकरण की प्राप्ति होने पर ही उपयोग इन्द्रिय होती हैं।

श्रोत्रेन्द्रिय का आकार कदंब के फूल के समान, चक्षु-इन्द्रिय का आकार मसूर की दाल के समान, घ्राणेन्द्रिय का आकार अतिमुक्तक चन्द्र के समान जिह्वा-इन्द्रिय का खुरपा के समान और स्पर्शनेन्द्रिय का आकार विविध प्रकार का अनियत है।

पाँचों इन्द्रियां अनन्त प्रदेशों से बनी हुई हैं। वे आकाश के असंख्यात प्रदेशों में अवगाढ़ हैं। सभी इन्द्रियाँ कम से कम अंगुल के असंख्यातवें भाग में विषय करती हैं। श्रोत्रेन्द्रिय अधिक से अधिक स्वाभाविक रूप से बारह योजन दूर से आये हुए शब्द को सुन सकती है, चक्षुइन्द्रिय एक लाख योजन से भी कुछ अधिक दूर के पदार्थ को देख सकती है। शेष इन्द्रियां अधिक से अधिक नौ योजन दूर तक के अपने विषय को जान सकती हैं।

इन पाँचों इन्द्रियों को जीतने से यह तात्पर्य है कि विषयों के प्रति इनकी जो लोलुपता है उसका निरोध करना अर्थात् आत्मिक शक्ति के द्वारा गृद्धि का भाव कम करना।

क्रोध, मान, माया और लोभ—यह चार कषाय संसार का कारण हैं। इन पर आंशिक विजय प्राप्त कर लेने पर ही—अर्थात् इनके एक भेद रूप अनन्तानुबंधी क्रोध आदि का क्षय या उपशम करने पर ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। इन कषायों का स्पष्टीकरण आगे 'कषाय-प्रकरण' में किया जायगा।

मन बन्दर की भांति चपल है। वही बन्ध मोक्ष का मुख्य कारण है। आत्मा उसका अनुसरण करके नाना प्रकार की वेदनाएं सहन करता है। इन सब पर विजय प्राप्त करने का सुगम उपाय आत्म विजय है। जब आत्मा अपने विकारों पर विजय प्राप्त कर लेता है तब इन्द्रिय, मन आदि की शक्ति क्षीण हो जाती है और वे फिर आत्मा को विवेकहीन बना कर कुमार्ग पर ले जाने में समर्थ नहीं हैं। इसलिए सूत्रकार फरमाते हैं कि—आत्मा को जीत लेने पर सब को सहज ही जीता जा सकता है।

मूलः—सरीरमाहु नाव त्ति जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो जं तरंति महेसिणो ॥ १० ॥

छाया—शरीरमाहुर्नौरिति जीव उच्यते नाविकः।
संसारोऽर्णव उक्तः, यं तरन्ति महर्षयः ॥ १० ॥

शब्दार्थः—यह संसार समुद्र कहा गया है। शरीर नौका के समान है, जीव नाविक-मल्लाह के समान है। इस संसार-समुद्र को महर्षि तरते हैं॥ १० ॥

भाष्यः—आत्म-विजय प्राप्त कर चुकने पर आत्मा मोक्ष को प्राप्त करता है। मोक्ष या मुक्ति का अर्थ है—बंधन से छुटकारा पाना। बंधन को ही संसार कहते हैं अतएव यहां संसार का वर्णन किया गया है। संसार को यहां समुद्र का रूपक दिया गया है। प्रश्नव्याकरण सूत्र में इस संसार-रूपी समुद्र का सांगोपांग रूपक इस प्रकार निरूपण किया गया है:—

"संसार रूपी समुद्र में जन्म-जरा-मरण रूपी गहराई है। इसमें दुःख रूपी जल क्षुब्ध हो रहा है। संयोग-वियोग रूपी ज्वार भाटा आता रहता है। वध-बन्धन रूपी बड़ी-बड़ी तरंगें उठती हैं। विलाप रूपी गर्जना होती है। अपमान रूप फेन उछलते रहते हैं। मृत्यु-भय रूपी सपाट पानी सदा विद्यमान रहता है। चार कषाय रूप पाताल कलशों से युक्त है। भव-भवान्तर रूप जल का कहीं अन्त नहीं दिखाई देता। इसका कहीं आर-पार नहीं है। यह संसार-समुद्र डरावना है, परिमाणरहित है। इच्छा और मलिन बुद्धि रूपी वायु के वेग से उछलता रहता है। आशा इस समुद्र का तल है। इसमें काम-राग-द्वेष आदि जल के फुहारे उड़ते रहते हैं। यहां मोह के भंवर हैं। जैसे समुद्र में मछलियां ऊपर-नीचे दौड़ती रहती हैं उसी प्रकार संसार में यह जीव विभिन्न गर्भों में घूमता रहता है। समुद्र में हिंसक प्राणी होते हैं यहां प्रमाद आदि हैं। इनके उपद्रव से उठते हुए मत्स्य रूप मनुष्यों के समूह इस संसार-सागर में रहते हैं।.........संताप रूप वड़वानल यहाँ सदैव जलती रहती है। अभिमान आदि अशुभ अध्यवसाय रूपी जलचरों द्वारा पकड़े हुए जीव समुद्र के तल के समान नरक की ओर खिंचे जा रहे हैं। यह संसार-समुद्र रति-अरति-भय विषाद आदि रूपी पर्वतों से व्याप्त है। यह संसार सागर क्लेश रूपी कीचड़ से व्याप्त होने के कारण दुस्तर है।.........संसार-समुद्र चार प्रकार की गति रूप विशाल और अनन्त विस्तार वाला है। जिन्होंने संयम में दृढ़ता धारण नहीं की है, उन्हें इस संसार-सागर में कुछ भी सहारा नहीं है।"

तात्पर्य यह है कि जैसे समुद्र में पड़े हुए मनुष्य के कष्टों का पार नहीं रहता उसी प्रकार संसार के कष्टों का पार नहीं है। समुद्र से निकल कर किनारे लगना जैसे अत्यन्त कठिन है उसी प्रकार संसार से निकल कर किनारे लगना-मोक्ष प्राप्त होना भी अतिशय कठिन है। इन सब सदृशताओं के कारण संसार समुद्र कहलाता है।

संसार-समुद्र से पार होना यद्यपि कठिन है, पर असंभव नहीं है। यदि सुयोग्य नौका-जहाज-मिल जाय और उस जहाज का प्रयोग करने वाला कर्णधार निपुण हो तो किनारे पर पहुंच सकते हैं। इसी प्रकार यदि योग्य शरीर अर्थात् मनुष्य का औदारिक शरीर प्राप्त हो जाय तो संसार के किनारे पहुँच सकते हैं।

औदारिक शरीर यद्यपि अशुचि रूप है, योगियों के राग का पात्र नहीं है, फिर

भी वह मुक्ति की प्राप्ति में निमित्त कारण होता है। इसीलिए ममता के त्यागी-शरीर पर तनिक भी राग न रखने वाले मुनिराज आहार के द्वारा उसका पोषण करते हैं।

यह शरीर रूपी नौका विना कीमत चुकाये-मुफ्त में नहीं मिली है। बहुत-सा पुण्य रूप मूल्य चुका कर इसे खरीद किया है, और इसे खरीदने का उद्देश्य दुःख-समूह से पार पहुँचना है। अतएव शरीर-नौका के टूटने-फूटने से पहले ही पार उतर जाओ-ऐसा प्रयत्न करो कि शरीर का नाश होने से पहले ही दुःखों का नाश हो जाय अर्थात् मोक्ष प्राप्त हो जाय।

जिस प्रकार नौका पर चढ़ कर विशाल सागर पार किया जाता है, उसी प्रकार शरीर का आश्रय लेकर संसार-सागर पार किया जाता है। सूत्रकार ने इसी अभिप्राय से इसे नौका कहा है। पार पर पहुँचने के पश्चात् गन्तव्य स्थान पर पहुँचने के लिए नौका का त्याग करना अनिवार्य है, उसी प्रकार मुक्ति के किनारे-चौदहवें गुणस्थान में पहुँच जाने पर शरीर का त्याग करना भी अनिवार्य होता है।

नौका जड़ है, शरीर भी जड़ है। उसमें लक्ष्य की ओर स्वतः लेजाने की शक्ति नहीं है, शरीर में भी लक्ष्य-मोक्ष की ओर स्वयं लेजाने की शक्ति नहीं है। अतएव नौका को मल्लाह चलाता है, इसी प्रकार शरीर को चलाने वाला मल्लाह जीव है।

जो मल्लाह नौका को सावधानी और बुद्धिमत्ता के साथ नहीं चलाता, वह मल्लाह नौका को भंवर में फंसा देता है, या उलट देता है। इसी प्रकार जो जीव शरीर-नौका को सम्यग्ज्ञान और यतन के साथ नहीं चलाता वह संसार-सागर में उसे फंसा देता है या उसका विनाश कर डालता है। नौका के फंस जाने पर नौका की हानि नहीं होती वरन् मल्लाह की ही हानि होती है, इसी प्रकार शरीर नौका का दुष्प्रयोग करने से जीव रूपी नाविक की ही हानि होती है।

नौका को डुबोने के कारण आंधी, तूफान और समुद्र का क्षोभ आदि होते हैं और शरीर-नौका को डुबोने के कारण राग-द्वेष आदि का तूफान और अन्तःकरण का क्षोभ आदि होते हैं।

जैसे मल्लाह का कर्त्तव्य यह है कि वह बहुत सावधानी और दृढ़ता के साथ नौका चलावे, इसी प्रकार जीव का कर्त्तव्य है कि वह शरीर का अप्रमत्त होकर, विवेक के साथ सदुपयोग करे।

अगर नौका को चलाने वाला केवट जीव है तो उस पर आरूढ़ होनेवाला यात्री कौन है? संसार-सागर से किसे पार उतरना है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए सूत्रकार कहते है—'जं तरंति महेसिणो।' अर्थात् महर्षि शरीर-नौका पर आरूढ़ होकर संसार-सागर तरते हैं।

जीव ही महर्षि पदवी प्राप्त करता है, और जीव को यहां केवट बतलाया गया है। इस प्रकार नौका चलानेवाला और उस पर आरूढ़ होनेवाला-तरनेवाला जीव ही

सिद्ध होता है। जीव ही मल्लाह है और जीव ही तरने वाला है। इसमें किसी को विरोध की आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि एक ही व्यक्ति में उक्त दोनों बातें संभव है। अथवा आत्मा का सांसारिक और सोपाधिक रूप नाविक है और आत्मा का शुद्ध स्वरूप महर्षि बतलाया गया है। इस कारण भी कोई विरोध नहीं है।

सूत्रकार ने संसार को समुद्र का रूपक देकर यह सूचित किया है कि संसार का अन्त करना सहज नहीं है। इसके लिए बड़े भारी प्रयत्न की आवश्यकता है। दृढ़ता पुरुषार्थ, धैर्य और विवेक को सामने रख कर निरन्तर प्रवृत्ति करने से ही सफलता मिल सकती है। यहाँ जरा-सी असावधानी की तो समुद्र के गहरे तल में जाना पड़ता है, उसी प्रकार शरीर का दुरुपयोग किया तो संसार के तल में अर्थात् नरक-निगोद में जाना पड़ता है।

अतएव मुक्ति के साधनभूत इस परिपूर्ण और सबल शरीर का सदुपयोग करो; अवसर निकल जाने पर फिर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। इसको भोगोपभोग का साधन न बनाओ। इस पर ममता-भाव रख कर इसके पोषण को ही अपना उद्देश्य न समझो। ऐसा करने से शरीर अहित का कारण बन जाता है। इसे प्राप्त करने के लिए जो मूल्य चुकाया है उसके बदले हानि न उठाओ।

शरीर का सदुपयोग क्या है? नेत्रों से मुनिराजों का दर्शन करना और शास्त्रों का अवलोकन करना, कानों से धर्मोपदेश का श्रवण करना, जीभ से हित-मित-प्रिय वाणी बोलना, हाथों से और मस्तक से गुरुजनों के प्रति विनम्रता प्रदर्शित करना, इसी प्रकार अन्यान्य अंगोपागों को धर्माराधन, सेवा और परोपकार में लगाना शरीर का सदुपयोग है। इससे विरुद्ध रूप-रस आदि विषयों के सेवन में अंगोपांगों का उपयोग करना दुरुपयोग है। सूत्रकार कहते हैं-अगर शरीर नौका का सम्यक् प्रयोग करोगे तो महर्षि बन कर संसार-सागर से पार उतर जाओगे।

मूल—नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणम्॥ ११॥

छाया—ज्ञानञ्च दर्शनञ्चैव, चारित्रञ्च तपस्तथा।
वीर्यमुपयोगश्च, एतज्जीवस्य लक्षणम्॥

शब्दार्थः--हे गौतम! ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, सामर्थ्य और उपयोग यह सब जीव के लक्षण हैं।

भाष्यः—प्रारंभ में आत्मा की नित्यता और इन्द्रियों द्वारा उसकी अग्राह्यता का विवेचन किया था। तदनन्तर आत्मा के दमन का विवेचन किया गया। किन्तु आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जाने बिना आत्म-दमन होना असंभव है, इसलिए सूत्रकार ने प्रस्तुत गाथा में आत्मा के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया है।

वस्तु के असाधारण धर्म को लक्षण कहते हैं। एक साथ मिली हुई बहुत-सी

वस्तुओं में से जिस विशेषता के द्वारा एक वस्तु जुदी की जा सकती है, वह विशेषता ही लक्षण कहलाती है। उदाहरणार्थ-किसी जगह पशुओं का समूह एकत्र है। उनमें गाय, भैंस, बकरी, घोड़ी आदि विविध जाति के पशु हैं। देवदत्त ने जिनदत्त से कहा—'जाओ, पशुओं के झुण्ड में से गाय ले आओ।' जिनदत्त गाय को नहीं पहचानता है, इसलिए वह पूछता है—'गाय किसे कहते हैं?' देवदत्त ने कहा—'जिसके गले में चमड़ा लटकता है उस स्त्री जाति पशु को गाय कहते हैं।' यह सुन कर जिनदत्त गया और जिस पशु के गले में चमड़ा लटक रहा था, उसे गाय समझ कर ले आया। यहाँ गले का लटकने वाला चमड़ा गाय का लक्षण कहलाया, क्योंकि ऐसा चमड़ा भैंस आदि अन्य पशुओं में नहीं पाया जाता। इसी को असाधारण धर्म कहते हैं। असाधारण धर्म से एक वस्तु दूसरी वस्तुओं से अलग करके पहचानी जाती है।

यहाँ ज्ञान, दर्शन आदि को जीव का लक्षण बतलाकर सूत्रकार ने यह भी बतला दिया है कि यह ज्ञानादि जीव के असाधारण धर्म हैं, अर्थात् जीव के अतिरिक्त अन्य किसी भी द्रव्य में ज्ञान, दर्शन आदि का सद्भाव नहीं पाया जाता।

जिसके द्वारा पदार्थ जाने जाते हैं, या जो पदार्थों को जानता है अथवा जानना ही ज्ञान है। तात्पर्य यह है कि सामान्य-विशेष धर्म वाले पदार्थ के सामान्य गुण को गौण करके विशेष धर्मों को प्रधान करके जानने वाला आत्मा का गुण ज्ञान कहलाता है। ज्ञान का विस्तृत विवेचन ज्ञान-प्रकरण में किया जायगा।

पदार्थ के विशेष धर्मों को गौण करके सामान्य धर्म को प्रधान करके जानने वाला आत्मा का गुण दर्शन कहलाता है। ज्ञान साकारोपयोग कहलाता है और दर्शन निराकारोपयोग कहलाता है। ज्ञान के द्वारा पदार्थ की विशेषताएं जानी जाती हैं और दर्शन से सामान्य अर्थात् सत्ता का ही ज्ञान होता है।

अशुभ और सावद्य क्रियाओं का त्याग करके शुभ क्रियाओं में प्रवृत्ति करना चारित्र है अथवा आत्मा का अपने शुद्ध स्वभाव में रमण करना चारित्र है। चारित्र के पांच भेद हैं -सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात। इनका भी विशेष विवेचन आगे किया जायगा।

संवर और निर्जरा के हेतु मुमुक्षु जन अनशन आदि बाह्य तपस्या और आलोचना, प्रतिक्रमण आदि आभ्यन्तर तपस्या करते हैं, वह तप है। जीव के सामर्थ्य को वीर्य कहते हैं और ज्ञान दर्शन की प्रवृत्ति उपयोग कहलाती है। यह लक्षण जिसमें पाये जावें उसे जीव कहते हैं।

प्रश्न - जीव का लक्षण बताने के लिये उसके किसी एक ही विशेष गुण का उल्लेख कर देना पर्याप्त था। उसी एक गुण के द्वारा जीव, अन्य द्रव्यों से अलग समझा जा सकता था। ऐसी अवस्था में यहाँ बहुत-से गुणों का कथन क्यों किया गया है?

समाधान—सूत्रकार परम दयालु हैं। करुणा से प्रेरित होकर प्रत्येक शिष्य

सिद्ध होता है। जीव ही मल्लाह है और जीव ही तरने वाला है। इसमें किसी को विरोध की आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि एक ही व्यक्ति में उक्त दोनों बातें संभव है। अथवा आत्मा का सांसारिक और सोपाधिक रूप नाविक है और आत्मा का शुद्ध स्वरूप महर्षि बतलाया गया है। इस कारण भी कोई विरोध नहीं है।

सूत्रकार ने संसार को समुद्र का रूपक देकर यह सूचित किया है कि संसार का अन्त करना सहज नहीं है। इसके लिए बड़े भारी प्रयत्न की आवश्यकता है। दृढ़ता पुरुषार्थ, धैर्य और विवेक को सामने रख कर निरन्तर प्रवृत्ति करने से ही सफलता मिल सकती है। यहाँ जरा-सी असावधानी की तो समुद्र के गहरे तल में जाना पड़ता है, उसी प्रकार शरीर का दुरुपयोग किया तो संसार के तल में अर्थात् नरक-निगोद में जाना पड़ता है।

अतएव मुक्ति के साधनभूत इस परिपूर्ण और सबल शरीर का सदुपयोग करो; अवसर निकल जाने पर फिर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। इसको भोगोपभोग का साधन न बनाओ। इस पर ममता-भाव रख कर इसके पोषण को ही अपना उद्देश्य न समझो। ऐसा करने से शरीर अहित का कारण बन जाता है। इसे प्राप्त करने के लिए जो मूल्य चुकाया है उसके बदले हानि न उठाओ।

शरीर का सदुपयोग क्या है? नेत्रों से मुनिराजों का दर्शन करना और शास्त्रों का अवलोकन करना, कानों से धर्मोपदेश का श्रवण करना, जीभ से हित-मित-प्रिय वाणी बोलना, हाथों से और मस्तक से गुरुजनों के प्रति विनम्रता प्रदर्शित करना, इसी प्रकार अन्यान्य अंगोपांगों को धर्माराधन, सेवा और परोपकार में लगाना शरीर का सदुपयोग है। इससे विरुद्ध रूप-रस आदि विषयों के सेवन में अंगोपांगों का उपयोग करना दुरुपयोग है। सूत्रकार कहते हैं-अगर शरीर नौका का सम्यक् प्रयोग करोगे तो महर्षि बन कर संसार-सागर से पार उतर जाओगे।

मूल—नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणम् ॥ ११ ॥

छाया—ज्ञानञ्च दर्शनञ्चैव, चारित्रञ्च तपस्तथा।
वीर्यमुपयोगश्च, एतज्जीवस्य लक्षणम् ॥

शब्दार्थः—हे गौतम! ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, सामर्थ्य और उपयोग यह सब जीव के लक्षण हैं।

भाष्यः—प्रारंभ में आत्मा की नित्यता और इन्द्रियों द्वारा उसकी अग्राह्यता का विवेचन किया था। तदनन्तर आत्मा के दमन का विवेचन किया गया। किन्तु आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जाने बिना आत्म-दमन होना असंभव है, इसलिए सूत्रकार ने प्रस्तुत गाथा में आत्मा के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया है।

वस्तु के असाधारण धर्म को लक्षण कहते हैं। एक साथ मिली हुई बहुत-सी

वस्तुओं में से जिस विशेषता के द्वारा एक वस्तु जुदी की जा सकती है, वह विशेषता ही लक्षण कहलाती है। उदाहरणार्थ-किसी जगह पशुओं का समूह एकत्र है। उनमें गाय, भैंस, बकरी, घोड़ी आदि विविध जाति के पशु हैं। देवदत्त ने जिनदत्त से कहा—'जाओ, पशुओं के झुण्ड में से गाय ले आओ।' जिनदत्त गाय को नहीं पहचानता है, इसलिए वह पूछता है—'गाय किसे कहते हैं?' देवदत्त ने कहा—'जिसके गले में चमड़ा लटकता है उस स्त्री जाति पशु को गाय कहते हैं।' यह सुन कर जिनदत्त गया और जिस पशु के गले में चमड़ा लटक रहा था, उसे गाय समझ कर ले आया। यहाँ गले का लटकने वाला चमड़ा गाय का लक्षण कहलाया, क्योंकि ऐसा चमड़ा भैंस आदि अन्य पशुओं में नहीं पाया जाता। इसी को असाधारण धर्म कहते हैं। असाधारण धर्म से एक वस्तु दूसरी वस्तुओं से अलग करके पहचानी जाती है।

यहाँ ज्ञान, दर्शन आदि को जीव का लक्षण बतलाकर सूत्रकार ने यह भी बतला दिया है कि यह ज्ञानादि जीव के असाधारण धर्म हैं, अर्थात् जीव के अतिरिक्त अन्य किसी भी द्रव्य में ज्ञान, दर्शन आदि का सद्भाव नहीं पाया जाता।

जिसके द्वारा पदार्थ जाने जाते हैं, या जो पदार्थों को जानता है अथवा जानना ही ज्ञान है। तात्पर्य यह है कि सामान्य-विशेष धर्म वाले पदार्थ के सामान्य गुण को गौण करके विशेष धर्मों को प्रधान करके जानने वाला आत्मा का गुण ज्ञान कहलाता है। ज्ञान का विस्तृत विवेचन ज्ञान-प्रकरण में किया जायगा।

पदार्थ के विशेष धर्मों को गौण करके सामान्य धर्म को प्रधान करके जानने वाला आत्मा का गुण दर्शन कहलाता है। ज्ञान साकारोपयोग कहलाता है और दर्शन निराकारोपयोग कहलाता है। ज्ञान के द्वारा पदार्थ की विशेषताएं जानी जाती हैं और दर्शन से सामान्य अर्थात् सत्ता का ही ज्ञान होता है।

अशुभ और सावद्य क्रियाओं का त्याग करके शुभ क्रियाओं में प्रवृत्ति करना चारित्र है अथवा आत्मा का अपने शुद्ध स्वभाव में रमण करना चारित्र है। चारित्र के पांच भेद हैं -सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात। इनका भी विशेष विवेचन आगे किया जायगा।

संवर और निर्जरा के हेतु मुमुक्षु जन अनशन आदि बाह्य तपस्या और आलोचना, प्रतिक्रमण आदि आभ्यन्तर तपस्या करते हैं, वह तप है। जीव के सामर्थ्य को वीर्य कहते हैं और ज्ञान-दर्शन की प्रवृत्ति उपयोग कहलाती है। यह लक्षण जिसमें पाये जावें उसे जीव कहते हैं।

प्रश्न- जीव का लक्षण बताने के लिये उसके किसी एक ही विशेष गुण का उल्लेख कर देना पर्याप्त था। उसी एक गुण के द्वारा जीव, अन्य द्रव्यों से अलग समझा जा सकता था। ऐसी अवस्था में यहाँ बहुत-से गुणों का कथन क्यों किया गया है?

समाधान—सूत्रकार परम दयालु हैं। करुणा से प्रेरित होकर प्रत्येक शिष्य

को तत्त्व का यथार्थ बोध कराने के लिए सूत्र-रचना में उन्होंने प्रवृत्ति की है। अतएव जीव को एक विशेष गुण के द्वारा लक्षित न करके सामान्य बुद्धि वाले शिष्यों के कल्याण के लिये मध्यम मार्ग ग्रहण करके अनेक गुणों का प्रतिपादन किया है। ज्ञान और दर्शन आदि के विषय में मोहनीय कर्म के प्रबल उदय से अनेक मतावलम्बियों ने युक्ति और अनुभव के विरुद्ध अनेक मिथ्या कल्पनाएं की हैं। उन कल्पनाओं का सूत्रकार ने यहां विरोध करके जीव का यथार्थ स्वरूप निरूपण किया है।

कणाद ऋषि के अनुयायी वैशेषिक लोग ज्ञान को जीव का स्वरूप नहीं मानते। उनके मत के अनुसार जीव भिन्न पदार्थ है और ज्ञान भिन्न पदार्थ है। जीव जब मुक्त होता है तो ज्ञान का सर्वथा नाश हो जाता है। यदि जीव को और ज्ञान को एक ही पदार्थ माना जाय तो मुक्ति में ज्ञान का नाश हो जाने पर जीव का भी नाश मानना उचित नहीं है अतएव ज्ञान को जीव से भिन्न मानना चाहिए। दोनों को भिन्न-भिन्न मानने से ज्ञान का विनाश हो जाने पर भी जीव बचा रहता है।

वैशेषिकों का यह कथन सर्वथा निर्मूल है। ज्ञान यदि जीव से बिलकुल भिन्न होता तो ज्ञान से जीव को बोध न होता—जीव किसी भी पदार्थ को ज्ञान के द्वारा जान ही न पाता। मान लीजिए—ज्ञानचन्द्र किसी पदार्थ को जानता है तो उससे विज्ञानचन्द्र का अज्ञान नष्ट नहीं हो जाता, क्योंकि ज्ञानचन्द्र का ज्ञान विज्ञानचन्द्र की आत्मा से सर्वथा भिन्न है। तात्पर्य,यह हुआ कि जिस आत्मा से जो ज्ञान भिन्न होता है, उस आत्मा को उस ज्ञान से बोध नहीं होता। अगर ऐसा न माना जाय तो एक जीव को किसी वस्तु का ज्ञान होते ही, उसके ज्ञान से सभी आत्माओं को बोध हो जायगा। फिर संसार में ज्ञान की जो न्यूनाधिकता देखी जाती है वह न रहेगी। एक के ज्ञान से सभी जानने लगेंगे तो सभी बराबर ज्ञानी होंगे। न कोई गुरु रहेगा, न कोई शिष्य रहेगा। ज्ञानोपार्जन के लिए प्रयत्न करने की भी आवश्यकता न रहेगी, क्योंकि सिद्धों के ज्ञान से सभी को सभी पदार्थों का बोध हो जायगा। मगर ऐसा नहीं होता है—हमें दूसरे के ज्ञान से बोध नहीं होता है, क्योंकि उसका ज्ञान हमारी आत्मा से भिन्न है। जैसे दूसरे का ज्ञान हमारी आत्मा से भिन्न है उसी प्रकार हमारा ज्ञान भी अगर हम से भिन्न है, जैसा कि वैशेषिक कहते हैं, तो हमें अपने ज्ञान से भी बोध नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि जैसे दूसरे का ज्ञान हमसे भिन्न है उसी प्रकार हमारा ज्ञान भी हमसे भिन्न है तो अपने और पराये ज्ञान में कुछ भी भेद नहीं रहा। ऐसी हालत में दो बातें हो सकती हैं। एक तो यह कि हम अपने ज्ञान द्वारा भी न जानें, अथवा दूसरे के ज्ञान से भी जानने लगें। यह दोनों ही बातें अनुभव से विरुद्ध हैं अतएव स्वीकार नहीं की जा सकतीं।

शंका—जिस आत्मा में, जो ज्ञान समवाय संबंध से रहता है, उसी आत्मा में वह ज्ञान बोध कराता है। ज्ञानचन्द्र का ज्ञान, ज्ञानचन्द्र की ही आत्मा में * समवाय

---

* नित्य संबंध समवाय-संबंध कहलाता है। अर्थात् जो संबंध सदा से चला आ रहा है—जिसकी कभी आदि नहीं हुई वह संबंध समवाय है। जैसे-जीव का ज्ञान के साथ समवाय संबंध है।

संबंध से रहता है अतएव वह उसी की आत्मा में बोध कराता है—उस ज्ञान से विज्ञानचन्द्र अथवा सुज्ञानचन्द्र को कोध नहीं होता।

समाधान—आपके मत में समवाय संबंध व्यापक, नित्य और एक माना गया है। आत्मा भी आपके मत में व्यापक है अतः प्रत्येक आत्मा के साथ ज्ञान का समवाय संबंध सरीखा होगा। जैसे व्यापक होने के कारण आकाश के साथ सब का समान संबंध है, उसी प्रकार समवाय संबंध भी सब के साथ समान ही होना चाहिए। अतएव हमने जो बाधा पहले बतलाई है उसका निवारण करने के लिए समवाय संबंध की कल्पना करना उपयोगी नहीं है।

इस प्रकार वैशेषिक मत का निराकरण करने के लिए ज्ञान को जीव का स्वरूप बताया गया है।

जैसा कि पहले कहा है, प्रत्येक पदार्थ सामान्य और विशेष गुणों का समुदाय है। अतएव अकेला ज्ञान विशेष गुणों को जान सकता है, सामान्य गुणों का बोध उससे नहीं हो सकता। और परिपूर्ण पदार्थ का ज्ञान तभी माना जा सकता है जब सामान्य और विशेष दोनों अंश जान लिये जाएं। इसी उद्देश्य से ज्ञान के बाद दर्शन को भी जीव का स्वरूप बतलाया गया है।

स्वरूप में रमण करना भी एक प्रकार का चारित्र है। यह चारित्र जीव का स्वरूप है अतएव उसका भी यहां उल्लेख किया गया है। तप, चारित्र का एक प्रधान अंग है। यद्यपि चारित्र में तप का अन्तर्भाव होता है फिर भी निर्जरा का प्रधान कारण होने के कारण, विशेष महत्त्व द्योतित करने के लिए उसका पृथक् कथन किया है।

'वीर्य' को जीव का स्वरूप बतलाकर सूत्रकार ने गोशालक के पंथ (आजीवक मत) का निराकरण किया है। आजीवक सम्प्रदाय में कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम का निषेध करके नियतिवाद को स्वीकार किया गया है। उसका कथन यह है कि कोई की क्रिया-कर्म-बल-वीर्य से नहीं होती। जो होनहार है वही होता है। उसके लिए प्रयत्न या पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं है।

आजीवक सम्प्रदाय की यह मान्यता ठीक नहीं है। वास्तव में कोई सुख, दुख आदि नियतिकृत होते हैं और कोई नियतिकृत नहीं होते-वे पुरुष के उद्योग आदि पर निर्भर होते हैं। अतएव सुख आदि को एकान्त रूप से नियतिकृत मानना अयुक्त है। 'वीर्य' शब्द का गाथा में ग्रहण करने से सूत्रकार ने यह आशय प्रगट किया है।

उपयोग को जीव का स्वरूप प्रतिपादन करके आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व का सूचन किया गया है। आत्मा की सिद्धि पहले की जा चुकी है अतएव यहां उसकी पुनरुक्ति नहीं की जाती। उपयोग का दूसरा अभिप्राय हिताहित के विवेक के साथ प्रवृत्ति करना भी होता है। हिताहित का विवेक जीव में ही हो सकता है अतएव यह भी जीव का असाधारण धर्म है। इसका यहां उल्लेख करके सूत्रकार ने परोक्ष रूप से

यह प्रतिपादन किया कि प्रत्येक जीव को, अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति से पहले यह सोच लेना चाहिए कि यह प्रवृत्ति आत्मा का हित करने वाली है या अहित करने वाली? हितकारक प्रवृत्ति करना चाहिए और अहितकारक प्रवृत्ति का परित्याग कर देना चाहिए। क्रोध के आवेश में या लोभ आदि की प्रेरणा से प्रेरित होकर आत्मा का अहित करना मनुष्य जीवन का दुरुपयोग है। यही नहीं मनुष्य को अपने प्रत्येक कार्य के प्रति सावधान रहने का आशय यह भी है कि वह कार्य करने के पश्चात् भी आदर्श की कसौटी पर उसे कसे और यदि कोई कार्य उस कसौटी पर खोटा सिद्ध हो तो उसके लिए पश्चात्ताप करने के साथ भविष्य में वैसा न करने के लिए पूर्ण सावधानी रक्खे। इस प्रकार करने से जीवन शुद्ध और निष्पाप बन जाता है।

मूल:-जीवाऽजीवा य बंधो य, पुण्णं पावासवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो, संतेए तहिया नव ॥ १२ ॥

छाया:—जीवा अजीवाश्चय बन्धश्च, पुण्यं पापास्रवो तथा।
संवरो निर्जरा मोक्ष, सन्त्येते तथ्या नव ॥ १२ ॥

शब्दार्थ:—जीव, अजीव बंध, पुण्य पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष, यह तथ्य या तत्त्व हैं ॥ १२ ॥

भाष्य:—पूर्व गाथा में जीव का स्वरूप बतलाया गया है। उससे यह शंका हो सकती है कि क्या एक मात्र जीव पदार्थ ही सत्य है, जैसा कि वेदान्तवादी कहते हैं, या अन्य पदार्थ भी हैं? इस शंका का समाधान करने के लिए यहां तत्त्वों का निरूपण किया गया है।

जिसमें चेतना हो उसे जीव कहते हैं। अर्थात् जिसमें जानने-देखने की शक्ति है, जो पांच इन्द्रियों, तीन बल, श्वासोच्छ्वास और आयु-इन दस द्रव्य प्राणों के सद्भाव में जीवित कहलाता है या ज्ञान, दर्शन आदि भाव प्राणों से युक्त होता है, उसे जीव तत्त्व कहते हैं।

जीव जाति-सामान्य की अपेक्षा एक होने पर भी व्यक्ति की अपेक्षा अनन्तानन्त है। जाति की अपेक्षा एक कहने से यह अभिप्राय है कि प्रत्येक जीव में स्वाभाविक रूप से एक-सी चेतना-शक्ति विद्यमान है। व्यक्ति की अपेक्षा अनन्तानन्त कहने का आशय यह है प्रत्येक जीव की सत्ता एक-दूसरे से सर्वथा स्वतंत्र है।

स्थूल दृष्टि से जीव दो विभागों में विभक्त किये जा सकते हैं—(१) संसारी और (२) मुक्त। संसारी जीव वह है जो अनादिकाल से कर्मों के बंधन में पड़े हुए हैं, जिनका स्वभाव विकृत हो रहा है और जो सांसारिक सुख दुःखों को सहन कर रहे हैं। इससे विपरीत, जो जीव अपने पराक्रम के द्वारा समस्त कर्मों का समूल विनाश कर चुके हैं, जिनकी आत्मा का असली स्वभाव प्रकट हो चुका है और जो विविध योनियों में जन्म-मरण आदि की सांसारिक वेदनाओं से छुटकारा पा चुके हैं वे मुक्त

जीव कहलाते हैं।

संसार के प्राणी कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न दशा में रहते हैं। जैसे रंगभूमि में अभिनय करने वाला अभिनेता नाना वेष धारण करता और मिटाता है, उसी प्रकार संसारी जीव कभी एक पर्याय धारण करता है, कभी दूसरी पर्याय में जा पहुंचता है। यों तो इन पर्यायों की गिनती ही नहीं है, किन्तु शास्त्रकारों ने प्रधान रूप से दो पर्याय गिनाए हैं----एक त्रस दूसरा स्थावर। जो जीव चल--फिर सकते हैं, गर्मी–सर्दी से बचने का प्रयत्न करते हैं उन जंगम जीवों को त्रस कहते हैं। जो प्राणी चल फिर नहीं सकते - एक ही जगह स्थिर रहते हैं उन्हें स्थावर कहते हैं।

त्रस जीव भी कई प्रकार के होते हैं। जैसे- कोई पांच इन्द्रियों वाले, कोई चार इन्द्रियों वाले, कोई तीन इन्द्रियों वाले और कोई – कोई दो इन्द्रियों वाले। स्थावर जीवों के केवल एक ही इन्द्रिय होती है। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण, यह पांच इन्द्रियां हैं। जिन जीवों के एक इन्द्रिय होती है उनके सिर्फ स्पर्शनेन्द्रिय, जिनके दो होती हैं उनके स्पर्शन और रसना होती है, इसी प्रकार पांचों इन्द्रियों तक समझना चाहिए।

पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी और असंज्ञी इस प्रकार दो तरह के होते हैं। जिनमें आहार, भय, मैथुन और परिग्रह सम्बन्धी विशिष्ट संज्ञा होती है वे संज्ञी या मनवाले कहलाते हैं और जिनमें उक्त संज्ञाएँ विशिष्ट रूप में नहीं पाई जाती—जिन्हें मन प्राप्त नहीं है और जो हित--अहित का भलीभांति विचार नहीं कर सकते, उन्हें असंज्ञी जीव कहते हैं। पंचेन्द्रिय वाले जीव सकलेन्द्रिय कहलाते हैं, क्योंकि उन्हें समस्त इन्द्रियां प्राप्त हैं और चार इन्द्रिय वाले जीवों से लगाकर दो इन्द्रिय वाले तक विकलेन्द्रिय कहलाते हैं—क्योंकि उन्हें अपूर्ण--इन्द्रियां प्राप्त हैं।

स्थावर या एक इन्द्रिय वाले जीव मुख्य रूप से पांच प्रकार के हैं—पृथ्वी--काय, जलकाय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय। यह स्थावर जीव चल-फिर नहीं सकते और इनकी चेतना शक्ति अत्यन्त अव्यक्त होती है, इस कारण कई लोग इन्हें जीव रूप में स्वीकार करने से झिझकते हैं। मगर वास्तव में यह जीव हैं। पृथ्वी को शरीर बनाकर रहने वाला जीव पृथ्वीकाय कहलाता है। जल जिसका शरीर है वह जलकाय जीव है। इसी प्रकार अन्य भी समझ लेना चाहिये। विज्ञानाचार्य दिवंगत सर जगदीशचन्द्र बसु ने अपने आविष्कार द्वारा वनस्पतिकाय के जीवों का अस्तित्व सिद्ध कर दिया है और अब उसमें किसी को लेशमात्र सन्देह करने की गुंजाइश नहीं रही है। इसी भांति अन्य स्थावर जीवों का अस्तित्व सिद्ध किया जा सकता है।

संसारी जीव और मुक्त जीव को यहां एक ही तत्त्व में समावेश करने से यह सिद्ध होता है कि संसारी जीव ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की आराधना करके, आत्मिक विकारों को विनष्ट करके मुक्त हो जाता है। 'मुक्त' शब्द से भी यही सूचित होता है। मुक्त शब्द का अर्थ है—छूटा हुआ। छूट वही सकता

है जो पहले बंधा हुआ हो। जो कभी बद्ध नहीं था, उसे मुक्त नहीं कहा जा सकता। तात्पर्य यह है कि इस समय जो जीव संसारी है, और बन्धनों में आबद्ध है वह मुक्ति के अनुकूल प्रयत्न करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है, अतएव मुक्त और संसारी जीव में वास्तविक भेद नहीं है। आत्मा की अशुद्धता के कारण ही यह भेद है और वह भेद मिट जाता है। कुछ लोगों की यह धारणा है कि इस भव में जो जीव जिस रूप में है वह आगामी भव में भी वही बना रहता है। यहां जो पुरुष है, वह आगामी भव में भी पुरुष ही होगा, वर्त्तमान भव की स्त्री सदैव स्त्री रहेगी, पशु सदा पशु रहेगा। यह धारणा भ्रमपूर्ण है। ऐसा मान लेने से धर्म का आचरण, संयमानुष्ठान आदि व्यर्थ हो जायेंगे। अतएव यही मानना उचित है कि जीव विविध पर्यायों में विविध रूप धारण करता रहता है।

जैनागम में तत्त्व के अनेक प्रकार से भेद--प्रभेद किये गये हैं। जैसे—एकेन्द्रिय जीव सूक्ष्म और बादर के भेद से दो प्रकार के हैं, पंचेन्द्रिय जीव असंज्ञी और संज्ञी के भेद से दो प्रकार के हैं, तथा दो इन्द्रिय, तीन--इन्द्रिय और चौ—इन्द्रिय जीव मिलकर सात भेद होते हैं। इन सातों के पर्याप्त और अपर्याप्त भेद करने से चौदह भेद हो जाते हैं।

यहां सूक्ष्म जीव का अर्थ यह है—जो जीव आंखों से नहीं देखे जा सकते, स्पर्शनेन्द्रिय से जिनका स्पर्श नहीं किया जा सकता; अग्नि जिन्हें जला नहीं सकती, जो काटने से कटते नहीं, भेदने से भिदते नहीं, किसी को उपघात पहुंचाते नहीं और न किसी से उपघात पाते हैं। ऐसे सूक्ष्म जीव समस्त लोकाकाश में भरे हुए हैं। इनसे विपरीत स्वरूप वाले जीव बादर (स्थूल) कहलाते हैं। अर्थात् जो जीव नेत्र से देखे जा सकते हैं, जिन्हें अग्नि भस्म कर सकती है, जो काटने से कट सकते हैं; भेदने से भिद सकते हैं और जो समस्त लोकाकाश में व्याप्त नहीं हैं, जिनकी गति में दूसरों से बाधा होती है या जो दूसरे की गति में बाधक होते हैं, वे बादर जीव कहलाते हैं।

पर्याप्ति एक प्रकार की शक्ति है। शरीर से सम्बद्ध पुद्गलों में ऐसी शक्ति होती है जो आहार से रस आदि बनाती है। वह शक्ति जिन जीवों में होती है वे पर्याप्त कहलाते हैं और जिनमें नहीं होती वे अपर्याप्त कहलाते हैं।

जीव तत्त्व के पांच सौ तिरेसठ (५६३) भेद भी किसी अपेक्षा से होते हैं। १९८ भेद देवों के, १४ भेद नारकों के, ४८ भेद तिर्यञ्चों के, ३०३ भेद मनुष्यों के। इन सब भेदों का विस्तार अन्यत्र देखना चाहिए। विस्तारभय से यहां उनका उल्लेख मात्र कर दिया गया है।

दूसरा अजीव तत्त्व है। उसका लक्षण जड़ता है अर्थात् जिसमें चैतन्य शक्ति नहीं पाई जाती वह अजीव कहलाता है। अजीव तत्त्व के मुख्य पांच भेद हैं। जैसे-धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गल और काल। धर्मास्तिकाय आदि तीन के तीन-तीन भेद हैं—(१) स्कन्ध, (२) देश, (३) प्रदेश। पुद्गल के चार भेद

हैं—१ स्कन्ध, २ देश, ३ प्रदेश और ४ परमाणु। इन ९+४=१३ में काल को सम्मिलित करने से चौदह भेद हो जाते हैं।

स्कन्ध—चौदह राजू लोक में पूर्ण धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय को प्रत्येक को स्कन्ध कहते हैं। अनन्त पुद्गल परमाणुओं के मिले हुए समूह को भी स्कन्ध कहा जाता है।

देश—स्कन्ध से कुछ न्यून भाग को या स्कन्ध के भाग को देश कहते हैं।

प्रदेश—स्कन्ध या देश में मिला हुआ, अत्यन्त सूक्ष्म भाग, जिसका फिर विभाग न हो सकता हो वह प्रदेश कहलाता है।

परमाणु—स्कन्ध अथवा देश से अलग हुए, प्रदेश के समान अत्यन्त सूक्ष्म-अविभाज्य-अंश को परमाणु कहते हैं।

अजीव तत्त्व के विस्तार की अपेक्षा ५६० भेद भी निरूपित किये गये हैं। उनमें तीस भेद अरूपी अजीव के हैं और ५३० भेद रूपी अजीव के हैं। अजीव तत्त्व के मूल भेदों का स्वरूप अगली गाथा में बतलाया जायगा।

तीसरा यहां बन्ध तत्त्व बतलाया गया है। सकषाय जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। अर्थात् मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योग के निमित्त से, सूक्ष्म, एक क्षेत्रावगाढ़, अनन्तानन्त कर्म-प्रदेशों को प्रतिसमय ग्रहण करता रहता है, इसी को बन्ध कहते हैं। तात्पर्य यह है कि कार्माण रूप में परिणत होने वाले पुद्गल सारे लोकाकाश में भरे हुए हैं। जिस जगह आत्मा के प्रदेश हैं वहां भी वे विद्यमान रहते हैं। ऐसी अवस्था में जीव जब मिथ्यात्वादि के आवेश के वश में होता है तब वे कार्माण रूप में परिणत होने वाले पुद्गल परमाणु जिस आकाश प्रदेश में हैं, उसी आकाश-प्रदेशवर्त्ती आत्म-प्रदेशों के साथ एकमेक हो जाते हैं। जैसे अग्नि से खूब तपा हुआ लोहे का गोला यदि पानी में डाला जाय तो वह सभी तरफ से पानी को ग्रहण करता है उसी प्रकार मिथ्यात्वादि से आविष्ट यह जीव सभी आत्म-प्रदेशों से कर्म-परमाणुओं को ग्रहण करता है। ग्रहण करने की यह क्रिया प्रतिक्षण चल रही है और अनन्तानन्त परमाणुओं को प्रतिसमय जीव ग्रहण कर रहा है।

जैसे एक पात्र में विविध प्रकार के रस, बीज, फूल, फल आदि रख देने से वे मदिरा के रूप में परिणत हो जाते हैं उसी प्रकार योग और कषाय का निमित्त पाकर के ग्रहण किये हुए पुद्गल-परमाणु कर्म रूप में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार पुद्गल परमाणुओं का कर्म रूप में परिणत हो जाना ही बन्ध कहलाता है।

बन्ध के संक्षेप में दो भेद हैं—१ द्रव्यबन्ध और २ भावबन्ध। कर्म-परमाणुओं का आत्म-प्रदेशों के साथ एकमेक हो जाना द्रव्यबन्ध है और आत्मा के जिन शुभ-अशुभ परिणामों के कारण कर्मबन्ध होता है उन भावों को भाव-बन्ध कहा जाता है।

बन्ध तत्त्व के चार भेद प्रसिद्ध हैं—१ प्रकृति बन्ध २ स्थिति बन्ध ३ अनुभाग

बन्ध ४ और प्रदेश बन्ध । कर्म का स्वभाव प्रकृतिबन्ध है। कर्म का आत्मा के साथ बन्धे रहने की कालिक मर्यादा को स्थितिबन्ध कहते हैं। तीव्र, मन्द आदि कर्मों के फल को अनुभाग बन्ध कहते हैं और कर्म--परमाणुओं का समूह प्रदेशबन्ध कहलाता है।

इन चार प्रकार के बंधों का स्वरूप सरलता से समझाने के लिए मोदक का दृष्टान्त दिया जाता है । वह इस प्रकार है:—

प्रकृतिबन्ध—जैसे किसी मोदक (लड्डू) का स्वभाव वात का विनाश करना होता है, किसी का स्वभाव पित्त को कम करना होता है, किसी का स्वभाव कफ का विनाश करना होता है, इसी प्रकार किसी कर्म का स्वभाव जीव के ज्ञान का आवरण करना है, किसी कर्म का स्वभाव दर्शन गुण का आवरण करना है, किसी कर्म का स्वभाव चारित्र का आवरण करना होता है। कर्म के इस विभिन्न विभिन्न स्वभाव को प्रकृतिबंध कहा है।

स्थिति-बन्ध – जैसे कोई मोदक एक वर्ष तक एक ही अवस्था में बना रहता है, कोई छह महीने तक, कोई एक मास--पक्ष या सप्ताह तक उसी अवस्था में रहता है, इसी प्रकार कोई कर्म अन्तर्मुहूर्त तक कर्म रूप परिणाम में रहता है, कोई तेतीस सागरोपम तक कर्म--पर्याय में बना रहता है और कोई सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागरोपम तक आत्मा के साथ बना रहता है। काल की इस मर्यादा को स्थिति--बन्ध कहते हैं।

अनुभाग--बन्ध—जैसे कोई मोदक अधिक मधुर होता है कोई थोड़ा, कोई अधिक कटुक होता है, कोई कम, कोई अधिक तीखा होता है कोई कम तीखा होता है, इसी प्रकार ग्रहण किये हुए कर्मों में से कोई तीव्र फल देता है, कोई मन्द फल देता है, किसी का फल तीव्रतर या तीव्रतम होता है, किसी का मन्दतर और मन्दतम होता है। इस प्रकार कर्मों के रस की तीव्रता और मन्दता को अनुभागबन्ध या रस-बन्ध कहते हैं।

प्रदेश--बन्ध—जैसे कोई मोदक एक छटांक होता है, कोई आधा पाव या पाव का होता है, उसी प्रकार कोई कर्म--दल कम परिमाण वाला होता है, कोई अधिक परिमाण वाला होता है। इस प्रकार कर्म-दल के प्रदेशों की न्यूनाधिकता को प्रदेश-बन्ध कहते हैं।

इन चार प्रकार के बंधों में प्रकृति और प्रदेश बंध योग से होते हैं तथा स्थिति और अनुभाग बंध कषाय से होते हैं । अर्थात् किस--किस स्वभाव वाले और कितने कर्म--दल आत्मा के साथ बंधें ? यह योग की प्रवृत्ति पर निर्भर है । योग यदि अशुभ और तीव्र होगा तो अशुभ प्रकृति और अधिक परिमाण वाले कर्म--दल का बंध होगा । इसी प्रकार कषाय तीव्र होगा तो अधिक स्थिति वाले एवं अधिक अशुभ फल देने वाले कर्म दल का बन्ध होगा। मन्द योग- कषाय होने पर इससे विपरीत समझना चाहिए।

बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में कषाय का क्षय हो चुकता है । वहां केवल

योग ही बंध का कारण शेष रहता है। अतएव इन दोनों गुणस्थानों में प्रकृति और प्रदेश बंध होता है पर स्थिति और अनुभाग बंध कषाय के अभाव के कारण नहीं होता है। जैसे दीवाल पर फैंकी हुई वालुका दीवाल पर ठहरे बिना ही झड़ जाती है उसी प्रकार वहां कर्म आते हैं पर स्थिति न होने के कारण आते ही झड़ते जाते हैं—उनका फल भी अनुभागबंध न होने के कारण नहीं भोगा जाता। कहा भी है—

जोगा पयडिपएसा, ठिदि-अणुभागा कसायओ होंति।

अर्थात् प्रकृति और प्रदेश बंध योग से तथा स्थिति और अनुभाग बंध कषाय से होते हैं।

इस प्रकार सकषायी जीवों को साम्परायिक बंध और कषायरहित महात्माओं को ईर्यापथ बंध होता है। बंध के भेदों के सम्बन्ध में विशेष स्पष्टीकरण द्वितीय अध्ययन में किया जायगा।

चौथा पुण्य तत्त्व यहां प्रतिपादन किया गया है। 'पुनातीति पुण्यम्' अर्थात् जो आत्मा को पवित्र करता है वह पुण्य कहलाता है। शुभ क्रियाएं करने से पुण्य का बंध होता है। पुण्य तत्त्व के नौ भेद आगम में बताये हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) अन्न पुण्य—भोजन-दान देने से होने वाला पुण्य।
(२) पाण पुण्य—पानी देने से होने वाला पुण्य।
(३) लयन पुण्य—निवास के लिए स्थान देने से होने वाला पुण्य।
(४) शयन पुण्य—शय्या संथारा आदि देने से होने वाला पुण्य।
(५) वस्त्र पुण्य—वस्त्र आदि देने से होने वाला पुण्य।
(६) मनः पुण्य—मानसिक शुभ व्यापार से होने वाला पुण्य।
(७) वचन पुण्य—वाणी के शुभ प्रयोग से होने वाला पुण्य।
(८) काय पुण्य—शरीर के शुभ व्यापार से होने वाला पुण्य।
(९) नमस्कार पुण्य--गुरुजन के प्रति विनम्रता धारण करने से होने वाला पुण्य।

उपर्युक्त नौ प्रकार के बंधने वाला यह पुण्य बयालीस प्रकार से भोगा जाता है अर्थात् पुण्य का आचरण करने से बयालीस शुभ कर्म--प्रकृतियों के रूप में उसके फल की प्राप्ति होती है।

पुण्य के सम्बन्ध में कुछ लोगों की अत्यन्त भ्रमपूर्ण धारणा है। वह एकान्त रूप होने के कारण मिथ्या है। कोई कहते हैं कि पुण्य शुभ कर्म रूप होने के कारण, संसार का हेतु है। पुण्य के उदय से सांसारिक सुख प्राप्त होते हैं। उससे शुभ आस्रव होता है और आस्रव मोक्ष में बाधक है। अतएव पुण्य--क्रियाओं का परित्याग करना ही योग्य है। कोई कहते हैं— माता-पिता की सेवा करना अधर्म है, गर्भिणी स्त्री के द्वारा अपने गर्भ की रक्षा करना अधर्म है, भूखे को भोजन देना और प्यास के मारे मरते हुए प्राणी को पानी पिलाना अधर्म है, यदि कोई

अबोध बालक आग में जलकर या पानी में डूबकर मरने की तैयारी में हो तो उसे मृत्यु से बचाना अधर्म है। यही नहीं, बचाने की भावना हृदय में उत्पन्न होना अथवा बचाने वाले को भला जानना भी अधर्म है। दिल में दया की भावना लाने से भी पाप लगता है। इस प्रकार वे पुण्य-कार्यों में भी पाप की कल्पना करते हैं।

जिनागम से विपरीत प्ररूपणा करना धर्म के मूल में कुठाराघात है और अनेक, कोमल-हृदय मनुष्यों के हृदय में निर्दयता की भावना भर देना है। प्रश्न-व्याकरण में कहा है—

'सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं।'

अर्थात् जगत् के समस्त जीवों की रक्षा और दया के लिए भगवान् ने प्रवचन का उपदेश दिया है।

भगवान् ने प्रवचन का उपदेश तो इसलिए दिया कि संसार में जितने भी जीव हैं उन सब जीवों की रक्षा और दया की जाय, पर प्रवचन का यह सार निकाला है कि जीवों की रक्षा न की जाय और उन पर दयाभाव न लाया जाय !

दया, परोपकार और रक्षा की बदौलत ही संसार के प्राणी जीवित रहकर धर्म का आचरण करने योग्य बनते हैं। माता गर्भ का पालन-पोषण करने में अधर्म समझकर अगर गर्भ--रक्षा न करे तो धर्म-तीर्थ किस प्रकार चलेगा ? क्या वह माता घोर निर्दयता पूर्वक गर्भ के विनाश का कारण नहीं बनेगी ? इसी प्रकार माता-पिता की सेवा करने में यदि अधर्म होता तो ठाणांग सूत्र में माता पिता के अलौकिक उपकार का वह प्रभावशाली वर्णन किया जा सकता था ? यह सब बातें इतनी निःस्सार हैं कि इनका प्रति-विधान करने की आवश्यकता ही अधिक नहीं है।

पुण्य को एकान्ततः संसार का कारण कह कर उसे हेय बताना भी अज्ञान है। पाप का विनाश करने के लिए पुण्य अनिवार्य रूप से आवश्यक है, अत वह मोक्ष का भी कारण है। मनुष्य भव की प्राप्ति पुण्य के बिना नहीं होती और मनुष्य भव के बिना मोक्ष नहीं मिलता। इसी प्रकार पंचेन्द्रिय जाति और त्रस पर्याय भी पुण्य के ही प्रताप से प्राप्त होती है और इनके बिना भी मोक्ष की प्राप्ति असंभव है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि पुण्य के बिना मुक्ति नहीं मिल सकती ! फिर भी पुण्य को जो लोग एकान्त संसार का कारण बतलाते हैं उनका कथन किस प्रकार शास्त्र-संगत माना जा सकता है ?

शंका—'पुण्य-पापक्षयो मोक्षः' अर्थात् पुण्य और पाप का सर्वथा नाश होने पर मोक्ष होता है; यह जिनागम की मान्यता है। जब तक पुण्य का उदय बना रहेगा तब तक मोक्ष नहीं मिल सकता। आरम्भ में त्रस-पर्याय, पंचेन्द्रिय जाति और मनुष्यभव आदि की प्राप्ति के लिए पुण्य की आवश्यकता भले ही हो पर अन्त में तो

मात्र शुभ परिणाम रखने से अनन्तानन्त शुभ कर्म-परमाणुओं का बन्ध हो जाता है। और एक समय मात्र अशुभ भाव आने से अनन्तानन्त पाप--कर्मों का बन्ध होता है। यह जान कर सदा सावधान रहना चाहिए।

छठा आस्रव तत्त्व है। कर्म का आत्मा में आना आस्रव कहलाता है। अर्थात् योग रूपी नाली से, आत्मा रूपी तालाव में, कर्म रूपी जल का जो प्रवाह आता है उसे आस्रव कहते हैं।

आस्रव संसार-भ्रमण का प्रधान कारण है, अतएव इसका स्वरूप और इसके कारणों को जान कर उन कारणों का परित्याग करना मोक्षार्थी का कर्त्तव्य है। आस्रव के मूल दो भेद हैं- शुभ आस्रव और अशुभ आस्रव। अथवा भाव—आस्रव और द्रव्य-आस्रव। शुभ आस्रव सातावेदनीय आदि शुभ प्रकृतियों के बन्ध का कारण है और अशुभास्रव असाता वेदनीय आदि अशुभ प्रकृतियों के बन्ध का हेतु है। जीव का शुभ या अशुभ परिणाम-जिससे आस्रव होता है-भाव-आस्रव कहलाता है और कर्म-परमाणुओं का आना द्रव्य-आस्रव कहलाता है।

पांच इन्द्रियां, चार कषाय, पांच अव्रत, तीन योग और पच्चीस क्रियाएं यह बयालीस आस्रव के भेद हैं। इन्द्रियों का निरूपण किया जा चुका है, कषायों का आगे किया जायगा। हिंसा, मृषावाद, चौर्य, अब्रह्म और परिग्रह यह पांच अव्रत हैं। योग के तीन भेद हैं—

का अन्त होता है, समस्त दुःखों से मुक्ति मिलती है। समस्त संयमी इसकी आराधना करते हैं।

संवर के प्रधान दो भेद हैं—भाव-संवर तथा द्रव्यसंवर। कर्म-बंधन की कारणभूत क्रियाओं का त्याग करना भाव-संवर है और भाव-संवर से कर्मों का रुक जाना द्रव्य-संवर है। आस्रव के मुख्य कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग हैं। इन कारणों का जिन-जिन गुणस्थानों में निरोध होता है, उन गुणस्थानों में उतना ही संवर होता जाता है। यथा-मिथ्यात्व अवस्था का नाश करने के पश्चात् चतुर्थ आदि गुणस्थानों में मिथ्यात्व का संवर हो जाता है। इसी प्रकार देशतः पांचवें गुणस्थान में और पूर्णतः छठे गुणस्थान में विरति-अवस्था प्राप्त होने पर अविरति का संवर हो जाता है। सातवें गुणस्थान में अप्रमत्त दशा का आविर्भाव होने से वहां प्रमाद का संवर होता है, बारहवें गुणस्थान में निष्कषाय अवस्था प्राप्त होने पर कषाय का संवर हो जाता है और चौदहवें गुणस्थान में अयोगी अवस्था प्राप्त होने पर योग का संवर हो जाता है। इन कारणों के अभाव होने पर किस किस गुणस्थान में कर्मों की किन किन प्रकृतियों का आस्रव रुकता है यह विस्तृत विचार विस्तारभय से यहां नहीं किया गया है।

संवर तत्त्व के सत्तावन भेद हैं पांच समिति, तीन गुप्ति, बाईस परिषह-जय, दस धर्म, बारह भावना और पांच प्रकार का चारित्र।

यतनापूर्वक प्रवृत्ति करने को समिति कहते हैं। समिति के पांच भेद इस प्रकार हैं--

(१) ईर्यासमिति– अर्थात् यतना पूर्वक, साढ़े तीन हाथ आगे की पृथ्वी देखते हुए, कारण-विशेष उपस्थित होने पर चलना।

(२) भाषासमिति - हित, मित और प्रिय भाषा बोलना, निरवद्य भाषा का ही प्रयोग करना।

(३) एषणासमिति—वेदना आदि कारण उपस्थित होने पर, शास्त्रोक्त विधि से निर्दोष आहार-पानी लेना।

(४) आदाननिक्षेपणसमिति—संयम के उपकरण यतनापूर्वक रखना और यतनापूर्वक उठाना।

(५) प्रतिष्ठापनिकासमिति जीवरहित भूमि में यतना से मल--मूत्र आदि त्यागना।

इस प्रकार यतनापूर्वक प्रवृत्ति करने से असंयम के कारणभूत परिणामों का अभाव होता है और असंयम-परिणाम के अभाव से, असंयमजन्य आस्रव का भी अभाव होता है और आस्रव का अभाव ही संवर है।

मन, वचन, और काय की स्वेच्छापूर्ण प्रवृत्ति का रुकना गुप्ति कहलाता है। विषय-सुख के लिए मन आदि की प्रवृत्ति रुकने से संक्लेश नहीं होता और संक्लेश

रूप परिणाम के अभाव में आस्रव नहीं होता। गुप्ति तीन प्रकार की है—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति।

मनोगुप्ति के भी तीन भेद हैं—असत्कल्पना-वियोगिनी, समताभाविनी और आत्मारामता। आर्त्तध्यान-रौद्र ध्यान का त्याग करना असत्कल्पनावियोगिनी मनोगुप्ति है। प्राणीमात्र पर साम्यभाव होना समताभाविनी और सम्पूर्ण योग-निरोध के समय होने वाली आत्मारामता कहलाती है।

वचनगुप्ति दो प्रकार की है—मौनावलम्बिनी अर्थात् अपने हार्दिक अभिप्राय को दूसरों पर प्रकट करने के लिए भ्रकुटि आदि से संकेत न करके मौन धारण करना। दूसरी वाङ्नियमिनी-अर्थात् उपयोग-पूर्वक बोलना।

कायगुप्ति दो प्रकार की है - चेष्टानिवृत्ति और चेष्टानियमिनी। योग-निरोध के समय तथा कायोत्सर्ग में शरीर को सर्वथा स्थिर रखना चेष्टानिवृत्ति है और उठने बैठने आदि क्रियाओं में आगमानुसार शारीरिक चेष्टा को नियमित रखना चेष्टानियमिनी कायगुप्ति है। कहा है—

> उपसर्गप्रसंगेऽपि कायोत्सर्गजुषो मुनेः।
> स्थिरीभावः शरीरस्य, कायगुप्तिर्निगद्यते॥
> शयनासननिक्षेपादानचंक्रमणेषु यः।
> स्थानेषु चेष्टानियमः कायगुप्तिस्तु साऽपरा॥

इनका आशय पहले ही निरूपित किया जा चुका है। पांच समिति और तीन गुप्ति को आगम में आठ प्रवचनमाता माना गया है। इसका कारण यह है कि चारित्र रूपी शरीर इन्हीं से उत्पन्न होता है और यही उसकी रक्षा-पालन-पोषण करती हैं।

संयम की रक्षा के लिए और कर्मों की निर्जरा के लिए आये हुए दुःखों को बिना संतप्त हुए सहन करना परीषह जय कहलाता है परीषह बाईस प्रकार के हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) क्षुधा (२) पिपासा (३) शीत (४) उष्ण (५) दंशमशक (६) अचेल (७) अरति (८) स्त्री (९) चर्या (१०) निषद्या (११) शय्या (१२) आक्रोश (१३) वध (१४) याचना (१५) अलाभ (१६) रोग (१७) तृणस्पर्श (१८) मल (१९) सत्कार-पुरस्कार (२०) प्रज्ञा (बुद्धिवैभव होने पर भी अभिमान न करना) (२१) अज्ञान (२२) अदर्शन। इन परिषहों का विशेष स्वरूप अन्यत्र देखना चाहिए।

क्षमा, मार्दव, आर्जव, मुक्ति, तप, संयम, सत्य, शौच, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य यह दस यतिधर्म हैं। क्रोध का अभाव क्षमा है। अभिमान का त्याग करके कोमल वृत्ति रखना मार्दव है, कपट न करना आर्जव है, लोभ का अभाव मुक्ति है, इच्छा का निरोध करना तप है, हिंसा का त्याग संयम है, सत्य भाषण करना सत्य है, अन्तःकरण की शुद्धता शौच है, परिग्रह का त्याग अकिंचनता है और मैथुन का त्याग करना ब्रह्मचर्य है।

बारह भावनाएं—(१) अनित्य (२) अशरण (३) संसार (४) एकत्व (५)

अन्यत्व (६) अशुचित्व (७) आस्रव (८) संवर (९) निर्जरा (१०) लोक (११) बोधि-दुर्लभ और (१२) धर्मस्वाख्यातत्व। इन भावनाओं का पुनः पुनः चिन्तन करने से सांसारिक भोगोपभोगों से तथा परिग्रह आदि से ममता हटती है और वैराग्य की वृद्धि होती है।

(१) अनित्य भावना - संसार का स्वरूप अस्थिर है, यहां नित्य कुछ भी नहीं है, इस प्रकार पुनः-पुनः चिन्तन करना।

(२) अशरण भावना - इन्द्र और उपेन्द्र जैसे शक्तिशाली भी मृत्यु के पंजे में फसते हैं तो कोई शरणभूत नहीं होता है, इस प्रकार बारम्बार विचार करना।

(३) संसार भावना—इस संसार में संसारी जीव नट के समान चेष्टाएं कर रहा है—ब्राह्मण चांडाल बन जाता है, चांडाल ब्राह्मण हो जाता है, वैश्य शूद्र बन जाता है शूद्र वैश्य बन जाता है। यहां तक कि मनुष्य मर कर कीड़े-मकोड़े बन जाते हैं। संसारी जीव ने कौन-सी योनि नहीं पाई ? अनादिकाल से जीव विविध योनियों में भ्रमण कर रहा है, ऐसा विचार करना।

(४) एकत्व भावना—यह जीव अकेला ही जन्मता है अकेला ही मरता है, अकेला ही अपने किये हुए कर्मों का फल भोगता है, दुःख में कोई काम आने वाला नहीं है, इस प्रकार विचार करना।

(५) अन्यत्व—जब शरीर ही जीव से भिन्न है तो धन--धान्य, बन्धु--बान्धवों की बात ही क्या है ? इस प्रकार जगत् के समस्त पदार्थों को आत्मा से भिन्न चिन्तन करना।

(६) अशुचित्व भावना—संसार में जितने घृणाजनक अशुचि पदार्थ हैं उन सब में शरीर सिरमौर है। यह शरीर मल, मूत्र, रक्त, मांस, पीव आदि का थैला है! यह कदापि शुचि नहीं हो सकता। जिससे नौ द्वार सदैव गंदगी बहाया करते हैं, वह भला कैसे शुद्ध होगा ? इस प्रकार शरीर की अपवित्रता का विचार करना।

(७) आस्रव भावना—आस्रव तत्त्व का पुनः-पुनः विचार करना।

(८) संवर भावना—द्रव्य और भाव संवर के स्वरूप का चिन्तन करना।

(९) निर्जरा भावना—आगे कहे जाने वाले निर्जरा तत्त्व का चिन्तन करना।

(१०) लोक भावना—चौदह राजू प्रमाण पुरुषाकार लोक के स्वरूप का चिन्तन करना।

(११) बोधि दुर्लभ भावना—जीव अनन्तकाल से संसार में भ्रमण कर रहा है। इसने चक्रवर्ती की ऋद्धि प्राप्त की है, मनुष्य जन्म, उत्तम कुल, आर्य देश भी पाया किन्तु सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होना कठिन है, इस प्रकार चिन्तन करना।

(१२) धर्मस्वाख्यातत्व—संसार रूपी समुद्र से पार उतरने के लिए धर्म ही एक मात्र उपाय है और धर्म वही है जिसका वीतराग अर्हन्त भगवान् उपदेश देते हैं, इस प्रकार का चिन्तन करना।

पांच प्रकार का चारित्र यह है (१) सामायिक (२) छेदोपस्थापना (३) परिहारविशुद्धि (४) सूक्ष्मसाम्पराय और (५) यथाख्यात ।

(१) सामायिक चारित्र - सदोष व्यापार का त्याग करना और रत्नत्रय वर्द्धक व्यापार करना सामायिक चारित्र है ।

(२) छेदोपस्थापना—प्रधान साधु द्वारा दिये हुए पांच महाव्रतों को छेदोपस्थापना चारित्र कहते हैं ।

(३) परिहारविशुद्धि - गच्छ से पृथक् होकर नौ साधु आगमोक्त विधि के अनुसार अठारह महीने तक एक विशिष्ट तप करते हैं, वह परिहार-विशुद्धि चारित्र है ।

(४) सूक्ष्मसाम्पराय—दसवें गुणस्थान में पहुंचने पर जो चारित्र होता है वह सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र है ।

(५) यथाख्यात चारित्र—कषायों का सर्वथा क्षय या उपशम हो जाने पर जो आत्म-रमण रूप चारित्र होता है वह यथाख्यात चारित्र कहलाता है । यही चारित्र मोक्ष का साक्षात् कारण है । इस काल में अन्तिम तीन चारित्रों का विच्छेद हो गया है ।

आठवां निर्जरा तत्त्व है । पूर्वोपार्जित कर्मों का फल भोगने के पश्चात् कर्म आत्म-प्रदेशों से झड़ जाते हैं, उसी को निर्जरा कहते हैं । निर्जरा के मुख्य दो भेद हैं-सकाम निर्जरा तथा अकाम निर्जरा । कहा भी है--

संसारबीजभूतानां कर्मणां जरणादिह ।
निर्जरा सा स्मृता द्वेधा सकामा कामवर्जिता ॥

अर्थात् संसार के कारणभूत कर्मों के जरण—जीर्ण होने से निर्जरा होती है । वह सकाम और अकाम के भेद से दो प्रकार की है ।

'मेरे कर्मों की निर्जरा हो जाय' इस प्रकार की अभिलाषा पूर्वक तपस्या के द्वारा कर्मों का खिरना सकाम निर्जरा है और बिना इच्छा के, फल देने के पश्चात् कर्मों का स्वयं खिर जाना अकाम निर्जरा है ।

सकाम निर्जरा योगियों को होती है, क्योंकि वे कर्मों का क्षय करने के लिए ही तपस्या करते हैं, लौकिक मान--प्रतिष्ठा आदि की प्राप्ति के लिए तपस्या करने का आगम में निषेध है । अकाम निर्जरा एकेन्द्रिय आदि सब संसारी जीवों को प्रतिक्षण होती रहती है । एकेन्द्रिय जीव शीत उष्ण शस्त्र आदि के द्वारा असातावेदनीय कर्म भोग कर, भुक्त कर्म को आत्म-प्रदेशों से पृथक् करते हैं । विकलेन्द्रिय जीव भूख-प्यास आदि के द्वारा, पंचेन्द्रिय जीव छेदन-भेदन आदि के द्वारा, नारकी जीव क्षेत्रजन्य, परस्पर--जन्य और परमाधामी देवों द्वारा जन्य वेदना द्वारा, इसी प्रकार देव किल्बिषपना आदि के द्वारा असातावेदनीय को भोग कर उसे आत्मप्रदेशों से अलग करते हैं । यह सब अकाम निर्जरा है ।

जैसे फलों का पाक उपाय पूर्वक भी होता है और स्वाभाविक भी होता है अर्थात् जैसे कच्चा फल तोड़कर घास आदि में दबा देने से शीघ्र पकता है और वृक्ष की शाखा में लगा हुआ धीरे-धीरे पकता है; इसी प्रकार कर्मों का परिपाक भी दो प्रकार से होता है। मुनिराज तपस्या के द्वारा कर्मों को शीघ्र पका कर उनकी निर्जरा कर डालते हैं और अन्य प्राणी कर्मों का स्वाभाविक रूप से उदय होने पर फल भोगते हैं, तत्पश्चात् कर्मों की निर्जरा होती है।

तात्पर्य यह है कि तपस्या और ध्यान आदि के द्वारा कर्म-निर्जरा होती है। निर्जरा मोक्ष का कारण है, अतएव आत्म-शुद्धि के अभिलाषियों को उसका उपाय-तपस्या आदि करना चाहिए। तप और ध्यान का विवेचन आगे किया जायगा।

नौवां तत्त्व मोक्ष है। सम्पूर्ण कर्मों का पूर्ण रूप से क्षय होने पर आत्मा के शुद्ध स्वरूप का प्रकट हो जाना मोक्ष है। मोक्ष, जीव की विशुद्ध अवस्था-विशेष है। इसका विस्तृत निरूपण 'मोक्ष' नामक अध्ययन में होगा।

मूल-धम्मो अहम्मो आगासं कालो पोग्गल जंतवो।
एस लोगुत्ति पएणत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं ॥१३॥

छाया—धर्मोऽधर्म आकाशं कालः पुद्गल-जन्तवः।
एषो लोक इति प्रज्ञप्तो जिनैर्वरदर्शिभिः॥

शब्दार्थ—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय और जीव, यही लोक है, ऐसी सर्वदर्शी जिनेश्वरों ने प्ररूपणा की है।

भाष्य—पूर्व गाथा में नव तत्त्वों का विवेचन किया गया है। इससे यह आशंका हो सकती है कि जीव आदि तत्त्व कहां रहते हैं? इस आशंका का समाधान करने के लिए यहां लोक का निरूपण किया है।

तात्पर्य यह है कि जहां धर्मास्तिकाय आदि सब द्रव्यों का सद्भाव है उसे लोक कहते हैं। यद्यपि यहां धर्मास्तिकाय आदि को ही लोकसंज्ञा दी है किन्तु वह आधाराधेय की अभेद-विवक्षा से समझना चाहिए। अर्थात् धर्मास्तिकाय आदि से उपलक्षित आकाश-भाग को लोक कहते हैं।

धर्मास्तिकाय—जो द्रव्य जीवों और पुद्गलों की गति में सहायक होता है उसे धर्मास्तिकाय कहते हैं। जैसे जल मछली के गमन में निमित्त होता है अथवा रेल की पटरी रेल के चलने में निमित्त होती है, उसी प्रकार धर्मास्तिकाय भी जीव--पुद्गलों के गमन में निमित्त होता है।

अधर्मास्तिकाय—जो द्रव्य जीवों और पुद्गलों की स्थिति में निमित्त होता है वह अधर्मास्तिकाय कहलाता है। जैसे--छाया थके हुए पथिकों को ठहराने में सहायक होती है।

यह दोनों द्रव्य गति--स्थिति में सहायक होते हैं। यदि प्रेरक होते तो

जगत् में विचित्र स्थिति उत्पन्न हो जाती। दोनों द्रव्य सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त हैं, अतएव प्रतिसमय धर्म-द्रव्य जीव-पुद्गलों को गमन में प्रेरित करता और अधर्म द्रव्य स्थिति में प्रेरित करता, इस प्रकार न धर्मास्तिकाय के कारण स्थिति होने पाती और न अधर्मास्तिकाय के कारण गति होने पाती। अतएव दोनों द्रव्यों को गति-स्थिति में सहायक मात्र मानना चाहिए।

आकाशास्तिकाय—आकाश सर्वव्यापी द्रव्य है, किन्तु वह बाह्य निमित्त से लोकाकाश और अलोकाकाश के भेद से दो भागों में विभक्त है। जहां धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आदि षट् द्रव्यों का सद्भाव है वह लोकाकाश कहलाता है। कहा भी है—'धर्माधर्मादीनि द्रव्याणि यत्र विलोक्यन्ते स लोकः' अर्थात् जहां धर्म-अधर्म आदि द्रव्य अवलोकन किये जाते हैं वह लोक है। लोकाकाश से परे सब ओर अनन्त आकाश अलोकाकाश है।

शंका—यदि धर्म आदि द्रव्यों का आधार लोकाकाश है तो आकाश का आधार क्या है ? आकाश किस पर टिका हुआ है ?

समाधान—आकाश स्वप्रतिष्ठ है—वह अपने आप पर ही टिका है। उसका कोई अन्य आधार नहीं है।

है; उसका कहीं अन्त नहीं है। भावलोक अनन्त वर्ण पर्याय, अनन्त गन्ध पर्याय, अनन्त रस पर्याय अनन्त स्पर्श पर्याय और अनन्त संस्थान पर्याय वाला है। उसका अन्त नहीं है।

कल्पना भेद से लोक के तीन भेद भी हैं—(१) अधोलोक, (२) मध्यलोक और (३) ऊर्ध्वलोक। मेरु पर्वत की समतल भूमि से नौ सौ योजन नीचे से अधोलोक का आरम्भ होता है। उसका आकार औंधे किये हुए सिकोरा के समान है। वह नीचे-नीचे अधिक-अधिक विस्तीर्ण होता गया है।

अधोलोक से ऊपर अर्थात् मेरु पर्वत के समतल से नौ सौ योजन नीचे से लेकर समतल भाग से नौ सौ योजन ऊपर तक अठारह सौ योजन का मध्यलोक है। वह झालर के समान आकार वाला है। मध्यलोक से ऊपर का समस्त लोक ऊर्ध्वलोक कहलाता है। उसका आकार मृदंग सरीखा है।

अधोलोक में सात नरक-भूमियां हैं। वे एक दूसरी से नीचे हैं और अधिक-अधिक विस्तार वाली हैं। यद्यपि वे एक-दूसरी के नीचे हैं, फिर भी आपस में सटी हुई नहीं है। उनके बीच में बड़ा अन्तर है। इन भूमियों के बीच में घनोदधि, घनवात और तनुवात तथा आकाश है। पहली पृथ्वी में भवनवासी देव भी रहते हैं। इन पृथ्वियों का विस्तृत वर्णन 'नरक-स्वर्ग' नामक अध्ययन में किया जायगा।

मध्यलोक में असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं। यह द्वीप और समुद्र गोलाकार हैं और एक दूसरे को घेरे हुए हैं। इन सब के बीच में जम्बू-द्वीप है। जम्बू-द्वीप का पूर्व-पच्छिम में तथा उत्तर-दक्षिण में एक लाख योजन का विस्तार है। इसे घेरने वाले लवण समुद्र का विस्तार इससे दुगना- दो लाख योजन का है। लवण समुद्र धातकीखण्ड द्वीप से चारों ओर घिरा हुआ है और उसका विस्तार लवण समुद्र से दुगुना चार लाख योजन का है। धातकीखण्ड द्वीप के चारों तरफ कालोदधि समुद्र पुष्करवर द्वीप से आवृत है और उसका विस्तार सोलह लाख योजन का है। इसके बाद पुष्करोदधि समुद्र दुगुना विस्तार वाला है। इसी क्रम से असंख्यात द्वीप और असंख्यात समुद्र मध्यलोक में विद्यमान हैं। अन्त में स्वयंभूरमण द्वीप और स्वयंभू-रमण समुद्र है।

जम्बू-द्वीप के बीचों-बीच सुमेरु पर्वत है। जम्बू-द्वीप में पूर्व से पच्छिम तक लम्बे छह पर्वत हैं। इन पर्वतों को वर्षधर कहते हैं। इनके द्वारा जम्बू-द्वीप के सात विभाग हो गये हैं। इन्हें विभक्त करने वाले पर्वत हिमवान, महाहिमवान, निषध, नील, रुक्मि और शिखरि हैं। इन विभागों को सात क्षेत्र कहते हैं। वे इस प्रकार हैं—भरतक्षेत्र, हैमवतक्षेत्र, हरिक्षेत्र, विदेहक्षेत्र, रम्यकक्षेत्र, हैरण्यवतक्षेत्र, और ऐरा-वतक्षेत्र। भरतक्षेत्र दक्षिण में है, उससे उत्तर में हैमवत, हैमवत से उत्तर में हरि, हरि से उत्तर में विदेह, विदेह से उत्तर में रम्यक, रम्यक से उत्तर में हैरण्यवत और हैरण्यवत से उत्तर में ऐरावत क्षेत्र है।

जम्बू-द्वीप में जितने क्षेत्र, पर्वत और मेरु हैं उससे दुगुने धातकीखंड द्वीप

में हैं, पर उनके नाम एक सरीखे हैं। गोलाकार धातकीखण्ड के पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध इस प्रकार दो भाग हैं। दो पर्वतों के कारण यह विभाग होता है। यह पर्वत दक्षिण से उत्तर तक फैले हुए बाण के समान सरल हैं। प्रत्येक भाग में अर्थात् पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध में एक-एक मेरु, सात-सात क्षेत्र और छह-छह पर्वत हैं।

मेरु, क्षेत्र और पर्वतों की जो संख्या धातकीखण्ड में है उतनी ही संख्या आधे पुष्कर द्वीप में है। इसमें भी दो मेरु आदि हैं। वह द्वीप भी बाणाकार पर्वतों से विभक्त होकर पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध में स्थित है। इस प्रकार जोड़ करने से कुल पांच मेरु, तीस पर्वत और पैंतीस क्षेत्र हैं। पांच देवकुरु, पांच उत्तरकुरु, पांच महाविदेहों के १०८ विजय, पांच भरत तथा पांच ऐरावत क्षेत्रों के दो सौ पंचावन आर्य देश हैं। अन्तर्द्वीप सिर्फ लवण समुद्र में ही होते हैं। उनकी संख्या ५६ है। लवण समुद्र में जम्बू-द्वीप के भरतक्षेत्र के वैताढ्य पर्वत की पूर्व और पश्चिम में दो-दो दाढें निकली हुई हैं। प्रत्येक दाढ़ पर सात-सात अन्तर्द्वीप हैं। इसी प्रकार ऐरावतक्षेत्र में भी हैं। अतएव कुल ५६ अन्तर्द्वीप लवण समुद्र में हैं।

ऊर्ध्वलोक में देवों का निवास है। समतल भूमि से ७९० योजन ऊपर से लेकर ९०० योजन तक में तारे, सूर्य, चन्द्रमा आदि ज्योतिषी देव रहते हैं। मगर यह प्रदेश मध्य लोक में ही सम्मिलित है। इससे ऊपर वैमानिक कल्पोपपन्न देवों के सौधर्म आदि बारह स्वर्ग हैं। उनके ऊपर नौ ग्रैवेयक देवों के नव विमान हैं। यह विमान तीन-तीन ऊपर-नीचे तीन श्रेणियों में हैं। ग्रैवेयक के ऊपर विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध--यह पांच अनुत्तर विमान हैं। सर्वार्थसिद्ध विमान के ऊपर ईषत् प्राग्भार पृथ्वी अर्थात् सिद्ध भगवान् का क्षेत्र है। उसके बाद लोक का अन्त हो जाता है।

यह लोक जीवों से भरा हुआ है। पर त्रस जीव त्रस नाड़ी में ही होते हैं। लोक के आर-पार-ऊपर से नीचे तक, चौदह राजू ऊंचे और एक राजू चौड़े आकाश प्रदेश को त्रसनाड़ी कहते हैं। इसमें त्रस और स्थावर दोनों प्रकार के जीव रहते हैं। त्रसनाड़ी के बाहर स्थावर-नाड़ी है। उसमें स्थावर जीव ही रहते हैं।

समस्त लोक के असंख्यात प्रदेश हैं। उसका विस्तार कितना है, सो अंकों द्वारा नहीं बताया जा सकता। तथापि भगवती सूत्र में उसका निरूपण इस प्रकार है —

जम्बूद्वीप की परिधि तीन लाख, सोलह हजार, दो सौ सत्ताइस योजन, तीन कोश, एक सौ अट्ठाईस धनुष और कुछ अधिक साढ़े तेरह अंगुल है। महान् ऋद्धि वाले छह देव जम्बूद्वीप में मेरु पर्वत की चूलिका को चारों ओर घेर कर खड़े रहें। फिर नीचे चार दिक् कुमारियां चार बलिपिंड को ग्रहण करके जम्बूद्वीप की चारों दिशाओं में बाहर मुख रखकर खड़ी रहें और वे चारों एक साथ उस बलिपिण्ड को बाहर फैंकें तो उन देवों में का एक देव उन चारों पिंडों को पृथ्वी पर गिरने से पहले शीघ्र ही अधर ग्रहण करने में समर्थ है। इतनी शीघ्रतर गति वाले उन देवों में से एक देव जल्दी-जल्दी पूर्व दिशा में जावे, एक दक्षिण में जाय, एक पश्चिम में जाय, एक उत्तर

में जाय, एक ऊर्ध्व दिशा में और एक अधोदिशा में जाय, उसी समय हजार वर्ष की आयु वाला एक बालक उत्पन्न हो, उसके बाद उसके माता-पिता की मृत्यु हो जाय, इतना समय हो जाने पर भी वे शीघ्रगामी देव लोक का अन्त नहीं पा सकते ! उसके बाद उस बालक की आयु पूर्ण हो जाय, तब भी देव निरन्तर चलते रहने पर भी लोक के अन्त तक नहीं पहुँच सकते । उस बालक की अस्थि और मज्जा का नाश होने पर भी नहीं और यहां तक कि उस बालक की सात पीढ़ियों तक नाश हो जाने पर भी देव लोक का छोर नहीं पा सकते । उस बालक का नाम--गोत्र नष्ट हो जाने पर भी लोक का किनारा पाना शक्य नहीं है । इतने लम्बे समय तक अविश्रान्त शीघ्रतर गति से चलने वाले देव जितना मार्ग तय करेंगे उससे असंख्यातवां भाग फिर भी शेष रह जायगा । इससे लोक के विस्तार का ख्याल आ सकता है ।

लोक का विस्तृत विवेचन अन्यत्र देखना चाहिए । यहां उसका दिग्दर्शन मात्र कराया गया है ।

काल द्रव्य—वर्त्तना लक्षण वाला काल द्रव्य कहलाता है । काल द्रव्य पुद्गल आदि के पर्यायों के परिवर्तन में सहायक होता है : काल का दिवस, रात्रि आदि विभाग सूर्य- चन्द्रमा की गति के कारण होता है । सूर्य-चन्द्र अढ़ाई द्वीप में ही भ्रमण करते हैं, उससे बाहर के सूर्य चन्द्र स्थिर हैं । अतएव अढ़ाई द्वीप और दो समुद्र को समय-क्षेत्र कहते हैं । इसी को मनुष्यलोक भी कहते हैं । मनुष्यलोक के सूर्य-चन्द्र आदि मेरु पर्वत के चारों तरफ भ्रमण करते हैं । दिन, रात, पक्ष, मास आदि का व्यवहार मनुष्य लोक के बाहर नहीं होता ।

आंख का पलक एक बार गिराने में असंख्यात 'समय' व्यतीत हो जाते हैं । ऐसे कालद्रव्य के सबसे सूक्ष्म-अविभाज्य काल के परिमाण को 'समय' कहते हैं । असंख्यात समयों की एक आवलिका कहलाती है । ४४८० आवलिका का एक श्वासोच्छ्वास होता है और ३७७३ श्वासोच्छ्वास का एक मुहूर्त होता है । ३० मुहूर्त का एक रात दिन, १५ रात दिन का एक पक्ष, २ पक्ष का एक मास, २ मासों की एक ऋतु, ३ ऋतुओं का एक अयन (उत्तरायण और दक्षिणायन) दो अयनका एक वर्ष और पांच वर्ष का एक युग होता है ।

पुद्गलास्तिकाय—रूप, रस, गन्ध और स्पर्श वाले द्रव्य को पुद्गल कहते हैं । जगत् में हमें जितने पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं वे सब पुद्गल हैं । क्योंकि जिसमें रूप आदि होते हैं वही पदार्थ दृष्टिगोचर हो सकता है और रूप आदि सिर्फ पुद्गल में ही होते हैं, अतः पुद्गल ही दृश्य है । पुद्गल के अतिरिक्त अन्य द्रव्य अरूपी होने के कारण अदृश्य हैं ।

रूप, रस, गन्ध और स्पर्श की परस्पर व्याप्ति है । जहां रूप होता है वहां रस, गन्ध और स्पर्श भी होता है । जहां गन्ध होता है वहां रूप, रस और स्पर्श भी होता है । जहां स्पर्श होता है वहां रूप आदि सभी होते हैं । अतएव जो लोग गन्ध सिर्फ पृथ्वी में ही मानते हैं, रूप को सिर्फ पृथ्वी, जल और तेज में ही मानते हैं और स्पर्श को पृथ्वी, जल, तेज और वायु में ही मानते हैं, उनका मत मिथ्या है ।

पुद्गल के परिणाम पांच प्रकार के हैं-वर्ण परिणाम, गंध परिणाम, रस परिणाम स्पर्श परिणाम और संस्थान परिणाम।

वर्ण परिणाम पांच प्रकार का है- काला, नीला, लाल, पीला और सफेद। गंध परिणाम दो प्रकार का है—सुरभिगंध और दुरभिगंध। रस परिणाम पांच प्रकार का है—तिक्त, कटुक, कषायला, आम्ल और मधुर। स्पर्श परिणाम आठ प्रकार का है—कर्कश, मृदु, हलका, भारी, ठंडा, गर्म, रूक्ष और स्निग्ध (चिकना)।

संस्थान परिणाम पांच प्रकार का है--(१) परिमण्डल (गोल आकार-चूड़ी के समान), (२) वर्तुल (लड्डू के समान गोलाकार), (३) त्र्यस्र (तिकौना), (४) चतुरस्र (चौकोर), (५) आयत (लम्बा)।

पुद्गलास्तिकाय के मुख्य दो भेद हैं—परमाणु और स्कंध। पुद्गल के सबसे छोटे-अविभाज्य और स्वतंत्र अंश को परमाणु कहते हैं। अनेक परमाणुओं के समूह को स्कंध कहते हैं। परमाणु शस्त्र से छिद-भिद नहीं सकता! उसका न अर्द्ध है, न मध्य है और न प्रदेश है! जब दो परमाणु इकट्ठे होते हैं तो द्विप्रदेशी स्कन्ध बनता है। तीन परमाणुओं के इकट्ठा होने पर त्रिप्रदेशी स्कन्ध बनता है। इसी प्रकार कोई संख्यात प्रदेश वाला स्कन्ध है, कोई असंख्यात प्रदेश वाला और कोई अनन्त प्रदेश वाला स्कन्ध होता है।

कोई दार्शनिक परमाणु को एकान्त नित्य और स्कन्ध को एकान्त अनित्य स्वीकार करते हैं, पर उनकी मान्यता युक्तिसंगत नहीं है। वास्तव में प्रत्येक पदार्थ -चाहे वह परमाणु हो या स्कन्ध हो, रूपी हो या अरूपी हो—द्रव्यार्थिक नय से नित्य और पर्यायार्थिक नय से अनित्य है! परमाणु भी इसी प्रकार नित्यानित्य है और स्कन्ध भी नित्यानित्य रूप है।

शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास—यह सब पुद्गल द्रव्य से बनते हैं। अतएव इनका बनना पुद्गल का उपकार है।

पुद्गल द्रव्य में कई जातियां हैं। उन जातियों को वर्गणा कहते हैं। वर्गणा अर्थात् एक विशिष्ट प्रकार के पुद्गलपरमाणुओं का समूह। मुख्य वर्गणाएं इस प्रकार हैं--औदारिक वर्गणा, वैक्रिय वर्गणा, आहारक वर्गणा, तैजस वर्गणा, कार्मण वर्गणा, भाषा वर्गणा, मनो वर्गणा, और श्वासोच्छ्वास वर्गणा।

औदारिक वर्गणा—जो पुद्गल औदारिक शरीर रूप परिणत होते हैं उन्हें औदारिक वर्गणा कहलाते हैं।

वैक्रियक वर्गणा—जो पुद्गल वैक्रियक शरीर रूप परिणत होते हैं उन्हे वैक्रियक वर्गणा कहते हैं।

आहारक वर्गणा—आहारक शरीर रूप परिणत होने वाले पुद्गल आहारक वर्गणा कहलाते हैं।

तैजस वर्गणा—जिन पुद्गलों से तैजस शरीर बनता है उन्हें तैजस वर्गणा

कहते हैं।

कार्मण वर्गणा—आठ कर्मों का समूह—अर्थात् जो पुद्गल ज्ञानावरण आदि कर्म रूप परिणत हों वे कार्मण वर्गणा हैं।

इसी प्रकार जिन पुद्गलों से भाषा बनती है वे पुद्गल भाषा वर्गणा के पुद्गल कहलाते हैं। जिनसे द्रव्य मन और श्वासोच्छ्वास बनता है वे मनोवर्गणा और श्वासोच्छ्वास वर्गणा के पुद्गल कहलाते हैं।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त सभी शरीर और भाषा आदि पौद्गलिक हैं। शब्द को आकाश का गुण मानना और अंधकार को प्रकाश का अभाव मात्र मानना ठीक नहीं है। पर इसका विवेचन आगे किया जायगा।

जीवास्तिकाय - चेतना लक्षण वाला है। जीव तत्त्व का विवेचन पहले किया जा चुका है।

धर्म, अधर्म, आकाश पुद्गल और जीव के साथ 'अस्तिकाय' शब्द का प्रयोग किया गया है। उसका आशय यह है—प्रदेशों के समूह को अस्तिकाय कहते हैं। तात्पर्य यह है कि काल के अतिरिक्त पांचों द्रव्य अनेक प्रदेशों के समूह रूप हैं। आकाश के अनन्त प्रदेश हैं और शेष चार द्रव्यों के असंख्यात-असंख्यात प्रदेश हैं।

कालद्रव्य प्रदेश-प्रचय रूप नहीं है अतएव वह अस्तिकाय नहीं कहलाता।

केवलज्ञानशाली भगवान् महावीर ने इन्हीं द्रव्यों को लोक बतलाया है। मूल में 'जिणेहिं वरदंसिहिं' यहां बहुवचन का प्रयोग करने से यह सूचित होता है कि अन्य पूर्ववर्ती तीर्थंकरों ने भी ऐसा ही निरूपण किया है। अथवा गौतम आदि गणधरों ने भी यही प्रतिपादन किया है जो भगवान् ने कहा था। इससे लोक की शाश्वतता के अतिरिक्त कथन का प्रामाण्य भी विदित हो जाता है।

मूलः—धम्मो अहम्मो आगासं, दव्वं इक्किक्कमाहियं।
अणंताणि य दव्वाणि, कालो पुग्गल-जंतवो ॥१४॥

छाया—धर्मोऽधर्म आकाशं द्रव्यं एकैकमाख्यातम्।
अनन्तानि च द्रव्याणि काल पुद्गलजन्तवः॥

शब्दार्थ—धर्म, अधर्म, आकाश, यह तीन द्रव्य एक-एक कहे गये हैं। काल, पुद्गल तथा जीव अनन्त द्रव्य हैं।

भाष्य—लोक का स्वरूप निरूपण करने के पश्चात् द्रव्यों के नाम तथा उनकी संख्या का निरूपण करने के लिए यह गाथा कही गई है।

धर्म आदि द्रव्यों का लक्षण बतलाया जा चुका है। उनमें से धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य को एक कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे प्रत्येक शरीर में अलग-अलग जीव हैं, एक का अस्तित्व दूसरे से सम्बन्ध नहीं रखता है, उस प्रकार धर्म आदि तीन

द्रव्य पृथक्-पृथक् अनेक नहीं है। धर्म और अधर्म द्रव्य असंख्यात प्रदेश वाले, समस्त लोकाकाश में व्याप्त, नित्य और अखण्ड द्रव्य हैं। इसी प्रकार आकाश द्रव्य भी अनन्त प्रदेशी लोक और अलोक में व्याप्त एक अखण्ड द्रव्य है। यह तीनों और काल द्रव्य निष्क्रिय हैं। समस्त लोक में व्याप्त होने के कारण इनमें हलन-चलन नहीं होता।

शंका—आगम में कहा है कि प्रत्येक द्रव्य प्रतिक्षण उत्पन्न होता है, प्रतिक्षण विनष्ट होता है और प्रतिक्षण ध्रुव रहता है। यदि धर्म आदि द्रव्य क्रियारहित हैं तो उनका उत्पाद कैसे होगा? बिना क्रिया के उत्पाद कैसे सम्भव है।

समाधान—धर्म आदि क्रियाहीन द्रव्यों में क्रियाकारणक उत्पाद न होने पर भी अन्य प्रकार से उत्पाद माना गया है। उत्पाद दो प्रकार का है—(१) स्वनिमित्तक और (२) परनिमित्तक। प्रतिसमय अनन्त अगुरुलघु गुणों की षट्स्थानपतित हानिवृद्धि होने से स्वभाव से ही इनका उत्पाद और व्यय होता है, यह स्वनिमित्तक उत्पाद और व्यय है जिसमें क्रिया की आवश्यकता नहीं होती।

परनिमित्तक उत्पाद-व्यय इस प्रकार होता है—धर्म द्रव्य कभी अश्व की गति में निमित्त होता है, कभी गाय की गति में और कभी मनुष्य या पुद्गल की गति में निमित्त होता है। इसी प्रकार अधर्म द्रव्य कभी किसी की स्थिति में सहायक होता है और कभी किसी की स्थिति में। आकाश कभी घट को अवगाह देता है, कभी पट को अवगाह देता है, कभी और किसी को अवगाह देता है। इस प्रकार इन तीनों क्रिया-हीन द्रव्यों में प्रतिक्षण भेद होता रहता है। यह भेद एक प्रकार का पर्याय है और जहां पर्याय में भेद होता है वहां उसके आधारभूत द्रव्य में भी भेद होता है। यही भेद इनका उत्पाद और विनाश है। अतएव स्पष्ट है कि निष्क्रिय द्रव्यों में भी प्रतिक्षण उत्पाद और विनाश होता है।

काल, पुद्गल और जीव द्रव्य अनन्त हैं। इनमें से जीवों की अनन्तता का वर्णन पहले किया जा चुका है। जीव द्रव्य को एक मानने में अनेक आपत्तियां हैं। पुद्गल की अनेकता प्रत्यक्षसिद्ध है एक पुद्गल दूसरे पुद्गल से सर्वथा भिन्न प्रतीत होता है। काल द्रव्य भी अनन्त हैं। यद्यपि वर्त्तमान काल एक समय मात्र है, तथापि भूत और भविष्य काल के समय अनन्त होने के कारण काल को अनन्त कहा है। अथवा अनन्त पर्यायों के परिवर्त्तन का कारण होने से काल को अनन्त कहा है।

इस प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश और काल, ये चार द्रव्य क्रियाहीन हैं। धर्म, अधर्म और एक जीव-द्रव्य, ये तीन असंख्यात प्रदेशी हैं। पुद्गल, आकाश और काल अनन्त हैं। अकेला पुद्गल द्रव्य मूर्तिक और शेष पांचों द्रव्य अमूर्तिक हैं। जीव अकेला चेतनावान् और शेष पांच द्रव्य अचेतन हैं। काल के अतिरिक्त पांच द्रव्य अस्तिकाय (प्रदेशों के समूह) रूप हैं। आकाश को छोड़कर शेष पांच द्रव्य लोकाकाश में ही विद्यमान हैं।

यहां द्रव्यों की संख्या निर्धारित कर देने से वैशेषिक आदि द्वारा मानी हुई

द्रव्यों की संख्या का निराकरण किया गया है। वैशेषिक पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा आत्मा और मन, ये नौ द्रव्य स्वीकार करते हैं। इनकी संख्या वास्तविक नहीं है, क्योंकि दिशा का आकाश में अन्तर्भाव होता है। दिशा पृथक् द्रव्य नहीं है अपितु आकाश के विभिन्न विभागों में ही दिशा की कल्पना की गई है। इसी प्रकार मन आत्मा की ही एक शक्ति-विशेष है अतः उसे आत्मा से पृथक् नहीं मानना चाहिये। यदि मन को पृथक् द्रव्य माना जाय तो इन्द्रियों को भी पृथक् द्रव्य मानना पड़ेगा। पृथ्वी, अप, तेज और वायु में रहने वाला एकेन्द्रिय जीव आत्म-द्रव्य में अन्तर्गत है और इनका शरीर पुद्गल द्रव्य में समाविष्ट है।

सांख्यों ने पच्चीस तत्त्वों की कल्पना की है। वे बुद्धि और अहंकार को पुरुष तत्त्व अर्थात् आत्मा से भिन्न स्वीकार करते हैं, जो अनुभव-विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त उन्होंने शब्द आदि से आकाश आदि पंच भूतों की उत्पत्ति मानी है। शब्द पुद्गल है, इसका समर्थन आगे किया जायगा। पौद्गलिक शब्द से अपौद्गलिक आकाश नहीं उत्पन्न हो सकता। इसी प्रकार उनकी अन्य कल्पनाएं भी युक्ति और अनुभव से बाधित हैं। पूर्ण विचार करने से ग्रंथविस्तार होगा।

इसी प्रकार नैयायिकों द्वारा स्वीकृत प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थों का; बौद्धों द्वारा स्वीकृत विज्ञान, वेदना, संज्ञा, आदि पांच स्कन्धों का, वेदान्तियों द्वारा अभिमत एकमात्र पुरुष तत्त्व का, चार्वाकों द्वारा अंगीकृत पांच महाभूतों का, विचार कर उनका यथायोग्य प्रतिविधान करना चाहिए।

शंका—पहले तत्त्वों की संख्या नौ बतलाई गई है और यहां द्रव्यों की संख्या छह बतलाई गई है! यह कथन परस्पर विरोधी होने से कैसे माना जा सकता है?

उत्तर—दोनों निरूपणों में विरोध समझना ठीक नहीं है। तत्त्वों का विवेचन आध्यात्मिक दृष्टि से किया गया है और द्रव्यों का कथन दार्शनिक दृष्टि से। मुमुक्षु जीवों को जीव, अजीव का स्वरूप समझकर यह जानना विशेष उपयोगी होता है कि जीव के संसार-भ्रमण के कारण क्या हैं? संसार से मुक्ति पाने के कारण क्या हैं? मुक्ति क्या है? अतः संसार के कारण रूप में आस्रव और बंध का, मोक्ष के कारण रूप में संवर और निर्जरा का कथन किया है! मोक्ष प्रधान लक्ष्य होने के कारण उसका वर्णन करना उपयोगी है ही। पाप और पुण्य भी संसार-मोक्ष के कारण होने से उनका भी स्वरूप समझाया गया है।

द्रव्यों के विवेचन से यह विदित होता है कि हम जिस जगत् में रहते हैं उसकी यथार्थ स्थिति क्या है? वह किन २ मौलिक पदार्थों का है?

इस प्रकार दोनों विवेचनों में दृष्टिभेद होने पर भी वास्तविक भिन्नता नहीं है। अतएव पारस्परिक विरोध की कल्पना असंगत है।

द्रव्य का विवेचन इसी अध्ययन में आगे किया जायगा।

मूल:—गइलक्खणो उ धम्मो, अहम्मो ठाणलक्खणो।
भायणं सव्वदव्वाणं नहं ओगाहलक्खणं ॥१५॥

छाया—गतिलक्षणस्तु धर्मः, अधर्मः स्थानलक्षणः ।
भाजनं सर्वद्रव्याणां, नभोऽवगाहलक्षणम् ॥१५॥

शब्दार्थ—गति में सहायक होना धर्म द्रव्य का लक्षण है, स्थिति में सहायक होना अधर्म द्रव्य का लक्षण है, अवगाहना देना आकाश द्रव्य का लक्षण है । आकाश समस्त द्रव्यों का आधार है ॥१५॥

भाष्य—द्रव्यों की संख्या निर्धारित करने के पश्चात् उनके स्वरूप का निरूपण करने के लिए सूत्रकार ने यह कथन किया है । द्रव्यों के स्वरूप का निरूपण प्रायः आ चुका है, अतएव यहां पुनरुक्ति नहीं की जाती ।

प्रत्येक कार्य के लिए उपादान और निमित्त--दोनों कारणों का सद्भाव मानना आवश्यक है । जीव और पुद्गल की गति रूप कार्य के लिए भी उक्त दोनों कारण होने चाहिए । जीव की गति में जीव उपादान कारण है और पुद्गल की गति में पुद्गल स्वयं उपादान कारण है । निमित्त कारण उपादान कारण से भिन्न ही होता है, अतएव इनकी गति में जो निमित्त कारण है वही धर्मास्तिकाय है । इस प्रकार धर्मास्तिकाय की सिद्धि होती है ।

शंका—गति का निमित्त कारण मानना तो आवश्यक है किन्तु धर्म को ही क्यों माना जाय ? आकाश को निमित्त कारण मानने से काम चल सकता है तो फिर एक पृथक् द्रव्य की कल्पना करने से क्या लाभ ?

समाधान—धर्मास्तिकाय का कार्य आकाश से नहीं चल सकता । क्योंकि आकाश अनन्त और अखण्ड द्रव्य होने के कारण जीव और पुद्गल को, अपने में सर्वत्र गति करने से नहीं रोक सकता । ऐसी स्थिति में अनन्त पुद्गल और अनन्त जीव, अनन्त परिमाण वाले आकाश में बिना रुकावट के संचार करेंगे । और वे इतने पृथक्-पृथक् हो जाएंगे कि उनका पुनः मिलना और नियत सृष्टि के रूप में दिखाई देना प्रायः अशक्य हो जायगा । इस कारण जीव और पुद्गल की गति को नियन्त्रित करने के लिए धर्मास्तिकाय नामक पृथक् द्रव्य को स्वीकार करना आवश्यक है ।

इसी युक्ति से जीव और पुद्गल की स्थिति की मर्यादा बनाये रखने के लिए अधर्मास्तिकाय को स्वीकार करना चाहिए ।

धर्मास्तिकाय के द्वारा जीवों का गमन-आगमन, भाषा, उन्मेष, मनोयोग, वचनयोग और काययोग प्रवृत्त होता है तथा इनके अतिरिक्त अन्य भी जो गमनशील भाव हैं वे भी धर्मास्तिकाय से प्रवृत्त हो रहे हैं । अधर्मास्तिकाय से जीवों का खड़ा

रहना, बैठना सोना, मन को स्थिर करना आदि स्थिति-शील क्रियाएं होती हैं।

व्याख्याप्रज्ञप्ति में धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के आठ-आठ मध्य प्रदेश बताये गये हैं। धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश, धर्मास्तिकाय के कम से कम तीन और अधिक से अधिक छह प्रदेशों से स्पृष्ट होता है और अधर्मास्तिकाय का एक प्रदेश अधर्मास्तिकाय के कम से कम चार और अधिक से अधिक सात प्रदेशों से स्पृष्ट होता है। लोकाकाश के एक प्रदेश में धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश और अधर्मास्तिकाय का एक प्रदेश अवश्य विद्यमान है और जहां इन दोनों का एक-एक प्रदेश है वहां दूसरा अधर्मास्तिकाय या धर्मास्तिकाय का प्रदेश नहीं रह सकता। तात्पर्य यह है कि जैसे संख्यात, असंख्यात और अनन्त-प्रदेश वाला स्कंध भी आकाश के एक प्रदेश में अवगाहन कर सकता है उसी प्रकार धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के अनेक प्रदेश एक आकाश-प्रदेश में अवगाढ़ नहीं हैं। इससे यह भी प्रतीत हो जाता है कि लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं उतने ही धर्म और अधर्म द्रव्य के भी हैं।

मूल:—वत्तणालक्खणो कालो, जीवो उवओगलक्खणो।
नाणेणं दंसणेणं च, सुहेण य दुहेण य ॥१६॥

छाया—वर्त्तनालक्षणः कालो, जीव उपयोगलक्षण।
ज्ञानेन दर्शनेन च, सुखेन दुःखेन च ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—वर्त्तना अर्थात् पर्यायों के परिवर्त्तन में सहायक होना काल का लक्षण है। उपयोग जीव का लक्षण है। सुख, दुःख, ज्ञान और दर्शन से जीव की पहिचान होती है।

भाष्य—जीव का विस्तृत स्वरूप प्रतिपादन किया जा चुका है। काल के विषय में भी सामान्य कथन किया जा चुका है। विशेष इतना जानना चाहिए कि समय, आवली, मुहूर्त, अहोरात्रि आदि व्यवहार-काल को काल द्रव्य मानने के अतिरिक्त किसी-किसी आचार्य ने इन सब का कारणभूत निश्चय काल भी स्वीकार किया है। योगशास्त्र में आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है—

लोकाकाशप्रदेशस्था भिन्नाः कालाणवस्तु ये।
भावानां परिवर्त्ताय मुख्यः कालः स उच्यते ॥
ज्योतिः शास्त्रे यस्य मानमुच्यते समयादिकम्।
स व्यावहारिकः कालः कालवेदिभिरामतः ॥
नवजीर्णादिरूपेण यदमी भुवनोदरे।
पदार्थाः परिवर्त्तन्ते तत्कालस्यैव चेष्टितम् ॥

अर्थात् लोकाकाश के प्रदेशों में रहने वाले, एक दूसरे से भिन्न काल के जो अणु हैं वे मुख्य काल कहलाते हैं और वही पदार्थों के परिवर्तन में निमित्त होते हैं।

ज्योतिः शास्त्र में जिसका समय, आवली आदि परिमाण कहा गया है वह

व्यावहारिक काल है, ऐसा काल द्रव्य के वेत्ताओं ने स्वीकार किया है।

पदार्थ कभी नये होते हैं, कभी पुराने हो जाते हैं, इस प्रकार का पदार्थों में जो परिवर्तन होता है, उसका कारण काल है।

आगमों में अविशेष रूप से छह द्रव्यों का प्रतिपादन मिलता है; दिगम्बर परम्परा में निश्चयकाल सर्वसम्मत है। श्वेताम्बर परम्परा में दो मत उपलब्ध होते हैं।

वर्त्तना को काल का लक्षण कहा गया है। संस्कृत भाषा में उसकी व्युत्पत्ति तीन प्रकार की है—'वर्त्यते, वर्तते, वर्तनमात्रं वा वर्तना'! पहली व्युत्पत्ति कारण-साधन है, दूसरी कर्तृसाधन है और तीसरी भावसाधन है। द्रव्य अपने पूर्व पर्याय का त्याग स्वयं ही करता है फिर भी उसमें बाह्य निमित्त की आवश्यकता होती है। अतएव पर्याय के परित्याग से उपलक्षित काल को वर्त्तना रूप कहा गया है।

जीव का लक्षण उपयोग कथन करने के पश्चात् ज्ञान, दर्शन और सुख-दुःख से जीव का ज्ञान होना बतलाया गया है सो अन्य मतावलम्बियों की इस सम्बन्ध की मिथ्या मान्यताओं का निराकरण करने के लिए समझना चाहिये। जैसे कि वैशेषिक ज्ञान आदि गुणों को जीव से सर्वथा भिन्न मानते हैं और सांख्य जीव को दुःख-सुख का भोक्ता न मानकर प्रकृति को ही भोक्ता मानते हैं। यह मिथ्या मान्यताएं उल्लिखित कथन से खण्डित हो जाती हैं।

सांख्यों की यह मान्यता है कि पुरुष (जीव) सुख-दुःख का भोक्ता नहीं है। जड़ प्रकृति से उत्पन्न होने वाली बुद्धि वस्तुतः सुख-दुःख का भोग करती है। बुद्धि उभय-मुख दर्पणाकार है अर्थात् बुद्धि में दर्पण की भांति एक ओर से सुख आदि का प्रतिबिम्ब पड़ता है और दूसरी तरफ से पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है। अतएव पुरुष और सुख आदि एक ही जगह मिल जाते हैं। ऐसी अवस्था में पुरुष भ्रान्ति के वश होकर अपने आपको सुख दुःख का भोग करने वाला मान लेता है, वास्तव में बुद्धि, जो कि प्रकृति का एक विकार है—सुख-दुःख भोगती है।

सांख्यों की यह मान्यता युक्तिहीन है। पुरुष अमूर्त्तिक है ऐसा उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है। अमूर्त्तिक वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ नहीं सकता, क्योंकि प्रतिबिम्ब पड़ना मूर्त पदार्थ का धर्म है। अतएव पुरुष का बुद्धि पर प्रतिबिम्ब पड़ना जब असंभव है तो किस प्रकार सुख और पुरुष एकत्र प्रतिबिम्बित होंगे? एकत्र प्रति-बिम्बित न होने से पुरुष को तज्जन्य भ्रम भी नहीं हो सकता।

इसके अतिरिक्त प्रकृति जड़ है। जड़ में वेदना-शक्ति नहीं होती। अगर किसी में वेदना-शक्ति है तो उसे जड़ नहीं किन्तु चेतन ही मानना उपयुक्त है। इसलिए प्रकृति को जड़ मानते हुए भी सुख-दुःख का भोग करने वाली स्वीकार करना परस्पर विरोधी है।

इसी प्रकार बुद्धि अर्थात् ज्ञान को जड़ प्रकृति का विकार (कार्य) बताना भी

ठीक नहीं है। प्रकृति स्वयं जड़ अर्थात् अचेतन है तो फिर उससे चेतन स्वरूप बुद्धि किस प्रकार उत्पन्न हो सकती है ? उपादान कारण के ही धर्म कार्य में आते हैं। जैसे काली मिट्टी से काला घट बनता है, सफेद तंतुओं से सफेद वस्त्र बनता है। यदि प्रकृति उपादान कारण है और बुद्धि उसका कार्य है तो प्रकृति का जड़ता रूप गुण बुद्धि में आना चाहिए; परन्तु बुद्धि जड़ नहीं है अतएव वह प्रकृति का कार्य नहीं है।

सूत्रकार ने इन बातों को सूचित करने के लिए 'नाणेण दंसणेण य सुहेण य दुहेण य' यह पद सूत्र में रक्खा है।

मूलः—सद्दंधयार उज्जोओ, पहा छायाऽऽतवे इ वा।
वण्णरसगंधफासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं ॥१७॥

छायाः—शब्दान्धकारोद्योताः प्रभा छायाऽऽतप इति वा।
वर्णरसगन्धस्पर्शाः, पुद्गलानां तु लक्षणम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—शब्द, अंधकार, उद्योत, प्रभा, छाया, धूप, वर्ण, रस, गंध और स्पर्श यह सब पुद्गल के लक्षण हैं।

भाष्य—सब द्रव्यों का स्वरूप निरूपण करके अन्त में बचे हुए पुद्गल द्रव्य का स्वरूप प्रतिपादन करने के लिए यह गाथा कही गई है।

पर्याय-प्ररूपण के द्वारा यहां पुद्गल का लक्षण बतलाया गया है। शब्द आदि पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं अर्थात् शब्द, अंधकार आदि के रूप में पुद्गल द्रव्य ही परिणत होता है।

शब्द दो प्रकार है भाषा रूप शब्द और अभाषा रूप शब्द। भाषा शब्द के भी दो भेद हैं—अक्षरात्मक तथा अनक्षरात्मक। पारस्परिक व्यवहार का कारण, शास्त्रों को प्रकाशित करने वाला शब्द अक्षरात्मक शब्द है। द्वीन्द्रिय आदि जीवों का शब्द अनक्षरात्मक शब्द है।

अभाषात्मक शब्द भी दो प्रकार का है—प्रायोगिक और वैस्रसिक। बिना पुरुष-प्रयत्न के उत्पन्न होने वाला मेघ आदि का शब्द वैस्रसिक (प्राकृतिक) शब्द कहलाता है। प्रायोगिक या प्रयत्नजन्य शब्द के चार भेद हैं— (१) तत (२) वितत (३) घन और (४) सौषिर। भेरी आदि का शब्द तत कहलाता है और वीणा आदि के शब्द को वितत कहते हैं। घंटा आदि का शब्द घन कहलाता है और शंख आदि का छिद्रों से उत्पन्न होने वाला शब्द सौषिर है।

दृष्टि के प्रतिबन्ध का कारण और प्रकाश का विरोधी पुद्गल का विकार अन्धकार कहलाता है। चन्द्रमा, मणि और जुगनू आदि से होने वाला शीतल प्रकाश उद्योत कहलाता है। कान्ति (चमक) को प्रभा कहते हैं। प्रकाश के आवरण से उत्पन्न होने वाली छाया कहलाती है। सूर्य आदि से उत्पन्न होने वाला उष्ण प्रकाश आतप है।

जो चक्षु इन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने योग्य हो उसे वर्ण कहते हैं। जिह्वा इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य पुद्‌गल का गुण रस है, जो घ्राण इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हो उसे गन्ध कहते हैं और स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य गुण को स्पर्श कहते हैं।

सूत्र में शब्द को पुद्‌गल द्रव्य का परिणाम बताकर सूत्रकार ने उसके आकाश का गुण होने का तथा उसकी एकान्त नित्यताका निराकरण किया है। शब्द पौद्‌गलिक है, आकाश का गुण नहीं है, इस विषय की चर्चा ग्यारहवें अध्ययन में की जायगी। मीमांसक मतानुयायी शब्द को सर्वथा नित्य स्वीकार करते हैं, वे अपना पक्ष समर्थन करने के लिए इस प्रकार युक्तियां उपस्थित करते हैं:—

(१) शब्द नित्य है, क्योंकि हमें 'यह वही शब्द है, जिसे पहले सुना था,' इस प्रकार का ज्ञान होता है। तात्पर्य यह है कि कल हमने 'क' ऐसा शब्द सुना। आज फिर जब हम किसी के मुख से 'क' शब्द सुनते हैं तो हमें ऐसा मालूम पड़ता है कि आज मैं वही 'क' सुन रहा हूं जिसे कल सुना था। शब्द अगर अनित्य होता तो वह बोलने के पश्चात् उसी समय नष्ट हो जाता और फिर दूसरी बार वह कभी सुनाई न देता। मगर वह फिर सुनाई देता है और हमें प्रत्यभिज्ञान भी होता है इसलिए शब्द को नित्य ही स्वीकार करना चाहिए।

(२) अनुमान प्रमाण से शब्द की नित्यता सिद्ध होती है। यथा शब्द नित्य है, क्योंकि वह श्रोत्र-इन्द्रिय का विषय है। जो-जो श्रोत्र-इन्द्रिय का विषय होता है वह-वह नित्य होता है, जैसे शब्दत्व।

(३) शब्द नित्य है, यदि नित्य न होता तो दूसरों को अपना अभिप्राय समझाने के लिए उसका प्रयोग करना वृथा हो जाता। सारांश यह है कि शब्द अगर अनित्य है तो वह उच्चारण करने के बाद ही नष्ट हो जाता है। अब दूसरी बार हम जो शब्द बोलते हैं वह नया है—एकदम अपूर्व है और अपूर्व होने के कारण उसका वाच्य अर्थ क्या है, यह किसी को मालूम नहीं है। मान लीजिए—हमने किसी से कहा—'पुस्तक लाओ'। वह पुस्तक का अर्थ नहीं समझता था सो हमने उसे समझा दिया। वह समझ गया। किन्तु वह पुस्तक शब्द अनित्य होने के कारण उसी समय नष्ट हो गया। अब दूसरी बार हम फिर कहते हैं—'पुस्तक लाओ'। यहां पुस्तक शब्द पहले वाला तो है नहीं क्योंकि वह उसी समय नष्ट हो गया था। यह तो नवीन शब्द है, अतएव इसका अर्थ किसी को ज्ञात नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार समस्त शब्द यदि अनित्य हैं तो किसी भी शब्द का अर्थ किसी को ज्ञात न हो सकेगा और ऐसी अवस्था में अपना आशय प्रकाशित करने के लिए दूसरों के लिए हमारा बोलना भी व्यर्थ होगा। ऐसा होने से संसार के समस्त व्यवहार लुप्त हो जाएंगे। अतएव शब्द को अनित्य न मानकर नित्य मानना ही युक्ति-संगत प्रतीत होता है। और ऐसा मानने से ही जगत् के व्यवहार चल सकते हैं।

मीमांसक की उल्लिखित युक्तियां निस्सार हैं। उसने अनित्य मानने में जो बाधाएं बतलाई है, वे बाधाएं तभी आ सकती हैं जब शब्द को सर्वथा अनित्य स्वी--

कार किया जाय। किन्तु जिनागम में शब्द को कथंचित् अनित्य माना गया है। अतएव यहां उन बाधाओं के लिए तनिक भी गुंजाइश नहीं है। फिर भी उन पर संक्षेप में विचार किया जाता है-

(१) प्रत्यभिज्ञान प्रमाण से शब्द की एकान्त नित्यता मानना ठीक नहीं है। प्रत्यभिज्ञान उसी वस्तु को जानता है जो वस्तु कथंचित् अनित्य होती है क्योंकि प्रत्यभिज्ञान में 'यह वही है' इस प्रकार दो अवस्थाओं में एक रूप से रहने वाले पदार्थ को जाना जाता है। एकान्त नित्य पदार्थ सदा एक ही अवस्था में रहता है- उसमें दो अवस्थाएं हो ही नहीं सकती। अतएव जो पदार्थ एकान्त नित्य माना जायगा उसमें दो अवस्थाएं न होने से वह प्रत्यभिज्ञान का विषय नहीं हो सकता। शब्द प्रत्यभिज्ञान का विषय होता है इससे उसकी अनित्यता-कथंचित् परिणामीपन ही सिद्ध होता है।

इसके अतिरिक्त जब कोई 'गो' शब्द बोलता है तो हमें प्रत्यक्ष यह मालूम होता है कि 'गो' शब्द उत्पन्न हुआ है, और बोलने के पश्चात् उसका विनाश भी मालूम होता है। अतएव शब्द की सर्वथा नित्यता को विषय करने वाला प्रत्यभिज्ञान, प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित होने के कारण मिथ्या है।

शंका -जब कोई व्यक्ति शब्द का प्रयोग करता है तो शब्द व्यक्त (प्रकट) होता है, उत्पन्न नहीं होता और बोलने के पश्चात् अव्यक्त (अप्रकट) हो जाता है, नष्ट नहीं होता। इसलिए प्रत्यक्ष से शब्द का उत्पन्न होना और नष्ट होना जो ज्ञात होता है वह मिथ्या है।

समाधान—ऐसा मानने से सभी पदार्थ नित्य हो जाएंगे। घट, पट आदि सभी पदार्थों के विषय में यह कहा जा सकता है कि घट-पट आदि कोई भी पदार्थ कभी उत्पन्न नहीं होते, सिर्फ व्यक्त हो जाते हैं। और घट आदि का कभी नाश भी नहीं होता, सिर्फ अव्यक्त हो जाते हैं। इस प्रकार व्यक्त और अव्यक्त होने के कारण ही पदार्थों का उत्पाद और विनाश प्रतीत होता है। फिर मीमांसक शब्द की तरह सभी पदार्थों को सर्वथा नित्य क्यों नहीं मान लेता ? अकेले शब्द को ही क्यों नित्य मानता है ?

वास्तव में शब्द तालु-कंठ आदि से उत्पन्न होता है, जैसे कि मिट्टी आदि से घट उत्पन्न होता है। अतएव शब्द को एकान्त नित्य मानना युक्ति से सर्वथा प्रतिकूल है।

इसके सिवाय शब्द को नित्य सिद्ध करने के लिए जो प्रत्यभिज्ञान प्रमाण उपस्थित करते हैं वह अनुमान प्रमाण से बाधित है। यथा-शब्द अनित्य है, क्योंकि उसमें तीव्रता और मन्दता आदि धर्म पाये जाते हैं। जिसमें तीव्रता और मन्दता आदि धर्म होते हैं वह अनित्य होता है, जैसे सुख-दुःख आदि। शब्द में भी तीव्रता-मन्दता आदि हैं अतएव वह अनित्य है। इस अनुमान प्रमाण से शब्द की नित्यता सिद्ध करने वाला प्रत्यभिज्ञान खंडित हो जाता है।

(२) आप कहते हैं-शब्द नित्य है, क्योंकि वह श्रोत्र-इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाता है, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि अनगिनती वाक्य ऐसे हैं जो श्रोत्र-इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किये जाते हैं किन्तु जिन्हें आप स्वयं नित्य नहीं मानते हैं। जैसे—

स्वर्गकामः सुरां पिबेत्।

अर्थात् स्वर्ग जाने की इच्छा रखने वाले पुरुष को मदिरा-पान करना चाहिए।

यह वाक्य श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाता है, इसलिए आपके कथनानुसार यह भी नित्य होना चाहिए। मगर आप इसे नित्य नहीं मान सकते। अगर इस वाक्य को भी नित्य मानते हो तो वेद की तरह इसे प्रमाणभूत मानकर इस वाक्य के अनुसार ही आप को आचरण करना होगा।

(३) तीसरी युक्ति आपने यह बताई है कि शब्द को यदि नित्य नहीं माना जायगा तो अपना अभिप्राय समझाने के लिए उसे बोलना व्यर्थ हो जायगा। यह कथन भी सत्य नहीं है। इस कथन के अनुसार तो प्रत्येक वाच्य पदार्थ को भी सर्वथा नित्य मानना पड़ेगा, क्योंकि शब्द का अर्थ समझने के लिए जैसे शब्द की नित्यता आवश्यक समझते हो उसी प्रकार पदार्थ की नित्यता भी आवश्यक ठहरती है। पदार्थ यदि अनित्य है तो वह प्रतिक्षण नवीन—अपूर्व उत्पन्न होगा और ऐसी अवस्था में उसका वाचक शब्द तो कोई होगा ही नहीं, तब उस पदार्थ को जताने के लिए किसी भी शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकेगा। मगर शब्द का प्रयोग किया जाता है इसलिए यह भी मानना चाहिए कि शब्द का वाच्य पदार्थ सदैव एक सा विद्यमान रहता है।

ऐसा मान लेने पर संसार के समस्त पदार्थ नित्य ठहरेंगे, जो आपको भी अभीष्ट नहीं है अतएव यह युक्ति आपके सिद्धान्त के विरुद्ध पड़ती है। इसलिए शब्द को कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य ही स्वीकार करना चाहिए। पुद्गल द्रव्य की पर्याय होने से शब्द अनित्य है और पर्याय द्रव्य से सर्वथा भिन्न नहीं होती इसलिए पुद्गल द्रव्य रूप होने से कथंचित् नित्य है।

सूत्रकार ने शब्द के अनन्तर अन्धकार को पुद्गल का लक्षण बतलाकर उन लोगों के मत का निराकरण किया है जो अंधकार को पुद्गल की पर्याय नहीं स्वीकार करते। नैयायिक मत के अनुयायी कहते हैं कि अन्धकार कोई वस्तु नहीं है, वह तो केवल प्रकाश का अभाव है। जब सूर्य-चन्द्रमा आदि प्रकाश करने वाले पदार्थों के प्रकाश का सर्वथा अभाव होता है तो अंधकार मालूम होता है। यह अभाव रूप है अतएव इसे पुद्गल रूप बतलाना ठीक नहीं है।

हम दीवाल के भीतर नहीं प्रवेश कर पाते क्योंकि दीवाल पुद्गल होने के कारण हमारी गति को रोकती है, इसी प्रकार यदि अन्धकार पुद्गल होता तो उसमें भी हम प्रवेश न कर पाते, वह भी दीवाल की तरह हमारी गति को रोक देता। पर ऐसा देखा नहीं जाता। हम लोग अन्धकार में गमन करते हैं, वह हमें रोकता नहीं है। इसलिए यह सिद्ध होता है कि अंधकार पुद्गल नहीं है।

इसके अतिरिक्त अन्धकार पुद्गल रूप होता तो उसे उत्पन्न करने वाले कारण अवश्य दिखाई पड़ते, जैसे वस्त्र को उत्पन्न करने वाले अवयव-तन्तु दिखाई पड़ते हैं। पर अन्धकार जिससे बनता है वह कोई वस्तु कभी प्रतीत नहीं होती, अतएव अन्धकार वस्तु नहीं है, वह आलोक (प्रकाश) का अभाव मात्र है।

नैयायिकों की यह मान्यता मिथ्या है. अन्धकार अभाव रूप नहीं है किन्तु वह सद्-भाव रूप पुद्गल की पर्याय है। पुद्गल अनेक प्रकार के होते हैं। कोई स्थूल पुद्गल होता है, वह हमारी गति में रुकावट डालता है। कोई पुद्गल अत्यन्त सूक्ष्म होता है, उसमें हमारी गति में रुकावट नहीं पड़ती। गति में रुकावट न डालने के कारण यदि अन्धकार को पुद्गल न माना जाय तो प्रकाश भी पुद्गल रूप सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि प्रकाश भी हमारी गति में बाधक नहीं होता। हम जैसे अन्धकार में चलते-फिरते हैं उसी प्रकार प्रकाश में चलते-फिरते हैं। फिर क्या कारण है कि आप अन्धकार को अभाव रूप मानते हो और प्रकाश को अभाव रूप नहीं मानते? जब दोनों में समान धर्म है तो दोनों को ही समान रूप से स्वीकार करना चाहिए।

अगर यह कहो कि प्रकाश का नाश होने से अन्धकार हो जाता है इसलिए अन्धकार को प्रकाश का अभाव मानते हैं; तो हम यह कह सकते हैं कि अन्धकार का अभाव होने से प्रकाश हो जाता है, अतएव अन्धकार को सद्भाव रूप और प्रकाश को अभाव रूप मानो।

शब्द की पुद्गलरूपता सिद्ध करते समय यह बताया जा चुका है कि जैसे विद्युत् के उत्पादक कारण-उपादान रूप अवयव-पहले दिखाई नहीं देते, फिर भी विद्युत् पुद्गल है, इसी प्रकार अन्धकार के जनक अवयव दृष्टिगोचर न होने पर भी वह पुद्गल है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि अन्धकार के उपादान रूप अवयव हैं ही नहीं। तेज के परमाणु ही अन्धकार रूप पर्याय में परिणत हो जाते हैं और अन्धकार के परमाणु प्रकाश के रूप में पलट जाते हैं, क्योंकि यह दोनों पर्यायें एक ही पुद्गल द्रव्य की हैं।

शंका—पुद्गल-रूप वस्तुओं को देखने के लिए प्रकाश की आवश्यकता पड़ती है। अन्धकार पुद्गल होता तो उसे देखने के लिए भी प्रकाश की जरूरत पड़ती। मगर दीपक लेकर कोई अन्धकार को नहीं देखता इसलिए अन्धकार पुद्गल नहीं है।

समाधान-सभी पदार्थों में सब धर्म सरीखे नहीं होते, पदार्थों में विचित्र-विचित्र शक्तियां होती हैं। जो शक्ति एक में है वह अन्य में नहीं है। इसलिए घट आदि को देखने के लिए सूर्य आदि के प्रकाश की आवश्यकता है पर अन्धकार को देखने के लिए प्रकाश की आवश्यकता नहीं पड़ती। यदि सभी पदार्थों के धर्म एक सरीखे होते तो सूर्य को देखने के लिए भी दूसरे सूर्य की आवश्यकता पड़ती।

इस अनुमान से अन्धकार पुद्गल रूप सिद्ध होता है--अन्धकार पौद्गलिक है क्योंकि वह चक्षु-इन्द्रिय से देखा जाता है। जो चक्षु से देखा जाता है वह पुद्गल होता है, जैसे घट आदि।

इसके अतिरिक्त अन्धकार वर्ण से काला और स्पर्श से शीत है, और वर्ण आदि पुद्गल में ही होते हैं, इसलिए भी अन्धकार पौद्गलिक है।

किसी नियत प्रदेश में छत्र आदि के प्रकाश का रुकना छाया कहलाता है। छाया को पौद्गलिक सिद्ध करने के लिए, अन्धकार को पुद्गल रूप सिद्ध करने वाली युक्तियों का ही प्रयोग करना चाहिए।

पुद्गल के अणु और स्कंध भेद से दो भेद बतलाये जा चुके हैं। परमाणु भी पुद्गल द्रव्य रूप होने के कारण रूप, रस, गन्ध और वर्ण वाला है और स्कंध में भी रूप आदि पाये जाते हैं। इसीलिए सूत्रकार ने वर्ण आदि को पुद्गल का लक्षण बताया है। स्कंध तो मूर्तिक है ही, पर परमाणु भी रूप रस आदि से युक्त होने के कारण मूर्तिक है। परमाणु निर्विभाग होता है। इस कारण जो प्रदेश परमाणु का है वही प्रदेश रस का, वही रूप का, वही गन्ध का और वही स्पर्श का है। पृथ्वी, जल अग्नि और वायु परमाणुओं से उत्पन्न हुई और होती हैं। इन जातियों के परमाणु भिन्न-भिन्न नहीं होते, केवल पर्याय के भेद से इनमें भेद होता है।

शब्द पुद्गल के अनन्त परमाणुओं का पिण्ड है। जब महास्कंधों का परस्पर संघर्षण होता है तब शब्द उत्पन्न होता है। स्वभावतः अनन्त परमाणुओं के पिण्ड रूप, शब्द के योग्य वर्गणाएं समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं। जहां शब्द को उत्पन्न करने वाले बाह्य कारण मिलते हैं वहां वे शब्द रूप परिणत होने योग्य पुद्गल वर्गणाएं शब्द के रूप में परिणत हो जाती हैं। इसी कारण शब्द पौद्गलिक कहलाता है।

परमाणु पुद्गल नित्य है। उसका विभाग नहीं हो सकता। उसमें एक रूप, एक रस, एक गन्ध और दो स्पर्श अवश्य होते हैं।

पुद्गल--स्कंध के विवक्षा भेद से छह भेद भी किये जाते हैं—(१) बादर--बादर (२) बादर (३) बादर सूक्ष्म (४) सूक्ष्म बादर (५) सूक्ष्म (६) सूक्ष्म-सूक्ष्म।

(१) बादर-बादर—जो पुद्गलस्कंध खण्ड-खण्ड होने पर अपने आप नहीं जुड़ सकते हैं वे बादर-बादर कहलाते हैं। जैसे-पृथ्वी, पर्वत आदि।

(२) बादर—जो पुद्गलस्कंध खण्ड-खण्ड करने पर अपने आप मिल जाएं उन्हें बादर कहते हैं। जैसे-तेल, घी, दूध, जल आदि।

(३) बादर सूक्ष्म-जो पुद्गल हाथ से ग्रहण न किये जा सकते हों, व एक जगह से दूसरी जगह न ले जाए जा सकते हों, देखने में स्थूल दिखाई देते हों पर छिद-भिद न सकते हों, उन्हें बादर सूक्ष्म पुद्गल कहते हैं। जैसे--छाया, आतप, अन्धकार, प्रकाश आदि।

(४) सूक्ष्म बादर -जो पुद्गल सूक्ष्म होने पर भी स्थूल-से प्रतीत होते हैं वे सूक्ष्म बादर हैं। जैसे-वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द।

(५) सूक्ष्म -जो पुद्गल इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं किये जा सकते हैं वे सूक्ष्म पुद्गल हैं। जैसे--कर्मवर्गणा आदि।

(६) सूक्ष्म-सूक्ष्म जो पुद्गल कर्म--वर्गणाओं से भी अत्यन्त सूक्ष्म हैं, ऐसे द्व्यणुक पर्यन्त स्कंध सूक्ष्म-सूक्ष्म कहलाते हैं।

इन छह प्रकार के पुद्गल-स्कंधों से ही यह समस्त दृश्य जगत् निष्पन्न हुआ है।

मूल:–गुणाणमासओ दव्वं, एगदव्वस्सिया गुणा।
लक्खणं पज्जवाणं तु, उभओ अस्सिया भवे ॥१६॥

छाया—गुणानामाश्रयो द्रव्यं, एकद्रव्याश्रिता गुणाः।
लक्षणं पर्यवानां तु, उभयोराश्रिता भवन्ति ॥१६॥

शब्दार्थ—जो गुणों का आधार है वह द्रव्य है। गुण अकेले द्रव्य में ही रहते हैं किन्तु पर्यायों का लक्षण दोनों में अर्थात् द्रव्य और गुण में आश्रित होना है ॥१६॥

भाष्य—षट् द्रव्यों के स्वरूप का विवेचन करने के अन्तर अब द्रव्य, गुण और पर्याय का कथन करने के लिए तथा इन तीनों का पारस्परिक अन्तर समझाने के लिए यह गाथा कही गई है।

प्रस्तुत गाथा में तीन बातों का विवेचन किया गया है—

(१) द्रव्य, गुणों का आश्रय है।

(२) गुण केवल द्रव्य में ही रहते हैं।

(३) पर्यायें द्रव्य में भी रहती हैं और गुणों में भी रहती हैं।

जगत् के किसी भी पदार्थ को यदि सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन किया जाय तो ज्ञात होगा कि किसी भी पदार्थ का निरन्वय विनाश कभी नहीं होता। प्रत्येक पदार्थ किसी न किसी रूप में बना ही रहता है। उदाहरण के लिए मिट्टी को लीजिए। मिट्टी पुद्गल है। कुंभार खेत में से मिट्टी लाता है और उसमें पानी आदि मिलाकर उसका पिंड बनाता है। पिंड बना देने पर भी पुद्गल (मिट्टी) किसी रूप में विद्यमान है।

पिण्ड बनाने के पश्चात् कुंभार उसे चाक पर चढ़ाता है और उसे घट के आकार में पलट देता है। मिट्टी में एक नया आकार उत्पन्न होता है फिर भी पुद्गल (मिट्टी) किसी रूप में विद्यमान है।

घट थोड़े दिनों के अनन्तर, चोट लग जाने पर फूट जाता है। उसके टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं। अब वही पुद्गल (मिट्टी) फिर नये आकार को धारण करता है। यह नवीन आकार उत्पन्न हो जाने पर भी पुद्गल किसी रूप में विद्यमान है।

टुकड़ों को पीस कर कोई मनुष्य इसका चूर्ण बना डालता है, तब फिर एक नवीन आकार उत्पन्न होता है, किन्तु पुद्गल किसी रूप में विद्यमान है।

बनाये हुए चूर्ण को कोई हवा में उड़ा देता है। लेकिन क्या उस पुद्गल का समूल नाश हो गया ? नहीं। उसमें के अनेक कण किसी के कान में चले गये और वे कान का मैल बन गये। कुछ कण कीचड़ में गिर गये और कीचड़ सूखने पर फिर

मिट्टी बन गये। इसी प्रकार कोई कण किसी में मिल गया, कोई किसी में मिल गया। पर वह सब कण किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं। उनका कभी सर्वथा नाश नहीं हो सकता।

इसी प्रकार जीव द्रव्य को लीजिए। जीव द्रव्य इस समय मनुष्य के आकार में है। उसकी मृत्यु हुई और वह देव बन गया। यद्यपि उसमें नया आकार आ गया फिर भी जीव द्रव्य ज्यों का त्यों विद्यमान है। उसका समूल विनाश कदापि नहीं हो सकता।

ऊपर दिये हुए उदाहरण से यह स्पष्ट है कि कोई भी पदार्थ कभी नष्ट नहीं होता फिर भी उसकी अवस्थाएं सदा बदलती रहती हैं।

पदार्थ के कभी नष्ट न होने वाले अंश को जैनागम की परिभाषा में द्रव्य कहते हैं और सदा बदलते रहने वाले अंश को पर्याय कहते हैं।

यहां यह प्रश्न किया जा सकता है कि द्रव्य कभी नष्ट नहीं होता है, यह तो समझ में आगया, पर वास्तव में द्रव्य क्या है, यह समझाइए? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अनन्त गुणों के अखण्ड पिण्ड को ही द्रव्य कहते हैं। जैसे अनेक जड़ी-बूटियों को मिला कर पीसने से दवाई की एक गोली बनती है। वह गोली उन जड़ी-बूटियों से सर्वथा भिन्न कोई अलग पदार्थ नहीं है, उसी प्रकार गुणों के समुदाय को छोड़कर द्रव्य भी भिन्न पदार्थ नहीं है। अथवा हाथ-पैर-छाती-पेट-पीठ-सिर आदि अवयवों के समूह को शरीर कहते हैं। इन अवयवों से बिलकुल अलग शरीर नामक कोई वस्तु नहीं है, उसी प्रकार गुणों से बिल-कुल भिन्न द्रव्य नामक कोई वस्तु नहीं है।

यह ध्यान रखना चाहिए कि हाथ पैर आदि से शरीर सर्वथा भिन्न न होने पर भी और जड़ी-बूटियों से बिलकुल अलग गोली न होने पर भी अकेले हाथ को शरीर नहीं कहा जा सकता, अकेले पैर को शरीर नहीं कहा जा सकता और सिर्फ एक जड़ी-बूटी को गोली नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार द्रव्य यद्यपि गुणों का समुदाय है--गुणों से सर्वथा भिन्न नहीं है फिर भी किसी एक गुण को ही द्रव्य नहीं कहा जा सकता।

दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि द्रव्य अवयवी है, गुण उसका अवयव है, द्रव्य अंशी है और गुण उसका अंश है।

हां, शरीर और द्रव्य में एक अन्तर है। शरीर से उसका कोई अंश पृथक् किया जा सकता है, किसी यन्त्र मन्त्र के द्वारा गोली में से एक जड़ी अलहदा की जा सकती है परन्तु गुण द्रव्य से कभी अलग नहीं किया जा सकता। अनेक तन्तुओं का समूह वस्त्र कह-लाता है। यदि सब तन्तु अलग अलग कर दिये जाएं तो वस्त्रका ही अस्तित्व मिट जायगा। पर द्रव्य में से यदि एक भी गुण अलग हो जाय, जो कि कभी सम्भव नहीं है, तो द्रव्य का अस्तित्व ही न रहे। यही नहीं, उस अलग किये हुए गुण की भी सत्ता नहीं रहेगी, क्योंकि सूत्रकार ने कहा है कि गुण द्रव्याश्रित ही होता है। तब फिर जो द्रव्य में आश्रित न होगा वह गुण कैसे कहलाएगा?

अतएव यह सिद्ध है कि गुण के समूह को द्रव्य कहते हैं और गुण कभी द्रव्य से पृथक् नहीं किये जा सकते ।

शंका—यदि गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं, तो यहां सूत्रकार ने गुणों के आश्रय को द्रव्य क्यों कहा है ? आश्रय तो आश्रय वाले पदार्थ से भिन्न होता है । जैसे-- 'पात्र में दूध है ।' यहां पात्र अलग पदार्थ है और दूध अलग पदार्थ है । इसी प्रकार गुण द्रव्य में रहते हैं तो गुण और द्रव्य भी अलग-अलग होने चाहिए ।

समाधान—आश्रय-आश्रयी का कथन अभेद में भी होता है । 'इस वस्त्र में तन्तु हैं' इस चित्र में रंग हैं' इस स्तम्भ में सार है' यहां वस्त्र और तन्तु में, चित्र तथा रंग में और स्तम्भ एवं सार में अभेद होने पर भी आश्रय-आश्रयी का व्यवहार होता है । इसी प्रकार 'द्रव्य में गुण हैं' ऐसा व्यवहार भी अभेद में हो सकता है ।

शंका—आपने कहा है कि कभी नष्ट न होने वाले अंश को द्रव्य कहते हैं और सदा बदलते रहने वाले अंश को पर्याय कहते हैं । इस कथन में द्रव्य और पर्याय दोनों अंश हैं तो बतलाइए यह किसके अंश हैं और इनका अंशी कौन है ?

समाधान—सत्ता परम तत्त्व है । वह समस्त द्रव्यों, पर्यायों और गुणों में अनुगत है । उसका कोई प्रतिपक्ष नहीं है । उस सत्ता के ही द्रव्य और पर्याय अंश हैं । आगम में कहा है—'उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा' अर्थात् वस्तु प्रतिक्षण उत्पन्न होती है, प्रतिक्षण विनष्ट होती है और ध्रुव भी रहती है अर्थात् ज्यों की त्यों बनी रहती है । यहां उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का एक ही काल में विधान किया गया है । सो ध्रुव रहने वाला अंश द्रव्य है और उत्पन्न तथा विनष्ट होने वाला अंश पर्याय है । वाचक उमास्वाति ने भी कहा है—'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' अर्थात् सत् तत्त्व वही है जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य होता है ।

एक ही वस्तु में उत्पाद और विनाश किस प्रकार होते हैं और वस्तु ध्रुव कैसे बनी रहती है, इसका दिग्दर्शन पहले कराया जा चुका है । आत्मा मनुष्य पर्याय का त्याग कर देव पर्याय को प्राप्त होता है । यहां मनुष्य पर्याय का विनाश, देव पर्याय की उत्पत्ति तथा आत्मा का दोनों अवस्थाओं में विद्यमान रहने के कारण ध्रौव्य है ।

आत्मा में एकान्त रूप से यदि ध्रौव्य ही स्वीकार किया जाय तो वह सदैव अपने मूल स्वभाव में ही स्थित रहेगा । फिर संसार और मोक्ष का भेद भी नष्ट हो जायगा । यदि इन स्वभावों को कल्पित माना जाय तो आत्मा का स्वभाव ही न रहेगा, क्योंकि संसार-मोक्ष के अतिरिक्त आत्मा का और कोई स्वभाव नहीं है । स्वभाव-रहित होने से आत्मा का अभाव हो जायगा, क्योंकि बिना स्वभाव के किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं हो सकता । अतएव आत्मा केवल ध्रौव्य रूप नहीं माना जा सकता ।

आत्मा में ध्रौव्य का सर्वथा अभाव भी नहीं माना जा सकता । अगर आत्मा को उत्पाद और व्यय रूप ही माना जाय तो सत् का सर्वथा अभाव हो जाना मानना पड़ेगा और

असत् की उत्पत्ति माननी पड़ेगी। लेकिन यह सर्वसम्मत है कि—

'नासतो विद्यते भावः नाभावो जायते सतः'

अर्थात् असत् की उत्पत्ति नहीं होती और सत् पदार्थ का कभी नाश नहीं होता।

अतएव वस्तु को ध्रौव्य रूप मानना आवश्यक है पर एकान्त ध्रुव नहीं मानना चाहिए। ध्रौव्य के साथ उत्पाद और व्यय भी प्रतिक्षण होते हैं। जैसे तराजू की डन्डी जिस समय ऊंची होती है उसी समय दूसरी ओर नीची भी होती है और जिस समय नीची होती है उसी समय ऊंची भी होती है। इसी प्रकार जब उत्पाद होता है तब नाश भी अवश्य होता है और जब नाश होता है तब उत्पाद भी अवश्य होता है।

शंका—मनुष्य पर्याय का नाश तो आयु समाप्त होने पर होता है, और आप प्रतिक्षण विनाश और प्रतिक्षण उत्पाद होना कहते हैं। यह कैसे ?

समाधान-हमारा ज्ञान बहुत स्थूल है। उससे सूक्ष्म तत्त्व नहीं जाना जा सकता। किन्तु यदि सावधान होकर विचार किया जाय तो प्रतिक्षण पर्यायों का उत्पाद और विनाश प्रतीत होने लगेगा। इस बात को एक उदाहरण द्वारा समझना चाहिए। बालक जब उत्पन्न होता है तो बहुत छोटा होता है। दश वर्ष की उम्र में वह बड़ा हो जाता है और पच्चीस तीस वर्ष की उम्र में और भी बड़ा होकर अन्त में वृद्ध होता है। अब प्रश्न यह है कि इस बालक में जो अवस्था-भेद हुआ है वह किस समय हुआ ? क्या बालक दशवें वर्ष में एकदम बढ़ गया ? क्या वह तीसवें वर्ष में सहसा युवक हो गया ? क्या वह किसी एक ही क्षण में वृद्ध हो गया ? नहीं। तो क्या प्रतिवर्ष किसी नियत दिन में वह बढ़ जाता है ? ऐसा भी नहीं है। तो क्या उसके बढ़ने का कोई समय निश्चित है? नहीं। तब तो यह मानना चाहिए कि बालक प्रतिक्षण अपनी पहली अवस्था को त्यागता जाता है और प्रतिक्षण नवीन अवस्था को ग्रहण करता जाता है। इसी को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि क्षण-क्षण में बालक की पूर्व पर्याय का विनाश होता है और क्षण-क्षण उत्तर पर्याय की उत्पत्ति होती है।

इस प्रकार उत्पाद और विनाश का क्रम अनादि काल से चलता आ रहा है। प्रतिक्षण में होने वाला यह परिवर्तन बहुत सूक्ष्म है, इसलिए स्थूल दृष्टि से वह दिखाई नहीं देता। किन्तु इस परिवर्तन में जब समय की अधिकता आदि किसी कारण से स्थूलता आती है तब अनायास ही हमारी कल्पना में आजाता है। मगर युक्ति से यह परिवर्त्तन सिद्ध है। अतएव निरन्तर उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य होना ही सत् का लक्षण है। जिसमें यह तीनों नहीं हैं वह असत् है, उसका सद्भाव नहीं माना जा सकता।

जो पर्याय स्थूल होने के कारण सर्वसाधारण की कल्पना में आ जाती है और जो त्रिकालस्पर्शी होती है, उसे व्यंजन पर्याय कहते हैं। जैसे जीव की मनुष्य

पर्याय हमारे अनुभव में आती है और वह त्रिकालस्पर्शी है अर्थात् जो मनुष्य वर्त्तमान है वह कल भूतकाल में भी मनुष्य था और आगामी कल-भविष्य काल में भी मनुष्य रहेगा। अतएव मनुष्य पर्याय जीव द्रव्य की व्यंजन पर्याय है। व्यंजन पर्याय दो प्रकार की होती है-स्वभाव व्यञ्जनपर्याय और विभाव व्यञ्जनपर्याय। जो व्यञ्जनपर्याय त्रिकालस्पर्शी हो किन्तु किसी अन्य कारण (कर्म आदि) से उत्पन्न न होकर स्वाभाविक हो उसे स्वभावव्यञ्जनपर्याय कहते हैं। जैसे जीव की सिद्ध पर्याय। इसके विपरीत जो व्यञ्जनपर्याय कर्म आदि किसी बाह्य निमित्त से होती है वह विभाव व्यञ्जनपर्याय है। जैसे,जीव की मनुष्य पर्याय, देव पर्याय तिर्यञ्च आदि। यह पर्याय कर्म के उदय से होती है, जीव का स्वभाव देव आदि होना नहीं है। अतः यह पर्यायें विभाव व्यंजन पर्यायें हैं।

जो पर्याय सिर्फ वर्त्तमान कालवर्ती ही होती है, जिसके बदल जाने पर भी द्रव्य का आकार नहीं बदलता और जो अत्यन्त सूक्ष्म होती है उसे अर्थपर्याय कहते हैं। इसके भी स्वभाव अर्थपर्याय और विभाव अर्थपर्याय के भेद से दो भेद होते हैं।

पहले द्रव्य को अनन्त गुणों का अखंड पिंड कह चुके हैं। अतएव जब गुणों में विकार होता है तब द्रव्य में भी विकार होना अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त कभी सम्पूर्ण गुणों के पिण्ड रूप समूचे द्रव्य में भी परिवर्तन होता है। यह दोनों प्रकार का परिवर्तन द्रव्य में होता है। द्रव्य में अन्यान्य गुण के समान प्रदेशवत्त्व गुण भी होता है। उसका अभिप्राय यह है कि द्रव्य किसी न किसी आकार में अवश्य रहता है। उस प्रदेशवत्त्व गुण के विकार को अर्थात् द्रव्य के आकार में होने वाले परिवर्त्तन को व्यंजन पर्याय या द्रव्य पर्याय कहते हैं और प्रदेशवत्त्व गुण के सिवाय अन्य गुणों के विकार को अर्थपर्याय या गुणपर्याय कहते हैं। सूत्रकार ने पर्यायों को उभयाश्रित-द्रव्य और गुण में रहने वाली निरूपण किया है, यही उसका आशय है।

अतएव पूर्वोक्त स्वभाव-विभाव व्यंजनपर्याय आदि के दो-दो भेद किये जा सकते हैं। जैसे-स्वभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय और स्वभाव गुण व्यंजन पर्याय; विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय और विभाव गुण व्यंजन पर्याय।

स्वभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय – जैसे चरम शरीर से कुछ कम सिद्ध भगवान् की पर्याय।

स्वभाव गुण व्यंजन पर्याय—जैसे जीव की अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य पर्याय।

विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय जैसे जीव की देव, मनुष्य आदि चौरासी लाख योनिरूप पर्याय।

विभाव गुण व्यंजन पर्याय—जैसे जीव की मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्याय ज्ञान चक्षुदर्शन, आदि पर्याय।

इसी प्रकार पुद्गल द्रव्य का अविभागी परमाणु पुद्गल की स्वभाव द्रव्य-व्यंजन

पर्याय है। वर्ण, रस, गन्ध में एक-एक और दो स्पर्श ये पांच पुद्गल के स्वभाव गुण व्यंजन पर्याय हैं। पुद्गल की द्वयणुक आदि पर्यायें विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय हैं और एक रस से रसान्तर होना, गन्ध से गन्धान्तर होना आदि विभाव गुण व्यंजन पर्याय हैं।

यह स्मरण रखना चाहिये कि धर्म, अधर्म, आकाश और काल, इन चार द्रव्यों में गुणपर्याय या अर्थपर्याय ही होती हैं, क्योंकि इनके प्रदेशवत्व गुण में विकार नहीं होता अर्थात् इनका आकार बदलता नहीं है, जैसा कि जीव और पुद्गल का विकृत अवस्था में बदलता रहता है। इन चारों द्रव्यों का आकार सदैव समान रहता है।

पर्यायें दूसरी तरह से चार प्रकार की होती हैं:—

(१) अनादि अनन्त—जैसे धर्म, अधर्म, द्रव्यों का लोकाकाश प्रमाण आकार होना, सुमेरु, नरक और स्वर्ग की रचना आदि।

(२) सादि अनन्त पर्याय—जैसे सिद्ध पर्याय।

(३) अनादि सान्त पर्याय—भव्यजीव की संसारी पर्याय।

(४) सादि सान्त पर्याय—जैसे पुद्गल स्कंधों का संयोग-विभाग होना।

सूत्रकार ने गुण को सिर्फ द्रव्य में आश्रित होने का विधान किया है। गुण, पर्याय की तरह उभयाश्रित नहीं है। इसका कारण यह है कि गुण नित्य होते हैं और पर्याय अनित्य होती है। ऐसी अवस्था में अनित्य का गुण नित्य कैसे हो सकता है? अतः गुण, पर्याय में नहीं रहता बल्कि पर्याय गुणों में रहती है। द्रव्य के क्रमभावी धर्म को पर्याय कहते हैं और सहभावी धर्म को गुण कहते हैं। गुण, द्रव्य की समस्त पर्यायों में व्याप्त रहता है, अर्थात् द्रव्य चाहे जिस पर्याय में हो पर गुण उस द्रव्य में अवश्य रहेगा। गुण द्रव्य की ही भांति नित्य है। जैसे जीव का कभी विनाश नहीं होता उसी प्रकार उसके ज्ञान और दर्शन गुण का भी कभी नाश नहीं हो सकता। जीव जब निगोद में अत्यन्त निकृष्ट अवस्था में रहता है तब भी उसका ज्ञान गुण विद्यमान रहता है। पर्यायें उत्पन्न और विनष्ट होती रहती हैं। यही पर्याय और गुण में अन्तर है।

यों तो गुणों की संख्या अनन्त है, फिर भी उन्हें मुख्य रूप से दो विभागों में विभक्त किया गया है - (१) सामान्य गुण और (२) विशेष गुण। समस्त द्रव्यों में समान रूप से पाये जाने वाले गुण सामान्य गुण कहलाते हैं और जो सब द्रव्यों में न होकर सिर्फ एक द्रव्य में हों उन्हें विशेष गुण कहते हैं। सामान्य गुण भी यद्यपि अनन्त हैं, तथापि उनमें से मुख्य-मुख्य इस प्रकार हैं:—

(१) अस्तित्व—जिस गुण के कारण द्रव्य का कभी विनाश न हो।

(२) वस्तुत्व—जिस गुण के कारण द्रव्य कोई न कोई अर्थ क्रिया अवश्य करे।

(३) प्रमेयत्व - जिस गुण के कारण द्रव्य किसी ज्ञान द्वारा जाना जा सके।

(४) अगुरुलघुत्व—जिस गुण के कारण द्रव्य का कोई आकार बना रहे, द्रव्य के अनन्त गुण बिखर कर अलग-अलग न हो जाएं।

(५) प्रदेशवत्व—जिस गुण के कारण द्रव्य के प्रदेशों का माप हो सके।

(६) द्रव्यत्व—जिस गुण के कारण द्रव्य सदा एक-सरीखा न रह कर नवीन-नवीन पर्यायों को धारण करता रहे।

विशेष गुण आत्मा में जैसे ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य हैं, पुद्गल में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श हैं, धर्म द्रव्य में गतिहेतुत्व है, अधर्म द्रव्य में स्थितिहेतुत्व है, आकाश में अवगाहनहेतुत्व है और काल में वर्त्तनाहेतुत्व है।

शंका—आपने गुणों को नित्य कहा है पर केवलज्ञान उत्पन्न होने पर मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदि गुणों का नाश हो जाता है। किसी फल का खट्टा रस बदल कर मीठा बन जाता है। किसी वस्तु के सड़ने पर सुगन्ध भी दुर्गन्ध रूप में परिवर्तित हो जाता है। यहां सब जगह गुण का नाश होता हुआ कैसे देखा जाता है?

समाधान—आत्मा का गुण ज्ञान है। मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदि उस ज्ञान गुण की पर्यायें हैं। अतएव मतिज्ञान आदि का नाश होना पर्याय का ही नाश होना है, उसे गुण का विनाश नहीं कह सकते। ज्ञानगुण संसारी अवस्था में और मुक्त दशा में विद्यमान रहता है। इसी प्रकार रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पुद्गल द्रव्य के गुण हैं। लाल, हरा, पीला आदि रूप गुण की पर्यायें हैं। खट्टा, मीठा, चरपरा आदि रस गुण की पर्यायें हैं। सुगन्ध और दुर्गन्ध, गन्ध गुण की पर्यायें हैं। हल्का, भारी, नरम कठोर आदि स्पर्शगुण की पर्यायें हैं। कच्चा फल जब पकता है तब उसके रूप आदि चारों में परिवर्त्तन होता है किन्तु वह परिवर्त्तन पर्यायों का ही होता है। रूप आदि का नाश कदापि नहीं होता। यदि किसी वस्तु के गुण का नाश हो जाय तो उसके समूह रूप द्रव्य का भी नाश हो जायगा और सत् के विनाश का दोष होगा।

ऊपर द्रव्य, गुण और पर्याय का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। इस सम्बन्ध में अनेकानेक एकान्तवाद प्रचलित हैं। कोई एकान्त द्रव्य को ही स्वीकार करता है, कोई सर्वथा पर्यायवादी है। वास्तव में द्रव्य और पर्याय दोनों इस प्रकार मिले हुए हैं कि यदि कोई द्रव्य की ओर झुक कर ही विचार करे तो उसे द्रव्य के अतिरिक्त पर्याय अलग कहीं मालूम नहीं होती और उससे विपरीत कोई एकान्ततः पर्याय की ओर झुक कर विचार करे तो पर्याय ही पर्याय उसे दृष्टिगोचर होती हैं। पर्यायों से भिन्न द्रव्य की सत्ता का कहीं दर्शन नहीं होता। संसार में कहीं भी दृष्टि दौड़ाइए, आपको जो कुछ दिखाई देगा वह पुद्गल द्रव्य की पर्याय ही है। जीव के विषय में विचार करने पर भी जीव की कोई न कोई पर्याय ही आपके ध्यान में आएगी। कहा भी है--

अपर्ययं वस्तु समस्यमानं, अद्रव्यमेतच्च विविच्यमानम्।

अर्थात् वस्तु को यदि द्रव्य--दृष्टि से देखा जाय तो वह पर्याय--रहित प्रतीत होगी और उसी को यदि पर्याय--दृष्टि से देखा जाय तो वही वस्तु द्रव्य-रहित प्रतीत होने लगेगी।

वास्तव में उक्त दोनों दृष्टियां अपनी-अपनी सीमा में मिथ्या नहीं हैं क्योंकि

वस्तु दोनों रूप है। किन्तु जब एक दृष्टि दूसरी दृष्टि का विरोध करके-उसे मिथ्या मानकर अपने ही विषय को सम्यक् प्रतिपादन करती है तब वह दृष्टि असम्पूर्ण वस्तुतत्त्व को सम्पूर्ण प्रतिपादन करने के कारण मिथ्या बन जाती है। सम्पूर्ण वस्तु तत्त्व का अवलोकन करने के लिए सापेक्ष दृष्टि होनी चाहिए। सापेक्ष दृष्टि का तात्पर्य यह है कि एक दृष्टि मे विरोधी प्रतीत होने वाली दूसरी दृष्टि के लिए उसमें गुंजाइश रहनी चाहिए। अर्थात् पर्याय-दृष्टि में द्रव्य दृष्टि को भी अवकाश होना चाहिए और द्रव्य दृष्टि में पर्याय दृष्टि को अवकाश होना चाहिए। इसीको सापेक्षवाद, सापेक्ष दृष्टि या नयवाद कहते हैं।

वस्तु के अनन्त धर्मों के संबंध में अनन्त दृष्टियां हो सकती हैं, अतः नय के भेद भी अनन्त हैं। आगम में कहा है—

जावइया वयणपहा तावइया चेव हुंति नयवाया ॥

अर्थात् वचन के जितने प्रकार हो सकते हैं, उतने ही प्रकार के नय भी हैं। किन्तु संक्षेप में नय के दो भेद किये गये हैं—(१) द्रव्यार्थिक नय और (२) पर्यायार्थिक नय। जो नय मुख्य रूप से द्रव्य को विषय करता है उसे द्रव्यार्थिक नय कहते हैं और जो पर्याय को मुख्य रूप से अपना विषय बनाता है वह पर्यायार्थिक नय कहलाता है।

यहां यह न भूल जाना चाहिए कि द्रव्यार्थिक नय का मुख्य विषय यद्यपि द्रव्य ही है, अर्थात् वह प्रत्येक वस्तु को द्रव्य के रूप में ही देखता है किन्तु वह पर्यायों का निषेध नहीं करता—वह पर्यायों को सिर्फ गौण करता है। इसी प्रकार पर्याय—नय वस्तुतत्त्व को पर्याय के रूप में ही देखता है, फिर भी वह द्रव्य का निषेध नहीं करता। जो नय अपने विषय का ग्राहक होकर भी दूसरे नय का निषेधक न हो वही नय कहलाता है और जो दूसरे नय का निषेध करके प्रवृत होता है वह दुर्नय कहलाता है। कहा भी है—

अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं तदंशधीः।
नयो धर्मान्तरापेक्षी, दुर्नयस्तन्निराकृतिः ॥

अर्थात् अनेक धर्म रूप पदार्थ को विषय करने वाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है, और उस पदार्थ के एक अंश (धर्म) को नय विषय करता है। नय दूसरे धर्म की अपेक्षा रखता है और दुर्नय दूसरे धर्म का निराकरण करता है।

शंका - जैसे द्रव्य को विषय करने वाला द्रव्यार्थिक नय और पर्याय को विषय करने वाला पर्यायार्थिक नय आपने कहा, उसी प्रकार गुण को विषय करने वाला गुणार्थिक नय भी कहना चाहिए। वह क्यों नहीं बतलाया ?

समाधान—गुण का पर्याय में ही अन्तर्भाव होता है। पर्याय दो प्रकार की होती है-सहभावी पर्याय और क्रमभावी पर्याय। सहभावी पर्याय को गुण कहा जाता है और क्रमभावी पर्याय को पर्याय कहा है। यहां पर्यायार्थिक में जो पर्याय शब्द है वह व्यापक है दोनों का वाचक है। अतएव गुणार्थिक पृथक् नहीं बतलाया गया

है। कहा भी है—

गुणः पर्याय एवात्र, सहभावी विभावितः।
इति तद्गोचरो नान्यस्तृतीयोऽस्ति गुणार्थिकः॥

अर्थात्—सहभावी पर्याय ही गुण कहलाता है अतएव गुण को विषय करने वाला गुणार्थिक नय तीसरा नहीं है।

द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद हैं—(१) नैगम (२) संग्रह और (३) व्यवहार।

(१) नैगम नय दो धर्मों में से किसी एक धर्म की, दो धर्मियों में से एक धर्मी की तथा धर्म धर्मी में से किसी एक की मुख्य रूप से विवक्षा करना और दूसरे की गौण रूप से विवक्षा करना नैगम नय कहलाता है नैगम नय की प्रवृत्ति अनेक प्रकार से होती है। वह संकल्प मात्र का भी ग्राहक होता है। जैसे कोई पुरुष ईंधन-पानी आदि इकट्ठा कर रहा है, उससे कोई पूछता है कि आप क्या कर रहे हैं? वह उत्तर देता है—'चांवल पकाता हूं।' यह नैगम नय का विषय है। इसी प्रकार देश-देश में प्रचलित शब्दों के सामान्य और विशेष अंशों को प्रकाशित करने के लिए एक देश और सर्व देश को ग्रहण करना नैगम का विषय है।

(२) संग्रह नय—सिर्फ सामान्य को विषय करने वाला अभिप्राय संग्रह नय कहलाता है। इसके दो भेद हैं - (१) परसंग्रह और (२) अपर संग्रह। समस्त विशेषों में उपेक्षा रख कर सत्ता मात्र शुद्ध तत्त्व को विषय करने वाला परसंग्रह कहलाता है और द्रव्यत्व, गोत्व, मनुष्यत्व, जीवत्व, आदि अवान्तर सामान्यों को विषय करने वाला अपर सामान्य कहलाता है। जैसे सत्ता ही परम तत्त्व है और द्रव्यत्व ही तत्त्व है।

(३) व्यवहारनय-संग्रहनय के द्वारा विषय किये हुए सामान्य में विधिपूर्वक भेद करने वाला व्यवहारनय कहलाता है। जैसे जो सत् होता है वह द्रव्य और पर्याय के भेद से दो प्रकार का है।

पर्यायार्थिक नय चार प्रकार का है—(१) ऋजुसूत्र (२) शब्द (३) समभिरूढ़ और (४) एवंभूत।

(१) ऋजुसूत्र - वर्तमान क्षणवर्ती पर्याय को मुख्य रूप से प्रतिपादन करने वाला नय ऋजुसूत्र नय कहलाता है। जैसे इस समय सुख पर्याय है। यहां सुख के आधारभूत आत्मा द्रव्य को गौण करके उसकी विवक्षा नहीं करता, सिर्फ सुख पर्याय को यह विषय करता है।

(२) शब्दनय—काल कारक, लिंग, वचन आदि का भेद होने के कारण जो शब्द के वाच्य पदार्थ में भी भेद मान लेता है, उसे शब्द नय कहते हैं। जैसे—सुमेरु था, सुमेरु है, सुमेरु होगा। यहां शब्दों में काल का भेद होने से यह नय सुमेरु को भी तीन भेद रूप स्वीकार करता है।

(३) समभिरूढ नय—काल. कारक आदि का भेद न होने पर भी सिर्फ पर्याय

वाची शब्द के भेद से वाच्य पदार्थ में भेद मानता है। जैसे-इन्द्र, शक्र पुरन्दर आदि शब्दों के वाच्य अर्थ को अलग- अलग मानता है। तीनों शब्दों में काल, कारक आदि का भेद न होने से शब्द नय इन्हें एक देवराज का ही वाचक स्वीकार करता है, किन्तु समभिरूढ नय तीनों शब्दों का भिन्न-भिन्न अर्थ समझता है।

(४) एवंभूत नय—यह नय सबसे सूक्ष्म है। इस नय की दृष्टि में कोई भी शब्द ऐसा नहीं है जो क्रिया का वाचक न हो। इसके मत से 'गच्छतीति गौः' अर्थात् जो गमन करता है वह गौ कहलाता है। 'आशुगमनात् अश्वः' अर्थात् जो जल्दी-जल्दी चलता है अश्व कहलाता है। इसी प्रकार प्रत्येक शब्द से किसी न किसी क्रिया का भान होता है, अतएव जिस शब्द से जिस क्रिया का भान होता है, वह क्रिया करते समय ही उस शब्द से किसी को कहना चाहिए, अन्य समय में नहीं। उदाहरणार्थ-'गौ' का अर्थ गमन करने वाला है। अतएव गाय जब गमन करती हो तभी उसे 'गौ कहना चाहिए, जब खड़ी हो तब नहीं। इसी प्रकार पाचक (रसोइया) को पाचक तभी कहना चाहिए जब वह किसी चीज को पका रहा हो-अन्य समय में नहीं। पाचन--क्रिया न होने पर भी यदि किसी को पाचक कहा जाय तो फिर चाहे जिसे पाचक कहा जाना चाहिए। यह एवंभूत नय का अभिप्राय है।

तीन द्रव्यार्थिक और चार पर्यायार्थिक नय मिलाने से सात भेद होते हैं। इन भेदों के स्वरूप को सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो प्रतीत होगा कि यह उत्तरोत्तर सूक्ष्म होते हैं। नैगम नय सामान्य और विशेष दोनों को ग्रहण करता है, पर संग्रह नय विशेष की उपेक्षा करके सिर्फ सामान्य को ही अपना विषय बनाता है। व्यवहार नय सामान्य में भी भेद करके उनको प्रकाशित करता है। मगर व्यवहार नय त्रैकालिक वस्तु को विषय करता है जब कि ऋजुसूत्र नय उससे भी अधिक सूक्ष्म होने के कारण सिर्फ वर्त्तमान पर्याय को ही मान्य करता है।

ऋजुसूत्र नय काल, कारक आदि का भेद होने पर भी वस्तु की एकता को स्वीकार करता है परन्तु शब्द नय काल आदि के भेद से वस्तु में भेद मान लेता है, अतएव शब्द ऋजुसूत्र से अधिक सूक्ष्म है। शब्द नय पर्यायवाची शब्दों के भेद से वस्तु-भेद नहीं मानता पर समभिरूढ नय शब्द-भेद से ही वस्तु-भेद अंगीकार करता है। और एवंभूत नय तो तथाविध क्रिया में परिणत वस्तु को ही उस शब्द का वाच्य मानता है।

इस प्रकार नय उत्तरोत्तर संक्षिप्त विषय वाले होते गये हैं। इन सात में से पहले के चार नय मुख्य रूप से पदार्थ का प्ररूपण करने के कारण अर्थनय कहलाते हैं और अन्तिम तीन नय शब्द के प्रयोग की शक्यता का निरूपण करने के कारण शब्दनय कहलाते हैं।

जैसा कि पहले कहा गया है, नय तभी सच्चा कहलाता है जब वह अपने विषय को मुख्य रखता हुआ भी दूसरे नय का विरोध न करे। जो नय एकान्ततः अपने विषय को स्वीकार कर दूसरे नय का निषेध करता है वह दुर्नय या मिथ्या

नय कहलाने लगता है। यह दुर्नय ही जगत् में अनेक प्रकार के एकान्तवादों का जनक है। यथा-अद्वैतवाद एकान्त संग्रह नयाभास से उत्पन्न हुआ है। नैगम नयाभास से वैशेषिक मत की उत्पत्ति हुई है—जो गुण और गुणी में सर्वथा भेद स्वीकार करता है। एकान्त व्यवहार नय से चार्वाक मत का निकास हुआ है—जो कि स्थूल लोकव्यवहार का अनुसरण करता है। ऋजुसूत्र नयाभास से बौद्धमत का उद्गम हुआ है—जो प्रत्येक पदार्थ को एक वर्त्तमान क्षणस्थायी ही स्वीकार करता है। इसी प्रकार एकान्त शब्द, समभिरूढ और एवंभूत-इन तीन शब्द नयाभासों से विभिन्न वैयाकरणों की अनेक मिथ्या कल्पनाएं उद्भूत हुई हैं।

बात यह है कि वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। उन अनन्त धर्मों में से किसी एक धर्म को जानना दोष नहीं है किन्तु एक धर्म को जान कर अन्य धर्मों का निषेध करना दोष है। ऐसा करने से अपूर्ण वस्तु ही सम्पूर्ण प्रतीत होती है। इस विषय में सात अन्धों का दृष्टांत प्रसिद्ध है। अतएव समग्र वस्तुस्वरूप का यथार्थ और पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए अनेक नयों के अभिप्राय को ध्यान में रखना चाहिए। इसी को 'स्याद्वाद-सिद्धान्त' कहते हैं। स्याद्वाद-सिद्धान्त सम्पूर्ण सत्य की प्रतीति कराता है और साथ ही एकान्तवाद से उत्पन्न होने वाले मत-मतान्तरों सम्बन्धी क्लेशों का उपशमन करता है। स्याद्वाद संसार को यह शिक्षा देता है कि—तुम अपने दृष्टिकोण को सत्य समझो, पर जो दृष्टिकोण तुम्हें अपना विरोधी प्रतीत होता है, उसकी सत्यता को भी समझने का प्रयत्न करो। उसे मिथ्या कहकर अगर उसे अस्वीकार करोगे तो तुम स्वयं मिथ्यावादी बन जाओगे, क्योंकि विरोधी दृष्टिकोण में भी उतनी ही सचाई है जितनी तुम्हारे दृष्टिकोण में है। तुम उसे मिथ्या कहते हो तो तुम स्वयं अपने दृष्टिकोण को मिथ्या बनाते हो।

प्रश्न—परस्पर विरोधी दोनों दृष्टिकोण सत्य कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर—प्रत्येक दो दृष्टिकोणों को 'परस्पर विरोधी' समझना ही मिथ्या है। जो दृष्टिकोण सापेक्ष होते हैं वे विरोधी नहीं होते। सापेक्षता उनके विरोध रूपी विष को नष्ट कर देती है। 'यह पुरुष मनुष्य है, पशु नहीं है' यहां एक ही पुरुष में अस्तित्व और नास्तित्त्व का प्रतिपादन किया गया है। अस्तित्व और नास्तित्व परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। यदि अपेक्षा पर ध्यान दिया जाय अर्थात् यह सोचा जाय कि मनुष्य की अपेक्षा पुरुष में अस्तित्व है और पशु की अपेक्षा से नास्तित्व है, तो विरोध नष्ट हो जाता है।

सांख्य एकान्त रूप से नित्यतावादी है और बौद्ध एकान्त रूप से अनित्यतावादी है। यह दोनों दर्शन परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते हैं किन्तु यदि द्रव्य की अपेक्षा नित्यता स्वीकार की जाय और पर्याय की अपेक्षा अनित्यता मान ली जाय तो दोनों का विरोध समाप्त हो जाता है। वस्तु के प्रत्येक धर्म के सम्बन्ध में सात भंग किये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ-'नित्यत्व' धर्म के सात भंग इस प्रकार हैं-(१) जीव कथंचित् नित्य है (२) कथंचित् अनित्य है। (३) कथंचित् नित्यानित्य है (४) कथंचित् अवक्तव्य है(५)कथंचित् नित्य अवक्तव्य है(६)कथंचित् अनित्य अवक्तव्य है(७)कथंचित्

नित्य-अनित्य अवक्तव्य है ।

इन सात भंगों में पहले के दो भंग मूल हैं और शेष इन्हीं दोनों से निष्पन्न हुए हैं। जीव द्रव्यार्थिक नय से नित्य है, क्योंकि जीव द्रव्य का कभी विनाश नहीं होता। जीव पर्यायर्थिक नय से अनित्य है क्योंकि जीव की पर्यायें प्रतिक्षण नष्ट होती रहती है । दोनों नयों की क्रमशः अपेक्षा से जीव नित्यानित्य है । दोनों की एक साथ विवक्षा से जीव किसी भी एक शब्द द्वारा नहीं कहा जा सकता अतः अवक्तव्य है। द्रव्यार्थिक नय और एक साथ दोनों नयों की अपेक्षा जीव नित्य अवक्तव्य है! पर्यायार्थिक नय और दोनों की एक साथ अपेक्षा हो तो जीव अनित्य अवक्तव्य है । दोनों की क्रम से और एक साथ अपेक्षा से जीव नित्य-अनित्य-अवक्तव्य है।

जैसे नित्यत्व धर्म को लेकर सात भंगों की योजना की गई है उसी प्रकार अस्तित्व, एकत्व, अनेकत्व आदि सभी धर्मों के सम्बन्ध में सात भंग योजित किये जा सकते हैं । जैनदर्शन में इसे 'सप्तभंगी' कहा गया है । अनन्त धर्मों की अनन्त सप्तभंगियां हो सकती हैं ।

नय वस्तुतः प्रमाण का एक अंश है । श्रुतज्ञान के द्वारा ग्रहण की हुई अनन्त धर्मात्मक वस्तु में से, अन्य धर्मों के प्रति उपेक्षा रखते हुए, किसी एक धर्म को मुख्य करके ग्रहण करना नय कहलाता है । प्रमाण और नय-दोनों के द्वारा वस्तु के असली स्वरूप का ज्ञान होता है । अतएव जिज्ञासुओं को इनका स्वरूप भलीभांति समझ कर तत्त्व का निश्चय करना चाहिए । विस्तार भय से यहां दिग्दर्शन मात्र कराया गया है।

सूत्रकार ने द्रव्य को गुणों का आश्रय बतलाया है। सो यह नहीं समझना चाहिए कि द्रव्य के अलग-अलग प्रदेश में अलग-अलग गुण हैं । द्रव्य के प्रत्येक प्रदेश में समस्त गुणों की सत्ता है अर्थात् पुद्गल द्रव्य के जिस प्रदेश में रूप है, उसी में रस आदि अनन्त गुण हैं । इसी प्रकार जीव द्रव्य के जिस प्रदेश में ज्ञान गुण है उसी प्रदेश में शेष दर्शन आदि अनन्त गुण भी हैं । तात्पर्य यह है कि द्रव्य का प्रत्येक प्रदेश अनन्त-अनन्त गुणों का आधार है । यहां 'गुणाणं' यह बहु वचनान्त पद अनन्तता का द्योतक है । इसी प्रकार अन्य बहुवचनान्त पदों की भी यथोचित व्यवस्था कर लेना चाहिए।

वैशेषिक लोग द्रव्य और गुण को सर्वथा भिन्न मानकर दोनों में समवाय संबंध स्वीकार करते हैं । किन्तु समवाय को उन्होंने एक, व्यापक और नित्य माना है अतएव वह प्रतिनियत गुण का प्रतिनियत द्रव्य में ही सम्बन्ध नहीं कर सकता । अतः उनका कथन युक्तिशून्य है। वस्तुतः द्रव्य और गुण कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न हैं । यह चर्चा ऊपर की जा चुकी है।

मूलः—एगत्तं च पुहुत्तं च, संखा संठाणमेव य ।
संजोगा य विभागा य, पज्जवाणं तु लक्खणं ॥१६॥

छाया—एकत्वञ्च पृथक्त्वञ्च संख्या संस्थानमेव च ।
संयोगाश्च विभागाश्च, पर्यवानां तु लक्षणम् ॥१६॥

शब्दार्थ—एकत्व, पृथक्त्व (भिन्नता, संख्या, संस्थान (आकार), संयोग और विभाग, यह सब पर्यायों के लक्षण हैं।

भाष्य—द्रव्य, गुण और पर्याय के स्वरूप का प्रतिपादन करने के पश्चात् पर्यायों के विषय में अन्यतीर्थी लोगों के भ्रम का निराकरण करने के लिए पर्यायों का विशेष रूप से विवेचन किया गया है।

'यह एक है' इस प्रकार के व्यवहार का कारणभूत पर्याय 'एकत्व' है 'यह इससे भिन्न है' इस प्रकार का व्यवहार जिस धर्म के कारण होता है उसे पृथक्त्व कहते हैं। जिसके द्वारा दो, तीन, चार, संख्यात, असंख्यात आदि का व्यवहार होता है उसे संख्या कहते हैं। लम्बा, चौड़ा, चपटा, गोल, तिकोना, चौकोर आदि पदार्थों के आकार को संस्थान कहते हैं। सान्तर रूपता को त्याग कर वस्तु का निरन्तर (अन्तर रहित) रूप में उत्पन्न होना संयोग कहलाता है और निरन्तर रूपता का परित्याग करके सान्तर (अन्तर सहित) रूप अवस्था में परिणत होना विभाग कहलाता है।

यह सब पदार्थों की पर्यायें हैं। वैशेषिक लोग संख्या, पृथक्त्व, संयोग, विभाग आदि को द्रव्य से सर्वथा भिन्न गुण मानते हैं, सो ठीक नहीं है।

संख्या, संख्येय पदार्थ से भिन्न प्रतीत नहीं होती है, अतएव उसे उससे भिन्न मानना उचित नहीं है। अगर कहा जाय कि दृश्य न होने के कारण संख्या दिखाई नहीं देती है। जैसे परमाणु का अस्तित्व तो है परन्तु वह दृश्य न होने से हमें दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार संख्या भी। लेकिन जैसे परमाणु का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है उसी प्रकार संख्या का भी अस्तित्व स्वीकार करना चाहिए।

वैशेषिकों का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उन्होंने संख्या को अदृश्य नहीं किन्तु दृश्य माना है। उनका सूत्र इस प्रकार है -'संख्यापरिमाणानि पृथक्त्वं संयोग-विभागौ परत्वापरत्वे कर्म च रूपिसमवायाच्चाक्षुषाणीति'। यहां संख्या को चक्षु-इन्द्रिय का विषय बताया गया है। अतः चक्षु का विषय होने पर भी संख्या, संख्येय पदार्थ से भिन्न नहीं प्रतीत होती, इसलिए उसे संख्येय पदार्थ की ही पर्याय मानना चाहिए, पृथक् नहीं।

शंका—'यह पुरुष दण्डी है' इस प्रकार का ज्ञान अकेले पुरुष को देखने से नहीं होता। पुरुष के सिवाय दण्ड (डन्डा) का दिखाई देना आवश्यक है। इसी प्रकार यह एक पुरुष है' इस प्रकार का ज्ञान अकेले पुरुष से नहीं होता। उसके लिए पुरुष के अतिरिक्त और भी कोई कारण होना चाहिए। वह अतिरिक्त कारण ही संख्या है। इससे संख्या, पुरुष से अलग है यह बात सहज ही मालूम होती है।

समाधान—'यह एक पुरुष है' इस ज्ञान के लिए पुरुष में रहने वाली, परन्तु पुरुष से भिन्न संख्या की आवश्यकता समझते हो तो 'यह एक गुण है' इस ज्ञान के

लिए भी गुण में रहने वाली पृथक् संख्या माननी पड़ेगी। क्योंकि दोनों ज्ञान समान हैं।

शंका—गुण में भी संख्या मान लेंगे। क्योंकि 'यह एक गुण है' इस प्रकार का ज्ञान संख्या माने बिना नहीं हो सकता।

समाधान—यदि गुण में संख्या मानोगे तो गुण में गुण रह जायगा। गुण में गुण नहीं रहता, यह आप और हम दोनों स्वीकार करते हैं। संख्या को आप गुण मानते हैं, फिर भी यदि वह गुण में रहने लगे तो 'गुण में गुण' न रहने की मान्यता खंडित हो जायगी।

अतएव जैसे गुण से अलग 'संख्या' गुण में न होने पर भी 'यह एक गुण है' इस प्रकार का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार पुरुष से अलग 'संख्या' पुरुष में न रहने पर भी 'एक पुरुष है' इस प्रकार का ज्ञान हो सकता है। ऐसी अवस्था में संख्या को द्रव्य से सर्वथा भिन्न मानना युक्ति से विरुद्ध है। सूत्रकार ने संख्या को द्रव्य की पर्याय बतलाता है, वही समुचित है।

इसी प्रकार पृथक्त्व को भी पदार्थ से सर्वथा भिन्न नहीं मानना चाहिए। पदार्थ स्वयं ही एक दूसरे से भिन्न (पृथक्) प्रतीत होते हैं। उन्हें भिन्न जताने के लिए पृथक्त्व नामक भिन्न गुण की आवश्यकता ही नहीं है। पृथक्त्व गुण को दृश्य मानने पर भी संख्या की भांति प्रतीति भी कभी नहीं होती। यदि घट से पट भिन्न है, इस प्रकार का ज्ञान भिन्न पृथक्त्व के बिना नहीं हो सकता तो 'रूप से रस भिन्न है' यह ज्ञान भी पृथक्त्व से ही मानना होगा और इस अवस्था में रूप आदि गुणों में पृथक्त्व गुण का अस्तित्व रह जायगा। फिर गुण निर्गुण होता है, यह सिद्धान्त मिथ्या ठहरेगा। अतएव पृथक्त्व को भी पदार्थ से कथंचित् अभिन्न पदार्थ का धर्म ही स्वीकार करना चाहिए।

जब दो वस्तुएं अपनी सान्तर अवस्था को त्याग कर निरन्तर अवस्था को प्राप्त होती हैं, तब वे संयुक्त कहलाती हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि संयोग उन दोनों पदार्थों से भिन्न तीसरी वस्तु नहीं है, किन्तु उन दो पदार्थ की ही अवस्था-पर्याय है। यदि वह तीसरी वस्तु होती तो जैसे संयुक्त दो पदार्थ दिखाई देते हैं वैसे तीसरा संयोग भी दिखाई देता। आप संयोग को अदृश्य कह नहीं सकते क्योंकि उसे चक्षु-इन्द्रिय का विषय मानते हैं। अतएव चाक्षुष होने पर भी जब संयोग चक्षु-ग्राह्य नहीं है तब उसका पृथक् सद्भाव मानना प्रतीति विरुद्ध है।

संयोग का अभाव विभाग कहलाता है। विभाग अभाव रूप है और अभाव को आप एक स्वतंत्र ही पदार्थ मानते हैं। ऐसी अवस्था में उसे गुण रूप कैसे मान सकते हैं? वस्तुतः विभाग भी संयोग की ही भांति द्रव्य की अवस्था विशेष है अतएव उसे द्रव्य से सर्वथा भिन्न नहीं मानना चाहिए। विस्तार भय से इस विषय की विस्तृत चर्चा नहीं की गई है। जिज्ञासुओं को यह विषय अन्यत्र देखना चाहिए।

पदार्थ की आकृति को संस्थान कहते हैं। संस्थान भी पदार्थ की ही एक पर्याय है। पदार्थ जब अपने कारणों से उत्पन्न होता है तब किसी संस्थान-स्वरूप ही उत्पन्न

होता है। जब पदार्थ की व्यंजन पर्याय परिवर्तित होती है तब संस्थान भी परिवर्तित होता है या संस्थान-परिवर्त्तन से पर्याय-परिवर्त्तन हो जाता है। संस्थान कोई नियताकार होता है, कोई अनियताकार होता है।

शंका - मूल गाथा में संख्या' को पर्याय रूप प्रतिपादन किया है। तब संख्या में एक से लेकर आगे की समस्त अनन्तानन्त पर्यन्त संख्याओं का समावेश हो जाता है। 'एक' संख्या भी उसी में अन्तर्गत है। तब उसका 'एगत्तं' पद देकर अलग क्यों निर्देश किया गया है ? यदि एकत्व का अलग निर्देश किया गया तो द्वित्व, त्रित्व आदि का उल्लेख अलग क्यों नहीं किया गया ?

समाधान—गुणाकार या भागाकार करने से जिसमें क्रमशः वृद्धि और हानि होती है उसे संख्या माना गया है। एक से गुणाकार किया जाय तो संख्या की वृद्धि नहीं होती और भागाकार किया जाय तो हानि नहीं होती। अतएव एक को संख्या न मानकर संख्या का मूल माना गया है। यही आशय प्रकट करने के लिए सूत्रकार ने 'एगत्तं' और 'संख्या' ये अलग-अलग पद दिये हैं।

किसी भी संख्या के साथ दो-तीन आदि का गुणाकार-भागाकार करने से वृद्धि-हानि होता है इसलिए उन्हें संख्या में ही समाविष्ट किया गया है और इसी कारण उनका अलग उल्लेख नहीं किया है।

प्रश्न - पृथक्त्व और विभाग का एक ही अर्थ है। इन दोनों का सूत्रकार ने अलग उल्लेख क्यों किया है ?

उत्तर—यह पहले ही कहा जा चुका है कि वैशेपिकों की भ्रान्ति-निवारण के लिए यह गाथा है। वैशेषिक लोग पृथक्त्व और विभाग नामक दोनों गुणों को अलग-अलग स्वीकार करते हैं और दोनों का अर्थ भी अलग-अलग मानते हैं; अतएव सूत्रकार ने भी उन्हें अलग-अलग कहा है। दोनों के अर्थ में वैशेपिक यह भेद करते हैं-पहले मिले हुए दो पदार्थों के अलग-अलग हो जाने पर भेद-ज्ञान कराने का कारणभूत गुण विभाग कहलाता है और संयुक्त (मिले हुए) पदार्थों में भी 'यह इससे भिन्न है' इस प्रकार का ज्ञान कराने वाला गुण पृथक्त्व कहलाता है। तात्पर्य यह है कि विभाग तो तभी होता है जब एक पदार्थ दूसरे से अलग हो जावे, पर पृथक्त्व संयुक्त रहते हुए भी विद्यमान रहता है। यही दोनों में अन्तर है। वैशेषिकों द्वारा स्वीकृत इस अन्तर को लक्ष्य करके सूत्रकार ने दोनों का पृथक् उल्लेख कर दिया है।

'लक्ष्यते अनेन—इति लक्षणम्' अर्थात् जिससे वस्तु का स्वरूप लखा जाय-जाना जाय उसे लक्षण कहते हैं। लक्षण दो प्रकार का होता है-(१) आत्मभूत और (२) अनात्मभूत। जो लक्षण लक्ष्य वस्तु में मिला हुआ होता है और उस वस्तु से अलहदा नहीं किया जा सकता, वह आत्मभूत लक्षण कहलाता है। जैसे जीव का चेतना लक्षण। जीव से चेतना अलग नहीं हो सकती अतएव यह लक्षण आत्मभूत है। अनात्मभूत लक्षण उसे कहते हैं जो वस्तु से अलग हो सके, जैसे दण्डी पुरुष का

लक्षण दण्ड । दण्ड पुरुष से अलग हो सकता है, अतएव वह अनात्मभूत लक्षण है। यहां पर्याय का एकत्व, पृथक्त्व आदि जो लक्षण बताया गया है वह पर्याय से भिन्न नहीं हो सकता अतएव वह आत्मभूत लक्षण है।

लक्षण के तीन दोष माने गये हैं—(१) अव्याप्ति (२) अतिव्याप्ति और (३) असम्भव।

(१) अव्याप्ति—जो लक्षण सम्पूर्ण लक्ष्य में न रहे वह अव्याप्ति दोष वाला होता है। जैसे-पशु का लक्षण सींग यहां पशु लक्ष्य है, क्योंकि पशु का लक्षण बताया जा रहा है। सींग लक्षण है। यह सींग लक्षण सम्पूर्ण पशुओं में नहीं रहता-घोड़ा, हाथी, सिंह आदि पशु बिना सींग के पशु हैं। अतएव 'सींग' लक्षण अव्याप्त है।

(२) अतिव्याप्ति—जो लक्षण, लक्ष्य के अतिरिक्त अलक्ष्य में भी रह जाय वह अतिव्याप्ति दोष वाला कहलाता है। जैसे-त्रस जीव का लक्षण चेतना। यहां चेतना त्रस जीव का लक्षण कहा गया है किन्तु वह त्रस जीव के अतिरिक्त स्थावर जीव में भी पाया जाता है। अतएव लक्ष्य त्रस जीव और अलक्ष्य स्थावर जीव-दोनों में विद्यमान रहने के कारण यह लक्षण अतिव्याप्त है।

(३) असंभव-जो लक्षण, लक्ष्य के एकदेश या सर्वदेश में न रहे वह असंभव दोष से दूषित कहलाता है, जैसे-मनुष्य का लक्षण सींग। यहां मनुष्य लक्ष्य है और सींग लक्षण है। पर सींग किसी भी मनुष्य के नहीं होते अतएव यह लक्षण लक्ष्य में सर्वथा न रहने के कारण असम्भव है लक्षणाभास है।

एकत्व आदि को पर्याय का लक्षण कहने का उद्देश्य यहां यह है कि एकत्व आदि स्वयं पर्याय-स्वरूप हैं, पर्याय से भिन्न-अन्य नहीं हैं फिर भी एकत्व आदि के द्वारा पर्याय का ज्ञान होता है।

इस प्रकार द्रव्य और पर्याय का विवेचन समाप्त होता है। द्रव्य और पर्याय की प्ररूपणा ही जैनागम का प्राण है। इसे भली भांति हृदयंगम करके भव्य प्राणियों को सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

षट्-द्रव्य-निरूपण नामक प्रथम अध्ययन

:- सम्पूर्ण :-
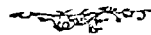
❀ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ❀

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

॥ द्वितीय अध्याय ॥

कर्मनिरूपण

मूलः—अट्ठकम्माइं वोच्छामि, आणुपुव्विं जहक्कमं ।
जेहिं बद्धो अयं जीवो, संसारे परियत्तइ ॥१॥

छाया—अष्टकर्माणि वक्ष्यामि, आनुपूर्व्या यथाक्रमम् ।
यैर्बद्धोऽयं जीवः, संसारे परिवर्त्तते ॥ १ ॥

शब्दार्थ—श्रमण भगवान महावीर कहते हैं—हे गौतम ! आठ कर्मों को, आनुपूर्वी से क्रमवार कहता हूं । जिन कर्मों से बंधा हुआ यह जीव संसार में नाना रूप धारण करता है ।

भाष्यः—प्रथम अध्ययन में षट् द्रव्यों का निरूपण करते हुए, आत्म--निरूपण के प्रकरण में कर्म--बन्ध का उल्लेख किया गया है और 'अप्पा कत्ता विकत्ता य' यहां आत्मा को कर्मों का कर्त्ता प्रतिपादन किया है । अतएव यह बताना भी आवश्यक है कि कर्म क्या हैं ? यही बताने के लिए कर्म-निरूपण नामक द्वितीय अध्ययन आरम्भ किया जाता है ।

संस्कृत भाषा में कर्म शब्द की अनेक व्युत्पत्तियां की गई हैं । जैसे—'जीवं परतन्त्रीकुर्वन्ति-इति कर्माणि' अर्थात् जीव को जो परतन्त्र करते हैं वे कर्म कहलाते हैं । अथवा 'जीवेन मिथ्यादर्शनादिपरिणामैः क्रियन्ते-इति कर्माणि ।' अर्थात् मिथ्या दर्शन आदि रूप परिणामों से युक्त होकर जीव के द्वारा जो उपार्जन किये जाते हैं उन्हें कर्म कहते हैं । प्राकृत में भी इसी प्रकार की व्युत्पत्ति देखी जाती है—'कीरइ जिएण हेउहिं जेणंतो भएणए कम्म' अर्थात् मिथ्यात्व अविरति आदि हेतुओं से जीव के द्वारा जो किया जाता है—कार्मण वर्गणा के पुद्गल आत्मा के साथ एकमेक किये जाते हैं-- वही कर्म है ।

यों तो और भी कई व्युत्पत्तियां कर्म शब्द की हो सकती हैं, पर उनसे कोई मौलिक बात प्रतीत नहीं होती । ऊपर जो दो प्रकार की व्युत्पत्ति का दिग्दर्शन कराया गया है, उससे दो बातें झलकती हैं:-

(१) प्रथम व्युत्पत्ति से यह प्रतीत होता है कि कर्मों में जीव को परतन्त्र बनाने का स्वभाव है ।

(२) दूसरी व्युत्पत्ति से यह प्रतीत होता है कि जीव का स्वभाव मिथ्यात्व आदि से युक्त होकर परतन्त्र रूप हो जाने का है।

जिस प्रकार मदिरा का स्वभाव उन्मत्त बना देने का है और मदिरा पान करने वाले जीव का स्वभाव उन्मत्त हो जाने का है, उसी प्रकार कर्म का स्वभाव जीव को राग-द्वेष आदि रूप में परिणत कर देने का है और जीव का स्वभाव राग-द्वेष रूप परिणत हो जाने का है। दोनों का जब तक सम्बन्ध बना रहा है तब तक जीव विभाव रूप परिणत रहता है।

यह कर्म मूलतः एक प्रकार का है। पुद्गल पिण्ड द्रव्य कर्म और पुद्गल-पिण्ड में रही हुई फल देने की शक्ति रूप भाव कर्म के भेद से कर्म के दो भेद भी किये जाते हैं। ज्ञानावरण आदि भेद से मध्यम विवक्षा की अपेक्षा आठ भेद हैं और इन आठ भेदों के उत्तर भेदों की अपेक्षा से एक सौ अड़तालीस (१४८) भेद हैं। विशेष विवक्षा से देखा जाय तो वस्तुत कर्म के असंख्यात भेद हैं। कर्म के कारणभूत जीव के अध्यवसाय असंख्यात प्रकार के होते हैं और अध्यवसायों के भेद से अध्यवसाय-जन्य कर्म की शक्तियां भी तर-तम भाव रूप से असंख्यात प्रकार की होती हैं। किन्तु असंख्यात प्रकार जिज्ञासुओं की समझ में सुगमता से नहीं आ सकते, अतएव मध्यम रूप से आठ भेदों में ही उन सब का समावेश किया गया है। इसी उद्देश्य से सूत्रकार ने 'अट्ठकम्माइ' कहा है।

यहां 'अणुपुव्विं' और 'जहक्कमं' यह दो पद विशेष रूप से विचारणीय हैं। दोनों पद समान अर्थ के प्रतिपादक-से ज्ञात होते हैं, पर वास्तव में वे समानार्थक नहीं हैं। 'आणुपुव्विं' से सूत्रकार का आशय यह है कि आठ कर्मों का कथन, उनका अपना कथन नहीं है। चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने जिस प्रकार उपदेश दिया है उसी प्रकार परम्परा से आये हुए उपदेश को मैं सूत्र रूप में निबद्ध करता हूं। इतना ही नहीं, आठ कर्मों की प्ररूपणा पूर्ववर्त्ती समस्त तीर्थंकरों द्वारा जैसी की गई है वही यह प्ररूपणा है और उसका ही निरूपण यहां किया जायगा। इस प्रकार आनुपूर्वी से अर्थात् गुरु-शिष्य आदि के क्रम से यह प्ररूपणा अनादिकालीन है।

'जहक्कमं' का अर्थ भी 'क्रमपूर्वक-क्रम के अनुसार' ऐसा होता है। इस पद में 'क्रम' शब्द का तात्पर्य कर्मों का पार्वापर्य रूप क्रम है। तात्पर्य यह है कि पहले ज्ञानावरण फिर दर्शनावरण, फिर वेदनीय तत्पश्चात् मोहनीय, तदन्तर आयु, फिर नाम, उसके बाद गोत्र और अन्त में अन्तराय, का क्रम शास्त्रों में बतलाया गया है। उसी क्रम के अनुसार यहां आठ कर्मों का कथन किया जायगा। इस क्रम का कारण क्या है, सो अगली गाथा में बतलाया जायगा।

'जेहिं बद्धो अयं जीवो' यहां अयं' शब्द भी गूढ़ अभिप्राय को सूचित करता है। वह इस प्रकार—

'अयं' का अर्थ है—'यह।' 'यह' शब्द तभी प्रयोग किया जाता है जब कोई वस्तु प्रत्यक्ष से दिखाई देती हो। यहां 'यह' शब्द जीव के लिए प्रयुक्त हुआ है और

जीव के विषय में पहले कहा जा चुका है कि-जीव ' नो इन्द्रियगेज्झ अमुत्तभावा ' अर्थात् अमूर्त्त होने के कारण इंद्रिय-ग्राह्य नहीं है । अतएव यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि जीव यदि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नहीं है तो 'यह जीव' ऐसा क्यों कहा ? और यदि 'यह जीव' ऐसा कह कर जीव की प्रत्यक्षता सूचित की है तो उसे पहले 'इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है' ऐसा क्यों कहा ? सूत्रकार का यह परस्पर विरोधी-सा प्रतीत होने वाला कथन वस्तुतः विरोधी नहीं है । इन 'अयं जीवो' पदों से सूत्रकार ने यह सूचित किया है कि आत्मा अपने स्वरूप से इन्द्रिय-गोचर न होने पर भी, अनादिकालीन कर्मों से बद्ध होकर मूर्त्त कर्मों के साथ एकमेक होकर-स्वयं भी मूर्त्त बन गया है ।

जो लोग यह शंका करते हैं कि अमूर्त्त आत्मा के साथ मूर्त्त कर्म का सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? उनकी शंका का निवारण सूत्रकार ने 'अयं' पद गाथा में देकर ही कर दिया है । तात्पर्य यह है कि आत्मा अनादिकाल से ही कर्मों से बंधा हुआ है और कर्म-बद्ध होने के कारण उसे एकान्त रूप से अमूर्त्त नहीं कहा जा सकता । ऐसी अवस्था में कर्म और आत्मा का सम्बन्ध मूर्त्त और अमूर्त्त का सम्बन्ध नहीं है; किन्तु मूर्त्त का मूर्त्त के साथ सम्बन्ध है ।

आत्मा जब स्वभाव से अनन्त ज्ञान, दर्शन और शक्ति आदि का उज्जवल पिण्ड है तो वह क्यों विकृत अवस्था में परिणत होता है ? किसी भी निमित्त कारण के बिना केवल उपादान कारण से किसी कार्य की उत्पति नहीं होती । विकृत अवस्था में परिणत होने में आत्मा स्वयं उपादान कारण है, पर निमित्त कारण क्या है ? किस शक्ति के द्वारा आत्मा अपने मूल स्वभाव से च्युत किया गया है ? यह प्रश्न प्रत्येक आत्मवादी के मस्तिष्क में उत्पन्न होता है । इस प्रश्न का समाधान विभिन्न मतों में अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार किया गया है ।

वेदान्त दर्शन में माया और अविद्या को जीव की विभाव-परिणत का कारण बताया गया है । सांख्य दर्शन 'प्रकृति' को कारण कहता है । वैशेपिक लोग 'अदृष्ट' को कारण मानते हैं और बौद्ध दर्शन में 'वासना' के रूप में इस कारण का उल्लेख पाया जाता है । जैन दर्शन इस शक्ति को कर्म कहता है ।

यद्यपि अन्य मतों की मान्यताएं अनेक दृष्टियों से दूपित हैं, फिर भी आत्मा को विकृत बनाने वाली कोई शक्ति अवश्य है, इस सम्बन्ध में सभी आस्तिक दर्शन सहमत हैं । वेदान्ती 'माया' को आत्मविकृति का हेतु मानते हुए भी माया को अभाव रूप मानते हैं— उसकी सत्ता वे स्वीकार नहीं करते । और जो अभाव रूप-शून्य है, जिसकी कोई सत्ता ही नहीं है, वह आत्मविकृति में निमित्त कारण कैसे हो सकता है ? सांख्य लोग पुरुष-आत्मा को कूटस्थ नित्य और निर्गुण मानते हैं । उनके मत के अनुसार आत्मा में किसी प्रकार का विकार होना ही सम्भव नहीं है, अतएव प्रकृति को पुरुष की विकृति का कारण मानना असंगत ठहरता है। वैशेपिक 'अदृष्ट'को आत्मा का ही विशेप गुण स्वीकार करते हैं । यह सर्वथा अनुचित है । आत्मा का विशेष गुण ही यदि आत्माकी विकृति का कारण मान लिया जाय तो

आत्मा उस विकृति से मुक्त होकर कभी शुद्ध स्वरूप को नहीं पा सकता, क्योंकि 'अदृष्ट' गुण आत्मा का है अतएव वह सदैव आत्मा में विद्यमान रहेगा। बौद्धों की 'वासना' क्षणिक है। क्षणिक होने के कारण वह उत्पन्न होते ही समूल नष्ट हो जाती है। ऐसी अवस्था में वह जन्मान्तर में फल प्रदान नहीं कर सकती। यदि यह कहा जाय कि प्रत्येक कार्य का फल इसी जन्म में भोग लिया जाता है सो ठीक नहीं है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि दया, दान, स्वाध्याय, तपस्या आदि धार्मिक आचरण करने वाले अनेक पुरुष इस जन्म में दीन, दुखी और दरिद्र होते हैं तथा हिंसा आदि पापों का आचरण करने वाले अनेक पुरुष इस जन्म में सुखी देखे जाते ह। यदि इस जन्म के कृत्यों का फल इसी जन्म में माना जाय तो दया, दान, तपस्या आदि का धर्मकृत्यों का फल दीनता, दुःख और दरिद्रता मानना पड़ेगा और हिंसा आदि पाप कर्म का फल सुख मानना पड़ेगा। परन्तु यह उचित नहीं है। ऐसी अवस्था में यही मानना आवश्यक है कि इस जन्म में पापाचार करने वाला व्यक्ति यदि सुखी है तो वह उसके पूर्व जन्म के धर्माचार का ही फल है। इस जन्म में किये जाने वाले पापाचार का फल उसे भविष्य में अवश्य भोगना पड़ेगा। इसके विपरीत धर्माचरण करने वाला व्यक्ति यदि इस जन्म में दुःखी है तो वह उसके पूर्व जन्म के पापाचार का परिणाम समझना चाहिए। वर्त्तमान जन्म में किये जाने वाले धर्माचार का फल उसे आगे अवश्य ही प्राप्त होगा। शास्त्र में कहा है—'कडाण कम्माण ण मोक्ख अत्थि' अर्थात् किये हुए कर्म विना भोगे नहीं छूटते हैं।

इस प्रकार जब यह निश्चित है कि पूर्व जन्म के शुभ या अशुभ अनुष्ठान का फल इस जन्म में और इस जन्म के अनुष्ठान का फल आगामी जन्म में भी भोगा जाता है, तब फल-भोग में कारणभूत शक्ति भी जन्मान्तर में विद्यमान रहने वाली होना चाहिए। इस युक्ति से क्षण भर रहने वाली वासना फल नहीं दे सकती।

इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा को अपने स्वभाव में न होने देने वाली जो शक्ति है वह सद्भाव रूप है, आत्मा से भिन्न पौद्गलिक है और स्थायी है। इसी शक्ति को और शक्ति के आधारभूत द्रव्य को कर्म कहते हैं।

शंका—कर्म पौद्गलिक है इसमें क्या प्रमाण है ?

उत्तर—कर्म को आत्मिक शक्ति मानने में जो बाधा उपस्थित होती है उसका उल्लेख किया जा चुका है। जब वह चेतन की शक्ति नहीं है फिर भी है तब जड़ की शक्ति होना ही चाहिए। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित युक्तियों से भी कर्म पौद्गलिक सिद्ध होता है:—

(१) कर्म पौद्गलिक है, क्योंकि वह आत्मा की पराधीनता का कारण है। आत्मा की पराधीनता के जितने भी कारण होते हैं वे सब पौद्गलिक ही होते हैं, जैसे बेड़ी वगैरह। यदि यह कहा जाय कि अघातिया कर्म आत्मा की पराधीनता के कारण नहीं है, तो उन्हें क्यों पौद्गलिक मानते हो ? यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अघातिया कर्म भी जीव की सिद्ध पर्याय में बाधक हैं, अतएव वे भी पराधीनता के

कारण हैं।

(२) कर्म पुद्गल रूप हैं, क्योंकि पुद्गल द्रव्य के सम्बन्ध से ही ये अपना फल देते हैं। जैसे पुद्गल रूप धान्य का परिपाक गर्मी आदि पुद्गल के निमित्त से होता है उसी प्रकार कर्मों का परिपाक (विपाक-फल) भी पुद्गल के ही निमित्त से होता है इसलिए कर्मों को भी पुद्गल रूप ही स्वीकार करना चाहिए।

शंका—ज्ञानावरण आदि जीवविपाकी कर्म प्रकृतियां पुद्गल के निमित्त से फल नहीं देती, अतएव यह कहना ठीक नहीं कि कर्म पुद्गल के निमित्त से फल देते हैं। जीव-विपाकी प्रकृतियों का फल जीव में ही होता है।

समाधान—जीव विपाकी कर्म, संसारी-सकर्म-जीव के सम्बन्ध से ही फल देते हैं, इसलिए उन कर्मों में भी परम्परा से पुद्गल कर्म का सम्बन्ध रहता ही है। अतएव यह असंदिग्ध है कि कर्मों का फल पुद्गल के सम्बन्ध से ही होता है इसलिए कर्म पुद्गल रूप ही होना चाहिए। यही नहीं, कर्म का बन्ध भी साक्षात् या परम्परा से पुद्गल के निमित्त से ही होता है, इसलिए भी कर्म पौद्गलिक है।

कर्म पौद्गलिक होने पर भी वह आत्मा के ऊपर अपना प्रभाव डालता है। जैसे पौद्गलिक मदिरा, अमूर्तिक चेतना-शक्ति में विकार उत्पन्न कर देती है उसी प्रकार कर्म भी अमूर्त आत्मा पर अपना प्रभाव डालते हैं। कर्मों की यह परम्परा अनादिकाल से चल रही है। कर्म व्यक्ति की अपेक्षा सादि हैं किन्तु प्रवाह की अपेक्षा अनादि हैं। सोते-जागते समय हम जो क्रियाएं करते हैं, और हमारे मन का जैसा शुभ या अशुभ व्यापार होता है उसी के अनुसार प्रतिक्षण कर्म-बन्ध होता रहता है। इस समय किया हुआ कर्म-बन्ध भविष्य में उदय आता है और उसके उदय का निमित्त पाकर फिर नवीन कर्मों का बन्ध हो जाता है। इस प्रकार कर्म का यह अनादिकालीन प्रवाह बराबर बहता जा रहा है। जब संवर के द्वारा नवीन कर्मों का आगमन रुक जाता है और निर्जरा के द्वारा पूर्व-संचित कर्म खिर जाते हैं तब आत्मा अपने शुद्ध चिदानन्द रूप में सुशोभित होने लगता है। किन्तु जब तक नवीन कर्मों का आना और बन्धना नहीं रुकता तब तक आत्मा अपने कर्मों के अनुसार संसार में अर्थात् चार गतियों में अनेकानेक योनियां धारण करता हुआ, विविध प्रकार की यातनाएं भोगता रहता है। अतः दुःखों से छुटकारा पाने का उपाय महर्षियों ने सवर और निर्जरा रूप प्रतिपादन किया है। प्रत्येक आत्म-कल्याण की कामना करने वाले मुमुक्षु जीव का यह प्रधान कर्तव्य है कि नर भव और सद्धर्म का संयोग पाकर वह ऐसा प्रयत्न करे कि जिससे भव-भव में न भटकना पड़े और जरा-मरण-जन्म आदि की घोर व्यथाओं से शीघ्र छुटकारा मिल जाए। इसलिए कर्म बन्ध और संवर आदि के स्वरूप को तथा कारणों को सम्यक् प्रकार से समझना चाहिए। तथा हेय का त्याग और उपादेय का ग्रहण करना चाहिए।

मूलः-नाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरणं तहा ।
वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य ॥२॥
नामकम्मं च गोयं च, अंतरायं तहेव य ।
एवमेयाइं कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ ॥३॥

छाया— ज्ञानास्यावरणीयं, दर्शनावरणं तथा ।
वेदनीयं तथा मोहं आयु: कर्म तथैव च ॥ २ ॥
नामकर्म च गोत्रं च अन्तरायं तथैव च ।
एवमेतानि कर्माणि, अष्टौ तु समासतः ॥ ३ ॥

शब्दार्थः—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु नाम, गोत्र और अन्तराय, ये संक्षेप से ही आठ कर्म हैं ।

भाष्यः-प्रथम गाथा में क्रम से आठ कर्मों के कथन करने की प्रतिज्ञा की गई थी सो यहां उनके नामों का निर्देश किया गया है । आठ कर्म इस प्रकार हैं-(१) ज्ञानावरण (२) दर्शनावरण (३) वेदनीय (४) मोहनीय (५) आयु (६) नाम (७) गोत्र (८) और अन्तराय ।

सूत्रकार ने कर्मों का निर्देश क्रम पूर्वक किया है । प्रश्न हो सकता है कि इनमें क्या क्रम है ? सर्वप्रथम ज्ञानावरण को क्यों गिनाया गया है ? सब से अन्त में अन्तराय कर्म क्यों कहा गया है ? बीच के क्रम का भी क्या कारण है ? इन प्रश्नों के समाधान के लिए कर्मों का क्रम बतलाया जाता है । वह इस प्रकार है –

आत्मा का लक्षण उपयोग है और उपयोग ज्ञान तथा दर्शन के भेद से दो प्रकार का है । इन दोनों भेदों में ज्ञानोपयोग मुख्य है, क्योंकि ज्ञान से शास्त्रों का चिन्तन किया जा सकता है । ज्ञानोपयोग के समय में ही लब्धि की प्राप्ति होती है और ज्ञानोपयोग के समय में ही मुक्ति की प्राप्ति होती है । इस प्रकार ज्ञानोपयोग की प्रधानता होने से, ज्ञान का आवरण करने वाले कर्म-ज्ञानावरण का सर्वप्रथम उल्लेख किया गया है और उसके अनन्तर दर्शन का आवरण करने वाले दर्शनावरण का निर्देश किया गया है । ज्ञानावरण और दर्शनावरण के तीव्र उदय से दु:ख का और इनके विशेष क्षयोपशम से सुख का अनुभव होता है । सुख–दु:ख का अनुभव कराना वेदनीय कर्म का कार्य है अतः इन दोनों कर्मों के अनन्तर वेदनीय का उल्लेख किया गया है । सुख-दु:ख की वेदना के समय प्रायः राग-द्वेष का उदय अवश्य हो जाता है और राग-द्वेष मोहनीय कर्म के कार्य हैं, अतएव वेदनीय के बाद मोहनीय कर्म का कथन किया गया है । मोह से ग्रस्त हुआ जीव आरम्भ आदि करके आयु का बन्ध करता है और आयु का बन्ध होना आयु कर्म का कार्य है, इसलिए मोहनीय के पश्चात् आयु कर्म का ग्रहण

किया है। जिस जीव को आयु का उदय होता है उसे गति आदि नाम कर्म को भी भोगना पड़ता है अतएव आयु के अनन्तर नाम कर्म कहा गया है। गति आदि नाम कर्म वाला जीव उच्च या नीच गोत्र में उत्पन्न होता है अतएव नामकर्म के बाद गोत्र कर्म का कथन किया गया है। उच्च गोत्र वाले जीवों को अन्तराय कर्म का क्षयोपशम तथा नीच गोत्र वालों को उदय होता है, अतएव गोत्र के पश्चात् अन्तराय कर्म का कथन किया गया है।

वेदनीय कर्म यद्यपि घातिया कर्म नहीं है, फिर भी उसे घाति कर्मों के बीच में स्थान दिया गया है, क्योंकि वह इन्द्रियों के विषयों में से किसी में रति, किसी में अरति का निमित्त पाकर के साता और असाता का अनुभव कराता है—वह आत्मा से भिन्न पर-पदार्थों में जीव को लीन बनाता है। इस प्रकार घातिया कर्मों की भांति जीव गुणों का घात करने के कारण उसे घाति-कर्मों के बीच स्थान दिया गया है।

अन्तराय कर्म घाति होने पर भी अन्त में इसलिए रक्खा गया है, कि वह नाम, गोत्र तथा वेदनीय कर्मों का निमित्त पा कर के ही अपना कार्य करता है और अघाति कर्मों की तरह पूर्ण रूप से जीव के गुणों का घात नहीं करता है।

कर्मों का यह क्रम सूचित करने के लिए सूत्रकार ने प्रथम गाथा में 'जहक्कमं' पद का प्रयोग किया था। इस क्रम से निर्दिष्ट आठों कर्मों का स्वरूप इस प्रकार है—

(१) ज्ञानावरण—जो कर्म आत्मा के ज्ञान गुण को ढंकता है वह ज्ञानावरण कर्म कहलाता है। जैसे—बादल सूर्य को ढंक देते हैं।

(२) दर्शनावरण—जो कर्म आत्मा के अनाकार रूप दर्शन गुण का आवरण करता है, यह दर्शनावरण है। जैसे-द्वारपाल, राजा के दर्शन होने में बाधक होता है।

(३) वेदनीय—जो कर्म सुख-दुःख का अनुभव कराता है वह वेदनीय कर्म कहलाता है। जैसे शहद लपेटी हुई तलवार।

(४)मोहनीय—आत्मा को मोहित करने वाला कर्म मोहनीय है। जैसे मदिरा आदि मादक पदार्थ जीव को असावधान बेभान कर देते हैं उसी प्रकार मोहनीय कर्म आत्मा को अपने स्वरूप का भान नहीं होने देता।

(५) आयु—जो कर्म जीव को नारकी तिर्यञ्च, मनुष्य या देव पर्याय में रोक रखता है वह आयु कर्म है। जैसे सांकलों से जकड़ा हुआ व्यक्ति अपने आप अन्यत्र नहीं जा सकता इसी प्रकार आयु कर्म जीव को नियत पर्याय में ही रोक रखता है।

(६) नाम कर्म—नाना प्रकार के शरीर आदि का निर्माण करने वाला कर्म नाम कर्म है। जैसे चित्रकार नाना प्रकार के चित्र बनाता है उसी प्रकार यह कर्म नाना शरीर, शरीर की आकृति, शरीर का गठन आदि-आदि बनाता है।

(७) गोत्र कर्म—जिस कर्म के कारण जीव को प्रतिष्ठित या अप्रतिष्ठित कुल में जन्म लेना पड़ता है वह गोत्र है। जैसे कुंभार छोटे-बड़े अच्छे-बुरे बर्त्तन बनाता

है उसी प्रकार यह कर्म विविध प्रकार के कुलों में जीवों को जन्माता है।

(८) अन्तराय–जो कर्म दान, लाभ, भोग, उपभोग और शक्ति की प्राप्ति में विघ्न डालता है वह अन्तराय कर्म है। जैसे खजांची लाभ आदि में विघ्न डाल देता है।

जिन कार्मण जाति से पुद्गलों का कर्म रूप में परिणमन होता है उनमें मूल रूप से ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि का भेद नहीं होता। जीव एक ही समय में, एक ही परिणाम से जिन कार्मण पुद्गलों को ग्रहण करता है, वही पुद्गल ज्ञानावरण आदि विविध रूपों में पलट जाते हैं। जैसे भोजन के मूल पदार्थों में रस, रक्त, मांस आदि रूप परिणत होने वाले अंश अलग-अलग नहीं होते फिर भी प्रत्येक कौर का रस, रक्त आदि रूप में नाना प्रकार का परिणमन हो जाता है। उसी प्रकार ग्रहण किये हुए कार्मण पुद्-गलों का तरह-तरह का परिणमन हो जाता है। भेद केवल यही है कि भोज्य पदार्थ का रस, रक्त आदि रूप में क्रम से परिणमन होता है और ज्ञानावरण आदि का भेद एक ही साथ हो जाता है। भोजन का परिणमन सात धातुओं के रूप में होता है और कार्मण पुद्गलों का भी प्राय सात प्रकार का ही परिणमन होता है। कभी-कभी आयु कर्म के रूप में आठ प्रकार का परिणमन होता है।

उक्त आठों कर्मों के उनकी विभिन्न शक्तियों के आधार पर कई तरह से भेद बतलाये गये हैं। जैसे—(१) घाति कर्म और (२) अघाति कर्म। जो कर्म जीव के ज्ञान दर्शन आदि अनुजीवी-भाव रूप गुणों का विघात करते हैं वे घाति कर्म कहलाते हैं। घाति कर्म चार हैं—ज्ञानावरण दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय। जिनमें अनुजीवी गुणों को घातने का सम्मर्थ्य नहीं है वे अघाति कर्म कहलाते हैं। वे भी चार हैं—वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्म।

इसी प्रकार कोई कर्म ऐसा होता है जिसका साक्षात प्रभाव जीव पर पड़ता है उसे जीवविपाकी मंक कहते हैं। जैसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि। कोई कर्म ऐसा होता है जिसका पुद्गल-शरीर पर प्रभाव पड़ता है, उसे पुद्गलविपाकी कर्म कहते हैं। जैसे वर्णनामकर्म इत्यादि। किसी कर्म का असर भव में होता है वह भवविपाकी है। जैसे आयु कर्म। कोई कर्म अमुक क्षेत्रवर्ती जीव पर अपना प्रभाव डालता है उसे क्षेत्रविपाकी कहते हैं। जैसे-आनुपूर्वी नामकर्म। यह आनुपूर्वी नामकर्म उसी समय अपना प्रभाव डालता है जब जीव एक शरीर को त्याग करके नवीन शरीर ग्रहण करने के लिए अन्यत्र जाता है।

सूत्रकार ने मूल में 'समासओ' पद दिया है। उसका अर्थ है-संक्षेप की अपेक्षा आठ कर्मों का विभाग संक्षेप की अपेक्षा से किया गया है। विस्तार की अपेक्षा से और भी अधिक भेद होते हैं। उन भेदों को उत्तर प्रकृतियां कहते हैं। उत्तर प्रकृतियां भी संक्षेप से और विस्तार से दो प्रकार की हैं। विस्तार से उनके असंख्यात भेद हैं और संक्षेप से एक सौ अड़तालीस भेद हैं। इन भेदों का वर्णन स्वयं सूत्रकार आगे करेंगे।

मूल:—नाणावरणं पंचविहं, सुयं आभिणिबोहियं।
ओहिनाणं च तइयं, मणनाणं च केवलं ॥४॥

छाया—ज्ञानावरणं पंचविधं, श्रुतमाभिनिबोधिकम्।
अवधिज्ञानं च तृतीयं, मनोज्ञानं च केवलम् ॥४॥

शब्दार्थ:— ज्ञानावरण कर्म पांच प्रकार का है—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यायज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण।

भाष्य:—कर्म की आठ मूल प्रकृतियों का वर्णन करने के पश्चात् क्रम से उत्तर प्रकृतियों का निरूपण करने के लिए पहले ज्ञानावरण की पांच उत्तर प्रकृतियों का यहां निर्देश किया गया है। वे इस प्रकार हैं— मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यायज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण।

श्रुतज्ञान का आवरण करने वाला कर्म श्रुतज्ञानावरण है। मतिज्ञान का आवरण करने वाला कर्म मतिज्ञानावरण है। अवधिज्ञान को रोकने वाला कर्म अवधिज्ञानावरण, मनःपर्याय ज्ञान की रुकावट करने वाला मन पर्याय ज्ञानावरण है और जो केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होने देता वह केवलज्ञानावरण कर्म कहलाता है। पांच ज्ञानों का स्पष्ट स्वरूप-विवेचन ज्ञान-प्रकरण में किया जायगा।

ज्ञान की उत्पत्ति के क्रम की अपेक्षा मतिज्ञान प्रथम और श्रुतज्ञान दूसरा है; क्योंकि मतिज्ञान के पश्चात् ही श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। परन्तु यहां सूत्रकार ने श्रुतज्ञानावरण का सर्वप्रथम निर्देश किया है। इसका कारण यह है कि श्रुत के द्वारा ही मति आदि शेष ज्ञानों का स्वरूप जाना जाता है अतएव श्रुत ज्ञान मुख्य है।

ज्ञानावरण कर्म के बन्ध के निम्न लिखित हेतु हैं—(१) ज्ञान और ज्ञानवान की निन्दा करना। (२) जिस ज्ञानी से ज्ञान की प्राप्ति हुई हो उसका नाम छिपाकर स्वयं-बुद्ध बनने का प्रयत्न करना। (३) ज्ञान की आराधना में विघ्न डालना—जैसे ग्रन्थ छिपा देना, शास्त्र का जब कोई पठन करता हो तो कोलाहल करना आदि। (४) ज्ञानी जन पर द्वेष का भाव रखना। जैसे-अजी! वह ज्ञानी कहलाता है पर है बड़ा ढोंगी। वास्तव में वह कुछ भी नहीं जानता, इत्यादि। (५) ज्ञान और ज्ञानी की आसातना करना। जैसे--पढ़ने-लिखने से कुछ भी लाभ नहीं है, ज्ञान नास्तिक बना देता है और ज्ञानीजन संसार को धोका देते हैं, अथवा ज्ञानी का सामना होने पर उससे दुर्वचन कहना, उसका यथोचित विनय न करना। (६) ज्ञानी के साथ विसंवाद करना—वृथा और उद्दंडतापूर्ण बकवाद करना।

ज्ञानावरण कर्म इन सब दुष्कृत्यों को करने से बन्धता है। अतएव जो भव्य जीव ज्ञानावरण कर्म के बन्धन से बचकर ज्ञानी बनना चाहते हैं, उन्हें इन कारणों का परित्याग करके ज्ञान और ज्ञानी के प्रति श्रद्धा-भक्ति का भाव रखना चाहिए। उनका यथोचित आदर करना चाहिए। ज्ञान की आराधना में सहायक बनना चाहिए।

ज्ञान के साधनों का प्रचार करना चाहिए और बहुमान पूर्वक ज्ञान की निरन्तर आराधना करना चाहिए। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति ही आत्म-कल्याण का मूल है। उसके बिना की जाने वाली क्रियाएं मुक्ति का कारण नहीं होती हैं। ऐसा समझकर सम्यग्ज्ञान की साधना करना शिष्ट पुरुषों का परम कर्तव्य है।

मूलः—निद्दा तहेव पयला, निद्दानिद्दा य पयलपयला य।
तत्तो अ थीणगिद्धी उ, पंचमा होइ नायव्वा ॥ ५ ॥
चक्खुमचक्खू ओहिस्स, दंसणे केवले य आवरणे।
एवं तु नव विगप्पं, नायव्वं दंसणावरणं ॥ ६ ॥

छाया:—निद्रा तथैव प्रचला, निद्रानिद्रा च प्रचलाप्रचला च।
ततश्च स्त्यानगृद्धिस्तु, पञ्चमा भवति ज्ञातव्या ॥ ५ ॥
चक्षुरचक्षुरवधेः, दर्शने केवले च आवरणे।
एवं तु नवविकल्पं, ज्ञातव्यं दर्शनावरणम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ:—दर्शनावरण कर्म के नौ भेद इस प्रकार जानना चाहिए—(१) निद्रा (२) प्रचला (३) निद्रानिद्रा (४) प्रचलाप्रचला (५) स्त्यानगृद्धि (६) चक्षुदर्शनावरण (७) अचक्षुदर्शनावरण (८) अवधिदर्शनावरण और (९) केवलदर्शनावरण"

भाष्य—ज्ञानावरण के भेद बताने के पश्चात् क्रमप्राप्त दर्शनावरण के भेद बताने के लिए सूत्रकार ने इन गाथाओं का कथन किया है। दर्शनावरण के नौ भेद हैं और वे इस प्रकार हैं—

(१) निद्रा-जो निद्रा थोड़ी सी आहट पाकर ही भंग हो जाती है, जिसे भंग करने के लिए विशेष श्रम नहीं करना पड़ता वह निद्रा कहलाती है। जैन आगमों में यह निद्रा शब्द पारिभाषिक है जो सामान्य निद्रा के अर्थ में प्रयुक्त न होकर हल्की निद्रा के अर्थ में प्रयुक्त होता है। जिस कर्म के उदय से ऐसी हल्की नींद आती है वह कर्म भी निद्राकर्म कहलाता है।

(२) प्रचला—खड़े-खड़े या बैठे-बैठे जो निद्रा आ जाती है वह प्रचला कहलाती है और जिस कर्म के उदय से यह निद्रा आती है वह प्रचला-कर्म कहलाता है।

(३) निद्रानिद्रा—जो नींद बहुत प्रयत्न करने से टूटती है—चिल्लाने से या शरीर को झकझोरने से भंग होती है उसे निद्रानिद्रा कहते हैं। यह निद्रा जिस कर्म के उदय से आती है उसे निद्रानिद्रा कहा जाता है।

(४) प्रचलाप्रचला—चलते-फिरते समय भी जो नींद आ जाती है वह प्रचला-प्रचला कहलाती है। जिस कर्म के उदय से यह नींद आती है वह प्रचलाप्रचला कर्म कहलाता है।

(५) स्त्यानगृद्धि—जिस निद्रा में, दिन या रात को; जागृत अवस्था में सोचा

हुआ कार्य मनुष्य कर लेता है उस निद्रा को स्त्यानगृद्धि कहते हैं। ऐसी निद्रा जिस कर्म के उदय से आती है वह स्त्यानगृद्धि कर्म कहलाता है। यह निद्रा प्रायः वज्र-वृषभनाराच संहनन वाले जीव को ही आती है। इस संहनन वाले जीव में, इस निद्रा के समय वासुदेव के बल से आधा बल आ जाता है। यह निद्रा जिसे आती है वह जीव नियम से नरक जाता है। अन्य संहनन वालों को यह निद्रा नहीं आती-जिसे आने की सम्भावना की जा सकती है उसमें भी वर्त्तमान कालीन युवकों से आठ गुना अधिक बल होता है।

पदार्थ के सामान्य धर्म को जानने वाला उपयोग दर्शन कहलाता है। दर्शन चार प्रकार का है, अतएव उसके आवरण भी चार प्रकार के हैं। यह चार आवरण और पांच निद्रा मिलकर दर्शनावरण के नौ भेद होते हैं। चार दर्शनों के आवरण यह हैं—

(६) चक्षुदर्शनावरण—आंख के द्वारा पदार्थ के सामान्य धर्म का ज्ञान होना चक्षुदर्शन है और इसका आवरण करने वाला कर्म चक्षु--दर्शनावरण कहलाता है।

(७) अचक्षुदर्शनावरण—आंख को छोड़ कर शेष चार इन्द्रियों से होने वाला पदार्थ के सामान्य धर्म का ग्रहण अचक्षुदर्शन कहलाता है। इसे रोकने वाला कम अचक्षुदर्शनावरण कहलाता है।

(८) अवधिदर्शनावरण--अवधिज्ञान से पहले, जो सामान्य का ग्रहण होता है उसे अवधिदर्शन कहते हैं। अवधिदर्शन का आवरण करने वाला कर्म अवधिदर्शना-वरण कहलाता है।

(९) केवलदर्शनावरण—संसार के समस्त पदार्थों का सामान्य बोध होना केवल-दर्शन है और उसका आवरण करने वाला कर्म केवलदर्शनावरण है।

उपर्युक्त चार दर्शनों में से केवलदर्शन सम्यक्त्व के बिना नहीं होता, शेष तीन दर्शन सम्यक्त्व के अभाव में भी होते हैं।

दर्शनावरण कर्म का बन्ध निम्नलिखित कारणों से होता है:—(१) जिसे अच्छी तरह दीखता है उसे अन्धा या काना कहना, और उसका अवर्णवाद करना। (२) जिसके द्वारा अपने नेत्रों को लाभ पहुंचा हो या नेत्रों के बिना भी जिसने पदार्थ का यथार्थ स्वरूप समझाया हो उस उपकारी का उपकार न मानना। (३) जो अवधि-दर्शन वाला है उसकी या उसके उस विशिष्ट दर्शन की निन्दा करना। (४) किसी के दुःखते हुए नेत्रों के ठीक होने में बाधा डालना या चक्षु से भिन्न किसी अन्य इन्द्रिय द्वारा होने वाले दर्शन या अवधिदर्शन अथवा केवलदर्शन की प्राप्ति में बाधा डालना। (५) जिसे कम दीखता है या बिलकुल नहीं दीखता उसे यह कहना कि—यह धूर्त है। इसे साफ दिखाई देता है, फिर भी जान-बूझकर अन्धा बना बैठा है। इसी प्रकार अचक्षु दर्शन की मन्दता वाले को छलिया-कपटी कहना। जैसे—यह तो दूसरों को धोखा देने के लिए मूर्ख बन रहा है। इसी प्रकार अवधिदर्शन और केवलदर्शन वाले के प्रति द्वेष का भाव रखना। (६) चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन वाले के साथ झगड़ा-फसाद करना।

इत्यादि पूर्वोक्त कार्य करने से दर्शनावरण का बन्ध होता है। इस घाति कर्म के बन्ध से बचने की इच्छा रखने वालों को उपर्युक्त कार्य तथा इसी प्रकार के अन्य कार्य त्याग देने चाहिए।

यहां यह शंका की जा सकती है कि जैसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान से पूर्व चक्षु-दर्शन और अचक्षुदर्शन होता है, अवधिज्ञान से पहले अवधि--दर्शन होता है, केवल ज्ञान के पश्चात् केवलदर्शन होता है उसी प्रकार मनः पर्याय ज्ञान से पहले मनः पर्याय दर्शन क्यों नहीं होता? शास्त्रों में मनःपर्याय दर्शन का उल्लेख क्यों नहीं है? इसका समाधान यह है कि मनःपर्याय ज्ञान ईहा नामक मतिज्ञान पूर्वक होता है, दर्शन-पूर्वक नहीं होता। इसी कारण मनःपर्याय दर्शन नहीं माना गया है।

मूल:—वेयणीयं पि दुविहं, सायमसायं च आहियं।
सायस्स उ बहू भेया, एमेव असायस्स वि ॥७॥

छाया—वेदनीयमपि द्विविधं, सातमसातं चाख्यातम्।
सातस्य तु बहवो भेदाः, एवमेवासातस्यपि ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—वेदनीय कर्म के दो भेद हैं-(१) साता वेदनीय और (२) असाता वेद-नीय। सातावेदनीय के बहुत-से भेद हैं और इसी प्रकार असातावेदनीय के भी॥

भाष्य—दर्शनावरण के पश्चात् वेदनीय कर्म की मूल प्रकृतियों का निर्देश किया गया है अतः उसी क्रम से सूत्रकार वेदनीय कर्म की उत्तरप्रकृतियों का निरूपण करते हैं।

सातावेदनीय और असातावेदनीय के भेद से वेदनीय प्रकृति दो प्रकार की है। जिस कर्म के उदय से कोई पदार्थ सुखकारक प्रतीत होता है वह साता वेदनीय है और जिस कर्म के उदय से कोई पदार्थ दुःखजनक अनुभव होता है उसे असाता वेदनीय कर्म कहते हैं। इन दोनों के अनेक-अनेक भेद सूत्रकार ने बतलाये हैं। इसका कारण यह है कि वेदनीय के विषय अनेक हैं। जैसे—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द। पांच इन्द्रियों के मनोज्ञ विषयों को सुख रूप समझने से सातावेदनीय के पांच भेद हो जाते हैं। जैसे (१) रूप सातावेदनीय. (२) रस सातावेदनीय (३) गन्ध सातावेदनीय (४) स्पर्श सातावेदनीय और (५) शब्द सातावेदनीय। तात्पर्य यह है कि जिस कर्म के उदय से मनोज्ञ स्पर्श सुखप्रद प्रतीत हो वह स्पर्श-सातावेदनीय है, जिसके उदय से अनुकूल रस सुखजनक अनुभव हो वह रस-सातावेदनीय है। इसी प्रकार अन्य लक्षण समझना चाहिए। रूप के पांच भेद, रस के पांच, गन्ध के दो भेद, स्पर्श के आठ भेद हैं और इनके भेद से सातावेदनीय के भी उतने ही भेद हो सकते हैं।

इन्द्रियों के इन्हीं विषयों को दुःख रूप अनुभव करना असातावेदनीय है। अत-एव पूर्वोक्त रीति से ही असाता के भी उत्तरोत्तर अनेक भेद किये जा सकते हैं। इन्हीं भेदों को लक्ष्य में लेकर सूत्रकार ने 'सायस्स उ बहू भेया एमेव असायस्स वि' अर्थात्

साता के अनेक भेद हैं और इसी प्रकार असाता के भी अनेक भेद हैं, ऐसा कथन किया है।

सातावेदनीय और असातावेदनीय के लक्षण को सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर ज्ञात होगा कि संसार में कोई भी पदार्थ सुखदायी या दुःखदायी नहीं है। राग और द्वेष का निमित्त पाकर ही जीव किसी पदार्थ को सुख रूप मान लेता है और किसी को दुःख रूप मान लेता है। पदार्थ में सुख-दुःख देने की शक्ति होती तो जो पदार्थ एक व्यक्ति को सुखदायक होता वह सभी व्यक्तियों को सुख ही सुख प्रदान करता और एक समय सुख देता वह सदा सुखदायक ही होता। इसी प्रकार जो वस्तु एक व्यक्ति को, एक समय, दुखःप्रद होती वह सभी व्यक्तियों को सदाकाल दुःख देती। किन्तु जगत् में ऐसा नहीं होता। एक पदार्थ एक को साता रूप प्रतीत होता है तो दूसरे को असाता रूप। इतना ही नहीं, एक जीव को जो वस्तु आज—इस समय सुखकारक ज्ञात होती है वही दूसरे समय में दुःख का कारण जान पड़ती है। कोई जिह्वालोलुप तीव्र भूख लगने पर सुसंस्कृत पकवान खाने में अत्यन्त सुख समझता है; पर जब उसकी आकण्ठ उदरपूर्ति हो जाती है तब वही व्यंजन उसे विष की भांति अप्रिय लगने लगता है। नीम मनुष्य को कटुक लगता है पर ऊंट उसीको बड़े प्रेम से भक्षण करता है। इससे यह स्पष्ट है किसी भी वस्तु में सुख-दुःख उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है।

यदि ऐसा है तो हमें सुख-दुःख देने वाला कौन है? आखिर जब हम सुख-दुःख का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं तब उनका कुछ कारण तो होना ही चाहिए। निष्कारण तो किसी की उत्पत्ति होती नहीं है? फिर सुख-दुःख का कारण क्या है? इसका समाधान यही है कि राग रूप मोहनीय कर्म के उदय से रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दादि में सुख का वेदन-अनुभव होता है और द्वेष मोहनीय के उदय से रूप आदि विषय में दुःख रूप वेदन होता है। यह वेदन (अनुभव) कराना ही वेदनीय कर्म का कार्य है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि जिसने राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करली है वह इन्द्रिय के किसी विषय को न सुख रूप मानता है, न दुःख रूप मानता है। संसार में घटने वाली कोई भी घटना, अनुकूल या प्रतिकूल संयोग उसे दुःखी या सुखी नहीं बना सकते। वह तटस्थ भाव से संसार के रंगमंच पर होने वाले विविध अभिनयों को देखता है और उन सबसे अपनी आत्मा को भिन्न समझता है। दुःख से छुटकारा पाने और सुखी बनने का एक मात्र यही सच्चा उपाय है कि दुःख को दुःख समझकर न अपनाया जाय और इन्द्रिय-विषयजन्य सुख को वास्तविक सुख न माना जाय। वस्तुतः किसी पदार्थ को दुःख-मय समझना ही दुःख है और सुख रूप समझना ही सुख है। यह दोनों समझ भ्रमपूर्ण हैं, क्योंकि बाह्य पदाथ सच्चा सुख नहीं दे सकते। इसीलिए वेदनीय कर्म का लक्षण बताते समय यह कहा गया है कि जो सुख-दुःख का अनुभव कराता है वह वेदनीय कर्म है–यह नहीं कहा गया कि जो सुख-दुःख दे उसे वेदनीय कर्म कहते हैं।

जिन संसारी जीवों ने राग-द्वेष पर विजय नहीं प्राप्त की है, अतएव जो बाह्य पदार्थों में ही सुख-दुःख का अनुभव करते हैं, उन्हें दुःख से बचने का तो अवश्य ही

कर्म वह धुरी है जिसके सहारे यह चक्र चलता है। यह कर्म दुहरा घातक है · आत्मा को सम्यक्त्व भी नहीं होने देता और चरित्र भी नहीं होने देता। इसके सहयोग से ज्ञान भी मिथ्याज्ञान बन जाता है। इस प्रकार मोक्ष के कारणभूत रत्नत्रय का विनाशक मोहनीय कर्म ही है। यह कर्म दसवें गुणस्थान तक रहता है और ग्यारहवें गुण स्थान पर भी आक्रमण करके जीव को नीचे-गिराते-गिराते प्रथम गुणस्थान में भी लाकर पटक देता है। संसार के समस्त दुःख मोहनीय कर्म की ही बदौलत जीव को भुगतने पड़ते हैं। अतएव सुखाभिलाषी भव्य प्राणियों को मोहनीय कर्म के विनाश का सम्पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए। मोहनीय कर्म का आंशिक नाश किये विना आत्मा आध्यात्मिक प्रगति की ओर एक भी कदम नहीं बढ़ा सकता। क्योंकि दर्शनमोहनीय के उदय की अवस्था में प्रथम गुणस्थान से आगे जीव नहीं बढ़ता है।

मोही जीव क्रोध, मान, माया लोभ के वशीभूत होकर नाना प्रकार के दुःख उठाते हैं। उन्हें अपने स्वरूप का भी भान नहीं रहता कि वस्तुतः मैं कौन हूं ? मेरा असली स्वभाव क्या है ? मैं नाशवान हूं या अविनश्वर हूं ? मोही जीव शरीर को ही आत्मा समझ लेता है और फिर शरीर का पोषण करने के लिए इन्द्रियों का गुलाम बन जाता है। वह संसार के पर पदार्थों में ममत्व भाव धारण करता है। यह महल मेरा है, यह तेरा है, यह राज्य मेरा है, यह धन-धान्य मेरा है, यह दासी-दास मेरे हैं, यह सोना-चांदी मेरा है, इस प्रकार मेरे तेरे के पाश में फंसकर पागल पुरुष की तरह नाना चेष्टाएं करता हुआ अनन्त काल संसार में व्यतीत करता है।

बड़े-बड़े ज्ञानवान् पुरुष भी मोह के जाल में फंस जाते हैं। संसार में जो अनेक एकान्तवाद प्रचलित हैं, यह सब मोह की ही विडम्बना है। मोह जीव के विवेक को मिट्टी में मिला देता है। कहा भी है—

पाषाणखण्डेष्वपि रत्नबुद्धिः कान्तेति धीः शोणितमांसपिण्डे।
पञ्चात्मके वर्ष्मणि चात्मभावो जयत्यसौ कांचनमोहलीला ॥

अर्थात् मोह की लीला संसार में सर्वत्र विजयी हो रही है। उसी का यह प्रभाव है कि पत्थर के टुकड़ों को लोग रत्न समझते हैं! (रत्न वास्तव में पत्थर के ही टुकड़े हैं। उनका जो अधिक मूल्य समझा जाता है सो केवल मानव-समाज की कल्पना का ही मूल्य है। अर्थशास्त्र की दृष्टि से उनका वास्तविक मूल्य एक रोटी के टुकड़े बराबर भी नहीं है) मोह के प्रभाव से ही लोग रक्त और मांस के लोथ को (पिण्ड को) प्रिया मानते हैं और पंच-भूतमय शरीर को आत्मा समझ बैठते हैं।

ऐसी अवस्था में मोह को जीतने वाले महापुरुष धन्य हैं! वे अत्यन्त सत्वशाली हैं, शूरवीर हैं। उनका अनुकरण ही कल्याण का कारण है। जिन्होंने राग-द्वेष के पाश को छेद डाला है, मोह का समूल उन्मूलन कर दिया है अतएव जो सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चारित्र से सुशोभित हैं वे पुण्य-पुरुष वन्दनीय हैं। उन्हें अर्हत् का प्रतिष्ठित पद प्राप्त होता है। सच्चे हृदय से अर्हन की भक्ति करने से भव्य जीव स्वयं अर्हत् पद प्राप्त करता है। किसी भक्त ने बहुत सुन्दर कहा है—

मोहध्वान्तमनेकदोषजनकं मे भर्त्सितुं दीपका—
उत्कीर्णाविव कीलिताविव हृदि स्यूताविवेन्द्रार्चितौ ।
आश्लिष्टाविव बिम्बिताविव सदा पादौ निखाताविव,
स्थेयातां लिखिता विवाघदहनौ बद्धाविवार्हंस्तव ॥

अर्थात्:—हे अर्हन्तदेव ! अनेक दोषों को उत्पन्न करने वाले मोह रूपी अन्धकार को दूर करने के लिए दीपक के समान, इन्द्र-वन्द्य, पापों को भस्म करने वाले आपके दोनों चरण मेरे हृदय में इस प्रकार स्थिर होकर विद्यमान रहें, मानों वे हृदय में ही अंकित हो गये हों, कील दिये गये हों, सी दिये गये हों, चस्पा हो गये हों, प्रतिबिम्बित हो रहे हों, जड़ दिये गये हों; लिख दिये गये हों अथवा बन्ध गये हों।

वीतराग भगवान की भक्ति ही मोह को जीतने का कार्यकारी उपाय है। उसके स्वरूप को भलीभांति समझकर उसका निवारण करने के लिए प्रयत्न करना ही मानव-जीवन की सर्वश्रेष्ठ सफलता है।

मोहनीय कर्म दो प्रकार का है-(१) दर्शन मोहनीय और (२) चारित्र मोहनीय। दर्शनामोहनीय के तीन भेद हैं और चारित्रमोहनीय के दो भेद हैं। इन भेदों के नाम स्वयं सूत्रकार ने अगली गाथाओं में कहे हैं। यहां सिर्फ यह बता देना आवश्यक है कि दर्शनमोहनीय के तीन भेदों का कथन उदय और सत्ता की अपेक्षा से समझना चाहिए। बन्ध की अपेक्षा एक ही भेद है। तात्पर्य यह है कि बन्ध के समय सामान्य रूप से एक दर्शनमोह ही बन्धता है: बन्ध होने के पश्चात् शुद्ध, अर्ध-शुद्ध और अशुद्ध दलिकों की अपेक्षा से वह तीन रूप में परिणत हो जाता है। दर्शनमोहनीय के तीन भेदों का अलग-अलग बन्ध नहीं होता है। जिस कर्म के उदय से मिथ्या श्रद्धान हो, सर्वज्ञ-कथित वस्तु के स्वरूप में रुचि और प्रतीति न हो, जिसकी दृष्टि मलीन हो और इस कारण जो हित-अहित का ठीक-ठीक विचार करने में असमर्थ हो, अथवा जिसके कारण प्रगाढ़ श्रद्धान न हो वह दर्शनमोहनीय कर्म कहलाता है। जो मोहनीय चारित्र का एक देश या पूर्णरूप से आचरण न करने दे वह चारित्र मोहनीय कर्म कहलाता है।

मूल:—सम्मत्तं चेव मिच्छत्तं, सम्मामिच्छत्तमेव य।
एयाओ तिण्णि पयडीओ, मोहणिज्जस्स दंसणे ॥९॥

छाया—सम्यक्त्वं चैव मिथ्यात्वं, सम्यङ्मिथ्यात्वमेव च।
एतास्तिस्र प्रकृतयः, मोहनीयस्य दर्शने ॥ ९ ॥

शब्दार्थ:—मोहनीय कर्म की दर्शन प्रकृति में—अर्थात् दर्शनमोहनीय कर्म की तीन प्रकृतियां यह हैं—(१) सम्यक्त्वमोहनीय (२) मिथ्यात्वमोहनीय और (३) मिश्र या सम्यङ्मिथ्यात्वमोहनीय।

भाष्य:—मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियों के भेद बतलाने के बाद यहां

दर्शनमोह के भेदों का नामोल्लेख किया गया है। दर्शनमोहनीय के तीन भेद हैं—

(१) सम्यक्त्वमोहनीय - जिसके उदय से सम्यक्त्व गुण का घात तो नहीं होता किन्तु उसमें चल, मल और अगाढ़ दोष उत्पन्न होते हैं उसे सम्यक्त्वमोहनीय कहते हैं। सम्यक्त्वमोहनीय के उदय से सम्यग्दर्शन प्रगाढ़ और निर्मल नहीं हो पाता।

(२) मिथ्यात्वमोहनीय - जिसके उदय से जीव की श्रद्धा विपरीत हो जाती है; हित में अहित और अहित में हित का बोध होने लगता है, वह मिथ्यात्वमोहनीय कर्म है।

(३) सम्यङ्मिथ्यात्वमोहनीय—जिस कर्म के उदय से न तो अतत्त्वश्रद्धान होता है और न तत्त्वश्रद्धान ही होता है वरन मिश्र परिणाम होता है उसे सम्यङ्मिथ्यात्वमोहनीय कहते हैं। जैसे दही और गुड़ मिलाकर खाने से न खट्टा ही स्वाद आता है और न मीठा ही, किन्तु एक भिन्न ही प्रकार का स्वाद आता है उसी प्रकार जात्यन्तर रूप परिणाम के कारणभूत कर्म को मिश्रमोहनीय कहते हैं।

मिथ्यात्व के दस भेद संक्षेप में इस प्रकार हैं:—

(१) पाप कर्मों से सर्वथा विरत, कंचन-कामिनी के त्यागी, सच्चे साधु को साधु न समझना।

(२) जो आरम्भ-परिग्रह में आसक्त हैं, इन्द्रियों के दास हैं, अपनी पूजा-प्रतिष्ठा के लोलुप हैं, हिंसा आदि पापों का आचरण करते हैं, ऐसे साधु-वेषधारियों को साधु समझना।

(३) उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, अकिंचिनता और ब्रह्मचर्य, इन धर्मों को अधर्म समझना।

(४) हिंसा, असत्य, चोरी, जुआ खेलना, मदिरापान करना, आदि पाप कार्यों को धर्म रूप समझना।

(५) शरीर, मन और इन्द्रियों को जो कि अनात्मरूप हैं आत्मा समझ लेना, जैसे नास्तिक लोग समझते हैं।

(६) जीव को अजीव समझना, जैसे गाय, घोड़ा; बकरा, मछली, सुअर आदि जीवों में आत्मा नहीं है ऐसा मानना, जैसे ईसाई मत वाले मानते हैं। वनस्पति, जल और पृथ्वी आदि में जीव न मानना भी इसी मिथ्यात्व में अन्तर्गत है।

(७) मोक्ष के मार्ग को संसार का मार्ग समझना, अर्थात् रत्नत्रय को संसार भ्रमण का कारण समझना। पुण्य को एकान्त रूप से संसार का कारण समझना इसी मिथ्यात्व में सम्मिलित है।

(८) संसार के मार्ग को मोक्ष का मार्ग समझना, जैसे जल में समाधि लेकर आत्मघात करना आदि।

(९) जिन महापुरुषों ने विशिष्ट संवर और निर्जरा के द्वारा समस्त कर्मों का

समूल विनाश कर दिया है, जो कर्मरहित हो गये हैं उन्हें कर्मसहित समझना। जैसे मुक्त जीवों को सर्वज्ञ न मानना, ईश्वर को अवतार लेकर असुरों का घातक मानना आदि।

(१०) कर्मसहित पुरुषों को निष्कर्म मानना, जैसे राग-द्वेष के वश होकर शत्रुओं का संहार करने वाले को मुक्त परमात्मा समझना।

वस्तु के स्वरूप को विपरीत समझना, वीतराग की वाणी में सन्देह करना, अकेले ज्ञान को या अकेली क्रिया को मोक्ष का कारण मानना, खरे खोटे का विवेक न करके सब देवों को समान समझना, अनेक धर्मात्मक वस्तु के प्रतिपादक स्याद्वाद सिद्धान्त को अस्वीकार कर एकान्तवाद अंगीकार करना, इत्यादि सब मिथ्यात्व इन्हीं भेदों में समाविष्ट हो जाते हैं। विवेकी जनों को यथोचित अन्तर्भाव कर लेना चाहिए। मोह के असंख्य रूप हैं, उन सब का विस्तृत विवेचन नहीं किया जा सकता। आभिग्रहिक, अनाभिग्रहिक अनाभोग आदि मिथ्यात्व के भेद भी इन्हीं में अन्तर्गत हैं।

सम्यक्त्वमोहनीय कर्म आंखों पर लगे हुए चश्मे के समान है। चश्मा यद्यपि आंखों का आच्छादक है फिर भी वह देखने में रुकावट नहीं डालता, उसी प्रकार सम्यक्त्व-मोहनीय, मोहनीय का भेद होने पर भी सम्यक्त्व-यथार्थ श्रद्धा में बाधा उपस्थित नहीं करता है। अतएव इस प्रकृति का सद्भाव होने पर भी चौथा गुणस्थान-अविरत सम्यग्दृष्टि अवस्था से लेकर अप्रमत्तसंयत अवस्था तक होती है। मिथ्यात्वमोहनीय के उदय से जीव पहले गुणस्थान में ही रहता है और मिश्र प्रकृति के उदय से तीसरे गुणस्थान में होता है।

मूलः—चरित्तमोहणं कम्मं, दुविहं तु वियाहियं।
कसायमोहणिज्जं तु, नोकषायं तहेव य ॥१०॥

छाया—चारित्रमोहनं कर्म, द्विविधं तु व्याहृतम्।
कषायमोहनीयं तु, नोकषायं तथैव च ॥१०॥

शब्दार्थ — चारित्रमोहनीय कर्म दो प्रकार का कहा गया है-(१) कषायमोहनीय और (२) नोकषायमोहनीय।

भाष्य - दर्शनमोह के भेदों का स्वरूप निरूपण करने के पश्चात् चारित्रमोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियां यहां बताई गई हैं।

जो कर्म चारित्र का विनाश करता है-सम्यक्चारित्र नहीं होने देता उसे चारित्र-मोहनीय कर्म कहते हैं। उसके दो भेद हैं-(१) कषायचारित्रमोहनीय और (२) नोकषाय-चारित्रमोहनीय।

कष अर्थात् जन्म मरण रूप संसार का जिससे, आय अर्थात् प्राप्ति होती है उसे कषाय कहते हैं। कषाय के सोलह भेद जिनागम में निरूपण किये गये हैं। वे इस प्रकार हैं—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान,

माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ।

जिस कषाय के उदय से जीव अनन्तकाल तक भव-भ्रमण करता है उसे अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं। जिस कषाय के प्रभाव से जीव देशविरति अर्थात् थोड़ा सा भी त्याग-प्रत्याख्यान रूप चारित्र नहीं पाल सकता उसे अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं। जिसके उदय से सर्व-विरति अर्थात् महाव्रत रूप पूर्ण संयम रुका रहता है वह प्रत्याख्यानावरण कषाय है। जो कषाय मुनियों को भी किंचित् संतप्त करता है और जिसके उदय से यथाख्यात चारित्र नहीं हो पाता वह संज्वलन कषाय कहलाता है। यह कषाय महाव्रत रूप सर्वविरति में बाधक नहीं होता है।

अनन्तानुबन्धी कषाय की वासना जीवन-पर्यन्त बनी रहती है और इसके उदय से नरकगति के योग्य कर्म-बन्ध होता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय के संस्कार एक वर्ष तक बने रहते हैं और इसके उदय से तिर्यञ्च गति के योग्य कर्म का बन्ध होता है। प्रत्याख्यानावरण कषाय के संस्कार चार महीने तक रहते हैं और उसके उदय से मनुष्य गति के योग्य कर्म का बन्ध होता है। संज्वलन कषाय एक पक्ष तक रहता है और इसके उदय से देव-गति के योग्य कर्म का बन्ध होता है। कषायों की यह स्थिति बाहुल्य की अपेक्षा समझना चाहिये। इसके कुछ अपवाद भी होते हैं।

प्रसंगवश यहां यह बता देना आवश्यक है कि आवश्यक सूत्र में प्रतिक्रमण के पांच भेद किये गये हैं—दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक। इन भेदों का सम्बन्ध कषायों की स्थिति के साथ है। श्रावक अपने व्यवहार में क्रोध, मान, माया और लोभ के सेवन करने से प्राय बच नहीं पाते। इन पापकार्यों से मलीन हुए आत्मपरिणामों को निर्मल बनाने के लिए प्रतिक्रमण किया जाता है। यदि प्रतिदिन प्रातः और सायंकाल पाप के संस्कारों को हटा दिया जाय तो उत्तम है। यह सम्भव न हो तो पाक्षिक प्रतिक्रमण के द्वारा उन्हें अवश्य हटा देना चाहिए; अन्यथा कषाय के वह संस्कार संज्वलन कोटि के न होकर प्रत्याख्यानावरण कषाय के समझे जाएंगे। यदि चार मास में भी उनका निवारण न हुआ अर्थात् चौमासी प्रतिक्रमण न किया तो वे संस्कार अप्रत्याख्यानावरण के होंगे और उनसे तिर्यंच गति का बन्ध होगा और अणुव्रतों का भी वे घात कर देंगे। अन्त में सांवत्सरिक प्रतिक्रमण करके तो उन कषायों को दूर करना ही चाहिए, अन्यथा वे अनन्तानुबन्धी की कोटि के होकर सम्यक्त्व का भी घात करने वाले होंगे और उनसे नरक गति का बन्ध होगा। इसी अभिप्राय से प्रतिक्रमण के इन भेदों का विधान किया है। अतएव संसार-भीरु अध्यात्मनिष्ठ पुरुषों को प्रतिक्रमण करना आवश्यक है, जिससे कषाय के संस्कार नष्ट हो सकें।

सुगमता से समझने के लिए चारों प्रकार के क्रोध, मान, माया और लोभ का स्वरूप दृष्टान्त सहित इस प्रकार है।

(१) संज्वलन क्रोध—पानी में खींची हुई लकीर जैसे शीघ्र ही मिट जाती है

उसी प्रकार जो क्रोध शीघ्र ही शांत हो जावे वह संज्वलन क्रोध है।

(२) प्रत्याख्यानावरण क्रोध - धूल में खींची हुई लकीर कुछ समय में हवा से मिट जाती है उसी प्रकार जो क्रोध थोड़े से उपाय से शांत हो जाय वह प्रत्याख्यानावरण क्रोध कहलाता है।

(३) अप्रत्याख्यानावरण क्रोध—पानी सूखने पर मिट्टी फटने से तालाब आदि में जो दरार पड़ जाती है वह आगे वर्षा होने पर मिटती है, उसी प्रकार जो क्रोध विशेष उपायों के अवलंबन से शांत हो वह अप्रत्याख्यानावरण क्रोध है।

(४) अनन्तानुबंधी क्रोध - पर्वत के फटने से जो दरार होती है उसका मिटना दुःशक्य है इसी प्रकार जो क्रोध किसी भी उपाय से शांत न हो उसे अनन्तानुबंधी क्रोध कहते हैं।

(५) संज्वलन मान—जैसे बेत अनायास ही नम जाता है उसी प्रकार जो मान अनायास ही मिट जाता है वह संज्वलन मान है।

(६) प्रत्याख्यानावरण मान—सूखी हुई लकड़ी जैसे कुछ समय में नमती है उसी प्रकार जो मान जरा कठिनाई से दूर हो वह प्रत्याख्यानावरण मान है।

(७) अप्रत्याख्यानावरण मान - हड्डी को नमाने के लिए अत्यन्त परिश्रम करना होता है उसी प्रकार जो मान बड़ी कठिनाई से दूर होता है वह अप्रत्याख्यानावरण मान है।

(८) अनन्तानुबन्धी मान—पत्थर का स्तम्भ लाख प्रयत्न करने पर भी नहीं मुड़ता, इसी प्रकार जो मान जीवन-पर्यन्त कभी दूर नहीं हो सकता वह अनन्तानुबंधी मान कहलाता है।

(९) संज्वलन माया—जिस माया अर्थात् वक्रता को बांस के छिलके के समान अनायास ही सरलता-सीधेपन में परिणत किया जा सके उसे संज्वलन माया कहते हैं।

(१०) प्रत्याख्यानावरण माया—चलते हुए बैल के पेशाब करने की लकीर टेढ़ी होती है और वह टेढ़ापन धूलि वगैरह के गिरने पर नहीं मालूम होता उसी प्रकार जो कुटिलता कुछ कठिनाई से मिटे वह प्रत्याख्यानावरण माया है।

(११) प्रत्याख्यानावरण माया - मेढ़े के सींग का टेढ़ापन दूर करना अत्यन्त श्रमसाध्य है उसी प्रकार जो माया अत्यन्त प्रयास करने से हटे उसे अप्रत्याख्यानावरण माया कहते हैं।

(१२) अनन्तानुबंधी माया—जैसे बांस की कठिन जड़ का टेढ़ापन दूर नहीं किया जा सकता उसी प्रकार जो कुटिलता आजीवन दूर न हो सके वह अनन्तानुबंधी माया है।

(१३) संज्वलन लोभ—जैसे हल्दी का रंग शीघ्र ही छूट जाता है उसी प्रकार जो लोभ शीघ्र ही मिट जाय वह संज्वलन लोभ है।

(१४) प्रत्याख्यानावरण लोभ—जैसे काजल का रंग कुछ कठिनाई से छूटता है उसी प्रकार जो लोभ कुछ परिश्रम से छूटे वह प्रत्याख्यानावरण लोभ है।

(१५) अप्रत्याख्यानावरण लोभ—गाड़ी के पहियों में लगाये जाने वाले कीचड़-औंगन के समान जो लोभ बड़ी मुश्किल से छूटता है वह अप्रत्याख्यानावरण लोभ कहलाता है।

(१६) अनन्तानुबंधी लोभ—किरमिची का रंग जैसे कपड़ा फट जाने पर भी नहीं छूटता उसी प्रकार जो लोभ जीवन के अन्त तक भी न छूटे वह अनन्तानुबंधी लोभ है।

नो—ईषत् अर्थात् हल्का कषाय नोकषाय कहलाता है। यह नोकषाय कषाय का साथी है और कषायों को उत्तेजित करता है-भड़काता है अतएव इसकी नोकषाय संज्ञा है। नोकषाय के नौ भेद होते हैं—(१) हास्य (२) रति (३) अरति (४) शोक (५) भय (६) जुगुप्सा (७) स्त्रीवेद (८) पुरुषवेद (९) नपुंसकवेद।

जिसके उदय से निष्कारण या सकारण हंसी आवे उसे हास्यनोकषाय कर्म कहते हैं। जिसके उदय से धन, पुत्र, देश, राज्य आदि में अनुराग हो उसे रतिनोकषाय कर्म कहा गया है। जिसके उदय से पूर्वोक्त पदार्थों में अप्रीति हो उसे अरतिनोकषाय कर्म कहते हैं। जिसके उदय से इष्ट के वियोग होने पर क्लेश हो वह शोकनोकषाय कर्म है। जिसके उदय से चित्त में उद्वेग हो वह भयनोकषाय कर्म है। जिसके उदय से ग्लानि उत्पन्न होती है वह जुगुप्सानोकषाय कर्म कहलाता है. जिसके उदय से पुरुष के साथ रमण करने की इच्छा हो वह स्त्रीवेद, जिसके उदय से स्त्री के साथ रमण करने की इच्छा हो वह पुरुषवेद और जिसका उदय होने पर दोनों के साथ रमण करने की अभिलाषा हो वह नपुंसक वेद कर्म कहलाता है।

इस प्रकार तीन भेद दर्शनमोहनीय के और पच्चीस भेद चारित्रमोहनीय के सोलह भेद कषायचारित्रमोह के और नौ नोकषायचारित्र मोह के) मिलकर कुल अट्ठाईस भेद मोहनीय कर्म के होते हैं।

मूल:—सोलसविहभेएणं, कम्मं तु कसायजं।
सत्तविहं नवविहं वा, कम्मं च नोकसायजं ॥ ११ ॥

छाया:—षोडशविधभेदेन, कर्म तु कषायजम्।
सप्तविधं नवविधं वा, कर्म च नोकषायजम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ:—कषायरूप चारित्रमोहनीय कर्म सोलह प्रकार का है और नोकषाय रूप चारित्रमोहनीय कर्म सात प्रकार या नौ प्रकार का है।

भाष्य:—दोनों प्रकार के मोहनीय के भेदों का विवेचन सुगमता के उद्देश्य से ऊपर किया जा चुका है। अब उनके विवेचन की आवश्यकता नहीं है। विशेष इतना समझना चाहिए कि नोकषायचारित्रमोहनीय के नौ भेदों के बजाय सात भेद भी हैं।

तीनों वेदों की पृथक् गणना करने से नौ भेद होते हैं और सामान्य रूप से वेद को एक माना जाय तो सात भेद होते हैं। दोनों प्रकार की संख्या में तात्त्विक भेद बिलकुल नहीं है, यह तो विवक्षा का साधारण भेद है।

केवली भगवान् का, वीतराग-प्ररूपित शास्त्र का, चतुर्विध संघ का तथा देवों का अवर्णवाद करने से दर्शनमोहनीय कर्म का बन्ध होता है। तीव्र क्रोध, तीव्र मान, तीव्र माया, और तीव्र लोभ करने से चारित्र मोहनीय कर्म का बन्ध होता है। इस प्रकार मोहनीय कर्म का विवेचन यहां समाप्त होता है।

मूल:—नेरइयतिरिक्खाउं, मणुस्साउं तहेव य।
देवाउयं चउत्थं तु, आउकम्मं चउव्विहं ॥१२॥

छाया:—नैरयिकतिर्यगायुः, मनुष्यायुस्तथैव च।
देवायुश्चतुर्थं तु, आयुः कर्म चतुर्विधम् ॥१२॥

शब्दार्थ:—आयु कर्म चार प्रकार का है-(१) नरकायु (२) तिर्यञ्चायु (३) मनुष्यायु और (४) देवायु।

भाष्य:—मोहनीय कर्म के निरूपण के पश्चात् क्रमप्राप्त आयु कर्म का विवेचन यहां किया गया है। नियत समय तक जीव को शरीर में रोके रखने वाला कर्म आयु कर्म कहलाता है। उसकी चार उत्तर प्रकृतियां हैं—नरक-आयुष्य, तिर्यञ्च-आयुष्य, मनुष्य-आयुष्य और देव-आयुष्य। जो कर्म नारक जीवों को नारकी-शरीर में रोक रखता है—मरने की इच्छा होने पर भी नहीं मरने देता—वह नरकायुष्य कर्म कहलाता है। इसी प्रकार जो कर्म तिर्यञ्च के शरीर में जीव को बनाये रखता है वह तिर्यञ्च-आयु कर्म कहलाता है। मनुष्य और देव के शरीर में जीव को रोक रखने वाला मनुष्य-आयु कर्म और देव आयु कर्म कहलाता है। आयु कर्म का क्षय होने पर कोई मनुष्य या देवता जीवित रहना चाहे तो भी वह जीवित नहीं रह सकता। इस प्रकार आयु कर्म के उदय से जीव जीता है और उसके क्षय से मर जाता है।

आयु दो प्रकार की होती है—अपवर्त्तनीय और अनपवर्त्तनीय। जो आयु, अग्नि, जल, विष और शस्त्र आदि से कम हो जाती है अर्थात् चिरकाल में भोगने योग्य आयु कर्म के दलिक शीघ्र भोग लिये जाते हैं, वह आयु अपवर्त्तनीय कहलाती है। इस आयु के समाप्त होने पर जो मरण होता है वह अकालमरण कहलाता है। अकाल-मरण कहने का तात्पर्य यही है कि जो आयु कर्म पच्चीस-पचास वर्ष में धीरे-धीरे भोगा जाना था, वह विष आदि का निमित्त पाकर एक अन्तमुहूर्त्त में ही भोग लेना पड़ता है। जैसे डाल पर लगा हुआ फल दस-पन्द्रह दिन या एक मास में पकता है और उसी को तोड़ कर यदि अनाज आदि में दबा दिया जाय तो एक-दो दिन में ही पक जाता है, उसी प्रकार आयु कर्म का भी बाह्य निमित्त पाकर शीघ्र परिपाक हो जाता है।

जो आयु किसी भी कारण से कम नहीं होती अर्थात् पूर्व जन्म में जितने समय की बन्धी है उतने ही समय में भोगी जाती है उसे अनपवर्त्तनीय आयु कहते हैं। देवों, नारकियों, चरम शरीरियों (उसी भव से मोक्ष जाने वालों) चक्रवर्ती, वासुदेव आदि उत्तम पुरुषों और असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य तिर्यञ्चों की आयु अनपवर्त्तनीय होती है। इनकी आयु को विष, शस्त्र, अग्नि, जल आदि कोई भी कारण न्यून नहीं कर सकता।

महा आरम्भ करना, महा परिग्रह रखना, अत्यन्त लालसा होना, पचेन्द्रिय जीवों का वध करना, मांसभक्षण करना आदि घोर कार्य करने से नरक आयु का बन्ध होता है। छल-कपट करना, कपट को छिपाने के लिए फिर कपट करना, असत्य भाषण करके कपट करना, तोलने-नापने की वस्तुओं को कम-अधिक देना-लेना, इत्यादि कार्य करने से तिर्यंच आयु बन्धती है। निष्कपट व्यवहार करना, नम्रता का भाव रखना, अल्प आरम्भ करना, अल्प परिग्रह रखना, ईर्ष्या भाव न रखना, सब जीवों पर दयाभाव रखना, इत्यादि कारणों से मनुष्य आयु का बन्ध होता है। सराग संयम, श्रावक धर्म का आचरण, अज्ञानयुक्त तपश्चरण, बिना इच्छा के बलात्कार पूर्वक भूख, प्यास, सर्दी-गर्मी आदि का कष्ट सहन करना इत्यादि कारणों से देव-आयु कर्म का बन्ध होता है।

अन्य कर्मों से आयु कर्म के बन्ध में एक खास ध्यान देने योग्य विशेषता है। वह यह है कि सात कर्मों का प्रतिक्षण-निरन्तर बन्ध होता रहता है किन्तु आयु कर्म का बन्ध प्रतिक्षण नहीं होता। वर्त्तमान आयु के जब छह महीने शेष रहते हैं तब देव और नारकी जीवों को नवीन आयु का बन्ध होता है। मनुष्य और तिर्यञ्च वर्त्तमान आयु का तीसरा भाग शेष रहने पर चारों आयुओं में से किसी एक का बन्ध करते हैं। भोगभूमि के जीव छह माह शेष रहने पर देव-आयु का बन्ध करते हैं।

एक बार जो आयु बन्ध जाती है वह फिर भोगे बिना छूट नहीं सकती। किन्तु एक जीव में आठ अपकर्षण काल होते हैं। अर्थात् आठ बार ऐसा समय आता है जब तीसरा भाग शेष रहने पर आयु बन्ध होता है। पहली बार तीसरा भाग शेष रहने पर अगर आयु का बन्ध हो गया तो उस तीसरे भाग का तीसरा भाग अवशिष्ट रहने पर फिर उसी आयु का बन्ध होता है किन्तु परिणामों के अनुसार स्थिति कम या अधिक या ज्यों की त्यों हो सकती है। उसके बाद तीसरे भाग के तीसरे भाग का तीसरा भाग शेष रहने पर फिर इसी प्रकार आयु में न्यूनता-अधिकता आदि सम्भव है। इसी प्रकार आठ विभाग होते हैं।

हमारी वर्त्तमान आयु कितनी है? उसके दो भाग कब व्यतीत होंगे और तीसरा भाग कब शेष रहेगा? यह छद्मस्थ जीव नहीं जान पाते। इसलिए उन्हें आयु-बंध का समय भी ज्ञात नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में प्रत्येक का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने परिणामों की शुद्धि के लिए सदा प्रयत्नशील रहे और अन्तःकरण को किसी भी क्षण मलिन न होने दे। सम्भव है जिस क्षण हृदय में पाप का

संचार हो उसी समय आयु का बन्ध हो जाय !

दो भाग बीतने पर और एक भाग शेष रहने पर आयु का बन्ध होने की ओर लक्ष्य रखकर ही सम्भवतः दो-दो तिथियों के पश्चात् एक-एक तिथि को पर्व तिथि के रूप में मनाने की व्यवस्था की गई है। जो भी हो, निरन्तर अप्रमत्त रहकर आन्तरिक शुद्धता के लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता तो बनी ही रहती है। अतएव भव्य जीव, जो परभव में सुख के अभिलाषी हैं, उन्हें एक क्षण के लिए भी प्रमाद में नहीं पड़ना चाहिए।

मूलः—नामकम्मं तु दुविहं, सुहं असुहं च आहियं।
सुहस्स उ बहू भेया, एमेव असुहस्स वि ॥ १३ ॥

छाया —नाम कर्म तु द्विविधं, शुभमशुभं चाहृतम्।
शुभस्य तु बहवो भेदाः, एवमेवाशुभस्याऽपि ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—नाम कर्म के दो भेद हैं-(१) शुभ नामकर्म और (२) अशुभ नामकर्म। शुभ नामकर्म के बहुत से भेद हैं और इसी प्रकार अशुभ नामकर्म के भी बहुत से भेद हैं।

भाष्य—नामकर्म की प्रकृति चित्रकार के समान है। चित्रकार जैसे हाथी, घोड़ा, गाय, भैंस मनुष्य आदि के नाना आकार अंकित करता है, उसी प्रकार नाम कर्म भी—नाना प्रकार के मनुष्य, देव, पशु, पक्षी आदि-आदि की रचना करता है। नाम कर्म के भेद कई प्रकार से बताये गये हैं। किसी अपेक्षा से ४२ भेद, किसी अपेक्षा से ६७ भेद और किसी अपेक्षा से ९३ या १०३ भेद भी कहे गये हैं संक्षेप की अपेक्षा दो भेद भी होते हैं, जैसा कि यहां सूत्रकार ने प्रतिपादन किया है।

नामकर्म के मूल दो भेद हैं—शुभ अर्थात् प्रशस्त और अशुभ अर्थात् अप्रशस्त। शुभ नामकर्म के अनेक भेद हैं और अशुभ के भी अनेक भेद हैं। यहां बयालीस भेदों का उल्लेख किया जाता है—(१) गति नाम कर्म (२) जाति नाम कर्म (३) शरीर नाम कर्म (४) अंगोपांग नामकर्म (५) बंधन नाम (६) संघात नाम (७) संहनन नाम (८) संस्थान नाम (९) वर्ण नाम (१०) गंधनाम (११) रस नाम (१२) स्पर्श नाम (१३) आनुपूर्वी नाम (१४) विहायोगति नाम (१५) पराघात नाम (१६) उच्छ्वास नाम (१७) आतप नाम (१८) उद्योत नाम (१९) अगुरुलघु नाम (२०) तीर्थंकर नाम (२१) निर्माण नाम (२२) उपघात नाम (२३) त्रस नाम (२४) स्थावर नाम (२५) बादर नाम (२६) सूक्ष्म नाम (२७) पर्याप्त नाम (२८) अपर्याप्त नाम (२९) प्रत्येक नाम (३०) साधारण नाम (३१) स्थिर नाम (३२) अस्थिर नाम (३३) शुभ नाम (३४) अशुभ नाम (३५) सुभग नाम (३६) दुर्भग नाम (३७) सुस्वर नाम (३८) दुःस्वर नाम (३९) आदेय नाम (४०) अनादेय नाम (४१) यशः कीर्ति नाम (४२) अयशः कीर्ति नाम।

इन बयालीस में उत्तर भेदों के भी अनेक उत्तरोत्तर भेद हैं। जैसे गति के चार

भेद जाति के पांच भेद, शरीर के पांच भेद; अंगोपांग के तीन भेद, बन्धन के पांच भेद, संघात के पांच भेद, संहनन के छह भेद, संस्थान के छह भेद, वर्ण के पांच भेद, गन्ध के दो भेद, रस के पांच भेद, स्पर्श के आठ भेद, आनुपूर्वी के चार भेद विहायोगति के दो भेद। इस प्रकार इनकी संख्या कुल पैंसठ है। इनमें पराघात आदि आगे की अट्ठाईस प्रकृतियां सम्मिलित करने से नाम कर्म की तेरानवे प्रकृतियां हो जाती हैं। यह तेरानवे भेद सत्ता की अपेक्षा जानने चाहिए।

प्रारम्भ की चौदह प्रकृतियां अनेक भेद रूप होने के कारण पिंडकृतियां कहलाती हैं। उनके भेदों की संख्या अभी बतलाई गई है। भेदों के नाम इस प्रकार हैं:—

(१) गति नामकर्म - जिस नाम कर्म के उदय से जीव देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारक अवस्था प्राप्त करे वह गति नामकर्म। उसके यही देवादि के भेद से चार भेद हैं।

(२) जाति नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय या पंचेन्द्रिय कहलावे, वह जातिनामकर्म है। यही इसके भेद हैं।

(३) शरीर नामकर्म—जिसके उदय से जीव को शरीर की प्राप्ति हो। इसके पांच भेद हैं—औदारिक शरीरनामकर्म, वैक्रियशरीर नामकर्म, आहारकशरीर नामकर्म तैजसशरीर नामकर्म और कार्मणशरीर नामकर्म।

(४) अंगोपांग नामकर्म—जिस कर्म के उदय से पुद्गल, अंगों और उपांगों के रूप में परिणत हों। इसके तीन भेद हैं – औदारिक अंगोपांग नाम (२) वैक्रिय अंगोपांग नाम (३) आहारक-अंगोपांग नाम।

(५) बन्धन नामकर्म जिस कर्म के उदय से पहले ग्रहण किये हुए शरीर-पुद्गलों के साथ वर्त्तमान में ग्रहण किये जाने वाले पुद्गलों का सम्बन्ध हो। इसके पांच भेद हैं—पांच शरीरों के नाम के ही अनुसार पांच भेद।

(६) संघात नामकर्म—जिसके उदय से शरीर के पुद्गल व्यवस्थित रूप से स्थापित हो जावें। शरीर के भेदों के अनुसार ही संघात नाम के भी पांच भेद होते हैं।

(७) संहनन नामकर्म – जिस कर्म के उदय से शरीर में हाड़ों का परस्पर में जोड़ होता है। इसके छह भेद हैं- वज्र-ऋषभनाराच संहनन, ऋषभनाराच संहनन, नाराच संहनन, अर्धनाराच संहनन, कीलिक संहनन और सेवार्त्त संहनन।

(८) संस्थान नामकर्म – जिस कर्म के उदय से शरीर का कोई आकार बने वह संस्थान नाम कर्म है। इसके छह भेद हैं-समचतुरस्र संस्थान (पालथी मार कर बैठने से शरीर के चारों कोने समान हों उस शरीर का आकार), न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान (ऊपर के अवयव स्थूल और नीचे के अवयव अत्यन्त हीन-बड़ के वृक्ष के समान शरीर का आकार) सादिसंस्थान (न्यग्रोध परिमण्डल से विपरीत आकार) कुब्जक संस्थान (कुबड़ा आकार) वामन संस्थान (बौना आकार) हुंडक संस्थान (बेढंगा शरीर का आकार) यह आकार जिस कर्म के उदय से होते हैं उसे

वही नामकर्म कहते हैं— जैसे समचतुरस्रसंस्थान नामकर्म आदि आदि।

(९) वर्ण नामकर्म—जिसके उदय से शरीर में गोरा काला आदि वर्ण होता है। उसके पांच भेद हैं-कृष्ण वर्णनाम नील वर्णनाम, रक्त वर्णनाम, पीत वर्णनाम और सित वर्णनाम।

(१०) गन्ध नामकर्म—जिसके उदय से शरीर में सुगन्ध वा दुर्गंध हो। उसके दो भेद हैं-सुरभिगन्धनाम और दुरभिगन्धनाम।

(११) रसनामकर्म—जिसके उदय से शरीर में किसी प्रकार का रस हो उसके पांच भेद हैं-तिक्तनाम. कटुनाम, कषायनाम, अम्लनाम और मधुरनाम कर्म।

(१२) स्पर्श नामकर्म—जिस कर्म के उदय से शरीर में कोई स्पर्श हो वह स्पर्श नाम कर्म है। उसके आठ भेद हैं--गुरुनाम, लघुनाम, मृदुनाम, कर्कशनाम, शीतनाम उष्णनाम, स्निग्धनाम, रूक्षनामकर्म।

(१३) आनुपूर्वी नामकर्म—एक शरीर का त्याग करने के पश्चात् नवीन शरीर धारण करने के लिए जीव अपने नियत स्थान पर जिस कर्म के उदय से पहुंचता है वह आनुपूर्वी नामकर्म है। गति नामकर्म के चार भेदों के समान इसके भी चार भेद हैं।

(१४) विहायोगतिनाम—जिस कर्म के उदय से जीव की चाल अच्छी या बुरी होती है। इसके दो भेद-शुभविहायोगति और अशुभविहायोगति नाम कर्म।

नामकर्म की इन प्रकृतियों को ध्यानपूर्वक पढ़ा जाय तो मालूम होगा कि नाम कर्म का कार्य शरीर की रचना करना, उसकी विभिन्न आकृतियां बनाना, नवीन जन्म धारण करने के स्थान पर पहुंचाना, त्रस या स्थावर रूप प्रदान करना, शरीर में किसी प्रकार का रंग, गन्ध, रस और स्पर्श बनाना, सुन्दर-असुन्दर स्वर उत्पन्न करना, आदि-आदि हैं। इसका कार्य बहुत विस्तृत है और इसी कारण इसकी प्रकृतियों की संख्या सभी कर्मों से अधिक है।

सूत्रकार ने शुभ और अशुभ नामकर्म के बहुत-बहुत भेद बताये हैं सो इस प्रकार समझना चाहिए:—जिस प्रकृति का फल प्राणी को इष्ट है, जिसकी प्राप्ति से उसे सन्तोष होता है वह शुभ नामकर्म है और जिस प्रकृति का फल जीव को अनिष्ट है, वह प्रकृति अशुभ है। पूर्वोक्त प्रकृतियों में से (१) मनुष्यगति (२) मनुष्य गति की आनुपूर्वी (३) देव गति (४) देवगति की आनुपूर्वी (५) पंचेन्द्रिय जाति (६-१०) पांच शरीर, (११-१५) पांच बन्धन, (१५-२०) पांच संघात, (२०--२३) तीन अंगोपांग, (२४) इष्ट वर्ण (२५) इष्ट गन्ध (२६) इष्ट रस (२७) इष्ट स्पर्श (२८) समचतुरस्रसंस्थान (२९) वज्रऋषभनाराच संहनन (३०) प्रशस्तविहायोगति (३१) पराघात (३२) उच्छ्वास (३३) आतप (३४) उद्योत (३५) अगुरुलघु (३६) तीर्थंकर नाम कर्म (३७) निर्माण (३८) त्रस (३९) बादर (४०) पर्याप्त (४१) प्रत्येक (४२) स्थिर (४३) शुभ (४४) सुभग (४५)

सुस्वर (४६) आदेय (४७) यशःकीर्त्ति, यह नाम कर्म की शुभ प्रकृतियां हैं अतएव शुभ नाम कर्म के इतने भेद होते हैं। इन्हीं प्रकृतियों में सातावेदनीय, देव आयु, मनुष्य आयु, तिर्यञ्च आयु और उच्च गोत्र को सम्मिलित कर देने से समस्त पुण्य प्रकृतियां बावन हो जाती हैं।

इनके अतिरिक्त जो प्रकृतियां शेष रहती हैं वे जीव को अनिष्ट होने के कारण पाप प्रकृतियां हैं। यहां यह ध्यान देने योग्य है कि तिर्यञ्च आयु को पुण्य प्रकृतियों में गिना गया है और तिर्यञ्च गति को पाप प्रकृतियां में सम्मिलित किया गया है। इसका कारण यह है कि तिर्यञ्च गति जीव को अनिष्ट है, क्योंकि तिर्यञ्च गति में कोई जाना नहीं चाहता, किन्तु जो तिर्यञ्च में चले जाते हैं वे उसका त्याग करना नहीं चाहते--वे मरने से बचने का प्रयत्न करते हैं, अतएव तिर्यञ्चों को तिर्यञ्च आयु इष्ट है। इसी कारण उसे शुभ आयुओं में गिनाया गया है। नारक जीव नरक में जीवित नहीं रहना चाहते, वे उस आयु का नाश चाहते हैं अतएव नरक-आयु अशुभ है और नरक गति में कोई जाना भी नहीं चाहता इसलिए नरक गति भी अशुभ है। इस प्रकार नाम कर्म का संक्षेप में दिग्दर्शन कराया गया है। विस्तृत विवेचन जिज्ञासुओं को अन्यत्र देखना चाहिए।

इतना और ध्यान रखना चाहिए कि वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श नाम कर्म पुण्य प्रकृतियों में भी हैं और पाप प्रकृतियों में भी हैं। जिस जीव को जो वर्ण, गन्ध आदि इष्ट हैं-प्रिय हैं-उसके लिए वह शुभ हैं और जिसे जो अप्रिय हैं उसके लिए वही अशुभ बन जाते हैं। अनिष्ट वर्ण आदि की प्राप्ति अशुभ नाम कर्म से होती है और इष्ट वर्ण आदि की प्राप्ति शुभ नाम कर्म के उदय से होती है।

मन वचन काय की वक्रता से अर्थात् मन में कुछ हो, वचन से और ही कुछ कहे और काय से और ही कुछ करे तथा वैरविरोध करे तो अशुभ नाम कर्म का बन्ध होता है। इनसे विपरीत सरलता रखने तथा वैर-विरोध न करने से शुभ नाम कर्म का बन्ध होता है।

मूलः—गोयकम्मं तु दुविहं, उच्चं नीअं च आहियं।
उच्चं अट्ठविहं होइ; एवं नीयं वि आहियं ॥१४॥

छायाः—गोत्रकर्म तु द्विविधं, उच्चैर्नीचैश्च आहृतम्।
उच्चैरष्टविधं भवति, एवं नीचैश्चापि आहृतम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थः—गोत्र कर्म दो प्रकार का है—उच्च गोत्र कर्म और नीच गोत्र कर्म। उच्च गोत्र कर्म आठ प्रकार का है और नीच गोत्र भी आठ प्रकार का है।

भाष्यः—कुल-परम्परा से चला आया हुआ आचरण यहां गोत्र शब्द का अर्थ है। जिस कुल में परम्परा से धर्म और नीति युक्त आचरण होता है वह उच्च गोत्र और जिस कुल में अधर्म और अन्याय पूर्ण आचरण होता है वह नीच गोत्र

है। अतएव जिस कर्म के उदय से धार्मिक अर्थात् प्रशस्त कुल में - जैसे इक्ष्वाकु कुल हरिवंश ज्ञानवंश आदि में —जीव जन्म लेता है उस कर्म को उच्च गोत्र कर्म कहते हैं और जिस कर्म के उदय से अधार्मिक अथवा अन्याय और अधर्म के लिए वदनाम कुल में—जैसे भिक्षुक कुल, कसाइयों का कुल, आदि में-जन्म लेता है वह नीच गोत्र कहलाता है।

ऊपर की व्याख्या से यह स्पष्ट है कि गोत्र कर्म का संबंध परम्परागत व्यवहार से उत्पन्न होने वाली प्रतिष्ठा और अप्रतिष्ठा के साथ है। कई लोग इसका अस्पृश्यता और स्पृश्यता के साथ संबंध बतलाकर स्वयं भ्रम में हैं और दूसरों को भ्रम में डालते हैं। जैन-धर्म गुणवादी धर्म है, उसने जातिवाद को कभी स्वीकार नहीं किया है। श्रमण भगवान् महावीर ने सुस्पष्ट शब्दों में घोषणा की है कि 'न दीसइ जाइविसेस कोई' अर्थात् मनुष्य-मनुष्य में भेद डालने वाली जाति कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती। ऐसी अवस्था में जैनधर्म किसी मनुष्य को जन्मतः अस्पृश्य नहीं स्वीकार कर सकता। नीच गोत्र कर्म के उदय से जीव अस्पृश्य होता है, यह कथन सिद्धांत के प्रति अनभिज्ञता को प्रकट करता है। जैनागम में नारकी और तिर्यञ्चों को नियम से नीच गोत्र कर्म का उदय बतलाया गया है। यदि नीच गोत्र का उदय अस्पृश्यता का कारण माना जाय तो समस्त गाय, बैल, घोड़ा हाथी, भैंस, बकरी, कबूतर आदि तिर्यञ्च अस्पृश्य ही माने जाने चाहिए, क्योंकि इन सब के नीच गौत्र का उदय है। किन्तु इन पशुओं को कोई अस्पृश्य नहीं मानता। यही नहीं, बल्कि गाय भैंस आदि दूध देने वाले पशुओं का दूध भी पिया जाता है। इधर यह बात है और दूसरी ओर यह कहना कि नीच गोत्र का उदय अस्पृश्यता का कारण है, सर्वथा असंगत है। यही नहीं, आगम के अनुसार समस्त देवों के उच्च गोत्र का उदय होता है, फिर भी किल्विष जाति के देव चाण्डालों की भांति देवों में अस्पृश्यसे समझे जाते हैं। अतएव इससे यह स्पष्ट है कि नीच गोत्र कर्म अस्पृश्यता का कारण नहीं और उच्च गोत्र कर्म स्पृश्यता का कारण नहीं है।

शास्त्र के अनुसार कोई भी मनुष्य जन्म से अस्पृश्य नहीं होता। हरिकेशी जैसे चाण्डाल कुलोद्भव भी महामुनि जैन-शासन में पूज्य माने गये हैं। छुआछूत तो लौकिक व्यवहार है और वह कल्पना पर आश्रित है। सम्यग्दृष्टि जीव इस काल्पनिक व्यवहार को धर्मानुकूल नहीं समझता।

उच्च गोत्र कर्म के आठ भेद हैं—[१] प्रशस्त जाति गोत्र कर्म [२] प्रशस्त कुल गौत्र कर्म [३] प्रशस्त बल गोत्र कर्म [४] प्रशस्त रूप गोत्र कर्म [५] प्रशस्त तप गोत्र कर्म [६] प्रशस्त सूत्र गोत्र कर्म [७] प्रशस्त लाभ गोत्र कर्म [८] प्रशस्त ऐश्वर्य गोत्र कर्म। तात्पर्य यह है कि जिस कर्म के उदय से उक्त आठों वस्तुएं प्रशस्त रूप में प्राप्त हो वह उच्च गोत्र कर्म आठ प्रकार का है।

अप्रशस्त जाति, कुल आदि के भेद से नीच गोत्र कर्म भी आठ प्रकार का है।

उच्च श्रेणी के मातृकुल का, पिता के वंश का, ताकत का, तप का, विद्वत्ता

का, रूप का, लाभ का और ऐश्वर्य का अभिमान न करने से उच्च गोत्र का बंध होता है। तथा विनम्रता रखने से, दूसरों की प्रशंसा और अपने दोषों की निन्दा करने से अपने दोषों को और दूसरों के गुणों को प्रकाशित करने से भी उच्च गोत्र कर्म बंधता है।

जाति, कुल, बल, विद्वत्ता, तप, लाभ, रूप और ऐश्वर्य का घमंड करने से तथा अपने मुंह अपनी प्रशंसा करने, परनिन्दा करने; दूसरे के सद्गुणों को छिपाने से और अपने असत् (अविद्यमान) गुणों को प्रकट करने से, नीचगोत्र कर्म का बंध होता है।

मूलः-दाणे लाभे य भोगे य, उवभोगे वीरिये तहा।
पंचविहंतरायं, समासेण वियाहियं ॥ १५ ॥

छाया:—दाने लाभे च भोगे च, उपभोगे वीर्ये तथा।

पंचविधमन्तरायं, समासेन व्याख्यातम् ।। १५ ।।

शब्दार्थः—अन्तराय कर्म संक्षेप से पांच प्रकार का कहा गया है--(१) दानान्तराय (२) लाभांतराय (३) भोगांतराय (४) उपभोगांतराय और (५) वीर्यान्तराय।

भाष्य:—सात कर्मों के विवेचन के पश्चात् अन्तिम अन्तराय कर्म का विवेचन यहां किया गया है ! जिस कर्म के उदय से इष्ट वस्तु की प्राप्ति में बाधा उपस्थित होती है वह अन्तराय कर्म कहलाता है। उसके पांच भेद हैं—[१] दानान्तराय [२] लाभान्तराय [३]भोगान्तराय [४] उपभोगान्तराय [५]वीर्यान्तराय। इन पांचों का स्वरूप इस प्रकार है:-

[१] दानान्तराय—दान देने योग्य वस्तु मौजूद हो, दान के श्रेष्ठ फल का भी ज्ञान हो, फिर भी जिस कर्म के उदय से दान न दिया जा सके, वह दानान्तराय कर्म है।

[२] लाभान्तराय—उदारचित्त दाता हो, दान देने योग्य वस्तु हो, फिर भी जिस कर्म के उदय से लाभ न हो वह लाभान्तराय कर्म है। लाभ की इच्छा हो, लाभ के लिए प्रयत्न भी किया जाय, फिर भी जिसके उदय से लाभ न हो सके वह लाभान्तराय कर्म है।

[३] भोगान्तराय—भोगों से विरक्ति न हुई हो और भोग की सामग्री मौजूद हो फिर भी जिस कर्म के उदय से जीव भोग न भोग सके उसे भोगान्तराय कर्म कहते हैं।

[४] उपभोगान्तराय उपभोग की सामग्री के विद्यमान रहने पर भी और उपभोग की इच्छा होने पर भी जिस कर्म के उदय से पदार्थों का उपभोग न किया जा सके वह उपभोगान्तराय कर्म है।

जो पदार्थ सिर्फ एक बार भोगे जाते हैं उन्हें भोग कहते हैं, जैसे भोजन, फल,

जल आदि। और जो पदार्थ बार-बार भोगे जाते हैं उन्हें उपभोग कहते हैं, जैसे-मकान, वस्त्र, आभूषण, मोटर आदि।

(५) वीर्यान्तराय – जिस कर्म के उदय से जीव अपनी शक्ति को प्रगट करने की इच्छा रखते हुए भी प्रकट न कर सके वह वीर्यान्तराय कर्म है।

वीर्य का अर्थ है शक्ति। शक्ति में बाधा डालने वाला कर्म वीर्यान्तराय कहलाता है। वीर्यान्तराय कर्म के तीन अवान्तर भेद हैं—(१) बालवीर्यान्तराय (२) पण्डितवीर्यान्तराय और (३) बालपण्डितवीर्यान्तराय। सांसारिक कार्यों को करने की जीव में शक्ति तो हो किन्तु जिस कर्म के उदय से वह प्रकट न हो सके उसे बालवीर्यान्तराय कर्म कहते हैं। साधु मोक्ष-साधक जिन क्रियाओं को जिस कर्म के उदय से नहीं कर पाता वह पण्डित-वीर्यान्तराय कर्म है। जिस कर्म के उदय से जीव इच्छा रहते हुए भी देशविरति का पालन नहीं कर सकता वह कर्म बाल-पण्डित-वीर्यान्तराय कर्म कहलाता है।

अन्तराय कर्म के बन्ध के कारण इस प्रकार हैं—दान देते हुए के बीच में बाधा डालने से, किसी को लाभ हो रहा तो उसमें बाधा डालने से, भोजन-पान आदि भोग की प्राप्ति में विघ्न उपस्थित करने से, तथा उपभोग योग्य पदार्थों की प्राप्ति में अड़ंगा लगाने से और कोई जीव अपनी शक्ति को प्रगट करने का प्रयत्न कर रहा हो तो उसके प्रयत्न में रोड़ा अटकाने से अन्तराय कर्म का बन्ध होता है। पशुओं को या अपने आश्रितजनों को अथवा दीन-दुःखी जीवों को या श्रावक और सम्यग्दृष्टि जीव को भोजन आदि देना पाप है, ऐसा उपदेश देने से भी अन्तराय कर्म का बन्ध होता है।

शंका—संसारी जीव को आयु कर्म को छोड़ कर शेष सात कर्मों का प्रतिक्षण बन्ध होता रहता है। यदि पूर्वोक्त बन्ध के कारण अलग-अलग कर्मों के अलग-अलग हैं तो प्रतिक्षण सातों कर्म कैसे बन्ध सकते हैं? जीव एक समय में एक क्रिया करेगा और उससे यदि एक ही कर्म का बन्ध होता है तो सातों का युगपत्-एक साथ बन्ध नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में अलग-अलग कर्मों के बन्ध के अलग-अलग कारण क्यों बताये गये हैं?

समाधान – पृथक्-पृथक् कर्मों के जो पृथक्-पृथक् कारण बतलाये हैं सो प्रदेश-बन्ध की अपेक्षा से नहीं किन्तु अनुभागबन्ध की अपेक्षा से समझना चाहिए। पूर्वोक्त कारणों का अनुभाग बन्ध के साथ सम्बन्ध होने के कारण ही पृथक्-पृथक् कारण बताये गये हैं। उदाहरणार्थ – शोक करने से असातावेदनीय का बंध बताया गया है, इसका आशय यह है कि शोक करने से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध तो सातों कर्मों का ही होता है किन्तु अनुभाग बन्ध उससे असातावेदनीय का विशिष्ट होता है। इसी प्रकार बन्ध के अन्य कारणों के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए।

उक्त आठों कर्मों की उत्तर प्रकृतियां एक सौ अड़तालीस होती हैं। उनमें से

जीवविपाकी अर्थात् जीव में फल देने वाली प्रकृतियां अठत्तर हैं। वे इस प्रकार हैं-चार घातिया कर्मों की प्रकृतियां ४७, गोत्र कर्म की २, वेदनीय की २,—५१, (५२) तीर्थंकर नाम कर्म (५३) उच्छ्वास नाम (५४) बादर नाम (५५) सूक्ष्म नाम (५६) पर्याप्त नाम (५७) अपर्याप्त नाम (५८) सुस्वर नाम (५६) दुःस्वर नाम (६०) आदेय नाम (६१) अनादेय नाम ६२) यशः कीर्ति नाम (६३) अयशःकीर्ति नाम (६४) त्रस नाम (६५) स्थावर नाम (६६) प्रशस्त विहायोगति नाम (६७) अप्रशस्त विहायोगति नाम (६८) सुभग नाम (६६) दुर्भग नाम (७०) मनुष्य गति (७१) देव गति (७२) तिर्यञ्च गति (७३) नरक गति (७४-७८) पांच जातियां—एकेन्द्रिय जाति आदि । इन अठत्तर प्रकृतियों का फल साक्षात् जीव में होता है।

जिन प्रकृतियों का फल भव में होता है वे भवविपाकी प्रकृतियां चार हैं। वे इस प्रकार—(१) नरकायु (२) तिर्यञ्चायु (३) मनुष्यायु (४) देवायु।

जिन प्रकृतियों का फल नियत स्थान पर अर्थात् परलोक को गमन करते समय जीव को मार्ग में ही होता है, वे क्षेत्रविपाकी प्रकृतियां चार हैं—(१) नरकानुपूर्वी (२) तिर्यञ्चानुपूर्वी (३) मनुष्यानुपूर्वी और (४) देवानुपूर्वी।

पुद्गल में ही अपना फल देने वाली पुद्गलविपाकी प्रकृतियां बासठ हैं। वे इस प्रकार हैं—जीवविपाकी ७८, भवविपाकी ४, क्षेत्रविपाकी ४, निकाल देने पर शेष रहने वाला शरीर, बन्धन, संघात संहनन, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि बासठ प्रकृतियां पुद्गल-विपाकी हैं।

चार घातिया कर्मों की प्रकृतियां दो विभागों में विभक्त की जा सकती हैं। कुछ प्रकृतियां ऐसी हैं जो जीव के गुणों को पूर्ण रूप से घातती हैं और कुछ ऐसी हैं जो आंशिक रूप में घातती हैं। पूर्ण रूप से घात करने वाली सर्वघाती प्रकृतियां कहलाती हैं और वे इक्कीस हैं—(१) केवलज्ञानावरणीय (२) केवलदर्शनावरणीय (३-७) पांच प्रकार की निद्रा (८) अनन्तानुबन्धी क्रोध (६) अनन्तानुबन्धी मान (१०) अनन्तानुबन्धी माया (११) अनन्तानुबन्धी लोभ, अप्रत्याख्यानावरण (१२) क्रोध (१३) मान (१४) माया (१५) लोभ, प्रत्याख्यानावरण (१६) क्रोध (१७) मान (१८) माया (१६) लोभ (२०) मिथ्यात्व मोहनीय (२१) मिश्रमोहनीय।

आंशिक रूप में जीव के गुण का घात करने वाली देशघाती प्रकृतियां कहलाती हैं। वे छब्बीस हैं—(१) मतिज्ञानावरण (२) श्रुतज्ञानावरण (३) अवधिज्ञानावरण (४) मनःपर्यायज्ञानावरण (५) चक्षुदर्शनावरण (६) अचक्षुदर्शनावरण (७) अवधिदर्शनावरण (८-११) संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ (१२-२०) नौ नोकषाय (२१) सम्यक्त्व मोहनीय (२२-२६) पांच प्रकार के अन्तराय!

मूलः—उदहीसरिसनामाणं तीसई कोडिकोडिओ ।
उक्कोसिया ठिई होइ, अंतोमुहुत्तं जहण्णिया ॥१६॥

आवरणिज्जाण दुरहं पि, वेयणिज्जे तहेव य।
अंतराये य कम्मंमि, ठिई एसा विआहिया ॥१७॥

छाया—उदधिसदृङ्नाम्नां त्रिंशतकोटीकोट्यः।
उत्कृष्टा स्थितिर्भवति, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥१६॥
आवरणयोर्द्वयोरपि, वेदनीये तथैव च।
अन्तराये च कर्मणि, स्थितिरेषा व्याहृता ॥१७॥

शब्दार्थ:—दोनों आवरणों की अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरण की तथा वेदनीय कर्म की और इसी प्रकार अन्तराय कर्म की अधिक से अधिक स्थिति तेतीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की कही गई है और कम से कम स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की कही गई है।

भाष्य:-आठों कर्मों के भेदों का निरूपण करने के पश्चात् उनकी उत्कृष्ट अर्थात् अधिक से अधिक और जघन्य अर्थात् कम से कम स्थिति बतलाई गई है। तात्पर्य यह है कि कौन-सी कर्मप्रकृति जीव के साथ बद्ध हो जाने पर अधिक से अधिक और कम से कम कितने समय तक बन्धी रहती है, इस विषय का अर्थात् स्थितिबन्ध का यहां निरूपण किया गया है।

जीव के साथ कर्म का जो बन्ध होता है वह सदा के लिए नहीं होता। दोनों का सम्बन्ध संयोग सम्बन्ध है। यह बात स्थितिबन्ध की प्ररूपणा से स्पष्ट हो जाती है।

यहां ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्मों की दोनों प्रकार की स्थिति बताई है। उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की होती है। एक करोड़ से एक करोड़ का गुणा करने पर जो गुणनफल रूप राशि उत्पन्न होती है वह कोड़ाकोड़ी कहलाती है। तीस करोड़ सागरोपम से तीस करोड़ सागरोपम का गुणा करने पर जो राशि हो उतने सागरोपम तक यह चारों कर्म आत्मा के साथ बन्धे रह सकते हैं। इतने समय के पश्चात् उनकी निर्जरा हो जाती है। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम के पश्चात् जीव चार कर्मों से मुक्त हो जाता है। क्योंकि कर्मों का बन्ध प्रतिक्षण होता रहता है, इसलिए पुराने कर्म अपनी स्थिति पूर्ण करके खिरते जाते हैं तथापि बाद में बन्धे हुए कर्म बाद में भी विद्यमान रहते हैं।

'उदहीसरिसनामाणं' का अर्थ है—उदधि (समुद्र) के सदृश जिसका नाम है अर्थात् सागर। 'सागर' एक अलौकिक गणित सम्बन्धी पारिभाषिक संज्ञा है। वह एक संख्या-विशेष की वाचक है। वह संख्या लौकिक संख्या से बहुत अधिक होने के कारण गणित शास्त्र में प्रसिद्ध अङ्कों द्वारा नहीं बतलाई जा सकती। उसे बताने के लिए 'उपमा' से काम लेना पड़ता है। अतएव सागर को 'सागरोपम' भी कहते हैं। सागरोपम का परिमाण यह है:—

एक योजन लम्बा चौड़ा और एक योजन गहरा गढ़ा खोदा जाय । उसमें सात दिन तक के बच्चे के बालों के ऐसे सूक्ष्मतम टुकड़े करके कि जिनका दूसरा टुकड़ा न हो सकता हो, भर दिये जावें—ठूंस-ठूंस कर दबा दिये जावें। उसके बाद सौ-सौ वर्ष के बाद एक-एक बाल का टुकड़ा (बालाग्र) निकाला जाय। इस प्रकार निकालते-निकालते जब पूरा गढ़ा खाली हो जाय—उसमें एक भी बालाग्र न रहे, उतने समय को पल्योपम कहते हैं । ऐसे-ऐसे दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम को एक सागरोपम कहते हैं।

सागरोपम का परिमाण गणित के अंकों द्वारा प्रगट नहीं किया जा सकता । इस कारण कुछ लोग इस संख्या की अधिकता को देखकर आश्चर्य करने लगते हैं, पर इसमें आश्चर्य करने योग्य कोई बात नहीं है। जगत् में कितने प्राणी हैं, या भूत और भविष्य काल के कितने समय हैं,? यह प्रश्न करने पर सभी कहेंगे—अनन्त। ईश्वरवादी ईश्वर की अनन्त शक्तियां स्वीकार करते हैं। इस प्रकार सभी लोग अनन्त की संख्या स्वीकार करते हैं अब यह विचार करना चाहिए कि क्या लौकिक संख्या से सीधा अनन्त शुरु हो जाता है ? कदापि नहीं। जैसे सौ तक की संख्या एक, दो, तीन आदि क्रम से आगे चलती है उसी प्रकार लौकिक संख्या की समाप्ति के बाद से लेकर अनन्त की संख्या तक भी कोई क्रम अवश्य होना चाहिए। और उस क्रम में ही पल्योपम और सागरोपम का भी समावेश होता है। जैसे एक के बाद सौ नहीं आ जाते उसी प्रकार लौकिक संख्या समाप्त होते ही अनन्त नहीं आ जाते। इस प्रकार जरा गम्भीरतापूर्वक विचार करने से पल्योपम और सागरोपम आदि की संख्या तनिक भी आश्चर्यकारक प्रतीत नहीं होती है ।

आगे सब जगह—जहां सागरोपम या पल्योपम संख्या का कथन हो वहां यही संख्या समझनी चाहिए। यह ध्यान रखना चाहिए कि एक योजन लम्बे-चौड़े और गहरे गढ़े को किसी ने भरा नहीं है; सिर्फ संख्या की कल्पना आ जाए, इसी उद्देश्य से उपमा देकर समझाने का शास्त्रकारों ने प्रयत्न किया है।

मूलः—उदहीसरिसनामाणं, सत्तरिं कोडिकोडीओ ।
मोहणिज्जस्स उक्कोसा, अन्तोमुहुत्तं जहण्णिया ॥१८॥
तेत्तीसं सागरोवम, उक्कोसेण विआहिया ।
ठिई उ आउकम्मस्स, अन्तोमुहुत्तं जहण्णिया ॥१९॥
उदहीसरिसनामाणं, वीसई कोडिकोडीओ ।
नामगोत्ताण उक्कोसा, अट्ठमुहुत्ता जहण्णिया ॥२०॥

छाया—उदधिसदृङ्नाम्नां, सप्ततिः कोटीकोट्यः ।
मोहनीयस्योत्कृष्टा, अन्तर्मुहूर्त्ता जघन्यका ॥१८॥

त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमा, उत्कर्षेण व्याहृता ।
स्थितिस्तु आयुकर्मणः, अन्तर्मुहूर्त्ता जघन्यका ॥ १९
उदधिसदृङ्नाम्नां, विंशति कोटीकोट्यः ।
नामगोत्रयोरुत्कृष्टा, अष्टमुहूर्त्ता जघन्यका ॥ २० ॥

शब्दार्थः—मोहनीय कर्म की अधिक से अधिक स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है और कम से कम अन्तर्मुहूर्त्त की है। आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है और जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त्त की है।

भाष्यः—अवशिष्टचार कर्मों की स्थिति जघन्य और उत्कृष्ट यहां बताई गई है। स्थिति के साथ शास्त्रों में अबाधा काल का भी वर्णन पाया जाता है। बन्ध और उदय के मध्यवर्ती समय को अबाधा काल कहते हैं। तात्पर्य यह है कि बंध होने के पश्चात् जितने समय तक कर्म उदय में नहीं आता, आत्मा में सत्ता रूप में विद्यमान रहता है, उस समय को अबाधा काल कहते हैं। आठों कर्मों का जघन्य और उत्कृष्ट अबाधा काल इस प्रकार है- ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय और अन्तराय कर्म का उत्कृष्ट तीन हजार वर्ष का और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का अबाधा काल है। मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट सात हजार वर्ष का और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का अबाधा काल है। आयु कर्म का अबाधा काल उत्कृष्ट वर्त्तमान् आयु का तीसरा भाग है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त। नाम और गोत्र कर्म का उत्कृष्ट दो हजार वर्ष और जघन्य अन्तमुहूर्त्त का अबाधा काल है।

अबाधा काल को ध्यानपूर्वक देखा जाय तो प्रतीत होगा कि जिस कर्म की स्थिति जितनी कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है, उतने सौ वर्ष तक वह उदय में आये बिना आत्मा मे पड़ा रहता है। यह अबाधा काल समाप्त हो जाने के पश्चात् बंधा हुआ कर्म क्रमशः अपना फल देने लगता है। अबाधा काल के पश्चात् जितने समय में कर्म अपना फल देते हैं उतने समय को कर्म-निषेक काल कहते हैं।

किस कर्म का निषेक काल कितना है, यह जानने के लिए कर्म की सम्पूर्ण स्थिति में से अबाधा काल को निकाल देना चाहिए और जो समय शेष रहे उसे निषेककाल कहते हैं।

यहां मोहनीय की सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम की, आयु कर्म की तेतीस सागरोपम की तथा नाम और गोत्र कर्म की बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति बतलाई गई है। नाम और गोत्र की आठ मुहूर्त्त की और मोहनीय तथा आयु की एक अन्तमुहूर्त्त की जघन्य स्थिति है।

गति के अनुसार आयु कर्म की स्थिति में इतनी विशेषता है—नारकी और देवों की उत्कृष्ट आयु तेतीस सागरोपम और जघन्य दस हजार वर्ष की है। मनुष्य और तिर्यञ्च की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है। इनका उत्कृष्ट अबाधा काल संख्यात वर्ष की आयु वाले जीवों की अपेक्षा भोगी जाने वाली

(वर्त्तमान) आयु के तीसरे भाग का, नवमें भाग का, सत्ताईसवें भाग का अथवा अन्त-मुहूर्त्त के तीसरे भाग का है। असंख्यात वर्ष की आयु वाले जीवों की अपेक्षा छह महीना अबाधा काल है।

कर्मों का कथन यहां समाप्त किया जाता है। इस कथन से प्रतीत होगा कि आत्मा स्वभाव से यद्यपि निःसंग, निष्कलंक, निर्मल और नीरज है तथापि कर्मों के अनादि कालीन संयोग से वह बद्ध, सकलंक, समल और सरज हो रहा है. यह कर्म ज्यों-ज्यों मन्द होते जाते हैं त्यों-त्यों आत्मा के स्वाभाविक गुणों का विकास होता जाता है और आत्मा में निर्मलता आती जाती है। आत्मा के इस विकास की असंख्य श्रेणियां हैं परन्तु शास्त्रकारों ने उन्हें मुख्य चौदह विभागों में विभक्त किया है। उन्हीं को गुणस्थान कहते हैं। गुणस्थानों के स्वरूप का वर्णन आगे किया जायगा।

मूलः—एगया देवलोगेसु, नरएसु वि एगया।
एगया आसुरं कायं, अहाकम्मेहिं गच्छइ ॥२१॥

छायाः—एकदा देवलोकेषु नरकेष्वपि एकदा।
एकदा आसुरं कायं, यथाकर्म अभिगच्छति ॥२१॥

शब्दार्थः—आत्मा अपने किये हुए कर्म के अनुसार कभी देवलोकों में, कभी नरकों में, और कभी असुर काय में जाता है।

भाष्यः—कर्मों की विवेचना के पश्चात् सूत्रकार यह बतलाते हैं कि जीव पर कर्मों का क्या फल होता है ? जीव को अपने किये हुए कर्म के अनुसार विविध योनियों में जन्म-मरण करना पड़ता है। जीव जब शुभ कर्मों का उपार्जन करता है तब वह देवलोकों में उत्पन्न होता है। देवलोक अनेक हैं, यह सूचित करना बहुवचन देने का तात्पर्य है। जीव जब अशुभ कर्म का उपार्जन करता है तब उसे नरकों में उत्पन्न होना पड़ता है। यहां भी, नरक अनेक हैं यह सूचित करने के लिए बहुवचन दिया है। अथवा दोनों जगह बहुवचन प्रयोग करने का आशय है कि जीव बार-बार देवलोक और नरक आदि में जाता है। अनादि काल से लेकर अब तक जीव अनन्त बार देवलोक में और अनन्त बार नरक में जा चुका है। देवलोक और नरक गमन का एक साथ वर्णन करने से यह तात्पर्य नहीं है कि देव देवलोक से च्युत होते ही नरक में चला जाता है या नारकी जीव मरकर देवलोक में चला जाता है। नारकी जीव स्वर्ग में जाने योग्य पुण्य का उपार्जन नहीं कर सकता और देवता नरक जाने योग्य पाप का उपार्जन नहीं करता। अतएव देवता मरकर सीधा नरक में नहीं जाता और नारकी मरकर स्वर्ग में नहीं जाता। दोनों को मनुष्य अथवा तिर्यञ्च गति में जन्म लेना पड़ता है। उसके बाद अपने कर्म के अनुसार वे स्वर्ग भी जा सकते हैं और नरक भी जा सकते हैं। ऐसा होने हर भी सूत्रकार ने 'कभी-देवलोक में और कभी नरक में' जाना बतलाया है सो परस्पर विरोधी अवस्थाओं को सूचित करने के लिए समझना चाहिए। नरक दुःख की तीव्रता को भोगने की योनि है और स्वर्ग

सांसारिक सुख की तीव्रता को भोगने का स्थान है । सूत्रकार यह सूचित करते हैं कि यह जीव सांसारिक सुख की चरम सीमा को प्राप्त करके भी फिर कभी नरक जैसी तीव्र दुःखप्रद अवस्था का अनुभव करता है । अतएव सांसारिक सुखों को स्थिर नहीं समझना चाहिए ।

यह जीव जब बिना इच्छा के कष्ट सहन करता है अथवा सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान के बिना अज्ञानपूर्वक तपस्या आदि करता है तब वह भवनपति, व्यन्तर आदि देव-योनियों में उत्पन्न होता है ।

कुछ लोगों की यह मान्यता है कि जीव स्वयं सुख-दुःख नहीं भोगना चाहता अतएव उसे सुख-दुःख भोगवाने के लिए ईश्वर की आवश्यकता है । कोई यह कहते हैं कि जीव सुख-दुःख का भोग करने में स्वयं समर्थ ही नहीं है अतएव ईश्वर ही उसे सुख-दुःख का भोग करने के लिए स्वर्ग और नरक में भेज देता है । कहा भी है—

> अज्ञः जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
> ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ।

अर्थात् यह अज्ञानी जीव अपने सुख-दुःख का भोग करने में असमर्थ है इस लिए ईश्वर का भेजा हुआ स्वर्ग या नरक में जाता है ।

कोई-कोई यह शंका करते हैं कि कर्म अचेतन हैं इसलिए उनमें फल देने की शक्ति नहीं है । ऐसी अवस्था में जीव कर्मों के अनुसार स्वर्ग-नरक में कैसे जा सकता है ?

इन सब मतों का निरसन करने के लिए सूत्रकार ने 'अहाकम्मेहिं' पद गाथा में रक्खा है । जो लोग यह कहते हैं कि जीव कर्म का फल स्वयं नहीं भोगना चाहता, सो कथंचित् ठीक हो सकता है । अशुभ कर्म का दुःख रूप फल जीव नहीं भोगना चाहता । पर फल का भोग करने में जीव की इच्छा और अनिच्छा से तो कुछ होता नहीं है । उसकी इच्छा न होने पर भी कर्म से परतन्त्र होने के कारण उसे दुःख भोगना ही पड़ता है । विष खाकर यदि कोई मनुष्य मरना न चाहे तो भी उसे मरना पड़ेगा । इसी प्रकार कर्म कर चुकने के पश्चात् कर्मों के द्वारा उसे फल भोगना ही होगा ।

जो लोग जीव को सुख-दुःख भोगने में असमर्थ मानते हैं उन्हें यह विचार करना चाहिए कि जीव वास्तव में असमर्थ है तो ईश्वर उससे फल का भोग करा ही नहीं सकता । ईश्वर फल-भोग करावेगा, फिर भी फल-भोग तो जीव ही करेगा । अगर जीव में फल-भोग की शक्ति ही न स्वीकार की जाय तो कोई भी उससे फल नहीं भोगवा सकता ।

जो लोग कर्म को जड़-अचेतन होने के कारण फल देने में असमर्थ बतलाते हैं, वे जड़ पदार्थों के सामर्थ्य को जानते ही नहीं है । हम दैनिक व्यवहार में प्रतिक्षण जड़ पदार्थों की शक्ति का अनुभव करते हैं । भौतिक विज्ञान के आचार्यों ने जड़ पदार्थों

की अद्भुत और आश्चर्यजनक शक्तियां खोल कर संसार के समक्ष रख दी हैं, फिर भी जड़ पदार्थ में फल देने की शक्ति न स्वीकार करना दुराग्रह का चिह्न है। विविध प्रकार के गैस और भाप जड़ होने पर तरह-तरह की शक्तियों से सम्पन्न हैं। इन्हें छोड़ दिया जाय और दैनिक व्यवहार की साधारण वस्तुओं को लिया जाय तो भी जड़ पदार्थों में अनेक फल देने वाली शक्तियां विद्यमान हैं, यह निश्चय हो जायगा। जड़ औषधियां रोगनिवृत्ति रूप फल को उत्पन्न करती हैं, अञ्जन नेत्रों की ज्योति बढ़ाता है, और रोटी भी भूखजन्य क्लेश को नष्ट करके सुख उत्पन्न कर देने की शक्ति से युक्त है। ऐसी अवस्था में जड़ कर्म क्यों सुख-दुःख रूप फल नहीं दे सकते हैं ?

अगर यह कहा जाय कि उक्त सब पदार्थ चेतन की सहायता बिना फल नहीं देते हैं। रोटी को जब तक मनुष्य खाता नहीं है तब तक वह साता रूप फल नहीं देती। अतएव जड़ कर्मों के द्वारा फल भोगने के लिए चेतन की सहायता चाहिए। सो इस शंका का समाधान पहले ही किया जा चुका है कि कर्म, जीव की सहायता से ही उसे फल देते हैं, क्योंकि संसारी जीव जड़ कर्मों से संयुक्त है। इसलिए कर्मों के अनुसार ही सुख-दुःख रूप फल मानना उचित है। ईश्वर के कर्तृत्व पर विस्तृत विचार आगे किया जायगा।

मूलः—तेणे जहा संधिमुहे गहीए, सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एवं पया पेच्च इहं च लोए, कडाण कम्माण ण मोक्ख अत्थि ॥२२॥

छाया—स्तेनो यथा सन्धिमुखे गृहीतः, स्वकर्मणा कृत्यते पापकारी।
एवं प्रजा प्रेत्य इह च लोके, कृतानां कर्मणां न मोक्षोऽस्ति ॥२२॥

शब्दार्थः—जैसे पाप करने वाला चोर संधि-खात के मुंह पर पकड़ा जाकर अपने किये हुए कर्मों के द्वारा ही छेदा जाता है, दुःख पाता है, उसी प्रकार प्रजा अर्थात् लोक परलोक में और इसलोक में दुःख पाते हैं। क्योंकि किये हुए कर्मों से बिना भोगे छुटकारा नहीं मिलता।

भाष्यः—कर्मों का साधारण फल निरूपण करने के पश्चात् कर्मों की अमोघता प्रदर्शित करने के लिए सूत्रकार ने यहां बताया है कि जैसे कोई चोर, चोरी करने के लिए दीवाल आदि में खात खोदता है और वह उसी स्थान पर यदि पकड़ा जाता है तो उसे नाना प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते हैं, उसी प्रकार जो लोग पाप-कर्म को उपार्जन करते हैं उन्हें भी नाना प्रकार के कष्ट उस पाप-कर्म की बदौलत भोगने पड़ते हैं।

जैसे चोर को चोरी का फल इसी जन्म में भोग लेना पड़ता है उसी प्रकार क्या समस्त पाप कर्मों का फल इसी जन्म में भोग लिया जाता है ? इस संदेह का निवारण करने के लिए सूत्रकार ने 'पेच्च' अर्थात् परलोक का कथन किया है। अर्थात् किये हुए कर्मों का फल इस लोक में भी और परलोक में भी भोगना पड़ता है। राजा की ओर से चोरी का जो दण्ड मिलता है वह सामाजिक अपराध के रूप में होता है

पर कर्मों के द्वारा जो दण्ड मिलता है वह धार्मिक आध्यात्मिक अपराध के रूप में होता है। दोनों दण्डों में यह विशेषता है।

जैसे चतुर चोर चोरी करके साफ बच निकलता है, उसे राजदंड का शिकार नहीं होना पड़ता, उसी प्रकार किये हुए पापों के कर्म-दंड से भी क्या कोई बच सकता है? इस शंका का समाधान करने के लिए सूत्रकार कहते हैं—'कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि' अर्थात् कोई प्रवीण पापाचारी पुलिस की आंखों में भले ही धूल झोंक कर राज-दण्ड से बच जाए पर वह कर्म-दण्ड से कदापि मुक्त नहीं हो सकता। प्रत्येक कर्म का फल कर्त्ता को अवश्यमेव भुगतना ही पड़ता है। कर्म अमोघ हैं- वे कभी निष्फल नहीं हो सकते।

एक उदाहरण से पाप के फल का स्पष्टीकरण किया जाता है—एक बार कई चोर मिलकर चोरी करने जा रहे थे। उनमें एक बढ़ई (सुतार) भी शामिल हो गया। चोर किसी नगर में एक धनाढय सेठ के घर पहुँचे और उन्होंने सैंध लगाई। सैंध लगाते लगाते दीवाल में काठ का एक पटिया दिख पड़ा। चोरों ने सुतार से कहा-भाई, अब तुम्हारी बारी है। इस पटिया को काटना तुम्हारा काम है। सुतार ने अपने औजार संभाले और पटिया काटने लगा। उसने अपनी कारीगरी दिखाने के लिए सैंध के छेदों में चारों ओर तीखे-तीखे कंगूरे बना दिये। इसके बाद वह चोरी करने के लिए मकान में घुसा। ज्योंही वह घुस रहा था, त्योंही मकान मालिक ने उसका पैर पकड़ लिया। सुतार चिल्लाया-दौड़ो-दौड़ो, बचाओ-बचाओ। उसे एक चालाकी सूझी। वह कहने लगा—मकान-मालिक, ओ मकान मालिक! मेरे पैर छुड़ाओ।' पर होनहार टलती नहीं। चोरों ने ज्यों ही यह सुना त्यों ही वे झपटे और उसका सिर पकड़ कर खींचने लगे। बेचारा सुतार मुसीबत में फंस गया। भीतर और बाहर-दोनों ओर जोर की खींचातानी आरम्भ हो गई। अन्त में उसने जैसा किया था वैसा ही भोग भोगा। अपने बनाये हुए कंगूरों से ही उसके प्राणों का अन्त हो गया।

आत्मा के लिए यही उदाहरण लागू होता है। आत्मा अपने ही अशुभ कर्मों के द्वारा इस लोक और परलोक में घोर कष्टों को सहन करता है। ऐसा समझ कर विवेकी-जनों को भली भांति सोच विचार कर, अपनी मनोवृत्ति को और अब की जाने वाली क्रिया को धर्म की कसौटी पर कस लेना चाहिए। जो क्रिया धर्मानुकूल हो उसी को विधिपूर्वक करना चाहिए और प्रयत्नपूर्वक पाप कर्मों से बच कर आत्मश्रेय का साधन करना चाहिए। जो सत्पुरुष इस प्रकार विवेकपूर्वक प्रवृत्ति करते हैं वे अक्षय आनन्द के भागी होते हैं। वे कर्मों से सर्वथा छुटकारा पा जाते हैं और तब कर्म-दण्ड उनके समीप भी नहीं फटक सकता।

मूलः-संसारमावण्ण परस्स अट्ठा, साहारणं जं च करेइ कम्मं।
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले, न बंधवा बंधवयं उविंति २३

छाया:—संसारमापन्नः परस्यार्थाय, साधारणं यच्च करोति कर्म।
कर्मणस्ते तस्य तु वेदकाले, न बान्धवा बान्धवतामुपयांति ॥ २३ ॥

शब्दार्थ:—संसार (सकर्म अवस्था को) प्राप्त हुआ आत्मा दूसरों के लिए और साधारण-अपने लिए भी और दूसरों के लिए भी-जो कर्म करता है, उस कर्म को भोगते समय वे दूसरे कौटुम्बिकजन-भाईचारा नहीं करते हैं-हिस्सा नहीं बंटाते हैं॥ २३ ॥

भाष्य:--पहले यह बतलाया गया था कि कर्म का फल अमोघ है—अनिवार्य है। किन्तु वह फल किसे भोगना पड़ता है? जिसे उद्देश्य करके कर्म किया जाता है वह फल भोगता है या कर्म करने वाला ही अपने कर्म का फल भोगता है? इस शंका का समाधान करने के लिए सूत्रकार ने कहा है कि संसारी जीव चाहे दूसरे के ही लिए कोई कार्य करे चाहे अपने और दूसरे के लिए कोई कार्य करे, उसका फल कर्त्ता अकेले को ही भुगतना पड़ता है। इस कथन से यह स्वयं सिद्ध हो गया कि अपने लिए जो कर्म किया जाता है उसका भी फल कर्त्ता को ही भोगना पड़ता है। तात्पर्य यह कि प्रत्येक कार्य, चाहे वह किसी को भी उद्देश्य करके क्यों न किया जाय, कर्त्ता को ही फल प्रदान करता है।

क्रिया का फल कर्त्ता को ही न होकर यदि दूसरों को होने लगता तो संसार में बड़ी गड़बड़ मच जाती। एक व्यक्ति—जो कर्म का कर्त्ता है-वह तो अपने किये हुए का फल भोगने से बच जाता और जिसने वह कर्म किया नहीं है उसे उस कर्म का फल भोगना पड़ता। इससे कृतनाश और अकृतागम नामक दो दोषों की प्राप्ति होती है। इन दोनों दोषों से बचने के लिए यही स्वीकार करना चाहिए कि जो करता है वही भरता है।

सूत्रकार संसार की विषमता को प्रदर्शित करते हुए कहते हैं कि एक व्यक्ति अठारह पापस्थानक सेवन करके जो धन आदि प्राप्त करता है या भोगोपभोग की अन्य सामग्री जुटाता है उसे भोगने के लिए बन्धु बांधव सम्मिलित हो जाते हैं किन्तु जब उन पापों के फल को भोगने का अवसर आता है तब उनमें से कोई भी हिस्सा नहीं बंटाता है। कर्म का फल उस अकेले कर्त्ता को ही भोगना पड़ता है। कहा भी है—

अन्यैस्तेनार्जितं वित्तं भूयः सम्भूय भुज्यते।
स त्वेको नरकक्रोडे, क्लिश्यते निजकर्मभिः॥

अर्थात्:—महा आरंभ और परिग्रह के द्वारा उपार्जित धन को भाई-बन्ध वगैरह इकट्ठे होकर बार-बार भोगते हैं। किन्तु नरक में अकेला धनोपार्जन करने वाला ही अपने किये हुए कर्मों के कारण क्लेश पाता है। क्लेश भोगने के लिए कोई पास भी नहीं फटकता।

दुःख रूपी भीषण अग्नि से धधकते हुए इस संसार रूपी वन में कर्मों से परतंत्र हुआ जीव अकेला ही भ्रमण करता है! दूसरे संबंधियों को तो जाने दीजिए,

जिस शरीर का बड़े अनुराग से पालन-पोषण किया जाता है, जिसे सिंगारने के लिए नाना प्रकार की चेष्टा की जाती है, वह शरीर भी परलोक में साथ नहीं देता है । जब इतना घनिष्ट सम्बन्ध वाला औदारिक शरीर भी साथ नहीं देता तो अपेक्षाकृत भिन्न बन्धु-बान्धव, पुत्र-कलत्र आदि परलोक में किस प्रकार साथ दे सकते हैं ?

अतएव ज्ञानीजन को कोई भी सावद्य व्यापार करने से पूर्व यह सोच लेना चाहिए कि इस सावद्य व्यापार का फल मुझे अकेले को ही भोगना पड़ेगा। इस प्रकार का विचार करने से सावद्य क्रिया के प्रति अरुचि और विरक्ति का भाव उत्पन्न होता है और जितने अंशों में विरक्ति बढ़ती है उतने ही अंशों में पापमय प्रवृत्ति कम होती जाती है और आत्मा कल्याणमार्ग की ओर अग्रसर होता चला जाता है।

कई लोक मृत पितर आदि की सुगति के लिए श्राद्ध तर्पण आदि करते हैं । वे यह समझते हैं कि उनके निमित्त से किया हुआ श्राद्ध उन्हें सन्तुष्ट कर देगा और उस पुण्य के भागी भी वही होंगे। किन्तु ऐसा होना सम्भव नहीं है। एक व्यक्ति के द्वारा किया हुआ धर्म या अधर्म, दूसरे व्यक्ति को फल प्रदान नहीं कर सकता। अगर ऐसा होने लगे तो पाप-पुण्य की व्यवस्था में आमूल-मूल अव्यवस्था उत्पन्न हो जायगी।

मूलः—न तस्स दुक्खं विभयंति नाइओ,
न मित्तवग्गा न सुया न बंधवा ।
इक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं,
कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ॥२४॥

छाया —न तस्य दुःखं विभजन्ते ज्ञातयः, न मित्रवर्गा न सुता न बान्धवाः।
एकः स्वयं प्रत्यनुभवति दुःखं, कर्त्तारमेवानुयाति कर्म ॥२४॥

शब्दार्थः—उस पाप-कर्म करने वाले के दुःख को ज्ञाति-जन नहीं बांट सकते और न मित्र-मण्डली, पुत्र-पौत्र और भाई-बन्द ही बांट सकते हैं। पाप-कर्म करने वाला स्वयं ही अकेला दुःख भोगता है; क्योंकि कर्म, कर्त्ता का ही अनुसरण करता है।

भाष्यः—पहले यह बताया था कि दूसरों के लिये अथवा अपने तथा दूसरे के लिए किये हुए कर्म का फल अकेले कर्त्ता को ही भोगना पड़ता है यहां उसी अभिप्राय को सामान्य रूप से कथन करके पुष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि जाति के लोग, मित्र लोग, पुत्र-पौत्र आदि कुटुम्बीजन तथा अन्य भाई-बन्द पाप का आचरण करने वाले के दुःखों का बंटवारा करने में समर्थ नहीं हैं। कर्मकर्त्ता स्वयं ही पाप कर्मजन्य दुःख को भोगता है; क्योंकि कर्म अपने कर्त्ता का पीछा करते हैं। कहा भी है—

स्वयं कर्म करोत्यात्मा, स्वयं तत्फलमश्नुते ।
स्वयं भ्रमति संसारे, स्वयं मोक्षञ्च गच्छति ॥

अर्थात्:-आत्मा स्वयं-अकेला ही कर्म करता है और अकेला ही उस कर्म का फल भोगता है। अकेला ही संसार में भ्रमण करता है और मोक्ष प्राप्त करता है।

जब बन्धु-बान्धव सांसारिक पदार्थों में हिस्सा बंटा लेते हैं तब वे दुःख में हिस्सा क्यों नहीं बंटा सकते ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि आत्मा का संसार के किसी भी जड़ या चेतन पदार्थ के साथ वास्तविक सम्बन्ध नहीं है। आत्मा एकाकी है-अद्वितीय है। उसका चेतनामय स्वभाव ही अपना है और स्वभाव के सिवाय अन्य सब विभाव है। विभाव पर-वस्तु है और पर-वस्तु का संयोग विनश्वर है—सदा काल स्थायी नहीं है। उस संयोग को मोही जीव नित्य सा मान बैठता है। यह उसका घोर अज्ञान है और यह अज्ञान ही दुःखों का मूल है। क्योंकि पर-वस्तु का संयोग विनश्वर होने के कारण सदा टिक नहीं सकता। उसका अन्त अवश्य होता है और मोही जीव उसके अन्त से दुःखी होता है। फिर भी संयोग अपने स्वभाव के अनुसार नष्ट हुए बिना रह नहीं सकता। यही कारण है कि आयु पूर्ण होने पर यह शरीर भी जीव से अलग हो जाता है। ऐसी दशा में भला अन्य पदार्थ कैसे साथ दे सकते हैं ? आचार्य अमितगति कहते हैं—

यस्यास्ति नैक्यं वपुषाऽपि सार्धम्, तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः ?
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः, कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ? ॥

अर्थात् शरीर के साथ भी जिसकी एकता नहीं है, उसकी पुत्र, पत्नी और मित्रों के साथ क्या कभी एकता होना सम्भव है ? शरीर में से यदि चमड़ी को अलग कर दिया जाय तो उस पर लगे हुए रोम-बाल क्या शरीर में टिके रह सकते हैं ? कदापि नहीं।

तात्पर्य यह है कि जैसे चमड़ी पर आश्रित रोम, चमड़ी हट जाने पर शरीर में नहीं रह सकते इसी प्रकार शरीर के जुदा हो जाने पर पुत्र-कलत्र आदि के साथ भी संयोग स्थिर नहीं रह सकता, क्योंकि यह पुत्र है, यह पिता है, यह पत्नी है, यह पति है, इत्यादि सम्बन्ध शरीर पर ही आश्रित है। यह सब सांसारिक सम्बन्ध शरीर के निमित्त से ही उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार जब भाई-बन्द का संयोग शरीर पर आश्रित है और इस जन्म का शरीर इसी जगह रह जाता है—वह साथ में जाता नहीं है, तब पुत्र-कलत्र आदि दुःख में भाग बंटाने के लिए कैसे साथ जा सकेंगे ? इसीलिए भगवान् ने स्वयं यह उपदेश दिया है-

अब्भागमितंमि वा दुहे, अहवा उक्कमिते भवंतिए ।
एगस्स गती य आगती, विदुमंता सरणं न मन्नई ॥

अर्थात् जब प्राणी के ऊपर दुःख आता है तब वह उसे अकेला ही भोगता है तथा उपक्रम के कारणभूत विष शस्त्र आदि से आयु नष्ट होने पर अथवा यथाकाल

मृत्यु उपस्थित होने पर जीव अकेला ही परलोक जाता है और परलोक से अकेला ही आता है। ऐसा जानकर विद्वान् पुरुष किसी को अपना शरण नहीं समझता। विवेकीजन कभी यह नहीं सोचते कि कोई मेरे कर्मोदयजन्य फल में भाग लेगा।

मूलः—चिच्चा दुपयं च चउप्पयं च,
खित्तं गिहं धणधण्णं च सव्वं।
सकम्मबीओ अवसो पयाइ;
परं भवं सुन्दरं पावगं च॥ २५॥

छायाः—त्यक्त्वा द्विपदं चतुष्पदं च, क्षेत्रं गृहं धनधान्यं च सर्वम्।
स्वकर्मद्वितीयोऽवश प्रयाति, परं भवं सुन्दरं पापकं वा॥ २५॥

शब्दार्थः यह जीव द्विपद, चतुष्पद, क्षेत्र गृह, धन-धान्य आदि समस्त पदार्थों को छोड़ कर, सिर्फ अपने कर्मों के साथ, पराधीन होकर उत्तम या अधम—स्वर्ग या नरक आदि—लोक को प्रयाण कर जाता है।

भाष्यः—सूत्रकार ने यहां परिग्रह की पृथकता दिखलाते हुए अपने किये हुए कर्मों का साथ जाना प्रगट किया है। संसारी जीव मोह का मारा दिन-रात धन-सम्पत्ति संचित करने में लगा रहता है। संपत्ति का संग्रह करने के लिए वह अपनी पद-मर्यादा को भी भूल जाता है और येन-केन-प्रकारेण अधिक से अधिक संचय करने का प्रयत्न करता है। वह लोभ से इस प्रकार ग्रसित हो जाता है कि अल्पआरंभ और महा-आरंभ का तनिक भी विचार नहीं करता। धन जोड़ने के लिए यह मोही जीव हिंसा करता है, त्रस और स्थावर प्राणियों के प्राण लूटता है, असत्य भाषण करता है, चोरी करता है। कोई अपने प्राणों की भी परवाह न करके पैसे के लिए युद्ध में लड़ने जाता है, कोई डाका डालता है, कोई सट्टा आदि नाना प्रकार का जुआ खेलता है, कोई पन्द्रह कर्मादानों का सेवन करता है। धन के लिए कोई अपने से अधिक धनवान् की चाकरी स्वीकार करता है। पद-पद पर अपमान सहन करता है। देश विदेशों में भ्रमण करता है। समुद्र-यात्रा करता है। अपने प्राणों को हथेली पर रखकर अत्यन्त साहसपूर्ण कार्य करता है। सारांश यह है कि परिग्रह के पाश में जकड़ा हुआ मोही जीव धन-सम्पत्ति का संग्रह करने के लिए सब प्रकार के निंदनीय कार्य करने पर उतारू रहता है। जगत् में जितने भीषण पाप होते हैं वे सब के सब प्रायः परिग्रह के लिए ही होते हैं। परिग्रह के लिए मनुष्य सदा आकुल-व्याकुल बना रहता है। यद्यपि प्रयत्न करने पर भी लाभ उतना ही होता है जितना लाभांतराय कर्म का क्षयोपशम हो, किन्तु मनुष्य को जरा भी संतोष और साता नहीं है। लखपति करोड़पति बनना चाहता है। मकान वाला महल बनवाना चाहता है। अकेला आदमी कुटुम्ब की सेना तैयार करना चाहता है। प्राप्त वस्तुओं में किसी को संतोष नहीं है। पर इन सब पदार्थों का अन्त में परिणाम क्या है? क्या यह सब पदार्थ

किसी भी जीव को अन्त तक सदा काल सुख देते हैं ? क्या कोई द्विपद अर्थात् स्त्री, पुत्र, मित्र, दास-दासी आदि किसी के साथ कभी जाते हैं ? गाय, भैंस, बैल, घोड़ा आदि चौपाये क्या परलोक की यात्रा करते समय एक कदम भी साथ दे सकते हैं ? कोसों तक चारों दिशाओं में फैले हुए खेत प्राणांत के समय किस काम आते हैं ? गगन-स्पर्शी महल और हवेली को परलोक जाते समय कौन अपने साथ ले जाता है ? धन-धान्य से भरे हुए कोठों में के धान्य का एक भी कण क्या परलोक की महा यात्रा में पाथेय-भाता-बन सकता है ? अत्यन्त परिश्रमपूर्वक उपार्जन किया हुआ कौन सा पदार्थ आत्मा के साथ परलोक में जाता है ? कुछ भी नहीं। सब पदार्थ यहीं धरे रह जाते हैं। आत्मा सब पदार्थों को त्याग कर जैसा अकेला उत्पन्न हुआ था वैसा ही अकेला रवाना हो जाता है।

परलोक-गमन करते समय इस लोक का एक भी कण आत्मा के साथ नहीं गया, न जाता है और न कभी जायगा। यह जीव सदैव इस अटल सत्य का साक्षात्कार कर रहा है फिर भी मोह की प्रबलता के कारण उसे प्रतीति नहीं आती ! सचमुच, मोह के पाश बड़े भयंकर हैं। मोह अंधकार अद्भुत है, जिसके कारण जीव आंखें रहते भी अंधा बना हुआ है, सत्य सामने रहते भी उसे दिखाई नहीं देता मोह की मदिरा में असाधारण चमत्कार है जिसके प्रभाव से जीव सत् असत् का भान अनादिकाल से भूला हुआ है।

हां, परलोक का दीर्घ प्रवास करने को उद्यत हुए जीव के साथ सिर्फ एक ही वस्तु जाती है। सूत्रकार कहते हैं—'सकम्मबीओ' अर्थात् अपने किये हुए शुभ-अशुभ कर्म ही सिर्फ उसके साथी होते हैं। वह अपने कर्मों को साथ लेकर ही परलोक जाता है। अतएव सुख के अभिलाषी पुरुषों को सोचना चाहिये कि यह लोक तो बहुत थोड़े से समय का है और परलोक बहुत अधिक लम्बे समय तक चलना है। इसलिए इस लोक को परलोक के सुखों का साधन बनाना चाहिए। इसलोक पर परलोक को न्यौछावर नहीं करना चाहिए, वरन् परलोक को सुधारने के लिए इसलोक के विषयजन्य सुखों का परित्याग करना चाहिए।

सूत्रकार कहते हैं—यह जीव पराधीन होकर परलोक जाता है। यहां 'पराधीन' कहने का प्रयोजन यह है कि मोही जीव परलोक में भोगने योग्य सुख-सामग्री का संग्रह तो करता नहीं है, सिर्फ इसी लोक के लिए धन-धान्य आदि का संग्रह किया करता है। ऐसी अवस्था में वह इस धन-धान्य आदि परिग्रह को त्याग कर जाना नहीं चाहता, फिर भी आयु के क्षय हो जाने पर उसे जाना पड़ता है। वह जाने के लिए बाध्य हो जाता है इसलिए 'अवसो पयाइ' कहा गया है। इसके विपरीत जो पुण्यशाली पुरुष इसलोक को परलोक के सुखों का साधन बना लेते हैं और धर्माचरण करके आगामी भव के लिए सुख की सामग्री इकट्ठी कर लेते हैं, उन्हें अन्त समय में, इस भव का त्याग करते समय रंच मात्र भी खेद नहीं होता। वे मृत्यु का मित्र की भांति स्वागत करते हैं क्योंकि वह परलोक में पहुंचा कर किये हुए धर्मा-

चरण का फल भोगने का अवसर देती है। अतः धर्मात्मा जीव मृत्यु के समय भी निराकुल रहता है, जब कि वर्त्तमान भव को ही सब कुछ समझने वाला जीव मृत्युकाल उपस्थित होने पर व्याकुल, क्षुब्ध और संक्लेश परिणाम से युक्त हो जाता है।

ऊपर के कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्माचरण करने वाला व्यक्ति मृत्यु के समय भी शान्त रहता है और मृत्यु के पश्चात् परलोक में भी उसे अनुपम शान्ति और सुख की प्राप्ति होती है। अतएव विवेकशील पुरुष वर्त्तमान को ही सब कुछ मान कर आचरण नहीं करता, बल्कि वह भविष्य काल का ख्याल रखता है और प्रत्येक क्रिया करते समय इस बात को सोच लेता है कि—'मेरी सुदीर्घ संसार-यात्रा में यह जीवन एक छोटा सा पड़ाव है—मात्र चिड़िया रैन बसेरा है। एक नवीन प्रभात शीघ्र ही उदय होगा और उसके उदय के साथ ही मेरी यात्रा फिर आरम्भ हो जायगी।' ऐसा सोच कर वह अगली यात्रा का सामान तैयार करता है।

तात्पर्य यह है कि संसार के सभी पदार्थ यहीं रह जाते हैं, सिर्फ किये हुए कर्म साथ जाते हैं। कर्म विना भोगे जीव का पिंड नहीं छोड़ते। कहा भी है:-

आकाशमुत्पततु गच्छतु वा दिगन्तमम्भोनिधिं विशतु तिष्ठतु वा यथेच्छम्।
जन्मान्तरार्जितशुभाशुभकृन्नराणां, छायेव न त्यजति कर्मफलानुबन्धः ॥

अर्थात्—जीव चाहे आकाश में चला जाए, चाहे दिशाओं के अन्त में चला जाए, चाहे वह समुद्र के तल में छिप जाए, चाहे और किसी सुरक्षित स्थान में चला जाए, परन्तु पूर्व-जन्म में उपार्जन किये हुए शुभ-अशुभ कर्म परछाई की नाई उसका पीछा नहीं छोड़ते हैं। कर्मों का फल भोगे विना कोई किसी भी अवस्था में छुटकारा नहीं पा सकते हैं। अतएव कर्मों का उपार्जन करते समय यह भी सोच लेना चाहिये कि इस कर्म का फल मुझे किस रूप में भुगतना पड़ेगा! जो बुद्धिमान पुरुष अपनी प्रत्येक क्रिया के फल का विचार पहले कर लेते हैं वे अनेक पापों से बच जाते हैं।

मूल:-जहा य अंडप्पभवा बलागा, अंडं बलागप्पभवं जहा य।
एमेव मोहाययणं खु तण्हा, मोहं च तण्हाययणं वयंति ॥२६॥

छाया—यथा च अण्डप्रभवा बलाका, अण्डं बलाकाप्रभवं यथा च।
एवमेव मोहायतनं खलु तृष्णा, मोहं च तृष्णायतनं वदन्ति ॥२६॥

शब्दार्थ:—जैसे अण्डे से बगुली उत्पन्न होती है और बगुली से अण्डा उत्पन्न होता है उसी प्रकार मोह से तृष्णा उत्पन्न होती है और तृष्णा से मोह उत्पन्न होता है।

भाष्य:—सामान्य रूप से कर्मों के फल का निरूपण करने के पश्चात् यहां मोह कर्म की उत्पत्ति का कारण बतलाया गया है, क्योंकि मोह कर्म कर्मों मे प्रधान है। वह कर्मों का राजा है।

जैसे बगुली से अण्डा उत्पन्न होता है और अण्डे से बगुली उत्पन्न होती है—

बगुली और अण्डे का अनादिकाल से द्विमुख कार्य-कारण भाव चला आ रहा है। अर्थात् बगुली अण्डे का कारण है और कार्य भी है तथा अण्डा बगुली का कारण और कार्य दोनों है। इसी प्रकार तृष्णा और मोह का भी परस्पर उभय-मुख कार्य-कारण भाव है। तृष्णा से मोह उत्पन्न होता है और मोह से तृष्णा उत्पन्न होती है। दोनों ही दोनों को उत्पन्न करते हैं। कोई यह शंका कर सकता है कि जब मोह होगा तब तृष्णा उत्पन्न होगी और जब तृष्णा होगी तब मोह उत्पन्न होगा। दोनों की उत्पत्ति एक दूसरे पर निर्भर है, ऐसी दशा में पहले किसने किसको उत्पन्न किया है? इस शंका का समाधान करने के लिए सूत्रकार ने बगुली और अण्डे का उदाहरण दिया है। जैसे पूर्ववर्त्ती बगुली उत्तरकालवर्त्ती अण्डे का कारण होती है और अण्डा फिर अपने उत्तरकाल वाली बगुली का कारण होता है, उसी प्रकार पूर्ववर्त्ती मोह तृष्णा का कारण है और वह तृष्णा अपने से उत्तरकालीन मोह को उत्पन्न करती है। इस प्रकार अनादिकाल से यह परम्परा चली आती है। इस परम्परा में अनवस्था दोष की गुंजाइश नहीं है। अनवस्था दोष वहीं होता है जहां अप्रमाणिक अनन्त पदार्थों की कल्पना करते-करते ठहरने का अवकाश न हो। यह परम्परा अप्रामाणिक नहीं है, प्रमाण-सिद्ध है और प्रत्येक पुरुष इसका अनुभव कर सकता है अतएव इसमें अनवस्था को जरा भी अवकाश नहीं है।

जो कर्म जीव को मोहित बना देता है अर्थात् यथार्थ और अयथार्थ का भान नहीं होने देता वह मोह कहलाता है। जो पदार्थ अभी तक प्राप्त नहीं हुए हैं उन्हें प्राप्त करने की इच्छा तृष्णा कहलाती है। मोहनीय कर्म का उदय होने पर जीव को तृष्णा उत्पन्न होती है और जब तृष्णा का भाव अन्तःकरण में उत्पन्न होता है तब उससे नवीन मोहनीय कर्म का बन्ध होता है। यह बन्धा हुआ मोहनीय कर्म जब अबाधा काल समाप्त होने पर फिर उदय में आता है तब उससे फिर तृष्णा का भाव उत्पन्न होता है और तृष्णा का भाव उत्पन्न होने से फिर मोहनीय कर्म का बन्ध हो जाता है। इस प्रकार एक का उदय दूसरे का कारण है। यह परम्परा ही भव-भ्रमण का प्रधान कारण है। इसी के अधीन होकर संसारी जीव घोर यातनाएं सहन करते हैं। अतएव तृष्णा का निरोध करके मोहनीय कर्म के बन्ध को रोकना ही शाश्वत सुख प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन है।

तृष्णा का निरोध करने से मोहनीय कर्म का बन्ध न होकर परभव सुधरता है; इतना ही नहीं, तृष्णा को रोक देने से यह लोक-वर्त्तमान जीवन भी संतोषमय, निराकुल, और शान्तिपूर्ण बन जाता है। जो लोग तृष्णा के वशीभूत हैं उन्हें कभी सन्तोष नहीं होता, वे कभी निराकुलता का उपभोग नहीं कर सकते और न उन्हें कभी शान्ति ही नसीब होती है। तृष्णा आग के समान है। आग में ज्यों-ज्यों ईंधन डाला जाता है त्यों-त्यों वह बढ़ती ही जाती है, वह अपनी खुराक पाकर शान्त नहीं होती उसी प्रकार ज्यों-ज्यों परिग्रह प्राप्त होता जाता है त्यों-त्यों तृष्णा और अधिक-अधिक बढ़ती जाती है। अतएव जैसे अग्नि को शान्त करने के लिए उसमें ईंधन डालना

विपरीत क्रिया है इसी प्रकार तृष्णा का शमन करने के लिए परिग्रह को जुटाना भी विपरीत क्रिया है। ईंधन न डालने से जैसे आग बुझ जाती है इसी प्रकार परिग्रह का संचय न करने से तृष्णा का अन्त हो जाता है। तृष्णा का अन्त हो जाने पर, उससे बंधने वाला मोहनीय कर्म भी नहीं बंधता है और जब मोहनीय कर्म का बंध नहीं होता तब उसका उदय भी नहीं होता और उदय न होने से फिर उसके कार्य तृष्णा की भी उत्पत्ति नहीं होती है।

ज्ञानीजनों का यह कथन है। सूत्रकार ने इस कथन को अधिक सम्पुष्ट करने के लिए 'वयंति' पद का प्रयोग किया है। अतएव प्रत्येक भव्य जीव को चाहिए कि वह तृष्णा पर विजय प्राप्त करके मोहनीय कर्म के मूल को उन्मूलन कर डाले। तृष्णा घोर असंतोष का कारण है। तृष्णावान् धनिक भी निर्धन के समान दीन है। राजा भी रंक के समान दया का पात्र है और तो क्या, तृष्णा वाला इन्द्र भी एक क्षुद्र कीट के समान दुःखों का भाजन होता है। जिसके पास संतोष की स्वर्गिक सम्पत्ति है, उसके आगे इन्द्र, चक्रवर्ती, राजा-महाराजा आदि सब नगण्य हैं। संतोषी जीव इन सब से अधिक सुखी है। वह रंक होकर भी राजा से बढ़कर होता है। वह गृहहीन होने पर भी महल वालों से अधिक सौभाग्य का भाजन है। उसकी दृष्टि में हीरा, पन्ना, मोती माणिक आदि रत्नों का मूल्य पत्थर के एक छोटे-से टुकड़े से अधिक नहीं होता। उसके नेत्र इन वस्तुओं को देख कर, उपेक्षा-पूर्वक हट जाते हैं। उसके सामने सारे संसार का वैभव तुच्छ होता है। मोहीजीव को संसार की धन-दौलत अन्त में छोड़ देती है पर संतोषी जीव उसको पहले ही ठुकरा देता है।

मूलः-रागो य दोसो वि य कम्मबीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।
कम्मं च जाई-मरणस्स मूलं, दुक्खं च जाई-मरणं वयंति २७

छायाः—रागश्च द्वेषोऽपि च कर्मबीजम्, कर्म च मोहप्रभवं वदन्ति।
कर्म च जातिमरणयोर्मूलं, दुःखंच जातिमरणं वदन्ति ॥ २७ ॥

शब्दार्थ —राग और द्वेष कर्म से उत्पन्न होते हैं और कर्म मोह से उत्पन्न होता है। कर्म जन्म-मरण का मूल है और जन्म-मरण ही को दुःख कहते हैं।

भाष्यः—जैसे तृष्णा और मोह का परस्पर कार्य कारण भाव सम्बन्ध पूर्व गाथा में बतलाया गया है, उसी प्रकार राग और द्वेप के साथ कर्म का कार्य-कारण भाव सम्बन्ध है। सूत्रकार ने इस गाथा में राग द्वेप की कर्म से उत्पत्ति बतलाई है और मोह से कर्म की उत्पत्ति बतलाई है। इससे यही भाव निकलता है कि राग-द्वेप कर्म से और कर्म रागद्वेप से उत्पन्न होते हैं। क्योंकि राग-द्वेप, मोह से भिन्न नहीं हैं। क्रोध और मान कषाय को द्वेप कहते हैं और माया तथा लोभ कषाय को राग कहते हैं। इस प्रकार राग-द्वेप और मोह एक प्रकार से पर्यायवाची शब्द हैं। राग-द्वेप चारित्र मोहनीय कर्म के भेद हैं और इस कारण उन्हें अलहदा नहीं किया जा सकता।

हुआ भी विवेकी पुरुष इसमें हर्ष-विषाद का अनुभव नहीं करता है।

यद्यपि राग-द्वेष को जीतना सरल नहीं है, क्योंकि जिन योगियों ने चिरकाल पर्यन्त साधना करके अपने अन्तःकरण को आत्मा की ओर उन्मुख कर लिया है आत्मा में डुबा लिया है—उन योगियों का अन्तःकरण भी कभी-कभी राग-द्वेष और मोह के प्रबल आक्रमण को सहन करने में असमर्थ हो जाता है। अत्यन्त सावधानी के साथ अन्तः-करण की चौकसी करने पर भी क्षण मात्र के लिए भी प्रमाद आजाने पर उसी समय राग-द्वेष उस पर हमला कर देते हैं। राग-द्वेष का हमला यदि प्रबल होता है और उसे तत्काल हटा नहीं दिया जाता तो वह मन को ज्ञानहीन बना डालता है और अन्त में ले जाकर नरक में गिरा देता है अतएव योगीजन राग-द्वेष से सदैव सावधान रहते हैं। वे सिंह, व्याघ्र और सर्प आदि प्राणहारी पशुओं से उतने भयभीत नहीं होते जितने राग और द्वेष से भयभीत होते हैं। क्योंकि सिंह आदि पशु केवल शरीर को ही हानि पहुंचाते हैं, जब कि राग-द्वेष अन्तःकरण को मलीनकर संयम की साधना को भी मिट्टी में मिला देते हैं। हिंसक पशु किसी को नरक-निगोद में नहीं भेज सकते, किन्तु राग-द्वेष नरक और निगोद में ले जाते हैं और आत्मा के सर्वस्व के समान स्वाभाविक गुणों को लूट लेते हैं। राग-द्वेष ही मोक्ष में बाधक हैं। काम आदि अन्यान्य दोष राग के अनुचर हैं—राग के सहारे ही अपना प्रभाव दिखलाते हैं। मिथ्या अभिमान आदि दोष द्वेष के अनुगामी हैं। इन दोनों का जनक मोह है। यह सब मिलकर जीव को संसार-सागर में गोते खिला रहे हैं। ऐसी अव-स्था में इन पर विजय प्राप्त करना ही मुमुक्षु जीवों का प्रधान कर्त्तव्य है। जैसा कि अभी कहा है, मध्यस्थ भावना के द्वारा ही इन शत्रुओं पर विजय प्राप्त की जा सकती है। मध्यस्थ भावना अक्षय आनन्द को उत्पन्न करती है। समता के इस सुधामय सरोवर में अवगाहन करने वालों का राग-द्वेष रूपी मल निर्मूल हो जाता है। साम्यभाव की बड़ी महिमा है। अनेक वर्षों तक तीव्र तपश्चरण करने से भी जितने कर्मों की निर्जरा नहीं हो पाती, उतने कर्म एक क्षण भर के समता-भाव से नष्ट हो जाते हैं।

साम्यभाव के अवलम्बन से जब राग और द्वेष का नाश हो जाता है तब महा-मुनिजन अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप का दर्शन करते हैं। वे समता रूपी सुधा का पान करके अजर-अमर-अविनाशी बन जाते हैं। उनकी आत्मा इतनी प्रभावशाली हो जाती है कि स्वभाव से विरोधी सर्प और न्यौला जैसे जीव भी उनके समीप अपने वैर को भूल जाते हैं। समता-भाव का यह माहात्म्य है। अतएव समता का आश्रय लेकर राग और द्वेष को जीतना चाहिए। राग-द्वेष को जीतने से जन्म-मरण रूप दुःख का सर्वथा नाश हो जाता है और आत्मा अपने असली स्वरूप में आ जाता है।

मूलः—दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो,
मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा।

तण्हा हया जस्स न होइ लोहो,

लोहो हओ जस्स न किंचणाइं ॥ २८ ॥

छाया.--दुःखं हतं यस्य न भवति मोहः, मोहो हतो यस्य न भवति तृष्णा ।

तृष्णा हता यस्य न भवति लोभः, लोभो हतो यस्य न किंचन ॥२८॥

शब्दार्थः-जिसने दुःख का नाश कर दिया है उसे मोह नहीं होता है। जिसने मोह का नाश कर दिया है उसे तृष्णा नहीं होती है। जिसने तृष्णा का नाश कर दिया है उसे लोभ नहीं होता है। जिसे लोभ नहीं रहता है वह अकिंचन बन जाता है।

भाष्यः -पूर्व गाथा में जन्म मरण रूप दुःख का कारण कर्म कहा है। अर्थात् कर्म कारण है और दुःखकार्य है। यहां कार्य अर्थात् दुःख में कारण का अर्थात् कर्म का आरोप करके, कर्म को ही दुःख कहा है। वास्तव में कर्म दुःख रूप भी हैं, अतएव कर्म को दुःख कह देना उचित है। अतएव जिसने साम्यभाव रूप संवर का अवलंबन करके कर्म को जीत लिया है वह मोह को भी जीत लेता है-अर्थात् राग-द्वेष का अन्त कर देता है। और जिसने राग-द्वेष को जीत लिया है उसकी तृष्णा अपने आप समाप्त हो जाती है, क्योंकि जब किसी भी पदार्थ के ऊपर राग भाव नहीं रहता तब उसे पाने की अभिलाषा भी नहीं रहती है और अभिलाषा ही तृष्णा है। तृष्णा का जब अन्त हो जाता है तब संचित पदार्थों को सुरक्षित रखने के लिए जीव में व्याकुलता नहीं रहती अर्थात् लोभ का ही अन्त हो जाता है। लोभ का अन्त होने पर कोई भी विकार शेष नहीं रह पाता है।

दशवें गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ का अस्तित्व रहता है। आत्मा जब दशवें गुण-स्थान से आगे बारहवें गुणस्थान में प्रवेश करने लगता है उसी समय लोभ का सर्वथा क्षय हो जाता है। समस्त विकारों को उत्पन्न करने वाले मोहनीय कर्म की सेना का अंतिम सैनिक लोभ ही है। अन्यान्य सैनिकों का क्षय इससे पहले ही हो चुकता है। यह लोभ सबसे अन्त में नष्ट होता है। अतएव सूत्रकार कहते हैं कि 'लोहो हओ जस्स न किंचिणाइ' अर्थात् जिसने लोभ रूपी अंतिम योद्धा को परास्त कर दिया, उसे फिर किसी को परास्त करने के लिए शक्ति नहीं लगानी पड़ती। लोभ-विजयी महात्मा शीघ्र ही बारहवें गुणस्थान में पहुँचकर अप्रतिपाती और पूर्ण वीतराग बन जाते हैं। उस समय कर्म-कृत कोई भी विकार उन्हें स्पर्श नहीं करता। बारहवें गुणस्थान में भी वे महात्मा अन्तर्मुहूर्त ही ठहरते हैं और फिर तेरहवें गुणस्थान में पहुँचते ही जीवन्मुक्त, सशरीर परमात्मा, अर्हन्, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बन कर अन्त में सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाते हैं।

निर्ग्रन्थ-प्रवचन--द्वितीय अध्याय

समाप्त

❀ ॐ नम सिद्धेभ्यः ❀

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

॥ तृतीय अध्याय ॥

धर्मस्वरूप वर्णन

श्री भगवानुवाच--

मूलः-कम्माणं तु पहाणाए, आणुपुव्वी कयाइ उ ।
जीवा सोहिमणुपत्ता, आययंति मणुस्सयं ॥१॥

छायाः—कर्मणां तु प्रहाण्या, आनुपूर्व्या कदापि तु ।
जीवाः शुद्धिमनुप्राप्ताः आददते मनुष्यताम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ.—हे इन्द्रभूति ! अनुक्रम से कर्मों की हानि होने पर जीव कभी शुद्धता प्राप्त कर मनुष्यता प्राप्त करते हैं ।

भाष्यः—द्वितीय अध्ययन में कर्मों के स्वरूप का निरूपण किया गया है और यह भी स्पष्ट किया गया है कि कर्मों के प्रभाव से जीव नाना प्रकार के रागादि रूप विभाव परिणामों से युक्त होता है । किन्तु जीव सदा कर्मों के ही अधीन नहीं रहता है । जीव में भी अनन्त शक्ति है, अतएव जब क्रम से धीरे-धीरे कर्मों की न्यूनता होती है अर्थात् उनकी शक्ति घट जाती है तब जीव में शुद्धता की वृद्धि होती है और शुद्धता बढ़ जाने पर उसे मनुष्य-भव की प्राप्ति होती है ।

संसार में हम अनेक जीव-योनियां प्रत्यक्ष देखते हैं । लाखों प्रकार की वनस्पति रूप योनि, लाखों कीट-पतंग, लट, कीड़े मकोड़े आदि-आदि की योनियां हैं । फिर उनसे कुछ चढ़ते हुए गाय, भैंस, हिरन, बकरा, मेढ़ा, घोड़ा, गधा, खच्चर, सिंह, व्याघ्र, शृंगाल आदि चौपाये और कौवा, कबूतर, तोता, मैना, तीतर, मुर्गा, हंस आदि-आदि पक्षी जगत में असंख्य प्रतीत होते हैं । यह सब जीव-योनियां ऐसी हैं जिन्हें हम अनुभव कर सकते हैं । परन्तु अत्यन्त सूक्ष्म जीव भी असंख्य योनियों में, संसार में भरे हुए हैं । इन समस्त योनियों में संसार का प्रत्येक जीव जाता है । आज हमारी आत्मा मनुष्ययोनि में है, पर इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वह सदा ही मनुष्ययोनि में रही है या रहेगी । नहीं, यह आत्मा संसार की समस्त योनियों में अनन्त वार जन्म ग्रहण कर चुका है । अब भी वह कर्मों की प्रबलता होने पर उन योनियों में जा सकता है । इस प्रकार विचार करने से मालूम होता है कि संसार की इन असंख्य योनियों से बच कर, सर्वश्रेष्ठ मनुष्य योनि का मिल जाना कितना बड़ा सुयोग है ! कितनी अधिक सौभाग्य की निशानी है !

अव्यवहार-राशि-नित्य निगोद जीव की सबसे अधिक निकृष्ट अवस्था है। उसमें अनन्तानन्त जीव ऐसे हैं जिन्होंने अब तक एकेन्द्रिय पर्याय का कभी त्याग ही नहीं किया है। उन्होंने कभी द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि त्रस अवस्था नहीं पाई है। एक समय ऐसा था, जब हमारी आत्मा भी उन अभाग्यवान् अनन्तानन्त आत्माओं में से एक था। उस निगोद अवस्था में इस जीव ने अनन्त समय गंवाया है। वहां नियतिवश जन्म-मरण की तथा गर्मी-सर्दी, भूख-प्यास आदि की वेदनाएं सहन करते-करते, अनन्त कर्मों की अकाम निर्जरा हो गई। अकाम निर्जरा होने से जीव की शक्ति कुछ अंश में जागृति हुई और वह वहां से निकल कर व्यवहार राशि-इतर निगोद में आ गया। व्यवहार-राशि में चिरकाल तक रहने के पश्चात् फिर इस जीव ने अनन्त पुद्गल-परावर्त्तन पूरे किये हैं। यह परावर्त्तन या परिवर्त्तन आठ प्रकार के हैं—(१) द्रव्यपुद्गलपरावर्त्तन (२) क्षेत्रपुद्गलपरावर्त्तन (३) कालपुद्गलपरावर्त्तन और (४ भाव पुद्गल परावर्त्तन। इन चारों के सूक्ष्म और स्थूल भेद होने से पुद्गल परावर्त्तनों की संख्या आठ हो जाती है। इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार जानना चाहिए:—

(१) स्थूल द्रव्यपुद्गलपरावर्त्तन–औदारिक, वैक्रियक, तैजस और कार्मण शरीरों के तथा मनोयोग वचन योग और श्वासोच्छ्वास के योग्य जितने समस्त लोकाकाश में परमाणु भरे हैं उन्हें ग्रहण करके पुनः त्यागना द्रव्य स्थूल पुद्गल परावर्त्तन कहलाता है।

(२) सूक्ष्म द्रव्यपुद्गलपरावर्त्तन-पूर्वोक्त सातों प्रकार के पुद्गल परमाणुओं में से प्रथम; लोक के समस्त औदारिक शरीर योग्य परमाणुओं को अनुक्रम से ग्रहण करके त्यागना फिर लोक के समस्त वैक्रियक शरीर योग्य परमाणुओं को अनुक्रम से ग्रहण करके छोड़ना, इसके बाद फिर इसी प्रकार तैजस और कार्मण शरीर के योग्य समस्त लोकाकाशवर्ती परमाणुओं को क्रमश ग्रहण करके छोड़ना तत्पश्चात् मनोवर्गणा के समस्त पुद्गलों को अनुक्रम से ग्रहण करके त्यागना, फिर वचन-वर्गणा के और फिर श्वासोच्छ्वास वर्गणा के सब पुद्गलों को अनुक्रम से ग्रहण करके त्यागना। इस तरह सातों प्रकार के सब पुद्गलों को अनुक्रम से, एक-एक के बाद एक-एक को स्पर्श करके ग्रहण करना और त्यागना। अनुक्रम से कहने का तात्पर्य यह है कि कोई जीव औदारिक के पुद्गलों का स्पर्श करते-२ बीच में किसी वैक्रियक आदि अन्य वर्गणा के पुद्गल को ग्रहण कर ले तो पहले ग्रहण किये हुए वे औदारिक के पुद्गल गिनती में नहीं आते और न वैक्रियक के पुद्गल ही ग्रहण किये हुओं की गणना में आते हैं। किन्तु जिस वर्गणा के पुद्गलों का ग्रहण आरंभ किया है, उसके बीच में किसी भी अन्य वर्गणा के पुद्गलों को न ग्रहण करके, आदि से अन्त तक एक ही वर्गणा के पुद्गलों का ग्रहण हो, उसे सूक्ष्म द्रव्य पुद्गल-परावर्त्तन कहते हैं।

(३) स्थूल क्षेत्रपुद्गलपरावर्त्तन—जम्बूद्वीप के सुदर्शन मेरु पर्वत से, लोक

के अन्त तक, समस्त दिशाओं और विदिशाओं में, बीच में जरा भी अन्तर न रहते हुए, आकाश के समस्त प्रदेशों को जन्म-मृत्यु के द्वारा स्पर्श करना-कहीं वालाग्र जितना स्थान भी न छोड़ना स्थूल क्षेत्र पुद्गल परावर्त्तन है।

(४) सूक्ष्म क्षेत्रपुद्गलपरावर्त्तन-लोक में आकाश के प्रदेशों की समस्त दिशाओं में असंख्यात श्रेणियां-पंक्तियां बनी हुई हैं। उन श्रेणियों में से पहले एक श्रेणी का अवलम्बन करके, बीच में एक भी आकाश—प्रदेश न छोड़कर, मेरु पर्वत के रुचक प्रदेशों से लेकर लोकाकाश के अन्त तक, अनुक्रम से समस्त प्रदेशों को जन्म मरण के द्वारा स्पर्श करना, फिर दूसरी श्रेणी के समस्त प्रदेशों को पहले की तरह ही स्पर्श करना और इसी प्रकार असंख्यात श्रेणियों को स्पर्श करना सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गलपरावर्त्तन कहलाता है। यहां अनुक्रम से स्पर्श करने को कहा है सो उसका आशय यह है कि यदि बीच में किसी दूसरी श्रेणी में या क्रम से भिन्न उसी श्रेणी के किसी अन्य प्रदेश में जन्म-मरण करे तो वह दोनों ही श्रेणियों का जन्म मरण इस गणना में सम्मिलित नहीं किया जाता।

(५) स्थूल कालपुद्गलपरावर्त्तन—(१) समय, (२) आवलिका, (३) श्वासोच्छ्वास (४) स्तोक (५) लव (६) मुहूर्त्त (७) अहोरात्रि (८) पक्ष (९) महीना (१०) ऋतु (११) अयन (१२) संवत्सर (१३) युग १४) पूर्व (१५) पल्य (१६) सागर (१७) अवसर्पिणी (१८) उत्सर्पिणी और (१९) कालचक्र, इस उन्नीस प्रकार के काल का जन्म-मरण के द्वारा स्पर्श करना स्थूलकालपुद्गलपरावर्त्तन कहलाता है।

(६) सूक्ष्मकालपुद्गल परावर्त्तन जब अवसर्पिणी काल का आरंभ हो तो उसके प्रथम समय में जन्म लेकर, आयु पूर्ण कर, मृत्यु को प्राप्त हो, फिर दूसरी बार अवसर्पिणी काल आरभ होने पर उसके दूसरे समय में जन्म लेकर मरे। फिर तीसरी बार फिर चौथी वार, इसी प्रकार असंख्यात वार असंख्यात अवसर्पिणी कालों में अनुक्रम से जन्म लेवे। असंख्यात वार जन्म लेने पर जब आवलिका काल लग जाय तब पूर्वोक्त रीति से प्रथम अवसर्पिणी की प्रथम आवलिका में, दूसरी अवसर्पिणी की दूसरी आवलिका में इस प्रकार अनुक्रम से जन्म ले ले कर मरे। जब श्वासोच्छ्वास का समय लग जाय तो इसी प्रकार अनुक्रम से श्वासोच्छ्वास को पूर्ण करे और इसी प्रकार स्तोक, लव, मुहूर्त्त आदि पूर्वोक्त उन्नीस में से सत्तरह को क्रम-क्रम से स्पर्श क । बीच में यदि अन्यकाल में कभी जन्म ले ले तो वह काल गिना नहीं जाता। यह सूक्ष्म काल पुद्गल परावर्त्तन है।

(७) स्थूल भावपुद्गलपरावर्त्तन—पांच वर्ण, दो गंध, पांच रस और आठ स्पर्श, इन बीस प्रकार के पुद्गलों को स्पर्श करना स्थूल भाव पुद्गल परावर्त्तन है।

(८) सूक्ष्म भावपुद्गलपरावर्त्तन—उक्त बीस प्रकार के पुद्गलों में से सर्वप्रथम एक गुण काले वर्ण के पुद्गलों को ग्रहण करके त्यागे, फिर दो गुण काले वर्ण के पुद्गलों को ग्रहण करके छोड़े, इसी प्रकार अनुक्रम से अनन्तगुण काले वर्ण को ग्रहण करके त्यागे। फिर एक गुण हरित वर्ण को, दो गुण हरित वर्ण को यावत् अनन्तगुण हरित

वर्ण को ग्रहण करके त्यागे। इसके बाद एक गुण आदि के इसी क्रम से पांचों वर्णों को, दोनों गन्धों को, पांचों रसों को और आठों स्पर्शों को अनुक्रम से ग्रहण करके त्याग करे। इसे सूक्ष्म भावपुद्‌गलपरावर्त्तन कहते हैं।

इन आठों पुद्‌गल—परावर्त्तनों के समूह को एक पूर्ण पुद्‌गलपरावर्त्तन कहते हैं। ऐसे-ऐसे अनन्त पुद्‌गल-परावर्त्तन इस जीव ने किये हैं। एक-एक पुद्‌गल-परावर्त्तन को पूर्ण करने में असंख्य अवसर्पिणी उत्सर्पिणी काल समाप्त हो जाते हैं।

सम्भव है, इतनी लम्बी काल-गणना को पढ़ कर कुछ संकुचित मस्तिष्क वाले उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखें, मगर जरा गहराई के साथ विचार करने पर इसमें तनिक भी आश्चर्य नहीं होगा। जब जीव अनादिकाल से है और काल भी अनादिकालीन है तथा जीव संसारभ्रमण भी अनादिकाल से कर रहा है, तब इतना लम्बा प्रतीत होने वाला काल क्या आश्चर्यजनक है?

इस अत्यन्त लम्बे अर्से में संसारी जीव जन्म-मरण करते-करते असह्य वेदनाएं भोग चुकता है। अकामनिर्जरा होने से पाप-कर्म शिथिल हो जाने से तथा पुण्य के दलिक बढ़ जाने से, जब अनन्त पुण्य सचित हो जाता है, तब अनन्त कार्मण-वर्गणा खपाने वाला और मोक्ष-गमन योग्यता उत्पन्न करन वाला, मोक्षमार्ग की साधना में सहायता देने वाला मनुष्यजन्म प्राप्त होता है।

ऊपर नित्यनिगोद और इतरनिगोद का जो उल्लेख किया गया था उससे यह नहीं समझना चाहिए कि जीव इतर निगोद से सीधा ही मनुष्यभव प्राप्त कर लेता है। उल्लिखित पुद्‌गल-परावर्त्तनों के समय वह विभिन्न विभिन्न योनियों में जन्म लेता और मरता रहता है। अनन्त काल पर्यन्त नित्य निगोद में रहने के बाद, अकाम निर्जरा के प्रभाव से, अनन्त पुण्य की वृद्धि होने पर, जीव इतरनिगोद की अवस्था में आता है। फिर अनन्त पुण्य की वृद्धि होने पर, सूक्ष्म अवस्था से बादर अवस्था पाता है। बादर अवस्था में पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय आदि पांच एकेन्द्रिय स्थावरों के रूप में चिरकाल पर्यन्त रहता है। अर्थात् वनस्पति काय में अनन्त और शेष चार स्थावरों में असंख्यात काल व्यतीत करता है। स्थावर काय में भी अकाम निर्जरा के प्रभाव से अनन्त पुण्य की वृद्धि होने पर फिर कहीं त्रस पर्याय की प्राप्ति होती है।

त्रस पर्याय मिल जाने पर भी जीव स्पर्शन और रसना इन दो इन्द्रियों का धारक लट, शंख आदि रूपों को धारण करता है। इसके पश्चात् यदि निरन्तर अनन्त-अनन्त पुण्य की वृद्धि होती जाय तो त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और फिर असंज्ञी पंचेन्द्रिय होता है। यहां भी सुयोग से अगर अनन्त पुण्य का संचय हुआ तो जीव संज्ञी (विशिष्ट मन वाला) पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च हो पाता है। तिर्यञ्च संज्ञी पंचेन्द्रियों की बहुत सी जातियां हैं, जिनका उल्लेख आगे किया जायगा। तिर्यञ्च संज्ञी पंचेन्द्रिय होने के बाद यदि नरक में चला गया तो फिर दीर्घ काल तक घोर व्यथाएं भोगता है।

कहा भी है—

यथा धेनुसहस्रेषु, वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पूर्वकृतं कर्म, कर्त्तारमनुगच्छति ॥

अर्थात् हजारों गायों में से बछड़ा अपनी माता के पास जा पहुंचता है उसी प्रकार पूर्वकृत कर्म, कर्त्ता का पीछा करता है।

अतएव भव्य जीवों को सदा वीतराग सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित चारित्रधर्म का अनुसरण करना चाहिए और विपरीत श्रद्धा का परित्याग करके कभी उसके अनुसार व्यवहार नहीं करना चाहिए। आत्मकल्याण का यही राजमार्ग है।

मूलः—बाला किड्डा य मंदा य, बला पन्ना य हायणी।
पवंचा पब्भारा य, मुम्मुही सायणी तहा ॥ ३ ॥

छायाः—बाला क्रीडा च मन्दा च, बला प्रज्ञा च हायनी।
प्रपंचा प्राग्भारा च, मुन्मुखी शायिनी तथा ॥ ३ ॥

शब्दार्थः—मनुष्य की दस दशाएं हैं—(१) बाल-अवस्था (२) क्रीड़ा-अवस्था (३) मन्दावस्था (४) बलावस्था (५) प्रज्ञावस्था (६) हायनी-अवस्था (७) प्रपंच अवस्था (८) प्राग्भार-अवस्था (९) मुम्मुखी-अवस्था और (१०) शायनी-अवस्था।

भाष्यः—मनुष्य भव की प्राप्ति का प्ररूपण करने के पश्चात् मनुष्य की दश दशाओं का निरूपण यहां किया गया है। दशाओं का यह विभाग आयु के क्रम से समझना चाहिए। अर्थात् जिस समय मनुष्य की जितनी आयु हो, उस आयु को दस विभागों में बराबर-बराबर विभक्त करने से दस अवस्थाएं निष्पन्न होती हैं। उदाहरणार्थ—सौ वर्ष की आयु हो तो दस-दस वर्षों की दस अवस्थाएं समझना चाहिए इन अवस्थाओं का विभाजन शारीरिक एवं मानसिक-दोनों दृष्टियों को लक्ष्य रखकर किया गया है। दस अवस्थाओं का परिचय इस प्रकार है:—

(१) बाल्यावस्था - जिस अवस्था में किसी प्रकार का विवेक नहीं होता, खाने पीने, धनोपार्जन करने आदि की कुछ चिन्ता नहीं रहती है।

(२) क्रीड़ावस्था - दस वर्ष से लगाकर वीस वर्ष पर्यन्त क्रीड़ा-अवस्था रहती है, क्योंकि इस अवस्था में खेलने-कूदने की धुन सवार रहती है।

(३) मन्दावस्था - यह अवस्था वीस वर्ष से तीस तक रहती है। इस अवस्था में पूर्वजों द्वारा संचित सम्पत्ति और भोगोपभोग की सामग्री को ही भोगने की इच्छा रहती है और नवीन अर्थ धन के उपार्जन में उत्साह नहीं होता है, इसलिए इस अवस्था को मन्दावस्था कहा गया है।

(४) बल-अवस्था-तीस से चालीस वर्ष तक बल-अवस्था रहती है। क्योंकि इस अवस्था में यदि अस्वस्थता आदि कोई विशेष बाधा उपस्थित न हो तो मनुष्य बलवान होता है।

(५) प्रज्ञा-अवस्था—चालीस से पचास वर्ष पर्यन्त प्रज्ञा-अवस्था रहती है। इस अवस्था में अभीष्ट अर्थ का उपार्जन करने के लिए तथा कुटुम्ब की वृद्धि के लिए मनुष्य अपनी बुद्धि का खूब उपयोग करता है।

(६) हायनी-अवस्था—पचास से साठ वर्ष तक यह अवस्था रहती है। इस अवस्था के प्राप्त होने पर मनुष्य इन्द्रियों संबंधी भोग भोगने में हीनता का अनुभव करने लगता है। इस कारण इसे हायनी अवस्था कहते हैं।

(७) प्रपंच-अवस्था—साठ से सत्तर वर्ष तक प्रपंच-अवस्था रहती है। इस अवस्था में कफ निकलने लगता है, खांसी आने लगती है और शरीर संबंधी झंझटें बढ़ जाती हैं, अतएव इसे प्रपंच अवस्था कहते हैं।

(८) प्राग्भार-अवस्था —सत्तर वर्ष से अस्सी वर्ष तक की हालत प्राग्भार-अवस्था कहलाती है। इसमें शरीर में झुर्रियां पड़ जाती है और शरीर झुक जाता है, अतः इसे प्राग्भार अवस्था कहा है।

(६) मुम्मुखा-अवस्था—अस्सी से नव्वे वर्ष की अवस्था मुम्मुखी कहलाती है। इस अवस्था में मनुष्य जरा रूपी राक्षसी के पंजे में पूर्ण रूप से फंस जाता है। अर्धमृतक के समान यह अत्यन्त शिथिल अवस्था है।

(१०) शायनी-अवस्था—नव्वे वर्ष से लेकर सौ वर्ष की अवस्था शायनी अवस्था हैं। इस अवस्था में मनुष्य का शरीर, इन्द्रियां और मन अपना अपना व्यापार प्राय बन्द कर देते हैं अतएव सुप्त मनुष्य की सी दशा हो जाती हैं। अन्त में मनुष्य महा-निद्रा में शयन करता है-उसका जीवन समाप्त हो जाता है, अतएव इसे शायनी अवस्था कहा गया है। इस प्रकार मानव-जीवन दस अवस्थाओं में बटा हुआ है।

मनुष्य की इन अवस्थाओं पर विचार करने से प्रतीत होगा कि अत्यंत कठिनता से प्राप्त हुआ मनुष्य भव अनेक अवस्थाओं में बंटा है और इन अवस्थाओं में धर्म-क्रिया करने का बहुत कम अवकाश है। मनुष्य जब बालक होता है तब उसे धर्म-अधर्म का बोध ही नहीं होता, इसलिए वह धर्म क्रिया से विमुख रहता है। युवावस्था में विषयों की ओर झुक जाने के कारण, धर्माचरण का सामर्थ्य होने पर भी मनुष्य धर्म की विशिष्ट आराधना नहीं करता और वृद्धावस्था में सामर्थ्य नष्ट हो जाती है। इस प्रकार मनुष्य तीनों अवस्थाएं वृथा गंवा देता है। और अनन्त पुण्य के व्यय से प्राप्त हुआ मानव-भव रूपी अनमोल हीरा निष्प्रयोजन चला जाता है! इसलिए कविवर भूधरदास ने ठीक ही कहा है—

जौलों देह तेरी काहू रोग सौं न घेरी, जौलों जरा नाहिं नेरी जासों पराधीन परि हैं।
जौलों जम नामा वैरी देय न दमामा जौलों, माने कान रामा बुद्धि जाइ न बिगरि है।
तौलों मित्र मेरे! निज कारज संवार ले रे, पौरुष थकेंगे फेर पीछे कहा करि हैं।
अहो आग लागे जब झौंपड़ी जरन लागी, कुआ के खुदाए तब कौन काज सरि हैं? ॥

जब तक शरीर में सामर्थ्य है, इन्द्रियों में बल है और मस्तिष्क में हिताहित के विवेक की शक्ति है, तब तक मनुष्य को अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेना चाहिए-आत्म-कल्याण के मार्ग पर अग्रसर हो लेना चाहिए। जब शरीर और इन्द्रियां आदि वेकार होजाएंगी तब आत्मा के कल्याण की चेष्टा करना, झोंपड़ी में आग लगने पर कुआ खुदवाने के समान असामयिक और अनुपयोगी है। अपने जीवन की अनमोलता का विचार करो। निश्चय समझो कि सदा इतने पुण्य का उदय नहीं रह सकता कि पुनः पुनः मनुष्य भव की प्राप्ति हो सके। इस जीवन को विषय-वासनाओं के पोषण में व्यतीत न करो। तुम्हें जो बहुमूल्य चिन्तामणि हाथ लग गया है सो उसका अधिक से अधिक सदुपयोग करो। उसे कौआ उड़ाने के लिए न फैंक दो।

मनुष्य आयु अत्यन्त परिमित है और वह भी अनेक विघ्न-बाधाओं से भरी हुई है। जिस क्षण में जीवन विद्यमान है उससे अगले क्षण का विश्वास नहीं किया जा सकता। अतएव अप्रमत्त भाव से आत्महित का मार्ग ग्रहण करो। स्त्री-पुरुष के एक बार के संयोग से असंख्यात सम्मूर्छिम मनुष्य और नौ लाख संज्ञी मनुष्यों की उत्पत्ति होती है। उनमें से से एक-दो-तीन या चार जीव ही अधिक से अधिक बच पाते हैं। शेष सब दीर्घायु के अभाव में मर जाते हैं। इस बात का विचार करो कि तुम्हें दीर्घ जीवन प्राप्त करने का भी सुयोग मिल गया है। सूयगडांग सूत्र में कहा है—

डहरा बुड्ढा य पासह, गब्भत्था वि चयंति माणवा।
सेणे जह वट्टयं हरे, एवं आउखयंमि तुट्टई॥

श्री आदिनाथ भगवान् ने अपने पुत्रों से कहा है--बालक, वृद्ध और यहां तक कि गर्भस्थ मनुष्य भी प्राणों से हाथ धो बैठते हैं। जैसे बाज पक्षी तीतर पक्षी के ऊपर झपट कर उसे मार डालता है उसी प्रकार आयु का क्षय होने पर मृत्यु मनुष्य के प्राणों का अपहरण कर लेती है।

जीवन का अन्त करने के इतने अधिक साधन जगत् में विद्यमान हैं कि जीवन के अन्त होने में किंचित् भी आश्चर्य नहीं होना चाहिए। आश्चर्य की बात हो तो मनुष्य का जीवित रहना ही आश्चर्यजनक हो सकता है। मानव-जीवन चक्की के दोनों पाटों के बीच पड़े हुए दाने के समान है, जो किसी भी क्षण चूर-चूर हो सकता है। इस प्रकार विनश्वर जीवन का आधा हिस्सा रात्रि में शयन करने में व्यतीत हो जाता है और आधा हिस्सा संसार सम्बन्धी प्रपंचों में मनुष्य बिता देते हैं। यह कितने खेद की बात है?

हे भव्य जीव! तू अपनी आयु की दुर्लभता का विचार कर, उसकी परिमितता और विनश्वरता को सोच। फिर शीघ्र से शीघ्र उसके अधिक से अधिक सदुपयोग का विचार करके सदुपयोग कर डाल। जो क्षण जा रहा है वह कभी वापिस नहीं आयगा। उसके लिए पश्चात्ताप न करना पड़े, ऐसा कर्त्तव्य कर और मानव-जीवन की सर्व श्रेष्ठ साधना-मुक्ति-के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रह। समय अत्यन्त, अल्प है

और कर्त्तव्य महान् है इसलिए जो अवसर हाथ लगा है उसे व्यर्थ न जाने दे यही सूचित करने के लिए सूत्रकार ने मानव-जीवन का कालिक विश्लेषण करके दस अवस्थाओं का वर्णन किया है।

मूलः—माणुस्सं विग्गहं लद्धुं, सुई धम्मस्स दुल्लहा।
जं सोच्चा पडिवज्जंति, तवं खंतिमहिंसयं ॥ ४ ॥

छायाः—मानुष्यं विग्रहं लब्ध्वा, श्रुतिर्धर्मस्य दुर्लभा।
यं श्रुत्वा प्रतिपद्यन्ते, तपः क्षान्तिमहिंस्रताम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थः—मानव-शरीर पाकर के भी धर्म का श्रवण दुर्लभ है—धर्म-श्रवण करने का अवसर मिलना कठिन है, जिसको सुनने से तप, क्षमा और अहिंसा को पालन करने की इच्छा जागृत होती है।

भाष्यः—पहले मनुष्य की दस अवस्थाओं का निरूपण किया है। यदि वह अवस्थाएं जीव को प्राप्त हो जाएं, तो भी धर्म के स्वरूप का श्रवण दुर्लभ है अर्थात् सर्वज्ञ और वीतराग द्वारा निरूपित निर्ग्रन्थ-प्रवचन के उपदेश को सुनने का सौभाग्य अत्यन्त कठिनता से प्राप्त होता है।

धर्म के उपदेश को श्रवण करने के लिए दीर्घायु, परिपूर्ण इन्द्रियां, शारीरिक आरोग्य, सद्गुरु का समागम आदि निमित्त कारणों की आवश्यकता होती है। इन निमित्त कारणों का मिलना सरल नहीं है।

उक्त निमित्त कारणों में से दीर्घायु के विषय में कहा जा चुका है। पुण्य के प्रबल उदय से यदि दीर्घायु मिल जाती है, तो भी जब तक इन्द्रियां परिपूर्ण नहीं होती तब तक आत्महित चाहने वाले मुमुक्षु प्राणियों का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इसी कारण शास्त्रों में कहा है—

जाविन्दिया न हायंति ताव धम्मं समायर।

अर्थात् जब तक इन्द्रियां क्षीण नहीं होने पाती तब तक धर्म का आचरण कर लो। फिर धर्म का आचरण होना कठिन हो जायगा। क्योंकि संसार में अनेक ऐसे प्राणी हैं जो इन्द्रियों की विकलता के कारण जीवन का सदुपयोग नहीं कर पाते, वरन उन्हें जीवन भारभूत प्रतीत होता है। जो बधिर (बहरे) हैं, वे धर्म-श्रवण करने में असमर्थ हैं। जो नेत्रहीन हैं वे शास्त्रों का अवलोकन नहीं कर सकते। इसी प्रकार जो गूंगा आदि अन्य किसी इन्द्रिय से हीन होता है वह भी भली भांति धर्म का श्रवण और तदनुसार सम्यक् आचरण नहीं कर सकता।

इन्द्रियां परिपूर्ण और कार्यकारी होने पर भी, यह शरीर नीरोग न रहे तो भी धर्म की आराधना नहीं हो पाती। इसलिए शास्त्र में कहा है-'वाही जाव न वड्ढई' अर्थात् जब तक शरीर में व्याधि नहीं बढ़ती है तब तक धर्म का आचरण करलो। शास्त्रकार ने इस वाक्य में 'वड्ढई' पद दिया है। इसका आशय यह है कि शरीर में

रोग तो सदा विद्यमान ही रहते हैं। जब वे बढ़ जाते हैं तब रोग का होना कहलाता है। शरीर में ३५०००००० रोम कहे जाते हैं और प्रत्येक रोम के साथ पौने दो रोगों के हिसाब से करोड़ों रोग इस औदारिक श रीर को घेरे हुए हैं। कुछ साधारण रोग, तो कुछ इनमें अत्यन्त भयंकर और असाताकारी हैं। उनमें से एक भी रोग यदि प्रबल हो जाता है तो इतनी अधिक व्याकुलता उत्पन्न होती है कि धर्म-आराधना की ओर मन ही नहीं जाता है। इस प्रकार औदारिक शरीर को जब रोगों की आशंका सदा ही बनी रहती है तब कौन कह सकता है कि किस समय किस रोग की प्रबलता हो जायगी ? किसी भी क्षण कोई भी रोग कुपित होकर समस्त शान्ति और साता को धूल में मिला सकता है। जीवन को भारभूत बना सकता है। अतएव मानव-शरीर पा लेने पर भी शारीरिक नीरोगता रहना कठिन है और जब वह रहती है तभी धर्म का श्रवण हो सकता है। पुण्य के योग से जिन्हें शारीरिक स्वास्थ्य प्राप्त है उन्हें धर्म-श्रवण करने में विलम्ब नहीं करना चाहिए।

शारीरिक नीरोगता भी प्राप्त हो जाय पर सद्गुरु का समागम न मिले तो सच्चे धर्म के श्रवण का सौभाग्य नहीं प्राप्त होता कंचन-कामिनी के त्यागी, स्व-पर कल्याण के अभिलाषी, यथार्थ वस्तु-स्वरूप के ज्ञाता, और संसारी जीवों पर करुणा करने वाले सद्गुरुओं की संगति ही मनुष्य को धर्म की ओर आकृष्ट करने में कारणभूत होती है। ऐसे सद्गुरुओं का समागम भी बड़े पुण्य के उदय से होता है, क्यों कि संसार में दुराचारी, अर्थ के दास, पाखण्डप्रिय और वञ्चक गुरु कहलाने वालों की कमी नहीं है। हजारों-लाखों विभिन्न वेषधारी-साधु जगत् में बिना किसी उच्च उद्देश्य के पेटपूर्ति के लिए अथवा अपने शिष्यों को ठग कर अर्थोपार्जन करने के लिए घूमते फिरते हैं। वे कंचन-कामिनी के क्रीतदास हैं। धर्माधर्म के विवेक से विहीन हैं। कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का ज्ञान उन्हें लेशमात्र भी नहीं है। वे ख्याति, लाभ और पूजा-प्रतिष्ठा के लोलुप हैं। संसार-सागर को पार करने के लिए उनका आश्रय लेना पत्थर की नौका का आश्रय लेने के समान है। असंख्य प्राणी इन कुगुरुओं के चक्कर में पड़े हुए धर्म से विमुख हो रहे हैं। वे अधर्म को ही धर्म समझकर, काच को हीरे के रूप में, ग्रहण कर रहे हैं। उन्हें सच्चे धर्म का श्रवण दुर्लभ है। अतएव इन्द्रियों की पूर्णता और शारीरिक नीरोगता प्राप्त हो जाने पर भी यदि सद्गुरु की संगति न मिले तो धर्म-श्रुति दुर्लभ हो जाती है। इस प्रकार धर्मोपदेश श्रवण के लिए सद्गुरु का समागम होना आवश्यक है।

इसी प्रकार आर्यक्षेत्र का मिलना, सुकुल की प्राप्ति होना भी धर्म-श्रवण के प्रबल निमित्त हैं। क्योंकि मनुष्य-शरीर पा लेने पर भी बहुत से मनुष्य अनार्य क्षेत्र में उत्पन्न होते हैं। वहां धर्म की परम्परा न होने के कारण मनुष्य धर्म से सर्वथा विमुख, हिंसा आदि पाप कर्मों में लीन और सदा अशुभ अध्यवसायों से युक्त होते हैं। उन मनुष्यों को यह ज्ञान नहीं होता कि मैं कौन हूं ? कहां से आया हूं ? कहां जाऊंगा ? जीवन का उद्देश्य क्या है ? आत्मा का हित क्या है और अहित क्या है ?

आर्य क्षेत्र में जन्म लेने पर भी धार्मिक कुल में जन्म मिलना दुर्लभ होता है। क्योंकि आर्यक्षेत्र में भी अधिकांश कुल ऐसे होते हैं जिनमें वास्तविक धर्म के संस्कार नहीं होते। कोई धर्म से उपेक्षा करते हैं, कोई धर्म को दम्भ कहते हैं, कोई धर्म को उपादेय समझते हुए भी मिथ्या धर्म को ग्रहण करके उलटा अहित कर बैठते हैं। ऐसे कुल में जन्म लेने वाली सन्तान भी प्राय उसी प्रकार के संस्कार ग्रहण कर लेती है।

अब यह स्पष्ट है कि मानव-शरीर पा लेने पर भी धर्म श्रवण का पुण्य अवसर मिलना दुर्लभ हो जाता है। अतएव इन सब दुर्लभ निमित्तों को पा लेने के पश्चात् प्रत्येक प्राणी को अप्रमत्त भाव से धर्म-श्रवण करना चाहिए। इस बहुमूल्य कारण सामग्री को प्राप्त कर चुकने पर भी जो धर्म-श्रवण नहीं करते वे चिन्तामणि पाकर भी उसे अविवेक के कारण अथाह समुद्र में फेंक देते हैं।

धर्म, आत्मा का स्वभाव है। अतएव वह सदैव आत्मा में विद्यमान रहता है। फिर उसे श्रवण करने से क्या लाभ है? इस शंका का समाधान करते हुए सूत्रकार ने उत्तरार्ध में कहा है—'जं सोच्चा पडिवज्जंति तवं खंतिमहिंसयं।' अर्थात् धर्म-श्रवण करने से तप, क्षमा और अहिंसकता की प्राप्ति होती है। आगे निरूपण किये जाने वाले बारह प्रकार के तप को, क्रोध के अभाव रूप क्षमा को और परपीड़ा का अभाव रूप अहिंसकता को, मनुष्य धर्म-श्रवण करके ही जानता है और जब उनके यथार्थ स्वरूप को जान लेता है तभी उन्हें आचरण में लाता है। अतएव धर्म-श्रवण का साक्षात् फल तप, शान्ति और अहिंसा के स्वरूप का ज्ञान हो जाना और परम्परा फल मुक्ति प्राप्त होना है। भगवती सूत्र में कहा है—

प्रश्न-हे भगवन्! श्रवण का क्या फल है?
उत्तर-हे गौतम! श्रवण का फल ज्ञान है।
प्र०—हे भगवन्! ज्ञान का क्या फल है?
उ०—हे गौतम! ज्ञान का फल विज्ञान है (हेयोपादेय का विवेक हो जाना विज्ञान कहलाता है।)
प्र०—हे भगवन्! विज्ञान का क्या फल है?
उ०—हे गौतम! विज्ञान का फल प्रत्याख्यान है।
प्र०—हे भगवन्! प्रत्याख्यान का क्या फल है?
उ०—हे गौतम! प्रत्याख्यान का फल संयम है।
प्र०—हे भगवन्! संयम का क्या फल है?
उ०—हे गौतम! संयम का फल आस्रव का रुकना है।
प्र०—हे भगवन्! आस्रव रुकने का क्या फल है?
उ०—हे गौतम! आस्रव रुकने से तपश्चरण शक्य होता है।
प्र०—हे भगवन्! तपश्चरण का क्या फल है?
उ०—हे गौतम! तपश्चरण से आत्मा का कर्म-मल नष्ट होता है
प्र०—हे भगवन्! कर्म-मल के नाश का क्या फल है?

उ०—हे गौतम ! कर्म-मल के नाश से योग (मन-वचन-काय के व्यापार) का निरोध होता है।

प्र०—हे भगवन् ! योग के निरोध का क्या फल है ?

उ०—हे गौतम ! योग के रुकने से सिद्धि प्राप्त होती है।

—भगवती श० ३, उ० ५

इस प्रश्नोत्तर से धर्म-श्रवण के फल का भली भांति बोध हो जाता है और साथ ही यह भी ज्ञात हो जाता है कि किस क्रम से आत्मा अग्रसर होते-होते अन्त में मुक्ति को प्राप्त करता है।

अतएव मनुष्य-भव पा लेने के पश्चात् जिन भाग्यशालियों को सर्वज्ञ वीतराग द्वारा प्ररूपित, कल्प-वृक्ष के समान समस्त अभीष्टों को सिद्ध करने वाले सद्धर्म के श्रवण का सुअवसर प्राप्त हुआ है उन्हें आन्तरिक अनुराग के साथ उसे श्रवण करना चाहिए और उसके अनुसार आचरण करना चाहिए।

मूलः-धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ॥५॥

छाया—धर्मो मंगलमुत्कृष्टं, अहिंसा संयमस्तपः।
देवा अपि तं नमस्यन्ति, यस्य धर्मे सदा मनः ॥५॥

शब्दार्थ—अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म सर्वश्रेष्ठ मंगल है। जिसका मन इस धर्म में सदा रत रहता है उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

भाष्यः—मानव-शरीर पा लेने के बाद भी जिस धर्म का श्रवण दुर्लभ है, उस धर्म का स्वरूप सूत्रकार ने यहां बताया है।

'मं-पापं, गालयति-इति मंगलम्,' अर्थात् जो पाप का विनाश करता है वह मंगल कहलाता है। अथवा 'मंगं-सुखं लातीति मंगलम्' अर्थात् जो मंग (सुख) को लाता है--जिससे सुख की प्राप्ति होती है उसे मंगल कहते हैं। धर्म मंगल है, अर्थात् धर्म से ही पापों का विनाश होता है और धर्म से ही सुख की प्राप्ति होती है।

संसार में अनेक प्रकार के मंगल माने जाते हैं। परदेश गमन करते समय जल से भरे हुए घड़े का दीखना, फूलमाला का नजर आना, तथा हल्दी, श्रीफल, आम्रपत्र, पान आदि-आदि अनेक वस्तुएं मंगल रूप मानी जाती हैं। धर्म भी क्या इसी प्रकार--इन्हीं वस्तुओं के समान मंगल है ? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए 'उक्किट्ठ' (उत्कृष्ट') पद सूत्रकार ने ग्रहण किया है। इसका तात्पर्य यह है कि अन्य वस्तुएं लोक में मंगल रूप अवश्य मानी जाती हैं किन्तु उस मंगल में भी अमंगल छिपा रहता है अथवा उस मंगल के पश्चात् फिर अमंगल प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ—वाणिज्य के लिए परदेश जाने वाले व्यक्ति को सजल घट सामने मिल जाएं तो वह मंगल समझेगा। पर इस मंगल का क्या परिणाम होगा? उसे व्यापार

में लाभ होगा उसके परिग्रह की वृद्धि होगी, और परिग्रह पाप रूप होने के कारण अमंगल है। इसी प्रकार धनोपार्जन में होने वाले सावद्य व्यापार से हिंसा का पाप होगा और हिंसा भी अमंगल है। अतएव यह स्पष्ट है कि सजल घट रूप मंगल, परिणाम में अमंगल का जनक है—उस मंगल में घोर अमंगल छिपा हुआ है। यही नहीं, वह मंगल क्या भविष्य-काल के समस्त अमंगलों का निवारण कर सकता है? कदापि नहीं। इस प्रकार लोक में जो मंगल समझा जाता है वह मंगल उत्कृष्ट मंगल नहीं है। उत्कृष्ट मंगल तो धर्म ही हो सकता है, जिसकी प्राप्ति होने पर अमंगल की संभावना नहीं रहती और जिस मंगल में अमंगल का रंचमात्र भी सद्भाव नहीं है। यही भाव प्रकट करने के लिए सूत्रकार ने धर्म को सिर्फ मंगल नहीं, किंतु उत्कृष्ट मंगल कहा है।

'धम्मो मंगलमुक्किट्ठं' इस पद की दूसरी तरह से भी व्याख्या की जा सकती है। वह इस प्रकार है-जो उत्कृष्ट मंगल रूप है, जो दुःख एवं पाप का विनाशक है और जिससे सुख की प्राप्ति होती है वही धर्म है। जो इस लोक में और परलोक में आत्मा के लिए अनिष्ट जनक है वह मंगल रूप न होने के कारण अधर्म है। इस व्याख्या के अनुसार यह भी कहा जा सकता है कि जो आत्मा के लिए मंगल रूप है वह आत्म-धर्म है, जो समाज के लिए मंगल रूप है अर्थात् जिससे समाज में सुख और शांति का प्रसार होता है वह समाज-धर्म है। जिस आचरण या व्यवहार से राष्ट्र का मंगल सिद्ध होता है—राष्ट्र में अमन-चैन की वृद्धि होती है वह आचरण राष्ट्र धर्म है। जिस व्यवहार से जाति सुखी होती है, जाति के पाप अर्थात् बुराइयाँ दूर होती हैं, वह जातीय धर्म है। इस व्याख्या से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी परम्परा, चाहे वह अर्वाचीन हो या प्राचीन हो, तभी उपादेय हो सकती है जब उसमें कल्याण कारिता का तत्त्व विद्यमान हो। जो आचार राष्ट्र के लिए अकल्याण करता है वह राष्ट्रीय अधर्म है, जिसके व्यवहार से समाज और जाति का अहित होता है वह चाहे प्राचीन ही क्यों न हो वह सामाजिक अधर्म और जातीय अधर्म है। तात्पर्य यह है कि कल्याण और अकल्याण ही धर्म और अधर्म की कसौटी है। इस व्यवहार धर्म के स्वरूप को भलीभांति हृदयंगम कर लिया जाय तो पारस्परिक वैमनस्य क्षीण हो सकते हैं और राष्ट्र में समाज में एवं जाति में कल्याणकारी परम्पराओं की प्रतिष्ठा की जा सकती है।

इस प्रकार सूत्रकार ने धर्म का कल्याण के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के पश्चात् धर्म के स्वरूप का भी निर्देश कर दिया है। वह मंगलमय धर्म क्या है? इस प्रश्न के समाधान में सूत्रकार कहते हैं—'अहिंसा संजमो तवो,' अर्थात् अहिंसा, संयम और तप धर्म के तीन रूप हैं। ये तीनों ही धर्म के रूप पाप के विनाशक और सुख-शांति के जनक हैं। जैसे आत्मा के कल्याण के लिए इन तीनों की अनिवार्य आवश्यकता है उसी प्रकार समाज के कल्याण के लिए भी इनकी आवश्यकता है। जिस व्यक्ति के जीवन में और जिस समाज के जीवन में यह तीन दिव्य गुण ओत-प्रोत नहीं होते.

वह व्यक्ति और वह समाज कभी स्थायी शांति और सुख का भोग नहीं कर सकता। इन तीनों में सर्व प्रथम अहिंसा को स्थान दिया गया है, क्योंकि अहिंसा इनमें प्रधान है। अहिंसा प्रधान इस कारण है कि वह साध्य है और संयम तथा तप अहिंसा के साधन हैं।

प्रत्येक मत में अहिंसा को धर्म स्वीकार किया गया है। जिन मतों में यज्ञ-याग तथा अन्य प्रकार के बलिदान के रूप में हिंसा का विधान है, वे मत भी हिंसा को अहिंसा समझ करके ही धर्म स्वीकार करते हैं। हिंसा को धर्म मानने का अभिप्राय किसी ने भी प्रकट नहीं किया है। अतएव यह कहना भ्रमपूर्ण नहीं है कि अहिंसा की व्याख्या, अहिंसा की मर्यादा और अहिंसा सम्बन्धी समझ भले ही विभिन्न मतों में विभिन्न प्रकार की हो, परन्तु 'अहिंसा धर्म है' इस सिद्धांत में किसी को विवाद नहीं है।

अहिंसा को सब धर्मों, मतों और पंथों में जो सम्माननीय स्थान प्राप्त है सो निष्कारण नहीं है अहिंसा के बल पर ही जगत् के प्राणियों की स्थिति है। एक व्यक्ति, यदि दूसरे व्यक्ति की हिंसा पर उतारू हो जाय, एक जाति दूसरी जाति का संहार करने में तत्पर बन जाय और एक देश दूसरे देश की हत्या करने पर कमर कस ले, तो संसार की क्या दशा होगी? यह कल्पना करना भी कठिन हो जाता है। अतएव अहिंसा वास्तव में जीवन है और हिंसा मृत्यु है। जगत् यदि जीवित रहना चाहे तो उसे अहिंसा का अवलम्बन लेना ही होगा। अहिंसा के बिना जगत् घोर कत्लखाना बन जायगा। यही कारण है कि अहिंसा प्रत्येक प्राणी के अन्त करण में निवास करती है। परम्परागत संस्कार या वातावरण-जन्य प्रभाव के कारण अहिंसा भले ही न्यूनाधिक रूप में पाई जाय, पर जन्म से हिंसक समझे जाने वाले पशुओं पर भी उसका प्रभाव स्पष्ट देखा जाता है। सिंह कितना ही क्रूर क्यों न हो, पर अपने बाल-बच्चों के प्रति उसके हृदय में भी हिंसा की भावना नहीं होती। उतने अंशों में वह भी अहिंसक रहता ही है। इससे यह भली भांति सिद्ध हो जाता है कि अहिंसा प्राणी का स्वाभाविक धर्म है और वह धर्म वातावरण या संस्कारों के कारण कुछ अंशों में छिप जाने पर भी इसका सर्वथा लोप कदापि नहीं होता। यही कारण है कि प्रत्येक धर्म में उसे आदरणीय स्थान प्राप्त हुआ है।

आत्मिक बल की वृद्धि के अनुपात से जीवन में अहिंसा का विकास होता है। जिस व्यक्ति की आत्मिक शक्ति जितनी अधिक विकसित होती जाती है वह उतनी ही मात्रा में अधिक-अधिक अहिंसा का आचरण करता चला जाता है। जिसमें आत्मिक बल नहीं है वह अहिंसा की प्रतिष्ठा अपने जीवन में नहीं कर सकता। तात्पर्य यह है कि बलवान पुरुष ही अहिंसक हो सकता है। अतएव कतिपय लोगों की यह धारणा सर्वथा मिथ्या है कि अहिंसा कायरता रूप है। भारतीय इतिहास के अवलोकन से प्रतीत होता है कि जब तक भारतवर्ष में, अहिंसा का आचरण करने वाले राजाओं का राज्य था तबतक किसी विदेशी राजा ने आकर भारत को पराधीन

नहीं बनाया। इसके विरुद्ध अहिंसा का अनुसरण न करने वाले मुगल सम्राटों के हाथ से भारत का साम्राज्य चला गया। इन से यह साबित होता है कि साम्राज्य का उदय या अस्त हिंसा और अहिंसा पर अवलम्बित नहीं है। तात्पर्य यह है कि अहिंसा शक्तिशाली का धर्म है, उसमें कायरता के तत्व की कल्पना करना मिथ्या और अज्ञानपूर्ण है।

प्रश्नव्याकरण में कहा है—'अहिंसा, देव मनुष्य और असुरों सहित समस्त जगत के लिए पथप्रदर्शक दीपक है और संसार-सागर में डूबते हुए प्राणी को सहारा देने के लिए द्वीप है, त्राण है, शरण है, गति है, प्रतिष्ठा है।.... ...यह भगवती अहिंसा भयभीतों के लिए शरण है, पक्षियों को आकाशगमन के समान हितकारिणी है। प्यासों को पानी के समान है। भूखे को भोजन समान है। समुद्र में जहाज समान है। चौपायों के लिए आश्रम के समान है, रोगियों के लिए औषधि के समान है। ....यही नहीं, भगवती अहिंसा इनसे भी अधिक कल्याणकारिणी है। यह पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति, बीज, हरित, जलचर, स्थलचर, नभचर, त्रस, स्थावर समस्त प्राणियों के लिए मंगलमय है।

अहिंसा का निरूपण जिनागम में बहुत सूक्ष्म रूप से किया गया है। यहां संक्षेप में ही उसका स्वरूप लिखा जाता है, परन्तु अहिंसा के स्वरूप को सम्यक् प्रकार से समझने के लिए पहले हिंसा का स्वरूप समझ लेना उचित है। कषाय के वश होकर द्रव्य-भाव प्राणों का व्यपरोपण (घात) करना हिंसा है। तात्पर्य यह है कि जब किसी मनुष्य के अन्तःकरण में क्रोध आदि कषाय की उत्पत्ति होती है तब सर्व प्रथम उसके शुद्ध-उपयोग रूप भाव प्राणों का घात होता है, यह हिंसा है। तत्पश्चात् क्रोध के आवेश में वह मनुष्य यदि अपनी छाती पीटता है, सिर फोड़ लेता है या आत्मघात करता है तो उसके द्रव्य प्राणों का घात होता है, यह द्रव्य हिंसा है। यदि वह मनुष्य क्रोध आदि के वश होकर दूसरों को मर्मभेदी वचन बोलता है और दूसरे के चित्त की शान्ति को घात करता है तो उसके भाव प्राणों का व्यपरोपण करने के कारण भाव-हिंसा करता है। अन्त में यदि दूसरे पुरुष का अंग-छेदन करता है या उसे मार डालता है तो वह द्रव्य हिंसा करता है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि राग-द्वेष रूप भावों की उत्पत्ति होना हिंसा है और इन विकृत भावों का उदय न होना अहिंसा है। जो व्यक्ति कषाय के वश होकर, अयतना से प्रवृत्ति करता है वह हिंसा का भागी हो जाता है, चाहे उसकी प्रवृत्ति से जीवों की द्रव्य हिंसा हो या न हो, क्योंकि कषाय का सद्भाव होने से भावहिंसा अनिवार्य है। इसके विपरीत जो यतनापूर्वक प्रवृत्ति करता है—अर्थात् जो भाव-हिंसा से रहित है उसकी प्रवृत्ति से द्रव्य-हिंसा कदाचित् हो जाय तो भी वह हिंसा का भागी नहीं होता।

हिंसा दो प्रकार की होती है—(१) अविरति रूप हिंसा और (२) परिणति रूप हिंसा। जो प्राणी, जीव-हिंसा करने में प्रवृत्त नहीं है, फिर भी जिसने हिंसा-

त्याग की प्रतिज्ञा नहीं की है, उसे अविरति रूप हिंसा का दोष लगता है, क्योंकि उसके परिणाम में हिंसा का अस्तित्व रूप में सद्भाव है। मन, वचन अथवा काय के द्वारा किसी भी प्राणी को कष्ट पहुंचाना, किसी का दिल दुखाना, किसी के प्राणों का घात करना परिणति रूप हिंसा है। दोनों प्रकार की हिंसा में प्रमाद का सद्भाव पाया जाता है और जब तक प्रमाद का सद्भाव है तब तक हिंसा का भी सद्भाव रहता है।

हिंसा का सम्बन्ध मुख्य रूप से अन्तःकरण में उत्पन्न होने वाले परिणामों से है। कोई पुरुष हिंसामय परिणामों के कारण, हिंसा न करने पर भी हिंसा का पाप उपार्जन करता है और कोई पुरुष, हिंसा हो जाने पर भी-हिंसा के पाप का पात्र नहीं होता।

अर्थात् गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! त्रस जीवों की हिंसा का त्यागी और पृथ्वीकाय की हिंसा का त्याग न करने वाला श्रावक यदि पृथ्वी खोदते समय किसी त्रस जीव की हिंसा करे तो क्या उसके व्रत में दोष लगता है?

भगवान् महावीर स्वामी उत्तर देते हैं—नहीं, यह नहीं हो सकता। क्योंकि श्रावक त्रस जीव की हिंसा के लिए प्रवृत्ति नहीं करता।

—भगवती श० ७, उ० १

तीव्र कषाय से आविष्ट परिणाम के कारण, अल्प द्रव्य हिंसा होने पर भी तीव्र फल भोगना पड़ता है और मन्द कषाय के कारण हिंसा के तीव्र परिणाम न होने पर भी अधिक हिंसा हो जाती है तो भी हिंसा का फल तीव्र नहीं होता।

कुछ लोग यह सोचते हैं कि सिंह, व्याघ्र, सर्प बिच्छू आदि आदि हिंसक प्राणी, अन्य अनेक प्राणियों की हिंसा करते हैं। उन्हें यदि मार डाला जाय तो अनेक जीवों की रक्षा हो जायगी और मारने वाले को पाप की अपेक्षा पुण्य का बंध अधिक होगा। यह विचार अज्ञान-मूलक है। हम पहले यह बता चुके हैं कि कर्म का फल उसी को भोगना पड़ता है जो करता है। ऐसी अवस्था में पाप कर्म करके अशुभ फल को आमन्त्रित क्यों करना चाहिए? इसके अतिरिक्त प्रायः कहावत प्रसिद्ध है कि-'जीवो जीवस्य जीवनम्' अर्थात् जगत् में एक जीव दूसरे जीव की हिंसा करके अपना जीवन-यापन करते हैं। सो अब एक जीव दूसरे जीव के घातक हैं तो मारने वाला किन-किन जीवों को, कहाँ तक मारेगा? और यदि मारने पर उतारु हो जायगा तो उसकी हिंसा का पार नहीं रहेगा। उस हिंसा का फल उसे ही भुगतना पड़ेगा। अतएव जीव रक्षा के उद्देश्य से जीव-हिंसा करना अयोग्य है।

इससे यह भी सिद्ध है कि करुणा के वश होकर हिंसक जीवों की हिंसा करना उचित नहीं है कोई-कोई अज्ञ जीव रोगी अथवा अन्य प्रकार से दुःखी प्राणी की हिंसा करके समझते हैं कि हम उस प्राणी का उपकार कर रहे हैं। उसे दुःख से बचाकर शान्ति प्रदान करते हैं। यह समझ भी मिथ्या है। क्योंकि दुःख पाप का

फल है। जो दुःख भोग रहा है उसने पाप कर्म का उपार्जन अवश्य किया है। अतएव पाप के फल को भोगना उसके लिए अनिवार्य है। इस जन्म में, या आगामी जन्म में फल-भोग जब अनिवार्य है तो कोई प्राणी की हिंसा करके उसे फल-भोग से कैसे बचा सकता है! अतएव जो आस्तिक पुण्य, पाप और परलोक में श्रद्धान रखता है वह ऐसा घृणित और अज्ञानतापूर्ण कार्य कदापि नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त दुःखी जीव भी मरना नहीं चाहते। मरण उन्हें अप्रिय है, इसलिए भी उन्हें मारना उचित नहीं कहा जा सकता।

अगर दुःखी प्राणियों को मारना कर्त्तव्य समझा जाय तो सुखी जीव बहुत पाप करते हैं, अतः उन्हें पाप से बचाने के लिए उन्हें भी मार देना कर्त्तव्य ठहरेगा। इस प्रकार हिंसा की परम्परा बढ़ती चली जायगी। उसका कहीं भी अन्त नहीं होगा।

कई लोग कुसंस्कारों से प्रेरित होकर देवी-देवताओं को बलि चढ़ा कर हिंसा करते हैं और उसे अधर्म नहीं मानते। उन्हें यह सोचना चाहिए कि देवता क्या कभी मांस-भक्षण करते हैं? यदि नहीं; तो उनके लिए किसी प्राणी के प्यारे प्राणों का घात करना उचित कैसे कहा जा सकता है? हिंसा और धर्म का आपस में विरोध है। जो हिंसा है वह धर्म नहीं और जो धर्म है वह हिंसा नहीं है। ऐसी स्थिति में चाहे वेदोक्त हिंसा हो; चाहे किसी अन्य शास्त्र में प्ररूपित हिंसा हो, वह धर्म कदापि नहीं हो सकती। जो वेदोक्त हिंसा को हिंसा ही नहीं समझते, उनसे यह पूछना चाहिए कि क्या वैदिक मंत्रों का उच्चारण करके की जाने वाली हिंसा से प्राणी का घात नहीं होता है? क्या उसे घोर दुःख नहीं होता है? यदि यह दोनों बातें होती हैं तो फिर उसे हिंसा न मानने का क्या कारण है? यदि यह कहा जाय कि मंत्रोच्चारण-पूर्वक की हुई हिंसा से मरने वाला प्राणी स्वर्ग-लाभ करता है अतएव यह हिंसा पाप नहीं है, तो इस कथन की सचाई का प्रमाण क्या है? क्या कभी कोई जीव स्वर्ग से आकर कहता है कि मैं वैदिक हिंसा मे मर कर स्वर्ग में देव हुआ हूँ? ऐसा न होने पर भी केवल मिथ्या श्रद्धा के कारण जो लोग इस प्रकार की हिंसा करते हैं उन्हें अपने माता-पिता आदि प्रियजनों पर उपकार करके उन्हें भी स्वर्ग भेज देना चाहिए। स्वर्ग प्राप्ति का जब इतना सरल और सीधा उपाय है तो क्यों नहीं अपने प्रियजनों को ही लोग बलि चढ़ा कर स्वर्ग पहुंचाने का पुण्य लूटते हैं? उनकी करुणा बेचारे दीन हीन और मूक पशुओं पर ही क्यों बरसती है?

बलि चढ़ने वाले पशु को स्वर्ग प्राप्ति होती है, ऐसा कहने वाले कर्मों के फल के भोग के विषय में क्या कहेंगे? बध्य पशु ने यदि पापों का उपार्जन किया है तो उसे पापों का फल नरक आदि अशुभ गति न मिल कर स्वर्ग गति कैसे मिल सकती है? यदि मिलती है तो कृत कर्म नाश और अकृत कर्म का भोग मानना पड़ेगा, जो कि उचित नहीं है। अतएव यह स्पष्ट है कि धर्म मान कर की जाने वाली हिंसा भी उसी प्रकार घोर दुःख देने वाली है जैसी कि दूसरी हिंसा है। अतः विवेकीजनों को उससे भी बचना चाहिए।

अतएव किसी ने ठीक ही कहा है—'हिंसा नाम भवेद् धर्मो न भूतो न भविष्यति' अर्थात् हिंसा धर्म नहीं है, न थी और न कभी होगी। अतएव हिंसा सदा ही घोर पाप है। जिन प्राणों की रक्षा के लिए प्राणी अपने विशाल साम्राज्य का भी तृण की तरह त्याग कर देता है उन प्राणों के घात करने से इतना भीषण पाप लगता है कि समस्त पृथ्वी का दान कर देने से भी उस पाप का शमन नहीं हो सकता। भला विचार कीजिए कि वन में घास-पानी खा-पीकर जीवन-निर्वाह करने वाले निर्बल पशुओं की हत्या करने वाला पुरुष क्या कुत्ते के समान ही नहीं है? तिनके की नोंक चुभाने से मनुष्य दुःख का अनुभव करता है तो तीखे शस्त्रों से मूक प्राणियों का शरीर चलनी बनाने से उन्हें कितनी वेदना होती होगी? अतएव जो नरक की भीषण ज्वालाओं में पड़ने से बचना चाहते हैं उन्हें हिंसा से बचना चाहिए और अपने सुख दुःख की कसौटी पर ही दूसरे जीवों के सुख-दुःख की परख करना चाहिए। जो दूसरे को सुख पहुँचाता है उसे सुख प्राप्त होता है और दूसरों को दुख देने वाले को दुःख भोगना पड़ता है। यह सिद्धान्त अटल और अचल है।

पूर्वोक्त सब प्रकार की हिंसा का त्याग करना अहिंसा है। यह अहिंसा उत्कृष्ट मंगल रूप है। अहिंसा से संसार में दीर्घ आयु, सुन्दर शरीर, निरोगता प्रतिष्ठा, विपुल ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति होती है और परम्परा से मुक्ति-लाभ होता है। अतएव अहिंसा सभी जीवों के लिए माता के समान हितकारिणी है, पाप-निवारिणी है, संसार-सागर से तारिणी है, सर्वसंताप-हारिणी है। जगत् में अहिंसा ही स्थायी शान्ति स्थापित कर सकती है। अहिंसा ही जीवन को शान्ति प्रदान कर सकती है। अहिंसा के बिना संसार श्मशान के तुल्य भयानक है। अहिंसा के बिना जीवन घोर अभिशाप है। अहिंसा दोनों लोकों में एक मात्र अवलम्बन है। हिंसा विनाश है, विनाश का मार्ग है, विनाश का आह्वान है। अहिंसा अमृत है, अमृत का अक्षय कोष है, अमृत का आह्वान है। सुख और शान्ति केवल अहिंसा पर ही अवलंबित हैं।

धर्म का द्वितीय रूप यहां संयम बतलाया गया है। संयम का अर्थ है-इन्द्रियों और मन का दमन करना तथा प्राणी की हिंसा-जनक प्रवृत्ति से बचना। संयम अहिंसा रूपी वृक्ष की ही एक शाखा है। कहा भी है—

अहिंसा निउणा दिट्ठा सव्वभूएसु संजमो।

अर्थात् समस्त प्राणियों पर संयम रखना यही अहिंसा है। इस प्रकार संयम और अहिंसा एक रूप होने पर भी यहां संयम को पृथक कहने का प्रयोजन इतना ही है कि अहिंसा की आराधना के लिए संयम की मुख्य अपेक्षा है। संयम का आचरण करने से अहिंसा का ठीक-ठीक आचरण हो सकता है। असंयमी पुरुष अहिंसा का आचरण नहीं कर सकता। संयम संक्षेप से दो प्रकार का है। (१) इन्द्रिय संयम और (२) प्राणी संयम। पांचों इन्द्रियों को और मन को अपने-अपने विषयों में प्रवृत्ति करने से रोक कर आत्मा की ओर उन्मुख करना इन्द्रिय संयम है। और षट्काय के जीवों की हिंसा का त्याग करना प्राणी संयम है।

तात्पर्य यह है कि मन, वचन और काय के अधीन न होना बल्कि मन, वचन, काय को अपने अधीन बना लेना संयम कहलाता है। विषय-भेद से संयम के सत्तरह भेद होते हैं। वे इस प्रकार हैं:- (१) पृथ्वीकाय संयम (२) अप्काय संयम (३) तेजस्काय संयम (४) वायुकाय संयम (५) वनस्पतिकाय संयम (६) द्वीन्द्रिय संयम (७) त्रीन्द्रिय-संयम (८) चतुरिन्द्रिय संयम (६) पञ्चेन्द्रिय संयम (१०) प्रेक्ष्य संयम (११) उपेक्ष्य संयम (१२) अपहृत्यसंयम (१३) प्रमृज्य संयम (१४) कायसंयम (१५) वाक्संयम (१६) मनःसंयम और (१७) उपकरणसंयम। पृथ्वीकाय की घात का मन से विचार न करना, घात-जनक वचन न बोलना और घात करने वाली शारीरिक चेष्टा न करना अर्थात् पृथ्वीकाय की विराधना से बचना पृथ्वीकाय संयम है। इसी प्रकार आगे भी पंचेंद्रिय संयम पर्यन्त समझना चाहिए। आंखों से दिखाई देने योग्य पदार्थों को देखकर ही रखना उठाना प्रेक्ष्य संयम कहलाता है। गुप्तियों के पालन करने में प्रवृत्त मुनियों द्वारा राग द्वेष का त्याग करना-साम्यभाव होना उपेक्ष्य संयम कहलाता है। निरवद्य आहार ग्रहण करना, निर्दोष स्थान ग्रहण करना आदि बाह्य साधनों का ग्रहण अपहृत्यसंयम कहलाता है। किसी वस्तु को पौंछकर लेना, बिना पौंछे न लेना प्रमृज्य-संयम कहलाता है। मन, वचन और काय को सावद्य प्रवृति से बचाना मनःसंयम, वचनसंयम और कायसंयम है। संयम में सहायक उपकरणों का यतनापूर्वक उपयोग करना उपकरण संयम कहलाता है।

संयम की इस व्याख्या से स्पष्ट हो जाता है कि संयम अहिंसा का ही यतना-चार रूप साधन है। इसीलिए सूत्रकार ने अहिंसा के बाद संयम को स्थान दिया है।

धर्म का तीसरा रूप तप है। संयम के अनन्तर तप का ग्रहण करने से यह सूचित होता है कि तप संयम का प्रधान सहायक है। तप की सहायता से ही संयत पुरुष संयम का आचरण करने में समर्थ होते हैं। तप का विशद विवेचन सूत्रकार स्वयं आगे करेंगे, अतएव यहां उसका विस्तार नहीं किया जाता।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि अहिंसा परम मंगलमय होने से धर्म है और उसका साधन संयम और संयम का साधन तप भी मंगल के हेतु होने के कारण मंगल रूप हैं।

धर्म के फल को कट करते हुए सूत्रकार करते हैं—'जिसका मन सदा धर्म में लगा रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।' यहां अवि (अपि-भी) अव्यय यह सूचित करता है कि धर्मात्मा पुरुष के चरणों में राजा-महाराजा और चक्रवर्त्ती तो प्रणाम करते ही हैं, पर लोक में माननीय और पूजनीय समझे जाने वाले देव भी उसे पूजते हैं-उसे नमस्कार करते हैं।

यहां यह आशंका की जा सकती है कि यदि देवता, इन्द्र और चक्रवर्त्ती धर्मात्मा के चरणों में नमस्कार करते हैं, तो भी इससे धर्मात्मा पुरुष की आत्मा का क्या कल्याण हुआ ? पूजा-प्रतिष्ठा तो इस लोक संबंधी ऐश्वर्य है- सांसारिक लाभ है। धर्म के आचरण से यदि सांसारिक लाभ होता है तो धर्म का आचरण आध्यात्मिक

लाभ के लिए नहीं करना चाहिए। धर्म से यदि आध्यात्मिक लाभ होता है तो सूत्रकार ने उसे क्यों नहीं प्रकट किया ?

इस शंका का समाधान यह है कि सूत्रकार संक्षेप में ही अपने भाव प्रकट करते हैं। उनके शब्द थोड़े होते हैं पर उन शब्दों का भाव बहुत विस्तृत और गहन होता है। यहां पर धर्मात्मा को देवों द्वारा नमस्करणीय कहा गया है। इसका आशय यह हुआ कि धर्मात्मा महापुरुष देवों का भी देव—देवाधिदेव-बन जाता है। देवाधिदेव वही हो सकता है जिसका आध्यात्मिक विकास चरम सीमा पर पहुंच चुका हो। इससे स्पष्ट हो गया कि जिसका मन सदा धर्म में ही संलग्न रहता है उसे न केवल जगत् नमस्कार करता है वरन् वह मुक्ति भी प्राप्त करता है और मुक्ति ही आत्मा के लिए परम कल्याण रूप है।

'जस्स धम्मे सया मणो' यहां सया (सदा) शब्द भी विशेष अभिप्राय का सूचक है। 'सदा' शब्द से यह अर्थ प्रतीत होता है कि धर्म जीवन के प्रतिक्षण में आराधना के योग्य है। धर्मस्थानक में ही धर्मानुकूल वृत्ति रखने वाले और धर्मस्थानक से बाहर निकल कर, अन्य सांसारिक कार्यों में धर्म की सर्वथा उपेक्षा करने वाले पुरुष धर्म का यथावत् आचरण नहीं करते। जिसका अन्तःकरण धर्म में डूब जाता है उसका प्रत्येक जीवन-व्यवहार धर्म से समन्वित ही होता है। धर्मस्थान और मकान या दुकान में उसका व्यवहार परस्पर विरोधी नहीं होना चाहिए। धर्मात्मा पुरुष आजीविका उपार्जन करता है फिर भी धर्म से निरपेक्ष होकर नहीं। वह उठता है, बैठता है, वार्त्तालाप करता है, पर इन सब क्रियाओं में धर्म की अवहेलना नहीं करता। तात्पर्य यह है कि सच्चे धर्मात्मा का प्रत्येक व्यवहार, अपनी पद-मर्यादा के अनुसार धर्ममय ही होता है। जिसके व्यवहार में धर्म की अवहेलना होती है वह सच्चा धर्मात्मा नहीं है। यही आशय व्यक्त करने के लिए सूत्रकार ने 'सया' शब्द का प्रयोग किया है। अतएव धर्म के आचरण द्वारा जो आत्मिक विकास या आत्मकल्याण चाहते हैं उन्हें अपने प्रत्येक व्यवहार में, प्रतिक्षण, धर्म को सन्मुख रखना चाहिए। ऐसा करने से ही धर्म की सच्ची आराधना होती है।

'मणो' पद भी यहां एक विशिष्ट आशय को सूचित करता है। शरीर के द्वारा की जाने वाली वंदना-नमस्कार या अन्य कोई भी क्रिया तभी धर्म रूप हो सकती है जब मन उसके साथ होता है। जिस द्र०. क्रिया के साथ मन का संबंध नहीं होता अर्थात् विना मन के लोक-दिखावे के लिए जो शारीरिक क्रिया की जाती है वह निष्फल है। अतएव धर्म की आराधना करने वाले पुरुषों का यह परम कर्त्तव्य है कि उनकी समस्त धार्मिक क्रियाएं हृदयस्पर्शी हों—मात्र शरीर-स्पर्शी न हों, इस बात का ध्यान रक्खें। मन की क्रिया ही मुख्य रूप से बंध और मोक्ष का कारण होती है। 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। अतएव मन को धर्माचरण के अनुकूल बनाना ही मुख्य रूप से धर्म की साधना है। इस अभिप्राय को प्रकट करने के लिए सूत्रकार ने 'मणो' पद का प्रयोग किया है।

**मूलः—मूलाउ खंधप्पभवो दुमस्स, खंधाउ पच्छा समुविंति साहा ।
साहप्पसाहा विरुहंति पत्ता,तओ से पुप्फं च फलं रसो य ॥६॥**

छायाः— मूलात् स्कन्धप्रभवो द्रुमस्य, स्कन्धात् पश्चात् समुपयान्ति शाखाः ।
शाखाप्रशाखाभ्यो विरोहन्ति पत्राणि, ततस्तस्य पुष्पं च फलं रसश्च ॥ ६ ॥

शब्दार्थः—वृक्ष के मूल से स्कन्ध अर्थात् तना उत्पन्न होता है, तदनन्तर स्कंध से शाखाएं उत्पन्न होती हैं । शाखाओं और प्रशाखाओं से पत्ते उत्पन्न होते हैं । फिर उस वृक्ष में फूल लगते हैं, फल लगते हैं और फलों में रस उत्पन्न होता है ।

भाष्यः—आगे कहे जाने दार्ष्टान्तिक को सुगमता से समझने के लिए यहां पहले दृष्टान्त का प्रयोग किया गया है । तात्पर्य यह है कि जैसे मूल के विना स्कन्ध, स्कन्ध के विना शाखाएं, शाखाओं के विना प्रशाखाएं (पतली डालियां—टहनियां), शाखा-प्रशाखाओं के विना पत्ते, पत्तों के विना पुष्प, पुष्पों के विना फल और फलों के विना रस नहीं उत्पन्न होता अर्थात् यह सब क्रम से ही उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार आगे कहे जाने वाले विनय रूपी मूल के विना हृदय में धर्म का उदय नहीं होता ।

गाथा का अर्थ स्पष्ट है अतएव विशेष विवरण की आवश्यकता नहीं है ।

**मूलः—एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मुक्खो ।
जेण कित्तिं सुअं सिग्घं, नीसेसं चाभिगच्छइ ॥७॥**

छायाः—एवं धर्मस्य विनयो मूलं, परमस्तस्य मोक्षः ।
येन कीर्ति श्रुतं शीघ्रं, निश्शेषं चाभिगच्छति ॥ ७ ॥

शब्दार्थः—इसी प्रकार धर्म का मूल विनय है और धर्म का अन्तिम रस मोक्ष है । विनय से कीर्त्ति, तथा सम्पूर्ण श्रुत को शीघ्र प्राप्त कर लेता है ।

भाष्यः—जैसे वृक्ष के मूल से स्कन्ध आदि क्रम से उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार विनय से श्रुत आदि की प्राप्ति होती है । वृक्ष का अस्तित्व जैसे मूल पर अवलम्बित है उसी प्रकार धर्म विनय पर अवलम्बित है । विना मूल के वृक्ष क्षण भर भी नहीं टिक सकता । इसी प्रकार विना विनय के धर्म क्षण भर नहीं टिक सकता । अतएव धर्म को यहां विनय-मूलक कहा गया है । वृक्ष के मूल से स्कन्ध, शाखा आदि क्रम पूर्वक अन्त में रस का उदय होना बतलाया गया है । उसी प्रकार विनय से श्रुत आदि की प्राप्ति होते होते क्रमशः मोक्ष रूपी परम-चरम-रस-मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

विनय का जैनागम में बहुत विस्तृत अर्थ प्रतिपादन किया गया है । विनय का अर्थ सिर्फ नम्रता ही नहीं है, किन्तु सम्पूर्ण आचार-विचार का विनय में समावेश होता है । 'संजोगा विप्पमुक्कस्स अणगारस्स भिक्खुणो, विणयं पाउकरिस्सामि आणुपुव्विं सुणेह मे ।' यहां साधु के आचार को विनय शब्द से ही निरूपण किया है । नम्रता के अर्थ में भी विनय शब्द का प्रयोग किया गया है, क्योंकि नम्रता प्रद-

र्शित करना भी आचार का ही एक अंग है। अतएव दोनों अर्थों में अन्तर नहीं है, यह सहज ही समझा जा सकता है। ज्ञाताधर्मकथा में कहा है—

'विणयमूले धम्मे पएणत्ते, से विय विणये दुविहे पएणत्ते, तंजहा- आगार- विणए य अणगारविणए य। तत्थ णं जे से आगारविणए से णं पंच अणुव्वयाइं, सत्त सिक्खा- वयाइं, एक्कारस उवासगपडिमाओ। तत्थ णं जे से अणगारविणए से णं पंच मह- वयाइं ......। दुविहेणं विणयमूलेण धम्मेणं अनुपुव्वेणं अट्ठकम्मपगडीओ खवेत्ता लोयग्ग- पयट्ठाणे भवन्ति।'

अर्थात् धर्म विनयमूलक कहा गया है। वह विनय भी दो प्रकार का है—आगारविनय और अनगारविनय। इसमें जो आगारविनय है सो पांच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत और ग्यारह श्रावक की प्रतिमाएं हैं। अनगारविनय में पांच महाव्रत हैं। दो प्रकार के इस विनय-मूलक धर्म से क्रमशः कर्म की आठ प्रकृतियों का क्षय करके (जीव) लोक के अग्रभाग में स्थित हो जाता है।

इस प्रकार श्रीउत्तराध्ययन और नायाधम्मकहा के उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'विनय' में समस्त आचार का अन्तर्भाव हो जाता है। नम्रता और आदर- प्रदर्शन के अर्थ में 'विनय' शब्द व्याख्याप्रज्ञप्ति में प्रयुक्त किया गया है। उसका उल्लेख आगे किया जायगा।

सत्कार-विनय करने योग्य व्यक्ति का आदर करना, सन्मान-यथोचित सेवा करना, कृतिकर्म-वन्दना करने योग्य का वन्दना, अभ्युत्थान-गुरुजन को देखते ही आसन त्याग कर खड़ा हो जाना, अञ्जलिकरण-हाथ जोड़ना, आसनाभिग्रह-आसन देना, आसनानुप्रदान गुरुजन के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर आसन ले जाना, गौरव- योग्य व्यक्ति के सामने जाना, बैठे हुए की सेवा करना, उनके गमन करने पर पीछे-पीछे चलना, इत्यादि विनय के रूप हैं।

विनय के सात भेद हैं:—(१) ज्ञानविनय (२) दर्शनविनय (३) चारित्रविनय (४) मनविनय (५) वचनविनय (६) कायविनय और (७) लोकोपचारविनय।

ज्ञान के पांच भेद हैं अतएव विषयभेद से ज्ञानविनय भी पांच प्रकार का है। मतिज्ञान की आराधना करना और औत्पत्तिकी आदि बुद्धियों के धनी पुरुषों के प्रति विनम्रता का भाव रखना मतिज्ञानविनय है। इसी प्रकार श्रुतज्ञान और श्रुतज्ञानी के प्रति, अवधिज्ञान और अवधिज्ञानी के प्रति, मनःपर्याय ज्ञान और मनःपर्याय ज्ञानी के प्रति, तथा केवलज्ञान और केवलज्ञानी के प्रति बहुमान का भाव अन्तःकरण में होना क्रमशः श्रुतज्ञानविनय आदि समझना चाहिए।

दर्शन विनय दो प्रकार है—(१) शुश्रूषा विनय और (२) अनाशातना विनय। शुद्ध सम्यग्दृष्टि के आने पर सत्कार, सन्मान, कृतिकर्म आदि पूर्वोक्त प्रकार से उसकी यथोचित सेवा-भक्ति करना शुश्रूषाविनय है। अनाशातनाविनय के पैंतालीस भेद हैं। वे इस प्रकार हैं:—

(१) अमुक अरिहन्त के नाम-स्मरण से उपद्रव होता है, दुर्भिक्ष होता है, या शत्रु का नाश होता है, इस प्रकार कहना अरिहंत की आशातना है।

(२) जैन धर्म में स्नान आदि शौच का विधान नहीं है, अतएव यह धर्म मलीन है, इस प्रकार कहना अर्हन्त भगवान् द्वारा प्ररूपित धर्म की आशातना है।

(३) पांच आचार के पालक आचार्य की आशातन करना। जैसे-यह आचार्य तो बच्चे हैं–थोड़ी उम्र के हैं शास्त्रज्ञ भी नहीं है।

(४) द्वादशांग के ज्ञाता, स्व-पर सिद्धान्त के पारगामी उपाध्याय का अवर्णवाद बोलना उपाध्याय की आशातना है। जैसे—इन उपाध्याय को क्या आता है? इन से ज्यादा ज्ञानी तो मैं हूं? इत्यादि कहना।

(५) साठ वर्ष की उम्र वाले वयःस्थविर, बीस वर्ष की दीक्षा वाले दीक्षास्थविर और स्थानांगसूत्र तथा समवायांग सूत्र के गुह्य अर्थ के ज्ञाता श्रुतस्थविर की निन्दा करना स्थविर-आशातना है।

(६) एक गुरु के समीप अध्ययन करने वाले शिष्य-समूह को कुल कहते हैं। उस कुल की निन्दा करना कुल की आशातना है।

(७) साधुओं का समुदाय गण कहलाता है। उस गण की बुराई करना गण की आशातना है।

(८) साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप संघ की आशातना करना संघ की आशातना करना कहलाता है।

(९) शास्त्रोक्त शुद्ध क्रिया की अवहेलना करना क्रिया की आशातना है।

(१०) एक साथ आहार आदि करने वाले सांभोगिक मुनि की निन्दा आदि करना सांभोगिक की आशातना है।

(११-१५) मतिज्ञान आदि पांचों ज्ञानों की बुराई करना ज्ञान की पांच आशा-तनाएं हैं।

इन पन्द्रह की आशातना का त्याग करना, इन्हीं की भक्ति और बहु-मान करना तथा इन्हीं के गुणों का कीर्त्तन करना १५ × ३ = ४५ भेद अनाशातना विनय के समझने चाहिए।

सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात, इस पांच प्रकार के चारित्र का विनय करना और इनका आचरण करने वालों के प्रति आदरभाव होना पांच प्रकार का चारित्रविनय है।

मन, वचन और काय का व्यापार क्रमशः मनविनय, वचनविनय और काय-विनय कहलाता है। मनविनय के दो मूल भेद हैं—प्रशस्त मनविनय और अप्रशस्त मनविनय। प्रशस्त मनविनय सात प्रकार का है–(१) पाप रहित (२) क्रोध आदि रहित (३) क्रिया में आसक्ति रहित (४) शोक आदि उपक्लेशों आदि से रहित (५)

आस्रव रहित (६) स्व-पर के आयास से रहित (७) और जीवों को भय उत्पन्न न हो, इस प्रकार मन की प्रवृत्ति करना प्रशस्त मनविनय है। इससे विपरीत पापयुक्त विचार करना, क्रोध आदि रूप मन को प्रवृत्त करना, आदि सात प्रकार का अप्रशस्त मनविनय है।

वचन-योग की शुभ और अशुभ की प्रवृति के कारण वचन-विनय भी प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार का है। मनविनय में कहे हुए सात दोषों से युक्त वचन की प्रवृत्ति करना सात प्रकार का अप्रशस्त वचन विनय है और इन दोषों से रहित वचन बोलना सात प्रकार का प्रशस्त वचनविनय है।

कायविनय के भी प्रशस्त-अप्रशस्त के भेद से दो भेद होते हैं। यतनापूर्वक गमन करना, यतनापूर्वक स्थित होना, यतनापूर्वक बैठना, यतना के साथ बिस्तर पर लेटना, सावधानी से उल्लंघन करना, सावधान होकर विशेष उल्लंघन करना, सावधान होकर सब इन्द्रियों की प्रवृति करना, यह सात प्रकार का प्रशस्त कायविनय है। इससे विपरीत प्रवृत्ति करना सात प्रकार का अप्रशस्त कायविनय है।

सातवें लोकोपचार विनय के भी सात प्रकार हैं—१) गुरु आदि बड़ों के पास जाना (२) उनकी इच्छा के अनुसार प्रवृत्ति करना (३) उनका कार्य सिद्ध करने के लिए सुविधा कर देना (४) किये हुए उपकार का बदला चुकाना (५) रोगी की सार संभाल करना (६) देश-काल के अनुसार व्यवहार करना (७) सब कार्यों में अनुकूल रूप से वर्त्ताव करना अर्थात् ऐसे कार्य करे जिससे किसी को बुरा न लगे।

भगवती सूत्र में उल्लिखित इन भेद-प्रभेदों से यह स्पष्ट हो जाता है कि विनय में नम्रता के अतिरिक्त समस्त प्रवृत्तियां-सम्पूर्ण आचार विचार-अन्तर्गत है।

इस प्रकार की विनय से युक्त पुरुष विनीत कहलाता है। विनीत के पन्द्रह लक्षण बताये गये हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) निरर्थक न भटकना (२) स्थिर आसन से बैठना (३) निरर्थक भाषण न करना (४) स्वभाव में स्थिरता होना (५) चिरकाल तक क्रोध न रखना (६) अपने साथियों से मिल-जुल कर रहना (७) विद्वान् होने पर भी अभिमान न करना (८) स्वयंकृत अपराध स्वीकार कर लेना-दूसरों पर दोष न डालना (९) साधर्मी पर कुपित न होना (१०) शत्रु के भी गुणों की प्रशंसा करना (११) किसी की गुह्य बात प्रकट न करना (१२) मिथ्या आडम्बर न करना (१३) तत्त्वज्ञानी बनना (१४) श्रेष्ठ बनना (१५) लज्जाशील तथा जितेन्द्रय होना।

जो पुरुष इन विनीत के लक्षणों को धारण नहीं करता, प्रत्युत इनसे विपरीत आचरण करता है वह अविनीत होता है।

विनीत पुरुष को क्या फल प्राप्त होता है, यह बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं कि विनय से इस लोक में कीर्ति प्राप्त होती है और श्रुत की प्राप्ति होती है। अर्थात् विनीत शिष्य शीघ्र ही शास्त्रों का मर्मज्ञ बन जाता है और क्रम से मुक्ति प्राप्त करता है।

'निस्सेयसं' पद के स्थान पर 'निस्सेसं' पाठ भी कहीं-कहीं दृष्टिगोचर

होता है। 'निस्सेसं' अर्थात् सम्पूर्ण। यह श्रुत का विशेषण है अतः उससे यह आशय निकलता है कि विनय से सम्पूर्ण श्रुत की प्राप्ति होती है। सम्पूर्ण श्रुत की प्राप्ति होने से पुरुष श्रुतकेवली पद प्राप्त करता है और श्रुत के द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञाता बन जाता है।

मूलः—अणुसिट्ठं पि बहुविहं,मिच्छदिट्ठिया जे नरा अबुद्धिया।
बद्धनिकाइयकम्मा, सुणंति धम्मं न परं करेंति ॥८॥

छायाः—अनुशिष्टमपि बहुविधं, मिथ्यादृष्टयो ये नरा अबुद्धयः।
बद्धनिकाचितकर्माणः शृण्वन्ति धर्मं न परं कुर्वन्ति ॥ ८ ॥

शब्दार्थः—जो मनुष्य मिथ्यादृष्टि, और बुद्धिहीन होते हैं, और जिन्होंने प्रगाढ़ कर्म बांधे हैं, वे गुरु के द्वारा नाना प्रकार से प्रतिपादित धर्म को सुन तो लेते हैं पर उसका आचरण नहीं करते।

भाष्यः—धर्म का स्वरूप और धर्म का मूल प्रतिपादन करने के पश्चात् यहां यह बताया गया है कि धर्म का आचरण करने का पात्र कौन होता है और कौन नहीं होता ?

जिनकी दृष्टि मिथ्या है अर्थात् दर्शनमोहनीय कर्म के प्रबल उदय से जिन्हें जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों पर श्रद्धा नहीं है और सम्यग्दृष्टि न होने के कारण जो अज्ञानी हैं—जिन्हें सत्-असत् का विवेक नहीं है और जिन्होंने तीव्र संक्लेश परिणामों के कारण गाढ़े और चिकने कर्म बांधे हैं वे सद्गुरु द्वारा भांति-भांति से उपदिष्ट धर्म के स्वरूप को सुनकर भी उसका आचरण नहीं करते हैं। तात्पर्य यह है कि मिथ्यादृष्टि और मिथ्याज्ञानी होने के कारण वे सम्यक् चारित्र रूप धर्म को अंगीकार करने में समर्थ नहीं होते हैं।

प्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षय या उपशम से सर्वविरति रूप चारित्र होता है और अप्रत्याख्यानावरण के क्षय या उपशम से देशविरति चारित्र की प्राप्ति होती है। जो मिथ्यादृष्टि है उसके अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय होता है और अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व और चारित्र दोनों का घात करती है। अतएव मिथ्यादृष्टि जीव धर्म का आचरण नहीं कर पाते। सूत्रकार ने इस कथन से यह भी सूचित किया है कि अतिशय पुण्योदय से जिन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति हो गई है और जो हिताहित का विचार करने में समर्थ हैं और जिनके कर्म निकाचित नहीं हैं, उन्हें धर्म का श्रवण करके यथाशक्ति अवश्य पालन करना चाहिए।

मूलः—जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढई।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥ ९ ॥

छाया:—जरा यावन्न पीड़यति, व्याधिर्यावन्न वर्द्धते ।
यावदिन्द्रियाणि न हीयन्ते, तावद्धर्मं समाचरेत् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ:—जब तक वृद्धावस्था नहीं सताती, जब तक व्याधि नहीं बढ़ती और जब तक इन्द्रियां शिथिल नहीं होतीं, तब तक धर्म का आचरण कर ले ।

भाष्य—पहले यह बताया गया था मिथ्यादृष्टि धर्म का आचरण नहीं करते । किन्तु जो सम्यग्दृष्टि हैं और जो धर्म का आचरण करने में समर्थ हैं, वे भी प्रमाद में ऐसे तन्मय रहते हैं कि धर्माचरण की ओर उनका ध्यान नहीं जाता। वे सोचते हैं कि अभी जीवन बहुत लम्बा है। कुछ दिनों बाद ही धर्म का आचरण कर लेंगे। उन्हें बोध देने के लिए सूत्रकार ने कहा है कि वृद्धावस्था-जन्य पीड़ा उत्पन्न होने से पहले ही धर्म का आचरण कर लो। वृद्धावस्था आने पर अपने शरीर को सम्भालना ही कठिन हो जाता है। उस अवस्था में सम्यक् रूप से धर्म का आचरण होना कठिन है। इसके अतिरिक्त कौन कह सकता है कि वृद्धावस्था जीवन में आवेगी ही? क्योंकि संसार में बहुत से बालक, युवा और प्रौढ़ व्यक्ति भी यमराज के अतिथि बन जाते हैं। जब वृद्धावस्था का आना निश्चित नहीं है तब उसके भरोसे बैठे रहना बुद्धिमत्ता नहीं है।

कभी-कभी वृद्धावस्था आने से पूर्व ही व्याधि इतनी अधिक बढ़ जाती है कि जीवन भारभूत हो जाता है और इन्द्रियां भी किसी भी समय धोखा दे सकती हैं। इस प्रकार जीवन को वृथा बनाने वाले बहुसंख्यक विघ्नों की विद्यमानता में कौन विवेकी व्यक्ति वृद्धावस्था के विश्वास पर बैठा रह सकता है? अतएव भविष्य की अपेक्षा न रख कर शीघ्र ही धर्म का आचरण करना चाहिए।

सूत्रकार ने यहां व्याधि के लिए बढ़ जाना कहा है, उत्पन्न होना नहीं कहा। इसका आशय यह है कि व्याधि—शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की सदा विद्यमान रहती है। वह नवीन उत्पन्न नहीं होती। जब वह अतिशय मंद रूप में रहती है तब यह समझा जाता है कि व्याधि है ही नहीं, और जब बढ़ जाती है तब उसका उत्पन्न होना कहा जाता है। परन्तु वास्तव में व्याधि सदा विद्यमान रहती है।

अथवा जरा शारीरिक वेदना रूप है और व्याधि शब्द यहां मानसिक वेदना के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। कहा भी है—

'जे णं जीवा सारीरं वेयणं वेदेंति, तेसि णं जीवाणं जरा, जे णं जीवा माणसं वेयणं वेदेंति तेसि णं जीवाणं सोगे।'

—भगवती सूत्र, श० १६, उ० २

अर्थात् जो जीव शारीरिक वेदना वेदते हैं उन जीवों को जरा होती है और जो जीव मानसिक वेदना वेदते हैं उन जीवों को शोक होता है।

इस प्रकार व्याधि शब्द को मानसिक वेदना (शोक) के अर्थ में लिया जाय तो गाथा का अर्थ यह होता है कि जब तक शारीरिक और मानसिक वेदना नहीं बढ़ जाती और इन्द्रियां शिथिल नहीं पड़ती तब तक धर्म का आचरण कर लेना चाहिए।

मूलः—जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनिअत्तइ ।
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जंति राइओ ॥१०॥

छाया—या या व्रजति रजनी, न सा प्रतिनिवर्त्तते ।
अधर्मं कुर्वाणस्य, अफला यान्ति रात्रयः ॥ १० ॥

शब्दार्थः—जो-जो रात्रि चली जाती है वह लौटकर नहीं आती । अधर्म करने वाले की रात्रियां निष्फल जाती हैं ।

भाष्यः—सम्यग्दृष्टि जीवों को धर्म में उन्मुख करने की विशेष प्रेरणा करने के लिए काल का मूल्य यहां बताया गया है । सूत्रकार का आशय यह है कि परिमित समय तक रहने वाले जीवन का एक-एक दिन और रात्रि भी अमूल्य है, क्योंकि संसार का उत्तम से उत्तम पदार्थ मूल्य देकर खरीदा जा सकता है । गया हुआ जवाहरात रुपयों से फिर प्राप्त किया जा सकता है, गया हुआ राज्य भी मिल सकता है, नष्ट हुआ धन पुनः उपार्जन किया जा सकता है । अतएव यह सब पदार्थ बहु-मूल्य भले ही हों पर अमूल्य नहीं हैं । मगर जीवन का एक एक दिन और एक-एक घंटा, घड़ी, मिनिट, क्षण और समय-जो बीत जाता है सो फिर किसी भी भाव नहीं खरीदा जा सकता । समस्त पृथ्वी बदले में देकर भी कोई अपने जीवन के बीते हुए क्षण वापिस नहीं पा सकता । अत जीवन के क्षण अमूल्य हैं । इन क्षणों को सफल बनाने का एक मात्र उपाय धर्म का सेवन करना ही है । धर्म-सेवन के अतिरिक्त जीवन की और कोई सार्थकता या सफलता नहीं है ।

जो लोग अधर्म का सेवन करते हैं अर्थात् हिंसा आदि पापमय व्यापारों में संलग्न रहते हैं, विषय-कषाय का पोषण करने में लगे रहते हैं और धर्म का आचरण नहीं करते, उनके जीवन की रात्रियां निष्फल जाती हैं । उनका जीवन निरर्थक हो जाता है । असीम पुण्योदय से प्राप्त जीवन को अधर्म के सेवन में व्यतीत कर देना कितना बड़ा प्रमाद है ? इसलिए हे भव्य जीव ! तुझे अनुपम अवसर मिला है । चेत, शीघ्र सावधान हो । जीवन को सफल बनाने के लिए धर्म-सेवन कर ।

यहां और अगली गाथा में अधर्म करने वाले की रात्रि निष्फल और धर्म करने वाले की रात्रि सफल बताई है, सो 'रात्रि' शब्द उपलक्षण है । उससे वर्ष, मास, पक्ष, सप्ताह, दिन मुहूर्त्त, घंटा, मिनिट आदि अन्य काल-विभागों का भी ग्रहण कर लेना चाहिए ।

मूलः—जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनिअत्तइ ।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जंति राइओ ॥११॥

छाया—या या व्रजति रजनी, न सा प्रतिनिवर्तते ।
धर्मं च कुर्वाणस्य, सफला यान्ति रात्रयः ॥ ११ ॥

शब्दार्थः—जो-जो रात्रि व्यतीत हो जाती है वह फिर नहीं लौटती। धर्म करने वाले की रात्रियां सफल हो जाती हैं।

भाष्य—जीवन का समय निरर्थक किस प्रकार व्यतीत होता है, यह बताने के पश्चात् उसकी सफलता कैसे होती है, सो यहां बताया गया है। जीवन की सार्थकता धर्म का सेवन करने में है। सांसारिक ऐश्वर्य और भोग-विलास की सामग्री का संचय करने में जीवन को कृतार्थ–सफल समझने वाले जीवों के नेत्र खोलने के लिए सूत्रकार कहते हैं—उसी का जीवन सफल होता है जो धर्म का आचरण करता है। अपरिमित पुण्य की पूंजी लगाकर खरीदा हुआ जीवन पाप के उपार्जन में लगा देना और उससे नाना दुःखों को आमंत्रण देना विवेकशीलता नहीं है। भाव सुगम है अतएव उसके विशेष व्याख्यान की आवश्यकता नहीं है।

मूलः—सोही उज्जुभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ।
णिव्वाणं परमं जाइ, घयसित्तिव्व पावए ॥१२॥

छायाः—शुद्धिः ऋजुभूतस्य, धर्मः शुद्धस्य तिष्ठति।
निर्वाणं परमं याति, घृतसिक्त इव पावकः ॥ १२ ॥

शब्दार्थः—सरलस्वभाव वाले को ही शुद्धता प्राप्त होती है और शुद्ध पुरुष के हृदय में ही धर्म ठहरता है और वह उत्कृष्ट निर्वाण प्राप्त करता है, जैसे घी का सिंचन करने से अग्नि प्रदीप्त हो जाती है।

भाष्यः—धर्माचरण की प्रेरणा करने के पश्चात् सूत्रकार यह बतलाते हैं कि धर्म कहां स्थिर रह सकता है? इसी प्रश्न का समाधान करने के लिए कहा गया है कि ऋजुता से युक्त पुरुष ही शुद्धि प्राप्त करता है। योग की अवक्रता को ऋजुता या आर्जव या सरलता कहते हैं। तात्पर्य यह है कि मन वचन और काय की प्रवृत्ति में एक रूपता होना ऋजुता है। जो पुरुष अपने मन में जैसा विचार करता है, वैसा ही वचन कथन करना चाहिए और उसी के अनुसार शारीरिक चेष्टा होना चाहिए। यही निष्कपट व्यवहार है। इसके विरुद्ध जो कपटाचारी होता है जिसके मन में कुछ, वचन में कुछ और शरीर से और ही कुछ प्रवृत्ति होती है उसे मायाचारी कहते हैं। निष्कपट हृदय वाला पुरुष ही शुद्धता प्राप्त करता है क्योंकि उसके परिणामों में संक्लेश नहीं होता। मायावी का अन्तःकरण सदैव संक्लिष्ट रहता है। उसके योगों में एकरूपता न होने से उसे सदा अपना कपट प्रकट होने का भय बना रहता है। ऐसी अवस्था में उसे सदैव नाना प्रकार की मिथ्या कल्पनाएं करनी पड़ती हैं। उसका चित्त सदा उधेड़बुन में फंसा रहता है। इस कारण उसके परिणामों में निरन्तर मलिनता छाई रहती है और जहां परिणामों में मलिनता होती है वहां शुद्धि को अवकाश नहीं मिलता। इसीलिए माया को तीन शल्यों में परिगणित किया गया है और उसका त्याग होने पर ही व्रतों की स्थिति बताई गई है। इसी अभिप्राय से सूत्रकार ने यहां ऋजु अर्थात् अमायी जीव की ही शुद्धि का प्रतिपादन किया है।

धम्मो मंगलमउलं, ओसहमउलं च सव्वदुक्खाणं ।
धम्मो बलमवि विउलं, धम्मो ताणं च सरणं च ॥

अर्थात्—धर्म ही उत्कृष्ट मंगल है, धर्म ही समस्त दुःखों की सर्वश्रेष्ठ औषध है, धर्म ही विपुल बल है धर्म ही त्राण है, धर्म ही शरण है।

जो लोग धर्म के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ हैं वे धर्म को पारस्परिक वैमनस्य का हेतु कह कर उसकी अवहेलना करते हैं। पर धर्म में प्राणी मात्र पर मैत्रीभाव रखने का आदेश दिया जाता है, वैमनस्य का नहीं। किसी धर्म का कोई अनुयायी यदि अन्यायी है तो उस अन्याय को धर्म का दोष नहीं समझना चाहिए। जो लोग किसी अनुयायी के व्यवहार को धर्म की कसौटी बनाते हैं, उनकी कसौटी ही खोटी है। धर्म अपनी कल्याण-कारिता की कसौटी पर कसा जा सकता है। शास्त्र-प्रतिपादित धर्म के स्वरूप का निरीक्षण करने से धर्म एकान्त सत्य वस्तु स्वरूप का दर्शक, एकान्त कल्याणकारी और जगत् को शरणभूत प्रतीत होगा।

मूलः—एस धम्मे धुवे णिच्चे, सासए जिणदेसिए।
सिद्धा सिज्झंति चाणेणं, सिज्झिस्संति तहावरे ॥१४॥

छायाः—एषो धर्मो ध्रुवो नित्यः, शाश्वतो जिनदेशितः।
सिद्धाः सिध्यन्ति चानेन, सेत्स्यन्ति तथाऽपरे ॥ १४ ॥

शब्दार्थः—जिन भगवान् द्वारा उपदिष्ट यह धर्म ध्रुव है, नित्य है, और शाश्वत है। इस धर्म के निमित्त से अनन्त जीव सिद्ध हुए हैं, वर्तमान में सिद्ध हो रहे हैं तथा भविष्य में सिद्ध होंगे।

भाष्य—यहां पर सूत्रकार ने धर्म का माहात्म्य बतलाते हुए उसकी नित्यता का प्रतिपादन किया है।

राग द्वेष आदि आन्तरिक शत्रुओं को जीतने वाला महापुरुष जिन कहलाता है। 'जिन' भगवान् के द्वारा जिस धर्म का निरूपण किया जाता है वह 'जिनदेशित' धर्म कहलाता है। इस अध्याय में जिस धर्म का निरूपण किया गया है वह धर्म जिनेन्द्र भगवान् द्वारा उपदिष्ट है और ध्रुव, नित्य तथा शाश्वत है। इसी धर्म का आश्रय लेकर अनादिकाल से अब तक अनन्त जीव सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त कर चुके हैं, वर्त्तमान में भी इस धर्म के अनुष्ठान से जीव सिद्धि प्राप्त कर रहे हैं और भविष्य में भी इसी धर्म के आचरण से जीवों को सिद्धि प्राप्त होगी।

यहां यह जिज्ञासा हो सकती है कि यदि धर्म जिन भगवान द्वारा प्ररूपित हुआ है तो वह नित्य अर्थात् अनादिकाल से अनन्त काल तक स्थिर रहने वाला किस प्रकार हो सकता है? क्योंकि प्रत्येक जिन सादि हैं और उनकी प्ररूपणा भी सादि ही होती है। इसका समाधान यह है कि यद्यपि प्रत्येक जिन सादि है—अनादिकालीन 'जिन' का होना असंभव है, तथापि जिन भगवान् की परम्परा अनादिकालीन है।

और प्रत्येक जिनकी प्ररूपणा एक ही होती है अतएव उनका उपदिष्ट धर्म भी अनादिकालीन है।

इसके अतिरिक्त प्ररूपणा आदि होने पर भी धर्म अनादिकालीन हो सकता है। आकाश के स्वरूप का आज निरूपण करने से जैसे आकाश अधुनातन नहीं हो सकता उसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान द्वारा अमुक काल में धर्म की प्ररूपणा करने के कारण धर्म अमुककालीन नहीं हो सकता। धर्म वस्तु का स्वभाव है। वस्तु का स्वभाव अनादिकालीन ही होता है अतएव धर्म अनादिकालीन है।

धर्म को ध्रुव बतलाकर सूत्रकार ने यह सूचित किया है कि विभिन्न तीर्थंकरों के शासन में, विभिन्न देशों और कालों में धर्म कभी अन्यथा रूप नहीं होता। धर्म तीनों कालों में सदा एक रूप ही रहता है। जैसे अग्नि का स्वभाव भूतकाल में दाह रूप था, वर्त्तमान में दाह रूप है और भविष्य में भी दाह रूप ही रहेगा, उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु का स्वभाव सदा काल एक रूप ही रहता है और वस्तु का स्वभाव ही धर्म कहलाता है अतएव वह कभी अन्यथा रूप नहीं हो सकता।

संसारी जीव की जन्म मरण-जरा आदि व्याधियां त्रिकाल में एक-सी हैं और इन व्याधियों के निदान मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद तथा कषाय भी त्रिकाल में एकसे रहते हैं अतएव इन व्याधियों की औषधि (धर्म) भी सदा एक-सी रहती है। अथवा पांच और पांच संख्याओं का योग दस होता है, यह भूत, वर्त्तमान और भविष्य—तीनों कालों के लिए सत्य है। इसमें समय के भेद से भेद नहीं होता। उसी प्रकार धर्म में भी कालभेद से भेद नहीं होता। यही सूचित करने के लिए उत्तरार्ध में कहा गया है कि इसी धर्म के द्वारा जीव सिद्ध हुए हैं, होते हैं और होंगे।

अवसर्पिणी काल के इस पांचवें आरे में यद्यपि कोई जीव भरतक्षेत्र से मुक्त नहीं होते तथापि विदेहक्षेत्र आदि की अपेक्षा से वर्त्तमान काल का कथन समझना चाहिए। क्योंकि विदेहक्षेत्र में बीस तीर्थंकर विद्यमान रहते हैं और वहां से वर्त्तमान में भी सिद्धि प्राप्त की जा सकती है।

निर्ग्रन्थ-प्रवचन-तृतीय अध्याय

समाप्त

❀ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ❀

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

॥ चतुर्थ अध्याय ॥

आत्म-शुद्धि के उपाय

श्री भगवानुवाच—

**मूल:—जह णरगा गम्मंति, जे णरगा जा य वेयणा णरए।
सारीरमाणसाइं, दुक्खाइं तिरिक्खजोणीए ॥ १ ॥**

छाया:—यथा नरका गच्छन्ति, ये नरका या च वेदना नरके।
शारीरमानसानि, दुःखानि तिर्यक्योनौ ॥ १ ॥

शब्दार्थ:—(श्रमण भगवान् महावीर इन्द्रभूति गौतम से कहते हैं) जैसे नारकी जीव नरक में जाते हैं और वे नरक में वेदना सहन करते हैं। इसी प्रकार तिर्यञ्च योनि में भी जीव शारीरिक और मानसिक वेदनाएं सहते हैं।

भाष्य:—तृतीय अध्याय में धर्म के स्वरूप का वर्णन किया गया है। धर्म के अनुष्ठान के लिए प्रेरणा भी की गई है। धर्म के अनुष्ठान से ही आत्म-शुद्धि होती है। अतएव इस चतुर्थ अध्याय में आत्म-शुद्धि के उपायों का विवेचन किया गया है।

सांसारिक दुःखों का परिज्ञान होने पर ही, उससे बचने के लिए मनुष्य आत्म-शुद्धि के लिए प्रयत्नशील होता है। अतएव सर्वप्रथम दुःखों का दिग्दर्शन यहां कराया गया है। चतुर्गति रूप संसार में सर्वत्र दुःख का सद्भाव है। उसमें से यहां नरक गति और तिर्यञ्च गति के दुःखों का निर्देश किया गया है। संसारी जीव अपने कृत कर्मों के अनुसार नरक में घोर वेदनाएं सहन करते हैं। कदाचित् तिर्यञ्च गति में जाते हैं तो वहां भी अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक कष्ट सहने पड़ते हैं। वध, बन्धन, छेदन, भेदन, भूख, प्यास, भार-वहन आदि की असंख्य वेदनाएं तिर्यञ्च गति में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती हैं। कुछ तिर्यञ्च ऐसे हैं जो शारीरिक वेदनाएं ही सहन करते हैं क्योंकि वे असंज्ञी हैं—विना मनके हैं। संज्ञी जीव शारीरिक वेदनाओं के साथ मानसिक वेदनाएं भी सहते हैं। इस प्रकार यह दोनों गतियां अत्यन्त दुःख रूप हैं। नरक गति का विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा।

**मूल:—माणुस्सं च अणिच्चं, वाहिजरामरणवेयणापउरं।
देवे य देवलोए, देविड्ढिं देवसोक्खाइं ॥ २ ॥**

छाया:—मानुष्यं च नित्यं, व्याधिजरामरणवेदनाप्रचुरम् ।
देवत्व देवलोको देवर्द्धि देवसौख्यानि ॥ २ ॥

शब्दार्थ:—मनुष्य भव अनित्य है और वह व्याधि, जरा, मरण रूपी प्रचुर वेदना से परिपूर्ण है । देवभव में देवपर्याय, देव ऋद्धि और देव-सुख भी अनित्य है ।

भाष्य:—नरक और तिर्यञ्च गति के दुःखों का निर्देश करने के पश्चात् यहां मनुष्यगति और देवगति के दुःखों का निरूपण किया गया है । साधारणतया मनुष्य गति और देवगति सुख रूप समझी जाती है । जीव इन गतियों की कामना करते हैं, इसलिए यह दोनों शुभ गतियां मानी गई हैं, फिर भी वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो यह दोनों गतियां भी सुख रूप नहीं हैं । सर्व प्रथम बात तो यह है कि यह दोनों गतियां अनित्य हैं । किञ्चित् काल के अनन्तर इन भवों का नाश हो जाता है । इसके अतिरिक्त मनुष्य गति नाना प्रकार की व्याधियों से युक्त है । वृद्धावस्था आने पर जब समस्त अंगोपांग अत्यन्त शिथिल हो जाते हैं, अपना शरीर आपसे नहीं संभलता, उठने-बैठने और चलने-फिरने में मनुष्य असमर्थ हो जाता है, तब उसकी दशा अत्यन्त दयनीय हो जाती है । मुख से लार टपकने लगती है, कमर झुकजाती है, सिर हिलने लगता है, और हाथ-पैर काबु में नहीं रहते । इस दुर्दशा का जब कुछ भी प्रतीकार करना संभव नहीं रहता तब मनुष्य अपने आपको एकदम असहाय अनुभव करता है । वह अपने आपको काल के विकराल गाल में प्रवेश करता हुआ समझता है । उस समय उसकी शारीरिक और मानसिक वेदना इतनी अधिक बढ़ जाती है कि उसका शब्दों द्वारा उल्लेख नहीं किया जा सकता । थोड़े दिनों के पश्चात् मृत्यु उसे घेर लेती है । मृत्यु के समय भी मनुष्य अनिर्वचनीय दुःख का अनुभव करता है ।

इसी प्रकार देवगति में देवता संबंधी सुख और ऋद्धि संसार में सब से श्रेष्ठ है, पर वह भी स्थायी नहीं रहती । जब उसका विछोह होने लगता है तो देवता घोर दुःख का अनुभव करता है । तत्पश्चात् तिर्यञ्च आदि गतियों में उसे फिर भटकना पड़ता है । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संसार में कहीं भी सुख नहीं है । संसार में सुख होता तो बड़े-बड़े चक्रवर्त्ती अपना अखण्ड षट्खण्ड साम्राज्य त्याग कर क्यों निर्ग्रन्थ बनते ? अतएव संसार में चारों गतियों की वेदनाओं को भलि भांति विचार कर विवेकी पुरुषों को उनसे मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए ।

मूल:—णरगं तिरिक्खजोणिं, माणुसभावं च देवलोगं च ।
सिद्धे य सिद्धवसहिं, छज्जीवणियं परिकहेइ ॥ ३ ॥

छाया:—नरकं तिर्यग्योनिं, मानुष्यभवं देवलोकञ्च ।
सिद्धश्च सिद्धवसतिं, षट्जीवनिकायं परिकथयति ॥ ३ ॥

शब्दार्थ:—जो जीव पाप कर्म कर तेहैं वे नरक में जाते हैं या तिर्यञ्च योनि प्राप्त

करते हैं। जो पुण्य का उपार्जन करते हैं वे मनुष्य भव को और देवलोक को प्राप्त होते हैं। जो षट्जीव-निकाय की रक्षा करते हैं वे सिद्ध अवस्था पाकर सिद्ध हो जाते हैं। ऐसा सभी तीर्थंकरों का कथन है।

भाष्य: – गाथा का अर्थ सुगम है। तात्पर्य यह है कि जीव अपने परिणामों के द्वारा जैसे कर्मों का बंध करता है उन्हीं के अनुसार उसे शुभ या अशुभ गति प्राप्त होती है। जो महापुरुष पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और वनस्पति काय तथा त्रस (जंगम) जीवों की अहिंसा का पूर्णरूपेण पालन करते हैं वे चारों ही गतियों से अतीत होकर सिद्ध दशा प्राप्त करते हैं। जिस अवस्था में पहुंचने पर आत्मा कृतकृत्य हो जाता है, आत्मा का कुछ भी साध्य नहीं रहता–आत्मा चरम सिद्धि प्राप्त करता है, उस अवस्था को सिद्ध अवस्था कहा जाता है। सब ज्ञानीजनों का यही कथन है।

मूल:–जह जीवा बज्झंति, मुच्चंति जह य परिकिलिस्संति।
जह दुक्खाणं अंतं, करेंति केई अपडिबद्धा॥ ४॥

छाया:—यथा जीवां बध्यन्ते, मुच्यन्ते यथा च परिक्लिश्यन्ते।
यथा दुःखानामन्तं कुर्वन्ति, केऽपि अप्रतिबद्धाः॥ ४॥

शब्दार्थ: – जैसे कोई-कोई जीव कर्म-बन्धन में बंधते हैं उसी प्रकार कोई कोई कर्म-बन्धन से मुक्त भी होते हैं। जैसे कोई जीव क्लेश भोगते हैं उसी प्रकार कोई जीव कर्म-बन्धन से मुक्त होकर समस्त दुःखों का अन्त कर देते हैं।

भाष्य:—समस्त जीव स्वभावतः एक समान गुणों के धारक हैं। प्रत्येक आत्मा अनन्त सुख स्वभाव वाला है और द्रव्य कर्म, भाव कर्म, तथा नोकर्म आदि पर पदार्थों के संयोग से रहित सर्वथा विशुद्ध है। फिर भी संसार में, प्राणी-समूह में जो महान् अन्तर दृष्टि-गोचर होता है अर्थात् कोई ज्ञानी, कोई अज्ञानी, कोई सुखी, कोई दुखी, कोई रोगी, कोई निरोग होता है, उसका कारण बाह्य द्रव्य का संसर्ग है। जिस आत्मा के साथ शुभ कर्म-परमाणुओं का संयोग होता है वह इन्द्रिय और मन के अनुकूल विषयों को पाकर अपने को सुखी मानता है, और जिस आत्मा के साथ अशुभ कार्माण पुद्गलों का संयोग हो रहा है वह प्रतिकूल सामग्री उपलब्ध करके दुःख का वेदन करता है। यदि ऐसा न होता और दुःख तथा बंधन आत्मा का स्वभाव होते तो संसार में जो विसदृशता देखी जाती है वह कदापि न देखी जाती। किन्तु कोई जीव बन्धन में आबद्ध होते हैं और कोई बंधन से मुक्त हो जाते हैं, कोई दुःख भोगते हैं और कोई दुःखों का अन्त कर देते हैं। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि दुःख और बंधन जीव में औपाधिक रूप से विद्यमान हैं, जीव के स्वभाव नहीं हैं।

कर्म ही जीव को नाच नचा रहे हैं। कर्मों के कारण ही जीव नाना रूपों और नाना नामों को धारण करता है। जो अप्रतिबद्ध अर्थात् समस्त कर्मों के बंधन से रहित हो जाते हैं, वे समस्त दुखों से भी रहित हो जाते हैं।

मूलः-अट्टरुद्दट्टियचित्ता, जीवा दुक्खसागरमुवेंति ।
जह वेरग्गमुवगया, कम्मसमुग्गं विहाडेंति ॥ ५ ॥

छाया:- आर्त्तरौद्रार्त्तचित्ताः, जीवा दुःखसागरमुपयान्ति ।
यथा वैराग्यमुपगताः, कर्मसमुद्गं विघाटयन्ति ॥५॥

शब्दार्थ -आर्त्त और रौद्र ध्यान से युक्त चित्त वाले जीव दुःख रूपी समुद्र को प्राप्त होते हैं और विरक्ति को प्राप्त जीव कर्मों के समुदाय को हटा देते हैं।

भाष्य -कर्म बंधन जन्य संसार-वैचित्र्य का निरूपण करके सूत्रकार पुनः उसकी पुष्टि करते हुए कर्मों के विनाश का उपाय सूचित करते हैं।

अनेक जीव दुःखों के असीम सागर में गोते लगा रहे हैं, इसका कारण आर्त्तध्यान और रौद्र ध्यान है। अतएव जो दुःख सागर में गिरने से बचना चाहते हैं उन्हें आर्त्तध्यान और रौद्र ध्यान का त्याग करना चाहिए तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान का अभ्यास करना चाहिए।

इष्ट वस्तु का वियोग होने पर, अनिष्ट वस्तु का संयोग होने पर और शारीरिक वेदना होने पर जो शोक रूप मानसिक चिन्ता होती है उसे आर्त्तध्यान कहते हैं। किसी शुभ क्रिया के उपलक्ष्य में, भविष्य में शुभ फल की आकांक्षा करना अर्थात् स्वर्ग आदि की कामना से प्रेरित होकर धर्म का अनुष्ठान करना निदान कहलाता है। निदान रूप चिन्तन भी आर्त्तध्यान है। हिंसा, असत्य, चौर्य और अब्रह्मचर्य आदि पापमय चिन्तना को रौद्र ध्यान कहते हैं। जिन जीवों के अन्तः करण में यह दोनों अप्रशस्त ध्यान होते हैं वे दुःख के समुद्र में डूबते हैं।

इसके विपरीत जो जीव वैराग्यमय परिणति से विभूषित होते हैं वे कर्म-समूह का ध्वंस कर डालते हैं। तात्पर्य यह है कि जिनका चित्त पदार्थ मात्र के प्रति समान है, जो राग के वश होकर किसी वस्तु के संयोग की चिन्ता नहीं करते, तथा द्वेष के वश होकर किसी पदार्थ के वियोग का विचार नहीं करते— सदा समभाव से शुद्ध सरोवर में रमण करते हैं, वे कर्मों का अन्त करने में समर्थ होते हैं। जिनका चित्त वैराग्य से वासित हो जाता है वे निर्मल दृष्टि प्राप्त कर लेते हैं। संसार के रागी द्वेष जीव जिस दृष्टि से पदार्थों को देखते हैं वह राग और द्वेष से मलिन होती है। उसमें पदार्थ को उसके असली स्वरूप में देखने की योग्यता नहीं होती। हरे रंग का चश्मा जिन नेत्रों के सामने होता है वे नेत्र हरित न होने पर भी प्रत्येक पदार्थ को हरित ही देखते हैं, और लाल रंग वाले चश्मे से आच्छादित नेत्र सब वस्तुओं को लाल ही देखते हैं। जैसे चश्मा दृष्टि की यथार्थता को आच्छादित करके पदार्थ को अन्य ही रूप में दृष्टि के समक्ष प्रस्तुत करता है, उसी प्रकार राग-द्वेष भी दृष्टि में विपर्यास उपस्थित करके पदार्थ को अयथार्थ रूप में प्रस्तुत करते हैं। दोनों वास्तविकता के प्रतिबंधक हैं और अवास्तविकता के जनक हैं। भेद इतना ही है कि चश्मा स्थूल प्रति-

बंधक है और राग द्वेष सूक्ष्म प्रतिबंधक हैं—वे मन को अयथार्थ बना देते हैं।

राग-द्वेष का आवरण जिसके मन पर चढ़ जाता है वह किसी वस्तु को सुखदायी, किसी को दुःखदायी, किसी को भली, किसी को बुरी समझने लगता है। पर वास्तवमें न कोई वस्तु बुरी है, न भली है। यह सब राग द्वेष की क्रीड़ा है। राग-द्वेष का खिलौना बनकर यह जीव किसी वस्तु को प्राप्त करके हर्ष-विभोर हो जाता है और किसी का संयोग पाकर दुःख से व्याकुल बन जाता है। यह हर्ष-विषाद ही कर्म-बंध का जनक है और इसी से दुःखों के सागर में निमग्न होना पड़ता है। जो योगी राग-द्वेष से रहित है, वह प्रत्येक पदार्थ को वीतराग भाव से देखता है। पदार्थ परिणति का द्रष्टा होते हुए भी उसमें राग-द्वेष का अनुभव नहीं करता। वह जानता है कि प्रत्येक पदार्थ अपने संयोगों के अनुसार परिणमन कर रहा है। उसमें राग-द्वेष का सम्बन्ध स्थापित करने से आत्मा की समता भावना मलीन हो जाती है अतएव योगी के लिए न कोई पदार्थ इष्ट होता है, न कोई अनिष्ट ही होता है। इष्ट-अनिष्ट पदार्थ का भेद न होने से संयोग की अवस्था में न हर्ष का अनुभव होता है और न वियोग की अवस्था में विषाद का अनुभव होता है। योगीजन दोनों अवस्थाओं में समान बने रहते हैं। अन्तःकरण में जब इस प्रकार की साम्यभाव रूप परिणति रहती है तब जीव कर्मों के समूह का—जिनका वर्णन द्वितीय अध्ययन में किया जा चुका है—अन्त कर देता है।

मूलः—जह रागेण कडाणं, कम्माणं पावगो फलविवागो।
जह य परिहीणकम्मा, सिद्धा सिद्धालयमुवेंति ॥६॥

छायाः—यथा रागेण कृतानां, कर्मणां पापकः फलविपाकः।
यथा च परिहीणकर्माणः, सिद्धाः सिद्धालयमुपयान्ति ॥६॥

शब्दार्थ—जैसे राग भाव से बांधे हुए कर्मों का फल पाप रूप (दुःख रूप) होता है, वैसे ही कर्मों से सर्वथा रहित सिद्ध भगवान् सिद्धालय को प्राप्त होते हैं।

भाष्यः—जैसे तराजू की डण्डी में अगर ऊंचाई होती है तो निचाई की अवश्य होती है, इसी प्रकार जहां राग होता है वहां द्वेष भी अवश्य होता है। राग के विना द्वेष की स्थिति संभव नहीं है। इसीलिए राग-द्वेष आदि समस्त दोषों को हटा देने वाले महापुरुष को वीतराग कहते हैं। 'वीतराग' कहने से 'वीतद्वेष' का बोध स्वतः हो जाता है। इसी प्रकार यहां गाथा में राग के ग्रहण करने से द्वेष का भी ग्रहण समझना चाहिए। अतएव तात्पर्य यह है कि जो जीव राग और द्वेष के वश होकर अशुभ कर्मों का उपार्जन करता है, उसे पापमय फल की प्राप्ति होती है। कर्मों की अशुभ प्रकृतियां पहले बतलायी जा चुकी हैं। उन प्रकृतियों का परिणाम उस जीव को भोगना पड़ता है।

इससे विपरीत जो राग-द्वेष मय परिणामों का त्याग करके समस्त कर्मों का

पूर्ण रूप से अन्त कर देते हैं वे सिद्ध पर्याय अर्थात् विशुद्ध आत्म परिणति प्राप्त करके सिद्धालय को प्राप्त करते हैं। कर्मों का सर्वथा विनाश होने पर आत्मा स्वभावतः ऊर्ध्वगमन करके लोकाकाश के अन्त में विराजमान हो जाता है। वही लोकाग्र सिद्धालय कहलाता है।

मूलः-आलोयणनिरवलावे, आवई सुदढधम्मया।
अणिस्सिओवहाणे य, सिक्खा निप्पडिकम्मया ॥७॥
अणायया अलोभे य, तितिक्खा अज्जवे सुई।
सम्मदिट्ठी समाही य, आयारे विणओवए ॥ ८ ॥
धिई मई य संवेगे, पणिहि सुविहि संवरे।
अत्तदोसोवसंहारे, सव्वकामविरत्तया ॥ ९ ॥
पच्चक्खाणे विउस्सग्गे, अप्पमादे लवालवे।
झाणसंवरजोगे य, उदये मारणंतिए ॥ १० ॥
संगाणं य परिण्णाया, पायच्छित्तकरणेविय।
आराहणा य मरणंते, बत्तीसं जोगसंगहा ॥११॥

छायाः—आलोचना निरपलापा, आपत्तौ सुदृढधर्मता।
अनिश्रितोपधानश्च, शिक्षा निःप्रतिकर्मता ॥ ७ ॥
अज्ञातता अलोभश्च, तितिक्षा आर्जवः शुचिः।
सम्यग्दृष्टिः समाधिश्च, आचारो विनयोपेतः ॥ ८ ॥
धृति मतिश्च संवेगः, प्रणिधिः सुविधि संवरः।
आत्मदोषोपसंहारः, सर्वकामविरक्तता ॥ ९ ॥
प्रत्याख्यानं व्युत्सर्गः अप्रमादो लवालवः।
ध्यान-संवर-योगाश्च, उदये मारणान्तिके ॥१०॥
सङ्गानाञ्च परिज्ञाय, प्रायश्चित्तकरणमपि च।
आराधना च मरणान्ते, द्वात्रिंशतिः योगसंग्रहाः ॥११॥

शब्दार्थः—बत्तीस योग संग्रह इस प्रकार हैं—(१) आलोचना (२) निरपलाप (३) आपत्ति में भी धार्मिक दृढ़ता (४) अनिश्रितोपधान (५) शिक्षा (६) निःप्रतिकर्मता (७) अज्ञानता (८) अलोभ (९) तितिक्षा (१०) आर्जव (११) शुचिता (१२) सम्यग्दृष्टि (१३) समाधि (१४) आचार (१५) विनय (१६ धृति (१७) मति (१८) संवेग (१९) प्रणिधि (२०) संवर (२१) आत्मदोषोपसंहार (२२) सर्वकामविरक्ति (२३) प्रत्याख्यान (२४) व्युत्सर्ग

(२५) अप्रमाद (२६) लवालव (२७) ध्यान (२८) संवरयोग (२६) मरणान्तिकउदय (३०) संगपरिज्ञातना (३१) प्रायश्चित्त और (३२) मारणान्तिक आराधना।

भाष्यः—जिस विधि का अनुसरण करने से मन, वचन और काय अर्थात् तीन योगों का निग्रह होता है और जिससे योग की साधना सुकर बनती है, उस विधि का अनुसरण करना योगसंग्रह कहलाता है। प्रत्येक मनुष्य को और विशेषतः योगीजनों को यह विधियां अवश्यमेव पालनीय हैं। इनसे आध्यात्मिक शुद्धि होती है। बत्तीस योग संग्रहों का स्वरूप इस प्रकार है:—

(१) आलोचना - शिष्य को जान में या अनजान में जो कोई दोष लगा हो, उसे अपने गुरु के समक्ष प्रकाशित कर देवे।

(२) निरपलाप—शिष्य द्वारा प्रकाशित दोषों को गुरु किसी और से न कहे।

(३) धार्मिक दृढ़ता—घोर से घोर कष्ट आ पड़ने पर भी अपने धर्म में दृढ़-अटल-रहना।

(४) अनिश्रित-उपधान निष्काम तपस्या करना अर्थात् तप के फल स्वरूप स्वर्ग के सुखों की या इसलोक सम्बन्धी ऋद्धि महिमा, प्रशंसा, यश-कीर्त्ति आदि की इच्छा न रखते हुए तप तपना।

(५) शिक्षा—आसेविनी (ज्ञान-लाभ सम्बन्धी) शिक्षा तथा ग्रहणी (चारित्र-लाभ सम्बन्धी) शिक्षा के दाता का उपकार मानकर शिक्षा को अंगीकार करना।

(६) निःप्रतिकर्मता—शरीर आदि को नहीं सजाना।

(७) अज्ञातता—गृहस्थ को मालूम न हो सके, इस प्रकार गुप्त रूप से तपस्या करना।

(८) अलोभ—बाह्य पदार्थों का तथा कीर्ति आदि का लोभ न करना।

(६) तितिक्षा—परीषह और उपसर्ग सहन करना।

(१०) आर्जव—योग की कुटिलता का त्याग कर सरलता धारण करना।

(११) शुचिता—अन्तःकरण को राग-द्वेष आदि से दूषित न होने देना।

(१२) सम्यग्दृष्टि शंका आदि दोषों से रहित सम्यक्त्व का पालन करना।

(१३) समाधि—अन्तःकरण को सदा स्वस्थ और स्थिर रखना।

(१४) आचार—ज्ञान आदि पांच आचारों की यथाशक्ति वृद्धि करना।

(१५) विनय - पूर्वोक्त विनय का आचरण करना।

(१६) धृति—संयमादि के अनुष्ठान में धैर्य धारण करना।

(१७) मति—सदा वैराग्यमयी बुद्धि रखना।

(१८) संवेग संसार से तथा भोगोपभोगों से उदासीन रहना।

(१६) प्रणिधि—आत्मा के ज्ञान आदि गुणों को खजाने की भांति यत्नपूर्वक सुरक्षित रखना—दूषित न होने देना।

(२०) सुविधि—संयम पालन में ढील न करना-शिथिलता न आने देना।

(२१) आत्म दोषोपसंहार—अपने आत्मा में चोर की तरह घुसे हुए दोषों को

खोज-खोज कर निकालना।

(२२) सर्वकामविरक्तता—इन्द्रियों के भोगों से तथा सब प्रकार की कामनाओं से विरक्त रहना।

(२३) प्रत्याख्यान—यम, नियम, तप, त्याग, की शक्ति के अनुसार वृद्धि करते रहना।

(२४) व्युत्सर्ग—उपाधि से रहित होना, शिष्य आदि का अभिमान न करना।

(२५) अप्रमाद—निद्रा, विकथा, जाति, कुल आदि का अहंकार आदि किसी भी प्रकार का प्रमाद न करना।

(२६) लवालव—जिस काल में जो क्रिया करनी चाहिए उस काल में उस क्रिया का निर्वाह करना।

(२७) ध्यान—आर्त्त-ध्यान और रौद्र-ध्यान का त्याग करके धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान धारण करना।

(२८) संवर योग—मन वचन काय के अशुभ योगों को सम्यक् प्रकार से रोकना।

(२९) मारणान्तिक उदय—जीवन का अन्त करने वाले कष्ट उपस्थित होने पर भी चित्त में क्षोभ न होने देना।

(३०) संगपरिज्ञाय—संसार का कारण समझ-बूझकर स्वजन परिजन सम्बन्धी स्नेह को त्यागना।

(३१) प्रायश्चित्त—किये हुए पापों की निन्दा न करना, पश्चात्ताप करना और शल्यरहित बन जाना।

(३२) मारणान्तिक आराधना—आयु का अन्त सन्निकट आया जानकर आहार आदि का त्याग कर देना, शारीरिक ममता का त्याग कर संथारा करना—समाधिभाव के साथ देह का परित्याग करना।

इस बत्तीस प्रकार के योग-संग्रह को जो मुनि अपने हृदय-प्रदेश में स्थापित कर तदनुकूल प्रवृत्ति करते हैं वे शीघ्र ही मुक्ति के अधिकारी बन जाते हैं। इनका आचरण आत्म-शुद्धि का उत्कृष्ट उपाय है।

मूलः—अरहंतसिद्धपवयणगुरुथेरबहुस्सुए तवस्सीसु।
वच्छलया य तेसिं अभिक्ख, णाणोवओगे य ॥१२॥
दंसणविणए आवस्सए य, सीलव्वए निरइयारो।
खणलवतवच्चियाए, वेयावच्चे समाही य ॥१३॥
अपुव्वणाणगहणे, सुयभत्ती पवयणे पभावणया।
एएहिं कारणेहिं, तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥१४॥

छाया:—अर्हत्सिद्धप्रवचनगुरुस्थविरबहुश्रुतेषु तपस्विषु ।
वत्सलता तेषां अभीक्ष्णं ज्ञानोपयोगश्च ॥१२॥
दर्शनविनय आवश्यकं च शीलव्रतं निरतिचारम् ।
क्षणलवस्तपस्त्यागः वैयावृत्यं समाधिश्च ॥१३॥
अपूर्वज्ञानग्रहणं श्रुतभक्तिः प्रवचनप्रभावनया ।
एतैः कारणैस्तीर्थंकरत्वं लभते जीवः ॥१४॥

शब्दार्थः—अरिहंत, सिद्ध, वीतरागोक्त आगम, गुरु, स्थविर, बहुश्रुत तथा तपस्वी पर वात्सल्य भाव रखना—इनके गुणों का कीर्तन करना, सदा ज्ञान में उपयोग रखना। निरतिचार सम्यक्त्व का पालन करना, विनीत होना, षट् आवश्यक का पालन करना. अतिचार रहित शीलों और व्रतों का पालन करना, शुभ ध्यान ध्याना, तप करना, त्याग करना, वैयावृत्य (सेवा) करना, अविकृत चित्त रखना। नित्य नया ज्ञान ग्रहण करना, श्रुत की भक्ति करना, निर्ग्रन्थ-प्रवचन की प्रभावना करना, इन कारणों से जीव तीर्थंकरत्व प्राप्त करता है।

भाष्य—तीर्थंकर गोत्र की प्राप्ति निम्नलिखित बीस कारणों से होती है:—

(१) अर्हन्त भगवान् का गुणानुवाद करना।

(२) सिद्ध भगवान् का गुणानुवाद करना।

(३) प्रवचन अर्थात् वीतराग भगवान् द्वारा उपदिष्ट शास्त्र का गुणानुवाद करना।

(४) पञ्च महाव्रतधारी गुरु महाराज का गुणानुवाद करना।

(५) स्थविर अर्थात् वृद्ध मुनिराज का गुणानुवाद करना।

(६) बहुश्रुत अर्थात् शास्त्रों के विशिष्ट ज्ञाता ज्ञानी पुरुषों का गुणानुवाद करना।

(७) तपस्वी का गुणानुवाद करना।

(८) बार बार ज्ञान में उपयोग लगाना।

(९) निर्मल-निरतिचार सम्यक्त्व का पालन करना अर्थात् शुद्ध श्रद्धा में किंचित् भी दोष न लगने देना।

(१०) गुरु आदि महा पुरुषों का यथोचित विनय करना।

(११) देवसी, रायसी, पाक्षिक, चातुर्मासिक एवं सांवत्सरिक प्रतिक्रमण को यथासमय भावशुद्धिपूर्वक करना तथा अन्य शास्त्रोपदिष्ट आवश्यक क्रियाओं का आचरण करना।

(१२) शील अर्थात् ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का तथा प्रत्याख्यानों का अतिचार न लगाते हुए पालन करना।

(१३) निरन्तर वैराग्यमयी वृत्ति-अनासक्ति का भाव रखना।

(१४) बारह प्रकार की तपश्चर्या करना।

(१५) सुपात्र को प्रीतिपूर्वक दान देना।

(१६) गुरु, रोगी, तपस्वी, वृद्ध और नवदीक्षित का वैयावृत्य करना।

(१७) समाधि भाव रखना।

(१८) नित्य नये ज्ञान का अभ्यास करना।

(१९) श्रुत भक्ति अर्थात् सर्वज्ञ भगवान् के वचनों पर श्रद्धा–भक्ति रखना।

(२०) जिनधर्म की प्रभावना करना - अर्थात् अपने विशिष्ट ज्ञान से, चारित्र से, वाक् कौशल से तथा शास्त्रार्थ आदि करके जैन धर्म की महिमा का विस्तार करना एवं धर्म के विषय में फैले हुए अज्ञान को दूर करना।

उल्लिखित बीस कारणों से जीव को तीर्थंकर नाम कर्म का बंध होता है। तीर्थंकर प्रकृति समस्त पुण्य प्रकृतियों में श्रेष्ठ है। उसकी प्राप्ति के लिए उच्चतर श्रेणी की निर्मलता अपेक्षित है। इन बीस कारणों में उत्कृष्ट रसायन आने से ही तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है।

इस महान् पुण्य प्रकृति के बंध के लिए भावों की अत्यन्त निर्मलता की आवश्यकता होती है। क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व अथवा प्रथमोपशम सम्यक्त्व या द्वितीयोपशम सम्यक्त्व की अवस्था में, अविरत सम्यग्दृष्टि नामक चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें अप्रमत्त संयत नामक गुणस्थान तक चार गुणस्थान वाले मनुष्य ही इसे बांध सकते हैं। और वे भी उसी समय बांध सकते हैं जब केवली भगवान् या द्वादशांग के सम्पूर्ण ज्ञाता श्रुतकेवली के निकट मौजूद हों।

आठ कर्मों में से चार घातिया कर्मों का क्षय करने वाले, जीवनमुक्त-सशरीर परमात्मा अरिहंत कहलाते हैं। अरिहंत भगवान् सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग और अनन्त आत्मिक सुख से संपन्न होते हैं। मोहनीय कर्म का क्षय कर देने के कारण उनकी समस्त इच्छाएं नष्ट हो जाती हैं। उनके चार अघातिक कर्म शेष रहते हैं और उन्हीं के कारण वे परा मुक्ति नहीं पाते। शुक्ल ध्यान के आलम्बन से जब चार अघातिक कर्म भी क्षीण हो जाते हैं तब अदेह दशा या परम मुक्ति प्राप्त होती है। उस समय वह सिद्ध कहलाने लगते हैं। प्रकृष्ट वचन को प्रवचन कहते हैं। अर्थात् जो वचन आप्त पुरुष द्वारा उच्चारण किया गया हो, युक्तियों द्वारा खंडित न हो सकता हो, प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से प्रतिकूल न हो, पूर्वापर विरोध से युक्त न हो, प्राणी मात्र का कल्याण करने वाला हो, वह वचन प्रवचन अथवा आगम कहलाता है। संस्कृत-व्याकरण के अनुसार 'प्रकृष्टस्य वचनं प्रवचनं' अर्थात् 'प्रकृष्ट पुरुष का वचन' ऐसी भी व्युत्पत्ति होती है। उसके तात्पर्य में कोई अन्तर नहीं आता। इस व्युत्पत्ति के अनुसार भी आप्त पुरुष का वचन ही 'प्रवचन' पद का अभिधेय सिद्ध होता है।

अज्ञान-अंधकार का विनाश करके सम्यग्ज्ञान का प्रकाश करने वाले, तथा निर्मल सम्यक्त्व के दाता, पंच महाव्रतधारी मुनिराज गुरु कहलाते हैं। गुरुओं में जो ज्येष्ठ होते हैं वे स्थविर कहलाते हैं। सूत्र-सिद्धान्तों के मर्मज्ञ विद्वान् बहुश्रुत हैं। अनशन आदि विशिष्ट तप करने वाले तपस्वी कहलाते हैं। इन सब के प्रति वात्सल्य भाव

रखने से तीर्थंकर नाम कर्म का बंध होता है।

विशुद्ध सम्यक्त्व का धारण करना, पूर्व प्रतिपादित विनय का पालन करना, प्रतिदिन नियमित रूप से, नियत समय पर शुद्ध भावों से आवश्यक क्रिया करना, सात शील और पांच व्रतों में अतिचार न लगाते हुए उनका पालन करना, प्रशस्त ध्यान में तत्पर होना, यथाशक्ति तप और त्याग (दान) करना, मुनियों की वैयावृत्य करना, और समाधि रखना भी तीर्थंकरत्व की प्राप्ति का कारण है।

नित्य नवीन ज्ञान का अर्जन करना, श्रुत के प्रति आदर और भक्ति की भावना रखना, तपस्या ज्ञान वादविवाद आदि के द्वारा वीतराग भगवान् के उपदेश की प्रभावना करना अर्थात् जिनेन्द्र भगवान् द्वारा जगत के कल्याण के लिए जिस धर्म का प्ररूपण किया गया है उसका महत्त्व सर्वसाधारण में बढ़ाना, उसके सम्बन्ध में जो अज्ञान फैला हुआ हो उसका निवारण करके जिनशासन का प्रभाव विस्तार करना, इन कारणों से जीव को तीर्थंकर पद की प्राप्ति होती है।

संसार में जितने पदार्थ पुण्य के द्वारा प्राप्त होते हैं उन सब में तीर्थंकर पद सर्वश्रेष्ठ है। इससे अधिक उत्कृष्ट अन्य कोई भी पुण्य का फल नहीं है। इसी से यह जाना जा सकता है कि तीर्थंकर पद की प्राप्ति के लिए कितने अधिक पुण्य की अपेक्षा रहती है। यहां इस पद की प्राप्ति के जो कारण बताये गये हैं उनमें से किसी भी कारण से तीर्थंकर पद प्राप्त हो सकता है, पर वह प्रगाढ़ और चरम सीमा को प्राप्त होना चाहिए। साधारण कारण से तीर्थंकर पद प्राप्त नहीं होता। यही कारण है कि जब असंख्यात जीव मुक्त होते हैं तब भी तीर्थंकर चौवीस ही होते हैं। अतएव तीर्थंकर पदवी पाने की अभिलाषा रखने वाले भव्य जीवों को विशिष्ट-अतिशय विशिष्ट प्रयत्न करना चाहिए।

मुक्त और तीर्थंकर में इतना भेद है कि सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करने वाला प्रत्येक आत्मा मुक्त कहलाता है परन्तु तीर्थंकर भगवान् सर्वज्ञ अवस्था प्राप्त करके श्रावक-श्राविका-साधु-साध्वी रूप चतुर्विध तीर्थ की स्थापना करते हैं। जगत में तीर्थंकर का धर्म-शासन चलता है। धर्मशासन की प्रवृत्ति करने के पश्चात् वे मुक्ति प्राप्त करते हैं। तीर्थंकर, अतिशय पुण्य रूप तीर्थंकर नाम-प्रकृति के उदय से होते हैं. प्रत्येक मुक्तात्मा को इस प्रकृति का उदय नहीं होता। एक-एक तीर्थंकर के शासन में अगणित आत्मा सिद्धि-पद प्राप्त करते हैं। प्रत्येक तीर्थंकर अवश्यमेव मुक्ति प्राप्त करते हैं पर प्रत्येक मुक्त तीर्थंकर नहीं होते।

वन्ध के प्रकरण में तीर्थंकर नाम कर्म के बंध की सामग्री का उल्लेख किया जा चुका है। अतएव यहां उसका विस्तार नहीं किया जाता। जिज्ञासुओं को वह प्रकरण देख लेना चाहिए।

मूलः—पाणाइवायमलियं, चोरिक्कं मेहुणं दवियमुच्छं।
कोहं माणं मायं, लोभं पेज्जं तहा दोसं॥ १५॥

कलहं अब्भक्खाणं, पेसुन्नं रइ-अरइसमाउत्तं ।
परपरिवायं माया-मोसं मिच्छत्तसल्लं च ॥ १६ ॥

छाया:—प्राणातिपातमलीकं, चौर्यं मैथुनं द्रव्यमूर्च्छाम् ।
क्रोधं मानं मायां, लोभं प्रेम तथा द्वेषम् ॥ १६ ॥
कलहमभ्याख्यानं, पैशून्यं रत्यरती समायुक्तम् ।
परपरिवादं माया-मृषां मिथ्यात्वशल्यम् च ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—प्राणातिपात, असत्य, चौर्य, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम, द्वेष; कलह, अभ्याख्यान, पैशून्य, रति-अरति, परपरिवाद, मायामृषा, और मिथ्यात्वशल्य को तीर्थंकरों ने पाप रूप प्रतिपादन किया है ।

भाष्यः—आत्मशुद्धि के उपायों का अनुष्ठान करने के साथ-साथ ही आत्मा को अशुद्ध बनाने वाले पापों का परिहार करना भी अनिवार्य है । ऐसा किये बिना आत्म-शुद्धि नहीं हो सकती । आत्मिक मलीनता के जनक पापों का त्याग भी-आत्म-शुद्धि का हेतु है । इसी कारण यहां पापों का उल्लेख करके उनके त्याग की आवश्यकता प्रदर्शित की गई है ।

यों तो अनन्त जीवों की पाप रूप क्रियाएं भी अनन्त हैं, उनका शब्दों द्वारा कथन और उल्लेख नहीं हो सकता किन्तु उन तमाम क्रियाओं का वर्गीकरण करने पर अठारह वर्ग होते हैं । इन्हीं वर्गों को शास्त्र में अठारह पापस्थानक कहते हैं । प्रकृत गाथाओं में इन्हीं अठारह पापस्थानों का निर्देश किया गया है । उनका स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार है—

(१) प्राणातिपात—किसी भी प्राणी के दस प्राणों में से किसी प्राण का घात करना, प्राणी को वेदना पहुंचाना, किसी का दिल दुखाना अथवा अपने द्रव्य भाव प्राणों का घात करना प्राणातिपात या हिंसा है ।

(२) अलीक—मिथ्या भाषण करना अर्थात् असत् वस्तु को सत् कहना, सत् को असत् कहना, दूसरे के चित्त को विषाद करने वाले वचन बोलना, हिंसा-जनक वचन प्रयोग करना, सावद्य भाषा का प्रयोग करना, संशयजनक तथा कर्कश-कठोर वाणी का उच्चारण करना, ।

(३) चौर्य—बिना आज्ञा लिए किसी की वस्तु को ग्रहण करना ।

(४) मैथुन—स्त्री-पुरुष के परस्पर गुह्य व्यापार को मैथुन कहते हैं । ब्रह्मचर्य का पालन न करना ।

(५) परिग्रह—संसार के पदार्थों पर, संयम के उपकरणों पर यहां तक कि शरीर पर भी ममता भाव रखना परिग्रह कहलाता है ।

(६) क्रोध (७) मान (८) माया (९) लोभ (१०) प्रेम अर्थात् इष्ट पदार्थों पर अनुराग करना (११) द्वेष—अनिष्ट पदार्थों से घृणा करना (१२) कलह करना (१३) अभ्याख्यान—किसी की गुप्त बात प्रकट करना (१४) पैशुन्य-चुगली खाना (१५) रति-

अरति-संसार के कारणभूत भोगोपभोगों को पाकर प्रसन्न होना तथा धर्म-साधना में अप्रसन्नता रखना (१६) परपरिवाद-दूसरों को कलंक लगाना-निन्दा करना (१७) माया मृषा-कपटयुक्त असत्य भाषण करना तथा (१८) मिथ्यादर्शनशल्य-मिथ्या श्रद्धान करना।

इन अठारह प्रकार के पापों का सेवन करने से संसार की वृद्धि होती है, क्योंकि इनके सेवन से आत्मा में मलिनता उत्पन्न होती है। अतएव आत्म-शुद्धि का उपाय करने वालों को इन पापों का परित्याग अवश्य करना चाहिए।

मूलः—अज्झवसाणनिमित्ते, आहारे वेयणा पराघाते।
फासे आणापाणू, सत्तविहं भिज्झए आऊ॥ १७॥

छायाः—अध्यवसाननिमित्ते, आहारो वेदना पराघातः।
स्पर्श आनप्राणः सप्तविधं क्षीयते आयुः॥ १७॥

शब्दार्थः—आयु सात प्रकार से क्षीण होता है--(१) भयंकर वस्तु का विचार आने से (२) शस्त्र आदि के निमित्त से (३) विषैली वस्तुओं के आहार से या आहार के निरोध से (४) शारीरिक वेदना से (५) गढे में गिरने आदि से (६) सर्प आदि के स्पर्श से (७) श्वासोच्छ्वास की रुकावट से।

भाष्यः--अकाल मृत्यु के सम्बन्ध में पहले किंचित् उल्लेख किया गया है। यहां सूत्रकार ने अकालमृत्यु के कारणों का निरूपण किया है। अकालमृत्यु का तात्पर्य यह है कि जो आयु धीरे-धीरे लम्बे समय में भोगी जाने वाली थी वह जल्दी-जल्दी अन्तर्मुहूर्त में भी भोगी जाती है। ऐसा प्रसंग क्यों उपस्थित होता है—नियत समय से पूर्व ही आयु कर्म को भोगने का कारण क्या है? इसी प्रश्न का यहां सात कारण बतलाकर समाधान किया गया है। भयंकर वस्तु के दर्शन से अथवा दर्शन न होने पर भी उसका विचार आने से आयु क्षीण हो जाती है। इसी प्रकार लकड़ी, डण्डा, अस्त्र-शस्त्र आदि निमित्तों से, आहार का निरोध होने से या अधिक आहार करने से, शूल आदि की असह्य शारीरिक वेदना होने से, गड्ढे में गिरना आदि बाह्य आघात लगने से, सर्प आदि के काट लेने से अथवा स्पर्श करते ही शरीर में विष फैला देने वाली किसी भी वस्तु के स्पर्श करने से तथा सांस बन्द होने से अकालमृत्यु हो जाती है।

सोपक्रम आयु वाले ही अकालमृत्यु से मरते हैं। अकालमृत्यु व्यवहारनय की अपेक्षा से समझना चाहिए।

ज्ञानावरण आदि समस्त प्रकृतियों का, आयुकर्म की भांति शुभाशुभ परिणामों के अनुसार अपवर्त्तनाकरण के द्वारा स्थिति आदि के खण्डन से उपक्रम होता है। वह उपक्रम प्रायः उन कर्मों का होता है जिनका निकाचना करण के द्वारा निकाचित रूप से (प्रगाढ़) बंध नहीं होता है। कभी-कभी तीव्रतर तपश्चर्या का अनुष्ठान करने से निकाचित कर्म का भी उपक्रम हो जाता है। कर्मों का यदि उपक्रम न हो तो कभी कोई जीव मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि तद्भव मोक्षगामी जीव जब चतुर्थ

गुणस्थान में होता है तब उसके अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम की स्थिति वाले कर्मों की सत्ता होती है। यदि इस स्थिति का खंडन न हो और समस्त कर्म जितनी स्थिति वाले बंधे हैं उतनी ही स्थिति भोगनी पड़े तो मोक्ष का अभाव हो जायगा। फिर भी यहां केवल आयु कर्म का ही उपक्रम होना बतलाया गया है, उसके दो कारण हैं—प्रथम यह कि आयु कर्म का उपक्रम प्रसिद्ध है, दूसरा यह कि आयु कर्म का उपक्रम बाह्य कारणों से होता है, जब कि अन्य कर्मों का उपक्रम सिर्फ आन्तरिक अध्यवसाय के निमित्त से ही होता है।

धीरे-धीरे दीर्घ काल में भोगने योग्य कर्म को शीघ्र भोग लिया जाता है, बिना भोगे उसकी निर्जरा नहीं होती है अतएव किये हुए कर्म का नाश (कृत-नाश) दोष यहां नहीं आ सकता। इतना विशेष समझना चाहिए कि समस्त कर्म प्रदेशोदय की अपेक्षा अवश्य भोगने पड़ते हैं, अनुभागोदय की अपेक्षा कोई कर्म भोगा जाता है, कोई नहीं भी भोगा जाता। आगम में कहा है: --

"जं तं अणुभागकम्मं तं अत्थेगइयं वेएइ, अत्थेगइयं नो वेएइ, तत्थ णं जं तं पएसकम्मं तं नियमा वेएइ।"

अर्थात् अनुभाग कर्म को कोई भोगता है, कोई नहीं भोगता, पर प्रदेश कर्म को नियम से सब भोगते हैं।

कर्म के उपक्रम के लिए साध्य रोग का दृष्टान्त दिया गया है, जैसे कोई साध्य रोग औषध आदि उपक्रम के बिना लम्बे समय में नष्ट होता है और औषध आदि उपक्रम से शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, और जो असाध्य रोग होता है वह सैंकड़ों औषधियों का सेवन करने से भी नष्ट नहीं होता है, इसी प्रकार कोई कर्म बन्ध के समय उपक्रम योग्य ही बंधता है। अगर उपक्रम का कारण न मिले तो वह अपनी बंधी हुई स्थिति पर्यन्त भोगे बिना नहीं छूटता और यदि उपक्रम की सामग्री मिल जाय तो अन्तर्मुहूर्त्त आदि अल्पकाल में ही प्रदेशोदय द्वारा मुक्त होकर नष्ट हो जाता है। परन्तु जो कर्म निकाचित रूप से बंधता है वह उपक्रम के अनेक कारण उपस्थित होने पर भी, जितने समय में भोगने योग्य होता है उससे पहले प्रायः नहीं भोगा जा सकता।

कर्म का उपक्रम सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित उदाहरण उपयोगी हैं—(१) जैसे फल वृक्ष की शाखा में लगा हो तो धीरे-धीरे यथासमय पकता है और जिस फल को तोड़ कर घास आदि से ढंक दिया जाता है वह अकाल में ही पक जाता है, इसी प्रकार कोई कर्म बन्ध काल में पड़ी हुई स्थिति के अनुसार नियत समय पर भोगा जाता है और कोई कर्म अपवर्त्तना आदि करण के द्वारा अन्तर्मुहूर्त्त में भी भोग लिया जाता है।

(२) जैसे मार्ग बराबर होने पर भी किसी पथिक को गति की तीव्रता के कारण कम समय लगता है और किसी को गति की मंदता के कारण अधिक समय लगता है, इसी प्रकार कोई कर्म शीघ्र भोग लिया जाता है, कोई धीरे-धीरे भोगा जाता है।

(३) जैसे दो शिष्य एक ही शास्त्र का अध्ययन करते हैं। उनमें एक की ग्रहण और धारण करने की शक्ति अधिक होने से वह शीघ्र ही शास्त्र का अध्ययन कर लेता है और दूसरा धीरे-धीरे बहुत समय में अध्ययन कर पाता है, उसी प्रकार कर्म की स्थिति एक समान होने पर भी अध्यवसान आदि परिणामों से तथा चारित्र आदि के भेद से कर्म के अनुभव में उत्कृष्ट, मध्यम तथा जघन्य काल-भेद होता है।

(४) जैसे लम्बी रस्सी को एक छोर से सुलगाने पर क्रमशः सुलगते-सुलगते लम्बे समय में सुलग चुकती है और यदि उसे इकट्ठा करके सुलगाया जाय तो शीघ्र ही सारी सुलग जाती है, उसी प्रकार कोई कर्म शीघ्र भोग लिया जाता है और कोई धीरे-धीरे भोगा जाता है।

(५) जैसे गीला वस्त्र फैला देने से शीघ्र सूख जाता है और इकट्ठा कर रखने से उसके सूखने में बहुत काल लगता है इसी प्रकार कोई कर्म अपवर्त्तना आदि करण के द्वारा शीघ्र भोग लिया जाता है और कोई यथा-समय बन्धकालीन स्थिति के अनुसार भोगा जाता है।

इन उदाहरणों के अतिरिक्त और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिन से यह सिद्ध होता है कि दीर्घकाल में निष्पन्न होने वाली क्रिया को प्रयत्न की विशि-ष्टता से अल्पकाल में ही सम्पन्न किया जा सकता है। अतएव पूर्वोक्त सात कारणों से आयु कर्म का उपक्रम होना युक्ति-संगत ही है। जो लोग मिथ्या धारणा के अनु-सार यह समझते हैं कि अकाल में आयु क्षीण नहीं होती, वे भी अपनी या अपने कुटुम्बीजनों की रुग्ण अवस्था में औषधोपचार कराते हैं। समय समाप्त हो जाने पर आयु टिक नहीं सकती, तो औषध आदि का उपचार निरर्थक ही सिद्ध होता है। इससे जान पड़ता है कि जो आयु का अकाल में क्षय होना नहीं कहते वे भी व्यवहार में क्षय होना अवश्य स्वीकार करते हैं।

जब यह सिद्ध हो चुका कि अकाल में भी आयु टूट जाती है तब विवेक-शील पुरुषों को जीवन का विश्वास न करके, शीघ्र ही आत्म-शुद्धि के अनुष्ठान में संलग्न हो जाना चाहिए।

मूलः—जह मिउलेवालित्तं, गरुयं तुबं अहो वयइ एवं।
आसवकयकम्मगुरू, जीवा वच्चंति अहरगइं॥ १८॥
तं चेव तव्विमुक्कं, जलोवरिं ठाइ जायलहुभावं।
जह तह कम्मविमुक्का, लोयग्गपइट्ठिया होंति॥ १९॥

छायाः—यथा मृल्लेपालिप्तं गुरु तुम्बं अधो व्रजत्येवम्।
आस्रवकृतकर्मगुरवो जीवा व्रजन्त्यधोगतिम्॥ १८॥
तच्चैव तद्विमुक्तः जलोपरि तिष्ठति जातलघुभावम्।
यथा तथा कर्मविमुक्ता लोकाग्रप्रतिष्ठिना भवन्ति॥ १९॥

शब्दार्थः- मिट्टी के लेप से लिप्त तूम्बा भारी होकर पानी में नीचे चला जाता है, इसी प्रकार आस्रव द्वारा उपार्जित कर्मों से भारी हुए जीव अधोगति प्राप्त करते हैं—नीच योनि में उत्पन्न होते हैं। वही तूम्बा जब मिट्टी के लेप से छूट जाता है तो लघुता प्राप्त कर के जल के ऊपर आ ठहरता है, उसी प्रकार कर्मों से छुटकारा पाने पर जीव लघु होकर ऊपर -- लोक के अग्र भाग पर स्थित हो जाते हैं।

भाष्यः—आत्मा अधोगति और उच्चगति किस कारण से प्राप्त करता है, यह जाने बिना उच्चगति के लिये प्रयास नहीं किया जा सकता और इस प्रयास के बिना आत्मिक शुद्धि नहीं हो सकती, अतएव आत्म-शुद्धि के प्रकरण में इसका उल्लेख किया गया है।

यहां आत्मा को तूंबे की उपमा दी गई है। आत्मा उपमेय है और तूंबा उपमान है। ऊर्ध्वगमन दोनों में समान धर्म पाया जाता है। तूंबा स्वभाव से हलका है, किन्तु मृत्तिका का लेप होने से वह भारी हो जाता है, इसी प्रकार जीव स्वभाव से हलका अतएव ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाला है, किन्तु कर्म रूपी मृत्तिका के संसर्ग से वह भारी हो रहा है। जब गुरुता—भारीपन का कारणभूत कर्म-संसर्ग हट जाता है तो जीव तूंबे के समान अपने मूल रूप में आकर ऊर्ध्वगमन करता है, तूंबा ऊर्ध्वगमन करके अपनी शक्यता के अनुसार जल की ऊपरी सतह पर ही आता है किन्तु आत्मा तूंबे की अपेक्षा अनन्त गुणा हलका होने के कारण लोक के अन्तिम प्रदेशों तक पहुंचता है। आगे धर्मास्तिकाय का—जो कि गति में सहायक है--अभाव होने के कारण आत्मा की गति नहीं होती। इसी कारण कर्म-विमुक्त आत्मा को 'लोकाग्रप्रतिष्ठित' कहा गया है।

इसके विपरीत जो जीव अपने अशुभ अध्यवसायों के कारण पाप कर्मों का उपार्जन करता है वह कर्मों के भार से गुरु होकर तूंबे के समान अधोगमन करता है-नरक आदि नीच गति प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि जो आत्मा अपनी शुद्धि चाहता है उसे कर्मों के भार से हलका बनना चाहिए।

श्री गौतम उवाच--

मूलः— कहं चरे कहं चिट्ठे कहं आसे कहं सए ?
कहं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधई ? ॥२०॥

छायाः—कथञ्चरेत् कथं तिष्ठेत्, कथमासीत कथं शयीत् ?
कथं भुञ्जानो भाषमाणः पापं कर्म न बध्नाति ? ॥२०॥

शब्दार्थः—श्रीगौतम स्वामी भगवान् से प्रश्न करते हैं-किस प्रकार चलना चाहिए ? किस प्रकार ठहरना चाहिए ? किस प्रकार बैठना चाहिए ? किस प्रकार सोना चाहिए ? किस प्रकार भोजन करते हुए और किस प्रकार बोलते हुए पाप कर्म नहीं बंधते ?

भाष्य:—आत्मशुद्धि का वर्णन करते हुए पूर्व गाथा में यह बताया गया है कि कर्म से मुक्त आत्मा ऊर्ध्व गति करके लोकाग्र में प्रतिष्ठित हो जाता है, किन्तु पाप कर्म से मुक्ति तभी हो सकती है जब नवीन कर्मों का बंध होना रुक जाता है। जिस तालाब में सदा नवीन जल आता रहता है उस तालाब के जल का पूर्ण क्षय नहीं हो सकता। इसी प्रकार जो आत्मा नवीन कर्मों का आदान करता रहता है वह पूर्ण रूप से निष्कर्म कदापि नहीं हो सकता। अतएव नये कर्मों के बंध का निरोध होना निष्कर्म अवस्था प्राप्त होने के लिए अनिवार्य है।

यही सोचकर श्रीगौतम स्वामी सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, परम वीतराग, श्रमणोत्तम श्रीमहावीर से विनय पूर्वक प्रश्न करते हैं कि-भगवन्! किस प्रकार चलने, ठहरने, बैठने, सोने, भोजन करने से और किस प्रकार भाषण करने से पाप-कर्मों के बंध से बचा जा सकता है? प्रत्येक क्रियापद के साथ 'कथं' (कैसे-किस प्रकार) का प्रयोग यह सूचित करता है कि इन सब क्रियाओं को करते समय, विशेष सावधानी की आवश्यकता होती है।

यहां जिन क्रियाओं का शाब्दिक उल्लेख किया गया है, वे उपलक्षण मात्र हैं। उनसे अन्य क्रियाओं का भी-जिनका उल्लेख गाथा में नहीं किया गया है-ग्रहण करना चाहिए। इसी प्रकार उत्तरवर्ती गाथा में भी उपलक्षण से ही उत्तर दिया गया है। वहां भी अन्यान्य क्रियाओं का ग्रहण करना चाहिए।

गाथा में 'बंधइ' क्रिया के कर्त्ता का उल्लेख नहीं किया गया है, किन्तु सामर्थ्य से 'जीव' अथवा 'मुनि' कर्त्ता का अध्याहार करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि किस प्रकार की प्रवृत्ति करने से जीव अथवा मुनि पाप कर्म का बंध नहीं करता है?

श्रीभगवान् उवाच—

मूल:—जयं चरे जयं चिट्ठे, जयं आसे जयं सए?
जयं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधइ? ॥२१॥

छाया:—यतं चरेत् यतं तिष्ठेत्, यतमासीत् यतं शयीत्।
यतं भुञ्जानो भाषमाण:, पापं कर्म न बध्नाति॥ २१॥

शब्दार्थ:—श्रीभगवान् उत्तर देते हैं—यतनापूर्वक चलना चाहिए। यतनापूर्वक ठहरना चाहिए। यतनापूर्वक बैठना चाहिए। यतनापूर्वक सोना चाहिए। यतनापूर्वक भोजन करने वाला और यतनापूर्वक भाषण करने वाला पाप कर्म नहीं बाँधता है।

भाष्य:—श्रीगौतम के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं-हे गौतम! आत्म-शुद्धि के अभिलाषी और कर्म बंध से बचने की आकांक्षा रखने वाले मुनि या अन्य मुमुक्षु को चाहिए कि वह यतना के साथ चले, बैठे, ठहरे, सोवे, भोजन करे और भाषण करे। इन सब क्रियाओं को यतना के साथ करने वाला पाप कर्म का बंधन नहीं करता है।

जिन धर्म में यतना का बड़ा महत्त्व है। सावधानता, अप्रमाद अथवा हिंसा-रहित प्रवृत्ति या जागरूकता को यतना कहते हैं। जो प्रवृत्ति यतना के साथ की जाती है उसमें शुभ योग होता है और अयतनापूर्वक की जाने वाली प्रवृत्ति में अशुभ योग होता है। शुभ योग के सद्भाव में पाप कर्म का बन्ध नहीं होता। अतएव पाप से बचने के लिए यतनापूर्वक ही प्रवृत्त होना चाहिए। यतना के साथ क्रिया करने में यदि विराधना हो भी गई तो वह भाव-पाप का कारण नहीं होती।

इसके विरुद्ध जो विना यतना के प्रतिलेखन आदि धार्मिक क्रिया करता है वह विराधना का भागी होता है। कहा है—

पुढवी आउक्काए, तेऊवाऊवणस्सइतसाणं।
पडिलेहणापमत्तो, छण्हं पि विराहओ होइ॥

अर्थात् प्रतिलेखना में प्रमादी (यतनापूर्वक आचरण करने वाला) पृथ्वी-काय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय, इन छहों कायों की विराधना करता है।

इन अवतरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक ही काल में, एक ही क्षेत्र में, एक-सी ही क्रिया करने वाले दो पुरुषों में से जो यतनापूर्वक प्रवृत्ति करता है वह नवीन कर्मों को नहीं बांधता, इतना ही नहीं किन्तु पूर्व-बद्ध कर्मों का क्षय (निर्जरा) भी करता है और अयतना से वही प्रवृत्ति करने वाला नवीन पाप कर्म का बन्ध करता है। अर्थात् एक के पुराने बंधे हुए कर्म खिरते हैं और दूसरे के नये कर्म बंधते हैं। इतना महान् अन्तर केवल यतना-अयतना के कारण हो जाता है। इससे जाना जा सकता है कि आचार-धर्म में यतना का कितना महत्वपूर्ण और उच्च स्थान है? वास्तव में यतना में ही धर्म और अयतना में ही अधर्म है। अत मुमुक्षुजनों को प्रत्येक प्रवृत्ति यतना-अप्रमाद-पूर्वक करनी चाहिए।

गाथा में 'जयं' शब्द विशेषण है। उससे क्रिया की विशेषता प्रकट होती है। क्रियाविशेषण नपुंसक लिंग और एक वचन में ही प्रयुक्त होता है, तदनुसार यहां भी 'जयं' पद नपुंसक लिंग एकवचन है।

पूर्व गाथा में कहे अनुसार यहां भी उपलक्षण से प्रतिलेखना, प्रमार्जना आदि अन्य समस्त क्रियाओं का ग्रहण करना चाहिए।

मूलः—पच्छा वि ते पयाया, खिप्पं गच्छंति अमरभवणाइं।
जेसिं पियो संजमो य, खंती य बंभचेरं च॥ २२॥

छायाः—पश्चादपि ते प्रयाताः, क्षिप्रं गच्छन्ति अमरभवनानि।
येषां प्रियं तपः संयमश्च, क्षान्तिश्च ब्रह्मचर्यञ्च॥ २२॥

शब्दार्थः—पश्चात् अर्थात् वृद्धावस्था में भी संयम को प्राप्त हुए मनुष्य, जिन्हें तप, संयम और क्षमा तथा ब्रह्मचर्य प्यारा है, वे शीघ्र देवभवनों को जाते हैं।

भाष्य:—जो जीव अपने जीवन में धर्म की आराधना न करते हुए वृद्ध-अवस्था में जा पहुंचे हैं. उनकी आत्म-शुद्धि संभव है या नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए यह गाथा कही गई है।

आत्मा नित्य है, अजर है, अमर है। वह न कभी बालक होता है, न युवा होता है, न वृद्ध होता है। बालक आदि अवस्थाएं शरीर के विभिन्न पर्याय हैं। ऐसी हालत में यह प्रश्न ही कैसे उठ सकता है कि वृद्धावस्था में धर्म-साधना संभव है या नहीं ? और जब यह प्रश्न ही संगत नहीं है तब सूत्रकार ने उसके समाधान का प्रयत्न क्यों किया है ? इसके उत्तर में यह समझना चाहिए कि वास्तव में आत्मा कभी बूढ़ा या बालक नहीं होता। फिर भी कर्मों के कारण उसकी स्वाभाविक शक्तियां अव्यक्त हो रही हैं। अतएव वह जो भी चेष्टा करता है, उसमें शरीर की सहायता की आवश्यकता पड़ती है। जानना और देखना आत्मा का स्वाभाविक गुण है किन्तु वह भी विना इन्द्रियों की सहायता के व्यक्त नहीं होने पाता। इसी प्रकार अन्यान्य व्यापार भी शरीराश्रित हो रहे हैं। इसी कारण मुक्ति की प्राप्ति में वज्र-ऋषभनाराच संहनन को भी निमित्त कारण के रूप में स्वीकार किया गया है। तात्पर्य यह है कि शरीर यदि सुदृढ़ होगा तो मोक्ष-प्राप्ति के अनुकूल प्रवल पुरुपार्थ हो सकेगा। शरीर यदि शिथिल, रुग्ण और निर्बल होगा तो उससे वैसा पुरुषार्थ नहीं हो सकता, जिसके होने पर मोक्ष प्राप्त हो सकता है। ऐसी अवस्था में यह प्रश्न उठना असंगत नहीं वरन् सुसंगत ही है।

प्रस्तुत प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार ने बतलाया है कि जिन्हें तप, संयम, शान्ति और ब्रह्मचर्य प्यारा है, वे वृद्धावस्था में भी यदि सन्मार्ग की ओर उन्मुख होते हैं तो उन्हें देवलोक की प्राप्ति होती है। अतएव वृद्धावस्था में प्राप्त पुरुषों को निराश न होकर तप आदि के आराधन में दत्तचित्त होना चाहिए।

गाथा में 'पियो' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। जो शक्तिशाली-पुरुष तप, संयम आदि का अनुष्ठान करते हैं उन्हें मोक्ष प्राप्त होता है और जो वृद्धावस्था आदि के कारण संयम आदि के अनुष्ठान में समर्थ नहीं होते, किन्तु जिन्हें संयम, तप, आदि प्यारा लगता है, जिनकी रुचि, अभिलाषा अथवा प्रीति संयम आदि के अनुष्ठान में होती है, वे अपनी पवित्र रुचि प्रीति के कारण अमर-लोक (स्वर्ग) प्राप्त अवश्य करते हैं।

इस कथन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वृद्धावस्था में पहुंच जाने पर भी जिन मुमुक्षुओं को संयम, तप, क्षमा और ब्रह्मचर्य केवल प्रिय ही नहीं है वरन् जो उनका पालन भी करते हैं, वे मोक्ष भी प्राप्त करते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि तप, संयम आदि की ओर जिनकी हार्दिक रुचि है वे देवलोक में जाते हैं, जो उनका अनुष्ठान करते हैं वे अन्य जीवों की भांति ही मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं।

'अमरभवणाइं' का अर्थ है—अमरों अर्थात् देवों के भवन। यहां अमर शब्द से देव का अर्थ लिया गया है, जो कोश-प्रसिद्ध है। अमरकोश में कहा है-'अमरा निर्जरा देवा:' इत्यादि। यहां पर यह शंका हो सकती है कि देव भी मनुष्य, तिर्यञ्च आदि

अन्य योनियाले जीवों की तरह अपनी-आयु पूर्ण होने पर मरते हैं, फिर उन्हें 'अमर' क्यों कहा गया है ? इस शंका का समाधान यह है कि देव मनुष्यों और तिर्यञ्चों की भांति मरते तो हैं किन्तु उनकी नाईं अकाल-मृत्यु से नहीं मरते। इसी अपेक्षा से उन्हें 'अमर' कहा गया है।

जो जीव देवलोक में जाते हैं, उनकी मुक्ति का द्वार सदा के लिए बंद नहीं हो जाता। वे पुन मनुष्य भव प्राप्त करके संयम आदि का विशिष्ट अनुष्ठान करके मुक्ति-लाभ कर सकते हैं। अतः यौवनकाल में, जब शरीर बलिष्ठ और इन्द्रियाँ समर्थ होती हैं, तभी संयम धर्म का आचरण करना चाहिए। कदाचित् अनुकूल सामग्री न मिलने से ऐसा न हो सका हो और वृद्धावस्था आगई हो तो भी हताश नहीं होना चाहिए और शक्ति के अनुसार धर्म का अनुसरण करना चाहिए। जो शक्ति से परे हो उस पर प्रेम और श्रद्धान रखना चाहिए। क्योंकि धर्म पर श्रद्धान और प्रेम रखने वाला जीव भी-शनैः शनैः मुक्ति प्राप्त करता है।

मूलः-तवो जोई जीवो जोइठाणं, जोगा सुया सरीरं कारिसंगं।
कम्मेहा संजमजोग संती, होमं हुणामि इसिणं पसत्थं ॥२३॥

छाया:—तपो ज्योतिर्जीवो ज्योतिःस्थानम्, योगाः स्रुच शरीरं करीषाङ्गम्।
कर्मैधाः संयमयोगाः शान्तिः, होमं जुहोमि ऋषीणां प्रशस्तम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थः— जिसमें जीव आदि अग्नि का स्थान (कुंड) है, तप अग्नि है, योग कुड़छी है, शरीर कंडे हैं, कर्म समिधा है. संयम रूप व्यापार शान्ति पाठ है ऐसा ऋषियों द्वारा प्रशंसनीय होम मैं करता हूं।

भाष्यः - आत्म-शुद्धि के उपायों के दिग्दर्शन में सूत्रकार ने अग्निहोत्र, होम या यज्ञ का आध्यात्मिक स्वरूप बताया है। भारतवर्ष में प्राचीनकाल में भगवान् महावीर के पूर्व और उनके समय में, वैदिक धर्म के अनुयायी यज्ञ किया करते थे। इन यज्ञों में गाय, घोड़ा, आदि विभिन्न पशुओं की अग्नि में आहुति दी जाती थी। इतना ही नहीं, नरमेध यज्ञ भी उस समय प्रचलित था, जिसमें मनुष्य का बलिदान किया जाता था। यह यज्ञ अनेक उद्देश्यों को सन्मुख रखकर किये जाते थे। कोई यज्ञ ऐश्वर्य (वैभव) की प्राप्ति के लिए किये जाते थे, कोई राज्यप्राप्ति के लिए, कोई पानी बरसाने के लिए, कोई देवता को प्रसन्न करने के लिए और कोई सद्गति की प्राप्ति के लिए। इस प्रकार लौकिक कामनाओं से प्रेरित होकर अनेक प्रकार के यज्ञ वैदिक धर्म के अनुयायी लोग करते थे। इसमें संदेह नहीं कि यह सब यज्ञ घोर हिंसाकारक थे और इनके द्वारा मानव-समाज में एक प्रकार की नृशंसता, कठोरता अथवा निर्दयता ने अपना आसन जमा लिया था।

आश्चर्य की बात तो यह थी कि इस भयानक हिंसा को वेद का समर्थन प्राप्त था। वेद में इन सब यज्ञों का विधान होने के कारण लोग हिंसा-जन्य इस पातक को पातक नहीं समझते थे, वरन धर्म समझकर करते थे। कोई भी पाप यदि पाप

समझकर किया जाता है तो वह उतना भयावह नहीं होता, जितना धर्म की ओट में धर्म के नाम पर—धर्मशास्त्र के विधान के आधार पर किया जाने वाला पाप भयावह होता है। यज्ञ करना शास्त्रविहित कर्त्तव्य समझा जाता था, अतएव उसकी भयंकरता जनता के खयाल में भी नहीं आती थी और विना किसी झिझक के-विना किसी संकोच के—हिंसा का दौर चल रहा था।

उस समय जो लोग धर्म के वास्तविक अहिंसात्मक स्वरूप के ज्ञाता थे, वे यज्ञ के विरुद्ध प्रचार अवश्य करते थे फिर भी याज्ञिक लोग 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' अर्थात् जिस हिंसा का विधान वेद में किया गया है, वह हिंसा, हिंसा ही नहीं है, हिंसा तो सिर्फ वही कहला सकती है जिसकी आज्ञा वेद नहीं देता। इस प्रकार.कह कर उस घोर हिंसा को अहिंसा का जामा पहनाने का प्रयत्न करते थे।

भोली-भाली जनता अन्ध-श्रद्धा के अतिरेक के कारण इस हिंसा के विरुद्ध खुल्लमखुल्ला विद्रोह नहीं करती थी। इसी कारण याज्ञिक लोग विना किसी झिझक के हिंसाकारी यज्ञों में लगे रहते थे। उन्होंने यज्ञ के संबंध में तरह-तरह के विधि-विधानों की कल्पना की थी। वे यहां तक कहने से नहीं चूकते थे—

औषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा।
यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः, प्राप्नुवन्त्युच्छ्रितं पुनः॥

अर्थात्:--औषधियां (घास आदि), पशु, वृक्ष, तिर्यञ्च और पक्षी, जो भी कोई प्राणी यज्ञ के लिए प्राण-त्याग करता है अर्थात् जिसकी यज्ञ में बलि दी जाती है वह स्वर्ग प्राप्त करता है।

श्रमण भगवान् महावीर ने इस हिंसाकारी यज्ञ के विरुद्ध जनता को उपदेश देकर वास्तविक धर्म की प्रतिष्ठा की। उन्होंने यज्ञ के भौतिक एवं भयंकर यज्ञ के बदले आध्यात्मिक यज्ञ की प्रतिष्ठा की। वह यज्ञ क्या है, यही सूत्रकार ने इस गाथा में बताया है। सूत्रकार कहते हैं—तप रूपी अग्नि में, कर्म रूपी समिधाएं झोंकना चाहिए। योग को कुड़छी बनाना चाहिए और शरीर को कंडा बनाना चाहिए। यही यज्ञ सच्चा यज्ञ है। लौकिक लाभों के लोलुप जो यज्ञ पशुओं को आग में होम कर के करते हैं, वह ऋषियों द्वारा प्रशंसित नहीं है। ऋषि तो इसी आध्यात्मिक यज्ञ की प्रशंसा करते हैं। इसी यज्ञ से, कर्मों का विनाश हो जाने के कारण आत्म-शुद्धि और परिणाम स्वरूप परम पद की प्राप्ति होती है। हिंसा करने से कभी सद्गति का लाभ नहीं हो सकता। हिंसा प्रत्येक अवस्था में हिंसा है। किसी भी शास्त्र का कोई वाक्य हिंसा को अहिंसा के रूप में नहीं पलट सकता।

भगवान् के उपदेश से जनता ने अहिंसा की महिमा समझी और उसका व्यापक प्रभाव हुआ। फल स्वरूप वैदिक धर्म में भी अहिंसात्मक यज्ञ की प्रतिष्ठा होने लगी और हिंसात्मक यज्ञ के प्रति लोगों की आस्था घट गई। वैदिक महर्षि व्यास ने कहा—

ध्यानाग्नौ जीवकुण्डस्थे, दममारुतदीपिते ।
असत्कर्मसमित्क्षेपैरग्निहोत्रं कुरूत्तमम् ॥
कषायपशुभिर्दुष्टैर्धर्मकामार्थनाशकैः ।
शममन्त्रहुतैर्यज्ञं, विधेहि विहितं बुधैः ॥
प्राणिघातात्तु यो धर्ममीहते मूढमानसः ।
स वाञ्छति सुधावृष्टिं कृष्णाहिमुखकोटरात् ॥

अर्थात्—ध्यान को अग्नि बनाओ । जीव को अग्नि का कुण्ड बनाओ । इन्द्रिय-दमन रूपी वायु से अग्नि को प्रदीप्त करो । फिर उसमें असत् कर्म रूपी समिधा डालकर श्रेष्ठ अग्निहोत्र (होम) करो ।

कषाय रूपी पशु अत्यन्त दुष्ट हैं । वे धर्म, अर्थ और काम के बाधक हैं । अतएव शान्ति रूपी मंत्रों का पाठ करके उन्हें आग में—तप की आग में—भस्म करो । विद्वानों के द्वारा इसी यज्ञ का विधान किया गया है । तात्पर्य यह है कि पशुओं को अग्नि में जलाना रूप यज्ञ बुद्धिमानों द्वारा विहित नहीं है ।

महर्षि व्यास, इतने से ही सन्तुष्ट न हो कर आगे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि पशु आदि प्राणियों की हिंसा करके जो मूढ़-मानस वाले मनुष्य धर्म की (पुण्य की) कामना करते हैं वे काले सांप के मुख से अमृत की वर्षा होने की कामना करते हैं । जैसे कृष्ण सर्प के मुख से अमृत नहीं निकल सकता, वरन् विष ही निकलता है, इसी प्रकार प्राणियों के घात से धर्म नहीं हो सकता बल्कि अधर्म ही होता है ।

यज्ञ-याग आदि क्रियाकांड के विषय में निर्ग्रन्थों का जो अभिप्राय है वह इस एक ही गाथा से स्पष्ट समझा जा सकता है । इससे जैन धर्म और वैदिक धर्म के क्रियाकांड विषयक मौलिक अन्तर की भी कल्पना आ सकती है ।

जो मुमुक्षु इस प्रकार का यज्ञ प्रतिदिन करते हैं, तपस्या के द्वारा कषायों को भस्म करते हैं या पाप कर्मों का होम करते हैं, वही आत्मा को सर्वथा विशुद्ध बनाकर परम पद के अधिकारी बनते हैं ।

यहां अहिंसा के उपदेशक के रूप में भगवान् महावीर का कथन इसलिए किया गया है कि वर्त्तमान में उन्हीं का शासन प्रचलित है और अब तक के काल में वही अंतिम तीर्थंकर हुए हैं । इससे यह नहीं समझना चाहिए कि अन्य तीर्थंकर अहिंसा का प्रतिपादन नहीं करते । पहले बतलाया जा चुका है कि समस्त तीर्थंकरों का उपदेश समान ही होता है । दो सर्वज्ञ एक विषय में परस्पर विरोधी कथन नहीं करते ।

मूलः—धम्मे हरए बंभे संतितित्थे,
अणाविले अत्तपसन्नलेस्से ।
जहिं सिणाओ विमलो विसुद्धो,
सुसीतिभूतो पजहामि दोसम् ॥ २४ ॥

छाया: - धर्मो ह्रदो ब्रह्म शान्तितीर्थं, अनाविल आत्मप्रसन्नलेश्यः।
यस्मिन् स्नातो विमलो विशुद्धः सुशीतिभूतः प्रजहामि दोषम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ:—मिथ्यात्व आदि के विकारों से रहित स्वच्छ, आत्मा के लिए प्रशंसनीय और अच्छी भावनाएं उत्पन्न करने वाले धर्मरूपी सरोवर और ब्रह्मचर्यरूपी शान्ति-तीर्थ है। जहां पर स्नान करके निर्मल और विशुद्ध होकर तथा शान्त-राग-द्वेष आदि से रहित-होकर मैं निर्दोष-शुद्ध बन जाता हूं।

भाष्य:—आत्म-शुद्धि के विषय में इतर मतावलम्बियों की धारणाओं में संशोधन करके वास्तविक आत्म-शुद्धि का स्वरूप प्रदर्शित करने के लिए सूत्रकार ने इस गाथा में आध्यात्मिक स्नान का वर्णन किया है।

लोक में प्रायः स्नान को आत्म-शुद्धि का कारण समझा जाता है। इसीलिए दूर-दूर देशों से यात्रा करके लोग जिस जलाशय को अपनी धारणा के अनुसार पवित्र समझते हैं उसमें स्नान करते हैं और स्नान करके आत्मा को पवित्र मानते हैं। कोई-कोई तो गंगा आदि नदियों में जीवित ही डूब मरते हैं और उसे जल-समाधि लेना कहते हैं। जो लोग जीवित अवस्था में जल-समाधि नहीं लेते, उनकी मृत्यु के अनन्तर उनके पुत्र-पौत्र आदि कुटुम्बीजन उनकी अस्थियां गंगा, यमुना आदि जलाशयों में डालते हैं। अस्थियों का जलाशय में डालना स्नान का ही एक रूप है और इससे यह समझा जाता है कि जिसकी अस्थियां पवित्र जलाशय में क्षेपण की जाती हैं उसकी आत्मा पवित्र हो जाती है! इस प्रकार की अनेक मिथ्या धारणाएं जगत् में फैल रही हैं। इन धारणाओं का निराकरण करना इस गाथा का उद्देश्य है और साथ ही यह बताना भी कि आत्म-शुद्धि के लिए किस प्रकार का स्नान उपयोगी और आवश्यक है। संक्षेप में इस विषय पर विचार किया जाता है।

आस्तिकों को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न वस्तुएं हैं। आत्मा अरूपी, अमूर्त्तिक और भूतों से भिन्न स्वतन्त्र अनन्त गुणात्मक सत्ता है और शरीर रूपी, मूर्त्तिक और भूतात्मक है। दोनों का स्वरूप भिन्न-भिन्न होने के कारण दोनों की अशुद्धि-मलीनता भी भिन्न-भिन्न प्रकार की है। आत्मा की मलीनता अज्ञान, कषाय आदि सूक्ष्म रूप और शरीर की मलीनता स्थूल मैल आदि रूप है। जब दोनों की मलीनता भिन्न-भिन्न रूप है तो शरीर को निर्मल बनाने से ही आत्मा निर्मल कैसे हो सकता है? जैसे कपड़ा धोने से शरीर नहीं धुलता, उसी प्रकार शरीर को धोने से आत्मा नहीं धुल सकता। शरीर को निर्मल बनाने से यदि आत्मा में भी निर्मलता का प्रादुर्भाव हो जाता तो संसार के सभी मनुष्य स्नान करते ही मुक्ति प्राप्त कर लेते। और मनुष्य ही क्यों, जल में निवास करने वाले मत्स्य आदि जलचर जीव भी आत्मिक विशुद्धता प्राप्त कर लेते। बल्कि जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त जल में ही निवास करने के कारण जलचर जीवों को, कभी-कभी स्नान करने वाले मनुष्यों की अपेक्षा भी अधिक उच्च पद की प्राप्ति होती। ऐसी अवस्था में ज्ञान, ध्यान, दान, संयम, तपस्या आदि आत्म-शोधक उपायों का

है। इसलिए धर्मरूपी सरोवर में प्रवेश करने के लिए 'शान्ति' तीर्थ की यात्रा करना चाहिए। कहा भी है—

कौटिल्ये बन्धभेदे च, तीर्थं शास्त्रावतारयोः।
पुण्यक्षेत्रमहापात्रोपायोपाध्यायदर्शने ॥

—विश्वलोचन कोश

तात्पर्य यह है कि जहां शान्ति है वहीं धर्म का वास होता है। इसलिए यहां धर्म-सरोवर को शान्ति रूप तीर्थ में होना कहा है।

महर्षि व्यास ने भी इसी प्रकार के स्नान का विधान किया है। वे कहते हैं—

ज्ञानपालीपरिक्षिप्ते, ब्रह्मचर्यदयाम्भसि।
स्नात्वाऽति विमले तीर्थे, पापपङ्कापहारिणि ॥

अर्थात् ज्ञान की पाल से चारों ओर घिरे हुए, निर्मल, पापरूपी कीचड़ को धो डालने वाले और ब्रह्मचर्य तथा दया रूपी पानी से भरे हुए तीर्थ में स्नान करना चाहिए।

यही आध्यात्मिक स्नान आत्म-शुद्धि का जनक है। यही संयमी पुरुषों के लिए उपादेय है।

निर्ग्रन्थ-प्रवचन-चतुर्थ अध्याय

समाप्त

❀ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ❀

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

॥ पांचवां अध्याय ॥

ज्ञान-प्रकरण
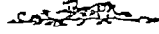
श्री भगवान् उवाच-

मूलः-तत्थ पंचविहं नाणं, सुअं आभिणिबोहियं।
ओहिनाणं च तइअं, मणनाणं च केवलं ॥ १ ॥

छायाः—तत्र पञ्चविधं ज्ञानं, श्रुतमाभिनिबोधिकम्।
अवधिज्ञानं च तृतीयं, मनोज्ञानं च केवलम् ॥ १ ॥

शब्दार्थः—ज्ञान पांच प्रकार का है—(१) श्रुतज्ञान (२) आभिनिबोधिकज्ञान (३) अवधिज्ञान (४) मनःपर्यायज्ञान और (५) केवलज्ञान।

भाष्यः—चतुर्थ अध्याय में आत्म-शुद्धि के उपायों का निरूपण किया गया है। उन निरूपित उपायों को समझ और व्यवहार में लाना ज्ञान पर निर्भर है। सम्यग्ज्ञान के बिना आत्म-शुद्धि के उपाय यथावत् न जाने जा सकते हैं और न उनका अनुष्ठान ही किया जा सकता है। अतः ज्ञान का निरूपण करना आवश्यक है। इस सम्बन्ध से प्राप्त ज्ञान का प्ररूपण इस पंचम अध्याय में किया जाता है।

जिसके द्वारा पदार्थ का स्वरूप जाना जाता है उसे ज्ञान कहते हैं। ज्ञान आत्मा का अनुजीवी गुण है। वह जीव का असाधारण धर्म है और प्रत्येक अवस्था में उसकी सत्ता विद्यमान रहती है। ज्ञान मूलतः एक ही गुण है और वह ज्ञानावरण कर्म से आच्छादित हो रहा है। परन्तु सूर्य बादलों से आच्छादित होने पर भी लोक में थोड़ा-बहुत प्रकाश अवश्य करता है, उसी प्रकार ज्ञान, ज्ञानावरण से आच्छादित होने पर भी थोड़ा-बहुत प्रकाश अवश्य करता है। हां, ज्ञानावरण कर्म का यदि प्रबल उदय होता है तो ज्ञान का प्रकाश कम होता है और यदि सूक्ष्म उदय होता है तो ज्ञान का प्रकाश अधिक होता है। जैसे सघनतर मेघपटल का आवरण होने से सूर्य कम प्रकाश करता है और विरल मेघ रूप आवरण होने से अधिक प्रकाश करता है। मेघों का सर्वथा अभाव होने से सूर्य अपने असली स्वरूप में उदित होता है और प्रचुर प्रकाश फैलाता है, उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म का सर्वथा अभाव होने पर ज्ञान संपूर्णरूपेण अभिव्यक्त होकर, जगत् के समस्त पदार्थों को अवभासित करने लगता है।

इस कथन से यह स्पष्ट हो गया कि प्रत्येक आत्मा में ज्ञान समान रूप से अनन्त है, किन्तु जीवों में जो ज्ञान संबंधी तारतम्य दृष्टिगोचर होता है उसका कारण ज्ञानावरण कर्म है। ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के कारण ही ज्ञान की अनेक अवस्थाएँ होती हैं। यह सब अवस्थाएं अनन्तानन्त हैं, फिर भी सुविधा पूर्वक समझने के लिए उन अवस्थाओं का वर्गीकरण करने पर मूल पांच वर्ग बनते हैं। इन्हीं पांच वर्गों का यहां सूत्रकार ने उल्लेख किया है । (१) श्रुतज्ञान (२) आभिनिबोधिकज्ञान (३) अवधिज्ञान (४) मनःपर्यायज्ञान और (५) केवल ज्ञान, ये ज्ञान के पांच भेद हैं।

यद्यपि यहां श्रुतज्ञान का प्रथम और आभिनिबोधिक अर्थात् मतिज्ञान का तदनन्तर कथन किया है, किन्तु नन्दी आदि सूत्रों में मतिज्ञान का उल्लेख सर्वप्रथम किया गया है। यहां श्रुतज्ञान को प्रधान मान कर आदि में उसका उल्लेख किया है, जब कि नन्दी आदि सूत्र-ग्रंथों में अन्य अपेक्षा से मतिज्ञान का आदि में उल्लेख पाया जाता है। चाहे मतिज्ञान का आदि में उल्लेख किया जाय, चाहे श्रुतज्ञान का, किन्तु दोनों का उल्लेख एक साथ ही सब स्थानों पर किया गया है। इसका कारण यह है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के स्वामी एक ही हैं। जिस जीव को मतिज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान अवश्य होता है और जिसे श्रुतज्ञान होता है उसे मतिज्ञान अवश्य होता है। इसके अतिरिक्त अनेक जीवों की अपेक्षा और एक जीव की अपेक्षा दोनों की स्थिति भी समान है। अनेक जीवों की अपेक्षा मति ज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों सर्वकाल रहते हैं और एक जीव की अपेक्षा छ्यासठ सागरोपम काल पर्यन्त दोनों ज्ञान निरन्तर होते हैं। इन दोनों ज्ञानों के इन्द्रिय और मन रूप कारण भी समान हैं–अर्थात् दोनों ही ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होते हैं। सभी द्रव्यों को मतिज्ञान और श्रुतज्ञान-दोनों जान सकते हैं, अतएव दोनों में विषय की समानता भी है। मतिज्ञान भी परोक्ष है और श्रुतज्ञान भी परोक्ष है। इस प्रकार परोक्षता की समानता भी दोनों में पाई जाती है। इस कारण सर्वत्र दोनों ज्ञानों का एक साथ उल्लेख पाया जाता है।

दोनों का एक साथ उल्लेख होने पर भी इन्हें आदि में कहने का क्या कारण है ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि मति-श्रुत ज्ञान के होने पर ही अवधि आदि ज्ञानों की प्राप्ति हो सकती है। इन दोनों ज्ञानों के अभाव में अवधि ज्ञान आदि की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव दोनों ज्ञानों को आदि में कहा है। इन दोनों में भी प्रायः मतिज्ञान का आदि में और श्रुतज्ञान का बाद में उल्लेख किया जाता है सो उत्पत्ति की अपेक्षा समझना चाहिए। अर्थात् पहले मति-ज्ञान की उत्पत्ति होती है और फिर श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त श्रुतज्ञान को एक प्रकार से मतिज्ञान का ही भेद स्वीकार किया गया है इसलिए भी मतिज्ञान का पूर्व-निर्देश पाया जाता है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के पश्चात् ही अवधिज्ञान का उल्लेख किया गया है। उसका कारण यह है कि अवधिज्ञान काल, विपर्यय, स्वामित्व और लाभ की दृष्टि से इन दोनों ज्ञानों से मिलता-जुलता है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का जो स्थितिकाल

(छयासठ सागरोपम) बतलाया है उतना ही स्थितिकाल अवधिज्ञान का होने के कारण काल की समानता है । सम्यक्त्वप्राप्ति से पहले जैसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान विपरीत (मिथ्याज्ञान) होते हैं उसी प्रकार मिथ्यात्व के उदय की अवस्था में अवधिज्ञान भी विपरीत होता है, इस प्रकार तीनों में विपर्यय रूप से समानता है । जो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का स्वामी होता है वही अवधिज्ञान का स्वामी हो सकता है, अतएव स्वामी संबंधी समानता है । सम्यक्त्व की उत्पत्ति होने पर तीनों ज्ञान अज्ञान रूप से पलट कर एक ही साथ ज्ञानरूपता का लाभ करते हैं, अतः लाभ की अपेक्षा भी तीनों ज्ञानों में साधर्म्य है। इन सब सदृशताओं के कारण श्रुतज्ञान और मतिज्ञान के पश्चात् अवधिज्ञान का उल्लेख किया गया है । अवधिज्ञान की मनःपर्यायज्ञान के साथ अनेक समानताएं हैं अतएव अवधिज्ञान के पश्चात् मनःपर्यायज्ञान का उल्लेख किया है । जैसे—अवधिज्ञान छद्मस्थों को होता है और मनःपर्यायज्ञान भी छद्मस्थों को होता है । अवधिज्ञान पुद्गल को विषय करता है और मनःपर्यायज्ञान भी पुद्गल को विषय करता है अतएव विषय की अपेक्षा भी दोनों में सादृश्य है । इसके अतिरिक्त दोनों ज्ञान, ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से ही उत्पन्न होते हैं इसलिए भी अवधिज्ञान के अनन्तर मनःपर्याय ज्ञान का उल्लेख किया गया है ।

केवलज्ञान अन्त में प्राप्त होता है इसलिए अन्त में उसका निर्देश किया गया है। इन पांचों ज्ञानों में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष हैं और शेष तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं।

जीव के द्वारा जो सुना जाता है उसे श्रुत कहते हैं । मतिज्ञान के पश्चात् जो विशेष ज्ञान शब्द के वाच्य-वाचक भाव की अपेक्षा रख कर होता है वह श्रुतज्ञान कहलाता है । वस्तुतः ज्ञान आत्मा से कथंचित् अभिन्न है अतएव आत्मा भावश्रुत रूप है, क्योंकि वह सुनता है.। जिसे सुना जाता है वह शब्द द्रव्य-श्रुत है । द्रव्य-श्रुत रूप शब्द यद्यपि पुद्गल रूप होने के कारण अचेतन है—अज्ञानमय है, इसलिए उसे ज्ञान नहीं कहा जा सकता, फिर भी वक्ता के द्वारा प्रयोग किया जाने वाला शब्द श्रोता के श्रुतज्ञान का कारण होता है और वक्ता का श्रुतोपयोग बोले जाने वाले शब्द का कारण होता है। अतएव श्रुतज्ञान के कारणभूत या कार्यभूत शब्द में श्रुत का उपचार किया जाता है । इससे यह स्पष्ट हो चुका कि शब्द परमार्थ से श्रुत नहीं है किन्तु उपचार से श्रुत कहलाता है । परमार्थ से श्रुत वह है जो सुनता है—अर्थात् आत्मा अथवा आत्मा का शब्द-विषयात्मक उपयोग रूप धर्म ।

पदार्थ के अभिमुख अर्थात् पदार्थ के होने पर ही होने वाला, निश्चयात्मक, इन्द्रिय और मन से उद्भूत ज्ञान अभिनिबोध ज्ञान या मतिज्ञान कहलाता है ।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों ही ज्ञान इन्द्रियों और मन से उत्पन्न होते हैं फिर भी दोनों में काफी अन्तर है । श्रुतज्ञान संकेत-विषयक परोपदेश रूप होता है अर्थात् संकेत कालीन शब्द का अनुसरण करके वाच्य-वाचक भाव संबंध से युक्त होकर 'घट-घट' इस प्रकार आन्तरिक शब्दोल्लेख सहित, इन्द्रिय और मनोजन्य ज्ञान श्रुत-

ज्ञान कहलाता है। यह श्रुतज्ञान शब्दोल्लेख के साथ उत्पन्न होता है अतएव अपने विषयभूत घट आदि पदार्थों के प्रतिपादक घट आदि शब्दों का जनक होता है और उसी से अर्थ की प्रतीति कराता है। मतिज्ञान में शब्दोल्लेख नहीं होता है।

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि श्रुतज्ञान का यहाँ जो लक्षण कहा गया है वह एकेन्द्रिय जीवों में नहीं पाया जा सकता है। इसका समाधान यह है कि-एकेन्द्रिय जीवों के द्रव्य श्रुत का अभाव होने पर भी सोते हुए साधु के समान भाव-श्रुत है। पृथ्वीकाय आदि जीवों को द्रव्य इन्द्रिय का अभाव होने पर भी सूक्ष्म भाव--इन्द्रिय का ज्ञान होता है इसी प्रकार द्रव्य श्रुत का अभाव होने पर भी उनके भाव श्रुत का सद्भाव है।

इस प्रकार मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का भेद यहाँ बतलाया गया है। उससे यह नहीं समझना चाहिये कि दोनों ज्ञान सर्वथा भिन्न ही हैं। क्योंकि एक प्रकार का विशिष्ट मतिज्ञान ही श्रुतज्ञान है। जैसे सूत और सूत से बनी हुई रस्सी में अत्यन्त भेद नहीं है उसी प्रकार मतिज्ञान से उत्पन्न होने वाला श्रुतज्ञान मतिज्ञान से सर्वथा भिन्न नहीं है। दोनों में कार्य-कारण भाव संबंध है और कार्य-कारण में सर्वथा भेद नहीं होता। जैसे सोना और सोने से बना हुआ कुंडल एकान्त भिन्न नहीं है, उसी प्रकार मतिज्ञान और मतिज्ञान-जन्य श्रुतज्ञान भी एकान्त भिन्न नहीं हैं।

आत्मा जब किसी वस्तु के जानने के लिए उन्मुख होता है तब सर्व-प्रथम उसे उस वस्तु के सामान्य धर्म अर्थात् सत्ता का प्रतिभास होता है। सत्ता या महा-सामान्य के प्रतिभास को दर्शनोपयोग कहा गया है। दर्शनोपयोग यद्यपि ज्ञान से भिन्न माना जाता है. क्योंकि उसमें विशेष का प्रतिभास नही होता, तथापि वह भी ज्ञान का ही आरंभिक रूप है और ज्ञान की सामान्य मात्रा उसमें भी पाई जाती है। दर्शन के अनन्तर आत्मा वस्तु के विशेष धर्मों को जानने योग्य बनता है। उस समय मतिज्ञान का आरंभ होता है। मतिज्ञान के, विकासक्रम के अनुसार चार मुख्य भेद माने गये हैं—(१) अवग्रह (२) ईहा (३) अवाय और (४) धारणा। दर्शन के अनन्तर अव्यक्त रूप से अर्थात् अवान्तर सामान्य रूप वस्तु को ग्रहण करने वाला ज्ञान अवग्रह कहलाता है। दर्शन भी सामान्य को ग्रहण करता है और अवग्रह ज्ञान भी सामान्य को ग्रहण करता है, फिर भी दोनों के विषयभूत सामान्य में भेद है। दर्शन सत्ता सामान्य (महासामान्य) को विषय करता है और अवग्रह मनुष्यत्व आदि अवान्तर सामान्य को जानता है। 'कुछ है' ऐसा ज्ञान दर्शन के द्वारा होता है। उसके अनन्तर जब ज्ञान का किञ्चित् विकास होता है तो 'मनुष्य है' ऐसा ज्ञान अवग्रह द्वारा होता है। अवग्रह ज्ञान के अनन्तर नियम से संशय होता है। वह 'यह मनुष्य दक्षिणी है या पश्चिमी है' इस प्रकार से उत्पन्न होता है। इस संशय का निवारण करते हुए, ईहा ज्ञान की उत्पत्ति होती है! संशय में सद्भूत और असद्भूत-दोनों धर्म तुल्य कोटि के होते हैं। न तो सद्भूत धर्म का सद्भाव सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण होता है और न असद्भूत धर्म का अभाव सिद्ध करने वाला ही प्रमाण उस समय

मालूम होता है। ईहा ज्ञान सद्भूत धर्म को ग्रहण करने के लिए उन्मुख होता है और असद्भूत धर्म को त्याग करने के सन्मुख होता है। 'यह मनुष्य दक्षिणी होना चाहिए' इस प्रकार सद्भूत पदार्थ की ओर झुकता हुआ ज्ञान ईहा कहलाता है। ईहा के पश्चात् आत्मा की ग्रहण-शक्ति का पर्याप्त विकास हो जाता है, अतएव 'यह दक्षिणी ही है' इस प्रकार के निश्चयात्मक बोध की उत्पत्ति होती है, इसे अपाय या अवाय कहते हैं। अवाय के द्वारा पदार्थ को संस्कार या वासना के रूप में धारण कर लेना जिससे कि कालान्तर में उसकी स्मृति हो सके—धारणा ज्ञान कहलाता है।

मतिज्ञान के इन भेदों की उत्पत्ति इसी क्रम से होती है। दर्शन, अवग्रह, संशय, ईहा, अवाय और धारणा—यही ज्ञानोत्पत्ति का क्रम है। बिना दर्शन के अवग्रह नहीं हो सकता, बिना अवग्रह के संशय नहीं हो सकता, इसी प्रकार पूर्व-पूर्व के बिना उत्तरोत्तर ज्ञानों का प्रादुर्भाव होना संभव नहीं है। कभी-कभी हम अत्यन्त परिचित वस्तु को देखते हैं तो ऐसा ज्ञात पड़ता है, मानों दर्शन-अवग्रह आदि हुए बिना ही सीधा अवाय ज्ञान हो गया हो, क्योंकि देखते ही वस्तु का विशेष व्यवसाय हो जाता है, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता। अतिशय परिचित पदार्थ का निश्चय भी दर्शन-अवग्रह आदि के क्रम से ही होता है, पर शीघ्रता के कारण हमें क्रम का ज्ञान नहीं हो पाता। कमल के सौ पत्तों को, एक-दूसरे के ऊपर जमाकर कोई उसमें पूरी शक्ति के साथ यदि भाला घुसेड़े तो वह भाला इतना जल्दी पत्तों में घुस जायगा कि ऐसा मालूम होगा, मानों सब पत्ते एक साथ ही छिद गये हों। पर जरा सावधानी से विचार किया जाय तो मालूम होगा कि भाला सर्वप्रथम पहले पत्ते को छुआ, फिर उसमें घुसा और फिर उससे बाहर निकला। इसके बाद फिर इसी क्रमसे दूसरे, तीसरे आदि पत्तों को छेदता है। जब भाले जैसे स्थूल पदार्थ का व्यापार इस तेजी से होता है कि क्रम का भान ही नहीं हो पाता तो ज्ञान जैसी सूक्ष्म वस्तु का व्यापार उससे भी अधिक शीघ्रता से हो, इसमें क्या आश्चर्य है? अतएव क्रम चाहे प्रतीत हो चाहे न हो, पर सर्वत्र यही क्रम होता है, यह निश्चित है।

पूर्वोक्त अवग्रह ज्ञान दो प्रकार का है—(१) व्यञ्जनावग्रह और (२) अर्थावग्रह। जैसे दीपक के द्वारा घट प्रकट किया जाता है उसी प्रकार जिसके द्वारा अर्थ प्रकट किया जाय वह व्यञ्जन कहलाता है। वह उपकरणेन्द्रिय और शब्द आदि रूप परिणत द्रव्य का सम्बन्ध रूप है। तात्पर्य यह है कि इन्द्रिय और विषय का सम्बन्ध व्यंजन कहलाता है और उसमें ज्ञान की मात्रा अल्प होती है, अतएव वह अव्यक्त होता है। जैसे नवीन सिकोरे पर एक-दो पानी के बिन्दु डालने से वह आर्द्र नहीं होता, उसी प्रकार इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये जाने वाले पदार्थ एक-दो समय में व्यक्त नहीं होते, किन्तु बारम्बार ग्रहण करने से व्यक्त होते हैं। यहां व्यक्त अवग्रह से पहले जो अवग्रह होता है वह व्यंजनावग्रह है। व्यंजनावग्रह चक्षु और मन को छोड़कर, शेष चार इन्द्रियों द्वारा ही होता है, क्योंकि यही चार इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं। चक्षु और मन, पदार्थ का स्पर्श किये बिना ही पदार्थ को जानते हैं, जब कि

स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रियाँ, क्रमशः स्पर्श, रस, गंध और शब्द को स्पर्श करके ही जानती हैं। अतएव व्यञ्जन-अवग्रह के चार भेद होते हैं।

कोई-कोई लोग स्पर्शन आदि की भांति चक्षु को भी प्राप्यकारी मानते हैं, सो उचित नहीं है, चक्षु-इन्द्रिय यदि पदार्थ को स्पर्श करके पदार्थ को जाने तो अग्नि को जानते समय, अग्नि के साथ उसका स्पर्श होना स्वीकार करना पड़ेगा और ऐसी स्थिति में वह दग्ध क्यों न होगी ? इसी प्रकार काच की शीशी में स्थित वस्तु के साथ चक्षु का सम्बन्ध न हो सकने के कारण उसका ज्ञान न हो सकेगा। अतएव चक्षु को अप्राप्यकारी ही स्वीकार करना चाहिए। विस्तारभय से यहां इस विषय का विशेष विचार नहीं किया गया है।

इसी प्रकार मन भी अप्राप्यकारी है। जो लोग मन को प्राप्यकारी मानते हैं वे भाव मन को प्राप्यकारी कहेंगे या द्रव्य मन को ? अर्थात् भावमन पदार्थ के पास जाता है या द्रव्यमन ? भावमन चिन्तन-ज्ञान रूप है और चिन्तन ज्ञान जीव से अभिन्न होने के कारण जीव रूप ही है। जीव रूप भावमन शरीर में व्याप्त है। वह शरीर से बाहर नहीं निकल सकता, जैसे कि शरीर का रूप शरीर से बाहर नहीं निकल सकता। यदि यह कहा जाय कि द्रव्यमन विषय-देश में जाता है और विषय को स्पर्श करके उसे जानता है, सो यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं है। काययोग के अव-लम्बन से, जीव द्वारा ग्रहण किये हुए, चिन्तन को प्रवृत्त कराने वाले मनोवर्गणा के अन्तर्गत द्रव्यों का समूह द्रव्यमन कहलाता है। द्रव्यमन पुद्गल रूप होने के कारण जड़ है—अज्ञान रूप है। वह विषय-देश में जा करके भी विषय को ग्रहण नहीं कर सकता। अतएव उसे प्राप्यकारी मानना निरर्थक है। इस प्रकार मन भी अप्राप्यकारी सिद्ध होता है।

अव्यक्त शब्द आदि विषय को ग्रहण करने वाला अर्थावग्रह कहलाता है। यह अर्थावग्रह सिर्फ एक समय मात्र रहता है और अपेक्षा भेद से असंख्यात समय का भी होता है। अर्थावग्रह पांचों इन्द्रियों से तथा मन से होता है, अतएव उसके छह भेद होते हैं।

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा, बारह प्रकार के पदार्थों को ग्रहण करते हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) बहु-बहुत को (२) एक को (३) बहुत प्रकार के पदार्थ को (४) एक प्रकार के पदार्थ को (५) क्षिप्र-जिसका ज्ञान शीघ्र हो जाय (६) अक्षिप्र-जिसका ज्ञान देर से हो (७) अनिःसृत-जो पदार्थ पूरा बाहर न निकला हो (८) निः-सृत-जो पूरा निकला हो (९) उक्त-कथित (१०) अनुक्त-जिसका ज्ञान विना कहे अभि-प्राय से हो (११) ध्रुव निश्चल (१२) अध्रुव-अनिश्चल। इन बारह प्रकार के पदार्थों को विषय करने के कारण अवग्रह आदि चारों के बारह बारह भेद होकर अड़तालीस भेद मतिज्ञान के होते हैं। अड़तालीस प्रकार का यह मतिज्ञान पांचों-इन्द्रियों और मन से होता है अतएव छह से गुणा करने पर दो सौ अट्ठासी (२८८) भेद हो जाते हैं।

व्यञ्जनावग्रह, बारह प्रकार के पदार्थों का चार इन्द्रियों द्वारा होता है अतएव उसके अड़तालीस भेद होते हैं। इन अड़तालीस भेदों को पूर्वोक्त दो सौ अट्ठासी भेदों में सम्मिलित कर देने से कुल तीन सौ छत्तीस (३३६) भेद मतिज्ञान के निष्पन्न होते हैं।

औत्पत्तिकी बुद्धि, वैनयिकी बुद्धि, कर्मजा बुद्धि और पारिणामिकी बुद्धि भी मतिज्ञान रूप ही हैं। इन्हें उक्त भेदों में शामिल करने से तीन सौ चालीस भेद होते हैं। इन चारों बुद्धियों का स्वरूप और उनके उदाहरण अन्यत्र देखने चाहिए। ग्रन्थ-विस्तार के भय से उनका यहां विवेचन नहीं किया जाता।

यहां यह बता देना आवश्यक है कि श्रोत्रेन्द्रिय बारह योजन दूर से आये हुए शब्द को और स्पर्शन, रसना तथा घ्राण इन्द्रियां नव योजन दूर से आये हुए प्राप्त अर्थ को ग्रहण कर सकती हैं। इससे अधिक दूरी से आये हुए विषय को ये इन्द्रियां ग्रहण नहीं कर सकती, क्योंकि अधिक दूरी के कारण द्रव्यों का परिणमन मन्द हो जाता है और इन्द्रियों में उन्हें ग्रहण करने की शक्ति नहीं होती। चक्षु-इन्द्रिय एक लाख योजन दूर तक के रूप को देख सकती है। आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा आविष्कृत दूरवीक्षण यन्त्र (दुरबीन) की सहायता से जितनी दूर के पदार्थ नेत्र द्वारा देखे जाते हैं, उनसे भी अधिक दूरवर्त्ती पदार्थों को देखने का सामर्थ्य नेत्रों में है, यह बात इस से स्पष्ट हो जाती है।

श्रुतज्ञान के विस्तार की अपेक्षा अनन्त भेद हैं। उन सब का कथन करना सम्भव नहीं है। अतएव संक्षेप की अपेक्षा उसके अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य—दो भेद बतलाये गये हैं और मध्यम विवक्षा से चौदह भेद कहे गये हैं।

तीर्थंकर भगवान् द्वारा उपदिष्ट द्वादश अंग रूप श्रुत को अंग प्रविष्ट श्रुत कहते हैं। उसके बारह भेद इस प्रकार हैं:—(१) आचारांग (२) सूत्रकृतांग (३) स्थानांग (४) समवायांग (५) व्याख्याप्रज्ञप्ति (६) ज्ञातृधर्मकथांग (७) उपासकदशांग (८) अन्तकृतदशांग (९) अनुत्तरौपपातिकदशांग (१०) प्रश्नव्याकरण (११) विपाक (१२) दृष्टिवाद। श्रमण भगवान् महावीर के पवित्र उपदेश इस द्वादशाङ्गी में संकलन किये गये थे। इन अंगों का अधिकांश भाग विच्छिन्न हो गया है और बारहवां दृष्टिवाद पूरा का पूरा विस्मृति के उदर में समा गया। इसी पवित्र श्रुत को अंगप्रविष्ट श्रुत कहते हैं। शब्दात्मक श्रुत पौद्गलिक होने से ज्ञान रूप नहीं है किन्तु ज्ञान का कारण होने से वह श्रुत कहलाता है। इसी प्रकार द्वादशाङ्गी के आधार से निर्मित्त, आचार्य-विरचित दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि श्रुत अंगबाह्य श्रुत कहलाता है। जो अंगबाह्य श्रुत, अंगप्रविष्ट से विरुद्ध नहीं होता वही प्रमाण होता है। अंगबाह्य श्रुत अनेक प्रकार है।

श्रुतज्ञान के चौदह भेद इस प्रकार हैं—(१) अक्षरश्रुत (२) अनक्षरश्रुत (३) संज्ञिश्रुत (४) असंज्ञिश्रुत (५) सम्यक्श्रुत (६) मिथ्याश्रुत (७) सादिश्रुत (८) अनादिश्रुत (९) सपर्यवसितश्रुत (१०) अपर्यवसितश्रुत (११) गमिकश्रुत (१२) अगमिकश्रुत

(१३) अंगप्रविष्टश्रुत (१४) अंगबाह्यश्रुत।

(१) अक्षरश्रुत—अनुपयोग अवस्था में भी जो चलित नहीं होता वह अक्षर कहलाता है। अक्षर तीन प्रकार के हैं—(१) संज्ञाक्षर (२) व्यंजनाक्षर और (३) लब्धि-अक्षर।

हंसलिपि, भूतलिपि, उड्डीलिपि, यवनीलिपि, तुरकीलिपि, कीरीलिपि, द्राविड़ी लिपि, मालवीलिपि, नटीलिपि, नागरीलिपि, लाटलिपि, पारसीलिपि, अनिमित्तलिपि, चाणक्यलिपि, मूलदेवीलिपि, आदि-आदि लिपियों में लिखे जाने वाले अक्षर संज्ञाक्षर कहलाते हैं। मुख से बोले जाने वाले अ, आ, क, ख, आदि अक्षर व्यंजन-अक्षर कहलाते हैं। इन्द्रिय या मन के द्वारा उपलब्ध होने वाले अक्षर लब्धि-अक्षर कहलाते हैं। यह अक्षर अथवा इनसे होने वाला श्रुतज्ञान अक्षर-श्रुत कहलाता है।

(२) अनक्षरश्रुत—उच्छ्वास, निःश्वास, थूंकना, खांसना, छींकना, सूंघना, चुटकी बजाना, इत्यादि अनक्षरश्रुत कहलाता है। क्योंकि विशिष्ट संकेत पूर्वक जब यह चेष्टाएं की जाती हैं तो दूसरे को इन चेष्टाओं से चेष्टा करने वाले का अभिप्राय विदित हो जाता है। यह सब पूर्व कथनानुसार उपचार से ही श्रुतज्ञान कहलाता है।

(३) संज्ञि-श्रुत-विशिष्ट संज्ञा वाला जीव संज्ञी कहलाता है। संज्ञी जीव के श्रुत को संज्ञीश्रुत कहते हैं।

(४) असंज्ञिश्रुत—असंज्ञी अर्थात् अत्यल्प संज्ञा वाले जीव असंज्ञी कहलाते हैं। उनका श्रुत असंज्ञीश्रुत कहलाता है।

(५) सम्यक्श्रुत—सम्यक्त्वपूर्वक जो श्रुत होता है अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव को जो श्रुतज्ञान होता है वह सम्यक्श्रुत कहलाता है।

(६) मिथ्याश्रुत—मिथ्यादृष्टि जीवों का श्रुत मिथ्याश्रुत है।

(७) सादिश्रुत—जिस श्रुत की आदि होती है वह सादिश्रुत है।

(८) अनादिश्रुत—जिस श्रुत की आदि नहीं होती वह अनादिश्रुत है।

द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा द्वादशांगी रूप श्रुत नित्य होने के कारण अनादि और साथ ही अनन्त है। क्योंकि जिन जीवों ने यह श्रुत पढ़ा है या जो पढ़ते हैं अथवा पढ़ेंगे, वे अनादि अनन्त हैं और उनसे अभिन्न-पर्यायरूप होने के कारण श्रुत भी अनादि-अनन्त है। पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से यह श्रुत सादि और सान्त है, क्योंकि वह पर्याय रूप है और पर्याय सादि होती है और सान्त होती है।

(९-१०) सपर्यवसित-अपर्यवसित श्रुत—जिसका अन्त हो वह सपर्यवसित श्रुत और जिसका अन्त न हो वह अपर्यवसित श्रुत कहलाता है। इनका स्पष्टीकरण ऊपर किया जा चुका है।

(११) गमिक श्रुत—जिसमें भंगों की तथा गणित आदि की बहुलता होती है अथवा जिसमें प्रयोजनवश समान पाठ होते हैं वह गमिक श्रुत कहलाता है।

(१२) अगमिकश्रुत—गाथा, श्लोक आदि रूप विसदृश पाठ वाला श्रुत अगमिक श्रुत कहलाता है।

(१३-१४) अंगप्रविष्ट-अंगबाह्यश्रुत-दोनों का कथन पहले किया जा चुका है।

बिना इन्द्रिय और मन की सहायता से, मर्यादापूर्वक, रूपी पदार्थों को स्पष्ट जानने वाला ज्ञान अवधिज्ञान कहलाता है। अवधिज्ञान के विभिन्न अपेक्षाओं से कई प्रकार से भेद होते हैं। संक्षेप से निमित्त की अपेक्षा उसके दो भेद हैं—(१) भवप्रत्यय अवधि और (२) क्षयोपशम प्रत्यय अवधि। जैसे पक्षियों का आकाशगमन भव-हेतुक है उसी प्रकार देव और नारकी जीवों को, भवके निमित्त से होने वाला अवधिज्ञान भवप्रत्यय अवधि कहलाता है। देव-नारकी के अतिरिक्त अन्य जीवों को क्षयोपशम निमित्तक होता है।

यद्यपि अवधिज्ञान क्षायोपशमिक भाव है अतएव देवों और नारकियों को भी बिना क्षयोपशम के अवधिज्ञान होना संभव नहीं है, फिर भी उनके अवधि को भवहेतुक कहने का आशय यह है कि देव भव और नारकी भव का निमित्त पाकर अवधिज्ञान का क्षयोपशम अवश्यमेव हो जाता है, इसी कारण उनका ज्ञान भवप्रत्यय कहलाता है। मनुष्य भव और तिर्यञ्च भव में जो अवधिज्ञान होता है वह भव का निमित्त पाकर नहीं होता है। यही कारण है कि सब देवों और नारकियों को तो अवधिज्ञान होता है पर सब मनुष्यों और तिर्यञ्चों को नहीं होता।

अवधिज्ञान के छह भेद उसके स्वरूप की अपेक्षा होते हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) अनुगामी (२) अननुगामी (३) वर्द्धमान (४) हीयमान (५) अवस्थित (६) अनवस्थित।

(१) अनुगामी—जो अवधिज्ञान, अवधिज्ञानी के साथ एक स्थल से दूसरे स्थल पर जाने पर साथ जाता है, जैसे सूर्य का प्रकाश सूर्य के साथ जाता है।

(२) अननुगामी—जो अवधिज्ञान, एक स्थल पर उत्पन्न होकर अवधिज्ञानी के साथ अन्यत्र नहीं जाता, जैसे वचन।

(३) वर्द्धमान – बांसों की रगड़ से उत्पन्न होने वाली अग्नि सूखा ईंधन अधिक-अधिक मिलने से जैसे क्रमशः बढ़ती जाती है, उसी प्रकार जो अवधिज्ञान जितने परिमाण में उत्पन्न हुआ था, वह परिमाण सम्यग्दर्शन आदि गुणों की विशुद्धि की वृद्धि का निमित्त पाकर उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है।

(४) हीयमान—ईंधन की कमी से जैसे अग्नि उत्तरोत्तर कम होती जाती है उसी प्रकार जो अवधिज्ञान सम्यग्दर्शन आदि गुणों की हानि के कारण उत्तरोत्तर कम होता जाता है।

(५) अवस्थित—जो अवधिज्ञान जितने परिमाण में उत्पन्न होता है उतने ही परिमाण में आजीवन या केवलज्ञान की उत्पत्ति होने तक बना रहता है अर्थात् न बढ़ता है न घटता है, वह अवस्थित कहलाता है।

(६) अनवस्थित—जो अवधिज्ञान कभी बढ़ जाता है, कभी घट जाता है, स्थिर-एक ही परिमाण वाला नहीं रहता वह अनवस्थित कहलाता है। जैसे—जल की लहरें तीव्र वायु के निमित्त से वृद्धि को प्राप्त होती हैं और मन्द वायु के संयोग से हानि को प्राप्त होती हैं।

उत्कृष्ट अवधिज्ञान (परमावधि) क्षेत्र की अपेक्षा लोक के बराबर अलोक के असंख्यात खंड, काल की अपेक्षा असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी, द्रव्य से समस्त रूपी द्रव्य और भाव से असंख्यात पर्याय, जानता है। जघन्य अवधिज्ञान, तीन समय पर्यन्त आहार करने वाले सूक्ष्म पनक (वनस्पति-विशेष) जीव के जघन्य शरीर का जितना परिमाण होता है, उतने ही क्षेत्र को जानता है। इस ज्ञान के मध्यम भेद असंख्यात हैं, और उन सब का वर्णन करना शक्य नहीं है।

संज्ञी जीवों द्वारा मन में सोचे हुए अर्थ को जानने वाला ज्ञान मनःपर्याय ज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान मनुष्यक्षेत्र प्रमाण विषय वाला है। गुणप्रत्यय है। विविध ऋद्धियों के धारक, वर्धमान चारित्र वाले, अप्रमत्त संयमी मुनिराजों को ही इसकी प्राप्ति होती है।

मनुष्य क्षेत्र में संज्ञी जीवों द्वारा काय योग से ग्रहण करके मनोयोग रूप परिणत किये हुए मनोद्रव्यों को मनःपर्याय ज्ञानी जानता है। भाव से द्रव्य मन की समस्त पर्याय-राशि के अनन्तवें भाग रूपादि अनन्त पर्यायें जो चिन्तनानुगत हैं, उन्हें जानता है। काल से पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण अतीत अनागत काल तक जानता है। भावमन की पर्यायों को मनः-पर्याय ज्ञान नहीं जानता, क्योंकि भाव मन अरूपी है-अमूर्त्त है और अमूर्त्त पदार्थ को छद्मस्थ नहीं जान सकता। साथ ही चिन्तनीय घट आदि पदार्थों को भी साक्षात् नहीं जानता है, किन्तु अनुमान से जानता है। मन की पर्याय अथवा आकृतियों से बाह्य पदार्थ का अनुमान होता है।

मनःपर्याय ज्ञान दो प्रकार का होता है—ऋजुमति और विपुलमति मनः-पर्याय। ऋजुमति केवलज्ञान की उत्पत्ति से पहले भी नष्ट हो जाता है और कम विशुद्धि वाला होता है। विपुलमति अप्रतिपाती होता है—केवलज्ञान की उत्पत्ति पर्यन्त स्थिर रहता है और अधिक विशुद्ध भी होता है।

जैसे अन्य ज्ञानों से पहले सामान्य को विषय करने वाला दर्शन होता है, वैसे मनःपर्याय से पूर्व दर्शन नहीं होता।

त्रिलोक और त्रिकालवर्त्ती समस्त द्रव्यों और पर्यायों को, युगपत् प्रत्यक्ष जानने वाला ज्ञान केवलज्ञान कहलाता है। केवलज्ञान की प्राप्ति होने पर आत्मा सर्वज्ञ हो जाता है। जगत का सूक्ष्म या स्थूल कोई भी भाव केवलज्ञानी से अज्ञात नहीं रहता। जैसे क्षायोपशमिक मति, श्रुत आदि ज्ञानों के अनेक विकल्प, क्षयोपशम के तारतम्य के अनुसार होते हैं, वैसे कोई भी भेद केवलज्ञान में संभव नहीं हैं। क्योंकि यह ज्ञान क्षायिक है और क्षय में तरतमता नहीं हो सकती। यद्यपि नंदी आदि सूत्रों में केवल

ज्ञान के भेद बताये ... [illegible] ... अपेक्षा नहीं किन्तु ज्ञानी की अपेक्षा से
कहे गये हैं। कोई कोई आधुनिक पण्डितमन्य लोग इन भेदों के आधार पर केवल ज्ञान के विषय में न्यूनाधिकता की कल्पना करके सर्वज्ञ को असर्वज्ञ सिद्ध करने का प्रयास करते हैं किन्तु वह निराधार और युक्ति से विरुद्ध है। वास्तव में ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। वह स्वभाव, ज्ञान को आच्छादित करने वाले ज्ञानावरण कर्म के द्वारा आच्छिन्न हो रहा है, फिर भी वह समूल नष्ट नहीं होता। एकेन्द्रिय जीवों में भी उस की कुछ न कुछ सत्ता बनी ही रहती है। जब आत्मा विकास की ओर अग्रसर होता है तब ज्ञानावरण कर्म शिथिल होता जाता है और जितने अंशों में ज्ञानावरण शिथिल होता है उतने अंशों में ज्ञान प्रकट होता चलता है। इस प्रकार जब आत्मा पूर्ण विकास की सीमा पर जा पहुंचता है तब ज्ञान भी परिपूर्ण रूप में प्रकाशमान हो जाता है। उस समय अज्ञान का अंश नहीं रह सकता।

अज्ञान, विकारमूलक अतएव औपाधिक है। विकारों का विनाश हो जाने पर भी यदि अज्ञान का सर्वथा विनाश न हो तो अज्ञान विकारमूलक न होकर आत्मा का स्वभाव ही सिद्ध होगा। अतएव जो लोग आत्मा का स्वभाव अज्ञान नहीं मानते उन्हें उसका अत्यन्त विनाश स्वीकार करना पड़ेगा और अज्ञान का पूर्ण विनाश हो जाना ही सर्वज्ञ-अवस्था है। इस प्रकार युक्ति से सर्वज्ञता सिद्ध होती है। सर्वज्ञ-सिद्धि के लिए विशेष जिज्ञासुओं को न्याय-शास्त्र का अवलोकन करना चाहिये।

उल्लिखित पांच ज्ञानों में से, एक आत्मा को, एक ही साथ अधिक से अधिक चार ज्ञान होते है हैं। केवलज्ञान अकेला होता है। जब केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है तो शेष चार क्षायोपशमिक ज्ञानों का सद्भाव नहीं रहता, क्योंकि वे क्षयोपशम-जन्य हैं और अपूर्व हैं।

ज्ञान की उत्पत्ति यद्यपि ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से या क्षय से होती है किन्तु उसमें सम्यक्पन या मिथ्यापन मोहनीय कर्म के निमित्त से आता है तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व मोहनीय के संसर्ग से ज्ञान-कुज्ञान-मिथ्याज्ञान या अज्ञान बन जाता है। जैसे दूध स्वभावतः मधुर होने पर भी कटुक तूंबे के संसर्ग से कटुक हो जाता है उसी प्रकार मिथ्यात्व की संगति से ज्ञान मिथ्याज्ञान बन जाता है। पांच ज्ञानों में से सिर्फ मतिज्ञान श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ही मिथ्यादृष्टि जीवों को होते हैं। अतएव इन्हीं तीन ज्ञानों के कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और कुअवधि या विभंगज्ञान रूप होते हैं। मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान सम्यग्दृष्टियों को ही होते हैं इनके मिथ्या रूप नहीं होते।

उपर्युक्त तीन मिथ्याज्ञानों को अज्ञान कहते हैं। अज्ञान का अर्थ यहां 'ज्ञान का अभाव' नहीं है किन्तु कुत्सित अर्थ में नञ् समास होने के कारण 'कुत्सित ज्ञान' ऐसा अर्थ होता है।

मूल:—अह सव्वदव्वपरिणामभावविण्णत्तिकारणमणंतं ।
सासयमप्पडिवाई एगविहं केवलं नाणं ॥ २ ॥

छाया:—अथ सर्वद्रव्यपरिणामभावविज्ञप्तिकारणमनन्तम् ।
शाश्वतमप्रतिपाति च एकविधं केवलं ज्ञानम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ:- केवलज्ञान समस्त द्रव्यों को, पर्यायों को और गुणों को जानने का कारण है. अनन्त है, शाश्वत है, अप्रतिपाती है और एक ही प्रकार का है।

भाष्य:—पांचों ज्ञानों में केवलज्ञान सर्व-श्रेष्ठ है। मुक्ति में वही विद्यमान रहता है और जीवन्मुक्त अवस्था में उसी से प्रमेय पदार्थों को जान कर सर्वज्ञ भगवान् वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। वही आगम का मूल है। अतएव सूत्रकार ने उसका पृथक् स्वरूप निरूपण किया है।

केवलज्ञान अकेला ही रहता है, अन्य किसी ज्ञान के साथ उसका सद्भाव नहीं पाया जाता, अतएव उसे 'केवल' (अकेला) ज्ञान कहा गया है। अथवा केवल का अर्थ 'असहाय' अर्थात् 'विना किसी की सहायता से उत्पन्न होने वाला' ऐसा भी होता है। यह ज्ञान अन्य-निरपेक्ष होता है अतः इसे 'केवल' कहते हैं। संस्कृत भाषा के अनुसार केवल शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'यदर्थमर्थिनो मार्गं केवन्ते-सेवन्ते तत् केवलम्' अर्थात् अर्थीजन जिसे प्राप्त करने के लिए संयम-मार्ग का सेवन करते हैं वह केवलज्ञान कहलाता है।

केवलज्ञान समस्त द्रव्यों को, समस्त पर्यायों को और समस्त भावों अर्थात् गुणों को जानने में कारण है। अनन्त ज्ञेय इसके विषय हैं अतः यह ज्ञान भी अनन्त है। काल की अपेक्षा शाश्वत है और एक बार उत्पन्न होने पर फिर कभी उसका विनाश नहीं होता अतएव वह अप्रतिपाती भी है। केवलज्ञान विषय की अपेक्षा से एक प्रकार का ही है, क्योंकि उसमें न्यूनाधिकता नहीं होती। आवरण के क्षयोपशम की न्यूनाधिकता से ज्ञान में न्यूनाधिकता होती है। केवलज्ञान आवरण के सर्वथा क्षय होने पर आविर्भूत होता है इस कारण उसमें न्यूनाधिकता का संभव नहीं है। केवल-ज्ञान का कुछ वर्णन पहली गाथा में किया जा चुका है, अतएव यहां नहीं दुहराया जाता।

मूल:—एयं पंचविहं नाणं दव्वाण य गुणाण य ।
पज्जवाणं च सव्वेसिं, नाणं नाणीहि देसियं ॥ ३ ॥

छाया:—एतत् पञ्चविधं ज्ञानम्, द्रव्याणां च गुणानाञ्च ।
पर्यवाणाञ्च सर्वेषां, ज्ञानं ज्ञानिभिर्देशितम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ:—यह पांच प्रकार का ज्ञान सब द्रव्यों को, सब गुणों को और सब पर्यायों को जानता है, ऐसा ज्ञानियों ने कहा है।

भाष्य:— पांच ज्ञानों का निरूपण करने के पश्चात् सूत्रकार ने ज्ञानों के विषय का निरूपण किया है। ज्ञानों का विषय जगत्-वर्ती द्रव्य, पर्याय और गुण हैं। जगत् में जितने भी द्रव्य और उनके गुण-पर्याय हैं वे सब इन पांचों ज्ञानों के द्वारा गृहीत हो जाते हैं। किसी भी द्रव्य या गुण आदि को जानने के लिए इन पांच के अतिरिक्त छठे ज्ञान की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है। इस कथन से यह भी नियमित हो जाता है कि ज्ञान के द्वारा द्रव्य आदि सभी का ग्रहण अवश्य हो जाता है। ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो इन ज्ञानों से अज्ञात रह जाय अथवा जिसे यह ज्ञान जानने में समर्थ न हों। इस कथन से यह भी निश्चित हो जाता है कि ज्ञान, द्रव्य आदि बाह्य पदार्थों को अवश्य जानता है।

प्रथम सूचन से उन लोगों के मत का निरास किया गया है जो कि प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण रूप इन पांच ज्ञानों से भिन्न और भी ज्ञानों की कल्पना करते हैं।

द्वितीय सूचन से यह सूचित किया गया है कि पदार्थ में प्रमेयत्व धर्म है अर्थात् प्रत्येक पदार्थ में ज्ञान का विषय बनने की योग्यता है और ज्ञान में पदार्थों को विषय करने की योग्यता है।

तृतीय सूचन से उन लोगों का भ्रम निवारण किया गया है जो ज्ञान को बाह्य पदार्थों का ज्ञाता नहीं मानते। इस भ्रम में ग्रस्त कुछ लोग कहते हैं कि बाह्य पदार्थ— ज्ञान से भिन्न दूसरा कोई भी पदार्थ—है ही नहीं, और कोई कहते हैं कि यह जगत् शून्य रूप है। न तो ज्ञान ही सत् है, न ज्ञान से मालूम होने वाले घट पट आदि पदार्थ ही सत् हैं। हमें घट आदि का जो ज्ञान होता है वह भ्रम मात्र है और अनादि-कालीन कुसंस्कारों के कारण ऐसा प्रतिभास होता है। संक्षेप से इन मतों पर विचार किया जाता है।

शून्यवादी लोग कहते हैं—अगर बाह्य पदार्थ का अस्तित्व स्वीकार किया जाय तो उसे परमाणु रूप मानना चाहिए या स्थूल रूप मानना चाहिए? अगर यह कहा जाय कि बाह्य पदार्थ वस्तुतः परमाणु रूप है तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि पर-माणुओं का ज्ञान हमें प्रत्यक्ष से होता है या अनुमान से होता है? प्रत्यक्ष से परमा-णुओं का ज्ञान होना तो अनुभव से विरुद्ध है, क्योंकि हमें परमाणु का ज्ञान स्वप्न में भी कभी नहीं होता। 'यह घट है' 'यह पट है' ऐसा ज्ञान हमें होता है पर 'यह पर-माणु है' 'मैं इस परमाणु को देखता-जानता हूँ' ऐसा प्रतिभास कभी किसी को नहीं होता है। इसलिए परमाणु रूप पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान मानना ठीक नहीं है। अगर अनुमान प्रमाण से परमाणु का ज्ञान होना माना जाय तब भी बाधा आती है। अनुमान प्रमाण तभी होता है जब व्याप्ति या अविनाभाव का निश्चय हो चुका हो। एक अबोध बालक धुंआ देख कर अग्नि का अनुमान नहीं कर सकता। किन्तु जो मनुष्य उनके अविनाभाव का ज्ञाता है अर्थात् जिसे यह पता है कि 'धुंआ अग्नि के होने पर ही हो सकता है, अग्नि के अभाव में धुंआ नहीं हो सकता' वही मनुष्य धूम्र को देख कर अग्नि का अनुमान कर सकता है। अतएव अनुमान करने के लिए

अविनाभाव का ज्ञान होना आवश्यक है और अविनाभाव का ज्ञान धूम्र और अग्नि को बारम्बार एक साथ देखने से तथा अग्नि के अभाव में धूम्र का भी अभाव देखने से हुआ करता है। परमाणु को अनुमान से जानने के लिए भी परमाणु के साथ किसी अन्य पदार्थ के अविनाभाव का निश्चय करना होगा। और यह अविनाभाव निश्चित करने के लिए परमाणु को और उसके अविनाभावी उस पदार्थ को बार-बार एक साथ देखना पड़ेगा। पर यह पहले ही बताया जा चुका है कि हम कभी परमाणु को देख ही नहीं सकते। अतएव परमाणु को न देख सकने के कारण अविनाभाव निश्चित नहीं हो सकता और अविनाभाव के निश्चय के विना परमाणु का अनुमान नहीं किया जा सकता। ऐसी अवस्था में अनुमान से परमाणु का ज्ञान होना संभव नहीं है।

अगर यह माना जाय कि परमाणु रूप बाह्य पदार्थ नहीं है किन्तु स्थूल रूप पदार्थ है, सो भी ठीक नहीं प्रतीत होता। स्थूल पदार्थ अनेक परमाणुओं के संयोग से ही बनता है और जब परमाणु ही नहीं सिद्ध होते तो उनके समुदाय से स्थूल पदार्थ का बनना किस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है? अतः विचार करने पर यही प्रतीत होता है कि जगत् में हमें जो पदार्थ मालूम होते हैं, वह सब भ्रम ही है।

जैसे बाह्य पदार्थों का अस्तित्व नहीं है उसी प्रकार ज्ञान का भी अस्तित्व नहीं है। पदार्थों को जानने के लिए ही ज्ञान की आवश्यकता होती है और जब पदार्थ ही नहीं है तब ज्ञान किस लिए माना जाय? इस प्रकार न ज्ञेय है, न ज्ञान है। यह जगत् शून्यमय है—कुछ भी नहीं है।

यह शून्यवादी का अभिप्राय है। इस पर विचार करने के लिए शून्यवादी से यह पूछना चाहिए कि-भाई! तुम जो कहते हो वह प्रमाण-युक्त है या प्रमाण रहित है? अगर तुम्हारा कथन प्रमाण रहित है तब तो वह स्वतः अमान्य ठहरता है, क्योंकि कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य अप्रामाणिक-प्रमाणहीन बात स्वीकार नहीं कर सकता। अगर तुम अपने मत को प्रमाण से सिद्ध मानते हो तो, प्रमाण को स्वीकार करना होगा। अगर प्रमाण को स्वीकार करते हो तो तुम्हारे शून्यवाद की धज्जियां उड़ जाएगी। क्योंकि तुम प्रमाण को स्वीकार करते हो और साथ ही शून्यवाद को स्वीकार करते हो, यह परस्पर विरोधी बात है। इसलिए शून्यवाद को अंगीकार करना तर्क से सर्वथा असंगत है।

पदार्थ तो अणु रूप भी है, स्थूल रूप भी है और आत्मा, आकाश आदि पदार्थ ऐसे भी हैं जो न अणु रूप हैं और न स्थूल रूप ही हैं। आपका यह कथन सही नहीं है कि स्थूल पदार्थ परमाणुओं के संयोग से ही बनता है, क्योंकि स्थूल से भी स्थूल की उत्पत्ति होती है, जैसे सूत से कपड़ा बनता है, आटे से रोटी बनती है। अतएव स्थूल पदार्थ का इस आधार पर निषेध नहीं किया जा सकता। और जब स्थूल पदार्थ का निषेध नहीं हो सकता तो उससे परमाणु का भी अनुमान किया जा सकता है। अतः सूत्रकार ने यह ठीक ही कहा है कि ज्ञान द्रव्य आदि को जानता है।

ज्ञान का अस्तित्व मानते हुए भी बाह्य पदार्थों का अस्तित्व न मानने वाले लोगों

की मान्यता भी उपयुक्त कथन से बाधित हो जाती है। बाह्य पदार्थों का वास्तव में अस्तित्व न होता और उनका मालूम होना भ्रम ही होता तो सभी मनुष्यों को, यहां तक कि पशु-पक्षियों तक को एक सा ही भ्रम क्यों होता? उदाहरण के लिए जल को लीजिए। जल वास्तवमें जल नहीं है, फिर भी वह एक व्यक्ति को जल मालूम होता है, तो दूसरे को भी उसी में जल का भ्रम क्यों होता है? सभी मनुष्य उसी तरल वस्तु को जल क्यों समझते हैं? पशु-पक्षी भी उसी को जल मानकर प्यास से व्याकुल होकर क्यों उसकी ओर दौड़ते आते हैं? कोई तेल को जल क्यों नहीं समझ लेता? बालुका में जल का भ्रम क्यों किसी को नहीं होता? इसके अतिरिक्त अगर जल वस्तुतः जल नहीं है, तो उसके पीने से तृषा की शान्ति क्यों हो जाती है? भोजन वास्तव में भोजन नहीं है और बालू भी भोजन नहीं है, तो एक के खाने से क्षुधा की निवृत्ति क्यों होती है और दूसरे के खाने से क्यों नहीं होती? विष-भक्षण से मृत्यु हो जाती है और औषधि-भक्षण से मृत्यु रुक जाती है, इस विभिन्नता का क्या कारण है? शून्यवादी या बाह्य पदार्थों को भ्रम-निर्मूल कल्पना समझने वालों के मत के अनुसार सभी प्रतीत होने वाले पदार्थ कुछ नहीं हैं तो इन सब विचित्रताओं का और लोकप्रसिद्ध व्यवहारों का क्या कारण है? वस्तुतः पदार्थ का सद्भाव है और भिन्न-भिन्न पदार्थों में भिन्न भिन्न प्रकार की शक्तियां विद्यमान हैं। उन विभिन्न शक्तियों का प्रभाव भिन्न-भिन्न होता है और उसका हमें सदैव अनुभव होता है। इस लिए यह स्वीकार करना ही युक्ति-संगत है कि ज्ञान का अस्तित्व है और उस ज्ञान से प्रतीत होने वाले द्रव्यों का, गुणों का और पर्यायों का भी अस्तित्व है।

पांच प्रकार का ज्ञान सभी द्रव्यों को, गुणों को और पर्यायों को जानता है, इस कथन का तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिए कि प्रत्येक ज्ञान सब को ग्रहण करता है। क्योंकि मति-श्रुतज्ञान सब द्रव्यों को जानते हैं पर सब पर्यायों को नहीं जानते। अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान सिर्फ रूपी द्रव्यों को ही जानते हैं। सूत्रकार का आशय यह है कि इन पांच ज्ञानों के विषय से अतिरिक्त और कोई विषय नहीं है।

द्रव्य, गुण और पर्याय के स्वरूप का विवेचन पहले किया जा चुका है अतएव यहां नहीं किया जाता।

ज्ञान आत्मा का गुण है और सूत्रकार के कथनानुसार सभी गुण ज्ञान के द्वारा जाने जाते हैं, इससे यह भी सिद्ध होता है कि ज्ञान स्वयं भी ज्ञान के द्वारा जाना जाता है। जैसे दीपक अन्य पदार्थों को प्रकाशित करने के साथ अपने आप को भी प्रकाशित करता है उसी प्रकार ज्ञान अपने आप को और अन्य बाह्य पदार्थों को प्रकाशित करता है। जो ज्ञान अपने स्वरूप को न जाने वह बाह्य पदार्थों को भी नहीं जान सकता। कल्पना कीजिए हमें सामने खड़े हुए घोड़े का ज्ञान तो हो जाय पर ज्ञान का ज्ञान न हो अर्थात् यह मालूम न हो कि हम घोड़े को जान रहे हैं, तो वास्तव में हमें घोड़े का बोध होना संभव नहीं है। अतएव इस कथन से भट्ट मतानुयायियों का तथा नैयायिकों का मत भी खंडित हो जाता है।

मूलः—पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए।
अन्नाणी किं काही, किंवा नाहीइ छेयपावगं ॥४॥

छाया:—प्रथमं ज्ञानं ततो दया, एवं तिष्ठति सर्वसंयतः।
अज्ञानी किं करिष्यति, किंवा ज्ञास्यति श्रेयः (छेक) पापकम् ॥४॥

शब्दार्थः—पहले ज्ञान, फिर आचरण, इसी प्रकार सब संयमी व्यवहार करते हैं। अज्ञानी क्या करेगा ? यह पाप-पुण्य को क्या समझेगा ?

भाष्य:— ज्ञान-स्वरूप के निरूपण के पश्चात् सूत्रकार यहां ज्ञान की महत्ता का दिग्दर्शन कराते हैं।

सब संयमी पुरुष पहले संयम के विषयभूत पदार्थों का सम्यग्ज्ञान प्राप्त करते हैं, और सम्यग्ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् ही दया अर्थात् संयम का यथावत् आचरण करते हैं। जिसे जीव आदि प्रयोजन भूत तत्वों का ज्ञान नहीं है अथवा यथार्थ सम्यग्ज्ञान नहीं है वह जीव-रक्षा रूप संयम का आचरण नहीं कर सकता। जिसे सत् और असत् का विवेक ज्ञान नहीं है— जो आस्रव और संवर के स्वरूप का ज्ञाता नहीं है वह आस्रव के कारणों का परित्याग करके संवर से संवृत नहीं बन सकता। अतएव निर्दोष संयम का पालन करने के लिए पहले प्रयोजनभूत सम्यग्ज्ञान की अनिवार्य आवश्यकता है।

प्रयोजनभूत ज्ञान कहने का आशय यह है कि जगत् के पदार्थों का प्रयोजन-शून्य ज्ञान न होने पर भी संयम-पालन में कोई त्रुटि नहीं हो सकती। किस प्रकार के रासायनिक सम्मिश्रण से कौन-सी वस्तु उत्पन्न हो जाती है, किस यंत्र में कितने पुर्जे होते हैं और उनका किस प्रकार संयोग करने से पूर्ण यंत्र बन जाता है ? इत्यादि ज्ञान मुमुक्षु पुरुषों के लिए प्रयोजनभूत नहीं है। यहां ऐसे ज्ञान की महत्ता का प्रतिपादन नहीं किया गया है। मुमुक्षु प्राणी के लिए तो यह ज्ञान होना चाहिए कि आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है ? वह अपने स्वरूप से च्युत क्यों हो रहा है ? किन उपायों से वह अपने असली स्वरूप की प्राप्ति कर सकता है ? जीव क्या है ? उसकी रक्षा किस प्रकार के व्यवहार से हो सकती है ? इत्यादि। इन सब बातों को विना जाने, लौकिक ज्ञान चाहे जितना हो, कार्यकारी नहीं होता। वह एक प्रकार का भार ही है। उस से आत्म-कल्याण में सहायता नहीं मिलती।

इसके विपरीत प्रयोजनभूत ज्ञान के विना संयम का अनुष्ठान ही नहीं हो सकता। शास्त्र में कहा है:—

"गोयमा! जस्स णं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं पच्चक्खायमिति वदमाणस्स णो एवं अभिसमण्णागयं भवति—इमे जीवा, इमे अजीवा, इमे तसा, इमे थावरा, तस्स णं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं पच्चक्खायमिति वदमाणस्स नो सुपच्चक्खायं भवति, दुपच्चक्खायं भवति। एवं खलु से दुपच्चक्खाई सव्वपाणेहिं जाव

सव्वसत्तेहिं पच्चक्खायमिति वदमाणे नो सच्चं भासं भासइ, मोसं भासं भासइ। एवं खलु से मुसावाई सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं तिविहं तिविहेणं असंजयविरय-पडिहय पच्चक्खायपावकम्मे सकिरिए, असंवुडे, एगंतदंडे, एगंतवाले यावि भवति।"

अर्थात् 'हे गौतम! सब प्राणों में यावत् सब सत्त्वों में प्रत्याख्यान किया है' ऐसा बोलने वाले को अगर यह ज्ञान नहीं होता कि—यह जीव हैं, यह अजीव हैं, यह त्रस हैं, यह स्थावर हैं तो उसका प्रत्याख्यान, सुप्रत्याख्यान नहीं होता, दुष्प्रत्याख्यान होता है। इस प्रकार वह दुष्प्रत्याख्यानी 'सब प्राणों में यावत् सब सत्त्वों में प्रत्याख्यान किया है' ऐसा बोलने वाला सत्य भाषा नहीं बोलता, मिथ्या भाषा बोलता है। इस प्रकार वह मृषावादी, सब प्राणों में यावत् सब सत्त्वों में तीन करण तीन योग से असंयत, विरतिरहित, पाप कर्म का त्याग न करने वाला, क्रियासहित-कर्मबंधयुक्त संवररहित, एकान्त हिंसा करने वाला और एकान्त अज्ञ होता है।

—भगवती सूत्र, श० ७ उ० २

श्री भगवती सूत्र के कथन के अनुसार भी यही सिद्ध होता है कि जब तक जीव-अजीव आदि तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान नहीं होता तब तक संयम की स्थिति नहीं होती। यही नहीं, अज्ञानी यदि संयम पालने का दावा करता है तो वह मिथ्याभाषी है, संयमहीन है, एकान्त हिंसक है और एकान्त बाल है।

जिस रोगी को या चिकित्सक को रोग का स्वरूप नहीं मालूम है, उसके निदान का पता नहीं है, रोगी की प्रकृति (स्वभाव) का भान नहीं है, और रोग को उपशांत करने के उपायों का ज्ञान नहीं है, वह रोग को दूर नहीं कर सकता। इसी प्रकार भव-रोग का स्वरूप, भव-रोग का निदान, भव-रोग से मुक्त होने के उपाय, को जो सम्यक् प्रकार से नहीं समझता है वह संसार की बीमारी से छूटकर आध्यात्मिक स्वस्थता नहीं प्राप्त कर सकता। कहा भी है—

आत्माज्ञानभवं दुःखं, आत्मज्ञानेन हन्यते।
तपसाऽप्यात्मविज्ञानहीनैश्छेत्तुं न शक्यते॥

आत्मा के यथार्थ स्वरूप को न जानने से जो दुःख उत्पन्न हुआ है वह आत्मा-ज्ञान से ही विनष्ट किया जा सकता है। आत्मा के ज्ञान से रहित पुरुष तपस्या के द्वारा भी दुःख का विनाश नहीं कर सकते हैं। क्योंकि आत्म-ज्ञानहीन तप का फल अल्प होता है। कहा भी है--

जं अन्नाणी कम्मं खवेइ बहुआहिं वासकोडीहिं।
तं नाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ ऊसासमेत्तेण॥

अर्थात् अज्ञानी जीव करोड़ों वर्षों में जितने कर्म खपाता है, उतने कर्म मन वचन काय से संवृत्त ज्ञानीजन एक उच्छ्वास जितने समय में ही खपा डालता है।

अतएव आत्मकल्याण की कामना करने वाले भव्य जीवों को प्रथम ज्ञान की—प्रयोजनभूत आत्मज्ञान की—आराधना करनी चाहिए। यह ज्ञान ही संयमरूपी वृक्ष

का मूल है। जैसे विना मूल के वृत्त नहीं रहता उसी प्रकार ज्ञान के विना संयम नहीं रह सकता।

यहां मूल गाथा में 'दया' शब्द उपलक्षण है। उससे समस्त चारित्र अर्थात् संयम का ग्रहण करना चाहिए।

मूलः—सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं।
उभयं पि जाणई सोच्चा, जं छेयं तं समायरे॥ ५॥

छायाः—श्रुत्वा जानाति कल्याणं, श्रुत्वा जानाति पापकम्।
उभयमपि जानाति श्रुत्वा, यच्छ्रेयस्तत् समाचरेत्॥ ५॥

शब्दार्थ—(पुरुष) सुन कर कल्याण को जानता है, सुन कर पाप को जानता है, सुन करके ही कल्याण-अकल्याण-दोनों को जानता है। जो कल्याणकारी हो उसका आचरण करना चाहिए।

भाष्यः—आत्म-ज्ञान का महत्त्व बताने के पश्चात् उसकी प्राप्ति के उपाय का कथन करना आवश्यक है, अतएव सूत्रकार ने यहां यह बताया है कि उस ज्ञान की प्राप्ति का उपाय क्या है?

श्रुत्वा का अर्थ है—सिद्धान्त को गुरु महाराज से सुनकर। तात्पर्य यह है कि सिद्धान्त को श्रवण करने से श्रुतज्ञान की प्राप्ति होती है और श्रुतज्ञान से पाप-पुण्य-शुभ-अशुभ का विवेक अर्थात् विज्ञान की प्राप्ति हो जाने से पाप का प्रत्याख्यान होता है और संयम का आचरण किया जा सकता है। भगवती सूत्र में कहा है—

'से णं भंते! सवणे किं फले? णाणफले। सेणं भंते! णाणे किंफले? विन्नाण-फले। से णं भंते! विन्नाणे किंफले! पच्चक्खाणफले। से णं भंते! पच्चक्खाणे किंफले? संजमफले।' यहां श्रवण का फल ज्ञान, ज्ञान का फल विज्ञान (हेयोपादेय का विवेक), विज्ञान का फल प्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान का फल संयम बताया गया है।

श्रवण करने के लिए आठ गुणों की आवश्यकता होती है। जो इन गुणों से रहित होते हैं उन्हें श्रवण का परिपूर्ण फल प्राप्त नहीं होता।

आगमसत्थग्गहणं जं बुद्धिगुणेहिं अट्ठहिं दिट्ठं।
वेंति सुयनाणलाभं, तं पुव्वविसारया धीरा॥
सुस्सूसइ पडिपुच्छइ, सुणेइ गिण्हइ य ईहए यावि।
तत्तो अपोहती य, धारेइ करेइ य सम्मं॥

बुद्धि के आठ गुणों से आगम-शास्त्र का ग्रहण कहा गया है। जो इन गुणों सहित श्रवण करते हैं उन्हीं को श्रुतज्ञान का लाभ होता है, ऐसा पूर्वों के वेत्ता कहते हैं। बुद्धि के आठ गुण इस प्रकार हैं—(१) विनयपूर्वक गुरु—मुख से श्रवण करने की इच्छा करे (२) पूछे अर्थात् श्रवण किये हुए श्रुत में संदेह का निवारण करे (३) पठित

श्रुत को अर्थ-सहित सुने (४) सुनकर उसे अवग्रह से ग्रहण करे (५) अवग्रहीत करके ईहा से विचार करे (६) विचार करके अपनी बुद्धि से भी उत्प्रेक्षा करे (७) तदनन्तर उसकी धारणा करे अर्थात् श्रुत को चित्त में धारण कर रक्खे (८) अन्त में शास्त्र में निरूपित जो श्रेयस्कर अनुष्ठान है उसे व्यवहार में लावे।

इस क्रम के साथ जो श्रुत का श्रवण किया जाता है वह शीघ्र ही फलदायक होता है। अविनय, अनवधान या उपेक्षा के साथ श्रवण करने से श्रुतज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। अतएव प्रत्येक श्रोता-शिष्य को इन विशेषताओं के साथ ही सिद्धान्त का श्रवण करना चाहिए।

दूसरे स्थल पर श्रोता के इक्कीस गुणों का उल्लेख भी मिलता है। वे गुण भी शिष्य-वर्ग को ध्यान में रखने योग्य हैं, अतएव उनका यहां उल्लेख मात्र किया जाता है—श्रोता (१) धार्मिक रुचि वाला हो (२) संसार से भयभीत हो (३) सुख का अभिलाषी हो (४) बुद्धिशाली हो (५) मननशील हो (६) धारणा शक्ति वाला हो (७) हेयोपादेय का ज्ञाता हो (८) निश्चय व्यवहार का जानकार हो (९) विनीत हो(१०) दृढ़ श्रद्धालु हो (११) अवसर कुशल हो (१२) निर्विचिकित्सी-श्रवण के फल में सन्देह करने वाला न हो (१३) जिज्ञासु हो-शास्त्र-श्रवण को भार न समझकर आन्तरिक उत्कंठा से तत्वज्ञान का अभिलाषी हो (१४) रस-ग्राही-उत्सुकतापूर्वक श्रवण का लाभ उठाने वाला हो (१५) लौकिक सुख-भोग में अनासक्त हो (१६) परलोक के स्वर्ग आदि सम्बन्धी सुखों की आकांक्षा न करे (१७ सुखदाता-गुरु-अध्यापक की सेवा करने वाला हो (१८) प्रसन्नकारी-गुरु को अपने व्यवहार से प्रसन्न करने वाला हो (१९) निर्णयकारी सुने हुए सिद्धान्त की आलोचना-प्रत्यालोचना करके अर्थ का निश्चय करे (२०) प्रकाश-गृहीत श्रुतज्ञान को दूसरों के सामने प्रकट करे-उसका व्याख्यान करे (२१) गुणग्राहक-गुणों का विशेषतः गुरु के गुणों का ग्राहक हो।

श्रोता इन गुणों से युक्त होता है तो वह अपने गुरु के हृदय में शीघ्र ही अपना स्थान बना लेता है। वह उनका स्नेह सम्पादन करने में समर्थ होता है और गूढ़ से गूढ़ ज्ञान की उपलब्धि करके विशिष्ट श्रुतज्ञानशाली बन जाता है। उसकी बुद्धि का विकास भी इनसे होता है। अतएव शिष्यों को-सिद्धान्त श्रवण करने वालों को इन गुणों का सम्पादन करना अतीव उपयोगी ओर कार्यसाधक है।

इन गुणों से सुसंस्कृत हृदय बना कर शास्त्र-श्रवण करने वाले पाप का, श्रेयस् का, और उभय का ज्ञान संपादन करते हैं। तत्पश्चात् श्रेयस्कर कार्य में प्रवृत्ति करके अनुत्तर आत्महित को प्राप्त करते हैं। अतएव सिद्धान्त-श्रवण करना प्रत्येक का परम कर्त्तव्य है।

'उभयंपि जाणइ सोच्चा' इस वाक्य में 'उभयं' पद से ऐसे व्यापार का ग्रहण किया गया है, जिससे पाप और पुण्य दोनों का बन्ध होता है। जिस व्यापार से एकान्त संवर और निर्जरा होनी है वही साधुओं का कर्त्तव्य होता है। श्रावक उभयात्मक क्रिया भी करते हैं—जिससे अल्पतर पाप और बहुतर पुण्य की प्राप्ति

होती है। उसी को यहां ' उभयं ' पद से ग्रहण किया गया है।

मूलः—जहा सूई ससुत्ता पडिया वि ण विणस्सइ।
तहा जीवो ससुत्ते, संसारे न विणस्सइ ॥ ६ ॥

छायाः—यथा सूची ससूत्रा, पतिताऽपि न विनश्यति।
तथा जीवः ससूत्रः संसारे न विनश्यति ॥ ६ ॥

शब्दार्थः—जैसे ससूत्र-धागा सहित सुई गिर जाने पर भी विनष्ट नहीं होती-नहीं गुमती, इसी प्रकार ससूत्र-श्रुतज्ञान सहित जीव संसार में विनष्ट नहीं होना—कष्ट नहीं पाता है।

भाष्यः—श्रुतज्ञान की प्राप्ति के उपायों का निर्देश करके सूत्रकार ने यहां श्रुत-ज्ञान का प्रभाव प्रदर्शित किया है और इहलोक में भी श्रुतज्ञान की उपयोगिता दिखलाई है।

श्रुतज्ञान का फल परम्परा से मुक्ति प्राप्त करना है किन्तु इस लोक में भी उसकी अत्यन्त उपयोगिता है। सूत्र (सूत-डोरा) से युक्त सुई सभी गिर जाय तो भी वह सदा के लिए गुम नहीं जाती—किन्तु डोरा के संयोग से पुनः प्राप्त हो जाती है उसी प्रकार जो मनुष्य श्रुतज्ञान से युक्त होता है वह संसार में रहता हुआ भी दुःखों से मुक्तप्राय हो जाता है।

शंका—आगम में सब संसारी जीवों को श्रुतज्ञानवान् बतलाया है अतएव किसी को भी संसार में रहते हुए दुःख नहीं होना चाहिए।

समाधान—जैसे ' यह पुरुष धनवान् है ' ऐसा कहने से विशेष धन वाला अर्थ समझा जाता है, उसी प्रकार ससूत्र कहने से यहां विशिष्ट श्रुतज्ञानवान् से तात्पर्य है। अर्थात् जिसे विशिष्ट श्रुतज्ञान की प्राप्ति हो गई है वह दुःख नहीं पाता। श्रुतज्ञान की कुछ मात्रा तो समस्त छद्मस्थ जीवों में होती है पर विशिष्ट श्रुत का सद्भाव सब में नहीं होता। इसलिए सब जीव दुःख से नहीं बच पाते।

संसार में सब से अधिक दुःख इष्टवियोग और अनिष्टसंयोग से उत्पन्न हैं। इन्हीं दो कारणों में प्रायः अन्य कारणों का समावेश हो जाता है। ज्ञानीजन इष्ट वियोग और अनिष्टसंयोग की अवस्था में व्याकुल, क्षुब्ध और संतप्त नहीं होता। जिसे अज्ञानीजन दुःख का पर्वत समझकर उसका भार वहन करने में अपने को असमर्थ पाता है, ज्ञानीजन उसे वस्तुओं का स्वाभाविक परिणमन समझकर मध्यस्थ भाव का अवलम्बन करता है। अज्ञानी जीव इष्टवियोग और अनिष्टसंयोग रूप दुःखों की उत्तुंग तरंगों में इधर-उधर बहता हुआ अस्थिर रहता है, ज्ञानीजन उन तरंगों में चट्टान की तरह निश्चल बना रहता है। पुत्र-कलत्र आदि इष्ट जनों के वियोग से अज्ञानी जीव आर्त्तध्यान के वशवर्त्ती होकर घोर दुःख का अनुभव करता है परन्तु सिद्धान्तवेत्ता ज्ञानी पुरुष उसे कर्मों की क्रीड़ा समझकर साम्यभाव का आश्रय लेता

है—वरन् संसार से विरक्त होकर राग के बन्धन को अधिकाधिक काटने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार धन, सम्पत्ति, राज्य, वैभव आदि पदार्थों का वियोग होने पर भी वह दुःख का अनुभव नहीं करता है। वह विचारता है कि संसार के समस्त संयोग विनश्वर हैं, शोक करने से उनका विनाश रुक नहीं सकता। अतएव उनके लिए शोक करने से लाभ ही क्या है ? संसार में—

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च।
प्रतिजन्मनि वर्त्तन्ते कस्य माता पिताऽपिवा ॥

अर्थात् हजारों माता-पिता हो चुके हैं, सैकड़ों पुत्र और कलत्र बन चुके हैं। यह तो प्रत्येक जन्म में होते रहते हैं। वास्तव में कौन किसकी माता है ? कौन किसका पिता है ? तथा—

रिद्धी सहावतरला, रोगजराभंगुरं हयसरीरं।
दोण्हं पि गमणसीलाण, कियच्चिरं होज्ज संबंधो ? ॥

अर्थात् ऋद्धि स्वभाव से चंचल है। यह गया-बीता शरीर रोग और जरा के कारण नाशशील है। जब धन-सम्पदा और शरीर दोनों ही विनश्वर हैं तो दोनों का संबंध कितने काल तक रह सकता है ?

इस प्रकार की विचारधारा में अवगाहन करने वाले ज्ञानी को दुःखों का संताप तनिक भी संतप्त नहीं कर पाता। वह विकट से विकट समझे जाने वाले प्रसंगों पर भी शान्त, विरक्त, साम्यभावी और धैर्य सहित बना रहता है। कर्मों के फल की विचित्रता का विचार करके दुःखों को परास्त कर देता है। ज्ञान रूपी महामहिम यंत्र में दुःखों को ढाल कर वह सुख रूप परिणत कर सकता है। इसीलिए शास्त्रकार ने कहा है कि श्रुतज्ञानी पुरुष संसार में रहता हुआ भी दुःख नहीं उठाता। ज्ञानी पुरुष की अनासक्ति ही उसकी रक्षा करने वाले कवच का काम देती है। उसका साम्यभाव ही उसकी ढाल है, जिससे दुःख का क्रूर से क्रूर प्रहार भी उसके सामने वृथा बन जाता है। ज्ञान सुख-प्राप्ति की सर्वश्रेष्ठ कला है। ज्ञान सुख के अक्षय कोष की कुञ्जी है। ज्ञान मुक्ति का द्वार है। ज्ञान शिव का सोपान है। 'ज्ञानं न किं किं कुरुते नराणाम्' अर्थात् ज्ञान से मनुष्यों का सभी अभीष्ट सिद्ध हो जाता है। अतएव हे भव्य जीवो ! ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रबल पुरुषार्थ करो। निरन्तर अप्रमत्त भाव से ज्ञान की आराधना करो। ऐसा करने से कल्याण तुम्हारे सन्मुख आजायगा। दुःख पास भी नहीं फटक सकेंगे। ज्ञान की दिव्य ज्योति पाकर तुम अपने असली रूप को देख पाओगे।

मूलः—जावंतऽविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा।
लुप्पंति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणंतए ॥ ७ ॥

छायाः—यावन्तोऽविद्याः पुरुषाः सर्वे ते दुःखसम्भवाः।
लुप्यन्ते बहुशो मूढाः, संसारे अनन्तके ॥ ७ ॥

शब्दार्थ:—जितने अज्ञानी पुरुष हैं वे सब दुःखों के पात्र हैं। इसीसे वे मूढ़ पुरुष अनन्त संसार में कष्ट भोग रहे हैं।

भाष्य:—सम्यग्ज्ञान के प्रभाव की प्ररूपणा के अनन्तर उसके अभाव का दुष्परिणाम बताने के लिए सूत्रकार कहते हैं—जो पुरुष अविद्य अर्थात् सम्यग्ज्ञान से रहित हैं वे सब नाना प्रकार के दुःखों के भाजन होते हैं और उन्हें अनन्त संसार में भ्रमण करना पड़ता है।

पहले सम्यग्ज्ञान का महत्त्व बतलाते हुए यह कहा गया है कि ज्ञानी पुरुष इष्ट-वियोग अनिष्ट संयोग में समभाव रखता है अतएव वह दुःख का वेदन नहीं करता। इसके विपरीत अज्ञानी पुरुष इष्टवियोग आदि प्रतिकूल अवसर आने पर अत्यन्त शोक और संताप करके इस जन्म में दुःखी होता है और आर्त्तध्यान से निकाचित पापकर्मों का बन्ध करके परलोक में भी दुःख का पात्र बनता है। इसी प्रकार इष्ट-संयोग आदि अनुकूल प्रसंगों पर हर्ष और अभिमान आदि के वश होकर पाप कर्मों का उपार्जन करता है और उनका फल दुःख रूप होता है। इतना ही नहीं, अज्ञानी पुरुष, अपने अज्ञान के कारण जो संयम का अनुष्ठान करता है वह संयम भी उसके संसार-भ्रमण का ही कारण होता है। अतएव सूत्रकार ने अज्ञान का फल दुःख एवं संसार-भ्रमण बतलाया है। अज्ञान की निवृत्ति सम्यक्त्व की प्राप्ति से होती है अत-एव भव्य जीवों को सम्यक्त्व ग्रहण करना चाहिए। तदनन्तर पूर्वोक्त श्रोता के गुणों से युक्त होकर श्रुतज्ञान का लाभ करके ज्ञान की वृद्धि करनी चाहिए।

मूलः—इहमेगे उ मण्णंति, अप्पच्चक्खाय पावगं।
आयरियं विदित्ताणं सव्वदुक्खा विमुच्चइ ॥ ८ ॥

छाया:—इहैके तु मन्यन्ते अप्रत्याख्याय पापकम्।
आचारिकं विदित्वा, सर्वदुःखेभ्यो विमुच्यते ॥ ८ ॥

शब्दार्थ:—यहां कोई-कोई ऐसा मानते हैं कि पाप का प्रत्याख्यान न करके भी चारित्र को जान कर ही समस्त दुःखों से मुक्त हो सकते हैं।

भाष्य:—जो लोग दुःखों से मुक्त होने के लिए ज्ञान को ही पर्याप्त मानते हैं और चारित्र की आवश्यकता नहीं समझते, उनके मत का दिग्दर्शन यहां कराया गया है। पहले ज्ञान का जो माहात्म्य बताया गया है उसमें विशेषता द्योतित करने के लिए यहां 'तु' अव्यय का प्रयोग किया गया है।

संसार में मोहनीय कर्म के उदय से अनेक प्रकार के एकान्त प्रचलित हैं। उनमें ज्ञानैकान्त और क्रियैकान्त भी हैं। कोई-कोई लोग एकान्त रूप से ज्ञान को ही मुक्ति का कारण मानते हैं और कोई एकान्त क्रिया को ही मोक्ष का हेतु स्वीकार करते हैं। पञ्चमाङ्ग व्याख्याप्रज्ञप्ति में कहा है—

अन्नउत्थिया णं भंते! एवं आइक्खंति, जाव परूवेंति—एवं खलु (१) सीलं

सेयं, (२) सुयं सेयं, (३) सीलं सेयं सुयं सेयं। 'से कहमेयं भंते! एवं? गोयमा! जे णं ते अन्नउत्थिया एवं आइक्खंति जाव ते एवं आहंसु, मिच्छा ते एवं आहंसु, अहं पुण गोयमा! एवं आइक्खामि जाव परूवेमि—एवं खलु मए चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता, तंजहा -(१) सीलसंपण्णे नामं एगे णो सुयसंपण्णे (२) सुयसंपन्ने नामं एगे णो सीलसंपन्ने (३) एगे सीलसंपन्ने वि सुयसंपन्ने वि (४) एगे णो सीलसंपन्ने णो सुयसंपन्ने। तत्थ णं जे से पढमे पुरिसजाए से णं पुरिसे सीलवं असुयवं, उवरए अविन्नायधम्मे, एस णं गोयमा! मए पुरिसे देसाराहए पन्नत्ते। तत्थ णं जे से दोच्चे पुरिसजाए से णं पुरिसे असीलवं सुयवं अणुवरए विन्नायधम्मे एस णं गोयमा! मए पुरिसे देसविराहए पन्नत्ते। तत्थ णं जे से तच्चे पुरिसजाए से णं पुरिसे सीलवं सुयवं उवरए विन्नायधम्मे, एस णं गोयमा! मए पुरिसे सव्वाराहए पन्नत्ते। तत्थ णं जे से चउत्थे पुरिसजाए से णं पुरिसे असीलवं असुयवं अणुवरए अविण्णायधम्मे, एस णं गोयमा! मए पुरिसे सव्वविराहए पन्नत्ते।"

अर्थात्—गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं—"भगवन्! अन्य मतावलम्बी ऐसा कहते हैं कि (१) शील ही श्रेय है, (२) कोई कहते हैं कि ज्ञान ही श्रेय है और (३) कोई कहते हैं परस्पर निरपेक्ष शील और ज्ञान ही श्रेय है। भगवन्! क्या यह सत्य है?"

भगवान् उत्तर देते हैं—"हे गौतम! उनका यह कथन मिथ्या है। हे गौतम! मैं ऐसा कहता हूं—पुरुष चार प्रकार के होते हैं—(१) कोई शील संपन्न होते हैं (२) कोई ज्ञान संपन्न होते हैं (३) कोई शील और ज्ञान दोनों से संपन्न होते हैं (४) कोई न शील संपन्न होते हैं और न ज्ञान संपन्न होते हैं। इनमें पहला पुरुष शीलवान् है परन्तु श्रुतवान् नहीं है, वह पाप से निवृत्त है पर धर्म को नहीं जानता वह देश-(अंशतः) आराधक है। दूसरा पुरुष शीलवान् नहीं है, श्रुतवान् है, वह अनुपरत है पर धर्म को जानता है वह अंशतः विराधक है। तीसरा पुरुष शील और श्रुत दोनों से संपन्न है, पाप से उपरत है और धर्म को जानता है वह पूर्ण आराधक है। चौथा पुरुष न शीलयुक्त है न ज्ञानयुक्त है, वह पाप से निवृत्त भी नहीं है और धर्म को जानता भी नहीं है। वह पुरुष पूर्ण विराधक है, ऐसा मैंने कहा है।"

शास्त्र के इस प्रश्नोत्तर से स्पष्ट है कि ज्ञान और चारित्र-दोनों से युक्त पुरुष ही पूर्ण रूप से आराधक हो सकता है और पूर्ण आराधक हुए विना मुक्ति लाभ नहीं होता अतएव मुमुक्षु पुरुषों को ज्ञान और क्रिया-दोनों की आराधना करनी चाहिए। दोनों की आराधना के विना मुक्ति की प्राप्ति होना संभव नहीं है। तथापि अनेक लोग अकेले ज्ञान को ही मुक्ति का कारण मानते हुए कहते हैं—

ज्ञान ही मोक्ष का मार्ग है – उसके लिए क्रिया की आवश्यकता नहीं है। यदि क्रिया से मोक्ष मिलता होता तो मिथ्याज्ञानपूर्वक क्रिया करने वाले को भी मोक्ष मिल जाता, क्योंकि मिथ्याज्ञानी भी क्रिया करता है और क्रिया से मुक्ति मिलती है। पर ऐसा नहीं होता, अतः सम्यग्ज्ञान ही मुक्ति का कारण है। कहा भी है—

विज्ञप्तिः फलदा पुंसां, न क्रिया फलदा मता।
मिथ्याज्ञानात् प्रवृत्तस्य, फलाऽसंवाददर्शनात् ॥

अर्थात् ज्ञान ही फलदायक है, क्रिया फलदायक नहीं है। क्रिया फलदायक होती तो मिथ्याज्ञानी की क्रिया भी फलदायक होती।

इसके विरुद्ध क्रियावादी कहते हैं कि क्रिया ही फलदायक होती है, ज्ञान नहीं। यथा—

क्रियैव फलदा पुंसां, न ज्ञानं फलदं मतम्।
यतः स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो, न ज्ञानात् सुखितो भवेत् ॥

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः, यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्।
संचिन्त्यतामौषधमातुरं हि, न ज्ञानमात्रेण करोत्यरोगम् ॥

अर्थात् क्रिया ही पुरुषों को फल देती है, ज्ञान फलप्रद नहीं होता, क्योंकि स्त्री, भोजन और भोगोपभोगों को जान लेने वाला पुरुष, जान लेने से ही सुखी नहीं हो जाता।

शास्त्रों का अध्ययन करने वाले भी मूर्ख होते हैं। सच्चा विद्वान् तो क्रियावान् ही होता है। अच्छी तरह विचार कीजिए, क्या औषधि को जान लेने मात्र से वह रोगी को नीरोग कर देती है? नहीं कर देती, तो ज्ञान किस काम का है?

यह दोनों एकान्तवादियों का अभिप्राय है। एक क्रिया को अनावश्यक ठहराता है, दूसरा ज्ञान को अनुपयोगी कह कर उसकी भर्त्सना करता है। वस्तुतः दोनों एक दूसरे के मत पर प्रहार करके दोनों मतों को असंगत ठहराते हैं।

क्या मुक्ति की प्राप्ति और क्या अन्य सांसारिक कार्यों में सफलता की प्राप्ति सर्वत्र ही ज्ञान और क्रिया-चारित्र की आवश्यकता होती है। ज्ञानहीन क्रिया और क्रिया शून्य ज्ञान से कहीं भी फल की प्राप्ति नहीं होती। किन्तु ज्ञान के द्वारा जानकर तदनुकूल आचरण करने से ही कार्य-सिद्धि होती है। कहा भी है—

हयं नाणं कियाहीणं, हया अन्नाणओ किया।
पासंतो पंगुलो दड्ढो, धावमाणो अ अंधओ ॥

अर्थात्—नगर में आग लगने पर पंगु पुरुष आग को देखता हुआ भी जल मरता है और अंधा आदमी भागता हुआ भी (आग की ओर दौड़कर) जल जाता है, दोनों में से कोई भी बचने में समर्थ नहीं होता। इसी प्रकार क्रियाहीन ज्ञान और ज्ञानहीन क्रिया भी निष्फल होती है।

यदि अंधा और पंगु पुरुष दोनों मिल जावें—अंधा, पंगु को अपने कंधे पर विठाले और पंगु, अंधे को ठीक दिशा बताता चले तो दोनों विपदा से बच सकते हैं। इसी प्रकार ज्ञान और चारित्र दोनों जब मिल जाते हैं तो मनुष्य दुःख से बचकर सिद्धि प्राप्त कर सकता है। अज्ञानी पुरुष, सुख के लिए प्रयत्न करता है किन्तु सुख के स्वरूप का और सुख के मार्ग का यथावत् ज्ञान न होने के कारण वह ऐसा प्रयत्न

कर बैठता है जिससे सुख के बदले और अधिक दुःख की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार जो ज्ञानवान तो है, सुख के उपायों को भली भांति जानता है, पर सुखप्राप्ति के लिए उचित आचरण नहीं करता उसे भी सुख नहीं प्राप्त होता। जैसे कोई रोगी औषध को जानता है पर उसका व्यवहार नहीं करता तो वह नीरोग नहीं हो सकता। वास्तव में ज्ञान का फल संयम है - सदाचार है। जिस ज्ञानवान को संयम की प्राप्ति नहीं हुई, उसका ज्ञान वन्ध्य है निष्फल है। अतएव विद्वानों को चरित्रनिष्ठ बनना चाहिए और चारित्रनिष्ठ पुरुषों को ज्ञान की प्राप्ति के लिए उद्यत होना चाहिए। तभी दोनों की साधना में पूर्णता आती है। जैसे एक चक्र से रथ नहीं चलता उसी प्रकार अकेले ज्ञान या चारित्र से सिद्धि नहीं मिलती, जैसे चंदन का भार ढोने वाला गर्दभ चन्दन की सुगंध का आनंद नहीं ले सकता उसी प्रकार चारित्र के विना ज्ञानी, ज्ञान का भार भले ही लादे फिरे पर वह ज्ञान का रसास्वाद नहीं कर सकता। इसी लिए सर्वज्ञ प्रभु ने ज्ञान और क्रिया से सिद्धि-लाभ होने का निरूपण किया है।

मूल:-भणंता अकरिंता य, बंधमोक्खपइण्णिणो।
वायावीरियमित्तेणं, समासासंति अप्पयं॥ ६ ॥

छाया:—भणन्तोऽकुर्वन्तश्च, बन्धमोक्षप्रतिज्ञिनः।
वाग्वीर्यमात्रेण समाश्वसन्त्यात्मानम्॥ ६ ॥

शब्दार्थ:—ज्ञान को ही बंध और मोक्ष का निमित्त मानने वाले लोग कहते हैं पर करते नहीं हैं। वे अपनी वाचनिक वीरता मात्र से आत्मा को आश्वासन देते हैं।

भाष्य:—पूर्वोक्त ज्ञानैकान्त का निरसन करते हुए सूत्रकार करते हैं कि जो लोग श्रुत का अभ्यास करते हैं—पढ़ते-लिखते हैं दूसरों को लच्छेदार भाषा में उपदेश देते हैं किन्तु प्राप्त ज्ञान के अनुसार आचरण नहीं करते और जो मात्र ज्ञान से बंध-मोक्ष का होना मानते हैं, वे धोखे में पड़े हुए हैं। वे अपनी आत्मा को मिथ्या आश्वासन दे रहे हैं। वस्तुतः वे आत्मा का कल्याण साधन नहीं कर सकते। यही नहीं 'स्वयं नष्टः परान्नाशयति' अथवा 'अन्धेन नीयमानः अंधः' इन लोकोक्तियों के अनुसार वे आत्मा का ही नहीं वरन् दूसरों का भी घोर अहित करते हैं। वे अपनी कुतर्क-गाथाओं के द्वारा अन्य भद्र जीवों को भी आचरण से विरक्त करके उन्हें उन्मार्ग में ले जाते हैं।

शत्रुओं का आक्रमण होने पर जैसे मौखिक बहादुरी से—जबानी शूरता से उन्हें परास्त नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार आत्मा के शत्रुओं को ज्ञान बघारने मात्र से पराजित नहीं किया जा सकता। उन्हें पराजित करने के लिए क्रिया की—चारित्र की आवश्यकता होती है।

शंका—ज्ञान से मोक्ष मानने वाले सांख्य आदि बंध ज्ञान से नहीं मानते, किन्तु अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान से मानते हैं फिर यहां ज्ञान से बंध-मोक्ष मानने वाला उन्हें क्यों कहा है ?

समाधान—जो लोग सिर्फ ज्ञान से मुक्ति मानते हैं उन्होंने बंध मिथ्याज्ञान से माना है, यह ठीक है। पर मिथ्याज्ञान, ज्ञान की ही एक विकारमय अवस्था है और सम्यक्त्व-मिथ्यात्व की अपेक्षा न करके मिथ्याज्ञान को भी सामान्य रूप से ज्ञान कहा जा सकता है। अतएव सूत्रकार का कथन संगत ही है। तात्पर्य यह है कि जैसे ज्ञान और क्रिया दोनों को स्वीकार करने वाले बंध का कारण मिथ्याज्ञान और असं-यम दोनों मानते हैं उस प्रकार ज्ञानैकान्तवादी नहीं मानते। वे असंयम या अविरति को बंध का कारण न स्वीकार करते हुए मिथ्याज्ञान को ही बंध का कारण मानते हैं और मिथ्याज्ञान भी सामान्य की अपेक्षा ज्ञान ही है इसलिए 'ज्ञान से बंध-मोक्ष मानते हैं' यह कथन अयुक्त नहीं कहा जा सकता।

जैसे मोक्ष ज्ञान और क्रिया अर्थात् सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र कारणक है उसी प्रकार संसार उनसे विपरीत मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र मूलक है। संसार वन्धनात्मक होने से यहां बंध को ही संसार कहा गया है। युक्ति से यह बात भली-भाँति सिद्ध होती है। यथा-संसार मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र कारणक है, क्योंकि इनके नाश होने पर संसार का भी नाश हो जाता है, जो जिसके नाश होने से नष्ट होता है वह तत्कारणक ही होता है, जैसे वात के विकार से उत्पन्न होने वाला रोग, वात की निवृत्ति से निवृत्त होता है अतएव वह रोग वात निमित्तक माना जाता है। इसी प्रकार मिथ्याज्ञान आदि की निवृत्ति से भव की निवृत्ति होती है अतएव भव मिथ्याज्ञान आदि कारणों से उत्पन्न होता है।

यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि यहाँ यद्यपि सम्यक्ज्ञान और चारित्र को मोक्ष का तथा मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को संसार का कारण कहा गया है, तथापि सम्यग्दर्शन भी मुक्ति का कारण है और मिथ्यादर्शन भी संसार का कारण है। उनका साक्षात् शब्दों द्वारा कथन इसलिए नहीं किया गया है कि ज्ञान में ही दर्शन का समावेश हो जाता है। अतएव संसार के कारण मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र हैं। इनके क्षय से संसार का क्षय होता है। जैसे-मिथ्यादर्शन का क्षय होने से अनन्त संसार का क्षय हो जाता है, अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव का संसार परिमित-संख्यात भव ही शेष रह जाता है। मिथ्याज्ञान के क्षय से भी इसी प्रकार संसार का क्षय होता है और मिथ्याचारित्र का क्षय होने से संसार का समूल ही विनाश हो जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि संसार के कारण मिथ्याज्ञान आदि ही हैं।

शंका:— बंध तत्त्व के विवेचन में पहले पाँच कारणों से बंध होना कहा है और जितने कारणों से बंध होता है उनके विरोधी उतने ही कारणों से मोक्ष भी होना चाहिए अर्थात् मोक्ष के भी पाँच कारण होना चाहिए। फिर आप रत्नत्रय को ही मोक्ष का कारण क्यों कहते हैं?

समाधान—बंध के कारणों के प्रतिपक्षभूत सम्यग्दर्शन, विरति, अप्रमत्तता निष्कषायता और अयोगवत्त्व को मोक्ष का कारण मानना हमें अनिष्ट नहीं है प्रत्युत इन पाँच कारणों से मोक्ष होना हमें अभीष्ट ही है, पर विरति आदि चार कारण

सम्यक्चारित्र में ही अन्तर्गत हो जाते हैं, इस कारण उनका पृथक् नाम-निर्देश नहीं किया गया है।

शंका: यदि इन पांच कारणों से आप मुक्ति होना मानते हैं तो इनमें सम्यग्ज्ञान का समावेश नहीं होता। अतएव या तो सम्यग्ज्ञान को मोक्ष का कारण न माने अथवा पांच के बदले छह कारण बतलावें।

समाधान:—जैसे बंध के पांच कारणों में, मिथ्यादर्शन में ही मिथ्याज्ञान का समावेश किया गया है, उसी प्रकार मोक्ष के कारणों में सम्यग्दर्शन में ही सम्यग्ज्ञान का समावेश किया गया है। यदि बंध के कारणों में मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान को पृथक्-पृथक् गिन कर छह कारणों को माना जाय तो मोक्ष के कारणों में भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को जुदा-जुदा गिनकर छह कारण मानना सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं है। क्योंकि मिथ्यादर्शन से होने वाला बंध सम्यग्दर्शन से रुकता है, मिथ्याज्ञान से होने वाला बंध, सम्यग्ज्ञान से रुकता है, मिथ्याचारित्र से होने वाला बंध सम्यक्चारित्र के द्वारा रुक जाता है, इसी प्रकार प्रमाद, कषाय और योग से होने वाला बंध अप्रमाद, अकषाय और अयोग से रुकता है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि संसार और मोक्ष का कारण न अकेला ज्ञान है, न अकेला चारित्र है, किन्तु ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही कारण होते हैं। ज्ञान आदि की मिथ्या रूप परिणति संसार का कारण है और सम्यक् रूप परिणति मोक्ष का कारण है।

जब मुक्ति चारित्र के बिना प्राप्त नहीं हो सकती तो सिर्फ ज्ञान से मुक्ति की आशा करना असिद्धि का आमंत्रण करना ही है। ऐसे लोग अपने हृदय को भले ही समझालें कि हम ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त कर लेंगे, पर उनका आश्वासन अन्त में मिथ्या ही सिद्ध होगा और उन्हें धोखा खाना पड़ेगा।

मूल:—न चित्ता तायए भासा, कुश्रो विज्जाणुसासणं।
विसण्णो पावकम्मेहिं, बाला पंडियमाणिणो ॥ १० ॥

छाया:—न चित्रास्त्रायन्ते भाषाः, कुतो विद्यानुशासनम्।
विषण्णाः पापकर्मभिः, बालाः पण्डित-मानिनः ॥ १० ॥

शब्दार्थ:—अपने को पंडित मानने वाले-वस्तुतः अज्ञानी लोग पाप कर्मों के कारण दुःखी होते हैं। सीखी हुई नाना प्रकार की भाषाएं उनकी रक्षा नहीं कर सकतीं। तथा विद्याएं और व्याकरण आदि शास्त्र कैसे रक्षा कर सकते हैं?

भाष्य:—ज्ञानैकान्त में पुनः दोष दिखाने के लिए सूत्रकार ने इस सूत्र का कथन किया है।

पंडित अर्थात् सत्-असत् का विवेक करने वाली बुद्धि जिसे प्राप्त हो वह 'पंडित' कहलाता है। जो वास्तव में सत्-असत् के ज्ञान से शून्य होने के कारण पंडित तो नहीं हैं फिर भी अपने को पंडित समझता है उसे पंडितमानी या पंडितम्मन्य कहते

हैं। ऐसे विवेकहीनजन वास्तव में बाल-अज्ञानी हैं। साधारण अज्ञानी की अपेक्षा अपने को पंडित मानने वाले अज्ञानी अधिक दुर्गति के पात्र होते हैं। जो अज्ञानी, अपने अज्ञान को जानता है वह अपने अज्ञान को भी न जान सकने वाले पंडित-मानी अज्ञानी की अपेक्षा कम अज्ञानी है। पंडितंमन्य अज्ञानी पुरुष उससे भी अधिक अज्ञानी होता है। जो मनुष्य अपने अज्ञान को जानता और स्वीकार करता है, वह अपने अज्ञान को दूर करने का प्रयत्न करता है और ज्ञान के मद में मत्त होकर ज्ञानीजनों की अवहेलना नहीं करता। किन्तु पण्डितंमन्य अज्ञानी, ज्ञानीजनों से स्पर्द्धा करता है, भ्रान्तिवश अपने को ज्ञानी समझकर वास्तविक ज्ञानियों की अवहेलना करता है। उनके द्वारा प्रदर्शित हित-मार्ग को धृष्टता पूर्वक ठुकरा देता है और स्वयं उपदेशक बनने का दावा करता है। ऐसे ज्ञानी की अन्त में वही दशा होती है जो अपने रोग को न जानने वाले और न स्वीकार करने वाले, अतएव असाध्य रोगी की दशा होती है। स्वयं अज्ञान और चिकित्सकों की सम्मति को ठुकरा देने वाले तथा रोगी होते हुए भी अपने को नीरोग समझने वाले रोगी को अन्त में घोर विपाद का अनुभव करना पड़ता है। इसी प्रकार पण्डितंमन्य अज्ञानी को भी अन्त में घोरतर विषाद का अनुभव करना पड़ता है। रोग की व्यथा बढ़ जाने पर पश्चात्ताप पूर्वक रोगी को द्रव्य प्राणों का त्याग करना पड़ता है और ऐसे अज्ञानी को ज्ञान आदि भाव प्राणों से हाथ धोना पड़ता है और अपरिमित कालतक जन्म-मरण के कष्ट सहन करने पड़ते हैं।

उन्मार्गगामी पुरुष, किसी कारुणिक द्वारा उन्मार्ग गमन का ज्ञान करा देने पर भद्रता के कारण अपना भ्रम स्वीकार करके सन्मार्ग ग्रहण करता है और अपने गन्तव्य स्थान पर पहुंच जाता है, उसी प्रकार भद्र अज्ञानी-अपना भ्रम जानकर उसे त्याग देता है और सन्मार्ग पर आरूढ़ हो कर गन्तव्य स्थान-मुक्ति-को प्राप्त कर लेता है। जैसे कोई वक्र उन्मार्गगामी अपने उन्मार्गगमन को न जानता हुआ, सन्मार्गगामी समझता है और दूसरे ज्ञाता की बात नहीं सुनता तो वह चिरकाल पर्यन्त भी अपने लक्ष्य पर नहीं पहुंच सकता, इसी प्रकार पंडितंमन्य अज्ञानी दीर्घकाल के पश्चात् भी मुक्ति में नहीं पहुंच सकता। इस प्रकार पंडित-अज्ञ पुरुष अधिक दुःख का पात्र होता है। इसीलिए सूत्रकार ने केवल अज्ञानी न कहकर पंडितमानी अज्ञानी कहा है।

ऐसा पंडितमानी अज्ञानी, अपने असाध्य अज्ञान के कारण पाप कर्मों का उपार्जन करता है। वह पाप को पाप नहीं समझता और निःसंकोच होकर पाप-कर्मों में प्रवृत्ति करता है। जब पाप कर्मों का उदय होता है तो उसे अत्यन्त विषाद का अनुभव होता है। पाप द्वारा उपार्जित दुःखों को भोगते समय पंडितमानी अज्ञानी द्वारा सीखी हुई संस्कृत आदि भाषाएं तथा व्याकरण आदि विभिन्न शास्त्र एवं नाना प्रकार की चमत्कार दिखाने वाली विद्याएं उसे शरण नहीं दे सकती। अर्थात् इन सब के कारण वह दुःख भोग से नहीं बच सकता।

तात्पर्य यह है कि जो सम्यक्चारित्र का अनुष्ठान नहीं करता, ज्ञान के फल-स्वरूप विरति को अंगीकार नहीं करता और सिर्फ ज्ञान के बल पर ही संसार-सागर

को पार करना चाहता है, वह एक भुजा वाले पुरुष की भांति अथाह सागर में डूब जाता है। अथवा जैसे एक पक्ष (पंख) वाला पक्षी ऊपर की ओर उड़ नहीं सकता उसी प्रकार चारित्र रहित अकेले ज्ञान वाला पुरुष ऊर्ध्वगमन-मोक्ष-गति-के योग्य नहीं हो सकता। एक पंख वाला पक्षी जैसे नीचे गिर पड़ता है उसी प्रकार कोरा ज्ञानी अधोगति को प्राप्त होता है।

जैसे रसायन को जानने वाला पुरुष, रसायन के ज्ञान मात्र से सुखी नहीं होता अथवा भोजन का ज्ञान ही क्षुधा की शांति नहीं कर देता, उसी प्रकार मोक्ष का ज्ञान मात्र मोक्ष नहीं प्राप्त करा सकता। अतएव जो वास्तविक कल्याण के अभिलाषी हैं उन्हें कल्याण के मार्ग का सम्यग्ज्ञान, सम्यक् श्रद्धान और सम्यक् अनुष्ठान करना चाहिए। इसी त्रिपुटी का अवलंबन करके अतीतकाल में अनन्त महापुरुष कृतार्थ हुए हैं, वर्त्तमान में हो रहे हैं और भविष्य में भी होंगे।

ज्ञानैकान्त में जो बाधाएं उपस्थित की गई हैं वही सब बाधाएं समान रूप से क्रियैकान्त में भी आती हैं। अतएव उन्हें स्वयं समझ लेना चाहिए। पुनरावृत्ति करके ग्रंथ-विस्तार नहीं किया गया है।

मूल:—जे केइ सरीरे सत्ता, वण्णे रूवे य सव्वसो।
मणसा काय-वक्केणं, सव्वे ते दुक्खसंभवा ॥ ११ ॥

छाया:— ये केचित् शरीरे सक्ता:, वर्णे रूपे च सर्वश:।
मनसा कायवाक्याभ्याम्, सर्वे ते दु:खसम्भवा: ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—जो कोई प्राणी मन, वचन और काय से, शरीर में आसक्त हैं तथा वर्ण और रूप में पूर्ण रूपेण आसक्त हैं, वे दु:ख के भाजन होते हैं।

भाष्य—ज्ञानैकान्तवादी, चारित्र से विमुख होकर क्या फल पाते हैं, यह इस गाथा में प्ररूपण किया गया है।

जो शरीर में तथा रूप आदि में आसक्त होते हैं और जिन्हें विषयभोगों में अत्यन्त ममता है, वे बहिरात्मा जीव हैं। उन्हें आत्मा का अनुभव नहीं है अतएव आत्मिक सुख के अपूर्व स्वाद से अनभिज्ञ हैं। वे इन्द्रिय सुखों के कामी बन कर इन्द्रियों से प्रेरित होते हैं-इन्द्रियों के क्रीत दास बन जाते हैं इन्द्रियां उसके अन्तःकरण में नाना प्रकार की कामनाएं जागृत कर देती हैं और वह कामनाओं की पूर्ति करने में ही अहर्निश उद्यत रहता है। कामनाओं की पूर्ति करने के साधन रूप धन कमाने की प्रबल लोलुपता से प्रेरित होकर वह पुरुष घृणित और निन्दनीय कार्य करने से भी नहीं डरता है। वह धनोपार्जन के लिए भोले और गरीबों को चूसता है, नीति अनीति के विचार को ताक पर रख देता है। अर्थ के अतिरिक्त और सब उसके लिए अनर्थ बन जाता है।

इन्द्रियलोलुप पुरुष विवेकशून्य होकर भक्ष्य-अभक्ष्य का भान भूल जाता है,

अपनी जाति और कुल की प्रतिष्ठा को कलंकित करते हुए संकोच नहीं करता। उसका चित्त सदा चंचल, निर्बल और उद्विग्न रहता है। वह इन्द्रियों की प्यास बुझाने के लिए ज्यों-ज्यों प्रयत्न करके भोगोपभोग की सामग्री संचित करता है त्यों-त्यों इन्द्रियों की प्यास बढ़ती जाती है। ज्यों-ज्यों इन्द्रियों की प्यास बढ़ती जाती है त्यों-त्यों इन्द्रियलोलुप की व्याकुलता बढ़ती जाती है ज्यों-ज्यों व्याकुलता बढ़ती जाती है त्यों-त्यों उसका आर्तध्यान बढ़ता जाता है और ज्यों-ज्यों आर्तध्यान बढ़ता जाता है त्यों-त्यों पापकर्मों का बंध बढ़ता जाता है। इस प्रकार इन्द्रियलोलुप मनुष्य अन्त में भीषण व्यथाएं सहन करता है।

शरीर पर ममता होने से दृष्टि बहिर्मुख हो जाती है। बहिर्मुख व्यक्ति आत्मा के अनन्त सौन्दर्य को दृष्टिगोचर करने में अन्धा हो जाता है। वह आत्मा के सद्गुण रूपी सुरभि-समन्वित प्रसूनों को नहीं सूंघ सकता। निर्मल अन्तःकरण से उद्भूत होने वाले अन्तर्नाद को वह नहीं सुन सकता। वह शरीर की बनावट में ही जीवन की कृतार्थता मानता है। शरीर को 'अपना' समझकर उसकी सेवा-शुश्रूषा करता है। वह शरीर के असली अपावन रूप को नहीं देखता। वह आत्मा और शरीर का पार्थक्य नहीं मानता। आत्मा चेतनमय है, शरीर जड़ है, आत्मा अमर तत्व है और शरीर विनश्वर पुद्गल की पर्याय है. यह भेद-ज्ञान उसके अन्तर में परिस्फुरित नहीं होता। इसलिए वह शरीर को महत्तम उद्देश्य की पूर्त्ति का साधन समझकर उसका उपयोग नहीं करता वरन् शरीर के लिए महत्तम उद्देश्य का परित्याग कर देता है। बहिरात्मा जीव की स्थिति बड़ी दयनीय है!

अन्तरात्मा शरीर को आत्महित-साधन का निमित्त मानकर उसका पोषण करते हैं। वे उस पर अणुमात्र भी आसक्ति नहीं रखते। शरीर पर मोह रखने वाले का मोह क्रमशः विस्तृत हो जाता है, क्योंकि शरीर का मोही शरीर को साताकारी पुद्गलों पर राग और असताकारी पुद्गलों पर द्वेष भी करने लगता है। तदनन्तर उन पुद्गलों की प्राप्ति में जिसे वह बाधक समझता है उससे भी द्वेष करने लगता है। इस प्रकार शरीर-मोह से मोह की परम्परा क्रमशः परिवर्धित होती जाती है और उसका कहीं अन्त नहीं प्रतीत होता। अतएव अन्तरात्मा पुरुष शारीरिक मोह को हृदय में अवकाश ही नहीं देते। वह सोचता है कि—मोह के फंदे से सदा बचते रहना चाहिए। मोह ही आत्मा के शत्रुओं का सेनापति है। इसके अधीन होकर आत्मा अपने ज्ञान आनन्दमय कोष को लुटा रहा है। जो इसके कैद से मुक्त हो जाता है वह चिदानन्द का पात्र, परम वीतरागी, परम अविनाशी, सर्वज्ञ, सिद्ध, बुद्ध और शुद्ध बन जाता है। भला आत्मा और शरीर जैसे विपरीत गुण वाले पदार्थों का परस्पर क्या संबंध! मोह और आत्मा की कैसी मैत्री? एक आकुलता उत्पन्न करने वाला और आत्मा निराकुलतामय है। मोह दुःख रूप है, आत्मा सुखमयी है। आत्मा अज्ञान के कारण ही मोह के चक्कर में पड़ा है! जब शरीर और आत्मा का भेद-विज्ञान हो जाता है तो आत्मा निर्मलदृष्टि बनता है और विरक्ति एवं अनासक्ति के तीक्ष्ण शस्त्र से, आत्मिक अनुभूति के पराक्रम का अवलंबन करके मोह आदि शत्रुओं

को पल भर में पराजित कर देता है।

मोह ही वह घोर शत्रु है जो आत्मा को अपने अनन्त सुख का भान नहीं होने देता और सुख के लिए क्षुद्र, विनश्वर, पापजनक भोगों का आश्रय लेने के लिए प्रेरित होता है। आत्मा का स्वभाव ही अनंत आनंदमय है। वह आनंद काल से और परिमाण से परिमित नहीं है। उसको भोगने के लिए पापाचार नहीं करना पड़ता। वह तो आत्मा को, आत्मा के द्वारा, आत्मा में स्थिर करने से प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार जो अपना है, अपने समीप है, उसे प्राप्त करने के लिए इन्द्रियों की गुलामी, जगत् की गुलामी और भोगोपभोगों की अभ्यर्थना करने की क्या आवश्यकता है? फिर भी मोह के प्रभाव से मूढ़ बने हुए मनुष्य इस तथ्य को नहीं समझते। वे आत्मा के भीतर प्रवेश नहीं करते। वे इन्द्रियजन्य, अतृप्तिकारक, तृष्णावर्द्धक, पराश्रित, विनाशशील, सान्त, दुःखों से व्याप्त और परिमित सुख के लिए निरन्तर लालायित रहते हैं।

वाह्य पदार्थ वास्तव में न सुखदाता है, न दुःखदाता है, न बंध का कारण है, न मुक्ति का कारण है। आत्मा का रागभाव-मोह रूप परिणाम ही दुःखदायक है और वीतरागभाव अर्थात् शरीर आदि समस्त पर-पदार्थों के प्रति अनासक्ति रूप परिणति ही सुख का कारण है। जिसे धन-धान्य, वैभव, आदि प्राप्त नहीं हैं, वह भी यदि उनमें मूर्छा-ममता-आसक्ति रखता है तो उसे अवश्य बंध होता है। अतएव वाह्य पदार्थों की अपेक्षा आत्मा की राग-द्वेष परिणति ही अधिक अनर्थकारी होती है। अतएव सूत्रकार ने यहां शरीर संबंधी तथा इन्द्रिय-विषय संबंधी आसक्ति को दुःखजनक बतलाया है।

सूत्रकार ने शरीर संबंधी तथा वर्ण और रूप संबंधी आसक्ति को यहां दुःख का कारण कहा है सो इससे यह नहीं समझना चाहिए कि अन्य धन जन आदि के प्रति होने वाली अथवा स्पर्श आदि विषयों में होने वाली आसक्ति दुःख का कारण नहीं है। 'जैसे सांपनाथ वैसे नागनाथ' की कहावत के अनुसार पर-पदार्थों की सभी प्रकार की आसक्ति एकान्त दुःख का ही कारण है। अतएव उपलक्षण से सभी आसक्तियों का ग्रहण करना चाहिए।

वर्ण और रूप सामान्य रूप से एकार्थक से प्रतीत होते हैं, किन्तु सूत्रकार ने दोनों का एकत्र प्रयोग किया है, अतएव रूप का तात्पर्य यहां सुन्दरता समझना चाहिए। वर्ण अर्थात् रंग और सौन्दर्य में भेद प्रसिद्ध है। सुन्दरता का किसी वर्ण विशेष में संबंध नहीं है। कोई भी वर्ण हो, जो जिसे रुचिकर है वह उसे प्रिय लगता है। सौन्दर्य आकृति आदि की भी अपेक्षा रखता है अतएव दोनों की भिन्नार्थकता सिद्ध है।

'मनसा कायवक्केणं' कहने का प्रयोजन यह है कि जो मनुष्य केवल मन से आसक्त होते हैं उन्हें भी दुःख भोगना पड़ता है, तो जिनका सम्पूर्ण योग सर्वश अर्थात् पूर्ण रूप से वाह्य पदार्थों में आसक्त है उनकी कितनी दुर्गति होगी! उन्हें

तो अत्यन्त दुःख का पात्र बनना पड़ेगा। वे घोर दुःख से बच नहीं सकते।

मूलः—निम्ममो निरहंकारो, निस्संगो चत्तगारवो।
समो श्र सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य ॥ १२ ॥

छायाः—निर्ममो निरहङ्कारः, निःसङ्गस्त्यक्तगौरवः।
समश्च सर्वभूतेषु, त्रसेषु स्थावरेषु च ॥ १२ ॥

शब्दार्थः—जो ममत्व से रहित, अहंकार से रहित, संग से रहित, अभिमान से रहित, त्रस और स्थावर सभी प्राणियों पर समभाव रखने वाला होता है वही महापुरुष है।

भाष्यः—सच्चा महापुरुष, सच्चा योगी किसे कहते है? उसके लक्षण क्या हैं? इस प्रश्न का यहां समाधान किया गया है। सच्चे योगी में यह लक्षण होने चाहिए:—

ममतारहितताः—संसार के समस्त कष्टों एवं दुःखों का मूल कारण ममता है। यह मेरा है, यह मेरा पुत्र है, यह मेरा पौत्र है, यह मेरी पत्नी है, यह मेरा महल है, यह मेरा मकान है, यह मेरा शरीर है, इस प्रकार की भावना को ममता कहते हैं। जब आत्मा बाह्य पदार्थों के साथ, ममता के सूत्र से अपना संबंध स्थापित करता है तभी वह अपने दुःखों का बीज बोता है। जिसमें जितनी अधिक ममता होती है उसे उतना ही अधिक दुःख और संताप होता है।

बाह्य पदार्थ कभी उत्पन्न होते हैं, कभी नष्ट होते हैं! जो पुरुष उन्हें आत्मीयता की भावना से देखता है वह उनके उत्पन्न होने पर प्रसन्न होता है मगर जब उनका विनाश होता है तो तीव्र संताप का अनुभव करता है। इस प्रकार संयोगकालीन राग के द्वारा भी वह कर्मबंध करता है और वियोगकालीन आर्त्तध्यान के द्वारा भी उसका परिणाम दुःखजनक ही हो सकता है। अतएव सच्चा योगी वह है जो संसार के समस्त पदार्थों से अपने आपको भिन्न अनुभव करता है और बाह्य पदार्थों के संयोग वियोग में मध्यस्थभाव रखता है। यही ममता का त्याग है।

निरहंकारताः—मैं ही सब कुछ हूं, मैं स्वामी हूं, मैं ज्ञानी हूं, मैं श्रुतवेत्ता हूँ, इत्यादि प्रकार के अहंभाव का त्याग करना ज्ञानी का लक्षण है। ज्ञानीजन श्रुतलाभ करके अभिमान नहीं करते, ऋद्धि प्राप्त करके मद से अभिभूत नहीं होते। वे समझते हैं—आत्मा का स्वभाव अनन्तज्ञान है, ऐसी अवस्था में किंचित् मतिज्ञान श्रुतज्ञान का अभिमान कैसे किया जा सकता है? आत्मा में अनन्त शक्ति है, वह मुझे प्राप्त नहीं हुई तो मैं ऋद्धि का क्या अभिमान करूं? इस प्रकार विचार कर वे अहंकार का त्याग करते हैं।

निःसंगता—संसार के समस्त पदार्थों में यहां तक कि शरीर में भी अनासक्ति होना निःसंगता है। योगी शरीर का आश्रय लेते हैं और उसे भाड़े के रूप में आहार देते हैं, पर उस में आसक्ति नहीं रखते। ऐसी स्थिति में अन्य पदार्थों में उनकी आसक्ति हो ही कैसे सकती है?

त्यक्तगौरवता:—गौरव का अर्थ है—अभिमान। जिसने अभिमान का त्याग कर दिया है वही सच्चा ज्ञानी है।

समता:—त्रस और स्थावर जीवों पर समभाव रखना ज्ञानी पुरुष का लक्षण है। प्रत्येक जीव सुख का अभिलाषी है, प्रत्येक को दुःख अप्रिय है प्रत्येक जीव को जीवन प्रिय है, मृत्यु प्रत्येक को अप्रिय है। इसलिए मनुष्य जैसे अपने प्रति व्यवहार करता है, वैसे ही उसे अन्य प्राणियों के प्रति भी व्यवहार करना चाहिए। इस प्रकार विचार कर ज्ञानीजन जीव मात्र में समभाव रखते हैं।

त्रस और स्थावर जीवों का विवेचन प्रथम अध्ययन में किया जा चुका है। ज्ञानी पुरुषों के शेष लक्षण अगली गाथा में स्वयं शास्त्रकार निरूपण करेंगे।

मूल:-लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो निंदापसंसासु, समो माणावमाणओ॥ १३॥

छाया:—लाभालाभयोः सुखे दुःखे, जीविते मरणे तथा।
समो निन्दाप्रशंसासु समो मानापमानयोः॥ १३॥

शब्दार्थ:—लाभ और अलाभ में, सुख और दुःख में, जीवन और मरण में, निन्दा और प्रशंसा में, मान और अपमान में, समभावी होना ही सम्यग्ज्ञानी का लक्षण है।

भाष्य:—ज्ञान का स्वरूप, ज्ञान का माहात्म्य और ज्ञान संबंधी अन्य बातों का विवरण बताने के पश्चात् ज्ञान की उत्कृष्ट अवस्था प्राप्त होने पर ज्ञानी की क्या स्थिति होती है, उसका यहां उल्लेख किया गया है। इस उल्लेख से यह भी प्रतीत होता है कि जिसकी मानसिक स्थिति इन लक्षणों से युक्त हो जाती है वही सच्चा उत्कृष्ट ज्ञानी है।

जिसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो गया है वह लाभ होने पर हर्ष का अनुभव नहीं करता और अलाभ होने पर विषाद नहीं करता। लाभ होना लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम पर निर्भर है। जिसके लाभान्तराय कर्म का क्षयोपशम हो गया है उसे लाभ होता है और जिसे लाभान्तराय का उदय है उसे लाभ नहीं होता। इन दोनों अवस्थाओं में ज्ञानी समताभाव का अवलंबन लेता है। भोजन आदि के लिए प्रयत्न करने पर भी यदि भोजन प्राप्त न हो तो विषाद करने से क्या लाभ है? विषाद से भोजन की प्राप्ति नहीं हो जाती। प्रत्युत आर्त्तध्यान एवं कलुषित भावना का उदय होने से पाप का बंध होता है। ऐसा जान कर ज्ञानीजन विषाद नहीं करते। इसके विपरीत वे उस अलाभ को भी तप का लाभ समझते हैं। अर्थात् भोजन की प्राप्ति न होने से आज अनायास ही अनशन तप करने का अवसर मिल गया है, ऐसा समझ कर वे उद्विग्न नहीं होते। इसी प्रकार कभी किसी उत्तम समझे जाने वाले पदार्थ का यदि लाभ हो जाता है तो ज्ञानी पुरुष प्रसन्न नहीं होते, क्योंकि उनके अन्तःकरण में उत्तम-अनुत्तम पदार्थों के प्रति राग-द्वेष नहीं होता अर्थात् वे स्वादिष्ट भोजन से

राग और रूखे-सूखे, नीरस भोजन के प्रति द्वेष नहीं करते। जिसे जिस पदार्थ से राग नहीं है उसे उस पदार्थ की प्राप्ति हो जाय तो वह प्रसन्नता का अनुभव नहीं करता है। इस प्रकार सच्चा ज्ञानी भोजन, वस्त्र, शिष्य आदि की प्राप्ति और अप्राप्ति में साम्यभाव धारण करते हैं।

सुख-दुःख में भी ज्ञानी मध्यस्थभाव धारण करते हैं। उनकी दृष्टि इतनी अन्तर्मुख हो जाती है कि वे शरीर में रहते हुए भी शरीर से परे हो जाते हैं। उन्हें आत्मा अनात्मा का भेदज्ञान हो जाता है। अतएव शारीरिक कष्ट को वे आत्मा का कष्ट अनुभव नहीं करते और शारीरिक सुख को आत्मा का सुख नहीं समझते। वे आत्मा के स्वरूप में सदा विचरते रहते हैं।

दुःखे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे, योगे वियोगे भवने वने वा।
निराकृताशेषममत्वबुद्धेः, समं मनो मेऽस्तु सदाऽपि नाथ ॥

अर्थात् हे प्रभो! दुःख में, सुख में, वैरी और बन्धुवर्ग में, संयोग और वियोग में, भवन में और वन में, सब प्रकार की ममता-बुद्धि त्याग कर मेरा मन निरन्तर सम बना रहे।

इस प्रकार की आन्तरिक अभ्यर्थना का परिपाक हो जाने से अथवा इस भावना के मूर्तिमान् हो जाने के कारण उन्हें सुख-दुःख में हर्ष-विषाद नहीं होता। ज्ञानीजन सोचते हैं कि आत्मा अनन्त सुख का भंडार है, सुख आत्मा का स्वाभाविक धर्म है, उसमें दुःख का प्रवेश कैसे हो सकता है? अगर कोई अज्ञानी पुरुष ताड़ना करता है, शस्त्र का प्रहार करता है अथवा अन्य किसी उपाय से दुःख को उत्पन्न करने का प्रयत्न करता है तो करता रहे, ऐसा करके वह अपना ही अहित करेगा। मेरा क्या बिगड़ेगा? मेरा आत्मा उसकी पहुंच से बाहर है। वह सिर्फ शरीर का ही वध-बंधन आदि कर सकता है, पर मैं शरीर नहीं हूं। मैं शरीर से निराला आत्मा हूं। अमूर्त्तिक हूं। जैसे कोई अमूर्त्तिक आकाश में शस्त्र-प्रहार करता है तो आकाश की क्या हानि है? इसी प्रकार मुझे यह हानि नहीं पहुँचा सकता। इसके सिवाय ज्ञानी पुरुष यह विचार करते हैं कि अमुक व्यक्ति मुझे दुःख दे रहा है, ऐसा समझना ही मिथ्या है। असल में दुःख देनेवाला तो असातावेदनीय कर्म है। यदि मैंने असातावेदनीय कर्म का बंध किया है तो उसका फल मुझे भोगना ही पड़ेगा। विना भोगे वह छूट नहीं सकता। इस पुरुष का मुझपर बड़ा उपकार है कि इसने निमित्त बनकर बंधे हुए कर्म को भोगने का अवसर दिया है। अब मैं इस कर्म से मुक्त हो जाऊंगा। पहले लिया हुआ ऋण मुझपर चढ़ा था सो इस पुरुष के निमित्त से आज चुक गया। मेरा भार कम हो गया।

सुख का अवसर प्राप्त होने पर ज्ञानी पुरुष विचारता है कि यदि कोई अपना अनमोल खजाना गंवाकर, उसके बदले एक कौड़ी पावे तो उसे हर्ष मनाने का क्या कारण है? मैंने आत्मिक सुख का अक्षय कोष लुटाकर यदि इन्द्रियजन्य किंचित् सुख पाया भी, तो यह कौन-सी प्रसन्नता की बात है? इत्यादि विचार करके वह

सुख में फूलता नहीं है। दोनों अवस्थाओं में वह सम रहता है।

जीवन और मरण में भी सम्यग्ज्ञानी पुरुष समता भाव का ही सेवन करता है। ज्ञानी की विचारणा इस प्रकार होती है—आत्मा अजर-अमर अविनश्वर है। जो वस्तु उत्पन्न होती है उसका नाश होता है। आत्मा की कभी उत्पत्ति नहीं होती, न कभी उसका विनाश होता है। द्रव्यप्राणों की संयोग-अवस्था जीवन कहलाती है और वियोग-अवस्था मरण कहलाती है। इस प्रकार बाह्य वस्तु के संयोग और वियोग में अर्थात् जीवन और मरण में हर्ष-विषाद करने की क्या आवश्यकता है? पर-पदार्थों का संयोग तो विनश्वर है ही। जब उन्हें कोई अज्ञानवश अपना मानता है तब उनके वियोग में विषाद का अनुभव होता है। परन्तु वास्तव में वे अपने नहीं हैं, अतएव उन्हें अपना समझना यही दुःख का कारण है। मरण में दुःख मानने का क्या कारण है? जैसे कोई पुराने वस्त्र का परित्याग कर नूतन वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार पुरातन तन का त्यागकर नूतन तन को धारण करना मृत्यु का प्रयोजन है। इस जन्म में आचरण किये हुए धर्मकृत्यों का फल मृत्यु की कृपा से प्राप्त होता है, अतएव मृत्यु का मित्र की भांति स्वागत करना चाहिए। ऐसा विचार कर ज्ञानी पुरुष मृत्यु के प्रसंग पर दुःखी नहीं होते हैं। इसी प्रकार जीवन से वे प्रसन्नता अनुभव नहीं करते। यह जीवन, शरीर आदि पौद्गलिक पदार्थों पर आश्रित है। जो वस्तु पर पदार्थ पर अवलंबित हो, दूसरे के सहयोग से प्राप्त हो और जिसके भंग हो जाने की पल-पल पर संभावना बनी रहती हो, उसे पाकर प्रसन्नता क्यों होनी चाहिए?

निन्दा और प्रशंसा में भी ज्ञानी की चित्तवृत्ति सम रहती है। निन्दक व्यक्ति जब ज्ञानी की निन्दा करता है तब ज्ञानी विचारने लगता है—यह व्यक्ति मेरे अवगुणों को प्रकट कर रहा है, सो इसकी मुझपर बड़ी कृपा है। मुझमें अनगिनते दोष हैं और उनका मुझे ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो पाता। यह पुरुष उन दोषों को प्रकाशित कर रहा है। यह दोषान्वेषण में मेरी सहायता कर रहा है। मुझे इसका आभारी होना चाहिए। निन्दक जिन दुर्गुणों का मुझ में आरोप कर रहा है, वह दुर्गुण यदि मुझमें हैं तो यह सत्य भाषण करके उसे दूर करने की प्रेरणा करता है। कदाचित् वह दुर्गुण उसमें नहीं होता तो वह सोचता है—यह बेचारा निन्दक अपने आन्तरिक संताप से संतप्त होकर शान्ति प्राप्त करने के लिए मेरी निन्दा करता है। यह इतना अज्ञानी है कि शान्ति-लाभ के लिए परिणाममें अशान्तिजनक कार्य करता है। अतएव यह क्रोध का पात्र नहीं है, किन्तु दया का पात्र है। निन्दा करके यह कर्मों का बंध कर रहा है तो मैं क्रोध करके कर्मों का बंध क्यों करूं? फिर मुझमें और उसमें भेद ही क्या रह जायगा?

अपनी प्रशंसा, स्तुति या कीर्त्ति सुनकर ज्ञानी प्रसन्न नहीं होता। वह सोचता है—यह प्रशंसा मेरी नहीं है, वरन् भगवान् तीर्थंकर द्वारा प्ररूपित चारित्र की है, क्योंकि उसका अनुसरण करने से ही प्रशंसा होती है। यदि मैं सम्यक् चारित्र का पालन

न करता तो मेरी प्रशंसा न होती, अतएव इस प्रशंसा का श्रेय चारित्र को ही है। अथवा, प्रशंसक जब किसी गुण-विशेष की प्रशंसा करता है तब ज्ञानी उस गुण संबंधी अपनी अपूर्णता का विचार करता है और उस अपूर्णता को दूर करनेके लिए संकल्प करता है। इस प्रकार वह प्रशंसा सुनकर प्रसन्न नहीं होता।

ज्ञानी सन्मान और अपमान में भी समताभाव का ही सेवन करता है। वन्दना नमस्कार करके संयमोपयोगी आहार आदि देकर सन्मान करने वाले पर वह राग नहीं करता और गाली देने वाले पर द्वेष नहीं करता। इन सब प्रसंगों पर वह अपने उपार्जित कर्मों को ही कारण समझकर समता का सहारा लेता है।

समता-भाव का चमत्कार अपूर्व है। जन्म के वैरी जंतु भी समताभावी के संसर्ग में आकर अपना वैर त्यागकर मित्र बन जाते हैं। समताभावी महात्मा सदा साम्य-सरोवर में निमग्न रहकर, अद्‌भुत सुख-सुधा का पान करके, सुखोपभोग करता रहता है। साम्यभाव के प्रभाव से कर्मों का विध्वंस होकर आत्मा अकलंक बन जाता है।

साम्यभावी ज्ञानी पुरुष संसार में इष्ट या अनिष्ट समझे जाने वाले पदार्थों में मोहित नहीं होता। श्रोता और निन्दक पर राग-द्वेष नहीं करता। प्रत्येक प्रसंगपर अरक्त-द्विष्ट रहता है।

मूलः—अणिस्सिओ इहं लोए, परलोए अणिस्सिओ।
वासीचंदणकप्पो य, असणे अणसणे तहा ॥ १४ ॥

छायाः—अनिश्रित इह लोके, परलोकेऽनिश्रितः।
वासी—चन्दनकल्पश्च, अशनेऽनशने तथा ॥ १४ ॥

शब्दार्थः—हे इन्द्रभूति ! जो इस लोक में अनपेक्ष होता है, परलोक में अनपेक्ष होता है और वासी-चंदन के समान अर्थात् जैसे चंदन अपने को काटने वाले वसूले को भी सुगंधित करता है, उसी प्रकार कष्ट देने वाले को भी साता पहुंचाता है, और भोजन करने तथा अनशन करने में समभाव रखता है, वही ज्ञानी पुरुष है।

भाष्य—सम्यग्ज्ञानी पुरुष के साम्यभाव को पुनः प्रदर्शित करते हुए सूत्रकार ने यहां यह बतलाया है कि जिसे सम्यग्ज्ञान का फल साम्यभाव प्राप्त हो जाता है वह इसलोक के धन, धान्य, राजपाट, आदि वैभवों की अभिलाषा नहीं रखता और न परलोक में स्वर्ग आदि के दिव्य सुखों की कामना करता है। वह अपने को दुख पहुंचाने वाले पुरुष की भी शुभ कामना ही करता है। जैसे चन्दन का वृक्ष, काटने वाले वसूला को भी अपनी मनोहर सुगंध से सुगंधित बना देता है उसी प्रकार समताभावी योगी परीषह और उपसर्ग देनेवाले पुरुष को भी सुख ही पहुँचाता है। भोजन मिलने और न मिलने की अवस्था में भी उसे हर्ष-विषाद नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि ज्ञानी पुरुष वस्तुओं के स्वभाव को वास्तविक रूप से जानने लगता है। आत्मा के अतिरिक्त अन्य पदार्थों के संयोग को ही वह आपत्ति का मूल समझता है। अतएव वह किसी भी बाह्य पदार्थ के संयोग की अभिलाषा नहीं करता और संयोग हो जाने पर उसमें हर्ष-भाव उत्पन्न नहीं होने देता। संयोग में जिसे हर्ष नहीं होता उसे वियोग होने पर विषाद भी नहीं होता है। समताभावी पुरुष जगत् के अभिनय का निरीह द्रष्टा होता है। कोई भी दृश्य उसके हृदय पर अनुकूल-प्रतिकूल प्रभाव नहीं डालता। इसी कारण वह राग-द्वेष से मुक्त बना रहता है। साम्य की यह मनोवृत्ति प्रबल साधना से प्राप्त होती है। इसके लिए आत्म-निष्ठा की अपेक्षा होती है। साम्यभाव योगियों का परम आश्रय है इसीसे संवर, निर्जरा होती है और यही मुक्ति का प्रधान कारण है। अतः समताभाव का आश्रय लेना चाहिए।

निर्ग्रन्थ-प्रवचन-पांचवां अध्याय

समाप्त

❀ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ❀

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

॥ छठा अध्याय ॥
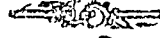
सम्यक्त्व-निरूपण

मूलः-अरिहंतो मह देवो, जावज्जीवाए सुसाहुणो गुरुणो।
जिणपण्णत्तं तत्तं, इअ सम्मत्तं मए गहियं ॥ १ ॥

छायाः—अर्हन्तो मम देवाः, यावज्जीवं सुसाधवो गुरवः।
जिनप्रज्ञप्तं तत्त्वं, इति सम्यक्त्वं मया गृहीतम् ॥ १ ॥

शब्दार्थः—जीवन पर्यन्त अर्हन्त भगवान् मेरे देव हैं, सच्चे साधु मेरे गुरु हैं, जिन द्वारा प्ररूपित तत्त्व ही वास्तविक तत्त्व है, इस प्रकार का सम्यक्त्व मैंने ग्रहण किया।

भाष्यः—गत पांचवें अध्याय में सम्यग्ज्ञान का निरूपण किया गया है, किन्तु ज्ञान तभी सम्यग्ज्ञान होता है जब सम्यग्दर्शन की विद्यमानता होती है। विना सम्यग्दर्शन के समस्त ज्ञान मिथ्याज्ञान होता है। ज्ञान में सम्यकपन लाने में सम्यग्दर्शन ही उपयोगी है। इसलिए ज्ञान के निरूपण के पश्चात् सम्यग्दर्शन का विवेचन किया जाता है।

प्रस्तुत सूत्र में सम्यग्दर्शन की व्याख्या बतलाई गई है और उसे ग्रहण करने की भव्य जीव की प्रतिज्ञा का रूप भी प्रदर्शित किया गया है। सम्यग्दर्शन के यहां तीन अंग मुख्य बताये गये हैं। अन्यान्य विषयों का इन्हीं तीन में समावेश हो जाता है। तीन रूप इस प्रकार हैं—

(१) अर्हन् मेरे देव हैं।
(२) सच्चे साधु मेरे गुरु हैं।
(३) जिन द्वारा निरूपित ही तत्त्व है।

अर्हन्, अरिहंत और अरुहन्त पद एक ही अर्थ के वाचक हैं, यद्यपि इनकी व्युत्पत्ति भाषाशास्त्र के अनुसार भिन्न-भिन्न है। सुरेन्द्र और नरेन्द्र आदि द्वारा पूजनीय होने से अर्हन्, राग-द्वेष आदि आत्मा के शत्रुओं को जीत लेने के कारण अरिहन्त, और कर्मों का आत्यन्तिक विनाश कर देने के कारण अरुहन्त कहलाते हैं। इस प्रकार व्युत्पत्तिजन्य अर्थ में पार्थक्य होने पर भी, यह तीनों शब्द आत्मा की जिस अवस्था के वाचक हैं, वह अवस्था एक ही है। जो आत्मा निरन्तर विशिष्ट साधना-उपासना के द्वारा चार घातिया कर्मों का समूल विनाश करके सर्वज्ञ, सर्वदर्शी

वीतराग और अनन्त शक्तिशाली बन जाता है, जो जीवन्मुक्तदशा को प्राप्त कर लेता है वह आत्मा अर्हन् पदवी का पात्र होता है। अर्हन् भगवान् में मुख्य बारह गुण होते हैं। जैसे –(१) अनन्तज्ञान (२) अनन्त दर्शन (३) अनन्त चारित्र (४) अनन्त तप (५) अनन्त बल (६) अनन्त क्षायिक सम्यक्त्व (७) वज्रऋषभनाराच संहनन (८) समचतुरस्र संस्थान (९) चौतीस अतिशय (१०) पैंतीस वाणी के गुण (११) एक हजार आठ उत्तम लक्षण और (१२) चौंसठ इन्द्रों द्वारा पूज्यता।

अर्हन् भगवान् अठारह प्रकार के दोषों से रहित होते हैं। वे दोष इस प्रकार हैं—(१) मिथ्यात्व (२) अज्ञान (३) मद (४) क्रोध (५) माया (६) लोभ (७) रति (८) अरति (९) निद्रा (१०) शोक (११) असत्य भाषण (१२) चौर्य कर्म (१३) मत्सर (१४) भय (१५) हिंसा (१६) प्रेम (१७) क्रीड़ा (१८) हास्य। इन अठारह दोषों का अर्हन्त में सम्पूर्ण रूप से अभाव होता है और इनके अभाव से प्रकट होने वाले गुण परिपूर्ण रूप में व्यक्त हो जाते हैं,जिनका उल्लेख अभी किया गया है।

अर्हन्त भगवान् को केवल चार अघातिक कर्म शेष रहते हैं, जिनके कारण वे शरीर में विद्यमान रहते हैं। इन कर्मों का नाश होने पर वही सिद्ध परमात्मा बन जाते हैं। ऐसे अरिहन्त भगवान् को देव समझना सम्यग्दर्शन का पहला रूप है।

सच्चे साधु वह हैं जो पूर्ण रूप से अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पांच महाव्रतों का पालन करते हैं। भिक्षोपजीवी होते हैं, निष्काम भाव से तपस्या, ज्ञान, ध्यान आदि पवित्र अनुष्ठानों में संलग्न रहते हैं, अनगार होते हैं, पैदल चलते हैं, नंगे पैर, नंगे सिर रहते हैं, साम्यभाव का अवलम्बन करके सांसारिक बखेड़ों से सर्वथा दूर रहते हैं। इनका स्वरूप और चारित्र आगे विस्तार से बताया जायगा। ऐसे साधु ही सच्चे साधु हैं। इन पर श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन का दूसरा रूप है।

राग द्वेष आदि पूर्वोक्त अठारह दोषों को जीतने वाला 'जिन' कहलाता है। जिन सर्वज्ञ और वीतराग होते हैं। सर्वज्ञ होने के कारण उनमें अज्ञान का लेशमात्र नहीं होता और वीतराग होने के कारण कषाय का सर्वथा ही अभाव हो जाता है। अज्ञान और कषाय का अभाव हो जाने के कारण जिन भगवान् का तत्त्व-निरूपण सत्य, यथार्थ ही होता है। अतएव जिनेन्द्र द्वारा प्ररूपित दयामय धर्म, और अनेकान्तमय तत्त्व ही वास्तविक है, इस प्रकार दृढ़ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन का तीसरा रूप है।

तीन प्रकार की श्रद्धा, सम्यग्दृष्टि पुरुष में इतनी सुदृढ़ अनिश्चल होती है कि उसे कोई भी, यहां तक कि देव दानव भी भंग नहीं कर सकता। शास्त्रों में ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिनमें सम्यग्दृष्टि श्रावकों को, सम्यग्दर्शन से च्युत करने का देवताओं ने प्रयास किया है, पर वे अपनी श्रद्धा से रंच मात्र भी विचलित नहीं हुए।

सम्यक्त्व की प्राप्ति दो प्रकार से होती है—(१) निसर्ग से और (२) अधिगम से। निसर्ग से अर्थात् बिना गुरु आदि के उपदेश के जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता

है उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं और गुरु आदि के उपदेश से उत्पन्न होने वाला सम्यग्दर्शन अधिगमज कहलाता है।

जैसे तीव्र वेग वाली नदी में बहने वाला पत्थर, अन्य पत्थरों से टकराता-टकराता गोलमोल बन जाता है, उसी प्रकार नाना योनियों में भ्रमण करते-करते, अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक क्लेश सहन करते-करते कर्मों की कुछ निर्जरा होती है। उस निर्जरा के प्रभाव से जीव को पांच लब्धियों की प्राप्ति होती है—(१) क्षयोपशम लब्धि (२) विशुद्धि लब्धि (३) देशना लब्धि (४) प्रयोग लब्धि और (५) करण लब्धि। अनादिकाल से संसार में पर्यटन करते हुए कभी संयोगवश, ज्ञानावरण आदि आठों कर्मों की अशुभ प्रकृतियों के अनुभाग को प्रति-समय अनन्त-अनन्त गुना न्यून करना क्षयोपशम लब्धि है। जब क्षयोपशम लब्धि प्राप्त हो जाती है तो इसके प्रभाव से अशुभ कर्मों का अनुभाग मंद होने के कारण परिणामों में संक्लेश की हानि होती है। शुभ प्रकृतियों के बंध का कारणभूत शुभ परिणाम उत्पन्न होता है। इसे विशुद्धि लब्धि कहते हैं। विशुद्धि लब्धि के प्रभाव से जिनेन्द्र भगवान् की वाणी सुनने की, साधु-संगति करने की इच्छा होती है। इसके फलस्वरूप जीव को तत्त्व का सामान्य ज्ञान हो जाता है। यह देशनालब्धि है। इस के पश्चात् जीव अपने परिणामों की विशुद्धता करता हुआ, आयु को छोड़कर शेष सात कर्मों की स्थिति कुछ कम कोड़ाकोड़ी सागरोपम की करता है और घातिया तथा अघातिया कर्मों के रस को तीव्रतर से मंद करता है। यह प्रयोग लब्धि है। प्रयोगलब्धि के पश्चात् पांचवीं करणलब्धि होती है। इसमें तीन प्रकार के परिणाम होते हैं—यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। करण आत्मा के परिणाम को कहते हैं। अनादिकालीन राग-द्वेष की तीव्रतम ग्रंथि भेदने के समीप पहुंच जाने वाला आत्मा का परिणाम यथाप्रवृत्तिकरण कहलाता है। यह करण अभव्य जीव को भी हो जाता है। इस परिणाम के पश्चात् अधिक विशुद्धतर परिणाम होता है वही अपूर्वकरण कहलाता है। इस परिणाम के द्वारा जीव राग-द्वेष की ग्रंथि को भेदने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है और किसी-किसी आचार्य के मत से ग्रंथि-भेद कर डालता है। ग्रंथि-भेद करने से आत्मा में अपूर्व निर्मलता प्रकट होती है। उसके अनन्तर अनिवृत्तिकरण होता है। यह अत्यन्त विशुद्ध परिणाम है और इसकी प्राप्ति होने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का और आत्मा की विशुद्धि का क्रम बतलाया जा चुका है। जब अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ और दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियों का उपशम, क्षय या क्षयोपशम होता है तभी सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। उक्त सातों प्रकृतियों के उपशम से उत्पन्न होने वाला सम्यग्दर्शन औपशमिक और सातों के क्षय से होने वाला क्षायिक कहलाता है। उदय को प्राप्त हुए मिथ्यात्वमोहनीय का क्षय होने पर तथा अनुदित मिथ्यात्व का उपशम होने पर और सम्यक्त्वमोहनीय के उदय होने पर उत्पन्न होने वाला सम्यग्दर्शन क्षायोपशमिक कहलाता है। इन तीनों

में क्षायिक सम्यक्त्व सब से अधिक निर्मल होता है। एक बार उत्पन्न होने के पश्चात् फिर उसका नाश नहीं होता, जब कि औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न होकर फिर नष्ट हो जाते हैं।

सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने पर आत्मा में एक प्रकार की ऐसी निर्मलता आ जाती है, जो मिथ्यात्व की अवस्था में कभी प्राप्त नहीं हुई थी। यही कारण है कि थोड़ी-सी देर, एक अन्तर्मुहूर्त्त, के लिए भी जिसे सम्यक्त्व प्राप्त हो गया है वह संसार को परिमित कर डालता है और अर्द्धपुद्गल-परावर्त्तनकाल में अवश्य मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

मुक्ति प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन की अपेक्षा होती है। जब तक दृष्टि निर्मल नहीं है तब तक समस्त ज्ञान मिथ्याज्ञान और समस्त चारित्र मिथ्या-चारित्र कहलाता है। मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र भव-भ्रमण का ही कारण है और मुक्ति का प्रतिबंधक है। इसी कारण सम्यग्दर्शन को मुक्ति-महल की पहली पंक्ति कहा गया है। जैसे अक के बिना बिन्दुओं की लम्बी लकीर बना देने पर भी उसका कुछ अर्थ नहीं होता—उससे कोई भी संख्या निष्पन्न नहीं होती, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना किया जाने वाला प्रयत्न मुक्ति के लिए उपयोगी नहीं होता है। सम्यग्दृष्टि जीव संसार में रहता हुआ भी, और सांसारिक कार्य--कलाप करता हुआ भी, जल में रहने वाले कमल की भांति अलिप्त रहता है। उसके परिणामों में संसार के प्रति विरक्ति बनी रहती है। वह चारित्र का पालन न करे तो भी इन्द्रियों के भोगों-पभोगों में लोलुप नही होता। शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य के पवित्र भाव उसमें अभिव्यक्त हो जाते हैं। निश्चय सम्यग्दृष्टि प्राणी के राग--द्वेष और मोह अत्यन्त मंद होते हैं। वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी आत्मीय गुणों के परम रस का आस्वादन करता है। वह पर पदार्थों से आत्म--भाव हटा लेता है। वह देह में रहता हुआ भी देहातीत हो जाता है। यह लक्षण जिसमें पाये जाते हैं वह निश्चय सम्यग्दृष्टि है। अरिहन्त भगवान को देव मानना, साधु-गुणों से युक्त निर्ग्रन्थ मुनियों को गुरु समझना और जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित धर्म को ही कल्याणकारी धर्म मानना व्यवहार सम्यक्त्व है। व्यवहार सम्यक्त्व, निश्चय सम्यक्त्व में कारण होता है, अतएव सूत्रकार ने यहां प्रथम व्यवहार सम्यक्त्व का स्वरूप दिखलाया है।

मूलः-परमत्थसंथवो वा, सुदिट्ठपरमत्थसेवणा वावि।
वावण्णकुदंसणवज्जणा य सम्मत्तसद्दहणा ॥ २ ॥

छायाः—परमार्थसंस्तवः वासुदृष्टपरमार्थसेवनावाऽपि।
व्यापन्नकुदर्शनवर्जनं च सम्यक्त्वश्रद्धानम् ॥२॥

शब्दार्थः—तात्विक पदार्थ का चिन्तन करना, तात्विक पदार्थों को सम्यक् प्रकार से जानने वालों की शुश्रूषा करना, सम्यग्दर्शन का वमन--त्याग करने वालों तथा मिथ्या-

दृष्टियों की संगति का त्याग करना, यही सम्यक्त्व का श्रद्धान है।

भाष्यः—सम्यक्त्व का सामान्य स्वरूप बताने के पश्चात् सूत्रकार ने यहां यह बताया है कि सम्यक्त्व संबंधी श्रद्धान की स्थिरता और सुरक्षा किस प्रकार हो सकती है। सम्यक्त्व की उत्पत्ति हो जाने पर भी उसकी स्थिरता का उपाय न किया जाय तो वह विनष्ट हो सकता है अतएव सम्यग्दृष्टि जीवों को अत्यन्त कठिनता से प्राप्त हुए अनमोल खजाने की तरह, चिन्तामणि की तरह, पारस पाषाण की तरह और अपने प्रिय प्राणों की तरह सम्यक्त्व की रक्षा करनी चाहिए। यहां सम्यक्त्व की रक्षा के चार साधन बताये गये हैं।

(१) परमार्थसंस्तव-परम का अर्थ श्रेष्ठ, कल्याणकारी या उत्तम होता है। ऐसे परम अर्थ का अर्थात् मोक्ष का सदा चिन्तन करना। अथवा परमार्थ का अर्थ है आत्मा, क्यों कि मोक्ष आत्मा की ही अवस्था-विशेष है। इस प्रकार आत्म-तत्व का चिन्तन करना, परमार्थ-संस्तव है। अथवा मोक्ष-प्राप्ति में जो पदार्थ उपयोगी होते हैं वे परमार्थ कहलाते हैं और उनका परिचय पाना, उनके स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना और चिन्तन करना भी परमार्थसंस्तव है। अथवा, संसार की नाश--शील, अधःपतन की कारण भूत लक्ष्मी की अपेक्षा पर अर्थात् उत्कृष्ट जो मा अर्थात् लक्ष्मी—अनन्त ज्ञान दर्शन, सुख आदि रूप भाव लक्ष्मी है अर्थ अर्थात् प्रयोजन जिसका, ऐसा संस्तव करना। तात्पर्य यह है कि आध्यात्मिक विभूति प्रदान करने वाला संस्तव परमार्थ संस्तव कहलाता है।

परमार्थसंस्तव—पद से विभिन्न व्युत्पत्तियां करके अनेक आशय निकाले जा सकते हैं। ऊपर जो अर्थ दिये गये हैं वे सभी प्रासंगिक हैं और सभी से सम्यक्त्व की रक्षा होती है। मोक्ष की चिन्ता करने से सम्यक्त्व दृढ़ होता है। आत्मा के स्वरूप का चिन्तन करने से भी सम्यक्त्व में भी प्रगाढ़ता आती है। मोक्ष प्राप्ति में उपयोगी अर्थों का अर्थात् नव तत्वों का चिन्तन करने से सम्यक्त्व की स्थिरता होती है। मैं कौन हूं? मेरा वास्तविक--स्वाभाविक स्वरूप क्या है? किस कारण से मैं जन्म-जरा-मरण की वेदनाएं भोग रहा हूं? इन सब वेदनाओं के चंगुल से छुटकारा पाने का उपाय क्या है? कौन सी शक्ति है जिसने मुझे अपने स्वाभाविक गुणों से च्युत कर दिया है? इत्यादि प्रश्नों का सूक्ष्म समाधान पाने के लिए जीव, अजीव, आश्रव, संवर आदि सभी तत्वों के ज्ञान की आवश्यकता होती है। यह ज्ञान ही आत्म-कल्याण में उपयोगी है। अतएव इनका निरन्तर चिन्तन-मनन करने से सम्यक्त्व प्रगाढ़ बनता है, इसी प्रकार मुक्ति रूपी लक्ष्मी प्रदान करने वाला चिन्तन करना भी सम्यक्त्व की स्थिरता का कारण है। इस चिन्तन में संसार की यथार्थ दुःखमयी दशा का चिन्तन करना, शरीर की अशुचिता, अस्थिरता, इन्द्रियों का आत्मा पर आधिपत्य क्यों, किस प्रकार और क्या फल देने वाला है, आदि विचार करना, मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और मध्यस्थ भावना का बारम्बार चिन्तन करना, बारह भावनाओं की अनुप्रेक्षा करना, आदि सम्मिलित है। कर्मों के वशीभूत होकर जगत् का प्राणी

किस प्रकार अपने वास्तविक स्वरूप को त्यागकर चक्रवर्त्ती से चाकर, राजा से रंक उत्कृष्ट से निकृष्ट बन रहा है ? इत्यादि विचार करना भी परमार्थ संस्तव कहलाता है। यह सम्यक्त्व-श्रद्धान का प्रथम कारण है।

(२) सुदृष्टपरमार्थसेवना—जिन महापुरुषों ने परमार्थ को सम्यक् प्रकार से जान लिया, देख लिया या अनुभव किया है उनकी सेवना अर्थात् सेवा करने से परमार्थ का परिचय होता है। यहां 'सुज्ञात' न कह कर सूत्रकार ने सुदृष्ट कहा है, उससे यह भाव निकलता है कि जिन्हों ने परमार्थ का शास्त्र के आधार से ज्ञान ही नहीं प्राप्त किया है, वरन् ज्ञान प्राप्त करके उसे चिन्तन-मनन, ध्यान आदि उपायों से आत्मा में रमा लिया है, आत्मसात् कर लिया है, अनुभूति की कोटि में पहुंचा दिया है, ऐसे अनुभवशाली महा-पुरुषों की सेवा-शुश्रूषा से सम्यक्त्व रूप श्रद्धान होता है। पहले व्याख्या-प्रज्ञप्ति सूत्र के प्रमाण से यह बतलाया जा चुका है कि सत्संगति का फल सिद्धान्त का श्रवण है और श्रवण का फल ज्ञान है।

(३) व्यापन्न-वर्जना—जैसे दो मल्लों में जब कुश्ती होती है तब कभी पहला दूसरे को नीचे गिराता है, कभी मौका पाकर दूसरा पहले को दे मारता है। अथवा दो सेनाओं में जब युद्ध होता है तो कभी एक सेना आगे बढ़ती और पीछे हटती है और कभी दूसरी सेना पीछे हटती और आगे बढ़ती है। इसी प्रकार आत्मा में और कर्मों में अनादिकाल से संग्राम चल रहा है। यह संग्राम निरन्तर-अ-स्थगित रूप में जारी रहता है। कभी प्रबल होकर आत्मा कर्मों को पीछे हटाती है। और कभी कर्म सबल होकर आत्मा को पछाड़ देते हैं। जिस आत्मा ने एक बार शक्ति-सम्पादन कर के कर्म-शत्रुओं के बल को भेद करके सम्यक्त्व प्राप्त किया, वही आत्मा कभी कर्म-शत्रुओं द्वारा फिर पराजित हो जाता है और उसके द्वारा पाया हुआ सम्यक्त्व रूपी मुकुट उससे छिन जाता है। इस प्रकार एक बार सम्यक्त्व प्राप्त कर फिर मिथ्यादृष्टि बना हुआ व्यक्ति व्यापन्न कहलाता है। उसके संसर्ग से सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व में मलीनता आने की तथा सम्यक्त्व के नाश होने की संभावना रहती है। अतएव सम्यक्त्व की रक्षा चाहने वालों का ऐसे व्यापन्न व्यक्ति से दूर ही रहना चाहिए।

(४) कुदर्शन-वर्जना—मिथ्या श्रद्धान करने वाले को कुदर्शन कहते हैं। अथवा एकान्तवाद की स्थापना करने वाला, असर्वज्ञ पुरुष द्वारा प्ररूपित, पूर्वापर विरोध से युक्त, प्रत्यक्ष-अनुमान आदि प्रमाणों से बाधित, अहितकारी एवं मुक्ति में प्रतिबन्धक, असत्य रूप सिद्धान्तों का निरूपण करने वाला शास्त्र कुदर्शन कहलाता है। अथवा कुत्सित अर्थात् वस्तुस्वरूप को यथार्थ रूप से प्रकट न करने वाला जिसका दर्शन अर्थात् सिद्धान्त हो उस एकान्तवादी शास्त्रप्रणेता को जिसे अन्य लोग देव के रूप में स्वीकार करते हैं—कुदर्शन कहते हैं। इस प्रकार कुदर्शन' शब्द से मिथ्या गुरु, मिथ्या शास्त्र और मिथ्या देव का ग्रहण होता है। सम्यग्दृष्टि पुरुष को इनकी संगति का परित्याग करना चाहिए।

जिनमें साधुता के शास्त्रोक्त लक्षण नहीं पाये जाते, फिर भी जो भांति-भांति का

भेष धारण करके अपने आपको साधु-संन्यासी, जोगी, आदि कहते हैं वे मिथ्यागुरु हैं। उन्हें जीव-अजीव के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता अतएव वे षट्काय की विराधना करते हैं, असत्य भाषण करते हैं, चोरी करते हैं, ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करते, धन उपार्जन करते हैं, भक्ष्याभक्ष्य के विवेक से विहीन हैं, रात्रि में भोजन करते हैं, अपने निमित्त स्वयं बनाते और दूसरों से बनवाते हैं, सचित वनस्पति आदि का भक्षण करते हैं, स्नान करके असंख्य जीवों की विराधना करते हैं, मदिरा मांस आदि पापमय पदार्थों का सेवन करते हैं, गांजा सुलफा, बीड़ी, चिलम आदि का दम लगाते हैं, फूलमाला आदि धारण करते हैं, फिर भी अपना गुरुत्व प्रकट करने के लिए गृहस्थों से वेष की विलक्षणता जताते हैं। यह सब कुगुरु या मिथ्यागुरु कहलाते हैं। ये स्वयं कुपथगामी हैं, कुपथप्रदर्शक हैं और कुपथ में ले जाने वाले हैं। संसार रूप समुद्र को पार करने में पत्थर की नौका के समान हैं। इनके संसर्ग से ज्ञान की वृद्धि तो होती नहीं, क्योंकि जो स्वयं अज्ञानी हैं वे दूसरों को ज्ञानी कैसे बना सकते हैं, प्रत्युत सम्यग्ज्ञानी भी उनके संसर्ग से मिथ्याज्ञानी बन जाता है। उनके मिथ्यात्व पूर्ण कथन और व्यवहार से सम्यक्त्व-रत्न भी चला जाता है। अतएव कुगुरुओं के संसर्ग से सम्यग्दृष्टि को बचना चाहिए।

जिन्होंने सम्पूर्ण कर्मों का विनाश करके सर्वज्ञता, वीतरागता और आत्मिक सम्पूर्णता प्राप्त की है वही सच्चे देव कहलाते हैं। जिसमें यह लक्षण नहीं पाये जाते फिर भी जो देव रूप से लोक में मान्य समझे जाते हैं वे कुदेव कहलाते हैं।

इसी प्रकार मिथ्या एकान्तवाद की प्ररूपणा करके जगत् को अज्ञान के घोर अंधकार में गिरा देने वाले भी देव नहीं कहला सकते हैं। गाय को देव या देवों का स्थान मान कर उसकी पूजा करना और मूसल, ऊखल, चूल्हा, देहली, पीपल जल, सूर्य आदि को देव मानना देव--विषयक मिथ्यात्व है।

अहिंसा, संयम और तप ही उत्कृष्ट मंगलमय धर्म है। स्वर्ग, सम्पत्ति, देवता का प्रसाद और सुगति प्राप्ति आदि सांसारिक प्रयोजनों की सिद्धि के लिए यज्ञ-याग आदि के रूप में जीवधारियों की हिंसा करना अपने लाभ के लिए असत्य बोलना, इत्यादि अधर्म हैं। इस अधर्म को धर्म मानना धर्मविषयक मिथ्यात्व है। सम्यक्दृष्टि को इसका भी परित्याग करना चाहिए।

सूत्रोक्त यह चतुष्टय सम्यग्दर्शन के संरक्षण के लिए अत्यन्त उपयोगी है। अतएव विवेक के साथ इसे समझकर पालन करना चाहिए।

मूलः—कुप्पवयपासंडी, सव्वे उम्मग्गपट्ठिआ।
सम्मग्गं तु जिणक्खायं, एस मग्गे हि उत्तमे ॥३॥

छायाः—कुप्रवचनपाखण्डिनः सर्वे उन्मार्गप्रस्थिताः।
सन्मार्गं तु जिनख्यातं, एषो मार्गो हिउत्तमः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ:—दूषित वचन बोलने वाले, पाखण्डी सभी कुमार्ग में चलने वाले हैं। जिन भगवान् द्वारा कहा हुआ मार्ग ही सन्मार्ग है। यही उत्तम मार्ग है।

भाष्य:—पूर्ववर्त्ती गाथा में कुदर्शन के त्याग का निरूपण किया था किन्तु कुदर्शन कौन हैं ? जब तक यह बात भलीभांति न जान ली जाय तब तक उनका त्याग नहीं किया जा सकता। अतएव इस गाथा में कुदर्शन का कथन किया है। किन्तु सम्यग्दर्शन एकान्त प्रतिषेध रूप नहीं है, वरन् विधि का उसमें प्राधान्य है। अतएव यह शंका उपस्थित होती है कि कुदर्शन का त्याग करना ही यदि सम्यक्त्व नहीं है तो ग्रहण किसका करना चाहिए ? इस शंका के समाधान के लिए गाथा का उत्तरार्ध कहा गया है।

'कुप्रवचन' में 'कु' शब्द कुत्सित अर्थात् मिथ्या के अर्थ में है। अत: 'कुप्रवचन' का अर्थ होता है—मिथ्या भाषण करने वाले। अनेकान्तात्मक वास्तविक वस्तु का कथन न करके उसे एकान्त रूप प्रतिपादन करने वाले कुप्रवचन कहलाते हैं। संस्कृत भाषा के अनुसार 'कुत्सितं प्रवचनं यस्यासौ कुप्रवचनः' ऐसा पद निष्पन्न होता है। यह बहु-व्रीहिसमासान्त पद है। विशेषण-विशेष्यभाव समास करने से 'कुत्सितं प्रवचनम् कुप्रवचनम्' मिथ्या वचन कुप्रवचन कहलाता है। इससे एकान्तवाद के निरूपण करने वाले मिथ्या शास्त्रों का ग्रहण होता है।

'पाषण्डी' दंभ करने वाले व्यक्ति को कहते हैं। अथवा पाषण्डी सामान्य रूप से व्रती के अर्थ में प्रयुक्त होता है। जब सामान्य रूप से व्रती का अर्थ विवक्षित हो तो 'कुप्पवयणपासंडी' इस समासयुक्त पद के आदि में विद्यमान 'कु' का पाषण्डी के साथ भी अन्वय करना चाहिए। इस प्रकार कुपाषण्डी का अर्थ कुव्रती अर्थात् मिथ्या चारित्रवान् होता है। तात्पर्य यह है कि मिथ्या प्रवचन करने वाले, मिथ्यावचन और मिथ्या चारित्रवान् व्यक्ति कुमार्ग की ओर चले जा रहे हैं। जो उनका अनुसरण करेगा वह भी कुमार्ग में ही जायगा और अपने लक्ष्यस्थान—सिद्धि क्षेत्र को प्राप्त न हो सकेगा। सम्यग्दृष्टि पुरुष को चाहिए कि वह इनका अनुसरण न करे।

मोह रूपी नट के नाट्य के अगणित प्रकार हैं। उसके एक-एक नाट्य से एक-एक मिथ्यात्व की सृष्टि होती है। तथापि प्राचीन ऋषियों ने पाखण्ड मतों का ३६३ (तीन सौ त्रेसठ) भेदों में वर्गीकरण किया है। एकान्तवाद का अवलम्बन करने से प्रत्येक मत पाखण्ड मत बन जाता है। मूल में एकान्तवादियों के पांच भेद हैं—(१) कालवादी (२) स्वभाववादी (३) नियतिवादी (४) कर्मवादी और (५) उद्यमवादी।

(१) कालवादी—एकान्त कालवादी समस्त कार्यों की उत्पत्ति और जगत् का नियंत्रण काल ही के निमित्त से स्वीकार करता है। वह न क्रिया को कार्योत्पत्ति में कारण मानता है, न उद्योग को ही। काल के अतिरिक्त अन्य सब कारणों का निषेध

कर एकान्त काल को कारण मानने से यह एकान्तवाद है। काल-एकान्तवाद के समर्थन में यह कहा जाता है कि प्रजा की उत्पत्ति, नियत समय पर ही माता के गर्भ से होती है, अमुक-अमुक वनस्पतियां नियत समय पर ही (मौसिम के अनुसार) उत्पन्न होती हैं—बिना नियत समय के उनकी उत्पत्ति नहीं होती। नियत समय पर अर्थात् तीसरे और चौथे आरे में ही मुक्ति प्राप्त होती है, नियत समय पर उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल का आरम्भ और अन्त होता है। नियत समय से अधिक किसी का जीवन स्थिर नहीं रह सकता। तात्पर्य यह है कि संसार का समस्त व्यवहार काल पर अवलंबित है। काल रूप निमित्त को पाकर ही प्रत्येक कार्य उत्पन्न होता है। कहा भी है—

काल: पचति भूतानि, काल: संहरते प्रजा: ।
काल: सुप्तेपु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रम: ॥

अर्थात् काल ही भूतों का परिपाक करता है, काल ही जीवधारियों का संहार करता है, काल सोये हुओं में जागरूक रहता है—जब सब सोते हैं तब भी काल जागृत रहता है और काल का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। अर्थात् काल जो चाहता है वही होता है, काल के विरुद्ध कुछ भी नहीं हो सकता।

इस कालैकान्तवाद पर जरा विचार करना चाहिए। यदि प्रत्येक कार्य में काल ही एक मात्र कारण है और पुरुषों का उद्योग आदि कारण नहीं है तो जगत् में समस्त प्राणी जो निरन्तर उद्योगशील रहते हैं, उनका उद्योग निरर्थक हो जायगा। काल का आश्रय लेकर चुपचाप बैठ जाने वाले पुरुष की भूख-प्यास क्या भोजन का नियत समय आने पर बिना भोजन-व्यापार के ही मिट सकती है ? इसके अतिरिक्त काल सदैव विद्यमान रहता है। वह अनादि अनन्त द्रव्य है। अतएव प्रत्येक कार्य की प्रतिक्षण उत्पत्ति होनी चाहिए, क्योंकि कार्योत्पत्ति का कारण काल प्रतिक्षण विद्यमान रहता है। यदि यह कहा जाय कि काल कभी किसी कार्य को उत्पन्न करता है, कभी किसी कार्य को, अतएव सब कार्य एक साथ उत्पन्न नहीं होते। तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि काल के इस क्रम का कारण क्या है ? यदि काल का स्वभाव इस क्रम का कारण है तो कालैकान्तवाद खण्डित हो जाता है, क्योंकि काल के अतिरिक्त स्वभाव को भी कारण मानना पड़ा। यदि काल के क्रम में काल को ही कारण माना जाय तो क्रम बन नहीं सकता, क्योंकि सदा विद्यमान होने के कारण नित्य है। अतएव एकान्ततः काल को कारण मानना युक्ति-संगत नहीं सिद्ध होता और अनुभव से भी सिद्ध नहीं होता।

(२) स्वभाववादी—स्वभाववादी समस्त कार्यों की उत्पत्ति में अकेले स्वभाव को ही कारण मान कर काल आदि अन्य कारणों का सर्वथा निषेध करता है। वह कहता है—स्त्रीत्व की समानता होने पर भी वन्ध्या के पुत्र न होना, शिर की तरह शरीर का एक अंग होने पर भी हथेली पर रोम न होना, इन्द्रियत्व की समानता होने पर भी चक्षु से शब्द का सुनाई न देना, कानों से दिखाई न देना, इत्यादि सब स्वभाव

पर निर्भर है। अग्नि की उष्णता, हिम की शीतलता, वायु का तिर्छा चलना, गुरुत्व वाले पदार्थ का ऊपर से नीचे गिरना आदि-आदि न काल से होते हैं, न किसी पुरुष के प्रयत्न से ही। यह सब स्वभाव का खेल है। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वभाव के कारण ही भिन्न-भिन्न रूपों में परिणत हो रहा है। स्वभाव के विरुद्ध कभी किसी पदार्थ का प्रयोग नहीं किया जा सकता। अतएव स्वभाव को ही कारण के रूप में स्वीकार करना चाहिए।

इस प्रकार जो एकान्त रूप से स्वभाव कारणवादी हैं, उन्हें सोचना चाहिए कि प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव तो सदैव विद्यमान रहता है, फिर क्या कारण है कि पदार्थ क्रम से नाना रूपों में परिणत होता ? पदार्थ के जितने परिणमन होते हैं वे सब स्वभाव रूप कारण विद्यमान होने पर एक साथ क्यों नहीं होते ? उदाहरणार्थ—जीव यदि स्वभाव से ही मनुष्य होता है, स्वभाव से ही पशु-पक्षी आदि होता है और स्वभाव से ही मुक्त होता है तो एक ही साथ मनुष्य, पशु-पक्षी और मुक्त आदि विभिन्न और विरोधी रूप क्यों नहीं धारण करता ? क्योंकि जीव जब मनुष्य है तब भी पशु-पक्षी आदि होने का स्वभाव उसमें विद्यमान है। यदि यह कहा जाय कि उस समय पशु रूप परिणत होने का स्वभाव नहीं है तो यह बतलाना होगा कि वह स्वभाव बाद में किस कारण से उत्पन्न हुआ है ? यदि स्वभाव से ही उत्पन्न हुआ तो पहले ही क्यों नहीं उत्पन्न हो गया ? इसके अतिरिक्त स्वभाव से स्वभाव की उत्पत्ति होना नहीं बन सकता, क्योंकि कोई भी पदार्थ अपने-आपको उत्पन्न नहीं कर सकता। ऐसा मानने से स्वभाव की अनित्यता भी सिद्ध होती है। अतएव एकान्त स्वभाववाद भी युक्ति--संगत नहीं है।

(३) नियतिवाद—भवितव्यता या होनहार को नियति कहते हैं। नियतिवादी का कथन है कि प्रत्येक कार्य भवितव्यता से ही होता है। जीव को जो सुख--दुःख आदि होते हैं वे काल, ईश्वर, स्वभाव या जीव के उद्योग से नहीं होते। जो लोग उद्योग से सुख-दुःख की उत्पत्ति होना मानते हैं उन्हें विचारना चाहिए कि उद्योग समान करने पर भी दो पुरुषों को समान फल क्यों नहीं मिलता ? स्वामी और सेवक में से सेवक अधिक उद्योग करता है फिर भी फल की प्राप्ति सेवक को कम और स्वामी को अधिक होती है। इसीलिए किसी कवि ने कहा है—

यदभावि न तद्भावि, भावि चेन्न तदन्यथा।

अर्थात् जो होनहार नहीं है वह नहीं हो सकता और जो होनहार है वह बदल नहीं सकता।

पूर्वोक्त रीति से एकान्त नियतिवाद भी मिथ्या सिद्ध होता है। नियतिवादी भी होनहार के भरोसे हाथ पर हाथ धरे बैठा नहीं रह सकता। भूख अगर मिटनहार है तो स्वयं मिट जायगी, भोजन पकनहार है तो स्वयं पक जायगा, इस प्रकार का निश्चय करके उद्योग का त्याग करने वाला अज्ञानी एकान्त दुःख का पात्र बनेगा। एकान्त नियतिवाद अनुभव--विरुद्ध और युक्ति से भी प्रतिकूल है। समान उद्योग

करने वाले अनेक पुरुषों को समान फल की प्राप्ति न होना उनके पूर्वोपार्जित अदृष्ट पर निर्भर है अतएव उससे नियतिवाद की सिद्धि नहीं होती। इसीलिए कहा गया है कि—

न दैवमिति संचिन्त्य, त्यजेदुद्योगमात्मनः।
अनुद्यमेन कस्तैलं, तिलेभ्यः प्राप्तुमर्हति॥

अर्थात् जो होनहार है सो होगा, ऐसा विचार कर अपना उद्योग नहीं छोड़ना चाहिए। विना उद्योग किये तिलों से तेल कौन पा सकता है? तिलों में तेल तो विद्यमान रहता है पर उद्योग करने वाला ही उसे प्राप्त कर सकता है, भाग्य के भरोसे रहने वाला नहीं।

(४) कर्मवादी—एकान्त रूप से कर्म को ही सुख-दुःख आदि का कारण मानने वाला कर्मवादी कहलाता है-सब मनुष्य मनुष्यत्व की अपेक्षा समान हैं, सभी की इन्द्रियां और अंगोपांग भी समान हैं, फिर भी एक राजा होता है, दूसरा रंक होता है। समान परिश्रम करने वाले दो शिष्यों में से एक प्रतिभाशाली, अपने विषय में पारंगत विद्वान् हो जाता है और दूसरा कर्म के कारण मूर्ख ही बना रहता है। भगवान् ऋषभदेव सदृश पुण्यशाली महापुरुष को एक वर्ष तक अन्न का एक भी कण प्राप्त न हो सका, चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी को घोर उपसर्ग सहने पड़े, सगर चक्रवर्त्ती के साठ हजार पुत्र एक साथ काल कवल बने, यह सब कर्म का ही माहात्म्य समझना चाहिए।

एकान्त कर्मवादी से यह पूछा जा सकता है कि भिन्न-भिन्न प्राणियों के भिन्न--भिन्न कर्म होने का क्या कारण है? क्या बिना क्रिया किये ही-विना व्यापार के ही--कर्म का संयोग जीव के साथ हो जाता है? यदि हो जाता हो तो सभी जीवों के एक सरीखे कर्मों का संयोग क्यों नहीं होता? तथा मुक्त जीवों को भी कर्म--संयोग क्यों नहीं होता? यदि जीव के व्यापार की भिन्नता के कारण कर्मों में भिन्नता होती है तो जीव के व्यापार को अर्थात् उद्योग को भी कारण मानना चाहिए। फिर सिर्फ कर्म को ही कारण क्यों कहते हो? इस प्रकार एकान्त कर्मवाद भी विचार करने पर खंडित हो जाता है।

(५) उद्यमवादी—एकान्त उद्यमवादी, कर्म, काल, स्वभाव आदि का सर्वथा निषेध करके एकान्ततः उद्यम को ही कारण स्वीकार करता है। वह कहता है--प्रत्येक कार्य उद्यम से ही सिद्ध होता है। उद्योगी पुरुष ही प्रत्येक कार्य में सफलता प्राप्त करता है। उद्योगी पुरुष अपने उद्योग की प्रबलता से दुस्साध्य कार्य भी सुसाध्य बना लेता है। पुरुष ने उद्योग करके वायुयानों का निर्माण किया है, विद्युत को अधीन करके उससे अनेक कौतूहल वर्द्धक और आश्चर्यजनक आविष्कार कर लिये हैं। उद्योग से रंक राजा, मूर्ख पंडित और निर्धन पुरुष सधन बन जाता है। उद्योग का महत्त्व सब के सामने है। अतएव उद्योग को ही कारण के रूप में अंगीकार करना चाहिए।

किन्तु अन्यान्य एकान्तवादों की तरह उद्यमैकान्तवाद भी तर्क की कसौटी पर सच्चा नहीं सिद्ध होता। मनुष्य तो क्या, देवराज इन्द्र भी अग्नि को शीतरूपता प्रदान नहीं कर सकता। वह कोटिशः प्रयत्न करके भी आत्मा को मूर्तिक, पुद्गल को अमूर्तिक और आकाश को हस्तगत करने में असमर्थ ही रहेगा। वास्तव में जिस वस्तु का जिस द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि निमित्तों से जिस रूप परिणत होने का स्वभाव है, वही वस्तु उद्यम के द्वारा उस रूप में परिणत हो सकती है। अतएव अकेले उद्यम को कारण मानना सर्वथा अनुचित है।

उल्लिखित एकान्तवाद, इसी कारण मिथ्या है कि वे सिर्फ एक कारण को, अन्य कारणों का अपलाप करके स्वीकार करते हैं। यदि वे एकान्तवादी अन्य कारणों को भी यथोचित रूप से स्वीकार करें तो अनेकान्तवादी होकर पाखंडी नहीं रहेंगे। उक्त पांचों एकान्तवादी मूलतः चार प्रकार के हैं—(१) क्रियावादी (२) अक्रियावादी (३) अज्ञानवादी और (४) विनयवादी। इन चारों का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है:—

(१) क्रियावादी—जो लोग ज्ञान आदि की अपेक्षा न करके एकान्त रूप से क्रिया में ही लीन रहते हैं, सिर्फ क्रिया को ही मोक्ष का कारण स्वीकार करते हैं, अथवा जो जीव को एकान्ततः क्रिया--परिणत ही स्वीकार करते हैं वे भी क्रियावादी कहलाते हैं। क्रियावादियों के १८० भेद होते हैं। पूर्वोक्त पांच एकान्तवादों को स्व और पर की अपेक्षा द्विगुणित करने से दस भेद होते हैं। दस भेदों को शाश्वत और अशाश्वत के भेद से द्विगुणित करने पर बीस भेद हो जाते हैं। इन बीस भेदों को नव तत्त्वों के साथ गुणाकार करने से १८० भेद हो जाते हैं। एकान्त क्रियावाद पर पहले विचार किया जा चुका है। अतएव यहां पुनरावृत्ति नहीं की जाती।

(२) अक्रियावादी—अक्रियावादी का मन्तव्य है कि आत्मा न स्वयं कोई क्रिया करता है और न दूसरों से कराता है। यहां तक कि गमनागमन आदि क्रियाएं भी आत्मा नहीं करता, क्योंकि आत्मा व्यापक और नित्य है। जैसे आकाश व्यापक और नित्य होने के कारण कोई क्रिया नहीं कर सकता उसी प्रकार आत्मा भी क्रिया का कर्त्ता नहीं है। अक्रियावादी का यह मत युक्ति और अनुभव दोनों से बाधित है। यदि आत्मा क्रिया नहीं करता तो चतुर्गति रूप संसार किस प्रकार बन सकता है? फिर समस्त आत्माएं सदा मुक्त क्यों नहीं हैं? दुःख--सुख आदि की विचित्रता जीवों में किस कारण पायी जाती है? इसके अतिरिक्त गमन--आगमन आदि क्रिया प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रतीत होती है। प्रत्यक्ष से निर्भ्रान्त प्रतीत होने वाली वस्तु का अपलाप नहीं किया जा सका। अतएव जीव को एकान्त रूप से क्रियाहीन मानना मिथ्यात्व है। इन मिथ्यात्वियों के चौरासी (८४) भेद होते हैं। उक्त पांच भेदों तथा ब्रह्म की इच्छा से जगत् की उत्पत्ति की अपेक्षा छह कारणों को स्वात्मा और परात्मा की अपेक्षा द्विगुणित करने से बारह भेद होते हैं। बारह भेदों को सात तत्त्वों के साथ गुणाकार करने पर चौरासी भेद बनते हैं। पुण्य और पाप रूप दो तत्त्वों को छोड़ दिया गया है, क्योंकि अक्रियावादी पुण्य और पाप का आत्मा के साथ संबंध होना नहीं मानते हैं।

(३) अज्ञानवादी—अज्ञानवादी कहता है कि यद्यपि संसार में अनेक त्यागी, वैरागी, पंडित-विद्वान् और शास्त्रकार अपने अपने ज्ञान का वर्णन करते हैं, परन्तु उन सब का ज्ञान परस्पर विरोधी है। एक मत का आचार्य जो ज्ञान बतलाता है, उसे अन्य सभी आचार्य मिथ्या कहते हैं, इसी प्रकार सभी के ज्ञान दूसरों की दृष्टि में मिथ्या प्रतीत होते हैं। अतएव अज्ञान ही श्रेष्ठ है, ज्ञान की कल्पना करना निरर्थक है। जैसे म्लेच्छ पुरुष, आर्य पुरुष के कथन का अनुवाद मात्र करता है, अर्थ को नहीं समझता, उसी प्रकार सभी मतवाले अपने मतप्रवर्त्तक को सर्वज्ञ मानकर उनके उपदेशानुसार प्रवृत्ति करते हैं परन्तु सर्वज्ञ के वास्तविक अभिप्राय को, असर्वज्ञ पुरुष नहीं जान सकता। इसके अतिरिक्त कौन सत्यवादी है और कौन असत्यवादी है ? इस प्रकार का निर्णय करना किसी के लिए संभव नहीं है। ऐसी दशा में ज्ञान के फंदे में न फँस कर अज्ञान को ही स्वीकार करना चाहिए। ज्यों-ज्यों ज्ञान बढ़ता जाता है त्यों-त्यों दोष भी बढ़ते जाते हैं, क्योंकि जानने वाला अगर अपराध करता है तो उसे पाप लगता है और न जानने वाला पाप से मुक्त रहता है। वर्त्तमान में भी अबोध बालक द्वारा किये हुए अपराध कानून की दृष्टि में उपेक्षणीय होते हैं, जानकार द्वारा कृत अपराध तीव्र दण्ड के कारण होते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि ज्ञान की अपेक्षा अज्ञान ही अधिक श्रेयस्कर है। अज्ञान वह कवच है जिससे दुःखों से रक्षा हो जाती है।

अज्ञानवादी का पूर्वोक्त कथन ठीक नहीं है। यदि अज्ञानवाद ही श्रेष्ठ है तो स्वयं अज्ञानवादी 'ज्ञान मिथ्या है, अज्ञान श्रेष्ठ है' इस प्रकार की मीमांसा क्यों करता है ? यदि सब ज्ञान मिथ्या हैं तो अज्ञानवादी का ज्ञान भी मिथ्या ही मानना होगा और फिर मिथ्याज्ञानमूलक उसका कथन सत्य कैसे हो सकता है ? जब उनका कथन और ज्ञान मिथ्या है तो अज्ञानवाद कैसे सिद्ध हो सकता है ? अज्ञान-वाद यदि सम्यक् होता तो स्वयं अज्ञानवादी अपने मत की—अज्ञानवाद की शिक्षा क्यों देता ? इससे स्पष्ट है कि अज्ञानवादी स्वयं अज्ञान को सम्यक् नहीं समझता। यही कारण है कि वह अपने मत का ज्ञान दूसरों को कराता है।

समस्त मत परस्पर विरोधी होने के कारण मिथ्या हैं, यह कथन सर्वथा मिथ्या है। मिथ्या का विरोधी सब मिथ्या नहीं होता। मिथ्या मतों से विरुद्ध होने पर भी सर्वज्ञ वीतराग द्वारा उपदिष्ट मत सत्य है। अतएव अज्ञानवाद मिथ्या है। अज्ञानवादियों के ६७ भेद होते हैं। पूर्वप्रतिपादित सप्त भंगी के सिर्फ एक-एक भंग को लेकर नव तत्त्वों के साथ गुणाकार करने से त्रेसठ विकल्प निष्पन्न होते हैं। अर्थात् नव तत्त्वों संबंधी प्रत्येक भंग के ज्ञान का निषेध करने से उक्त भेद सिद्ध होते हैं। सांख्यमत, आदि चार जोड़ने से ६७ भेद हो जाते हैं।

(४) विनयवाद—सम्यक्-असम्यक् सदोप-निर्दोप आदि का विवेक न करके एकान्ततः विनय से मुक्ति मानना विनयवाद कहलाता है। इसे वैनयिक मिथ्यात्व भी कहते हैं। वैनयिक मिथ्यादृष्टि अपनी मूढ़ता के कारण यह निश्चय नहीं करता कि

कौन देव-गुरु वन्दनीय हैं, कौन अवन्दनीय हैं ? जैसे अज्ञानी पुरुष कांच और हीरे को समान समझता है उसी प्रकार वैनयिक, सब देवों को, सब गुरुओं को, चाहे वे सुदेव हों चाहे कुदेव हों, चाहे सुगुरु हों, चाहे कुगुरु हों, समान रूप से विनय का-भक्ति का पात्र समझता है। किन्तु यह ठीक नहीं है। जगत् में जो अनेक धर्म प्रचलित हैं, उनकी प्रकृति सर्वांश में एक नहीं है। उनके तत्त्वज्ञान में और आचार-विचार में स्पष्टतः भेद प्रतीत होता है। ऐसी हालत में सभी धर्मों को समान समझ लेना सत्य का तिरस्कार करना ही है। यह ठीक है कि सत्य सत्य ही है, चाहे वह कहीं भी उपलब्ध हो उसे ग्रहण करना चाहिए और विधर्मी या विधर्म के प्रति विद्वेष की भावना हृदय में नहीं उत्पन्न होनी चाहिए। तथापि सब धान बाईस पंसेरी नहीं होना चाहिए। सत्य-असत्य की मीमांसा अवश्य कर्त्तव्य है, यही मानवीय बुद्धि के प्रकर्ष की सर्वाधिक उपयोगिता है।

विनयवादी—(१) सूर्य (२) राजा (३) ज्ञानी (४) वृद्ध (५) माता (६) पिता (७) गुरु (८) धर्म, इन आठों का मन, वचन, काय से सत्कार करना और विनय-भक्ति करना मानते हैं। इस प्रकार आठों को मन, वचन, काय और भक्ति से गुणित करने पर वैनयिकों के ३२ भेद होते हैं। पाखण्ड मत के सब मिलाने से तीन सौ त्रेसठ भेद बन जाते हैं। यह भेद मध्यम विवक्षा से समझने चाहिए।

इस प्रकार यह सब पाखण्ड मतावलम्बी कुमार्ग की ओर ले जाते हैं अर्थात् अहित पथ में प्रवृत्त कराते हैं। इन सब का त्याग करके अनेकान्तवाद की पवित्रता से अंकित, जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित सन्मार्ग को ही हित-पथ समझना चाहिए। जो इस प्रकार का दृढ़ श्रद्धान रखते हैं, वही वास्तव में सम्यग्दृष्टि होते हैं।

मूलः-तहिआणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं।
भावेण सद्दहंतस्स, सम्मत्तं तं विआहियं ॥ ४ ॥

छायाः—तथ्यानाम् तु भावानां सद्भाव उपदेशनम्।
भावेन श्रद्दधतः, सम्यक्त्वं तत् व्याहृतम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थः—तथ्य भावों का अर्थात् जीव आदि नव पदार्थों की स्वतः या दूसरे के उपदेश से, भावपूर्वक श्रद्धा करना सम्यक्त्व कहा गया है।

भाष्यः—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, यह नौ तथ्य पदार्थ हैं। मुमुक्षु जीवों को इनका वास्तविक स्वरूप समझकर इन पर भावपूर्वक श्रद्धान करना आवश्यक है। इसी श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा गया है।

तत्त्वार्थश्रद्धा रूप सम्यक्त्व दो प्रकार से होता है—अन्य के उपदेश के बिना ही और अन्य के उपदेश से। प्रथम प्रकार का सम्यक्त्व निसर्गज सम्यग्दर्शन कहलाता है। दूसरा अधिगमज कहलाता है। इनका स्वरूप पहले ही कहा जा चुका है।

मूलः-निसग्गुवएसरुई, आणरुई सुत्तबीअरुइमेव ।
अभिगमवित्थाररुई, किरियासंखेव धम्मरुई ॥ ५ ॥

छायाः—निसर्गोपदेशरुचिः, आज्ञारुचिः, सूत्रबीजरुचिरेव ।
अभिगमविस्ताररुचिः, क्रिया संक्षेप धर्मरुचिः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—सम्यक्त्व के कारण की अपेक्षा दस प्रकार हैं—(१) निसर्ग रुचि (२) उपदेशरुचि (३) आज्ञारुचि (४) सूत्ररुचि (५) बीजरुचि (६) अभिगमरुचि (७) विस्तार रुचि (८) क्रिया रुचि (९) संक्षेपरुचि और (१०) धर्मरुचि।

भाष्य—सम्यक्त्व के स्वरूप का प्रतिपादन करके उसके भेदों का यहां कथन किया गया है। सम्यक्त्व आत्मा का स्वरूप है, तथापि दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से आत्मस्वरूपभूत सम्यक्त्व विकारग्रस्त हो जाता है। जब अन्तरंग कारण दर्शन-मोह का क्षय, क्षयोपशम और उपशम प्राप्त हो जाता है और बाह्य निमित्तों का भी सद्भाव होता है तब दर्शन गुण की विकृति दूर हो जाती है। वही सम्यक्त्व कहलाता है। यहां सम्यक्त्व के बाह्य निमित्तों की अपेक्षा दस लक्षण बताये गये हैं। इनका स्वरूप इस भांति है—

(१) निसर्गरुचि—गुरु आदि का उपदेश श्रवण किये विना ही कर्मों की विशिष्ट निर्जरा होने पर स्वभाव से जो सम्यक्त्व हो जाता है वह निसर्ग रुचि कहलाता है।

(२) उपदेश रुचि - तीर्थंकर भगवान् का या अन्य मुनिराज आदि का उपदेश श्रवण करने से होने वाला सम्यक्त्व उपदेश रुचि है।

(३) आज्ञारुचि—अर्हन्त भगवान् की परम कल्याण-कारिणी, समस्त संकटों का अन्त करने वाली आज्ञा को आराधन करने से होने वाला सम्यक्त्व आज्ञारुचि है अथवा भगवान् की आज्ञा को विशेष रूप से आराधन करने की, तदनुकूल व्यवहार करने की रुचि होना आज्ञा-रुचि है।

(४) सूत्ररुचि—द्वादशांग रूप श्रुत का अभ्यास करने से होने वाली रुचि सूत्र-रुचि है। अथवा द्वादशांगी का पठन-पाठन, चिन्तन-मनन करते हुए, ज्ञान के परम रस-सरोवर में आत्मा को निमग्न करने की रुचि सूत्र रुचि कहलाती है।

(५) बीजरुचि—जैसे छोटे से बीज से विशालकाय वटवृक्ष उत्पन्न हो जाता है, अथवा पानी में डाला हुआ तैल-विन्दु खूब फैल जाता है, उसी प्रकार एक पद भी जिसे अनेक पद रूप परिणत हो जाता है अर्थात् थोड़े का बहुत रूप परिणमन होना बीज रुचि है।

(६) अभिगम रुचि—अंगोपांगों के अर्थ रूप ज्ञान की विशेष शुद्धि होने से तथा ज्ञान का दूसरों को अभ्यास कराने से होने वाली रुचि अभिगम रुचि कहलाती है।

(७) विस्तार रुचि—षटद्रव्य, नवतत्व, प्रमाण, नय, निक्षेप, द्रव्य, गुण, पर्याय

आदि का विस्तार पूर्वक अभ्यास करने से जो रुचि होती है वह विस्तार रुचि है।

(८) क्रिया रुचि—विशिष्ट क्रिया करने से जिस सम्यक्त्व की प्राप्ति हो उसे क्रियारुचि सम्यक्त्व कहते हैं।

(९) संक्षेप रुचि—थोड़े से ज्ञान की प्राप्ति होते ही जिसे सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है वह संक्षेप रुचि है।

(१०, धर्मरुचि—श्रुतधर्म, चारित्र धर्म आदि का निरूपण सुनने से होने वाला सम्यक्त्व धर्मरुचि सम्यक्त्व है।

शास्त्रों में सम्यक्त्व के अनेक प्रकार से भेद किये गये हैं। जैसे— चार प्रकार से दो-दो भेद हैं—

(१) द्रव्य सम्यक्त्व (२) भाव सम्यक्त्व (१) निश्चय सम्यक्त्व (२) व्यवहार सम्यक्त्व (१) निसर्गज सम्यक्त्व (२) अधिगमज सम्यक्त्व, (१) पौद्‌गलिक सम्यक्त्व (२) अपौद्‌गलिक सम्यक्त्व।

यहां विशुद्ध बनाये हुए मिथ्यात्व के पुद्‌गलों को द्रव्य सम्यक्त्व समझना चाहिए और उन पुद्‌गलों के निमित्त से होने वाली तत्त्व-श्रद्धा को भाव सम्यक्त्व समझना चाहिए। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व पौद्‌गलिक और क्षायिक तथा औपशमिक सम्यक्त्व अपौद्‌गलिक सम्यक्त्व कहलाता है। शेष भेदों का कथन पहले आ चुका है।

सम्यक्त्व के अपेक्षाभेद से तीन-तीन भेद भी होते हैं जैसे— (१) औपशमिक सम्यक्त्व (२) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व (३) क्षायिक सम्यक्त्व। तथा – (१) कारक सम्यक्त्व (२) रोचक सम्यक्त्व और (३) दीपक सम्यक्त्व।

औपशमिक आदि तीन भेदों का कथन पूर्वोक्त प्रकार से समझना चाहिए। जिस सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर जीव सम्यक चारित्र में श्रद्धा करता है, स्वयं चारित्र का पालन करता है तथा दूसरों से कराता है वह कारक सम्यक्त्व है। जिस सम्यक्त्व के प्राप्त होने पर प्राणी संयम-पालन में विशिष्ट रुचि रखता हैं, पर चारित्रमोह के उदय से अभिभूत होने के कारण संयम का आचरण नहीं कर पाता वह रोचक सम्यक्त्व कहलाता है। जिस जीव की रुचि सम्यक् तो न हो परन्तु अपने उपदेश से दूसरों में सम्यक् रुचि उत्पन्न करे उसे दीपक सम्यक्त्व कहा गया है। सम्यग्दर्शन का कारण होने से इसे उपचार से सम्यक्त्व माना गया है।

किसी अपेक्षा से सम्यक्त्व के पांच भेद भी कहे गये हैं। जैसे— (१) उपशम सम्यक्त्व (२) सास्वादन सम्यक्त्व (३) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व (४) वेदक सम्यक्त्व और (५) क्षयिक सम्यक्त्व।

उपशम सम्यक्त्व की स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त है। अन्तर्मुहूर्त्त के पश्चात् यह सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है। जीव जब उपशम सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व की ओर उन्मुख होता है—पूर्ण रूप से मिथ्यादृष्टि नहीं बन पाता, उस समय की उसकी श्रद्धा रूप परिणति को सास्वादन या सासादन सम्यक्त्व कहते हैं। यह सम्यक्त्व जघन्य एक समय तक

और उत्कृष्ट छह आवलिका और सात समय तक रहता है।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी जीव जब सम्यक्त्वमोहनीय के पुद्गलों के अंतिम रस का आस्वादन करता है अर्थात् क्षायिक सम्यक्त्व के प्रगट होने से एक समय पहले जीव के जो परिणाम होते हैं, वह वेदक सम्यक्त्व कहलाता है। वेदक सम्यक्त्व के पश्चात् दूसरे ही समय में क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न होने पर फिर नष्ट नहीं होता।

इन्हीं पांचों भेदों के निसर्गज और अधिगमज के भेद से दो-दो भेद कर देने से भी सम्यक्त्व दस प्रकार का हो जाता है।

जैसा कि पहले कहा गया है और आगे भी कहा जायगा, सम्यक्त्व आत्मा के विकास का प्रथम सोपान है। जब तक जीव की दृष्टि निर्मल नहीं होती तब तक वह वस्तु का सच्चा स्वरूप नहीं समझ पाता। वह दृष्टिदोष के कारण हित को अहित और अहित को हित मान लेता है। अतः सर्वप्रथम दृष्टि को निर्दोष बनाना ही भव्य जीव का कर्त्तव्य है। दृष्टि निर्मल हो जाने पर अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो चुकने पर भी जिन-जिन कारणों से उसमें दोष आते हों उन कारणों का परित्याग करना चाहिए। ऐसे कारण मुख्य रूप से पांच हैं। कहा भी है—

> शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सा–मिथ्यादृष्टिप्रशंसनम् ।
> तत्संस्तवश्च पञ्चापि, सम्यक्त्वं दूषयन्त्यलम् ॥

अर्थात् (१) शंका (२) कांक्षा (३) विचिकित्सा (४) मिथ्यादृष्टिप्रशंसा और (५) मिथ्यादृष्टिसंस्तव, यह पांच कारण सम्यग्दर्शन को अत्यन्त दोषयुक्त बना देते हैं। इनका स्वरूप इस प्रकार है—

(१) शंका—सर्वज्ञ वीतराग भगवान् द्वारा उपदिष्ट तत्वों में संदेह करना शंका दूषण है। जैसे—जीव है या नहीं? यदि है तो वह शरीर-परिमाण है या सर्वव्यापक है? इस प्रकार सर्वांश में या देशांश में संदेह करना।

(२) कांक्षा - एकान्तवादी, असर्वज्ञ, राग-द्वेषयुक्त पुरुषों द्वारा प्रवर्त्तित मतों की आकांक्षा करना कांक्षा दोष है। जैसे-दूसरे साधु-संन्यासी मजामौज लूटते हुए भी मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं, तो हम भी उसी सातकारी मार्ग का अवलम्बन लें, ऐसा सोचना।

(३) विचिकित्सा—क्रिया के संबंध में अविश्वास करना, ग्लानि करना, अथवा निन्दा करना विचिकित्सा दोष है। जैसे—यह साधु कभी स्नान नहीं करते, कैसे मलिनाचारी हैं! अचित्त जल से स्नान कर लेने में क्या हानि है? इत्यादि।

(४) मिथ्यादृष्टिप्रशंसा— जिनकी दृष्टि दूषित है, जो मिथ्यात्व मार्ग के अनुगामी हैं उनकी प्रशंसा करना, मिथ्यादृष्टि प्रशंसा दोष है। मिथ्यादृष्टि की प्रशंसा करने से मिथ्यात्व की भी प्रशंसा हो जाती है, अतः सम्यग्दृष्टि को इस दोष से भी बचना चाहिए।

(५) मिथ्यादृष्टिसंस्तव -मिथ्यदृष्टियों के साथ रहना, उनसे आलाप-संलाप करके घुल-मिल जाना, परिचय करना मिथ्यादृष्टिसंस्तव कहलाता है। एक साथ रहने आदि से सम्यक्त्व के नष्ट होने की संभावना रहती है। अतएव सम्यग्दृष्टि को इस दोष का भी परित्याग करना चाहिए। यह सम्यक्त्व के पांच दूषण हैं।

सम्यक्त्व को विशिष्ट बनाने के लिए पांच भूषण हैं। जैसे सुन्दर शरीर आभूषणों से अधिक सुन्दर हो जाता है उसी प्रकार इन गुणों से सम्यक्त्व भूषित होता है, अतएव इन्हें भूषण कहा है।

स्थैर्यं प्रभावना भक्तिः, कौशलं जिनशासने।
तीर्थसेवा च पञ्चास्य, भूषणानि प्रचक्षते॥

अर्थात् (१) स्थैर्य (२) प्रभावना (३) भक्ति (४) कौशल और (५) संघ की सेवा, ये सम्यक्त्व के पांच भूषण हैं

(१) स्थैर्य-जिनेन्द्र भगवान् द्वारा उपदिष्ट शासन में स्वयं दृढ़-चित्त होना और अन्य को दृढ़ करना स्थिरता भूषण है।

(२) प्रभावना-जिनशासन के विषय में फैले हुए अज्ञान को दूर करके शासन की महत्ता का प्रकाश करना प्रभावना भूषण है। प्रभावक प्रायः आठ प्रकार के होते हैं—(१) द्वादशांग का विशिष्ट अध्ययन करके ज्ञान प्राप्त करने वाले (२) धर्मोपदेश देने वाले (३) वादविवाद में प्रतिपक्षी को पराजित करने वाले वादी (४) नैमित्तिक-त्रिकाल संबंधी लाभ-अलाभ बताने वाले निमित्त शास्त्र का ज्ञाता (५) विशिष्ट तपस्या करने वाले तपस्वी (६) प्रज्ञप्ति आदि विद्याओं को जानने वाले (७) अंजन, पादलेप, तिलक आदि सिद्धियां प्राप्त करने वाले सिद्ध (८) गद्य, पद्य या उभयात्मक रचना द्वारा कविता का निर्माण करने वाले कवि। यह आठ प्रभावक माने गये हैं।

(३) भक्ति - विनय करना वैयावृत्य करना, सम्यक्त्व आदि गुणों की अपेक्षा जो बड़े हों उनका यथोचित सत्कार-सन्मान करना।

(४) कौशल—जिन मत में कुशल होना। सर्वोक्त सिद्धान्तों के मर्म को समझने-समझाने में निपुण होना।

(५) संघ की सेवा—साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ या तीर्थ की सेवा करना।

प्रत्येक सद्गुण को प्राप्त करने और प्राप्त करने के पश्चात् उसे नष्ट न होने देने के लिए भावना एक प्रबल कारण है। सम्यक्त्व की स्थिरता के लिए भी भावनाओं की आवश्यकता होती है। वे भावनाएं छह हैं—

(१) सम्यक्त्व, धर्म रूपी वृक्ष का मूल है। जैसे विना मूल के वृक्ष नहीं टिक सकता और मूल यदि सुदृढ़ होता है तो वृक्ष की स्थिति दीर्घकालीन होती है और वह आंधी आदि के उपद्रवों से नष्ट नहीं होता, उसी प्रकार सम्यक्त्व के बिना धर्म

रूपी वृक्ष स्थिर नहीं रह सकता। सम्यक्त्व की दृढ़ता होने पर धर्म अनेक विघ्न-बाधाओं के होने पर भी स्थिर रहता है। सम्यक्त्व की विद्यमानता में ही धर्म-तरु में दया रूप पत्र लगते हैं, सद्गुण रूप सुरभिमय सुमन खिलते हैं और अव्याबाध सुख रूपी फल लगता है।

(२) सम्यक्त्व, धर्म रूपी नगर की चहारदीवारी है। जैसे चहारदीवारी से सुरक्षित नगर पर शत्रु सहज ही आक्रमण नहीं कर सकता, उसी प्रकार सम्यक्त्व से सुरक्षित धर्म पर अन्य तीर्थी या आध्यात्मिक शत्रु आक्रमण करने में समर्थ नहीं हो सकते। नगर में प्रवेश करने के लिए द्वार में से जाना पड़ता है, उसी प्रकार धर्म में सम्यक्त्व के द्वार से ही प्रवेश करना पड़ता है।

(३) सम्यक्त्व, धर्म रूपी महल की नींव है। नींव जितनी अधिक दृढ़ होगी मकान भी उतना ही अधिक दृढ़ रहेगा। कच्ची नींव वाला महल प्रकृति के उत्पातों को सहन नहीं कर सकता। इसी प्रकार जिसका सम्यक्त्व अचल है, उसका धर्म भी अचल होता है। कच्ची श्रद्धा वाले का धर्म स्थिर नहीं रहता। वह तनिक से उत्पात से ही भ्रष्ट हो जाता है। अतएव धर्म को स्थिर रखने के लिए सम्यक्त्व को निश्चल बनाना चाहिए।

(४) सम्यक्त्व, धर्म रूपी अनमोल रत्न की मंजूषा (पेटी) है। जैसे लोक में बहुमूल्य रत्न को सुरक्षित रखने के लिए पेटी का उपयोग किया जाता है उसी प्रकार धर्म रूपी अमूल्य चिन्तामणि-रत्न की सुरक्षा के लिए सम्यक्त्व रूपी पेटी की आवश्यकता है।

रत्न चाहे जितना मूल्यवान् हो, पर वास्तव में वह पुद्गल है—जड़ है। उसका मूल्य भी काल्पनिक है। मनुष्य-समाज ने उसे मूल्य प्रदान किया है, पर धर्म चेतना का स्वभाव है। संसार के समस्त रत्नों की एक राशि बनाई जाय तो भी धर्म के सर्व से न्यून एक अंश की भी बराबरी वह राशि नहीं कर सकती। ऐसी अवस्था में धर्म को रक्षित रखने के लिए कितनी सावधानी रखनी चाहिये? धर्म चैतन्यमय है अतएव चैतन्यमय में ही उसकी सुरक्षा हो सकती है।

(५) सम्यक्त्व, धर्म रूपी भोजन का भाजन है। जैसे मधुर भोजन को भाजन (पात्र) ही अपने भीतर रखता है उसी प्रकार धर्म रूपी भोजन के लिए सम्यक्त्व रूपी पात्र की आवश्यकता होती है। विना भाजन के भोजन नहीं ठहर सकता उसी प्रकार विना सम्यक्त्व के धर्म की स्थिति नहीं हो सकती।

(६) सम्यक्त्व, धर्म रूपी किराने का कोठा है। जैसे छिद्र रहित कोठे में स्थापित किया हुआ किराना चूहा आदि तथा चोर आदि के उपद्रव से सुरक्षित रहता है उसी प्रकार धर्म रूपी किराना छिद्र रहित अर्थात् अतिचार रहित सम्यक्त्व रूपी कोठे में सुरक्षित रहता है। निरतिचार सम्यक्त्व धर्म को सब प्रकार की बाधाओं से बचा कर निर्दोष बनाता है।

सम्यक्त्व के विषय में इस प्रकार का बारम्बार चिन्तन करना अत्यन्त उपयोगी है। इस प्रकार के चिन्तन से सम्यक्त्व की महत्ता का प्रतिभास होता है, सम्यक्त्व के विषय में आदर का भाव उत्पन्न होता है और उसे सुरक्षित रखने के लिए उद्यम करने में उत्साह बढ़ता है।

सम्यक्त्व को स्थिर रखने के लिए छह स्थानों का भी प्रतिपादन किया गया है। जैसे—(१) आत्मा है (२) आत्मा द्रव्यतः नित्य है (३) आत्मा अपने कर्मों का कर्त्ता है (४) आत्मा अपने कृत कर्मों के फल को भोगता है (५) आत्मा को मुक्ति प्राप्त होती है (६) मोक्ष का उपाय है। इन छह स्थानकों को विस्तार से समझ कर इनका विचार करने से भी सम्यक्त्व की स्थिरता होती है और आत्मा अपने हित के लिए चेष्टा करता है।

मूलः—नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं, दंसणे उ भइअव्वं।
सम्मत्तंचरित्ताइं, जुगवं पुव्वं व सम्मत्तं॥ ६॥

छायाः—नास्ति चारित्रं सम्यक्त्वविहीनं, दर्शने तु भक्तव्यम्।
सम्यक्त्वचारित्रे, युगपत् पूर्वं वा सम्यक्त्वम्॥ ६॥

शब्दार्थः—सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यक् चारित्र नहीं होता। सम्यग्दर्शन के होने पर चारित्र भजनीय है। सम्यक्त्व और चारित्र एक साथ होते हैं अथवा सम्यग्दर्शन पहले होता है।

भाष्यः—सम्यग्दर्शन के भेद-प्रभेदों का निरूपण करने के पश्चात् उसका महत्व बताने के लिए तथा मोक्ष मार्ग में सम्यग्दर्शन की प्राथमिकता सिद्ध करने के लिए सूत्रकार ने इस गाथा का निर्माण किया है।

सम्यग्दर्शन के बिना सम्यक्चारित्र का आविर्भाव नहीं होता। सम्यक्त्व रहित अवस्था में भी मिथ्यादृष्टि व्रत, नियम, कायक्लेश आदि क्रियाएं करते हैं किन्तु उनकी दृष्टि विपरीत (मिथ्या) होने के कारण वे समस्त क्रियाएं मिथ्या क्रियाएं होती हैं और संसार-भ्रमण की हेतु हैं। उन क्रियाओं से मोक्ष की आराधना नहीं होती।

दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय आदि से जब सम्यक्त्व की उत्पत्ति हो जाती है तब जीव चतुर्थ गुणस्थानवर्त्ती हो जाता है। चतुर्थ गुणस्थानवर्त्ती जीव के अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय का सद्भाव रहता है और इनके सद्भाव में न देशविरति होती है और न सर्व विरति होती है। जब इन कषायों का क्षय या उपशम आदि होता है तब क्रमशः एक देश चारित्र और सकल चारित्र की प्राप्ति होती है। इसीलिए यहां सम्यग्दर्शन के होने पर सम्यक् चारित्र को भजनीय कहा गया है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन की विद्यमानता होने पर भी किसी जीव को चारित्र होता है, किसी को चारित्र नहीं होता। अविरत सम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ

गुणस्थानवर्त्ती जीव को सम्यक् चारित्र नहीं होता, देशविरत सम्यग्दृष्टि को एक देश चारित्र होता है, प्रमत्तसंयत नामक छठे गुणस्थान से लेकर उत्तरवर्त्ती समस्त गुणस्थानों में सर्वविरति चारित्र होता है।

यदि सम्यक् चारित्र, सम्यग्दर्शन के होने पर भजनीय है, तो सूत्रकार ने दोनों का एक साथ होना क्यों कहा है? इस शंका का समाधान यह है कि सम्यग्दर्शन होते ही चारित्र सम्यक् हो जाता है, इस अपेक्षा से सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र का एक साथ होना कहा गया है। अथवा अनन्तानुबंधी कषाय सम्यक्त्व और चारित्र-दोनों का घात करती है। जब अनन्तानुबंधी का क्षय या उपशम होता है तब सम्यग्दर्शन के साथ ही सामायिक चारित्र भी उत्पन्न हो जाता है। वह चारित्र यद्यपि त्याग प्रत्याख्यान रूप नहीं होता, किन्तु उससे सम्यग्दृष्टि की प्रवृत्ति आत्मोन्मुखी हो जाती है। इस अपेक्षा से दोनों को युगपद्भावी कहा गया है।

शंका--यदि दोनों सहभावी हैं तो सूत्रकार ने सम्यग्दर्शन को पहले होने वाला क्यों प्रतिपादन किया है?

समाधान- जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सम्यग्दर्शन के विना सम्यक् चारित्र नहीं होता, अतएव सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यक् चारित्र उसका कार्य है। कार्य-कारण भाव दो सहभावी पदार्थों में नहीं होता, अव्यवहित पूर्वोत्तर क्षणवर्त्ती पदार्थों में ही कार्य-कारण भाव संबंध हुआ करता है। इस अपेक्षा से सम्यग्दर्शन को पूर्ववर्त्ती और सम्यक् चारित्र को उत्तरक्षणवर्त्ती निरूपण किया गया है।

तात्पर्य यह है कि अनन्तानुबंधी प्रकृति चारित्रमोहनीय प्रकृति के अन्तर्गत है और चारित्र मोहनीय प्रकृति चारित्र का घात करती है इस लिए अनन्तानुबंधी का क्षय आदि होने पर चारित्र का आविर्भाव अवश्य होना चाहिए, अन्यथा अनन्तानुबंधी को चारित्रमोहनीय में अन्तर्गत नहीं किया जा सकता। चारित्र का आविर्भाव होने पर भी चतुर्थ गुणस्थानवर्त्ती जीव को अविरत सम्यग्दृष्टि कहा गया है, इससे यह भी स्पष्ट है कि चतुर्थ गुणस्थान में विरति रूप चारित्र नहीं होता। इन दोनों विवक्षाओं को ध्यान में रखते हुए यहां सम्यग्दर्शन के होने पर चारित्र को भजनीय बताने के साथ ही, दोनों को सहभावी और सम्यक्त्व को पूर्वकाल भावी कहा गया है। इसी लिए सम्यक्त्व की प्राप्ति होने के पश्चात् बची हुई कर्मों की स्थिति में से पल्योपम पृथक्त्व की स्थिति कम होने पर देशविरति का लाभ होना बतलाया है और इस स्थिति में से भी संख्यात सागरोपम की स्थिति कम होने पर सर्वविरति की प्राप्ति होना कहा गया है।

मूलः-नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न होंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो,नत्थि अमुक्खस्स निव्वाणं ॥७॥

छायाः—नादर्शिनो ज्ञानं, ज्ञानेन विना न भवन्ति चरणगुणाः।
अगुणिनो नास्ति मोक्षः, नास्त्यमुक्तस्य निर्वाणम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ:—सम्यक्त्व-रहित को ज्ञान नहीं होता और ज्ञान के विना चारित्र के गुण नहीं होते। चारित्र रहित को मोक्ष नहीं प्राप्त होता और विना मुक्त हुए निर्वाण प्राप्त नहीं होता।

भाष्य:—यहां सम्यग्दर्शन को निर्वाण का मूल कारण बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं कि सम्यग्दर्शन के विना ज्ञान नहीं होता, ज्ञान के विना चारित्र नहीं होता, चारित्र के विना मुक्ति नहीं होती और मुक्ति के विना निर्वाण अवस्था प्राप्त नहीं होती।

जैसे सम्यग्दर्शन के अभाव में होने वाली समस्त क्रियाएं मिथ्या चारित्र हैं उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के अभाव में समस्त ज्ञान मिथ्याज्ञान ही होता है। ज्ञान यद्यपि ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम अथवा क्षय से उत्पन्न होता है किन्तु उसमें सम्यक्पन दर्शनमोहनीय के क्षय, क्षयोपशम या उपशम से आता है। मिथ्यादृष्टि का ज्ञान, उसकी आत्मा में रहे हुए मिथ्यात्व का संसर्ग पाकर मिथ्या बन जाता है। जब मिथ्यात्व का नाश होता है तब वही मिथ्याज्ञान सम्यज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है। अतएव जैसे सूर्य का उदय होने पर उसका प्रताप और प्रकाश एक साथ उत्पन्न होता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन का आविर्भाव होने पर सम्यग्ज्ञान साथ ही प्रकट हो जाता है। इस प्रकार यद्यपि दोनों सहभावी हैं, फिर भी उनमें कार्य-कारण भाव विद्यमान है। अतएव सम्यग्दर्शन के अभाव में यहां ज्ञान का जो अभाव बताया गया है सो सम्यग्ज्ञान ही समझना चाहिए। इसी तरह आगे भी 'ज्ञान' शब्द से सम्यग्ज्ञान का ही ग्रहण करना चाहिए।

सम्यज्ञान के विना सम्यक् चारित्र नहीं होता। जब तक जीव आदि तत्त्वों का यथावत् ज्ञान न हो जाय और सत्-असत् का विवेक जाग न उठे तब तक संयम आदि की साधना सम्यक् प्रकार से होना असंभव है। यह जीव है, यह अजीव है, इस प्रकार का ठीक बोध होने पर ही जीव की विराधना से कोई बच सकता है, अन्यथा नहीं।

सम्यग्ज्ञान के होने पर ही सम्यक् चारित्र का सद्भाव होता है और सम्यक् चारित्र की सत्ता होने पर ही मुक्ति प्राप्त होती है। क्रिया रहित ज्ञान और ज्ञान रहित क्रिया मात्र से मुक्ति नहीं प्राप्त होती, यह पहले कहा जा चुका है। जब चारित्र की परिपूर्णता होती है, तब समस्त कर्मों का सर्वथा और समूल ध्वंस होता है। इस अवस्था को मुक्ति कहा गया है। आठ कर्मों का सर्वथा विध्वंस होने पर परम वीतराग अवस्था प्राप्त होती है। इस अवस्था को निर्वाण कहा गया है।

यद्यपि मोक्ष और निर्वाण—दोनों समानार्थक शब्दों के रूप में प्रसिद्ध हैं, पर यहां सूक्ष्म दृष्टि से 'दोनों' को भिन्न माना गया है और दोनों में कार्य-कारण भाव की सिद्धि की गई है अर्थात् मोक्ष को कारण और निर्वाण को उसका कार्य माना गया है। कहा भी है—'कृत्स्न कर्मविप्रमोक्षो मोक्षः।' अर्थात् समस्त कर्मों का आत्यन्तिक नाश हो जाना मोक्ष है। कर्म-नाश से आत्मा में एक अपूर्व, अनन्त शक्तियों से

समन्वित, निराकार प्रशान्त अवस्था-विशेष का उद्भव होता है। वह अवस्था निर्वाण अवस्था कहलाती है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शन मोक्ष-रूपी महल की प्रथम सीढ़ी है। सम्यग्दर्शन पाने पर ही मनुष्य मोक्ष की ओर उन्मुख होता है। विना सम्यग्दर्शन के समस्त ज्ञान और चारित्र मिथ्या होते हैं, उनसे संसार-भ्रमण की वृद्धि होती है। अतएव मुमुक्षु पुरुषों को सब से पहले सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिए और जिन्हें वह प्राप्त है उन्हें सुदृढ़ और निर्मल बनाना चाहिए। सम्यक्त्व को मलीन न होने देना आत्मकल्याण के लिए अनिवार्य है। सम्यक्त्व के विना किया जाने वाला पुरुषार्थ विपरीत दिशा में ही ले जाता है।

मूलः-निस्संकिय, निक्कंखिय, निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उववूह-थिरीकरणे, वच्छल्ल-पभावणे अट्ठ ॥ ८ ॥

छायाः — निश्शंकितं निःकाक्षितं, निर्विचिकित्साऽमूढ़दृष्टिश्च।
उपवृंह-स्थिरीकरणे, वात्सल्य-प्रभावनेऽष्टौ ॥ ८ ॥

शब्दार्थः—निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपवृंह, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना, यह आठ सम्यग्दर्शन के अंग हैं।

भाष्यः—सम्यग्दर्शन के स्वरूप का विश्लेषण पूर्वक विशिष्ट विवेचन करने के लिए सूत्रकार ने यहां सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का निरूपण किया है।

जैसे शरीर का स्वरूप समझने के लिए उसके अंगोपांगों का स्वरूप जानना आवश्यक है, क्योंकि अंगोपांगों का समूह ही शरीर है। समस्त अंगों से अलग शरीर की सत्ता नहीं है। अंगोपांगों का स्वरूप समझ लेने से ही शरीर का स्वरूप ज्ञात हो जाता है। इसी प्रकार निःशंकित आदि पूर्वोक्त अंगों के समुदाय को ही सम्यग्दर्शन कहते हैं। इन अंगों के पालन से ही सम्यक्त्व का पालन हो जाता है। अतएव आठ अंगों के विवेचन से सम्यग्दर्शन का विवेचन हो जाता है। आठों अंगों का अर्थ इस प्रकार है—

(१) निःशंकित—वीतराग और सर्वज्ञ होने से जिन भगवान् कदापि अन्यथावादी नहीं हो सकते, जिनेन्द्र देव द्वारा उपदिष्ट तत्त्व यही है, ऐसा ही है—अन्य रूप नहीं हो सकता, इस प्रकार की सुदृढ़ प्रतीति निःशंकित अंग है।

(२) निःकांक्षित—सरागी देव, परिग्रहधारी गुरु और एकान्तमय धर्म आत्मा के लिए अहितकारक हैं, ऐसा समझकर अथवा मिथ्यात्वियों के आडम्बर से आकृष्ट होकर उनके मार्ग को ग्रहण करने की जरा भी आकांक्षा न होना निःकांक्षित अंग है।

(३) निर्विचिकित्सा – गृहस्थधर्म और साधुधर्म का अनुष्ठान करने का इस लोक में या परलोक में कुछ फल होगा या नहीं ? हस्तगत काम-भोगों को त्यागकर जो उपवास, त्याग-प्रत्याख्यान किया जाता है वह कहीं निष्फल तो नहीं होगा ? इस

प्रकार धर्म-क्रिया के फल में संदेह न करना, प्रत्युत धर्म-क्रिया के फल-स्वरूप सुगति, दुर्गति या मुक्ति आदि की प्राप्ति के विषय में पूर्ण श्रद्धान रखना निर्विचिकित्सा अंग है।

(४) अमूढदृष्टित्व—सम्यग्दृष्टि को मिथ्यादृष्टियों की देखादेखी कोई प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए, अन्धश्रद्धा के अधीन होकर निरर्थक,-संघ-विघातक, कपोल-कल्पित क्रियाओं में व्यापार नहीं करना चाहिए। सम्यग्ज्ञान से विचार कर, जो आचरण संघ को लाभप्रद हो, आत्मा में मलीनता न लाने वाला हो और सावधानी से सोचविचार कर निश्चित किया गया हो, उसमें प्रवृत्ति करनी चाहिए। इस प्रकार प्रत्येक विषय में पटुता रखना, अपनी प्रज्ञा को जागृत रखना और विचार कर गुण-कारक कार्य करना अमूढदृष्टित्व अंग है।

(५) उपबृंह—सम्यग्दृष्टि पुरुषों की प्रशंसा करके सम्यक्त्व की वृद्धि करना, उनके गुणों की वृद्धि में सहायक होना, अवगुणों का परित्याग कर गुण ग्रहण करना उपबृंह अंग है।

(६) स्थिरीकरण—सांसारिक कष्टों में पड़कर या अन्य प्रकार से बाध्य होकर जो सम्यग्दृष्टि अपने सम्यग्दर्शन से च्युत होने वाले हैं, अथवा चारित्र से भ्रष्ट होने वाले हैं, उनका कष्ट दूर करके, भ्रष्ट होने का निमित्त हटाकर उन्हें सम्यग्दर्शन या सम्यक् चारित्र में स्थिर करना स्थिरीकरण अंग है।

(७) वात्सल्य—संसार संबंधी नातेदारियों में साधर्मी-भाई की रिश्तेदारी सर्वोच्च है। अन्यान्य नातेदारियां संसार में फंसाने का जाल है, मोह का प्रसार करने वाली हैं, संसार रूपी घोर अंधकारमयी सुरंग में ले जाने वाली हैं, किन्तु साधर्मी-पन का संबंध अप्रशस्त राग का निवारण करने वाला, प्रकाश के प्रशस्त पथ में ले जाने वाला है। ऐसा सोचकर साधर्मी के प्रति आन्तरिक स्नेह का होना, गो-वत्स की तरह प्रेम होना वात्सल्य अंग है।

(८) प्रभावना—जिनप्रवचन का जगत् में माहात्म्य-विस्तार करना, धर्म संबंधी अज्ञान का निवारण करना, धर्म का प्रचार करना और धर्म का चमत्कार संसार में फैलाना प्रभावना अंग है।

इन आठों अंगों का सम्यक् प्रकार से पालन करने वाला पुरुष पूर्ण सम्यक्त्व का धारक कहलाता है। सम्यक्त्वी जीव नरक गति, तिर्यञ्चगति, नपुंसकत्व, स्त्रीत्व, दुष्कुल, अल्पायुष्कता, विकृत जीवन, वाण-व्यन्तर, भवनवासी देवता आदि में उत्पन्न नहीं होता। अतएव जो इन कुयोनियों या दुरवस्थाओं से बचना चाहें उन्हें सम्यक्त्व को सुदृढ़ बनाना चाहिए।

मूलः—मिच्छादंसणरत्ता, सनियाणा हु हिंसगा।
इय जे मरन्ति जीवा, तेसिं पुण दुल्लहा बोही ॥ ९ ॥

छाया:—मिथ्यादर्शनरक्ता: सनिदाना हि हिंसका: ।
इति ये म्रियन्ते जीवा:, तेषां पुनर्दुर्लभा बोधि: ।। ९ ।।

शब्दार्थ:—मिथ्यादर्शन में आसक्त, निदान-सहित और हिंसक होते हुए जो जीव मरते हैं, उन्हें पुन: सम्यक्त्व की प्राप्ति दुर्लभ है ।

भाष्य:—सम्यग्दर्शन के अंगों का निरूपण करके यह बताया जा रहा है कि जो इन अंगों का सेवन नहीं करते, अतएव जो मिथ्यादृष्टि हैं; उन्हें क्या फल प्राप्त होता है ?

जो जीव मिथ्यादर्शन से युक्त हैं अर्थात् कुगुरु, कुदेव, कुधर्म और कुतत्त्व पर आस्था रखते हैं, जो निदान शल्य वाले हैं अर्थात् आगामी विषय--भोगों की आकांक्षा मन में रख कर धर्मक्रिया करते हैं और जो हिंसक हैं अर्थात् जीव-वध रूप पाप-कर्म में आसक्त हैं, वे यदि इन दोषों से युक्त होते हुए मरते हैं तो मिथ्यादृष्टि होने के कारण तथा निदान और हिंसाशील होने से उन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति होना बहुत कठिन होता है ।

मूलगाथा में 'पुण' शब्द यह सूचित करता है कि मिथ्या दर्शन में आसक्ति आदि कारणों से जिन्होंने सम्यक्त्व का वमन कर दिया है, उन्हें फिर से अर्थात् आगामी भव में सम्यक्त्व दुर्लभ हो जाता है ।

मूल:-सम्मद्दंसणरत्ता, अनियाणा सुक्कलेसमोगाढा ।
इय जे मरंति जीवा, सुलहा तेसिं हवे बोही ।।१०।।

छाया:—सम्यग्दर्शनरक्ता अनिदाना शुक्ललेश्यामवगाढा: ।
इति ये म्रियन्ते जीवा:, सुलभा तेषां भवति बोधि: ।। १० ।।

शब्दार्थ:— जो जीव सम्यक् दर्शन में आसक्त हैं, निदान से रहित हैं, शुक्ल लेश्या से सम्पन्न हैं, उन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति सुलभ होती है ।

भाष्य:—मिथ्यादर्शन आदि में आसक्त अन्त करण वाले जीवों को बोधि की दुर्लभता प्रतिपादन कर सूत्रकार यह बताते हैं कि बोधि अर्थात् सम्यक्त्व सुलभ किसे होता है ?

जो प्राणी सम्यग्दर्शन में रक्त हैं—जिनवर के वचन में प्रगाढ़ श्रद्धान रखते हैं, जिनोक्त मार्ग में अविचल रहते हैं, तथा जो निदान शल्य से रहित हैं और जो शुक्ल लेश्या से शोभित हैं, उन्हें बोधि की उपलब्धि सुलभ होती है ।

तपस्या, व्रत—नियम आदि आध्यात्मिक क्रियाएं करते समय, कर्त्ता को निष्काम होना चाहिए। जो सांसारिक सुख की अभिलाषा रखकर धर्म-क्रिया करता है वह उस अभागे किसान के समान है जो सिर्फ भूसा पाने के लिए धान्य-वपन करता है। वास्तव में धान्य लाभ के उद्देश्य से की जाने वाली कृषि के द्वारा कृषक को धान्य के साथ भूसा भी मिल जाता है, इसी प्रकार जो अनन्त आत्मिक सुख को

सन्मुख रख कर धर्मानुष्ठान करता है उसे सांसारिक सुख तो अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं, उनकी कामना करने से आध्यात्मिक फल की प्राप्ति रुक जाती है। सांसारिक लाभ के लिए की जाने वाली क्रिया का दुरुपयोग इसी प्रकार है जैसे कौआ उड़ाने के लिए समुद्र में चिन्तामणि फैंक देना। निदान से धर्म-क्रिया संसार के असार विषय-भोगों के लिए बिक जाती है। इसी प्रकार निदान को शल्य कहा गया है। शल्य-रहित जीव ही व्रती होता है। कहा भी है—'निःशल्यो व्रती।' अतएव सम्यग्दर्शन में आसक्त होकर, निदानशल्य का त्यागकर, उत्कृष्ट परिणाम बनाये रखना ही सम्यक्त्व को सरलता पूर्वक पाने का मार्ग है।

मूलः—जिणवयणे अणुरत्ता, जिणवयणं जे करेंति भावेणं।
अमला असंकिलिट्ठा, ते होंति परित्तसंसारी ॥ ११ ॥

छायाः—जिनवचनेऽनुरक्ता, जिनवचनं ये कुर्वन्ति भावेन।
अमला असंक्लिष्टाः, ते भवन्ति परीतसंसारिणः ॥११॥

शब्दार्थः - जो जीव जिन भगवान् के वचन में श्रद्धावान् हैं और जो अन्तःकरण से जिन-वचन के अनुसार अनुष्ठान करते हैं, वे मिथ्यात्व रूपी मल से रहित तथा संक्लेश से रहित होकर परीत संसारी बन जाते हैं।

भाष्य—सम्यग्दर्शन के फल का निरूपण करते हुए सूत्रकार ने यह बताया है कि जो भाग्यवान् प्राणी जिन भगवान् के बचनों में आसक्त होते हैं अर्थात् वीतरागोक्त आगम पर सुदृढ़ श्रद्धा रखते हैं, किसी भी अवस्था में, किसी भी संकट के आ पड़ने पर भी वीतराग-प्ररूपित आगम से विपरीत श्रद्धान नहीं करते हैं, साथ ही जिनोक्त आगम के अनुसार ही चलते हैं, वे मिथ्यात्व आदि रूप कर्म-मल से रहित हो जाते हैं। उन्हें कर्म-बंधजनक संक्लेश भी नहीं होता है और वे अनन्त काल तक के भव-भ्रमण को घटा कर सीमित कर लेते हैं। अर्थात् अर्द्ध पुद्गल परावर्त्तन काल तक अधिक से अधिक वे संसार में रहते हैं, ज्यादा नहीं। तदनन्तर उन्हें मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

संसारी प्राणी चाहे जितना और चाहे जितने विषयों का गंभीर ज्ञान प्राप्त कर लेवे किन्तु उसका ज्ञान अत्यन्त क्षुद्र ही रहता है। जगत् में अनन्त सूक्ष्म और सूक्ष्म-तर भाव ऐसे हैं जिनका ज्ञान छद्मस्थ जीवों को कदापि नहीं हो सकता। अनन्त पदार्थों को जाने दिया जाय, और केवल एक ही पदार्थ को लिया जाय तो भी यही कहना होगा कि अनन्त धर्मात्मक एक पदार्थ को, उसकी त्रैकालिक अनन्तानन्त पर्यायों सहित जानना छद्मस्थ के लिए संभव नहीं है। एक पदार्थ में अनन्त धर्म और एक-एक धर्म की अनन्त पर्यायें भला असर्वज्ञ जीव कैसे जान सकता है? इस प्रकार एक ही पदार्थ का पूर्ण ज्ञान न हो तब सम्पूर्ण पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को जानने का दावा कौन कर सकता है? इसलिए आगम में कहा है—

'जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ' अर्थात् जो एक पदार्थ को उसकी समस्त सहभावी और क्रमभावी पर्यायों सहित जानता है वही समस्त पदार्थों को जानता है और जो समस्त पदार्थों को परिपूर्ण रूपेण जानता है वही एक पदार्थ को परिपूर्ण रूप से जानता है। तात्पर्य यह है कि एक पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भी अनन्तज्ञान की आवश्यकता है और जब अनंत ज्ञान उत्पन्न हो जाता है तब सभी पदार्थ स्पष्ट प्रतिभासित होने लगते हैं।

जब संसारी जीव ज्ञान के विषय में इतना दरिद्र है तो उसे किसी ज्ञानी की शरण लेना चाहिए। अंधा यदि सूझने की सहायता के विना ही यात्रा करेगा तो गर्त में गिरकर असफल होगा। इसी प्रकार आत्मकल्याण के दुरूह पथ पर अग्रसर होते समय जो ज्ञानी जनों के वचन को पथप्रदर्शक न बनाएगा वह अपनी यात्रा में सफल नहीं हो सकता। ज्ञानी महापुरुष के वचनों का आश्रय लेकर--उन्हीं के सहारे प्रगति करने वाला पुरुष ही अपने लक्ष्य पर पहुंच सकता है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ज्ञानी के वचनों पर पूर्ण श्रद्धान रख कर चलने से ही लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है, यह तो ठीक है, किन्तु ज्ञानी किसे माना जाय? संसार में अनेक मत-मतान्तर हैं और सभी मतावलम्बी अपने इष्ट आराध्य पुरुष को ज्ञानी मानते हैं। फिर भी उन सब मतों में पर्याप्त अन्तर है। एक मत आत्मकल्याण की जो दिशा सूचित करता है, दूसरा मत उससे विपरीत दिशा सुझाता है। ऐसी अवस्था में मुमुक्षु को किसका ग्रहण और किसका परिहार करना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर सूत्रकार ने यहां उदारता पूर्वक दिया है। जिस महा-पुरुष ने राग-द्वेष आदि समस्त आत्मिक विकारों पर अंतिम विजय प्राप्त करली है, उसे जिन कहते हैं। जिन अवस्था तभी प्राप्त होती है जब सर्वज्ञ दशा प्राप्त हो जाती है। इस कारण जो सर्वज्ञ हैं और जिन अर्थात् वीतराग हैं, उनका वचन अन्यथा रूप नहीं हो सकता। अतएव मुमुक्षु जीवों को 'जिन' के वचनों पर ही श्रद्धान करना चाहिए, उन्हीं के वचनों को अपनी मुक्ति-यात्रा का प्रकाश--स्तम्भ बनाना चाहिए। जिन कदापि अन्यथावादी नहीं हो सकते इस प्रकार की अविचल प्रतिपत्ति के साथ प्रवृत्ति करने वाला पुरुष ही मुक्ति प्राप्त कर सकता है। जो जिन-वचन पर श्रद्धान नहीं करता अर्थात् जो संशयात्मक है अथवा रागी-द्वेषी पुरुषों के वचन प्रमाण मानता है, वह या तो श्रेयोमार्ग में प्रवृत्ति नहीं कर सकता या विपरीत प्रवृत्ति करके अश्रेयस् का भागी होता है। सम्यग्दृष्टि पुरुष को श्रद्धा योग्य विषय में श्रद्धा करनी चाहिए और तर्क द्वारा निश्चय करने योग्य पदार्थ का तर्क से निर्णय करना चाहिए। तर्क के विषय में आगम और आगम के विषय में तर्क का प्रयोग करना उचित नहीं है। आचार्य सिद्धसेन कहते हैं—

> जो हेउवायपक्खम्मि हेउओ, आगमे य आगमओ।
> सो ससमयपण्णवओ, सिद्धंतविराहओ अन्नो॥
>
> —सम्मतितर्क, गाथा ४५

अर्थात् जो हेतुवाद के विषय में हेतु से और आगमवाद के विषय में आगम से प्रवृत्त होता है वह स्वसमय का प्ररूपक (आराधक) है और जो हेतुवाद के विषय में आगम से तथा आगम के विषय में हेतु से प्रवृत्त होता है वह सिद्धान्त का विराधक है।

इससे स्पष्ट है कि सम्यग्दृष्टि पुरुष न तो एकान्त श्रद्धा पर अवलम्बित रहता है और न एकान्त तर्क पर आश्रित होता है। प्ररूपणीय विषय की योग्यता का विचार करके यथायोग्य विवेक के साथ निश्चय करता है। जो विषय केवल श्रद्धा का होता है उसमें तर्क का हस्तक्षेप नहीं होने देता, क्योंकि ऐसा करने से यथार्थ निर्णय होना संभव नहीं है तथा तर्क द्वारा निर्णय होने योग्य विषय में आगम का ही आग्रह नहीं रखता है। ऐसा करने से उसकी श्रद्धा भी अविचलित रहती है और विचार शक्ति की भी वृद्धि होती है, पर सम्यग्दृष्टि इस बात का ध्यान अवश्य रखता है कि तर्क का निर्णय आगम से विरुद्ध नहीं होना चाहिए। जो तर्क आगम के विरुद्ध वस्तुतत्त्व उपस्थित करता है, समझना चाहिए कि उसमें कहीं दोष अवश्य है। विशुद्ध तर्क आगम से समन्वित होता है, आगम का साधक होता है, आगम का प्रतिपक्षी नहीं होता।

मूलः—जातिं च वुड्ढिं च इहज्ज पास,
भूतेहिं जाणे पडिलेह सायं।
तम्हाऽतिविज्जो परमंति णच्चा,
सम्मत्तदंसी ण करेइ पावं ॥१२॥

छायाः—जातिं च वृद्धिं च इह दृष्ट्वा, भूतैर्ज्ञात्वा प्रतिलेख्य सातम्।
तस्मादतिविज्ञः परममिति ज्ञात्वा, सम्यक्त्वदर्शी न करोति पापम् ॥१२॥

शब्दार्थः—इस संसार में जन्म और वृद्धावस्था को देखो और यह देखो कि सब प्राणियों को साता-सुख प्रिय है। ऐसा विचार कर, मोक्ष को जान कर तत्त्वज्ञ सम्यग्दृष्टि पाप नहीं करता है।

भाष्यः - संसार में जन्म और वृद्धावस्था प्रत्येक प्राणी को पीडित कर रही है। जगत् के समस्त जीव साता अर्थात् सुख चाहते हैं। सब जीव सुख के लिए ही प्रवृत्ति कर रहे हैं। क्या मनुष्य, क्या पशु पक्षी, और क्या कीड़े-मकोड़े—सभी की एक मात्र इच्छा सुख पाने की है। सभी दुःख से बचना चाहते हैं। जिस तिर्यञ्च योनि में कोई मनुष्य जाना नहीं चाहता, उसमें भी गये हुए जीव मृत्यु के भय से भीत होकर मरना नहीं चाहते। जैसे हमें सुख प्रिय है, उसी प्रकार सब अन्य प्राणियों को भी सुख प्रिय है। जैसे हमें दुःख अप्रिय है वैसे ही दूसरों को भी वह अप्रिय है। ऐसा विचार करके और मोक्ष का विचार करके तत्त्व को यथार्थ रूप से जानने वाला सम्यग्दर्शनवान् व्यक्ति पाप नहीं करता है।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव जितने अंश में स्वात्मा में स्थित और पर-पदार्थों से निरपेक्ष होता है उतने अंश में उसे पाप का बन्ध नहीं होता है। कहा भी है—

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥

अर्थात् जिस अंश से सम्यग्दर्शन है उस अंश से बन्धन नहीं है और जिस अंश से राग है, उस अंश से बन्धन होता है।

मूलः-इओ विद्धंसमाणस्स, पुणो संबोहि दुल्लहा।
दुल्लहाओ तहच्चाओ, जे धम्मट्ठं वियागरे॥ १३॥

छायाः—इतो विध्वंसमानस्य, पुनः संबोधिर्दुर्लभा।
दुर्लभा तथार्च्या, ये धर्मार्थं व्याकुर्वन्ति॥ १३॥

शब्दार्थ—यहाँ से मरने के अनन्तर पुनः सम्यक्त्व की प्राप्ति होना प्रायः दुर्लभ है तथा धर्म रूप अर्थ का प्रकाश करने वाले मानव शरीर का मिलना भी कठिन है।

भाष्य—सम्यक्त्व नामक अध्ययन का उपसंहार करते हुए, अंत में यह बताया गया है कि जिन्हें सम्यक्त्व को प्राप्त करने का सद्भाग्य मिल चुका है, उन्हें अत्यन्त सावधानी के साथ सम्यक्त्व की रक्षा करनी चाहिए। जब जड़ रूप पदार्थ भी संभाल कर रखे जाते हैं तब सम्यक्त्व जैसे अभीष्ट फल प्रदान करने वाले परमोत्तम चिन्तामणि रत्न की, लोकोत्तर आनन्द का अभ्यास कराने वाले साक्षात् कल्पवृक्ष की तथा भव-भव की तृषा शान्त करने वाला क्षीर प्रदान करने वाली दिव्य कामधेनु को अर्थात् सम्यक्त्व को सुरक्षित, स्वच्छ और निरतिचार बनाये रखना तो मानव प्राणी का सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य है। मिथ्यात्व की ओर आकृष्ट करने वाले आकर्षणों से बचना, आत्मा की अमोघ शक्ति पर श्रद्धा रखना, जीवन को पवित्र और श्रद्धामय बनाना इस जीवन का सर्वोत्तम लाभ है। जो प्राणी पाप कर्म के उदय से, स्वार्थ, वासना या निर्बलता से सम्यक्त्व का त्याग कर देते हैं, मिथ्यात्वियों का आडम्बर देखकर सन्मार्ग से फिसल जाते हैं, वे कई जीवन की कमाई को गंवा देते हैं और अन्त में मिथ्यात्व की अवस्था में मृत्यु प्राप्त करके नरक-निगोद आदि दुर्गतियों के अतिथि बनते हैं। उन्हें फिर सम्यक्त्व की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन हो जाता है, यहाँ तक कि मनुष्य-शरीर भी बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है। अतएव सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए तथा उसकी विशुद्धि के लिए निरन्तर उद्यत रहना चाहिए। ऐसा करने से अन्त में एकान्त सुख की प्राप्ति होती है।

निर्ग्रन्थ-प्रवचन-छठा अध्याय

समाप्त

॥ ॐ नमः सिद्धेभ्य ॥

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

॥ सातवां अध्याय ॥

धर्म-निरूपण

श्री भगवान् उवाच—

मूलः—महव्वए पंच अणुव्वए य, तहेव पंचासवसंवरे य।
विरतिं इह सामणियंमि पन्ने, लवावसक्की समणे त्तिबेमि ॥१॥

छाया—महाव्रतानि पञ्च अणुव्रतानि च, तथैव पञ्चास्रवान् संवरं च।
विरतिमिह श्रामण्ये प्राज्ञः, लवापशङ्की: श्रमण इति ब्रवीमि ॥१॥

शब्दार्थः पांच महाव्रतों का पालन करना, पांच प्रकार के आस्रव से संवृत होना, इसे साधु-विरति कहते हैं। जो बुद्धिशाली और कर्मों का नाश करने में समर्थ होता है वह श्रमण है। पांच अणुव्रतों को देशविरति कहा गया है।

भाष्यः—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र मुक्ति का मार्ग है, यह निरूपण किया जा चुका है। इन तीनों को रत्नत्रय कहते हैं। इनमें से ज्ञान और दर्शन का पहले दो अध्ययनों में विवेचन करके अब क्रम-प्राप्त चारित्र का वर्णन किया जाता है। रत्नत्रय में चारित्र का अन्त में वर्णन इसलिए किया जाता है कि चारित्र सम्यग्-दर्शन और सम्यग्ज्ञान का फल है। दोनों की प्राप्ति के पश्चात् ही चारित्र की प्राप्ति होती है-पहले नहीं।

जिनप्रणीत धर्म सार्व है-सर्व कल्याणकारी है। अतएव उसमें चारित्र का जो प्ररूपण किया गया है वह श्रमणों और श्रावकों-दोनों को लक्ष्य करके किया गया है। इस कारण अधिकारी के भेद से चारित्र के भी दो भेद होते हैं-(१) सकलचारित्र या सर्वविरति और (२) विकलचारित्र या देशविरति। जिनागम-प्रतिपादित अहिंसा आदि व्रतों का सर्वांश से पालन करना सर्वविरति है और सांसारिक व्यापारों में लीन होने के कारण सर्वांश में अहिंसा आदि व्रतों का पालन करने में असमर्थ गृहस्थों द्वारा कुछ अंशों में उक्त व्रतों का पालन करना देशविरति है। साधु और श्रावक के व्रत यद्यपि समान हैं, परन्तु उनकी पालन करने की मर्यादा विभिन्न होती है। जैसे साधु त्रस, स्थावर, सापराधी, निरपराधी आदि समस्त प्रकार के जीवों की हिंसा का तीन करण और तीन योग से त्याग करते हैं और गृहस्थ केवल त्रस जीवों की, उसमें भी निरपराधी जीव की संकल्पी हिंसा का परित्याग करता है। यही विषय आगे विशद किया जाता है। पांच महाव्रत इस प्रकार हैं:—

(१) अहिंसा महाव्रत—मन से, वचन से और काय से किसी भी प्राणी की हिंसा न करना, न दूसरे से कराना और हिंसा करने वाले की अनुमोदना न करना।

(२) सत्य महाव्रत—असत्य, अप्रिय, क्लेशकारक, संदेहजनक तथा हिंसाजनक भाषण न करना, हित, मित और पथ्य वचन बोलना।

(३) अचौर्य महाव्रत—सूक्ष्म या स्थूल कीमती या अनकीमती, यहां तक कि दांत साफ करने के लिए घास का सूखा तिनका भी विना दिये न ग्रहण करना।

(४) ब्रह्मचर्य महाव्रत— ब्रह्मचर्य का पूर्णरूपेण पालन करना अपनी समस्त इन्द्रियों का संयम करना, विषयविकार को समीप न आने देना।

(५) अपरिग्रह महाव्रतः – बाह्य और आन्तरिक परिग्रह का परित्याग करना, आत्मा से भिन्न समस्त पदार्थ पर हैं उन सब से ममता हटा लेना, आसक्ति का त्याग करना, मूर्छाभाव का समूल नाश कर देना अपरिग्रह महाव्रत कहलाता है।

यहां सर्वविरति के रूप में महाव्रतों का उल्लेख उपलक्षण मात्र है। इससे पांच समितियों और तीन गुप्तियों का भी ग्रहण करना चाहिए और शास्त्र-प्रतिपादित अनाचीर्ण आदि समस्त विधि-विधानों का समावेश करना चाहिए। जैसे स्नान न करना, शरीर-संस्कार न करना, मालिश और उबटन न करना, खुले माथे रहना, पैदल विहार करना, पलंग आदि पर न बैठना, चिकित्सा न करना, वस्ती कर्म और विरेचन का त्याग करना, आदि-आदि साधु का समस्त आचार यहां समझ लेना चाहिए। दशवैकालिक आदि सूत्रों में उसका प्रतिपादन विस्तारपूर्वक किया गया है, अतएव जिज्ञासु वहां देखें। विस्तार के आधिक्य से यहां उसका निरूपण नहीं किया जाता है।

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये पांच आस्रव हैं, इन पांचों प्रकार के आस्रवों से रहित होना भी साधु-विरति है। गृहस्थ सम्यग्दर्शन प्राप्त करके मिथ्यात्व से और देशविरति प्राप्त करके एक देश अविरति से मुक्त होते हैं, पर पांचों प्रकार के आस्रवों से महामुनि ही मुक्त होते हैं।

देशविरति, देशसंयम, संयमासंयम और गृहस्थधर्म या अणुविरति समानार्थक शब्द हैं। श्रावक देशविरति का आराधक होता है। देशविरति मुख्य रूप से बारह व्रत रूप है। बारह व्रत इस प्रकार हैं:—

(१) स्थूल प्राणातिपात विरमण—त्रस जीवों की, विना अपराध किये जान बूझकर-मारने की बुद्धि से हिंसा का त्याग करना। तात्पर्य यह है कि गृहस्थ श्रावक जीविकोपार्जन के लिए वाणिज्य, कृषि आदि अनेक ऐसे कार्य करता है जिनमें त्रस जीवों की भी हिंसा हो जाती है, किन्तु वह हिंसा संकल्पी-मारने की बुद्धि से की हुई हीं है। वह आरंभी हिंसा है। उस हिंसा से श्रावक बच नहीं पाता, अतएव वह वल संकल्पी हिंसा का ही त्याग करता है। फिर भी श्रावक यथासंभव यतना के ाथ ही प्रवृत्त होता है और त्रस जीवों की तथा स्थावर जीवों की निष्प्रयोजन हिंसा

से बचने का सदैव ध्यान रखता है। श्रावक विरोधी हिंसा का भी आगार रखता है। यदि कोई श्रावक राजा, मंत्री या सेनापति है और उसके देश पर कोई आक्रमण करता है तो वह देश की स्वाधीनता की रक्षा के लिए शस्त्र उठाता है। इसी प्रकार यदि कोई डाकू या अन्य शत्रु उस पर या उसके कुटुम्ब आदि पर हमला करता है अथवा अन्याय का प्रतीकार करने के लिए जब शस्त्रप्रयोग की आवश्यकता समझता है तब वह शस्त्र ग्रहण करता है। इस प्रकार की विरोधी हिंसा स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करती।

अलबत्ता, जब हिंसा अनिवार्य होती है तभी वह इस प्रकार की हिंसा में प्रवृत्त होता है। प्राचीन काल में आक्रमण करने से पहले जिस पर आक्रमण किया जाता था उसे समस्या सुलझाने के लिए शान्तिपूर्ण उपायों का अवलम्बन करने की सूचना दे दी जाती थी। उसका उद्देश्य यही था कि हिंसा के बिना ही यदि प्रयोजन सिद्ध होने की संभावना हो तो हिंसा का प्रयोग न किया जाय, क्योंकि ऐसा करने से वह हिंसा निरपराधी की हिंसा हो जायगी और श्रावक निरपराधी की हिंसा का त्यागी होता है। पहले सूचना देने पर भी यदि अन्यायी व्यक्ति अपने अन्याय का प्रतीकार नहीं करता तो वह अपराधी हो जाता है और उस अवस्था में उसकी हिंसा सापराधी की हिंसा कहलाएगी। इस हिंसा का श्रावक आगार रखता है। सारांश यह है कि युद्ध से पहले सूचना देने के नियम में सापराधी और निरपराधी की हिंसा का भेद ही कारण है, और इस भेद पर श्रावक का अहिंसाणुव्रत टिका हुआ है। जैन शास्त्रों का यह विधान प्राचीन काल में प्रायः सर्वसम्मत बन गया था और किसी रूप में आज तक चलता आ रहा है, यद्यपि आज कल वह निष्प्राण बन गया है।

श्रावक निरर्थक हिंसा से बचने के लिए पूर्ण सावधान रहता है। गृहस्थी के प्रत्येक कार्य इस प्रकार सम्पादन करता है कि जिस से अधिक से अधिक हिंसा से बच सके। उदाहरणार्थ—सच्चा श्रावक रात्रि में दधि का बिलोवन नहीं करता--कराता अर्थात् छाछ नहीं बनाता, भोजन नहीं बनाता, रात्रि-भोजन नहीं करता, तीक्ष्ण झाड़ू से जमीन नहीं बुहारता आदि। क्योंकि ऐसा करने से त्रस जीवों की हिंसा की संभावना रहती है। इसी प्रकार मल--मूत्र आदि अशुचि पदार्थों से व्याप्त पाखाने में शौच क्रिया करना भी योग्य नहीं है, क्योंकि इससे असंख्यात सम्मूर्छिम जीवों की उत्पत्ति होती है। यही नहीं, किन्तु उपदंश और प्रमेह आदि रोग के रोगियों के पेशाब पर पेशाब करने से उपदंश आदि रोग भी हो जाते हैं। मत्कुण आदि जीवों का बध करने के लिए वस्त्रों को, पट्टों को अथवा पलंग आदि को उष्ण जल में डालना या अन्य प्रकार से उनकी निर्दयतापूर्ण हिंसा करना भी श्रावक के योग्य कर्त्तव्य नहीं है। चूल्हा, चक्की, ईंधन, वस्त्र, पात्र आदि-आदि गृहोपयोगी पदार्थों को बिना देखे--भाले काम में लाने से भी जीवों की हिंसा होती है। अतएव पाप-भीरु श्रावक छानों का प्रायः उपयोग नहीं करते, घुनी हुई लकड़ी का उपयोग नहीं

करते हैं; चक्की और चूल्हे को भली भांति देख लेते हैं कि कोई त्रस जीव उसका आश्रय लेकर स्थित न हों। मिर्च और धनिया आदि मसालों में कुछ दिन के बाद जीवों की उत्पत्ति हो जाती है अतएव श्रावक उनका उपयोग भली भांति देख कर ही करता है। इसी प्रकार पिसा हुआ आटा, बेसन आदि की मर्यादा दस दिन की है। इस से अधिक समय तक रखा हुआ आटा बेसन वगैरह काम में नहीं लिया जाना चाहिए। इस प्रकार दाल, भात, रोटी, पूड़ी, मिठाई, दूध, दही आदि-आदि समस्त भोज्य पदार्थ विकृत होगये हों, उनका स्वाद बिगड़ गया हो, वे तड़बड़ा गये हों, उन में फूलण व लाला उत्पन्न होगई हो तो उन्हें नहीं खाना चाहिए। क्यों कि उनमें जीवों की उत्पत्ति हो जाती है।

रसोई घर में, जल गृह, भोजन करने की जगह, ऊखली, आटा आदि छानने की जगह, चक्की के ऊपर, इत्यादि स्थानों पर ऊपर चंदोवा न होने से छोटा-बड़ा जीव-जन्तु गिरकर भोज्य सामग्री में मिल जाता है। इससे जीवहिंसा होती है और अभक्ष्य-भक्षण का भी दोष लगता है। अतएव ऐसे स्थानों पर विवेकी श्रावक चंदोवा बांधता है। साथ ही चूल्हा, चक्की आदि चीजों को, जब उनका उपयोग न करना हो तो खुला नहीं रखना चाहिए। खुला छोड़ देने से सूक्ष्म जीव उनमें घुस जाते हैं और उपयोग करते समय उनकी हिंसा हो जाती है। आचार या इस प्रकार की अन्य वस्तुओं के पात्र खुले रखने से भी हिंसा आदि अनेक अनर्थ होते हैं, अतएव ऐसे पात्रों को खुला नहीं रखना चाहिए।

विचारशील श्रावक जल के उपयोग के सम्बन्ध में भी विवेक से काम लेता है। जल के एक बूंद में केवली भगवान् ने असंख्यात जीवों की विद्यमानता बताई है। माइक्रोफोन नामक आधुनिक यंत्र से भी हजारों चलते-फिरते जीव एक बूंद में देखे जाते हैं। ऐसी अवस्था में एक बिन्दु जल का व्यर्थ व्यय करने से असंख्यात जीवों की निरर्थक हिंसा होती है। अहिंसाणुव्रती श्रावक इस हिंसा से बचने का सदैव प्रयत्न करता है। जितना जल स्नान--पान आदि के लिए अनिवार्य है उतना ही व्यय करता है, उससे अधिक नहीं। और वह भी बिना छने हुए जल का कदापि उपयोग नहीं करता। ग्रन्थों में जल छानने के सम्बन्ध में कहा है कि—रंगे हुए और पहने हुए वस्त्र से जल नहीं छानना चाहिए। श्रावक दो पड़ती खादी के वस्त्र से, जिसमें से सूर्य की किरणें साफ न नजर आती हों—जल छानते हैं। छानते समय ऐसी सावधानी रखते हैं कि एक भी बूंद जल जमीन पर नहीं गिरने देते। छानने पर छन्ने में जो कूड़ा-कचरा या चिउंटी आदि जन्तु इकट्ठा हो जाते हैं, उन्हें हाथ से नहीं दबाते, किन्तु यतनापूर्वक, धीरे से, दूसरे पात्र में औंधा कर छना हुआ जल दूसरी ओर से डाल देने के कारण वह कचरा आदि उस दूसरे पात्र में आ जाता है। उस पानी को 'जिवानी' कहते हैं। जिवानी इधर-उधर भूमि पर नहीं डालना चाहिए और न दूसरे जलाशय में ही डालना चाहिए। जिस जलाशय का जल हो उसी जलाशय में जिवानी डाल कर श्रावक जीव-रक्षा करते हैं। जिवानी डालने में भी अयतना नहीं करनी

चाहिए। ऊपर से जिवानी डालने पर हिंसा होती है अतः जिस पात्र से जिवानी डालनी हो उसमें श्रावक दो रस्सियां लगा देते और पानी के निकट पात्र पहुंच जाने पर नीचे वाली रस्सी खेंच कर यतनापूर्वक जिवानी पानी में मिला देते हैं।

सारांश यह है कि श्रावक का आचार इस प्रकार नियमित हो जाता है कि वह स्थावर जीवों की निष्प्रयोजन हिंसा से बचने का सदा प्रयत्न करता रहता है और प्रत्येक कार्य में यतना तथा विवेक का ध्यान रखता है। प्रथम अहिंसाणुव्रत के पांच अतिचार इस प्रकार हैं—

(१) बन्ध—क्रोध के वश होकर किसी जीव को बांधना। बन्ध दो प्रकार का है—द्विपदबन्ध और चतुष्पदबन्ध। इन दोनों बन्धों के भी दो-दो भेद हैं—सार्थकबंध और निरर्थकबंध। निरर्थकबन्ध श्रावक के लिए त्याज्य है। सार्थकबन्ध के दो भेद हैं—सापेक्षबन्ध और निरपेक्षबन्ध। ढीली गांठ आदि से बांधना सापेक्षबन्ध है और गाढ़े बन्धन से बांधना निरपेक्षबन्ध है। श्रावक को यथायोग्य रूप से पशु आदिकों को इस प्रकार न बांधना चाहिए जिससे उन्हें कष्ट हो और अग्नि आदि का उत्पात होने पर सहज ही वह बन्धन खोला न जा सके।

(२) वध—कषाय के आवेश से लकड़ी, चाबुक आदि से ताड़ना करना वध नामक अतिचार है। वध के भी सापेक्ष और निरपेक्ष के भेद से दो भेद हैं और श्रावक को निरपेक्ष वध का सर्वथा त्याग करना चाहिए।

(३) छविच्छेद—शरीर को या चमड़ी आदि अवयवों को छेदन करना छवि-च्छेद अतिचार है। जो छविच्छेद कषाय के आवेश से किया जाता है वह श्रावक धर्म को दूषित करता है।

(४) अतिभारारोपण—घोड़ा, बैल, ऊंट, मनुष्य आदि के सिर पर, कंधों पर या पीठ पर अधिक बोझ लाद देना, जो उन्हें असह्य हो, अतिभारारोपण अतिचार कहलाता है। क्रोध या लोभ के वश होकर अनेक मनुष्य बैलगाड़ी, तांगा आदि पर असह्य बोझ लाद देते हैं, या अधिक मनुष्य बैठ जाते हैं, जिससे उसमें जुतने वाले बैल आदि मूक पशुओं को बहुत कष्ट होता है। अहिंसाणुव्रती दयालु श्रावक को ऐसा कदापि नहीं करना चाहिए।

(५) अन्नपाननिरोध—क्रोध के वश होकर अपने आश्रित मनुष्य और पशु आदि को भोजन-पानी न देना अन्नपाननिरोध अतिचार है। श्रावक को ऐसा निर्दय व्यवहार नहीं करना चाहिए, क्योंकि तीव्र भूख लगने से कभी किसी प्राणी की मृत्यु हो जाती है। अगर मृत्यु न हो तो भी उसे अत्यन्त कष्ट होता है। अतएव जब भोजन का समय हो तो अपने आश्रित समस्त मनुष्यों और पशुओं की सार-सम्भाल किए विना नहीं रहना चाहिए। जो भूखे-प्यासे हों उन्हें यथोचित भोजन-पान दिए विना श्रावकवर्ग भोजन नहीं करते। बीमारी की दशा में भोजन न देना अन्नपान निरोध अतिचार नहीं है। यह बताने के लिए 'क्रोध के वश होकर' ऐसा कहा गया है।

(२) स्थूलमृषावाद विरमणव्रत—साधु मृषावाद का पूर्णरूपेण परित्याग करते हैं, किन्तु श्रावक के लिए ऐसा करना कठिन है। लोकव्यवहार में ऐसा अवसर अनेक बार उपस्थित हो जाता है जब उसे सत्य से किंचित् अंशों में च्युत हो जाना पड़ता है अतएव जिनेन्द्र भगवान् ने श्रावक को स्थूल मृषावाद अर्थात् मोटे असत्य का परित्याग करना ही अनिवार्य बतलाया है। स्थूल असत्य के पांच भेद हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) कन्यालीक—कन्या के विषय में असत्य भाषण करना कन्यालीक है। यहां यह शंका की जा सकती है कि केवल कन्या के विषय में ही असत्य बोलना स्थूल असत्य क्यों है? अन्य पुरुष, स्त्री या बालक के विषय में असत्य बोलना क्यों स्थूल असत्य नहीं है? इसका समाधान यह है कि 'कन्या' शब्द यहां उपलक्षण है। अतएव कन्या शब्द से यहां मनुष्य जाति मात्र का अथवा द्विपद मात्र का ग्रहण होता है। तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्य जाति या किसी भी द्विपद प्राणी के विषय में मिथ्या भाषण करना कन्यालीक कहलाता है और श्रावक को इसका परित्याग करना चाहिए। यहां 'कन्या' शब्द को ग्रहण करने का प्रयोजन कन्या की प्रधानता प्रकट करना है। कन्या मनुष्य जाति या द्विपद प्राणियों में प्रधान है। उसके विषय में असत्य भाषण करने से बड़े-बड़े अनर्थ होते देखे जाते हैं। कन्या सुन्दरी, गुणवती, बुद्धिशालिनी हो और स्वार्थवश उसे कुरूपा, काली कलूटी, अंधी, लूली, लंगड़ी मूर्ख आदि कह देना, श्रावक को उचित नहीं है। इसी प्रकार अन्य मनुष्यों और द्विपदों के विषय में भी असत्य न कहना चाहिए।

(२) गवालीक—गो के विषय में मिथ्या भाषण करना गवालीक शब्द का अर्थ होता है। किन्तु जैसे कन्यालीक शब्द में कन्या उपलक्षण है उसी प्रकार गवालीक शब्द में गो उपलक्षण है। कन्या शब्द से जैसे मनुष्य मात्र का अथवा द्विपद मात्र का ग्रहण किया गया है, उसी प्रकार यहां गो शब्द से पशु जाति मात्र का अथवा चतुष्पदों (चौपायों) का ग्रहण किया जाता है। अतएव किसी भी पशु अथवा किसी भी चौपाये के विषय में असत्य भाषण करना गवालीक है। जैसे-किसी के तेज चलने वाले बैल को गरियाल कहना, शुभ लक्षणों से सम्पन्न अश्व को अशुभ लक्षण सम्पन्न कहना, दुधारी भैंस को विपरीत बतलाना आदि। इस प्रकार का स्थूल असत्य भाषण श्रावकों के लिए सर्वथा परित्याज्य है।

(३) भौमालीक—भूमि संबंधी मिथ्या भाषण को भौमालीक कहते हैं। यहां पर भी भूमि शब्द उपलक्षण है। अतः भूमि शब्द से समस्त अपद वस्तुओं का ग्रहण किया जाता है अथवा भूमि से उत्पन्न होने वाले समस्त पदार्थों का भूमि शब्द से संग्रह किया जाता है। जैसे वृक्ष के विषय में असत्य भाषण करना, रत्न आदि वस्तुओं के सम्बन्ध में अनृत भाषण करना, इत्यादि। श्रावक को इस असत्य का भी त्याग करना चाहिए।

(४) न्यासापहारअलीक—न्यास अर्थात् धरोहर का अपहरण करने के लिए

किया जाने वाला मिथ्या भाषण न्यासापहार अलीक है। किसी की रक्खी हुई धरोहर के विषय में कह देना कि यह धरोहर हमारे यहां रक्खी ही नहीं है, अथवा विना धरोहर धरे ही किसी से मांग लेना, इत्यादि अनृत भाषण का इसमें समावेश होता है।

(५) कूटसाक्षी—अपने लाभ के उद्देश्य से, अपने प्रिय जन के लाभ के उद्देश्य से अथवा किसी को हानि पहुंचाने के लक्ष्य से, न्यायाधीश या पंचायत के समक्ष असत्य साक्षी देना अर्थात् सत्य घटना को असत्य और असत्य को सत्य रूप में चित्रित करना कूटसाक्षी कहलाता है। श्रावक के लिए यह सब अलीक अग्राह्य हैं।

स्थूलमृषावाद विरमणव्रत के भी पांच अतिचार हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) सहसाभ्याख्यान (२) रहोऽभ्याख्यान (३) स्वदारमन्त्रभेद (४) मिथ्या-उपदेश और (५) कूटलेखकरण।

(१) सहसाभ्याख्यान विना सोचे-विचारे सहसा किसी को कलंक लगा देना सहसाभ्याख्यान है। जैसे – तू चोर है, तू दुराचारी है, आदि।

(२) रहस्याभ्याख्यान—एकान्त में बैठ कर किसी बात का विचार करते हुए पुरुषों को देख कर कहना कि 'ये लोग राजा के विरुद्ध षड्यन्त्र रच रहे होंगे' इस प्रकार की असत् और आपत्तिजनक संभावना लोक में प्रसिद्ध कर देना रहस्याभ्याख्यान अथवा रहोऽभ्याख्यान नामक अतिचार है।

(३) स्वदारमन्त्रभेद—विश्वासपात्र समझकर अपनी पत्नी द्वारा कही हुई किसी गुप्त बात को प्रकाशित कर देना स्वदारमन्त्रभेद अतिचार है। गुप्त बात सच होने पर भी, उसके प्रकाशन से लज्जाजन्य मृत्यु आदि अनेक अनर्थ हो सकते हैं। इस प्रकार हिंसाजनक वचन होने के कारण भेद का प्रकट करना सत्याणुव्रत का अतिचार है। यह अतिचार पुरुष को प्रधान स्थान कर बताया गया है। स्त्रियों के लिए 'स्वपतिमन्त्रभेद' समझना चाहिए अर्थात् अपने पति की गुप्त बात प्रकाशित करना स्त्रियों के लिए अतिचार है।

(४) मिथ्या-उपदेश – अनजान में अथवा असावधानी में मिथ्या-उपदेश दिये जाने से यह अतिचार लगता है। जान-बूझकर समझ-सोचकर मिथ्या-उपदेश देने से व्रत का सर्वथा भंग हो जाता है। अथवा दूसरे को असत्यभाषण का उपदेश देना मिथ्या-उपदेश कहलाता है। जैसे –'अमुक अवसर पर मैंने अमुक मिथ्या बात कह कर अमुक काम बना लिया था।' इस प्रकार कहने वाला व्यक्ति यद्यपि सत्य कहता है, फिर भी प्रकारान्तर से वह श्रोता को असत्यभाषण करने को उद्यत बनाता है, अतएव इस प्रकार का सत्यभाषण भी मिथ्या-उपदेश में समाविष्ट है और अणुव्रतधारी श्रावक को इसका त्याग करना चाहिए।

(५) कूटलेखकरण – मिथ्या लेख लिख लेना, किसी की झूठी मोहर बना कर लगा लेना, जाली अंगूठा चिपका देना, इत्यादि कूटलेखकरण कहलाता है। झूठे दस्तावेजों का लिखना, झूठे समाचार प्रकाशित करना, निबंध लिखना, हुंडी आदि

लिखना, यह सब इस अतिचार में सम्मिलित है. पर असावधानी में होने पर ही यह अतिचार हैं, उपयोगपूर्वक करने पर अनाचार की कोटि में चले जाते हैं।

(३) स्थूल अदत्तादान विरमणव्रत—साधु दांत साफ करने के लिए तृण जैसी तुच्छ वस्तु भी विना दी हुई ग्रहण नहीं करते हैं, परन्तु श्रावक इस कोटि के अदत्तादान का त्याग करने में समर्थ नहीं हो सकता। अतएव वह राजा द्वारा दण्डनीय और लोक में निन्दनीय स्थूल चोरी का अवश्य ही त्याग करता है। शास्त्रकारों ने स्थूल चोरी के प्रधानतः पांच प्रकार प्ररूपित किये हैं। यथा—

(१) सेंध लगा कर, दीवाल फोड़कर, किवाड़ तोड़कर, तिजोरी तोड़कर, दीवाल फांदकर, डाका डालकर या इसी प्रकार के किसी अन्य उपाय से किसी का धन चुरा लेना, हर लेना।

(२) बाहर जाते समय कोई भद्र पुरुष किसी पड़ौसी आदि पर विश्वास करके अपनी गांठ, सन्दूक आदि उसके यहां रख जाय और वह पड़ौसी उसके परोक्ष में गांठ आदि खोल कर उसमें की मूल्यवान् वस्तु निकाल ले और ज्यों की त्यों गठड़ी बांध कर दे, इसी प्रकार सन्दूक आदि बन्द कर दे, इस प्रकार का अदत्तादान भी स्थूल अदत्तादान है।

(३) सबल पुरुष या अनेक साहसी पुरुषों द्वारा निर्बल पुरुष को लूट लेना, उसका माल हरण कर लेना भी स्थूल अदत्तादान है।

(४) बहुत से मनुष्य अपने मकान, दुकान आदि का ताला बन्द करके चाबी किसी विश्वासपात्र दूसरे को सौंप देते हैं। वह विश्वासपात्र व्यक्ति विश्वासघात करके, ताला खोलकर कोई वस्तु निकाल ले और फिर ताला बन्द कर दे, तो उसका यह कृत्य स्थूल अदत्तादान है।

(५) किसी की कोई वस्तु मकान के बाहर या रास्ते में गिर पड़ी हो, या कोई कहीं रखकर भूल गया हो, तो 'यह वस्तु उसकी है' ऐसा समझते हुए उसे उठाकर अपनी बना लेना भी स्थूल अदत्तादान है।

तात्पर्य यह है कि जिस वस्तु के ग्रहण करने से राज्य द्वारा दण्ड मिल सकता है और जो चोरी लोक में गर्हा के योग्य समझी जाती है, तथा जिसके विना दिये ग्रहण करने से उस वस्तु के स्वामी को दुःख होता है उस वस्तु को स्वामी की आज्ञा विना ग्रहण करना स्थूल अदत्तादान में सम्मिलित होता है। श्रावक को ऐसी चोरी से बचना चाहिए।

अदत्तादान विरमण व्रत के पांच अतिचार इस प्रकार हैं—

(१) स्तेनप्रयोग (२) स्तेनाहृतादान (३) विरुद्धराज्यातिक्रम (४) प्रतिरूपक व्यवहार (५) हीनाधिकमानोन्मान।

(१) स्तेनप्रयोग—चोर को चोरी करने की प्रेरणा करना, चोरी की अनुमोदना करना, चोरी के साधन उन्हें देना या वेचना स्तेनप्रयोग नामक प्रथम अतिचार है।

'मैं चोरी करूं नहीं, इस प्रकार का व्रत लेने वाले श्रावक का व्रत साक्षात चोरी करने से भंग हो जाता है। अतएव यहां अतिचार का स्वरूप इस प्रकार समझना चाहिए। जैसे—कोई किसी से कहे—' इस समय आप बेकार हैं क्या? अगर आप की चुराई हुई वस्तुएं बेचने वाला दूसरा न हो तो मैं उन्हें बेच दूंगा।' इस प्रकार कहकर चोर को प्रेरणा करने वाले और अपनी बुद्धि से प्रेरणा का परित्याग करने वाले को एक देशभंग रूप अतिचार लगता है।

(२) स्तेनाहृतादान—चोर के द्वारा चुराई हुई वस्तु को ग्रहण करना। व्रती श्रावक 'मैं व्यापार ही कर रहा हूं, चोरी नहीं' इस प्रकार विचार करके जब चोरी की वस्तु ग्रहण करता है तब उसे अतिचार लगता है। चोरी की बुद्धि से ग्रहण करने पर व्रत सर्वथा खण्डित हो जाता है।

(३) विरुद्धराज्यातिक्रम—विरोधी राज्यों द्वारा सीमित की हुई भूमि का उल्लंघन करना अर्थात् दूसरे राजा के राज्य में प्रवेश करके व्यापार आदि करना। व्यापार बुद्धि से सीमा का अतिक्रमण करने पर यह अतिचार लगता है, चोरी की भावना से मर्यादा का उल्लंघन किया जाय तो व्रत की सर्वथा विराधना होती है।

(४) प्रतिरूपकव्यवहार—अधिक मूल्य की वस्तु में अल्प मूल्यवान् वस्तु मिलाकर अधिक मूल्य में बेचना प्रतिरूपकव्यवहार है।

(५) हीनाधिकमानोन्मान—तोलने के साधन मन, सेर, छटांक आदि तथा नापने के साधन गज, फुट, आदि छोटे-बड़े रखना। लेने के लिए बड़े-और देने के लिये छोटे रखना। व्यापारिक चातुर्य समझकर ऐसा करने वाले को अतिचार लगता है, चोरी की बुद्धि से करने पर अनाचार ही होता है।

(४) ब्रह्मचर्याणु व्रत—ब्रह्मचर्य के विषय में आगे विशेष निरूपण किया जायगा। मैथुन घोर हिंसा रूप है। उससे द्रव्य प्राणों का और भाव प्राणों का घात होता है। अत्यन्त अशान्ति और संक्लेश का जनक है। शान्ति और समाधि की इच्छा रखने वालों को मैथुन का सर्वथा त्याग करके ब्रह्मचर्य की ही साधना करनी चाहिए। किन्तु जो इतने सामर्थ्यवान् नहीं हैं, उन्हें कम से कम परस्त्री-सेवन का तो अवश्य ही त्याग करना चाहिए। इस प्रकार अपनी विवाहिता स्त्री के सिवाय संसार की समस्त स्त्रियों को माता-बहिन आदि के समान समझना ब्रह्मचर्याणु व्रत कहलाता है। उसे स्वदारसंतोष व्रत भी कहते हैं और परस्त्री त्याग व्रत भी कहते हैं।

ब्रह्मचर्याणु व्रत के पांच अतिचार इस प्रकार हैं—(१) इत्वरिकापरिगृहीता गमन (२) अपरिगृहीता गमन (३) अनंगक्रीड़ा (४) परविवाह करण (५) तीव्रकाम-भोगाभिलाषा।

(१) इत्वरिका परिगृहीता गमन—थोड़े समय के लिए अपनी बनाई हुई स्त्री से गमन करना। इससे ब्रह्मचर्याणुव्रत में दोष लगता है।

(२) अपरिगृहीता गमन—जो स्त्री किसी के द्वारा गृहीत नहीं है, ऐसी कुमारी अथवा वेश्या आदि के साथ, उसे परस्त्री न मान कर, गमन करना अपरिगृहीता गमन नामक दूसरा अतिचार है, इससे भी चतुर्थ अणुव्रत में दोष लगता है।

(३) अनंगक्रीड़ा - काम भोग के प्राकृतिक अंगों के अतिरिक्त अन्य अंगों से काम-क्रीड़ा करना अनंगक्रीड़ा है। इससे भी द्रव्य और भाव प्राणों का घात होता है।

(४) परविवाहकरण - स्वकीय पुत्र, पुत्री, भाई आदि संबंधी जनों के अतिरिक्त पर का विवाह कराना अथवा अपना दूसरा विवाह करना परविवाहकरण नामक अतिचार है।

(५) तीव्रकामभोगाभिलाषा—काम-भोग सेवन करने की प्रबल अभिलाषा रखना, निरन्तर इन्हीं विचारों में डूबे रहना भी ब्रह्मचर्याणुव्रत का अतिचार है।

(६) परिग्रह परिमाणव्रत—मुनिराज संसार की समस्त वस्तुओं का त्याग करके पूर्णरूपेण अकिंचन बन जाते हैं, किन्तु सांसारिक व्यवहारों में फंसा हुआ श्रावक परिग्रह का पूर्ण रूप से परित्याग नहीं कर सकता। उसे पद-पद पर धन आदि की आवश्यकता होती है। फिर भी उसे अपनी आकांक्षाएं परिमित करनी चाहिए। यदि आकांक्षाओं का प्रसार रोका न जाय तो जीवन अत्यन्त अशान्त, असन्तुष्ट और असम बन जाता है। अतएव श्रावक को परिग्रह की मर्यादा कर लेनी चाहिए। इससे अधिक परिग्रह मैं नहीं रक्खूंगा, इस प्रकार मर्यादा बांध लेने से समता और सन्तोष का आविर्भाव होता है और तभी जीवन का रस लिया जा सकता है।

व्यक्तिगत जीवन को सरल और सन्तोषमय बनाने के लिए परिग्रह की मर्यादा आवश्यक है, यही नहीं वरन् समाज में एक प्रकार की आर्थिक समता लाने के लिए भी यह व्रत परमावश्यक है। जिस समाज में आर्थिक वैषम्य अधिक बढ़ जाता है जिसमें कुछ लोग अधिक धनसम्पन्न बन जाते हैं और अधिकांश लोग आवश्यक धन भी नहीं प्राप्त कर सकते, उस समाज में स्थायी शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती। उसमें वर्ग-विग्रह का जन्म होता है। एक वर्ग दूसरे वर्ग के विरुद्ध तीव्र असन्तोष से प्रेरित होकर क्रांति करता है और दोनों वर्गों की सुख-शान्ति शून्य में विलीन हो जाती है। तीव्र संघर्ष का दौरदौरा हो जाता है। इस अवांछनीय परिस्थिति से बचने के लिए भी परिग्रह की मर्यादा करना आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त धन का संग्रह करना जीवन का साध्य नहीं है। सुख-पूर्वक जीवन-निर्वाह के लिए धन की आवश्यकता है, इसलिए वह साधन के रूप में ही व्यवहृत होना चाहिए। आवश्यकता से अधिक धन का संचय करना उचित नहीं है। प्रायः अनेक पुरुष अपने बाल-बच्चों के लिए धन-संचय कर जाना चाहते हैं, पर ऐसा करने की अपेक्षा बाल-बच्चों को सुयोग्य सुशिक्षित और सदाचारी बना देना ही धिक योग्य है। बालक यदि सुयोग्य होगा तो वह स्वयं द्रव्यार्जन करके सुखपूर्वक

जीवन--निर्वाह कर सकेगा। अगर बालक अयोग्य हुआ तो संचित धन को एक दिन में समाप्त कर देगा। नीतिकार ने कहा भी है:—

यदि पुत्रः सुपुत्रः स्यात्, सम्पदा किं प्रयोजनम् ?
यदि पुत्रः कुपुत्रः स्यात्, सम्पदा किं प्रयोजनम् ?

अर्थात् पूत सपूत हुआ तो तुम्हारी संपत्ति से क्या प्रयोजन है ? वह स्वयं अपना निर्वाह कर लेगा। यदि कपूत हुआ तो संचित धन एक दिन में उड़ा डालेगा, फिर तुम्हारे संचय से क्या लाभ है ?

संसार का प्रत्येक प्राणी अपने संचित शुभ या अशुभ कर्मों के अनुसार ही फल का भागी होता है। फिर भी मनुष्य यह सोचता है कि मैं उसका पालन--पोषण कर रहा हूं—मैं उसे सुखी बना रहा हूं। वास्तव में यह विचार मनुष्य का मिथ्या अभिमान है। इत्यादि विचार करके विवेकशील पुरुषों को, संक्लेश भावों की न्यूनता के लिए धन के प्रति अति लोलुपता का त्याग करना चाहिए और एक नियत अवधि से आगे धन का परित्याग कर देना चाहिए। जो ऐसा करते हैं वही धन के स्वामी बन सकते हैं। जीवन--पर्यन्त धन के लिए व्यस्त रहने वाले, धन की आराधना के लिए जीवन के वास्तविक आनन्द को तिलांजलि देने वाले लोलुप लोग धन का कदापि सदुपयोग नहीं कर पाते। वे धन के स्वामी नहीं है, धन के दास हैं। धन उन्हें भोगता है, वे धन को नहीं भोगते।

सर्वज्ञ भगवान् ने परिग्रह के दोष दर्शाकर उसके त्याग की महत्ता का निरूपण किया है। अतएव श्रावकों को निम्नलिखित परिग्रह की मर्यादा कर लेना चाहिए:—

(१) खेत, कूप, सरोवर, नहर, बाग-बगीचा, आदि की संख्या निर्धारित करके उससे अधिक का त्याग करना चाहिए।

(२) महल, मकान, दुकान, पशुशाला बंगला आदि इमारतों का परिमाण नियत करके अधिक का परित्याग करना चाहिए।

(३) सोना चांदी आदि और उनसे बनने वाले आभूषणों की मर्यादा कर लेना चाहिए, मर्यादा से अधिक की अभिलाषा नहीं करना चाहिए।

(४) रुपया, पैसा, मोहर, नोट आदि सिक्कों का तथा हीरा मोती, माणिक, पन्ना, पुखराज आदि जवाहिरात का परिमाण नियत कर लेना चाहिए।

(५) गेहूं, चांवल, चना, मूंग, ज्वार, बाजरी, मोठ आदि समस्त धान्यों के संग्रह की सीमा निश्चित कर लेना चाहिए। फल, मेवा आदि की मर्यादा भी इसीमें समाविष्ट है।

(६) दास-दासी, नौकर-चाकर आदि की मर्यादा करनी चाहिए, तथा रथ, गाड़ी आदि समस्त द्विपदों का परिमाण करना चाहिए।

(७, गाय, भैंस, बैल, घोड़ा, हाथी, ऊंट आदि चौपायों की मर्यादा बांध लेना चाहिए, और मर्यादा से अधिक कभी नहीं रखना चाहिए।

(८) सोने-चांदी के अतिरिक्त अन्य धातुओं का, जैसे—तांबा पीतल, लोहा, सीसा, जर्मन-सिल्वर, नकली सोना आदि का परिमाण नियत कर लेना चाहिए।

उल्लिखित वस्तुओं के परिमाण में समस्त पदार्थों का परिमाण आ जाता है। जिन वस्तुओं का नामोल्लेख नहीं हुआ है उन्हें यथायोग्य इन्हीं में सम्मिलित समझना चाहिए। आशय यह है कि श्रावक को प्रत्येक पदार्थ की मर्यादा बांध कर अधिक पाप से बचने का और संक्लेशजन्य वेदना से मुक्त होने का पूर्ण प्रयास करना चाहिए।

इस व्रत के भी पांच अतिचार हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) क्षेत्रवास्तुपरिमाणातिक्रम—खेत आदि और मकान आदि की बांधी हुई मर्यादा का उल्लंघन करना। किसी ने पांच घर रखने की मर्यादा की हो और वह छठा घर रख ले तो व्रत सर्वथा खंडित हो जाता है। संख्या बराबर बनाये रखने के लिए यदि दो घरों को मिलाकर एक बड़ा घर बना ले तो अतिचार लगता है। इसी प्रकार खेत आदि के विषय में समझना चाहिए।

(२) हिरण्यसुवर्णपरिमाणातिक्रम—चांदी-सोने की मर्यादा का उल्लंघन करना। अगर किसी ने सोने के पांच आभूषण मर्यादा में रक्खे हैं और छठा आ जाय तो दो का एक आभूषण करवा लेना अतिचार है। अथवा आभूषण स्वयं उपार्जन करके अपने पुत्रादि स्वजन को दे देना भी अतिचार है।

(३) धन--धान्य परिमाणातिक्रम—रुपया, पैसा और धान्य के परिमाण का उल्लंघन करना। पहले की ही तरह एक देश भंग होने पर अतिचार होता है। सर्वथा भंग होने पर अनाचार हो जाता है।

(४) द्विपद चतुष्पद परिमाणातिक्रम—दो पैर वाले और चार पैर वाले पशु-पक्षी आदि तथा रथ आदि की मर्यादा को एक देश भंग करना।

(५) कुप्यधातु परिमाणातिक्रम—तांबा पीतल आदि तथा अन्य फुटकल सामान की बांधी हुई मर्यादा का उल्लंघन करना। यह भी पूर्वोक्त रीति से ही अतिचार है।

तीन गुण व्रत

पूर्वोक्त पांच अणुव्रतों के पालन में जो गुणकारी होते हैं अथवा जो आत्मा का उपकार करने वाले गुणों को पुष्ट करते हैं, उन्हें, गुणव्रत कहते हैं। गुणव्रत तीन हैं—(१) दिशा परिमाणव्रत (२) उपभोग परिभोगव्रत और (३) अनर्थदण्डविरमणव्रत।

(१) दिशापरिमाण व्रत—पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, दिशाओं का, वायव्य, नैर्ऋत्य आदि चार विदिशाओं का, ऊपर और नीचे, इस प्रकार दशों दिशाओं का परिमाण करना और नियत सीमा से आगे आस्रव के सेवन का प्रत्याख्यान करना दिशा परिमाण व्रत है।

(२) उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत—एक बार भोगने योग्य भोजन आदि उपभोग कहलाता है और बारम्बार उपभोग किये जाने योग्य पदार्थ परिभोग कहलाते हैं इन की मर्यादा कर लेना उपभोगपरिभोग व्रत है।

यह व्रत भोजन की अपेक्षा और कर्म (कार्य) की अपेक्षा से दो प्रकार का है। भोजन की अपेक्षा छब्बीस वस्तुओं की मर्यादा करनी चाहिए और कर्म की अपेक्षा पन्द्रह कर्मादान का त्याग करना चाहिए। पन्द्रह कर्मादानों का उल्लेख आगे किया जायगा। भोजन की अपेक्षा छब्बीस बोल इस भांति हैं:—

(१) शरीर को साफ करने के लिए अंगोछा, रूमाल, टवाल आदि की मर्यादा करना।
(२) दांत स्वच्छ करने के लिए दातौन, मंजन आदि की मर्यादा करना।
(३) आम, नारियल, अंगूर आदि फलों के उपभोग की मर्यादा करना।
(४) इत्र, तेल, फुलेल आदि की मर्यादा करना।
(५) शरीर को स्वच्छ बनाने के लिए पीठी, उबटन आदि की मर्यादा करना।
(६) स्नान तथा स्नान के लिए जल की मर्यादा करना।
(७) ऊनी, सूती तथा रेशमी वस्त्रों के ओढ़ने, पहनने की मर्यादा करना।
(८) केसर, चंदन, कुंकुम आदि विलेपन योग्य वस्तुओं की मर्यादा करना।
(९) चम्पा, चमेली, गुलाब आदि फूलों की मर्यादा करना।
(१०) हार, कंठा, आदि-आदि आभूषणों की मर्यादा करना।
(११) धूप, अगरबत्ती, आदि सुगंधी वस्तुओं की मर्यादा करना।
(१२) दूध, शर्बत, आदि पीने योग्य पदार्थों की मर्यादा करना।
(१३) फीके, मीठे आदि भक्षण करने योग्य पदार्थों की मर्यादा करना।
(१४) चावल, खिचड़ी, थूली, दलिया आदि रंधेन पदार्थों की मर्यादा करना।
(१५) चना, मूंग, मोठ, उड़द आदि दालों की तथा धान्यों की मर्यादा करना।
(१६) दूध, दही, घृत, तैल, गुड़, शक्कर आदि बिगय (विकृति) की मर्यादा करना।
(१७) शाक, भाजी की मर्यादा करना।
(१८) बादाम, पिश्ता, चिरौंजी, खारक, द्राक्षा मेवा की मर्यादा करना।
(१९) भोजन में काम आने वाली वस्तुओं की सामान्य मर्यादा करना।
(२०) तालाब, कूप, बावड़ी, नदी आदि के पानी की मर्यादा करना।
(२१) सुपारी, इलायची, लौंग, पान आदि मुखशोधक पदार्थों की मर्यादा करना।
(२२) हाथी, घोड़ा, ऊंट, तथा मोटर, बग्घी, पालकी, म्याना, रथ, तांगा आदि सवारियों की मर्यादा करना।
(२३) जूता, खड़ाऊं, मोजे आदि पैर में पहनने के पदार्थों की मर्यादा करना।
(२४) खाट, पलंग, पाटा, तख्त, टेबिल, कुर्सी, कोच, बेंच आदि सोने, बैठने, विश्राम लेने योग्य वस्तुओं की मर्यादा करना।
(२५) कच्चे दाने, कच्चा शाक, सचित्त जल, नमक, आदि की मर्यादा करना।

(२६) एक वस्तु के विभिन्न रूप पलटने पर स्वाद में भेद हो जाता है। स्वाद-भेद से यहां द्रव्यभेद समझना चाहिए। जैसे गेहूं की रोटी, बाटी, पूड़ी आदि विभिन्न द्रव्य हैं। इस प्रकार द्रव्यों की मर्यादा करना।

संसार में अनगिनती पदार्थ मनुष्य के उपयोग में आते हैं। उन सब पदार्थों का यथायोग्य इन छब्बीस बोलों में समावेश करना चाहिए और सभी पदार्थों की मर्यादा करना चाहिए। इस प्रकार मर्यादा करने से इच्छाओं पर विजय प्राप्त होती है, राग भाव की न्यूनता होती है और राग भाव ज्यों-ज्यों न्यून होता है त्यों-त्यों आस्रव भी न्यून होता जाता है।

भोज्य पदार्थों में अतिशय पापजनक होने के कारण कोई-कोई पदार्थ श्रावक को सर्वथा अभक्ष्य हैं। उन अभक्ष्य पदार्थों का श्रावक को त्याग करना चाहिए।

मद्य, मांस, पांच उदम्बर—गूलर फल, बड़ का फल, पीपल का फल, पाकर का फल, कठुंबर का फल—अज्ञात फल, रात्रि भोजन, लीलन-फूलन वाला भोजन, सड़ा-घुना अन्न, यह सब श्रावक को भक्षण करने योग्य नहीं हैं।

इनके अतिरिक्त जिन फलों में कीड़े पड़ गये हों वह फल भी भक्षणीय नहीं हैं। रसचलित, आचार, मुरब्बा, आसव आदि पदार्थ भी त्याज्य हैं। तात्पर्य यह है कि श्रावक सात्विक भोजन ही करते हैं और जिन भोज्य पदार्थों के भक्षण से त्रस जीवों की अथवा स्थावर जीवों की निरर्थक हिंसा होती हो उनका त्याग करना चाहिए। भोजन के विषय में भोज्य पदार्थों की निर्दोषता का, स्वच्छता का और सात्विकता का ध्यान सदैव रखना चाहिए। भोजन का मानसिक विचारों पर भी प्रभाव पड़ता है, अतएव राजस और तामस पदार्थों का भक्षण नहीं करना चाहिए। भोजन संबंधी अन्य बातें विवेकशील पुरुषों को बिना विचार किए व्यवहार नहीं करना चाहिए। जैसे विदेशी शक्कर न खाना, मांस-मदिरा मिश्रित विदेशी औषधियों का उपयोग न करना आदि-आदि।

(३) अनर्थदंडविरमणव्रत – निरर्थक पाप का त्याग करना अनर्थदंड विरमणव्रत है। अनर्थ दंड के मुख्य रूप से चार भेद हैं -(१) अपध्यानाचरित (२) प्रमादाचरित (३) हिंसाप्रदान और (४) पापकर्मोपदेश।

(१) अपध्यान—राग-द्वेषमय विचार करना, दूसरे का बुरा विचारना।

(२) प्रमादाचरित—आठ मद, इन्द्रियों के विषय, कषाय, निन्दा और विकथा करना।

(३) हिंसाप्रदान—तलवार, बन्दूक, अग्नि आदि हिंसा के साधन दूसरों को देना।

(४) पापकर्मोपदेश—पापजनक कार्यों को करने का उपदेश देना।

श्रावकों की दृष्टि पाप से अधिक से अधिक बचने की होनी चाहिए। जिन सार्थक पापों का त्याग करना शक्य हो उन्हें व्रत मर्यादा के अनुकूल अवश्य त्यागे,

शेष का आगार रख सकता है, पर निरर्थक-निष्प्रयोजन पापों का तो त्याग करना ही चाहिए। निरर्थक पापों का त्याग करने से आत्मा का बहुत कुछ कल्याण साधा जा सकता है।

गुणव्रतों के अतिचार

दिशा परिमाणव्रत के पांच अतिचार इस प्रकार हैं—(१-३) ऊर्ध्व-अधः—तिर्यक् दिशा परिमाण-अतिक्रम (४) क्षेत्रवृद्धि (५) स्मृति-अन्तर्धान (४)

(१-३) ऊर्ध्व-अधः-तिर्यकदिशा परिमाणातिक्रम—अर्थात् ऊर्ध्व दिशा, अधोदिशा और तिरछी दिशा का जो परिमाण किया हो, उसे भूल कर या नशे आदि के वश होकर उल्लंघन करना। यह स्मरण रखना चाहिए कि भूल-चूक में परिमाण का उल्लंघन हो तभी अतिचार लगता है। उल्लंघन करने की बुद्धि से—जानबूझ कर उल्लंघन करने से व्रत सर्वथा खण्डित हो जाता है।

(४) क्षेत्रवृद्धि—व्रत ग्रहण करते समय जिस दिशा का जितना परिमाण किया हो उसमें वृद्धि कर लेना। जैसे—उत्तर दिशा और दक्षिण दिशा का सौ-सौ योजन का परिमाण किया। पश्चात् उत्तर में सवा सौ योजन जाने की आवश्यकता हुई तो दक्षिण दिशा के सौ योजन में से पच्चीस योजन कम करके उत्तर दिशा का सवा सौ योजन परिमाण कर लेना अतिचार है।

(५) स्मृति-अन्तर्धान—किये हुए परिमाण का कारणवश विस्मरण हो जाय, जैसे मैंने दक्षिण दिशा में सौ योजन का परिमाण रक्खा है या सवा सौ योजन का? फिर भी सवा सौ योजन चला जाय तो अतिचार लगता है।

तात्पर्य यह है कि दिशा परिमाणव्रत राग-द्वेष और आरम्भ की न्यूनता के उद्देश्य से ग्रहण किया जाता है। परिमित दिशाओं से आगे आरम्भ का त्याग हो जाता है। जिस कार्य से व्रत का उद्देश्य अंशतः मलिन हो जाता है—ऐसा कार्य करने से व्रत दूषित होता है। श्रावक को अतिचारों से बचना चाहिए।

उपभोग-परिभोगव्रत के भोजन सम्बन्धी पांच अतिचार यह हैं—

(१) सचित्ताहार—भूल से—विना उपयोग के त्याग किये हुए सचित्त पदार्थ का आहार करना।

(२) सचित्तप्रतिबद्धाहार—जो फलादि ऊपर से अचित्त हो किन्तु बीज होने के कारण भीतर से सचित्त हो, उसका असावधानी पूर्वक आहार करना। अथवा सचित्त वृक्ष से सम्बद्ध गोंद, पका हुआ फल आदि खाना। यह अतिचार भी उसी अवस्था में समझना चाहिए जब सचित्त भक्षण की बुद्धि नहीं हो। सचित्त-भक्षण की बुद्धि से सचित्त आहार करने पर अनाचार दोष लगता है।

(३) अपक्वआहार—जो वस्तु पूर्ण रूप से पकी न हो, अधकच्ची हो उसका भक्षण करना। जैसे तत्काल पीसी हुई चटनी, आधा कच्चा शाक, फल आदि।

(४) दुष्पक्वाहार-जो वस्तु बहुत पक कर सड़ गई हो, गल गई हो, जिसके वर्ण, गंध, रस और स्पर्श बदल गये हों, ऐसी वस्तु का भक्षण करना।

(५) तुच्छाहार—जिन खाद्य पदार्थों में खाने योग्य अंश कम और त्याज्य अंश अधिक हो, जैसे सीताफल, वेर आदि तुच्छ पदार्थों का भक्षण करना।

कर्म की अपेक्षा इस व्रत के पन्द्रह अतिचार होते हैं। उनका उल्लेख आगे किया जायगा।

आठवें व्रत अथवा तीसरे गुण व्रत के पांच अतिचार इस प्रकार हैं—

(१) कन्दर्प—कामवासना जागृत करने वाले वाक्यों का प्रयोग करना तथा स्त्रियों के समक्ष पुरुषों की काम-चेष्टाओं का सरस वर्णन करना, और पुरुषों के समक्ष स्त्रियों के हाव-भाव, विलास आदि का कथन करना।

(२) कौत्कुच्य—काय सम्बन्धी कुचेष्टा करना। जैसे—भौंह मटकाना, आंख दबाकर इशारा करना। अपनी काम-वासना को व्यक्त करने तथा दूसरे की काम-वासना जागृत करने के लिए श्रावक को इस प्रकार की भांडों सरीखी चेष्टाएं नहीं करनी चाहिए।

(३) मौखर्य—विना सोचे-समझे बोलना, असभ्य वचनों का प्रयोग करना, साधारण वार्त्तालाप में भी गालियों का प्रयोग करना, धृष्टतापूर्वक बोलना, आदि।

(४) संयुक्ताधिकरण—'अधिक्रियते दुर्गतावात्मा अनेन, इति अधिकरणम्' अर्थात् जिसके द्वारा आत्मा नरक आदि दुर्गति का अधिकारी बनाया जाय उसे अधिकरण कहते हैं। हिंसा के उपकरण शस्त्र, मूसल, हल आदि आधिकरण हैं। एक अधिकरण का दूसरे अधिकरण के साथ सम्बन्ध जोड़ना संयुक्ताधिकरण नामक अतिचार है। जैसे-ओखली हो तो नया मूसल बनवाना, फाल हो तो हल बनवाना, चक्की का एक पाट हो तो दूसरा पाट बनवाना आदि।

(५) उपभोग-परिभोगातिरेक—उपभोग. परिभोग के योग्य वस्तुओं में अधिक आसक्त होना। जैसे—सदा नाटक, सिनेमा देखने के लिए लालायित रहना, इत्र तेल फुलेल आदि में लोलुप रहना, इन भोगोपभोग के साधनों के लिए अधिक आरम्भ करना, विकारजनक राग-रागिनी सुनने में अतीव लालसा रखना, सुनकर अत्यन्त प्रसन्न होना। ऐसा करने से निकाचित कर्मों का वंध होता है। श्रावक को भोगोपभोग में अत्यन्त आसक्त न होकर उदासीन वृत्ति रखनी चाहिए।

चार शिक्षा व्रत

पूर्वोक्त पांच अणुव्रतों और तीन गुणव्रतों का यथायोग्य पालन करने की जिस से शिक्षा मिलती है, उसे शिक्षाव्रत कहते हैं। शिक्षाव्रत के चार भेद हैं—(१) सामायिक व्रत, (२) देशावकाशिक व्रत, (३) पौषधोपवास व्रत और (४) अतिथिसंविभाग व्रत। इन चारों का स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार है—

(१) सामायिक व्रत—संसार के समस्त पदार्थों पर राग-द्वेष का अभाव होना, साम्यभाव - तटस्थवृत्ति या मध्यस्थता की भावना जागना, सामायिक व्रत है । यह साम्यभाव तीन प्रकार से होता है अतएव सामायिक के भी तीन भेद हो जाते हैं—(१) सम्यक्त्व सामायिक (२) श्रुतसामायिक और (३) चारित्र सामायिक । 'चारित्र सामायिक देशविरति और सर्वविरति के भेद से दो प्रकार का है। श्रुतसामायिक के तीन भेद हैं—सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ रूप सामायिक । सम्यक्त्व सामायिक भी औपशमिक सम्यक्त्व सामायिक, क्षायिक सम्यक्त्व सामायिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व सामायिक के भेद से तीन प्रकार का है।

आत्मश्रेय के साधन में सामायिक की बहुत महत्ता है। सामायिक का अनुष्ठान करनेवाला श्रावक, सामायिक की अवस्था में श्रमण के समान बन जाता है। कहा भी है—

सामाइयम्मि तु कए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा ।

एएण कारणेणं, बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥

अर्थात् सामायिक करने पर श्रावक, साधु सदृश बन जाता है, इस कारण श्रावक को पुनः पुनः सामायिक करना चाहिए ।

संसार संबंधी समस्त सावद्य कार्यों से निवृत्त होकर निर्जीव भूमि पर, पौषधशाला आदि एकान्त स्थान में स्थित होकर वस्त्र-आभूषण का त्याग करके स्वच्छ दो वस्त्र मात्र धारण करके, सामायिक व्रत धारण करे । कम से कम अड़तालीस मिनट तक इसी-अवस्था में रहे । इस अवस्था में राग-द्वेष, का त्याग करे, समताभाव का आश्रय ले, आत्मध्यान, नमस्कार मंत्र का जाप या आध्यात्मिक ग्रंथ का स्वाध्याय करे। यह व्रत दो करण, तीन योग से अर्थात् 'सावद्य व्यापार मन, वचन और काय से न करूंगा, न कराऊंगा' इस प्रकार की प्रतिज्ञा के साथ धारण किया जाता है। सामायिक व्रत का यह बाह्य अनुष्ठान व्यवहार सामायिक है और साम्यभाव का उदय होना निश्चय सामायिक है । सामायिक का विस्तृत विवेचन और परिपूर्ण विधि अन्यत्र देखना चाहिए। सामायिक व्रत के पांच अतिचार इस प्रकार हैं—

(१) मनोदुष्प्रणिधान—मन की असत् प्रवृत्ति होना। मन अत्यधिक चंचल है। वह शीघ्र ही कुमार्ग की ओर दौड़ जाता है। उसे अपने वश में न रक्खा जाय तो सामायिक में अतिचार लगता है ।

(२) वचन दुष्प्रणिधान—वचन की असत्-प्रवृत्ति को वचन दुष्प्रणिधान अतिचार कहा गया है। सामायिक में हिंसा जनक, पापमय, बिना सोचे-विचारे, वचनों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

(३) कायदुष्प्रणिधान—काय की असत्प्रवृत्ति होना। जैसे शरीर की चपलता, अनुचित आसन से बैठना, बार-बार आसन बदलना, चंचल नेत्रों से इधर-उधर देखना, आदि ।

(४) स्मृति-अकरणता - सामायिक के समय का परिमाण भूल जाने पर भी सामायिक पार लेना।

(५) अनवस्थितकरणता—व्यवस्थित रूप से सामायिक न करना। जैसे—सामायिक का समय पूर्ण होने से पहले सामायिक पार लेना। सामायिक करने का समय होने पर भी सामायिक न करना, सामायिकस्थ हो कर भी निरर्थक बातों में समय व्यतीत करना आदि।

इन पांच अतिचारों से बचकर, श्रद्धा, भक्ति, रुचि और प्रतीति के साथ, प्रतिदिन, नियत समय पर श्रावक को सामायिक का अनुष्ठान करना चाहिए। सामायिक के विधिपूर्वक अनुष्ठान करने से चित्त में समाधि जागृत होती है और आत्मा के सहज स्वरूप का आविर्भाव और प्रकाश होता है।

(२) देशावकाशिकव्रत—पहले दिग्व्रत का निरूपण किया गया है। दिग्व्रत में दिशाओं का जो परिमाण किया जाता है वह जीवनपर्यन्त के लिए होता है। जीवन में न जाने कब किस दिशा में, कितनी दूर जाने की आवश्यकता पड़ जाय? इस विचार से श्रावक प्रायः विस्तृत मर्यादा रखता है। उस मर्यादा के अनुसार प्रतिदिन जाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अतएव थोड़े समय के लिए उस सीमा में संकोच किया जा सकता है। विवेकशील श्रावक, एक घड़ी, एक प्रहर, एक दिन, एक पक्ष, मास आदि नियत समय के लिए मर्यादा में जो न्यूनता करता है और अमुक नगर, गांव, पहाड़, नदी आदि तक उसे सीमित कर लेता है उसे देशावकाशिक व्रत कहा है। इस व्रत में कुछ आगार होते हैं। जैसे—

[क] राजा की आज्ञा से मर्यादा बाहर जाना पड़े तो आगार।
[ख] देव या विद्याधर आदि हरण करके बाहर ले जाय तो आगार।
[ग] उन्माद आदि रोग के कारण विवश होकर चला जाय तो आगार।
[घ] मुनि दर्शन के निमित्त जाना पड़े तो आगार।
[ङ] जीव रक्षा के लिए जाना हो तो आगार।
[च] अन्य किसी महान् उपकार के लिए जाना पड़े तो आगार।

आगार उस छूट को कहते हैं, जो दूरदर्शिता के कारण व्रत ग्रहण करते समय रखली जाती है। देशावकाशिक व्रत धारण करने से मर्यादा के बाहर के पापों का निरोध हो जाता है और आत्मा में सन्तोष, शान्ति तथा हलकापन आ जाता है।

दूसरे शिक्षा व्रत के पांच अतिचार यह हैं—

(१) आनयन प्रयोग—मर्यादा की हुई भूमि से बाहर की वस्तु अन्य व्यक्ति द्वारा मंगवाना।

(२) प्रेष्य प्रयोग—मर्यादा से बाहर दूसरे के साथ कोई वस्तु भेजना।

(३) शब्दानुपात—शब्द का प्रयोग करके मर्यादा से बाहर स्थित किसी पुरुष को बुलाना।

(४) रूपानुपात—अपना रूप दिखाना अर्थात् ऐसी चेष्टा करना जिससे कोई पुरुष उसे देखकर उसके पास आ जाय।

(५) बाह्य पुद्गलपरिक्षेप—कंकर, लकड़ी आदि फैंक कर मर्यादा से बाहर स्थित पुरुष को बुलाने का प्रयत्न करना।

इन पांच अतिचारों का सेवन न करता हुआ इस व्रत का अनुष्ठान करे। अतिचार का सेवन करने से व्रत का उद्देश्य खण्डित हो जाता है। जहां अंशतः खंडन होता है वहीं अतिचार लग जाता है।

(३) पौषधोपवासव्रत जिस व्रत से धर्म का, आत्मा के स्वाभाविक गुणों का अथवा षट्काय जीवों का पोषण होता है उसे पौषधव्रत कहते हैं। यह व्रत प्रायः अष्टमी चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या रूप चार विशिष्ट तिथियों में तो अवश्य किया जाता है। जिस दिन व्रत करना हो उससे एक दिन पूर्व एकाशन करना चाहिए, रात्रि-दिन अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। दूसरे दिन प्रातःकाल पौषध-शाला में अथवा घर के किसी शान्त और एकान्त स्थान में निवास करना चाहिए। सम्पूर्ण दिन और रात्रि अनशन करके, धर्म-ध्यान में व्यतीत करे और तीसरे दिन फिर एकाशन करे। परिपूर्ण पौषधव्रत में चार बार के भोजन का त्याग किया जाता है।

पौषधव्रत को ग्रहण करने पर सब प्रकार के सावद्य कार्यों का, अब्रह्मचर्य का, शरीर-संस्कार का, उबटन, लेपन, फूल माला धारण, सुन्दर वस्त्राभूषणों का परिधान इत्यादि सब का त्याग करना आवश्यक है। इस व्रत का अनुष्ठान करते समय श्रावक, साधु सदृश वृत्ति धारण करता है। पौषधव्रत दो प्रकार का है:—(१) सर्वतः और (२) देशतः। अर्थात् परिपूर्ण पौषध और एक देश पौषध। परिपूर्ण पौषध में आहार आदि का पूर्ण रूप से त्याग किया जाता है और देश पौषध में आंशिक त्याग किया जाता है। साधु-जीवन का अभ्यास करने के लिए, त्याग की ओर प्रयाण करने के लिए, आत्मा में धार्मिक निश्चलता उत्पन्न करने के लिए यह व्रत परमावश्यक और परमोपयोगी है। इसकी पूर्ण विधि अन्यत्र देखना चाहिए।

पौषधव्रत के पांच अतिचार इस प्रकार हैं—

(१) अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित शय्यासंस्तार—पौषध के स्थान को, बिछाने-ओढ़ने के वस्त्रों को, तथा पाट आदि को प्रतिलेखन न करना अथवा यतना के साथ प्रतिलेखन न करना।

(२) अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित शय्यासंस्तार—पूर्वोक्त वस्तुओं को रजोहरण आदि मुलायम उपकरण से पूंजना नहीं या यतना के साथ न पूंजना।

(३) अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित उच्चारप्रस्रवणभूमि—मल-मूत्र कफ आदि त्यागने की भूमि को न देखना या यतनापूर्वक न देखना। तात्पर्य यह है कि यह स्थान जीव-रहित है या नहीं, इस प्रकार भलीभांति देखे बिना मल-मूत्र का त्याग करने से अतिचार लगता है।

(४) अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित उच्चारप्रस्रवणभूमि—मल--मूत्र त्याग करने के स्थान को पूंजनी आदि से पूंजे विना या देखे विना अथवा सम्यक् प्रकार से पूंजे, देखे विना मल--मूत्र आदि का उत्सर्ग करना।

(५) सम्यक्-अननुपालन—पौषधव्रत का सम्यक् प्रकार से पालन न करना। श्रद्धा--भक्ति, उत्साह और प्रेम के साथ पौषधव्रत का पालन न करने से भी अतिचार लगता है।

(४) अतिथिसंविभाग—जिनके आने का समय नियत नहीं है उन्हें अतिथि कहते हैं। निर्ग्रन्थ श्रमण आहार के लिए पहले से सूचना दिये विना आते हैं। अतएव उन्हें यहां अतिथि कहा गया है। उन अतिथियों को अचित्त और निर्दोष आहार देने की भावना होना और यदि अवसर मिले तो आहार देना अतिथिसंविभाग व्रत कहलाता है।

इस व्रत के पांच अतिचार इस प्रकार हैं—

(१-२) सचित्तनिक्षेप पिधान—साधु को कोई वस्तु न देने के उद्देश्य से उस वस्तु को सचित्त पदार्थ के ऊपर रख देना या सचित्त से ढंक देना, क्योंकि साधु सचित्त-संसर्ग वाली ग्रहण नहीं करते।

(३) कालातिक्रम—जब साधु भिक्षा लेने के लिए निकलते हैं, उस समय किवाड़ लगा लेना। अर्थात् गोचरी के समय का किसी प्रकार अतिक्रम करना, जिस से आहार आदि न देना पड़े।

(४) परोपदेश—आहार देने योग्य होते हुए भी स्वयं आहार न देना और दूसरे से कहना कि—इन्हें अमुक वस्तु दे दो। या अपनी वस्तु को, न देने के अभिप्राय से, दूसरे की बता देना।

(५) मात्सर्य - मत्सरता का भाव धारण करना। जैसे—यह सोचना कि अगर साधु को न देंगे तो निन्दा होगी, ऐसा विचार कर देना। प्रसन्नता और प्रेम के साथ न देना।

उल्लिखित व्रतों को पालन करने के लिए तथा सुख-संतोष के साथ जीवन-निर्वाह करने के लिए श्रावक को निम्नलिखित गुण प्राप्त करने चाहिए। जो श्रावक इन गुणों को प्राप्त करता है वही धर्म का अधिकारी होता है। यथा —

न्यायसम्पन्नविभवः शिष्टाचारप्रशंसकः।
कुलशीलसमैः सार्द्धं कृतोद्वाहोऽन्यगोत्रजैः।
पापभीरुः प्रसिद्धं च, देशाचारं समाचरन्।
अवर्णवादी न क्वापि राजादिषु विशेषतः॥
अनतिव्यक्तगुप्ते च स्थाने सुप्रतिवेश्मिके।
अनेकनिर्गमद्वार-विवर्जितनिकेतनः॥
कृतसङ्गः सदाचारैर्मातापित्रोश्च पूजकः।

त्यजन्नुपप्लुतं स्थानमप्रवृत्तश्च गर्हिते ॥
व्ययमायोचितं कुर्वन् वेषं वित्तानुसारतः ।
अष्टभिर्धीगुणैर्युक्तः, शृण्वानो धर्ममन्वहम् ॥
अजीर्णे भोजनत्यागी, काले भोक्ता च सात्म्यतः ।
अन्योन्याप्रतिबन्धेन त्रिवर्गमपि साधयन् ॥
यथावदतिथौ साधौ, दीने च प्रतिपत्तिकृत् ।
सदानभिनिविष्टश्च पक्षपाती गुणेषु च ॥
अदेशाकालयोश्चर्यां त्यजन् जानन् बलाबलम् ।
वृत्तस्थज्ञानवृद्धानां पूजकः पोष्यपोषकः ॥
दीर्घदर्शी विशेषज्ञः कृतज्ञो लोकवल्लभः ।
सलज्जः सदयः सौम्यः परोपकृतिकर्मठः ॥
अन्तरङ्गारिषड्वर्ग-परिहारपरायणः ।
वशीकृतेन्द्रियग्रामो गृहिधर्माय कल्पते ॥

अर्थात् स्वामीद्रोह, मित्र द्रोह, विश्वासघात, ठगी, चोरी आदि अन्याययुक्त उपायों से धन न कमाकर न्यायपूर्वक धन का उपार्जन करने वाला, शिष्ट पुरुषों के आचार की प्रशंसा करने वाला, कुल और शील में समान अन्य गोत्र वालों के साथ विवाह संबंध करने वाला, पाप से डरने वाला, परम्परा से आगत देशाचार का आचरण करने वाला, किसी की और विशेष रूप से राजा आदि की निन्दा न करने वाला, बहुत प्रकट या बहुत गुप्त स्थान में न रहने वाला, बहुसंख्यक द्वारों वाले मकान में न रहने वाला, सदाचारी पुरुषों की संगति करने वाला, माता-पिता की भक्ति करने वाला, उपद्रवकारी नगर, ग्राम आदि स्थानों से दूर रहने वाला, धर्मविरुद्ध देशविरुद्ध कुलविरुद्ध कार्यों का त्यागी, आमदनी के अनुसार खर्च करने वाला, आर्थिक स्थिति, उम्र तथा देशकाल के अनुसार वेष पहनने वाला, बुद्धि के ※ आठ गुणों से युक्त, प्रतिदिन धर्मोपदेश सुनने वाला, अजीर्ण होने पर भोजन का त्याग करने वाला उचित और नियत समय पर लोलुपता रहित हो कर परिमित भोजन करने वाला, परस्पर में विरोध न करते हुए धर्म, अर्थ और काम रूप त्रिवर्ग का सेवन करने वाला, अतिथि, साधु और दीनहीन जनों का यथायोग्य आदर करने वाला, सदा आवेश से रहित, गुणों का पक्षपाती, देशविरुद्ध और कालविरुद्ध आचरण का त्यागी, अपनी शक्ति और अशक्ति का ज्ञाता, चारित्र में तथा ज्ञान में जो बड़े हों उनका आदर-सत्कार करने वाला, अपने आश्रित कुटुम्बीजन आदि का पालन करने वाला, आगे-पीछे का विचार करने वाला, विशेषज्ञ, कृतज्ञ, जगत् का वल्लभ (प्रिय), लज्जाशील, दयालु, सौम्य, परोपकारपरायण, काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष रूप अन्तरंग शत्रुओं के त्याग में लगा रहने वाला और इन्द्रियों को वश में करने वाला, श्रावक गृहस्थ धर्म का अधिकारी होता है।

※ (१) धर्म श्रवण करने की इच्छा (२) श्रवण (३) शास्त्र का अर्थ ग्रहण करना। (४) धारणा (५) ऊहा (६) अपोह (७) अर्थविज्ञान और (८) तत्वज्ञान, यह बुद्धि के आठ गुण हैं।

इस लोक में और परलोक में सुखी बनने के लिए यह गुण अत्यन्त आवश्यक हैं अतः श्रावक को इन गुणों से युक्त होना चाहिए।

मूलः—इंगाली-वण-साडी-भाडी फोडी सुवज्जए कम्मं।
वाणिज्जं चेव दंत-लक्ख-रस-केस विसविसयं ॥२॥
एवं खु जंतपिल्लणकम्मं, निल्लंछणं दवदाणं।
सरदहतलायसोसं, असईपोसं च वज्जिज्जा ॥३॥

छायाः—अङ्गार-वन-शाटी-भाटिः स्फोटिः सुवर्जयेत् कर्म।
वाणिज्यं चैव च दन्त-लाक्षा-रस-केश-विष-विषयम् ॥ ५ ॥
एवं खलु यन्त्रपीड़न कर्म, निर्लाञ्छनं दवदानम्।
सर द्रहतडागशोषं, असतीपोषम् च वर्जयेत् ॥ ३ ॥

शब्दार्थः—श्रावक को (१) अंगार कर्म (२) वन कर्म (३) शाटी कर्म (४) भाटिकर्म (५) स्फोटि कर्म (६) दन्त वाणिज्य (७) लाक्षावाणिज्य (८) रसवाणिज्य (९) वेषवाणिज्य (१०) विषवाणिज्य (११) यंत्रपीडन कर्म (१२) निर्लाञ्छन कर्म (१३) दवदान कर्म (१४ सरद्रह तड़ाग शोषण कर्म १५) असती पोषण कर्म, इन पन्द्रह कर्मादानों का त्याग करना चाहिए।

भाष्यः—सातवें व्रत का विवेचन करते समय उसके दो भेद बताये गये थे। उनमें से भोजन संबंधी व्रत का निरूपण वहां किया गया था। कर्म संबंधी उपभोग परिभोग परिमाण व्रत का पालन करने के लिए पन्द्रह कर्मादानों का सर्वथा परित्याग करना आवश्यक है। यह कर्मादान कर्म संबंधी उपभोग परिमाण व्रत के अति-चार हैं।

कर्मादान श्रावक को जानने चाहिए पर इनका आचरण नहीं करना चाहिए। जिस कार्य से प्रगाढ़ कर्मों का बंध होता है उसे कर्मादान कहते हैं। कर्मादान के पन्द्रह भेद होते हैं। उनका अर्थ इस प्रकार है—

(१) अंगार कर्म—कोयले तैयार करवाकर बेचना, भड़भूंजा आदि का तथा इसी प्रकार का अन्य कोई महान् आरंभवाला धंधा करना।

(२) वनकर्म—जंगल का ठेका लेकर कटवाना, फल, फूल आदि वनस्पति का बेचना वनकर्म कहलाता है।

(३) शाटी कर्म—गाड़ी, छकड़ा, रथ, बग्घी आदि बनाकर बेचना, इनके अंग जैसे पहिया बनाना और बेचना साडीकम्म या शाकट कर्म कहलाता है।

(४) भाटिकर्म—बैल, घोड़ा, ऊंट आदि को भाड़े पर देने का धंधा करना।

(५) स्फोटि कर्म—जमीन खोदने का धंधा करना, कूप, तालाब आदि खोद कर आजीविका चलाना।

(६) दन्त वाणिज्य—हाथी के दांत का व्यापार, तथा उपलक्षण से हिरन और व्याघ्र के चर्म का व्यापार करना उल्लू के नाखून का व्यापार करना, शंख, सीप आदि का व्यापार करना। व्याध आदि को पेशगी मूल्य देकर इन वस्तुओं को खरीदने से दोष लगता है, क्योंकि पेशगी लेने से व्याध आदि उसके निमित्त हाथी आदि त्रस जीवों का वध करते हैं।

(७) लाक्षावाणिज्य - लाख, मैनसिल, हड़ताल, आदि सावद्य वस्तुओं का व्यापार करना।

(८) रस वाणिज्य—मदिरा, मधु, मक्खन आदि वस्तुओं का व्यापार करना। दूध, दही का विक्रय भी इसमें सम्मिलित है।

(९) केशवाणिज्य—मनुष्य आदि द्विपद और गाय आदि चतुष्पद जीवों को बेचने का व्यापार करना।

(१०) विषवाणिज्य—प्राणघातक विष का व्यापार करना, तथा तलवार, बन्दूक आदि का व्यवसाय करना।

(११) यन्त्रपीडन कर्म—तिल आदि पील कर तैल निकालने का धंधा करना, चक्की चलाकर आजीविका करना आदि।

(१२) निर्लाञ्छन कर्म—बैल, घोड़ा आदि पशुओं को नपुंसक बनाने का धंधा करना।

(१३) दवदानकर्म—बगीचा, खेत तथा जंगल में, धान्य की विशेष उत्पत्ति के निमित्त आग लगाना।

(१४) सरद्रह तडाग शोषण कर्म—तालाब, बावड़ी, नदी आदि को सुखाने का कर्म करना।

(१५) असतीजनपोषणकर्म—आजीविका के उद्देश्य से दुराचारिणी स्त्रियों का पोषण करना, उनसे दुराचार सेवन करवाकर द्रव्य उपार्जन करना। शिकारी कुत्ता आदि को पालकर बेचना आदि कार्य भी इसी के अन्तर्गत हैं।

उक्त पापपूर्ण और निन्दनीय व्यापार त्रस तथा स्थावर जीवों की घोर हिंसा के कारण हैं। अतः श्रावक को तीन करण तीन योग से इनका परित्याग करना चाहिए।

मूलः—दंसणवयसामाइय पोसहपडिमा य बंभ अचित्ते।
आरंभ पेसउद्दिट्ठ वज्जए समणभूए य ॥ ४ ॥

छाया—दर्शन व्रत सामायिक पोषधप्रतिमा च ब्रह्म अचित्तं।
आरंभ प्रेषणोद्दिष्टवर्जकः श्रमणभूतश्च ॥ ४ ॥

शब्दार्थः—(१) दर्शन पडिमा (२) व्रत पडिमा (३) सामायिक पडिमा (४) पोषध पडिमा (५) प्रतिज्ञा पडिमा (६) ब्रह्मचर्य पडिमा (७) अचित्त पडिमा (८) आरंभत्याग

पडिमा (९) प्रेषणारंभ पडिमा (१०) उद्दिष्टत्याग पडिमा और (११) श्रमणभूत पडिमा, यह श्रावक की ग्यारह पडिमाएं हैं।

भाष्यः—गृहस्थ श्रावक अपनी विशिष्ट शुद्धि के लिए ग्यारह विशुद्धि स्थानों का सेवन करता है। इन स्थानों का सेवन करने से आत्म-शुद्धि के साथ ही श्रमणचारित्र के परिपालन करने का अभ्यास भी होता है। अतएव श्रावक को इन का आचरण करना चाहिए। पडिमाओं का स्वरूप इस प्रकार है:—

(१) दर्शन पडिमा—एक मास तक शंका, कांक्षा आदि दोषों से रहित, सर्वथा निर्दोष सम्यक्त्व का पालन करना।

(२) व्रत पडिमा—पहली पडिमा के अनुष्ठान के साथ दो मास तक निरतिचार बारह व्रतों का पालन करना। किसी प्रकार का अतिचार न लगावे।

(३) सामायिक पडिमा—पहली और दूसरी पडिमा के अनुष्ठान के साथ तीन मास तक सामायिक के समस्त दोषों से बचकर प्रातःकाल, मध्याह्नकाल, और संध्याकाल में सामायिक करे।

(४) पोषध पडिमा—पूर्वोक्त तीनों पडिमाओं का आचरण करते हुए चार मास तक पोषध के १८ दोषों से रहित होकर अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या को पौषधोपवास करना।

(५) *प्रतिज्ञा पडिमा—पूर्वोक्त चार पडिमाओं का अनुष्ठान करते हुए पांच मास तक पांच नियमों का पालन करे। पांच नियम यह हैं-(१) बड़ा स्नान न करना (२) क्षौर कर्म न करना, (३) पांव में जूता न पहनना, (४) धोती की एक लांग खुली रखना, (५) दिन में ब्रह्मचर्य पालना।

(६) ब्रह्मचर्य पडिमा--पूर्वोक्त पांचों पडिमाओं का अनुष्ठान करते हुए छह मास पर्यन्त विशुद्ध और अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करना।

(७) सचित्तत्याग पडिमा--पिछली छहों पडिमाओं को पालते हुए सात मास तक सब प्रकार की सचित्त वस्तुओं के उपभोग परिभोग का परित्याग करना।

(८) अनारंभ पडिमा--पूर्वोक्त सातों पडिमाओं का आचरण करते हुए आठ मास तक पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति तथा त्रस काय का स्वयं आरंभ न करना।

(९) प्रेषणारंभ पडिमा—पिछली आठों पडिमाओं का आचरण करते हुए पृथ्वी आदि षट्काय का आरंभ दूसरे से न कराना।

(१०) उद्दिष्टत्याग पडिमा—पूर्वोक्त नव पडिमाओं के विधान का पालन करते हुए दस मास पर्यन्त, अपने लिए बनाये हुए आहार को ग्रहण न करना।

(११) श्रमणभूतपडिमा--पूर्वोक्त दस पडिमाओं के अनुष्ठान के साथ ग्यारह

---

* प्रतिज्ञा पडिमा के स्थान पर किसी-किसी ग्रन्थ में कायोत्सर्ग पडिमा का विधान देखा जाता है। देखो हेमचन्द्राचार्य कृत योग शास्त्र, तृतीय प्रकाश।

महिने तक श्रमण का वेष धारण करना। तीन करण, तीन योग से सावद्य कार्य का त्याग करना। मस्तक तथा दाढ़ी के केशों का लुंचन करना, साधु के समान ही निर्दोष भिक्षा-वृत्ति का करना। तात्पर्य यह है कि ग्यारहवीं पडिमा का धारी श्रावक प्रायः साधु के समान आचरण करता है। किन्तु वस्तुत वह साधु नहीं है, क्योंकि वह यावज्जीवन यह अनुष्ठान नहीं करता। साधु होने का भ्रम दूसरों को न हो, इसलिए वह अपने रजोहरण की दंडी पर वस्त्र नहीं लपेटता, चोटी रखता है और धातु के पात्र रखता है।

पडिमा सम्बन्धी पूर्ण विधि का अनुष्ठान करने के लिए उपवास करना अनिवार्य है। पहली पडिमा में एक दिन उपवास, एक दिन पारणा, दूसरी में दो दिन उपवास एक दिन पारणा, तीसरी में तीन दिन उपवास एक दिन पारणा, इसी प्रकार क्रमशः बढ़ते बढ़ते ग्यारहवीं पडिमा में ग्यारह दिन उपवास, एक दिन पारणा, फिर ग्यारह दिन का उपवास और एक दिन पारणा, करना होता है।

समस्त पडिमाओं के अनुष्ठान में साढ़े पांच वर्ष व्यतीत हो जाते हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि अगली पडिमा का आचरण करते समय पिछली समस्त पडिमाओं की विधि (उपवास के सिवाय) का पालन अनिवार्य है।

मूलः—खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं ण केणइ ॥ ५ ॥

छायाः—क्षमयामि सर्वान् जीवान्, सर्वे जीवा क्षमन्तु मे।
मैत्री मे सर्वभूतेषु, वैरं मम न केनापि ॥ ५ ॥

शब्दार्थः— मैं सब जीवों से क्षमाता हूं—क्षमायाचना करता हूं, सब जीव मुझे क्षमा प्रदान करें। सर्व भूतों के साथ मेरी मैत्री है, मेरा किसी के साथ वैर नहीं है।

भाष्य—पूर्वोक्त समस्त आचार के पालन का उद्देश्य आत्मिक निर्मलता प्राप्त करना है। जो श्रावक इस आचार का पालन करता है उसमें इतनी सरलता और निर्मलता आ जाती है कि वह जगत के प्रत्येक प्राणी पर—कीड़ी और कुंजर पर साम्यभाव धारण करता है। सब प्राणियों पर वह मैत्री भाव धारण करता है— सब को मित्र की भांति देखता है, किसी के साथ वैर की भावना नहीं रखता। ज्ञात रूप से अथवा अज्ञात रूप से किसी जीव के विरुद्ध कोई कार्य किया हो, प्रतिकूल वचन का उच्चारण किया हो अथवा किसी का बुरा चिन्तन किया हो तो वह उससे शुद्ध अन्तःकरण से क्षमा की याचना करता है और अपनी ओर से सब को क्षमा का दिव्य दान देता है। तात्पर्य यह है कि जैसे कोई गृहस्थ, गृह में सांप का रहना सहन नहीं कर सकता और जब तक सांप बाहर नहीं निकल जाता तब तक उसे शांति नहीं मिलती उसी प्रकार किसी का अपराध करने पर सच्चा श्रावक, जब तक क्षमा-याचना करके शुद्धि लाभ नहीं करता तब तक उसे शांति नहीं मिलती। एक बार

क्षमा-याचना करने के पश्चात् वह सतत सावधान रह कर फिर उस भूल को नहीं दुहराता है।

प्रायः देखा जाता है कि अनेक बार हमें ज्ञान नहीं होता, फिर भी हमारी किसी कायिक, वाचिक या मानसिक चेष्टा से अन्य जीवों को कष्ट पहुंच जाता है। इस कष्ट-दान का प्रतीकार शुद्ध अन्तःकरण से क्षमा-याचमा करना है। इसी कारण श्रावक और साधु सामुदायिक रूप से समस्त जीवों से क्षमा-प्रार्थना कर लेते हैं और कभी-कभी ज्ञात अपराध की अवस्था में विशेष व्यक्तियों से क्षमा-याचना करते हैं। क्षमा-याचना, यदि सच्चे अन्तःकरण से की जाय तो, आत्मशुद्धि का प्रबल कारण होती है। इसी प्रकार अपने अपराधी को क्षमा-प्रदान करना भी महत्वपूर्ण है। हृदय में जब निष्कषायता की भावना उत्पन्न होती है, आवेश का प्राबल्य नहीं होता, तब अपराधी को क्षमा देकर अपने हृदय को निश्शल्य बनाया जा सकता है। क्षमायाचना और क्षमाप्रदान से आत्मसंतोष की अनुभूति होती है और वैर की परम्परा एवं चिरंतनता का उच्छेद हो जाता है। अतएव हृदय को हल्का बनाने तथा भावी कल्याण के निमित्त क्षमा का आदान-प्रदान अतीव उपयोगी है।

मूलः—अगारी समाइ अंगाइं, सड्ढी काएण फासए।
पोसहं दुहओ पक्खं, एगराइं न हावए॥ ६॥

छायाः—अगारी सामायिकाङ्गानि, श्रद्धी-कायेन स्पृशति।
पोषधमुभययोःपक्षयोः एकरात्रं न हापयेत ॥ ६॥

शब्दार्थः—श्रद्धावान् श्रावक (गृहस्थ) सामायिक के अंगों को काया के द्वारा स्पर्श करे-शरीर से पाले और दोनों पक्षों में, पोषध व्रत करे। इसमें एक रात्रि भी न्यूनता न करे।

भाष्यः—श्रावक के समस्त आचार का मुख्य ध्येय साम्यभाव की प्राप्ति होना है और साम्यभाव की प्राप्ति का साधन सामायिक है। अतएव विशेष रूप से सामायिक को विधान करते हुए शास्त्रकार ने कहा है कि श्रावक को सामायिक के समस्त अंगों (समता, शान्ति आदि) के पालन करने का विचार मात्र नहीं करना चाहिए प्रत्युत शरीर से भी उसका अनुष्ठान करना चाहिए।

इसी प्रकार एक मास के दो पक्षों में अर्थात् शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष में तीन तीन पोषधोपवास भी उसे अवश्यमेव करने चाहिए।

संस्कृत भाषा में सामायिक शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—'समस्य रागद्वेषविनिमुक्तस्य सतः, आयः— ज्ञानादीनां लाभः प्रशमसुखरूपः, समायः, समायः एव सामायिकम्' अर्थात् रागादि विकार रहित पुरुष को प्रशम आदि की प्राप्ति होना सामायिक है। 'पोषं--धर्मस्य पुष्टिं धत्ते इति पोषधः' अर्थात् जिससे धर्म का पोषण होता है--जिस व्यापार से धर्म की पुष्टि होती है वह पोषध व्रत है।

सामायिक और पोषध व्रत का निरूपण श्रावक के बारह व्रतों के विवेचन में किया जा चुका है। जिज्ञासुओं को वहीं देखना चाहिए। पुनरुक्ति के भय से यहां विस्तार नहीं किया जाता।

सामायिक और पोषध व्रत को काय से अनुष्ठान करने का विधान करने से मन और वचन से करने का विधान भी उसी में अन्तर्गत समझना चाहिए।

मूल:-एवं सिक्खासमावण्णो; गिहिवासे वि सुव्वए।
मुच्चई छविपव्वाओ, गच्छे जक्खसलोगयं ॥७॥

छाया:—एवं शिक्षासमापन्नः गृहिवासेऽपि सुव्रतः।
मुच्यते छविःपर्वणो, गच्छेत् यक्षसलोकताम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ:—इस प्रकार शिक्षा से युक्त गृहस्थ, गृहस्थी में रहता हुआ भी सुव्रती होता है। वह औदारिक शरीर का त्याग कर के यक्ष-देवों का लोक स्वर्ग प्राप्त करता है।

भाष्य:—गृहस्थधर्म का पहले जो विवेचन किया गया है, उसका फल प्रदर्शित करते हुए शास्त्रकार ने यह गाथा कही है।

शिक्षा का अर्थ यहां चारित्र है। पूर्वोक्त द्वादश व्रत रूप चारित्र से सम्पन्न श्रावक, गृहस्थी में निवास करता हुआ अर्थात् गृहस्थोचित कर्त्तव्यों का पालन करता हुआ भी औदारिक शरीर से मुक्त हो जाता है और स्वर्ग को प्राप्त होता है।

पहले बतलाया गया है कि मनुष्य और तिर्यञ्च जीवों का अस्थि, मांस, आदि सप्त धातु मय शरीर औदारिक शरीर कहलाता है और देवों का शरीर सप्त धातु वर्जित वैक्रिय शरीर कहलाता है। यक्ष, व्यन्तर देवों की एक विशेष जाति है किन्तु सम्यक्त्वधारी श्रावक काल करके व्यन्तर देव नहीं होता। अतएव यक्ष शब्द से यहां सामान्य देव योनि का अर्थ समझना चाहिए। विशेष का विचार करने पर वह वैमानिक देवों में उत्पन्न होता है।

यह विधान सम्यक्त्व और व्रत से विभूषित श्रावक के लिए समझना चाहिए। सम्यक्त्वहीन तपस्या आदि करने वाले मनुष्य भी हो सकते हैं, जैसा कि तृतीय अध्ययन की दूसरी गाथा में बताया गया है। अतः पूर्वोक्त कथन में कोई विरोध नहीं है।

मूल:-दीहाउया इड्ढिमंता, समिद्धा कामरूविणो।
अहुणोववन्नसंकासा, भुज्जो अच्चिमालिप्पभा ॥८॥

छाया:—दीर्घायुषः ऋद्धिमन्तः, समृद्धाः कामरूपिणः।
अधुनोत्पन्नसंकाशाः, भूयोऽर्चिमालि प्रभाः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ:—जो गृहस्थ, श्रावक धर्म का पालन करके देवयोनि में उत्पन्न होते हैं, वे वहां दीर्घ आयु वाले, ऋद्धिमान, समृद्धिशाली, इच्छानुसार रूप बनानेवाले, तत्काल

उत्पन्न हुए के समान-वृद्धावस्था से रहित और अनेक सूर्यों की प्रभा के समान देदीप्य-मान कान्ति से युक्त होते हैं।

भाष्य:—पूर्ववर्त्ती गाथा में श्रावक का देव गति में जाना वताया गया था। सूत्रकार ने यहां देवगति की विशेषताओं का कथन किया है। मनुष्यगति की आयु, ऋद्धि, समृद्धि, आदि से देवों की आयु और ऋद्धि आदि की तुलना की जाय तो प्रतीत होगा सांसारिक सुख मनुष्य गति में एक बिन्दु के बराबर है तो देवगति में समुद्र के समान है। और जो श्रावक, मानव जीवन में त्याग और तपश्चर्या का अनुष्ठान करते हैं उन्हें वह सुखमय देवयोनि प्राप्त होती है।

मनुष्य की आयु प्रथम तो कम ही होती है, और वह भी निरुपद्रव नहीं है। अग्नि, जल, विष, शस्त्र आदि से बीच में ही वह शीघ्र समाप्त हो सकती है। देवों की सागरों तक की लम्बी आयु है और बीच में वह कदापि नहीं टूट सकती। देवों की ऋद्धि के आगे मनुष्य की ऋद्धि नगण्य है, संतापकारक है, किसी भी क्षण नष्ट हो जाने वाली है। यही हाल मनुष्यों की समृद्धि का है।

मनुष्यों में कोई अंधा, कोई काना, कोई लूला, कोई लंगड़ा, कोई बौना, कुवड़ा, कोई कुरूप, विकृत अंगोपांग वाला और कोई चपटी नाक वाला होता है। इस कुरूपता का इच्छा करने पर भी मनुष्य प्रायः प्रतिरोध नहीं कर पाता। जो लोग सुन्दर समझे जाते हैं, उनमें भी कोई न कोई दोष विद्यमान रहता है। कदाचित् कोई सौन्दर्य के समस्त लक्षणों से सम्पन्न पुरुष उपलब्ध हो जाय तो उसका शरीर औदारिक शरीर संबंधी स्वाभाविक दुर्बलता वाला होता है। तिसपर औदारिक शरीर भीतर से मल-मूत्र आदि घृणोत्पादक पदार्थों से भरपूर और अपावन है। देवों में, इन सब दोषों में से एक भी दोष नहीं पाया जाता। सभी देव सुन्दर एवं सौम्य होते हैं। उनका शरीर मल-मूत्र आदि अपावन वस्तुओं से सर्वथा रहित होता है और वे अपनी इच्छा के अनुसार रूप धारण कर सकते है।

सुन्दर से सुन्दर मनुष्य भी वृद्धावस्था रूपी राक्षसी का शिकार होने पर असुन्दर दिखाई पड़ता है, पर देवों को वृद्धावस्था का भाग नहीं बनना पड़ता। जब तक वे देवयोनि में रहते हैं तब तक युवा ही रहते हैं। उनके गले में पहनी हुई माला का मुरझा जाना ही उनकी आयु की सन्निकट समाप्ति की सूचना देता है। उनके शरीर की आभा की उपमा ही किसी के शरीर से नहीं दी जा सकती, अतएव स्वयं सूत्रकार कहते हैं कि अनेक देदीप्यमान सूर्यों की आभा के समान उनके शरीर की कान्ति होती है।

अतएव यह स्पष्ट है कि मनुष्य का शरीर, मनुष्य का ऐश्वर्य, मनुष्य के भोगोपभोग, और मनुष्य के सौन्दर्य से देवों का शरीर आदि बहुत ही उत्तम कोटि का होता है। इस सब की प्राप्ति, मनुष्य भव में सेवन किये जाने वाले सदाचार से होती है। अतएव सम्यक् चारित्र का अनुष्ठान करना चाहिए।

यद्यपि सम्यक् चारित्र का अनुष्ठान करने वाले को स्वर्गीय सुखों की प्राप्ति होती है, पर सम्यक् चारित्र के अनुष्ठान का उद्देश्य यह सुख पाना नहीं होना चाहिए। चारित्र का अनुष्ठान तो अक्षय, अनन्त और आत्मिक सुख की प्राप्ति के लिए किया जाता है। जैसे कृषक धान्य-प्राप्ति के लिए कृषिकर्म करता है, फिर भी उसे आनुषंगिक फल के रूप में भूसा प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार स्वर्ग के सुख चारित्र-पालन का आनुषंगिक फल है। ऐसा विचार कर भव्य पुरुषों को आत्मकल्याण के निमित्त ही चारित्र का प्रतिपालन करना चाहिए, सांसारिक भोगोपभोग की प्राप्ति के लिए नहीं। देवयोनि के सुख संसार में अनुपम होने पर भी समय की सीमा से सीमित हैं, परिमाण की दृष्टि से परिमित हैं, नवीन कर्म-बन्धन के कारणभूत हैं। उच्च श्रेणी के देवों की अपेक्षा निम्न श्रेणी के देवों के भोगोपभोग न्यून होने से वे संताप के भी कारण होते हैं।

मूलः-ताणि ठाणाणि गच्छंति, सिक्खित्ता संजमं तवं।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा, जे संति परिनिव्वुडा ॥९॥

छायाः—तानि स्थानानि गच्छन्ति, शिक्षित्वा संयमं तपः।
भिक्षुका वा गृहस्था वा, ये संति परिनिवृत्ताः ॥ ९ ॥

शब्दार्थः—जो भिक्षुक अथवा गृहस्थ क्रोध आदि से रहित हैं वे संयम और तप का अभ्यास करके दिव्य स्थान प्राप्त करते हैं।

भाष्यः—यहां पर शास्त्रकार ने संयम और तप का पुण्य रूप फल प्रदर्शित किया है। इस गाथा से यह स्पष्ट हो जाता है कि जो परिनिवृत्त हो जाते हैं अर्थात् पूर्ण रूप से कषाय आदि का त्याग कर अपनी आत्मा को विशुद्ध बना लेते हैं वे ही संयम और तप की यथावत् आराधना कर सकते हैं। और जो संयम तथा तप की आराधना करते हैं उन्हें दिव्य स्थान प्राप्त होता है - स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

कहीं-कहीं 'संति परिनिव्वुडा' एक ही पद मान कर व्याख्या की गई है। इस व्याख्या के अनुसार 'शान्तिपरिनिवृत्ताः' ऐसा संस्कृत रूप सम्पन्न होता है। उसका अर्थ है—'शान्ति के द्वारा पूर्ण रूप से संताप रहित हैं।' ऐसी व्याख्या करने में भी कोई बाधा नहीं है।

मूलः-बहिया उड्ढमादाय, नावकंखे कयाइ वि।
पुव्वकम्मखयट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे ॥१०॥

छायाः—बाह्यमूर्ध्वमादाय, नावकांक्षेत् कदापि च।
पूर्वकर्मक्षयार्थं, इमं देहं समुद्धरेत् ॥ १० ॥

शब्दार्थः—संसार से बाहर ऊर्ध्व अर्थात् मोक्ष की अभिलाषा रख कर, सांसारिक विषय भोगों की आकांक्षा कदापि न करे। और पूर्व-संचित कर्मों का क्षय करने के लिए

इस मानव-शरीर को निर्दोष आजीविका से धारण कर रक्खे।

भाष्य:—सांसारिक विषय-भोगों की आकांक्षा जब अंत:करण में उत्पन्न होती है तब मनुष्य अत्यन्त संक्लेशमय परिणामों से युक्त हो जाता है। उसके चित्त की समाधि भंग हो जाती है। वह रात दिन भोगोपभोग की सामग्री जुटाने में व्यस्त रहने लगता है, क्योंकि सांसारिक भोगोपभोग पराश्रित हैं—बाह्य पदार्थों पर अवलंबित हैं अतएव बाह्य पदार्थों को जुटाये बिना भोगोपभोग की प्राप्ति नहीं होती। जब मनुष्य भोगोपभोग जुटाने में व्यस्त हो जाता है तो घोर अशान्ति और चिन्ता का पात्र बनता है। यदि पाप का उदय हुआ तो वह सामग्री संचित होने के बदले नष्ट हो जाती है। पुण्योदय के फल-स्वरूप सामग्री की प्राप्ति हो जाती है तो उससे संतोष नहीं होता—प्रत्युत सामग्री-वृद्धि के अनुसार तृष्णा की भी वृद्धि होती चलती है और उसके फल रूप में अशान्ति की उग्रता होती जाती है। उसके संरक्षण की एक नवीन चिन्ता का उदय होता है, दैवयोग से जब वह संरक्षण करने पर भी नष्ट हो जाती है तब वियोगजन्य संताप की अग्नि से मनुष्य भस्म होने लगता है।

यही नहीं, भोगोगभोग के सेवन से नवीन कर्मों का बंध होता है और बंध, मुक्ति का विरोधी है। अतएव जो मनुष्य मुक्ति की आकांक्षा करता है उसे बंध के कारणभूत विषयभोगों का परित्याग करना चाहिए।

विषयभोगों की आकांक्षा का त्याग करना चाहिए, यह निषेध प्रधान उपदेश है, पर आकांक्षा न करके करना क्या चाहिए? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए सूत्रकार ने विधिप्रधान विधान किया है कि पूर्वोपार्जित कर्मों का क्षय करने के लिए इस देह को धारण करना चाहिए अर्थात् निरवद्य आजीविका के द्वारा शरीर का पालन-पोषण करना चाहिए।

संसार में अधिकांश व्यक्ति ऐसे हैं जो अपने जीवन का उद्देश्य ही नहीं समझते। उन्हें मानव-जीवन प्राप्त हो गया है अतएव वे उस जीवन को भोग रहे हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि लोग जीने के लिए ही जीते हैं। इसके अतिरिक्त उनके जीवन का अन्य कोई उद्देश्य नहीं होता। इसी कारण संसार के अबोध प्राणी मानव-शरीर को पा लेने के पश्चात् भी उससे लाभ नहीं उठाते हैं। सूत्रकार ने उन्हें बोध देने के लिए यहां अत्यन्त महत्वपूर्ण बात कही है। सूत्रकार कहते हैं—संचित कर्मों का क्षय करने के लिए शरीर का पोषण कहा है शरीर का पोषण करने के लिए कर्मों का संचय मत करो। देह के निमित्त आत्मा की उपेक्षा न करो। शरीर में अनुरक्त बनकर आत्मकल्याण को न भूलो। प्रत्युत आत्म-हित के लिए ही शरीर का रक्षण करने का विधान है। शरीर को आत्मिक कल्याण का साधन बनाओ। इसी में देह की सार्थकता है। इसी में जीवन के महत्तम साध्य की सिद्धि है। यही मानवजीवन का चरम ध्येय है।

शरीर का पोषण जब आत्महित की दृष्टि से किया जाता है तब उसके पोषण के लिए ऐसे साधनों का प्रयोग होता है जिनसे आत्महित में विघ्न न पड़े। जो लोग

अविवेक के अतिरेक से शरीर-पोषण को जीवन का लक्ष्य बना लेते हैं वे उचित-अनुचित, न्याय-अन्याय तथा धर्म-अधर्म का भेद भूलकर किसी भी उपाय का अवलम्बन करके शारीरिक सुख प्राप्त करने में संलग्न रहते हैं। विवेकी जीव आत्म-हित के अनुकूल उपायों से ही शरीर की रक्षा करते हैं। यह भाव व्यक्त करने के लिए सूत्रकार ने 'समुद्धरे' पद का प्रयोग किया है, जिसका आशय यह है कि निरवद्य वृत्ति से अर्थात् निष्पाप उपायों से ही शरीर-पोषण करना चाहिए।

मूलः—दुल्लहा उ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी, दो वि गच्छंति सोग्गइं ॥११॥

छायाः—दुर्लभस्तु मुधादायी, मुधाजीव्यपि दुर्लभः।
मुधादायी मुधाजीवी, द्वावपि गच्छतः सुगतिम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थः—निष्काम बुद्धि से देने वाला और निष्काम बुद्धि से जीने वाला-दोनों दुर्लभ हैं। निष्काम बुद्धि से देने वाले और निष्काम बुद्धि से जीने वाला-दोनों सद्गति में जाते हैं।

भाष्यः—सूत्रकार यहां दाता और दानगृहीता की विशेषता प्रदर्शित करते हुए, दोनों को प्राप्त होने वाले फल का निर्देश करते हैं।

सांसारिक विषयभोगों की कामना से अतीत होकर, शुद्ध बुद्धि से—निष्काम भावना से या अनासक्त चित्त से किया जाने वाला कार्य वास्तविक फल प्रदान करता है। इस प्रकार की भावना में विषयों की अभिलाषा को स्थान नहीं मिलता, और इसी कारण उस कार्य की महत्ता बहुत बढ़ जाती है। निष्काम कर्म की बड़ी महिमा है। जो लोग विषय-भोग की प्राप्ति के लिए, इस लोक में धन--वैभव, पुत्र, पौत्र, आदि पाने के लिए अथवा परभव में स्वर्ग के सुख पाने की कामना से प्रेरित होकर दान आदि धर्म-कृत्य करते हैं, वे वास्तव में धर्म-कृत्य नहीं करते वरन् एक प्रकार का सौदा करते हैं, व्यापार करते हैं और वृथा धर्म का आडम्बर करते हैं। जैसे वणिक अपने पास से कुछ धन लगा कर, अधिक धन पाने के लिए, दुकान करता है, उसका धन लगाना धर्म नहीं है, इसी प्रकार अधिक धन--सम्पत्ति या दिव्य ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिए थोड़े से धन का त्याग करने वाला व्यक्ति भी एक प्रकार का व्यापार ही करता है। उसका दान, दुकान में पूंजी लगाने के समान है अतएव वह धर्म नहीं कहला सकता। सच्चे दान का स्वरूप यही है कि—

'स्वस्यातिसर्गो दानम्'

अर्थात् किसी वस्तु पर से अपना ममत्व हटा लेना--उसका त्याग कर देना दान है। जहां त्याग की हुई वस्तु के द्वारा अधिक प्राप्त करने की अभिलाषा है वहां ममता का त्याग नहीं है, बल्कि ममता की वृद्धि है और इस कारण वह दान सच्चा दान नहीं है।

इसका तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिए कि निष्काम बुद्धि से किये जाने वाले त्याग का फल प्राप्त नहीं होता है। बल्कि इसी प्रकार का त्याग वास्तविक और परिपूर्ण फल प्रदान करता है। केवल फल प्राप्ति की आशा अन्तःकरण में उद्भूत नहीं होनी चाहिए। फल की आशा हृदय में चुभे हुए शल्य की भांति सदा खटकती रहती है। वह विकलता उत्पन्न करती है। उससे अन्तरंग की समाधि स्वाहा हो जाती है। विशेष प्रकार की तृष्णा से अभिभूत होकर प्राणी शांति से वंचित हो जाता है। इसीलिए सूत्रकार कहते हैं कि संसार में दाता तो बहुत हैं पर निष्काम भावना वाला दाता दुर्लभ है।

संसार में सच्चा दाता ही दुर्लभ नहीं है किन्तु सच्चा अदाता-गृहीता-भी दुर्लभ है। कितने ऐसे महापुरुष हैं जो दाता का दान, निष्काम भावनापूर्वक जीवन--निर्वाह करने के लिए ग्रहण करते हैं ? कठोर साधना करते हुए, नाना प्रकार के उप-सर्गों और परीषहों की यातना भोगते हुए भी जिनके हृदय में स्वर्ग के सुखों की अभिलाषा का उदय नहीं होता, जो चक्रवर्त्ती के महान् और विपुल वैभव का विचार भी नहीं करते, उन धन्य पुरुषों की संख्या संसार में अधिक नहीं हो सकती। इसी कारण सूत्रकार ने कहा है कि मुधाजीवी भी दुर्लभ है।

जो सांसारिक भोगोपभोगों की कामना से रहित होता है, जो दाता के सामने दीनता प्रकट नहीं करता, दीनता का भाव जिसके हृदय में उत्पन्न नहीं होता, जो बदले में दाता की कोई सेवा--चाकरी नहीं करता, शुद्ध धर्म--भावना से प्रेरित होकर जो जीवन--निर्वाह करता है, वह मुधाजीवी पुरुष कहलाता है। वास्तव में मुधाजीवी और मुधादाता—दोनों ही संसार की शोभा हैं। दोनों ही सद्गति प्राप्त करते हैं।

मूलः—संति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था संजमुत्तरा।
गारत्थेहिं य सव्वेहिं, साहवो संजमुत्तरा ॥ १२ ॥

छायाः—सन्त्येकेभ्यो भिक्षुभ्यः, गृहस्थाः संयमोत्तराः।
आगारस्थेभ्यः सर्वेभ्यः, साधवः संयमोत्तराः ॥ १२ ॥

शब्दार्थः—किसी-किसी शिथिलाचारी भिक्षु से गृहस्थ संयम में अधिक श्रेष्ठ होते हैं। और सब गृहस्थों से, साधु संयम में श्रेष्ठ हैं।

भाष्यः—सूत्रकार ने यहां गृहस्थ--श्रावक और साधु की तुलना करते हुए दोनों की श्रेष्ठता--अश्रेष्ठता का दिग्दर्शन कराया है।

इस अध्ययन के आरंभ में श्रावक और साधु के आचार का कुछ परिचय दिया गया है। उससे विदित होगा कि साधु महाव्रतधारी होता है और श्रावक आंशिक व्रत अर्थात् अणुव्रतों का ही पालन करता है। साधु संसार संबंधी समस्त व्यापारों का त्याग कर देता है, श्रावक संसार में रहता हुआ, संसार संबंधी आरंभ परिग्रह का सेवन करता है। इस प्रकार श्रावक का त्याग और तज्जन्य आत्मविकास

न्यून कोटि का होता है जब कि साधु का त्याग और आत्मविकास उच्चश्रेणी पर पहुंच जाता है ।

यद्यपि श्रावक और साधु दोनों ही मुमुक्षु होते हैं । दोनों ही आत्म-शुद्धि के पथ के पथिक होते हैं । दोनों का उद्देश्य मुक्तिलाभ करना है । दोनों पाप से बचने का प्रयत्न करते रहते हैं । दोनों संयम की साधना करते हैं । दोनों कर्मों और कषायों से पिण्ड छुड़ाना चाहते हैं फिर भी दोनों की कक्षा में अन्तर है । श्रावक अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण कषाय का विनाश कर पाता है, पर साधु प्रत्याख्यानावरण कषाय को नष्ट कर चुकता है । दोनों के संयम में, साधना में और त्याग में पर्याप्त अन्तर है । इसी कारण चार तीर्थों में श्रावक को स्थान तो मिला है पर उसमें साधु का नाम सर्वप्रथम आता है । इसी अभिप्राय से यहां समस्त गृहस्थों की अपेक्षा भिक्षु-साधु को श्रेष्ठ कहा गया है ।

किन्तु लोक में देखा जाता है कि अनेक अयोग्य पुरुष साधु के विविध प्रकार के कल्पित वेष धारण करके, गौरव की आकांक्षा करते हैं । उनमें साधु जीवन की पवित्रता नहीं होती । साधु पद के योग्य त्याग, तप, संयम न होने पर भी वे साधु कहलाते हैं । उन्हें सचित्त-अचित्त का विवेक नहीं होता । कन्दमूल आदि अनन्तकाय का निस्संकोच होकर भक्षण करते हैं । रात्रि-भोजन करते हैं, बिना छना जल पीते हैं । ऐसे-ऐसे कार्य करने के कारण वे त्रस जीवों की हिंसा से भी निवृत्त नहीं होते हैं । अतएव ऐसे भिक्षुकों की अपेक्षा यतना पूर्वक प्रवृत्ति करने वाला, निष्प्रयोजन त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा से विरत, और अनन्त काय आदि के भक्षण का त्यागी गृहस्थ संयम की दृष्टि से अधिक श्रेष्ठ है ।

जिन वचनों से सर्वथा अपरिचित, तत्त्वार्थ-श्रद्धान से हीन, हिंसा में धर्म मानने वाले और निरंकुश प्रवृत्ति करने वाले इन लोगों को भी कोई-कोई श्रावक 'यह हमसे तो श्रेष्ठ ही हैं' ऐसा समझकर धर्म-बुद्धि से वन्दना आदि व्यवहार करते हैं । उन्हें सावधान करने के लिए शास्त्रकार का यह कथन है ।

गाथा के पूर्वार्ध में 'भिक्खू' पद का प्रयोग किया गया है और उत्तरार्ध में 'साहु' शब्द का । यह शब्द-भेद ऊपर से विशिष्ट प्रतीत न होने पर भी महत्वपूर्ण रहस्य प्रकट करता है । जिन भिक्षुओं से गृहस्थ भी श्रेष्ठ हैं, वे सिर्फ 'भिक्षु' हैं—भिक्षा मांग कर आजीविका निर्वाह करने वाले हैं, यह सूचित करने के लिए वहां 'भिक्खूहिं' कहा गया है । 'साधु' अर्थात् शास्त्रप्रतिपादित संयम--साधना में सतत उद्यत रहने वाले महापुरुषों से गृहस्थ श्रेष्ठ नहीं है । गृहस्थों से 'साधु' का (भिक्षु का नहीं) पद सदैव ऊंचा होता है । यह बताने के लिए गाथा के उत्तरार्ध में 'साहु' पद का प्रयोग किया गया है । कहा भी है—

> भयाशास्नेहलोभाच्च, कुदेवागमलिङ्गिनाम् ।
> प्रणामं विनयं चैव, न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ।।

अर्थात् सम्यग्दृष्टि पुरुष भय से, स्नेह से और लोभ से कुदेवों को,

कुशास्त्रों को तथा कुलिंगी साधुओं को न प्रणाम करे और न उनका विनय ही करे।

इस प्रकार व्यवहार करने वाला सम्यग्दृष्टि अपने धर्म के गौरव की रक्षा करता है, मिथ्या-आचार का प्रचार एवं अनुमोदन नहीं होने देता और अपने स्वीकृत मार्ग पर दृढ़ रहता है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वह अन्य देव आदि का तिरस्कार करता है। उन पर सम्यग्दृष्टि की मध्यस्थ भावना रहती है।

मूलः—चीराजिणं नगिणिनं, जडी संघाडि मुंडिणं।
एयाणि वि न ताइंति, दुस्सीलं दुरियागयं ॥१३॥

छायाः—चीराजिनं नग्नत्वं, जटित्वं संघाटित्व मुण्डित्वम्।
एतान्यपि न त्रायन्ते, दुश्शीलं पर्यायगतम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थः—दुराचार का सेवन करने वाला पुरुष चाहे केवल वल्कल तथा चर्म के वस्त्र पहनने वाला, नग्न रहने वाला, जटा रखने वाला, चींथड़े सांध--सांध कर पहनने वाला, सिर मुंडाने वाला या लोच करने वाला हो, वह दीक्षा धारण करके भी रक्षा नहीं कर सकता।

भाष्यः—जिनमत में बाह्य वेष और बाह्य आचार का कितना मूल्य है यह बात इस गाथा से स्पष्ट हो जाती है।

कोई पुरुष छाल के वस्त्र धारण करके, चमड़े से देह ढंक कर, अथवा सर्वथा नग्न रहकर, जटा बढ़ाकर, चींथड़े बटोर कर उनसे शरीर ढंक कर या मस्तक का मुंडन कराकर, भले ही तपस्वी कहलाए और भले ही काय को क्लेश पहुंचा कर कृश कर डाले, और गृह का त्याग करके अरण्य-वास करने लगे, किन्तु वह जगत् के जन्म-जरा--मरण आदि से न अपनी रक्षा कर सकता है और न अपने अनुयायियों की रक्षा कर सकता है।

सदाचार ही दुःखों से रक्षा करने वाला है। सदाचार का सेवन करने वाला पुरुष दुःखों से अपने को बचा सकता है और अपने भक्तों की भी रक्षा कर सकता है। जो अपनी रक्षा में समर्थ होगा वही दूसरों की रक्षा कर सकेगा। जो स्वयं कुमार्ग पर चलता है वह दूसरों को सन्मार्ग पर नहीं चला सकता। जो स्वयं अज्ञान है, वह अपने शिष्यों को सद्ज्ञान कैसे दे सकता है? जो सदाचार से रहित है और इस कारण जो अपना त्राण आप नहीं कर सकता वह दूसरों को सदाचार--परायण बना कर उनकी रक्षा कर सकेगा, ऐसी आशा करना वृथा है। अतएव जो अपनी रक्षा और पर की रक्षा करना चाहते हों उन्हें सर्वप्रथम आचार का यथार्थ स्वरूप समझ कर उसका पालन करना चाहिए। कहा भी है—

आचारः प्रथमो धर्मः।

अर्थात्:—आचार--सदाचार--पहला धर्म है।

'आचारः प्रथमो धर्मः' इस वाक्य से यह स्पष्ट है कि आचार धर्म है और

धर्म आचार है। इससे सदाचार का स्वरूप सहज ही समझ में आ सकता है। धर्म का लक्षण पहले अहिंसा, संयम और तप बतलाया जा चुका है अतएव सदाचार का भी यही लक्षण सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि जिस आचार में अहिंसा, संयम और तप की प्रधानता होती है वही आचार सदाचार कहलाता है।

इस सदाचार से विहीन पुरुष चाहे जितना काय-क्लेश करे, वह आत्मस्पर्शी न हो कर शरीरस्पर्शी ही होगा। केवल शरीरस्पर्शी आचार का प्रभाव शरीर पर ही हो सकता है, उससे आत्मा की विशुद्धि की संभावना नहीं की जा सकती। और आत्म-विशुद्धि के अभाव में आत्मा की रक्षा नहीं हो सकती।

अनादि काल से आत्मा के साथ कषायों की जो कलुषता चढ़ी है वही दुःख का कारण है। वह कलुषता, विशुद्धता के द्वारा धुलती है। इसलिए दुःख से बचने के लिए आत्मिक शुद्धि की आवश्यकता है। बिना आत्मिक शुद्धि के किसी भी प्रकार का वेष धारण करके और कोई भी दीक्षा धारण करके मनुष्य स्व-पर रक्षा में समर्थ नहीं हो सकता।

मूलः—अत्थंगयंमि आइच्चे, पुरत्था य अणुग्गए।
आहारमाइयं सव्वं, मणसा वि न पत्थए॥ १४॥

छाया—अस्तंगत आदित्ये, पुरस्ताच्चानुद्गते।
आहारमादिकं सर्वं, मनसापि न प्रार्थयेत्॥ १४॥

शब्दार्थः—सूर्य अस्त हो जाने पर तथा पूर्व दिशा में उदित न होने पर आहार आदि सभी पदार्थों को मन से भी न चाहे।

भाष्यः—प्रकृत गाथा में रात्रिभोजन के त्याग का विधान किया गया है। रात्रि में अंधकार होने के कारण, भोजन में तथा भोजन के पात्रों में यदि जीव उड़कर गिरते हैं अथवा चढ़ जाते हैं तो उनका दिखाई देना संभव नहीं है। कोई कोई जन्तु तो इतने छोटे होते हैं कि विशेष सावधानी रखने पर ही दिन के तीव्र प्रकाश में दृष्टि-गोचर होते हैं। वे रात्रि में किसी प्रकार भी दिखाई नहीं दे सकते। रात्रि में, बिना प्रकाश के अंधकार में भोजन किया जाय तो बड़े जीव भी दिखाई न देंगे और प्रदीप आदि का प्रकाश किया जाय तो आसपास के सब जन्तु सिमटकर आ जाएंगे। इस प्रकार रात्रि भोजन किसी भी अवस्था में करने योग्य नहीं है। रात्रि भोजन अनेकानेक दोषों का घर है, घोर हिंसा का कारण है और न केवल धार्मिक दृष्टि से वरन् स्वास्थ्य की दृष्टि से भी सर्वथा हेय है। कहा भी है—

मेधां पिपीलिका हन्ति यूका कुर्याज्जलोदरम्।
कुरुते मक्षिका वान्ति, कुष्टरोगञ्च कोलिकः॥
कण्टको दारुखण्डञ्च वितनोति गलव्यथाम्।
व्यञ्जनान्तर्निपतितस्तालु विध्यति वृश्चिकः॥

विलग्नश्च गले बालः स्वरभंगाय जायते।
इत्यादयो दृष्टदोषाः सर्वेषां निशिभोजने ॥

अर्थात् भोजन में कीड़ी (चिउंटी) चली जाय तो बुद्धि का नाश होता है, जूं चली जाय तो जलोदर नामक भयंकर रोग हो जाता है, मक्खी चली जाय तो वमन हो जाता है, मकड़ी चली जाय तो कोढ़ हो जाता है, कांटा या फांस मिल जाय तो गले में व्यथा हो जाती है, व्यंजनों में मिलकर बिच्छू पेट में चला जाय तो तालू वेध डालता है, बाल गले में चिपक जाय तो स्वर-भंग हो जाता है, इत्यादि अनेक दोष रात्रि भोजन में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। यह ऐसे दोष हैं जो मिथ्या दृष्टियों के लिए और सम्यग्दृष्टियों के लिए भी समान हैं। यही कारण है कि जैनेतर ग्रंथों में भी रात्रि भोजन का निषेध किया गया है।

रात्रिभोजन को जब मिथ्यादृष्टि भी हेय मानते हैं और प्रत्यक्षतः अनेक हानियां उससे होती हुई प्रतीत होती हैं तब श्रावकों को रात्रिभोजन का त्याग करना चाहिए। रात्रिभोजन के त्याग का जो उद्देश्य है उसकी पूर्ति करने के लिए न केवल रात्रि में ही भोजन का त्याग करना चाहिए, किन्तु दिन में भी जहां आलोक का भली-भांति प्रसार न होता हो ऐसे स्थान पर भोजन नहीं करना चाहिए। हेमचन्द्राचार्य ने कहा है कि सन्ध्या के समय, जब सूर्य का प्रकाश मंद पड़ जाता है, भोजन का त्याग करना चाहिए। कहा भी है—

दिवस्याष्टमे भागे, मन्दीभूते दिवाकरे।
नक्तं तु तद्विजानीयान्न नक्तं निशिभोजनम् ॥

"अर्थात् रात्रि में जीमना ही रात्रि भोजन नहीं है वरन् दिन के आठवें भाग में, सूर्य का प्रकाश मन्द हो जाने पर भोजन करना भी रात्रि भोजन की गणना में सम्मिलित है, क्योंकि रात्रि भोजन सम्बन्धी दोष उस समय भी होते हैं।"

इसी प्रकार कई लोग रात्रि भोजन का त्याग करके भी रात्रि में बना हुआ भोजन कर लेते हैं और रात्रि में भोजन बनाते हैं। ऐसा करने में भी घोर हिंसा होती है। त्रस जीवों की हिंसा से अन्धकार में बचना शक्य नहीं है। अतएव बनाने वाला त्रस-हिंसा के पाप का भागी होता है और उस भोजन का उपभोग करने वाला मांस-भक्षण का दोषी ठहर जाता है। ऐसे भीषण पाप से बचने के लिए रात्रि में भोजन बनाना, रात्रि में बना भोजन जीमना और रात्रि भोजन करना सभी का त्याग करना चाहिए। रात्रि भोजन त्याग छठे व्रत के रूप में शास्त्रों में वर्णित है और प्रत्येक श्रावक को व्रत रक्षा के लिए रात्रि भोजन त्याग करना अनिवार्य है।

गाथा में आहार के साथ 'आदिक' पद का प्रयोग किया गया है। महाव्रतधारी साधुओं को आहार के अतिरिक्त अन्य आवश्यक पदार्थ भी रात्रि में ग्रहण नहीं करना चाहिए। इतना ही नहीं, आहार या औषध आदि कोई भी भक्षणीय पदार्थ, आगामी दिन उपभोग करने के लिए रात्रि में अपने पास भी उन्हें रखना न चाहिए। जो साधु

रात्रि में आहार आदि रख छोड़ते हैं वे वस्तुत: गृहस्थ की कोटि में ही गिने गये हैं, क्योंकि आगे के लिए संग्रह करना गृहस्थ का कार्य है, साधु का नहीं।

इस अभिप्राय को अत्यन्त पुष्ट करने के लिए सूत्रकार ने 'मनसापि न प्रार्थयेत्' अर्थात् मन से भी इच्छा न करे, ऐसा कहा है।

मूल:-जायरूवं जहा मट्ठं, निद्धंतमलपावगं।
रागदोसभयातीतं, तं वयं बूम माहणं॥ १५॥

छाया - जातरूपं यथा सृष्टं, निध्मातमलपापकम्।
रागद्वेषभयातीतं, तं वयम् ब्रूमो ब्राह्मणम्॥ १५॥

शब्दार्थ:—अग्नि में तपा हुआ और कसौटी पर कसा हुआ सुवर्ण गुणयुक्त होता है, उसी प्रकार राग, द्वेष और भय से अतीत पुरुष को हम ब्राह्मण कहते हैं।

भाष्य:— इस गाथा में तथा अगली गाथाओं में सूत्रकार ने ब्राह्मण का सच्चा स्वरूप दर्शाया है।

भारतवर्ष में, प्राचीनकाल से एक ऐसा वर्ग चला आता है जो अपनी सत्ता, अन्य वर्गों पर स्थापित करने के लिए तथा स्थापित की हुई सत्ता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए अखण्ड—एक जातीय मानव-समाज को अनेक खण्डों में विभक्त करता है। गुण और कर्म के आधार पर समाज की सुव्यवस्था का ध्यान रखते हुए विभाग किया जाना तो उचित है, जिसमें व्यक्ति के विकास को भी अधिक से अधिक अवकाश हो, पर जन्म के आधार पर किसी प्रकार का विभाग करना सर्वथा अनुचित है। इस अनौचित्य का परिहार करने का ही यहां प्रयत्न किया गया है। एक व्यक्ति दु:शील, अज्ञान और प्रकृति से तमोगुणी होने पर भी अमुक वर्ण वाले के जन्म लेने के कारण समाज में पूज्य, आदरणीय प्रतिष्ठित और ऊंचा समझा जाय और दूसरा व्यक्ति सुशील, ज्ञानी और सतोगुणी होने पर भी केवल अमुक कुल में जन्म ग्रहण करने के कारण नीच और तिरस्करणीय माना जाय, यह व्यवस्था समाज-घातक है। इतना ही नहीं, ऐसा मानने से न केवल समाज के एक बहुसंख्यक भाग का अपमान होता है, प्रत्युत यह सद्गुण और सदाचार का भी घोर अपमान है। इस दोषपूर्ण व्यवस्था को अंगीकार करने से दुराचार सदाचार से ऊंचा उठ जाता है, अज्ञान ज्ञान पर विजय प्राप्त करता है और तमोगुण सत्त्वगुण के सामने आदरास्पद बन बैठता है। यह ऐसी स्थिति है, जो गुण-ग्राहक विवेकीजनों को सह्य नहीं हो सकती।

अतएव विभाग का आधार जन्म न होकर गुण और कर्म ही हो सकता है। गुणों के कारण ही कोई व्यक्ति आदरणीय या प्रतिष्ठित होना चाहिए या अनादरणीय और प्रतिष्ठित माना जाना चाहिए। इसमें भी एक बात और ध्यान देने योग्य है। वर्ण विभाग वंश-परम्परागत कर्म के अनुसार हो तो समाज का अधिक विकास हो

सकता है और उस वर्ण वाले में प्रतिष्ठा-अप्रतिष्ठा, आदरणीयता-अनादरणीयता आदि का भेद गुण पर अवलंबित होना चाहिए।

इसी तथ्य के आधार पर यहां ब्राह्मण की व्याख्या की गई है। जैसे सुवर्ण को अग्नि में तपाने से उसका मल नष्ट हो जाता है और उस पर ओप चढ़ाने से उसकी चमक बढ़ जाती है, अर्थात् उसके अन्तरंग और बहिरंग मल की शुद्धि हो जाती है, उसी प्रकार जो पुरुष अन्तरंग और बाह्य दोषों से मुक्त हो जाता है, तथा जिसमें राग, द्वेष और भय की भावना नहीं रहती, वही सच्चा ब्राह्मण है।

'ब्राह्मण' शब्द का निकास 'ब्रह्म' से हुआ है। ब्रह्म अर्थात् आत्मा के साथ जिसका सम्बन्ध हो गया हो, जिसने आत्मा का साक्षात्कार कर लिया हो, जो अपने आपमें रमण करने की योग्यता प्राप्त कर चुका हो, वह ब्राह्मण है। जिसने यह योग्यता प्राप्त करली है वह रागी, द्वेषी और भयभीत नहीं हो सकता।

जब तक संसार के बाह्य पदार्थों पर आत्म बुद्धि-स्वत्व का भाव, रहता है तभी तक अन्तःकरण में राग-द्वेष विद्यमान रहते हैं। आत्म-साक्षात्कार की अवस्था में जगत् की बहुमूल्य वस्तुएं भी तुच्छ सी प्रतीत होने लगती हैं। आत्म-रमण के अद्भुत और अपूर्व आनन्द की उपलब्धि करने वाले महाभाग को संसार के आनन्दोपभोग सर्वथा नीरस और कष्टकर ही प्रतीत होते हैं। वह उन आनन्द के साधनों पर जरा भी अनुरक्त नहीं होता। जब अनुराग की वृत्ति का अन्त हो जाता है तब द्वेष का विष भी नहीं रहने पाता। इसीलिए ब्राह्मण को राग और द्वेष से अतीत कहा है।

सच्चा ब्राह्मण भय से भी मुक्त होता है। आत्मा से विभिन्न समस्त पदार्थों को वह अपना नहीं मानता। वह केवल आत्मा में ही आत्म-बुद्धि रखता है। आत्मा अजर, अमर, अविनाशी और अरूपी तत्त्व है। उसका बिगाड़ करने की शक्ति किसी दूसरे व्यक्ति में नहीं है। इस कारण सच्चा ब्राह्मण अर्थात् आत्मज्ञानी पुरुष किसी से भयभीत नहीं होता।

सच्चा ब्राह्मण अपने मार्ग पर—सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट पथ पर-निर्भय होकर चलता रहता है। देवराज इन्द्र भी आकर उसे अपने पथ से विचलित नहीं कर सकते। सारा संसार समुदित होकर और अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा कर उसे दूसरे मार्ग पर नहीं चला सकता। लोक-निन्दा, स्नेहीजनों का अनुरोध, और अन्तःकरण की निर्बलता आदि कोई भी शक्ति उसके प्रयाण का प्रतिरोध नहीं कर सकते। एकांत निश्चय, दृढ़ता, धैर्य और आत्म-विश्वास के साथ वह कल्याण-मार्ग की ओर अप्रतिहत गति से बढ़ता चला जाता है।

वास्तव में आत्मिक और सामाजिक सुधार के लिए इन गुणों की आवश्यकता है। इन गुणों से ही सफलता प्राप्त होती है।

'माहण' शब्द का संस्कृत-रूप ब्राह्मण भी होता है और 'माहन' भी। 'माहन' का अर्थ है— 'मत मारो' अर्थात् जिसकी रग-रग में अहिंसा व्याप्त हो गई हो और जो

दूसरों को भी अहिंसा का उपदेश करता हो वह माहन है। इस प्रकार इन गुणों से युक्त पुरुष सच्चा ब्राह्मण है।

मूलः—तवस्सियं, किसं दंतं, अवचियमंससोणियं।
सुव्वयं पत्तनिव्वाणं, तं वयं बूम माहणं॥ २६॥

छायाः—तपस्विनं कृशं दान्तं, अपचितमांसशोणितम्।
सुव्रतं प्राप्तनिर्वाणं, तं वयम् ब्रूमो ब्राह्मणम्॥ १६॥

शब्दार्थः—जो तपस्वी हो और तपस्या करने के कारण कृश शरीर वाला हो, इंद्रिय दमन करने वाला हो, जिसका मांस और रक्त सूख गया हो, सम्यक् चारित्र पालन करने वाला हो और जिसकी तृष्णा शान्त हो गई हो, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

भाष्यः—ब्राह्मण पदवी प्राप्त करने का अधिकारी वही हो सकता है जिसने इन गुणों को प्राप्त कर लिया हो, क्योंकि ब्राह्मणत्व गुणमूलक है और गुणों के अभाव में वह प्राप्त नहीं हो सकता। उस ब्राह्मणत्व के आधारभूत गुण यह हैं—

तपस्विता—बाह्य तथा आभ्यन्तर तप का आचरण करना। तपस्या का विवेचन इसी ग्रन्थ में अन्यत्र किया गया है।

कृशता—शरीर की क्षीणता। विभिन्न परिस्थितियों में एक ही वस्तु गुण रूप भी होती है और दोष रूप भी होती है। जैसे गृहस्थ के लिए अकिंचिनता दोष है और वही साधु का आभूषण है। इसी प्रकार शरीर की क्षीणता साधु का भूषण है और गृहस्थ का दूषण है।

यहां यह आशंका की जा सकती है कि शरीर की क्षीणता साधु का गुण क्यों है? शरीर को कृश करने से क्या लाभ है? शरीर धर्म का साधन है, फिर उसे क्षीण करने का क्या प्रयोजन है?

इस शंका का समाधान यह है कि साधुओं को शरीर पर द्वेष का भाव नहीं है। द्वेष से प्रेरित होकर वे शरीर को कृश नहीं करते। शरीर पर द्वेष होता तो निराहार रह कर या श्वास का बलात् निरोध करके वे उसका अन्त ही कर डालते। साधु ऐसा नहीं करते। वरन् इसके विरुद्ध यथोचित आहार आदि ग्रहण करके उसकी रक्षा करते हैं। शरीर-रक्षा का प्रयोजन धर्म की साधना करना है—शरीर का पोषण करना नहीं है। अतएव शरीर की रक्षा करने के उद्देश्य से वे धर्म--साधना में अन्त--राय नहीं डालते। धर्म की साधना में, जितने अंशों में शरीर--पोषण बाधक होता है उतने अंशों में शरीर--पोषण का वे त्याग कर देते हैं। इस कारण शरीर में कृशता आ जाती है। अतएव शरीर को कृश करने का उद्देश्य न होने पर भी विशिष्ट धर्म--साधना करने से वह आप ही कृश हो जाता है। शरीर की यह कृशता विशिष्ट साधना को सूचित करती है, इसीलिए वह साधु का भूषण है।

दान्तता—इन्द्रिय--दमन। इन्द्रिय--दमन का अर्थ इन्द्रियों को नष्ट कर देना --

उन्हें बेकार बना देना नहीं है। प्राचीन वृत्तान्तों से ज्ञात होता है कि अनेक लोगों ने अपनी अमुक इन्द्रिय को वश न कर सकने के कारण बेकार बना दिया। किसी ने अपने नेत्र फोड़ डाले और किसी ने अन्य इन्द्रिय को नष्ट कर डाला। इस प्रकार का इन्द्रिय--दमन एक जाति की हिंसा है और उससे इन्द्रिय--दमन का प्रयोजन आंशिक रूप में भी सिद्ध नहीं होता। ऐसा करना अज्ञान मूलक है और दुर्बलता का सूचक है।

इन्द्रियों का राजा मन है। मन ही इन्द्रियों को विषयों की ओर प्रेरित करता है। जब तक मन पर अधिकार न किया जाय तब तक इन्द्रियों के निरोध का कोई अर्थ नहीं है। इसीलिए मन को ही बंध और मोक्ष का कारण बतलाया गया है। अतएव मन की उच्छृंखलता को रोकना यही प्रधान इन्द्रिय--दमन है। जो तपस्वी मन को वश में कर लेता है—उसे अपनी इच्छा के अनुसार चलाता है—स्वयं उसके इंगित पर नहीं चलता, वह अनायास ही इन्द्रियों का स्वामी बन जाता है। उसकी इन्द्रियां दासी की भांति उसके अनुसार प्रवृत्त होती हैं। यही इन्द्रिय-दमन का वास्तविक अर्थ है।

अपचित मांस--शोणित—अर्थात् जिसका मांस और रक्त क्षीण हो गया हो। यद्यपि शरीर की कृशता में इसका समावेश हो सकता है तथापि धर्म--साधन में शरीर का मोह नहीं रखना चाहिए, यह बात विशेष रूप से प्रकट करने के लिए यह विशेषण प्रयुक्त किया गया है।

सुव्रत--सम्यक् प्रकार से व्रतों का अनुष्ठान करने वाला। व्रतों का सम्यक् अनुष्ठान करने के लिए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की आवश्यकता है। अतएव जो सम्यक्त्व प्राप्त करने के पश्चात् व्रतों का आचरण करता है वही सुव्रत या सुव्रती कहलाता है।

प्राप्त निर्वाण—तृष्णा से रहित। जो सांसारिक पदार्थों और भोगोपभोगों की इच्छा से रहित हो।

जिस पुरुष में उल्लिखित विशिष्टताएं पाई जाती हैं वही सच्चा ब्राह्मण या माहन कहलाता है।

मूलः—जहा पोम्मं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं ॥ १७ ॥

छायाः—यथा पद्मं जले जातं, नोपलिप्यते वारिणा।
एवमलिप्तं कामैः, तं वयंब्रूमो ब्राह्मणम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थः— जैसे कमल जल में उत्पन्न होकर भी जल से लिप्त नहीं होता, इसी प्रकार जो काम--भोगों से अलिप्त रहता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

भाष्यः—ब्राह्मण का विशेष रूप से स्वरूप प्रदर्शित करने के लिए कहा गया है कि कमल जल में ही उत्पन्न होता है और जल में ही रहता है, फिर भी वह जल से

विलग बना रहता है, वह जल का स्पर्श नहीं करता। इसी प्रकार जो काम-भोगों की सामग्री के सम्पर्क में रहता हुआ भी, काम-भोगों से विलग रहता है—मन के साथ उनका संसर्ग नहीं होने देता वही सच्चा ब्राह्मण है।

तात्पर्य यह है कि काम भोगों से बचने के लिए, उनसे दूर भागना अनिवार्य नहीं है। जिसने अपने मन पर अधिकार स्थापित कर लिया है उसके लिए महल और श्मशान, बस्ती और वन समान हो जाते हैं। अनेक महात्माओं ने अपने मन को वशीभूत बना कर गृह में ही कैवल्य अवस्था प्राप्त की है। मुख्य वस्तु मानसिक अलिप्तता है। वन में रहने पर भी यदि मन अधीन न हुआ तो वन-वास से क्या लाभ है? और यदि गृह-वास करते हुए भी मन पर परिपूर्ण नियंत्रण हो गया तो वन-वास की क्या आवश्यकता है?

यहां वनवास का निषेध किया गया है, ऐसा नहीं समझना चाहिए। वनवास एक विशिष्ट वातावरण उत्पन्न करने में सहायक होता है और मानसिक एकाग्रता प्राप्त करने के लिए भी उसकी आवश्यकता है। वहां चित्त को चंचल करने के निमित्त प्रायः कम मिलते हैं। इसी कारण मुनि-जन वन-वास करते हैं। यहां तो केवल मानसिक अनासक्ति की प्रधानता प्रदर्शित की गई है, जो वनवास का ध्येय है। जो लोग मन को अलिप्त बनाये विना ही, सिर्फ वन-वास करके ही अपने को कृतार्थ मान लेते हैं, उन्हीं के विषय में यहां कहा गया है। अगली गाथा में सूत्रकार स्वयं यह विषय स्पष्ट करते हैं।

मूलः–न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो ॥१८॥

छायाः—नापि मुण्डितेन श्रमणः, न ओंकारेण ब्राह्मणः।
न मुनिररण्यवासेन, कुशचीरेण न तापसः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—मस्तक मुंडा लेने से ही कोई श्रमण नहीं हो जाता, ओंकार शब्द का जाप कर लेने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं बन सकता, अरण्य में निवास करने से ही कोई मुनि नहीं होता और कुश (डाभ) के वस्त्र पहनने मात्र से कोई तपस्वी नहीं हो सकता।

भाष्यः—सूत्रकार ने यहां बाह्याचार के सम्बन्ध में कथन किया है। समस्त बाह्य आचार, आभ्यान्तरिक आचार का पोषक होना चाहिए। जिन बाह्य क्रियाओं से, आत्मिक विशुद्धता सिद्ध नहीं होती, वे निरर्थक हैं। जैसे स्नान कर लेने से आत्मा की मलिनता दूर नहीं होती, उसी प्रकार अन्य ऊपरी क्रियाओं से भी आत्मा की शुद्धि नहीं होती।

सभी वाक्य सावधारण होते हैं, यह साहित्यज्ञों का मत है। इसके अनुसार 'न वि मुंडिएण समणो' के कथन से 'न वि मुंडिएण एव समणो' ऐसा समझना चाहिए। अर्थात् मूंड मुंडा लेने मात्र से ही कोई श्रमण नहीं हो जाता, ओंकार का

जाप करने से ही कोई ब्राह्मण नहीं कहला सकता, सिर्फ अरण्य-वास से ही कोई मुनि-पद प्राप्त नहीं कर सकता और कुश (डाभ) के वस्त्र धारण करने से ही कोई पुरुष तपस्वी की पदवी का अधिकारी नहीं हो सकता।

तात्पर्य यह है कि यह सब बाह्य क्रियाएं हैं। उन्हीं से आत्मविकासजन्य उच्च पद प्राप्त नहीं होता।

मस्तक मुंडाने से यदि मुनि पद प्राप्त होता हो तो सिर में फोड़ा-फुंसी होने पर सिर सफाचट करा लेने वाले सभी मुनि कहलाते। शिक्षा देने पर तोता भी ओंकार का रटन करने लगता है। यदि ओंकार के रटन से ही ब्राह्मणत्व की प्राप्ति हो जाय तो उस तोते को भी ब्राह्मण मानना पड़ेगा। इसी प्रकार वन--वास मुनित्व का कारण नहीं है। वन-वास ही मुनि का लक्षण मान लिया जाय तो मुनि पद की बड़ी दुर्दशा होगी। समस्त जंगली जानवर और गोंड़, भील, पुलिंद, शवर, व्याध, निषाद, दस्यु, लुब्धक, किरात आदि जंगली मनुष्य मुनि कहलाएंगे। और कुश-चीर के परिधान से यदि तपस्वी मान लिया जाय तो कुश का भी चीर (वस्त्र) न पहनने वाले पशुओं को तो महातपस्वी मानना पड़ेगा। इस प्रकार बाह्य आचार को प्रश्रय देने से अहिंसा सत्य, ब्रह्मचर्य, समता भाव, आदि आन्तरिक गुणों की महत्ता का विनाश होता है और ढोंग की महत्ता बढ़ जाती है।

यहां यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि बाह्य वेष का कोई मूल्य नहीं है तो जैन शास्त्रों तथा अन्यान्य सभी शास्त्रों में अपने-अपने सम्प्रदायों का वेष नियत क्यों किया गया है ? इस का समाधान यह है कि यहां बाह्य वेष का अथवा बाह्य आचार का निषेध नहीं किया गया है। यहां पर तो आन्तरिक गुणों के अभाव में एकान्त वेष अथवा बाह्य क्रिया--कांड के द्वारा महत्ता प्राप्त होने का निषेध किया गया है। आन्तरिक आचार से जो बाह्य आचार प्रतिफलित होता है उसका विरोध नहीं किया गया है। यही नहीं, उस बाह्य आचार का विधान भी शास्त्रों में पाया जाता है। उत्तराध्ययन सूत्र में वेष का प्रयोजन लोक--प्रत्यायन बतलाया है। अर्थात् वेष से लोग सहज ही समझ लेते हैं कि यह साधु, इस सम्प्रदाय का है।

हृदय में जब कोई सद्गुण जागृत होता है तब बाहरी व्यवहार में भी उसका प्रभाव रहता है। उदाहरणार्थ—अन्तःकरण अहिंसा की भावना से जब ओत--प्रोत हो जाता है तब अहिंसक के अनेक बाह्य व्यवहारों में अन्तर पड़ जाता है। उस समय वह चार हाथ आगे की भूमि देखकर चलता है प्रतिलेखन करता है आदि। इस प्रकार का बाह्य आचार—जो अन्तःकरण की विशुद्धि से स्वतः उद्भूत होता है, आदर की वस्तु है।

जैसे आत्मा के सद्भाव में ही शरीर उपयोगी होता है, विना आत्मा का शरीर निष्प्रयोजन है, उसी प्रकार आन्तरिक आचार के सद्भाव में ही बाह्य आचार की उपयोगिता है। आन्तरिक वृत्ति न होने पर बाह्य क्रियाकांड निरर्थक है। यही नहीं वह दूसरों के लिए भ्रामक, होने, के कारण भयंकर भी है और इसलिए वह गर्हा के

योग्य है। अतएव सिर्फ ऊपरी क्रियाएं देखकर ही किसी व्यक्ति को किसी महत्त्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित नहीं करना चाहिए।

मूलः—समयाए समणो होइ, बंभचेरेण बंभणो।
नाणेण य मुणी होइ, तवेणं होइ तावसो ॥१६॥

छायाः—समतया श्रमणो, भवति, ब्रह्मचर्येण ब्राह्मण.।
ज्ञानेन च मुनिर्भवति, तपसा भवति तापसः ॥ १६ ॥

शब्दार्थः—समभाव से श्रमण-साधु होता है, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण होता है, ज्ञान से मुनि होता है, तपस्या करने से तापस होता है।

भाष्यः—जिसके निर्मल अन्तकरण में समता-भावना की दिव्य ज्योति जग उठती है, जो शत्रु और मित्र पर समान भाव रखता है, 'अयं निजः परो वेति' अर्थात् 'यह मेरा है, यह दूसरे का है' अथवा 'यह मेरा आत्मीय है यह पराया है' इस भेद भाव को भूल जाता है, यही श्रमण का अन्तःकरण समस्त संसार पर समान भाव रखता है। वह साम्य का साक्षात् अवतार है। निन्दक और स्तोता उसके लिए समान हैं। सभी पर--प्राणी मात्र पर एकाचार बुद्धि रखने से वह अद्भुत शान्ति का रसास्वादन करता है।

ब्रह्म अर्थात् आत्मा में रमण करने वाला और इन्द्रियों के भोगोपभोगों से सर्वथा विरक्त रहने वाला ब्राह्मण कहलाता है ब्राह्मण की विशेष व्याख्या पहले की जा चुकी है।

ज्ञान से मुनि होता है। संस्कृत भाषा के अनुसार जो मननशील हो उसे मुनि कहा जाता है। अर्थात् जो अपना मन, आत्मचिन्तन में संलग्न रखता है, मन की स्व-च्छंदता को रोक देता है और आत्मा-अनात्मा का भेद-विज्ञान कर लेता है, वही मुनि कहलाता है।

जो इन्द्रियों का दमन करने के लिए, पूर्व संचित पापों को भस्म करने के लिए तथा शरीर संबंधी ममता का त्याग करने के लिए विविध प्रकार की बाह्य और आभ्यन्तर तप करता है, तपस्या के फल स्वरूप इस लोक में कीर्ति की कामना नहीं करता और परलोक मे सांसारिक भोगोपभोग, ऋद्धि और ऐश्वर्य की इच्छा नहीं करता वही सच्चा तपस्वी है।

मूलः-कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
कम्मुणा वइसो होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥२०॥

छायाः—कर्मणा ब्राह्मणो भवति, कर्मणा भवति क्षत्रियः।
कर्मणा वैश्यो भवति, शूद्रो भवति कर्मणा ॥ २० ॥

शब्दार्थ:—कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है और कर्म से शूद्र होता है।

भाष्य:—वर्ण-व्यवस्था का आधार जैन संस्कृति में क्या है, इस बात को यहां स्पष्ट किया गया है।

कर्म शब्द अनेक अर्थों में प्रसिद्ध है। उनमें से यहां आजीविका-निर्वाह के लिए की जाने वाली वृत्ति के अर्थ में कर्म शब्द का प्रयोग किया गया है। तात्पर्य यह है कि आजीविका के भेद से ही वर्णों में भेद होता है। जिन लोगों ने जन्म के आधार पर वर्ण-व्यवस्था की कल्पना की है, उनका प्रकारान्तर से यहां विरोध किया गया है।

समाज की सुव्ययस्था के लिए, अथवा राष्ट्र के विकास के लिए कार्यों का विभाग होना अत्युपयोगी होता है। किन्तु वह विभाग कर्त्तव्य के आधार पर ही हो सकता है।

जो पठन-पाठन आदि ज्ञान-प्रचार संबंधी कर्त्तव्य करता है वह ब्राह्मण कहलाता है। जो समाज की तथा राष्ट्र की रक्षा करता है, निर्बलों को सबलों द्वारा सताने से रोकता है, शत्रुओं के साथ देश की रक्षा के लिए जूझता है वह सेनापति, एवं सैनिक आदि क्षत्रिय कहलाते हैं।

देश की आर्थिक स्थिति उन्नत बनाने के लिए जो लोग व्यापार करते हैं वे वैश्य कहलाते हैं। सेवा-वृत्ति अंगीकार करने वाले शूद्र कहलाते हैं।

यहां यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि प्रत्येक व्यक्ति, समाज का एक अंग है। उसे अपने प्रत्येक व्यवहार में समाज के हित का ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि समाज के हित में ही व्यक्ति का हित है और समाज के अहित में व्यक्ति का अहित है। अतएव सब वर्ण वालों को समाज के हित को अग्रस्थान में रखकर ही अपनी आजीविका चलाना चाहिए। उदाहरणार्थ— क्षत्रिय अपने स्वार्थ के लिए, अपनी सत्ता स्थापित करने की लालसा से प्रेरित होकर, शस्त्र का प्रयोग न करे। इसी प्रकार वैश्य ऐसा कोई व्यापार न करे जिससे उसे लाभ होने पर भी देश को हानि पहुँचती हो। देश की हानि को भुलाकर अपना भला करने वाला कोई भी वर्ण चिरकाल तक सुखी नहीं रह सकता। समस्त नगर में आग लगने पर जैसे एक मकान का सही-सलामत बचा रहना शक्य नहीं है उसी प्रकार देश का अनिष्ट होने पर किसी व्यक्ति या किसी वर्ण का अनिष्ट नहीं रुक सकता।

जब, जिस देश में, चारों वर्णों के व्यक्ति इस प्रकार सामाजिक भावना से प्रेरित होकर अपना-अपना कर्त्तव्य पूर्ण करते हैं, तब वह देश सम्पन्न, सुखी, स्वतंत्र एवं सन्तुष्ट रहता है।

इस संबंध की प्रसंगोपात्त चर्चा अन्यत्र की जा चुकी है।

निर्ग्रन्थ-प्रवचन-सातवां अध्याय समाप्तम्।

❀ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ❀

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

॥ आठवां अध्याय ॥

ब्रह्मचर्य-निरूपण

भगवान् उवाच—

मूलः—आलओ थीजणाइण्णो, थीकहा य मणोरमा।
संथवो चेव नारीणं, तेसिं इंदियदंसणं ॥ १ ॥
कूइयं रुइअं गीअं, हासभुत्तासिआणि अ।
पणीअं भत्तपाणं च, अइमायं पाणभोयणं ॥ २ ॥
गत्तभूसणमिट्ठं च, कामभोगा य दुज्जया।
नरस्सत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥ ३ ॥

छायाः—आलयः स्त्रीजनाकीर्णः, स्त्रीकथा च मनोरमा।
संस्तवश्चैव नारीणां, तासामिन्द्रियदर्शनम् ॥ १ ॥
कूजितं रुदितं गीतं, हास्यभुक्तासितानि च।
प्रणीतं भक्तपानं च, अतिमात्रं पानभोजनम् ॥ २ ॥
गात्रभूषणमिष्टं च, कामभोगाश्च दुर्जयाः।
नरस्यात्मगवेषिणः, विषं तालपुटं यथा ॥ ३ ॥

शब्दार्थः— स्त्रीजन से युक्त मकान में रहना, मनोरंजक स्त्रीकथा कहना, स्त्री से अत्यन्त घनिष्ठता रखना – एक ही आसन पर बैठना, और स्त्रियों के अंगोपांग देखना। स्त्रियों सम्बन्धी मनोरम ध्वनि सुनना, रुदन सुनना, गीत सुनना, स्त्रियों के साथ पहले भोगे हुए भोगों का स्मरण करना, बल वर्द्धक आहार या पान का सेवन करना, परिमाण से अधिक भोजन--पान करना। प्रियकारी शरीर--शुश्रूषा करना—शरीर को सजाना, यह सब कामभोग आत्म--गवेषणा करनेवाले ब्रह्मचारी पुरुष के लिए तालपुट नामक विष के समान सिद्ध होते हैं।

भाष्यः—सातवें अध्याय में धर्म का निरूपण किया गया है। ब्रह्मचर्य की साधना करने पर ही धर्म की आराधना होती है। ब्रह्मचर्य धर्म-क्रिया में प्रधान है और तप में भी ब्रह्मचर्य सर्वश्रेष्ठ तप है। अतएव विस्तारपूर्वक उसका विवेचन करने के लिए यह पृथक् अध्याय कहा गया है।

यों तो प्रत्येक इन्द्रिय पर विजय प्राप्त करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है, किन्तु अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा स्पर्शनेन्द्रिय को जीतना अधिक कठिन है। बड़े--बड़े तपस्वी और योगी भी इसके आकर्षण से कभी--कभी विचलित हो जाते हैं। फिर भी सच्चा तपस्वी और सच्चा योगी वही है जिसने समस्त इन्द्रियों को अपना अनुचर बना लिया है।

स्पर्शनेन्द्रिय को वश में करना, वीर्य की रक्षा करना या स्त्री के संसर्ग का त्याग करना ब्रह्मचर्य का सर्वसाधारण में प्रचलित अर्थ है। किन्तु उसके सूक्ष्म अर्थ पर दृष्टि डाली जाय तो प्रत्येक इन्द्रिय को जीतना और आत्म--निष्ठ बन जाना ब्रह्मचर्य का अर्थ है। जो महापुरुष स्पर्शनेन्द्रिय को पूर्ण रूप से जीत लेता है, वह शेष इन्द्रियों को भी जीत लेता है। इसी कारण स्पर्शनेन्द्रिय रूप ब्रह्मचर्य पर विशेष बल दिया गया है। प्रकृत अध्याय में भी इसी अर्थ को मुख्य रख कर ब्रह्मचर्य का विचार किया गया है।

जैसे खेत की रक्षा करने के लिए किसान खेत के चारों तरफ बाड़ लगा देता है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए शास्त्रकारों ने बाड़ों का विवेचन किया है। इनकी संख्या नौ है। इन बाड़ों की रक्षा करने से ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है। यहां मूल गाथाओं में शास्त्रकार ने बाड़ों का स्वरूप बतलाया है। वह इस प्रकार है:—

(१) जिस मकान में बिल्ली रहती है उसी मकान में अगर चूहा रहे तो चूहे की जीवन--लीला समाप्त हुए बिना नहीं रह सकती, उसी प्रकार जिस मकान में कोई भी स्त्री रहती हो उसी मकान में अगर ब्रह्मचारी पुरुष रहे तो उसके ब्रह्मचर्य का विनाश हुए बिना नहीं रह सकता। अतएव ब्रह्मचारी पुरुष को स्त्री वाले मकान में निवास नहीं करना चाहिए।

(२) जैसे नीबू, इमली आदि खट्टे पदार्थों का नाम लेने से मुंह में पानी आ जाता है, इसी प्रकार स्त्री के बनाव-शृंगार, हावभाव, विलास आदि का बखान करने से - उसकी चर्चा करने से अन्तःकरण में विकार उत्पन्न हो जाता है। अतएव ब्रह्मचर्य की रक्षा की इच्छा रखने वाले पुरुष को स्त्री सम्बन्धी चर्चा-वार्त्ता नहीं करनी चाहिए।

(३) सुना गया है कि जैसे चावलों के पास कच्चे नारियल रहने से उसमें कीड़े पड़ जाते हैं, अथवा आटे में भूरा कोला रखने से उसका बन्ध नहीं होता, या पोदीना का अर्क, कपूर और अजवाइन का सत्व एकत्र करने से सब एकदम द्रवित हो जाते हैं, उसी प्रकार स्त्री-पुरुष एक ही आसन पर बैठें—दोनों में शारीरिक घनिष्ठता हो तो ब्रह्मचर्य का भंग हो जाता है। अतएव ब्रह्मचारी को स्त्री के साथ एक आसन पर नहीं बैठना और न घनिष्ठता ही बढ़ाना चाहिए। कहा भी है—

घृतकुम्भसमा नारी, तप्ताङ्गारसमः पुमान्।
तस्माद् घृतञ्च वह्निं च, नैकत्र स्थापयेद् बुधः॥

अर्थात् स्त्री घी के घड़े के समान है और पुरुष जलते हुए अङ्गार के समान है।

अतएव बुद्धिमान् पुरुष घी और अग्नि को एक स्थान पर न रक्खे—अर्थात् स्त्री और ब्रह्मचारी पुरुष एक ही स्थान पर न रहें।

(४) जैसे सूर्य की ओर टकटकी लगाने से नेत्रों की हानि होती है उसी प्रकार स्त्री के अंगोपांगों की ओर स्थिर दृष्टि से देखने से ब्रह्मचर्य की हानि होती है।

(५) जैसे मेघों की गर्जन-ध्वनि सुनने से मयूर का चित्त एकदम चंचल हो उठता है उसी प्रकार पर्दा, दीवाल आदि की ओट में रहे हुए दम्पती के कामुकतापूर्ण शब्द श्रवण करने से ब्रह्मचारी का अन्तःकरण विचलित हो उठता है। अतएव ब्रह्मचारी को इस प्रकार के शब्द-श्रवण से बचना चाहिए। इसी प्रकार रुदन, गीत और हास्य-विनोद के शब्दों को भी नहीं सुनना चाहिए।

(६) किसी वृद्धा के यहां कुछ पथिक छाछ पीकर चले गये। उनके चले जाने के पश्चात् वृद्धा ने तक्र (छाछ) देखा तो उसमें सांप निकला। छह महीने के अनन्तर वे पथिक उस वृद्धा के यहां लौटे तो उन्हे जीवित देख कर वह अत्यन्त प्रसन्न हुई, क्योंकि वह जानती थी कि सर्प के विष के प्रभाव से सब पथिक काल के ग्रास बन गये होंगे। उसने उन पथिकों से कहा—बेटा! मैं समझती थी—अब तुम्हारे कभी दर्शन न होंगे, क्योंकि जो तक्र तुमने पिया था उसमें मरा सांप निकला था। तुम्हें जीवित देख कर अब मेरे हर्ष का पारावार नहीं है।' इतना सुनते ही सब के सब पथिक मृत्यु को प्राप्त हुए। इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि पहले भोगे हुए भोग का स्मरण भी अत्यन्त अनिष्टकारक होता है। अतएव ब्रह्मचारी पुरुष को पहले भोगे हुए भोगों का स्मरण नहीं करना चाहिए, इससे ब्रह्मचर्य का विनाश हो जाता है।

(७) जैसे सन्निपात रोग से पीडित पुरुष को मिष्टान्न आदि खिलाने से उसके जीवन का शीघ्र अन्त हो जाता है उसी प्रकार सदा सरस और पौष्टिक आहार करने से ब्रह्मचर्य का अन्त हो जाता है। अतएव ब्रह्मचारी पुरुप को गरिष्ठ पदार्थों का सदैव उपयोग नहीं करना चाहिए।

(८) जैसे एक सेर की हंडिया में सवा सेर खिचड़ी पकाने से हंडिया फूट जाती है, उसी प्रकार मर्यादा से अधिक आहार करने से, प्रमाद के कारण ब्रह्मचर्य का भंग हो जाता है।

(९) जैसे दीन-दरिद्र व्यक्ति के पास चिन्तामणि रत्न नहीं ठहरता, उसी प्रकार स्नान, मंजन, सिंगार आदि द्वारा आकर्षक रूप बनाने से ब्रह्मचर्य नहीं ठहरता।

जैसे तालपुट नामक विष जीवन का अन्त कर देता है, उसी प्रकार पूर्वोक्त स्त्रीकथा आदि ब्रह्मचर्य रूपी जीवन का अन्त कर देते हैं। अतएव जो शक्ति-सम्पन्न बनना चाहते हैं, वीर्य-लाभ के द्वारा आध्यात्मिक शुद्धि की वांछा रखते हैं, उन्हें इन सबका त्याग करना चाहिए।

ब्रह्मचर्य की साधना का मार्ग अत्यन्त नाजुक है। इन्द्रियां चंचल होती हैं। साधक अपनी साधना में तनिक भी असावधान हुआ नहीं कि इन्द्रियां स्वच्छन्द हो

कर विचरण करने लगती हैं और युग-युग की साधना का सर्वनाश कर डालती हैं। अतएव सतत सावधान रह कर इन्द्रियों पर अंकुश रखना चाहिए और साधना से च्युत करने वाले निमित्तों से प्रतिक्षण बचते रहना चाहिए।

मूलः—जहा कुक्कुडपोअस्स, निच्चं कुललओ भयं।
एवं खु बंभयारिस्स, इत्थीविग्गहओ भयं॥ ४॥

छायाः—यथा कुक्कुटपोतस्य, नित्यं कुललतो भयम्।
एवं खलु ब्रह्मचारिणः, स्त्रीविग्रहतो भयम्॥ ४॥

शब्दार्थः—जैसे मुर्गे के बच्चे को बिल्ली से सदैव भय बना रहता है, इसी प्रकार निस्सन्देह ब्रह्मचारी को स्त्री के शरीर से भय रहता है।

भाष्य—ब्रह्मचर्य के पथ में आने वाली बाधाओं का विशेष रूप से परिचय देने के अर्थ सूत्रकार ने यह कथन किया है।

जैसे मुर्गे का बच्चा अगर सावधानी से न रहे या न रक्खा जाय तो बिलाव किसी भी क्षण उसके प्राण हरण कर सकता है, इसी प्रकार स्त्री के शरीर से ब्रह्मचारी पुरुष के ब्रह्मचर्य को सदा खतरा रहता है। अगर ब्रह्मचारी सदैव सावधान न रहे तो किसी भी समय उसके ब्रह्मचर्य का अन्त हो सकता है। प्रतिक्षण ब्रह्मचारी को सावधान रहना चाहिए, यह बताने के लिए सूत्रकार ने निच्चं (नित्य) शब्द का प्रयोग किया। कोई-कोई बाधा ऐसी होती है जिससे चिरकाल में किसी गुण का विनाश होता है, पर ब्रह्मचर्य सम्बन्धी बाधा क्षण भर में ही ब्रह्मचर्य का विनाश कर डालती है।

पुरुष की प्रधानता से इस प्रकरण में ब्रह्मचर्य का कथन किया गया है, इसी कारण स्त्रीकथा, स्त्रीशरीर आदि को ब्रह्मचर्य का बाधक कहा है। स्त्रियों के लिए इससे विपरीत यथायोग्य समझ लेना चाहिए। जैसे ब्रह्मचारी पुरुष को स्त्रीकथा आदि का त्याग करना आवश्यक है, उसी प्रकार ब्रह्मचारिणी स्त्री को पुरुषकथा अर्थात् पुरुषों के सौन्दर्य आदि के बखान का परित्याग करना चाहिए। ब्रह्मचारिणी को पुरुषशरीर से सदैव खतरा रहता है।

सूत्रकार ने विलाव से कुक्कुट को भय रहता है ऐसा न कहकर कुक्कुट के बच्चे को भय रहता है, ऐसा कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि बच्चे में प्रौढ़ता का अभाव होता है और वह सहज ही विलाव का आहार बन सकता है, उसमें अपने बचाव का सामर्थ्य नहीं होता। इसी प्रकार स्त्री के सौन्दर्यविशिष्ट शरीर को देखने से ब्रह्मचर्य की साधना में लगा हुआ साधक पुरुष भी ब्रह्मचर्य की रक्षा करने में सामर्थ्यहीन हो जाता है, क्योंकि वह साधना में प्रयत्नशील है—साधना को सम्पन्न नहीं कर पाया है।

स्त्री-शरीर के दर्शन से ब्रह्मचर्य-विनाश का भय रहता है, निश्चित रूप से

ब्रह्मचर्य नष्ट नहीं हो जाता, यह अभिप्राय प्रकट करने के लिए सूत्रकार ने 'भय' शब्द को स्थान दिया है। भय का प्राबल्य प्रकट करने के उद्देश्य से एक ही गाथा में दो बार 'भय' शब्द का प्रयोग किया गया है।

मूलः—जहा विरालावसहस्स मूले,
न मूसगाणं वसही पसत्था।
एमेव इत्थीनिलयस्स मज्झे,
न बंभयारिस्स खमो निवासो ॥ ५ ॥

छायाः—यथा विडालावसथस्य मूले न मूषकाणां वसतिः प्रशस्ता।
एवमेव स्त्रीनिलयस्य मध्ये, न ब्रह्मचारिणः क्षमो निवासः ॥५॥

शब्दार्थः—जैसे बिलावों की बस्ती के सन्निकट, चूहों की बस्ती चूहों के लिए कल्याणकारी नहीं है, उसी प्रकार स्त्रियों के निवास-स्थान के बीच ब्रह्मचारी पुरुष का निवास करना भी कल्याणकर नहीं है।

भाष्यः—यहां पर ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए विपत्ति रूप निवास-स्थान के विषय में कथन किया गया है।

बिलावों के बीच रहने वाले चूहे कितने दिन सकुशल जीवित रह सकते हैं? उनका जीवन किसी भी क्षण नष्ट हो सकता है। इसी प्रकार स्त्रियों के निवास--स्थान के बीच अगर ब्रह्मचारी पुरुष निवास करे तो उसका ब्रह्मचर्य कब तक अखण्डित रह सकेगा? वह किसी भी क्षण खंडित हो सकता है। अनादिकालीन विषय-वासना से वासित मन को इस वासना से सर्वथा मुक्त बनाने के लिए प्रबल पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है। जो पशु दो-चार बार हरित धान्य से परिपूर्ण खेत में चर लेता है, उसे यूथ में रहकर साधारण घास से संतोष नहीं होता। वह गोपालक की आंख बचाकर, उसी खेत में दौड़ जाता है और वहीं जाकर धान्य भक्षण करता है। दो-चार बार धान्य-भक्षण करने से ही जब पशु में यह वासना घर बना लेती है, तब अनादिकाल से मैथुन-वासना से वासित मन को, उस वासना से मुक्त करने में कितना प्रयत्न, कितनी शक्ति, कितनी जागरूकता और कितनी तल्लीनता की आवश्यकता है, यह स्वयं समझ लेना चाहिए। विषयवासना का दास मन अवसर पाते ही वासना के सागर में पुरुष को डुबा देता है। जैसे उजाड़ करने वाली गाय वध-बंधन आदि अनेक क्लेशों का पात्र बनती है, उसी प्रकार मन को अनेक क्लेश सहन करने पड़ते हैं। गाय के साथ, गाय के स्वामी को भी दण्ड भुगतना पड़ता है, इसी प्रकार मन के साथ, आत्मा को भी इस लोक में तथा परलोक में अत्यन्त घोर यातनाएं सहनी पड़ती हैं। जैसे उजाड़ करने वाली गाय के गले में ठेंगुर (मोटी-सी लकड़ी) डाल दिया जाता है, जिससे वह शीघ्र इधर-उधर नहीं भाग सकती, इसी प्रकार मन को रोकने के लिए तप रूपी ठेंगुर डालना चाहिए। इस तरह विविध प्रयत्नों द्वारा

मन का निरोध करने वाला और मनोविकार उत्पन्न करने वाले निमित्त कारणों से सदा बचने वाला पुरुष अपने ब्रह्मचर्य रूपी अनुपम रत्न की रक्षा करने में सफलता प्राप्त करता है।

मूलः-हत्थपायपडिच्छिन्नं, कन्ननासविगप्पिअं।
अवि वाससयं नारिं, बंभयारी विवज्जए॥ ६॥

छाया—हस्तपादप्रतिच्छिन्नां, कर्णनासाविकल्पिताम्।
अपि वर्षशतिकां नारीं, ब्रह्मचारी विवर्जयेत्॥ ६॥

शब्दार्थः—जिसके हाथ-पैर कटे हुए हों, कान-नाक विकृत आकार वाले हों, और वह सौ वर्ष की उम्र वाली बुढ़िया हो तो भी ब्रह्मचारी पुरुष उससे दूर ही रहे।

भाष्य—यहां भी ब्रह्मचर्य-रक्षा का उपाय बताया गया है। जैसे बहुत दिनों का भूखा मनुष्य भक्ष्याभक्ष्य का विचार भूल जाता है और भूख से विह्वल होकर उच्छिष्ट भोजन भी खा लेता है, उसी प्रकार मन कामान्ध होकर योग्यायोग्य का विचार नहीं करता। इसलिए सूत्रकार कहते हैं कि जिस स्त्री के हाथ-पैर छेद डाले गये हों, जिसके कान और नाक भी कट गई हो या विकृत आकार वाली हो, अर्थात् जो स्त्री के रूप में लोथ हो, उस पर भी विषय-वासना का भूखा मन अनुरक्त हो जाता है। अतएव ब्रह्मचारी पुरुष ऐसी सौ वर्ष की वृद्धा से भी दूर ही रहे। उसके साथ संसर्ग न रक्खे। उससे परिचय न करे।

यहां पर भी स्त्री शब्द से पशु-स्त्री आदि का ग्रहण करना चाहिए। स्त्रियों के लिए इन्हीं विशेषणों से विशिष्ट सौ वर्ष का बूढ़ा पुरुष त्याज्य है, ऐसा समझना चाहिए।

मूलः-अंगपच्चंगसंठाणं, चारुल्लवियपेहिअं।
इत्थीणं तं न निज्झाए, कामरागविवड्ढणं॥ ७॥

छायाः—अङ्गप्रत्यङ्गसंस्थानं, चारूल्लपितप्रेक्षितम्।
स्त्रीणां तन्न निध्यायेत्, कामरागविवर्धनम्॥ ७॥

शब्दार्थः—ब्रह्मचारी पुरुष, काम-वासना जागृत करने वाले स्त्रियों के अंग-प्रत्यंग की बनावट को तथा मनोहर बोली और कटाक्ष की ओर न देखे।

भाष्यः—स्त्रियों के अंग. की बनावट को, उनके सौन्दर्य को तथा स्त्रियों की मनोहर बोली एवं नेत्रों के कटाक्ष आदि को देखने-सुनने से ब्रह्मचारी पुरुष की दबी हुई काम-वासना उसी प्रकार जाग उठती है जिस प्रकार राख से दबी हुई अग्नि वायु के लगने से प्रदीप्त हो जाती है। अतएव ब्रह्मचारी इन सब की ओर दृष्टिपात भी न करे। ब्रह्मचारिणी सती, पुरुषों के अंगोपांग तथा मधुर स्वर आदि की ओर ध्यान न देवे।

मूल:-णो रक्खसीसु गिज्झिज्जा, गंडवच्छासुऽणेगचित्तासु।
जाओ पुरिसं पलोभित्ता, खेलंति जहा वा दासेहिं ॥८॥

छाया—नो राक्षसीषु गृद्ध्येत्, गण्डवक्षस्स्वनेकचित्तासु।
याः पुरुषं प्रलोभय्य, क्रीडन्ति यथा वा दासैः ॥ ८ ॥

शब्दार्थः - फोड़े के समान वक्षस्थल वाली, चंचल चित्त वाली या अनेक पुरुषों में आसक्त चित्त वाली राक्षसी स्त्रियों में-कुलटा तथा वेश्याओं में गृद्ध नहीं होना चाहिए, जो पुरुष को मुग्ध करके उनसे दासों के समान क्रीड़ा करती हैं।

भाष्यः—ब्रह्मचारी पुरुष को सामान्य स्त्रियों के साथ संसर्ग न रखने का, उनके समीप निवास न करने का तथा उनके अंगोपांग आदि को न निरखने का उपदेश देने के पश्चात् यहां राक्षसी के समान व्यभिचारिणी स्त्रियों में आसक्त न होने का उपदेश दिया है। व्यभिचारिणी स्त्रियां तथा वेश्याएं पुरुषों को अपनी ओर, विविध प्रकार के कामोत्तेजक हाव-भाव, भौंह तथा नेत्र के विकार आदि के द्वारा आकर्षित करती हैं फिर उन्हें अपना बनाकर क्रीड़ा करती हैं।

सूत्रकार ने ऐसी स्त्रियों का राक्षसी शब्द से उल्लेख किया है। यह उल्लेख द्वेष का नहीं वरन् विरक्ति का सूचक है और साथ ही उनके वास्तविक स्वरूप का निदर्शक भी है। जैसे राक्षसी पुरुष को चूस लेती है और अपनी तृप्ति करती है इसी प्रकार दुराचारिणी स्त्रियां भी अपनी वासना-तृप्ति करती हैं—स्त्रियां भी अपनी वासना-तृप्ति के लिए पुरुषों की शक्ति को चूस लेती हैं। यही नहीं, इनके फंदे में फंसने वाला पुरुष अपनी प्रतिष्ठा, मान-सम्मान, सम्पत्ति आदि सर्वस्व से हाथ धो बैठता है। वह इस लोक से भी जाता है और परलोक से भी जाता है। इस लोक में इन्द्रिय-छेद, नपुंसकता आदि का पात्र बनता है और परलोक में भयंकर नारकीय दुःख सहन करता है। इससे भी अधिक अनर्थ जिनके संसर्ग से होते हैं उन्हें राक्षसी कहना अनुचित नहीं है।

सूत्रकार ने उन स्त्रियों के स्तनों को फोड़ों की उपमा दी है। फोड़ों का दर्शन जैसा वीभत्स है उसी प्रकार ब्रह्मचारी पुरुष के लिए स्तनों का दर्शन भी बीभत्स प्रतीत होता है। अनेक शृंगाररसप्रेमी कवि स्तनों का अनेक सुन्दर उपमाएं देकर वर्णन करते हैं। कोई उन्हें सोने के घड़े बताकर नीलम के ढक्कन से ढंके हुए बतलाते हैं, कोई किसी फल के समान चित्रित्र करते हैं। ऐसे शृंगारी कवि स्वयं गड्हे में गिरने वाले अंधों को एक धक्का देने के समान व्यवहार करते हैं। वे स्व-पर का अहित करते हैं और काम वासना को उत्तेजित करके कला की सत्यता, शिवता एवं सुन्दरता का घात करते हैं। 'सव्वा कला धम्मकला जिणइ' अर्थात् धर्म रूप कला सब कलाओं में श्रेष्ठ है। इस सिद्धान्त के अनुसार धर्म-हीन कला निकृष्ट पंक्ति में स्थान पाने योग्य है।

दुराचारिणी स्त्रियां तथा वेश्याएं अनेक-चित्ता होती हैं। अनेकचित्ता के दो अर्थ हैं —अनेक पुरुषों में आसक्त चित्त वाली एवं चंचल चित्त वाली। वेश्या कभी किसी पुरुष में एकाग्र-मनस्का नहीं होती। पुरुष उसका खिलौना है। धन लूटना उसका व्यवसाय है। जिससे जब ज्यादा धन की प्राप्ति होती है, तब वह उसी की बन जाती है और कुछ ही क्षणों के पश्चात् किसी और की हो रहती है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है:—

जात्यन्धाय च दुर्मुखाय च जराजीर्णाखिलांगाय च,
ग्रामीणाय च दुष्कुलाय च गलत्कुष्टाभिभूताय च।
यच्छन्तीषु मनोहरं निजवपुर्लक्ष्मीलवश्रद्धया,
पण्यस्त्रीषु विवेककल्पलतिकाशस्त्रीषु रज्येत कः ? ॥

अर्थात् जो वेश्याएं थोड़ा सा धन प्राप्त करने के लिए, जन्मांध, दुर्मुख, वृद्धावस्था के कारण शिथिल अंग वाले, गंवार, अकुलीन, कोढ़ी आदि सभी प्रकार के पुरुषों को अपना सुन्दर शरीर सौंप देती हैं, अतएव जो विवेक रूपी कल्पलता को काटने के लिए कुठार के समान हैं, उन वेश्याओं पर कौन बुद्धिमान् पुरुष अनुरक्त होगा ? अर्थात् कोई भी नहीं—

और भी कहा है—

अन्यस्मै दत्तसङ्केता, याचतेऽन्यं स्तुते परम्।
अन्यश्चित्ते परः पार्श्वे, गणिकानामहो नरः ॥

अर्थात्.—आश्चर्य है कि वेश्याएं एक को संकेत देती हैं, दूसरे से याचना करती हैं और तीसरे पुरुष की तारीफ करती हैं। उनके चित्त में कोई और पुरुष होता है पर बगल में और ही कोई होता है। यह गणिकाओं का सामान्य स्वभाव है। फिर भी पुरुष अंधा होकर उन पर अनुराग करता है।

कुलटा स्त्रियां या वेश्याएं किसी सत्पुरुष के हृदय में कदाचित् स्थान पा लेती हैं तो उसके भी समस्त सद्गुणों का सर्वथा-समूल विनाश कर डालती हैं। कपटाचार, कठोरता, चंचलता, कुशीलता आदि उनके स्वभाव-सिद्ध दोष हैं। वास्तव में उनके दोषों का पूर्ण रूप से वर्णन होना ही संभव नहीं है। ऐसा समझ कर विवेकी पुरुष को ऐसी स्त्रियों पर जरा भी अनुराग नहीं करना चाहिए और न उनकी प्रतीति करनी चाहिए।

यह स्त्रियां अनेक प्रकार के प्रलोभनों के पाश फैलाकर पुरुषों को उनमें फंसा लेती हैं। जब पुरुष उनके पाश में फंस जाता है तब उसकी दशा एक दास के समान हो जाती है। क्रीत दास जैसे अपने स्वामी के इशारे पर नाचता है, उसी प्रकार वह पुरुष उन स्त्रियों के इशारे पर चलता है। वह धर्म-कर्म को विस्मरण कर बैठता है, लोक-लज्जा को तिलांजलि दे देता है, विश्वासघात करता है, अपनी प्रीतिपात्री की कामनापूर्ति के लिए चोरी, द्यूत आदि निंदनीय कार्यों में प्रवृत्ति करने लगता है। धीरे-धीरे उसका इतना अधःपतन हो जाता है कि उसे देखकर ही लोग घृणा व्यक्त

करने लगते हैं। वह सभ्य और प्रतिष्ठित पुरुषों के समीप भी नहीं फटक सकता। इन अनर्थों से बचने के लिए सूत्रकार ने अमोघ धन बताया है कि 'नो रक्खसीसु गिज्झिज्जा' अर्थात् इन राक्षसियों में अनुराग न करो—इनसे बचते रहो।

मूलः—भोगामिसदोसविसन्ने, हियनिस्सेयस-बुद्धिवोच्चत्थे।
बाले य मन्दिये मूढे, बज्झइ मच्छिया व खेलम्मि ॥९॥

छायाः—भोगामिषदोषविषण्णः, हितनिश्रेयसबुद्धिविपर्यस्तः।
बालश्च मन्दो मूढः, बध्यते मक्षिकेव श्लेष्मणि ॥ ९ ॥

शब्दार्थ:—भोग रूपी मांस में, जो आत्मा को दूषित करने के कारण दोष रूप है, आसक्त रहने वाला तथा हितमय मोक्ष को प्राप्त करने की बुद्धि से विपरीत प्रवृत्ति करने वाला, धर्म-क्रिया में आलसी, मोह में फंसा हुआ, अज्ञानी जीव, कर्मों से ऐसे बंध जाते हैं जैसे मक्खी कफ में फंस जाती है।

भाष्यः—विषय-भोग आत्मा को दूषित करने वाले हैं और उनमें जो आसक्त होता है वह मोक्ष के मार्ग से विपरीत चलने लगता है, धर्मक्रिया में प्रमादशील बन जाता है, मूढ़ बन जाता है और हेयोपादेय के विवेक से भ्रष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह है कि विषयभोग उभयलोक में अहितकारी हैं। इस लोक में विषयी मनुष्य एक दूसरे का शस्त्रों से घात करते देखे जाते हैं। विषयासक्त पुरुष शस्त्रों को, धर्म को, और परम्परागत सदाचार को ताक में रख देता है। परलोक में महामोह रूपी घोर अंधकार में और यातना के कारणभूत नरक आदि स्थानों में पड़कर अपना अहित करता है। अतएव विषयभोग भयंकर हैं, दारुण हैं, असाता के जनक हैं। आत्मा का हित चाहने वाले प्रत्येक पुरुष को इनसे निवृत्त होना चाहिए। जो लोग विषयभोग से निवृत्त नहीं होते उनकी वही दशा होती है जैसे कफ में फंसी हुई मक्खी की होती है।

मूलः—सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा।
कामे पत्थेमाणा, अकामा जंति दुग्गइं ॥ १० ॥

दुराचारिणी स्त्रियां तथा वेश्याएं अनेक-चित्ता होती हैं। अनेकचित्ता के दो अर्थ हैं —अनेक पुरुषों में आसक्त चित्त वाली एवं चंचल चित्त वाली। वेश्या कभी किसी पुरुष में एकाग्र-मनस्का नहीं होती। पुरुष उसका खिलौना है। धन लूटना उसका व्यवसाय है। जिससे जब ज्यादा धन की प्राप्ति होती है, तब वह उसी की बन जाती है और कुछ ही क्षणों के पश्चात् किसी और की हो रहती है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है:—

जात्यन्धाय च दुर्मुखाय च जराजीर्णाखिलांगाय च,
ग्रामीणाय च दुष्कुलाय च गलत्कुष्ठाभिभूताय च।
यच्छन्तीषु मनोहरं निजवपुर्लक्ष्मीलवश्रद्धया,
पण्यस्त्रीषु विवेककल्पलतिकाशस्त्रीषु रज्येत कः? ॥

अर्थात् जो वेश्याएं थोड़ा सा धन प्राप्त करने के लिए, जन्मांध, दुर्मुख, वृद्धावस्था के कारण शिथिल अंग वाले, गंवार, अकुलीन, कोढ़ी आदि सभी प्रकार के पुरुषों को अपना सुन्दर शरीर सौंप देती हैं, अतएव जो विवेक रूपी कल्पलता को काटने के लिए कुठार के समान हैं, उन वेश्याओं पर कौन बुद्धिमान् पुरुष अनुरक्त होगा? अर्थात् कोई भी नहीं—

और भी कहा है—

अन्यस्मै दत्तसङ्केता, याचतेऽन्यं स्तुते परम्।
अन्यश्चित्ते परः पार्श्वे, गणिकानामहो नरः॥

अर्थात्—आश्चर्य है कि वेश्याएं एक को संकेत देती हैं, दूसरे से याचना करती हैं और तीसरे पुरुष की तारीफ करती हैं। उनके चित्त में कोई और पुरुष होता है पर बगल में और ही कोई होता है। यह गणिकाओं का सामान्य स्वभाव है। फिर भी पुरुष अंधा होकर उन पर अनुराग करता है।

कुलटा स्त्रियां या वेश्याएं किसी सत्पुरुष के हृदय में कदाचित् स्थान पा लेती हैं तो उसके भी समस्त सद्गुणों का सर्वथा समूल विनाश कर डालती हैं। कपटाचार, कठोरता, चंचलता, कुशीलता आदि उनके स्वभाव-सिद्ध दोष हैं। वास्तव में उनके दोषों का पूर्ण रूप से वर्णन होना ही संभव नहीं है। ऐसा समझ कर विवेकी पुरुष को ऐसी स्त्रियों पर जरा भी अनुराग नहीं करना चाहिए और न उनकी प्रतीति करनी चाहिए।

यह स्त्रियां अनेक प्रकार के प्रलोभनों के पाश फैलाकर पुरुषों को उनमें फंसा लेती हैं। जब पुरुष उनके पाश में फंस जाता है तब उसकी दशा एक दास के समान हो जाती है। क्रीत दास जैसे अपने स्वामी के इशारे पर नाचता है, उसी प्रकार वह पुरुष उन स्त्रियों के इशारे पर चलता है। वह धर्म-कर्म को विस्मरण कर बैठता है, लोक-लज्जा को तिलांजलि दे देता है, विश्वासघात करता है, अपनी प्रीतिपात्री की कामनापूर्ति के लिए चोरी, द्यूत आदि निन्दनीय कार्यों में प्रवृत्ति करने लगता है। धीरे-धीरे उसका इतना अध:पतन हो जाता है कि उसे देखकर ही लोग घृणा व्यक्त

करने लगते हैं। वह सभ्य और प्रतिष्ठित पुरुषों के समीप भी नहीं फटक सकता। इन अनर्थों से बचने के लिए सूत्रकार ने अमोघ धन बताया है कि 'नो रक्खसीसु गिज्झिज्जा' अर्थात् इन राक्षसियों में अनुराग न करो—इनसे बचते रहो।

मूलः-भोगामिसदोसविसन्ने, हियनिस्सेयस-बुद्धिवोच्चत्थे।
बाले य मन्दिये मूढे, बज्झइ मच्छिया व खेलम्मि ॥९॥

छायाः—भोगामिषदोषविषण्णः, हितनिश्रेयसबुद्धिविपर्यस्तः।
बालश्च मन्दो मूढः, बध्यते मक्षिकेव श्लेष्मणि ॥ ९ ॥

शब्दार्थः—भोग रूपी मांस में, जो आत्मा को दूषित करने के कारण दोष रूप है, आसक्त रहने वाला तथा हितमय मोक्ष को प्राप्त करने की बुद्धि से विपरीत प्रवृत्ति करने वाला, धर्म-क्रिया में आलसी, मोह में फंसा हुआ, अज्ञानी जीव, कर्मों से ऐसे बंध जाते हैं जैसे मक्खी कफ में फंस जाती है।

भाष्यः—विषय-भोग आत्मा को दूषित करने वाले हैं और उनमें जो आसक्त होता है वह मोक्ष के मार्ग से विपरीत चलने लगता है, धर्मक्रिया में प्रमादशील बन जाता है, मूढ़ बन जाता है और हेयोपादेय के विवेक से भ्रष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह है कि विषयभोग उभयलोक में अहितकारी हैं। इस लोक में विषयी मनुष्य एक दूसरे का शस्त्रों से घात करते देखे जाते हैं। विषयासक्त पुरुष शस्त्रों को, धर्म को, और परम्परागत सदाचार को ताक में रख देता है। परलोक में महामोह रूपी घोर अंधकार में और यातना के कारणभूत नरक आदि स्थानों में पड़कर अपना अहित करता है। अतएव विषयभोग भयंकर हैं, दारुण हैं, असाता के जनक हैं। आत्मा का हित चाहने वाले प्रत्येक पुरुष को इनसे निवृत्त होना चाहिए। जो लोग विषयभोग से निवृत्त नहीं होते उनकी वही दशा होती है जैसे कफ में फंसी हुई मक्खी की होती है।

मूलः-सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा।
कामे पत्थेमाणा, अकामा जंति दुग्गइं ॥ १० ॥

छायाः—शल्यं कामा विषं कामाः, कामा आशीविषोपमाः।
कामान् प्रार्थयमाना, अकामा यान्ति दुर्गतिम् ॥ १० ॥

शब्दार्थः—काम-भोग शल्य के समान हैं, काम-भोग विष के समान हैं, काम-भोग दृष्टिविष सर्प के समान हैं। काम-भोग की अभिलाषा करने वाले, काम-भोग न भोगने पर भी दुर्गति पाते हैं।

भाष्यः—कामभोग का वास्तविक स्वरूप बतलाते हुए सूत्रकार ने तीन उपमाएं दी हैं।

कामभोग शल्य अर्थात् कांटे के समान हैं। जैसे शरीर के किसी अंग में कांटा लगने पर समस्त शरीर ही वेदना से व्याकुल-सा रहता है और जब तक कांटा नहीं

निकल जाता, तब तक वह वेदना बनी ही रहती है। इसी प्रकार कामभोग की अभिलाषा होने पर तन-मन में व्याकुलता उत्पन्न होती है। एक प्रकार की विचित्र बेचैनी का अनुभव होता है और किसी भी काम में मन निमग्न नहीं होता।

इतने अंश में समानता होने पर भी दोनों में कुछ विषमता भी है। कांटा केवल एक ही लोक में किंचिन्मात्र दुःख देता है, पर कामभोग परलोक में भी पीड़ा पहुंचाता है। कांटा निकल जाने के पश्चात् थोड़ी देर में असाता मिट जाती है, पर कामभोग भोग लेने पर भी भोग की अभिलाषा नहीं मिटती है। जैसे अग्नि में घृत की आहुति देने से वह अधिक उग्र होती है उसी प्रकार विषयभोग भोगने से भोगाभिलाषा की वृद्धि ही होती है। कहा भी है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

इस श्लोक का आशय ऊपर आ चुका है।

कामभोग विष के समान हैं। जैसे विष का भक्षण करने वाला पुरुष पहले मूर्छित होता है और अन्त में प्राण त्याग देता है, उसी प्रकार विषयभोग की इच्छा अन्तःकरण में उद्भूत होते ही मनुष्य पहले मोह-मुग्ध हो जाता है—हिताहित की पहचान नहीं कर सकता। अन्त में संयम रूप जीवन से हाथ धो बैठता है। विष-भक्षण से शरीर को ही हानि पहुंचती है, आत्मा को नहीं। किन्तु विषयभोग से शारीरिक हानि होती है, आत्मिक हानि होती है, धर्म की हानि होती है, इस लोक में हानि होती है और परलोक में भी हानि होती है। अतएव विषयभोग विष की अपेक्षा भी अधिक भयानक हैं। कहा भी है—

विषस्य विषयाणाञ्च, दृश्यते महदन्तरम्।
उपभुक्तं विषं हन्ति, विषयाः स्मरणादपि॥

अर्थात् विष में और विषयों में यह बड़ा अन्तर है कि विष तो उपभोग करने के पश्चात् ही द्रव्य प्राणों का नाश करता है, पर विषय तो उनका स्मरण करते ही भाव प्राणों को नष्ट कर देते हैं।

काम दृष्टिविष सर्प के समान हैं। दृष्टिविष सर्प जिस पुरुष की ओर दृष्टि दौड़ाता है, उसी पर उसके विष का प्रभाव हो जाता है। यह सर्प समस्त सर्प-जाति में अत्यन्त भयंकर होता है। इस सर्प की दृष्टि से जैसे जीव के जीवन का अन्त हो जाता है, उसी प्रकार विषयभोगों की ओर दृष्टि जाने से ही जीवों के धर्म--जीवन की समाप्ति हो जाती है।

सूत्रकार स्वयं विष आदि से काम की विशेषता प्रकट करते हुए कहते हैं कि, कामभोगों का सेवन न करने पर भी. केवल काम की कामना मात्र से ही दुर्गति की प्राप्ति होती है। ऐसे सर्वथा अहितकर, आदि और अन्त में असाता के उत्पादक काम का परित्याग करना ही श्रेयस्कर है—इसी में आत्मा का एकान्त विकास है।

मूलः-खणमेत्तसुक्खा बहुकालदुक्खा,
पगामदुक्खा अनिगामसुक्खा ।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया,
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥११॥

छाया —क्षणमात्रसौख्या बहुकालदुःखाः, प्रकामदुःखा अनिकामसौख्याः ।
संसारमोक्षस्य विपक्षभूताः, खानिरनर्थानां तु कामभोगाः ॥ ११ ॥

शब्दार्थः-कामभोग क्षणभर सुख देनेवाले हैं और बहुत समयतक दुःख देनेवाले हैं। कामभोग अत्यल्प सुख देनेवाले हैं और अत्यन्त दुःख देने वाले हैं। ये संसार से मुक्त होनेवाले के लिए विपक्षभूत हैं अर्थात् विरोधी हैं और अनर्थों की खान हैं।

भाष्यः—चक्षु और श्रोत्र इन्द्रिय के विषय काम कहलाते हैं और स्पर्शन, रसना तथा घ्राण इन्द्रिय के विषय भोग कहलाते हैं। यहां पर सूत्रकार ने कामभोगों की सुखप्रदता और दुःखप्रदता की तुलना की है।

काम भोग एक क्षण भर सुख देते हैं और चिरकाल पर्यन्त दुःख देते हैं। जैसे मधु से लिप्त तलवार की धार जीभ से चाटने पर पल भर मधु का मिठास अनुभव होता है किन्तु जिह्वा कटने से घोर वेदना चिरकाल तक होती रहती है, इसी प्रकार कामभोग भी क्षण भर की तृप्ति का आनन्द देकर अनेक भव-भवान्तर तक दुःख देते हैं। काम--भोग की अभिलाषा और गृद्धि से जो चिकने कर्मों का बंध होता है, वह बंध जब जितने भवों तक जीर्ण होने पर छूट नहीं जाता तब तक दुःख भोगना पड़ता है। अथवा जैसे कुत्ता सूखी हड्डी अपने दांतों से चबाता है और दांतों से निकलने वाले रक्त को पीता हुआ यही समझता है कि वह हड्डी का रक्त चूस रहा है, इसी प्रकार संसारी जीव विषय--भोगजन्य सुखाभास में ही सुख की कल्पना कर दुःख को आमंत्रण देता है। अतएव कहा गया है कि काम--भोग अत्यन्त अल्प सुख देते हैं और बहुत अधिक दुःख देते हैं।

काम--भोग संसार--मोक्ष के विरोधी हैं अर्थात् जन्म--जरा--मरण रूप संसार से छुटकारा पाने में बाधक होते हैं।

मूल में 'संसारमोक्खस्स' पाठ है। इस पद से दो आशय निकलते हैं। प्रथम यह कि काम--भोग संसार से मोक्ष (मुक्ति) पाने में बाधक हैं और दूसरा यह कि संसार और मोक्ष--दोनों के विरोधी हैं। 'संसारश्च मोक्षश्च, इति संसारमोक्षौ, तयोः संसारमोक्षयोः' इस प्रकार द्वन्द्व समास करने से उक्त अर्थ भी फलित होता है।

प्राकृत भाषाओं में द्विवचन का अभाव होने से 'संसारमोक्खस्स' ऐसा प्रयोग किया गया है, अथवा बहुवचन के अर्थ में एक वचन प्रयुक्त हुआ है।

इस अर्थ का तात्पर्य यह है कि काम-भोग संसार में भी हानिजनक हैं और मोक्ष के भी बाधक हैं। कामी और भोगी जन न तो संसार में ही शान्ति और साता का अनुभव कर पाते हैं, न मोक्ष ही प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार काम--भोग विविध प्रकार के शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक अनर्थों की खानि हैं। काम--भोगों से क्या-क्या अनर्थ होते हैं, यह बात प्राचीन कथानकों से स्पष्ट है। रावण आदि के दृष्टान्तों को कौन नहीं जानता ?

मूलः-जहा किंपागफलाणं परिणामो न सुन्दरो।
एवं भुत्ताण भोगाणं, परिणामो न सुन्दरो ॥१२॥

छायाः—यथा किम्पाकफलानां, परिणामो न सुन्दरः।
एवं भुक्तानां भोगानां, परिणामो न सुन्दर ॥ १२ ॥

शब्दार्थः—जैसे किंपाक फल के भक्षण का परिणाम अच्छा नहीं होता, उसी प्रकार भोगे हुए भोगों का परिणाम अच्छा नहीं होता।

भाष्य – किंपाक नामक फल खाने में स्वादिष्ट होता है, सूंघने में सुगंध युक्त होता है, और देखने में अत्यन्त सुन्दर दिखाई देता है, किन्तु उसका भक्षण करना हलाहल विष का काम करता है। बाह्य सौन्दर्य से मुग्ध होकर जो उसका भोग करता है वह प्राणों से हाथ धो बैठता है। इस प्रकार उसके भक्षण का जीवन-विनाश रूप अत्यन्त अनिष्ट परिणाम होता है। इसी प्रकार भोगे हुए भोगों का परिणाम भी अतीव अनिष्टजनक है। भोग भी ऊपर से बड़े लुभावने, आनन्ददायी, तृप्तिकारक और मधुर से प्रतीत होते हैं, पर उनका नतीजा बड़ा बुरा होता है। कहा भी है—

रम्यमापातमात्रे यत्, परिणामेऽतिदारुणम्।
किंपाकफलसंकाशं, तत्कः सेवेत मैथुनम् ? ॥

अर्थात् जो मैथुन पहले-पहल रमणीय मालूम होता है परन्तु परिणाम में अत्यन्त भयंकर होता है, अतएव जो किंपाक वृक्ष के समान है, उसे कौन विवेकशील पुरुष सेवन करेगा ?

काम और भोग शब्द के अर्थ में सूक्ष्म रूप से भेद है, फिर भी दोनों शब्द पर्याय रूप में भी प्रयुक्त होते हैं अतएव यहां सिर्फ भोग शब्द का प्रयोग किया गया है। अथवा भोग शब्द 'काम' का भी उपलक्षण है।

मूलः-दुपरिच्चया इमे कामा, नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं।
अह संति सुव्वया साहू, जे तरंति अतरं वणिया व ॥१३॥

छायाः—दुःपरित्याज्या इमे कामाः, न सुत्यजा अधीरपुरुषैः।
अथ सन्ति सुव्रताः साधवः, ये तरन्त्यतरं वणिकेनेव ॥ १३ ॥

शब्दार्थः—यह काम--भोग जीवों द्वारा अत्यन्त कठिनता से छोड़े जा सकते हैं, कायर

पुरुष इन्हें सरलता से नहीं त्याग सकते। हाँ, जो सुव्रती साधु हैं वे इस अतर संसार-सागर को वणिक की तरह तर जाते हैं अर्थात् विषय भोग का सर्वथा त्याग कर देते हैं।

भाष्य.--जो महापुरुष वीर हैं, जिन्होंने अपने अत्यन्त शक्तिशाली मन पर विजय प्राप्त करली है, जो सम्यक् प्रकार से वीतराग भगवान् द्वारा प्ररूपित व्रतों का अनुष्ठान करते हैं, वही कामभोगों का त्याग कर सकते हैं। इससे विपरीत जो अधीर हैं अर्थात् जिनका चित्त चंचल है, आत्मनिष्ठ नहीं बन सका है, वे कामभोगों का त्याग नहीं कर सकते।

कामभोगों का त्याग करने के लिए मन की स्थिरता अत्यन्त आवश्यक है। जो अपने मन को अपनी इच्छा के अनुसार नहीं चलाते किन्तु मन के अनुसार आप चलते हैं—जो मन के दास हैं, इन्द्रियां जिन पर शासन करती हैं, वे कामभोगों से कदापि मुक्त नहीं हो सकते हैं। अतएव कामभोगों का त्याग करने के लिए मन को और समस्त इन्द्रियों को अपने वश में करना चाहिए। इन्हें काबू में किये विना विषय--भोग से छुटकारा नहीं मिलता।

मूलः—उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पइ।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चइ ॥१४॥

छायाः—उपलेपो भवति भोगेषु, अभोगी नोपलिप्यते।
भोगी भ्रमति संसारे, अभोगी विप्रमुच्यते ॥ १४ ॥

शब्दार्थः—भोग भोगने से कर्मों का बंध होता है। अभोगी कर्मों से लिप्त नहीं होता। भोगी संसार में भ्रमण करता है, अभोगी संसार से मुक्त हो जाता है।

भाष्यः—भोग कर्म-बंध के कारण हैं। सर्वप्रथम जब भोगों को भोगने की अभिलाषा उत्पन्न होती है तब रागजन्य कर्मों का बंध होता है। तदनन्तर मनुष्य भोग सामग्री संचित करने के लिए उद्यत होता है तो नाना प्रकार का आरम्भ--समारम्भ करता है। उससे भी कर्मों का बंध होता है। आरम्भ--समारम्भ करने पर भी यदि सामग्री का संचय न हुआ तो विविध प्रकार का पश्चात्ताप होता है, उससे भी कर्मबंध होता है। सामग्री-संचय हो गया तो भोगोपभोग में मनुष्य ऐसा निमग्न बन जाता है कि उसे मानव-जीवन को सफल बनाने का ध्यान ही नहीं आता। रात--दिन विषयभोग में ही डूबा रहता है। इससे वह घोर कर्म--बन्धन करता है।

जो भोगों से विमुख रहता है, जिसने भोगों की निस्सारता और परिणाम में दुःखप्रदता को भलीभांति समझ लिया है, अतएव जो आत्म-समाधि में ही डूबा रहता है, उसके रागभाव न होने से वह कर्म से लिप्त नहीं होता।

कोई यह कह सकता है कि कर्म का लेप या अलेप होने से क्या हानि-लाभ है? तो इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार कहते हैं कि भोगी भव-भ्रमण करता है और अभोगी संसार से मुक्त हो जाता है। एक पर्याय से दूसरी पर्याय में जाना भव--

इस अर्थ का तात्पर्य यह है कि काम-भोग संसार में भी हानिजनक हैं और मोक्ष के भी बाधक हैं। कामी और भोगी जन न तो संसार में ही शान्ति और साता का अनुभव कर पाते हैं, न मोक्ष ही प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार काम--भोग विविध प्रकार के शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक अनर्थों की खानि हैं। काम--भोगों से क्या-क्या अनर्थ होते हैं, यह बात प्राचीन कथानकों से स्पष्ट है। रावण आदि के दृष्टान्तों को कौन नहीं जानता ?

मूलः—जहा किंपागफलाणं परिणामो न सुन्दरो।
एवं भुत्ताण भोगाणं, परिणामो न सुन्दरो ॥१२॥

छायाः—यथा किम्पाकफलानां, परिणामो न सुन्दरः।
एवं भुक्तानां भोगानां, परिणामो न सुन्दर ॥ १२ ॥

शब्दार्थः—जैसे किंपाक फल के भक्षण का परिणाम अच्छा नहीं होता, उसी प्रकार भोगे हुए भोगों का परिणाम अच्छा नहीं होता।

भाष्य — किंपाक नामक फल खाने में स्वादिष्ट होता है, सूंघने में सुगंध युक्त होता है, और देखने में अत्यन्त सुन्दर दिखाई देता है, किन्तु उसका भक्षण करना हलाहल विष का काम करता है। बाह्य सौन्दर्य से मुग्ध होकर जो उसका भोग करता है वह प्राणों से हाथ धो बैठता है। इस प्रकार उसके भक्षण का जीवन-विनाश रूप अत्यन्त अनिष्ट परिणाम होता है। इसी प्रकार भोगे हुए भोगों का परिणाम भी अतीव अनिष्टजनक है। भोग भी ऊपर से बड़े लुभावने, आनन्ददायी, तृप्तिकारक और मधुर से प्रतीत होते हैं, पर उनका नतीजा बड़ा बुरा होता है। कहा भी है—

रम्यमापातमात्रे यत्, परिणामेऽतिदारुणम्।
किंपाकफलसंकाशं, तत्कः सेवेत मैथुनम् ? ॥

अर्थात् जो मैथुन पहले-पहल रमणीय मालूम होता है परन्तु परिणाम में अत्यन्त भयंकर होता है, अतएव जो किंपाक वृक्ष के समान है, उसे कौन विवेकशील पुरुष सेवन करेगा ?

काम और भोग शब्द के अर्थ में सूक्ष्म रूप से भेद है, फिर भी दोनों शब्द पर्याय रूप में भी प्रयुक्त होते हैं अतएव यहां सिर्फ भोग शब्द का प्रयोग किया गया है। अथवा भोग शब्द 'काम' का भी उपलक्षण है।

मूलः—दुपरिच्चया इमे कामा, नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं।
अह संति सुव्वया साहू, जे तरंति अतरं वणिया व ॥१३॥

छायाः—दुःपरित्याज्या इमे कामाः, न सुत्यजा अधीरपुरुषैः।
अथ सन्ति सुव्रताः साधवः, ये तरन्त्यतरं वणिकेनेव ॥ १३ ॥

शब्दार्थः—यह काम--भोग जीवों द्वारा अत्यन्त कठिनता से छोड़े जा सकते हैं, कायर

पुरुष इन्हें सरलता से नहीं त्याग सकते। हाँ, जो सुव्रती साधु हैं वे इस अतर संसार-सागर को वणिक की तरह तर जाते हैं अर्थात् विषय भोग का सर्वथा त्याग कर देते हैं।

भाष्य.--जो महापुरुष वीर हैं. जिन्होंने अपने अत्यन्त शक्तिशाली मन पर विजय प्राप्त करली है, जो सम्यक् प्रकार से वीतराग भगवान् द्वारा प्ररूपित व्रतों का अनुष्ठान करते हैं, वही कामभोगों का त्याग कर सकते हैं। इससे विपरीत जो अधीर हैं अर्थात् जिनका चित्त चंचल है, आत्मनिष्ठ नहीं वन सका है, वे कामभोगों का त्याग नहीं कर सकते।

कामभोगों का त्याग करने के लिए मन की स्थिरता अत्यन्त आवश्यक है। जो अपने मन को अपनी इच्छा के अनुसार नहीं चलाते किन्तु मन के अनुसार आप चलते हैं—जो मन के दास हैं, इन्द्रियां जिन पर शासन करती हैं. वे कामभोगों से कदापि मुक्त नहीं हो सकते हैं। अतएव कामभोगों का त्याग करने के लिए मन को और समस्त इन्द्रियों को अपने वश में करना चाहिए। इन्हें कावू में किये विना विषय--भोग से छुटकारा नहीं मिलता।

मूलः–उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पइ।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चइ ॥१४॥

छायाः—उपलेपो भवति भोगेषु, अभोगी नोपलिप्यते।
भोगी भ्रमति संसारे, अभोगी विप्रमुच्यते ॥ १४ ॥

शब्दार्थः—भोग भोगने से कर्मों का बंध होता है। अभोगी कर्मों से लिप्त नहीं होता। भोगी संसार में भ्रमण करता है, अभोगी संसार से मुक्त हो जाता है।

भाष्यः—भोग कर्म-बंध के कारण हैं। सर्वप्रथम जब भोगों को भोगने की अभिलाषा उत्पन्न होती है तब रागजन्य कर्मों का बंध होता है। तदनन्तर मनुष्य भोग सामग्री संचित करने के लिए उद्यत होता है तो नाना प्रकार का आरम्भ–समारम्भ करता है। उससे भी कर्मों का बंध होता है। आरम्भ--समारम्भ करने पर भी यदि सामग्री का संचय न हुआ तो विविध प्रकार का पश्चात्ताप होता है, उससे भी कर्मबंध होता है। सामग्री-संचय हो गया तो भोगोपभोग में मनुष्य ऐसा निमग्न बन जाता है कि उसे मानव-जीवन को सफल बनाने का ध्यान ही नहीं आता। रात--दिन विषयभोग में ही डूबा रहता है। इससे वह घोर कर्म--बन्धन करता है।

जो भोगों से विमुख रहता है, जिसने भोगों की निस्सारता और परिणाम में दुःखप्रदता को भलीभांति समझ लिया है, अतएव जो आत्म-समाधि में ही डूबा रहता है, उसके रागभाव न होने से वह कर्म से लिप्त नहीं होता।

कोई यह कह सकता है कि कर्म का लेप या अलेप होने से क्या हानि-लाभ है ? तो इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार कहते हैं कि भोगी भव-भ्रमण करता है और अभोगी संसार से मुक्त हो जाता है। एक पर्याय से दूसरी पर्याय में जाना भव--

इस अर्थ का तात्पर्य यह है कि काम-भोग संसार में भी हानिजनक हैं और मोक्ष के भी बाधक हैं। कामी और भोगी जन न तो संसार में ही शान्ति और साता का अनुभव कर पाते हैं, न मोक्ष ही प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार काम--भोग विविध प्रकार के शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक अनर्थों की खानि हैं। काम--भोगों से क्या-क्या अनर्थ होते हैं, यह बात प्राचीन कथानकों से स्पष्ट है। रावण आदि के दृष्टान्तों को कौन नहीं जानता ?

मूलः-जहा किंपागफलाणं परिणामो न सुन्दरो।
एवं भुत्ताण भोगाणं, परिणामो न सुन्दरो ॥१२॥

छायाः—यथा किम्पाकफलानां, परिणामो न सुन्दरः।
एवं भुक्तानां भोगानां, परिणामो न सुन्दर ॥ १२ ॥

शब्दार्थः—जैसे किंपाक फल के भक्षण का परिणाम अच्छा नहीं होता, उसी प्रकार भोगे हुए भोगों का परिणाम अच्छा नहीं होता।

भाष्य – किंपाक नामक फल खाने में स्वादिष्ट होता है, सूंघने में सुगंध युक्त होता है, और देखने में अत्यन्त सुन्दर दिखाई देता है, किन्तु उसका भक्षण करना हलाहल विष का काम करता है। बाह्य सौन्दर्य से मुग्ध होकर जो उसका भोग करता है वह प्राणों से हाथ धो बैठता है। इस प्रकार उसके भक्षण का जीवन-विनाश रूप अत्यन्त अनिष्ट परिणाम होता है। इसी प्रकार भोगे हुए भोगों का परिणाम भी अतीव अनिष्टजनक है। भोग भी ऊपर से बड़े लुभावने, आनन्ददायी, तृप्तिकारक और मधुर से प्रतीत होते हैं, पर उनका नतीजा बड़ा बुरा होता है। कहा भी है—

रम्यमापातमात्रे यत्, परिणामेऽतिदारुणम्।
किंपाकफलसंकाशं, तत्कः सेवेत मैथुनम् ? ॥

अर्थात् जो मैथुन पहले-पहल रमणीय मालूम होता है परन्तु परिणाम में अत्यन्त भयंकर होता है, अतएव जो किंपाक वृक्ष के समान है, उसे कौन विवेकशील पुरुष सेवन करेगा ?

काम और भोग शब्द के अर्थ में सूक्ष्म रूप से भेद है, फिर भी दोनों शब्द पर्याय रूप में भी प्रयुक्त होते हैं अतएव यहां सिर्फ भोग शब्द का प्रयोग किया गया है। अथवा भोग शब्द 'काम' का भी उपलक्षण है।

मूलः-दुपरिच्चया इमे कामा, नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं।
अह संति सुव्वया साहू, जे तरंति अतरं वणिया व ॥१३॥

छायाः—दुःपरित्याज्या इमे कामाः, न सुत्यजा अधीरपुरुषैः।
अथ सन्ति सुव्रताः साधवः, ये तरन्त्यतरं वणिकेनेव ॥ १३ ॥

शब्दार्थः—यह काम--भोग जीवों द्वारा अत्यन्त कठिनता से छोड़े जा सकते हैं, कायर

दारुणता से व्याप्त है और जिस पर चलने से दुःखों का अन्त नहीं होता वरन् वृद्धि होती है। अज्ञानी जीव भ्रमवश जिन्हें दुःख-मुक्ति का कारण समझता है, वह वास्तव में दुःख-वृद्धि के कारण हैं। वह जिसे सुख मानता है वह वास्तव में सुखाभास है। विपरीत उपचार करने से जैसे रोग की वृद्धि होती है, उसी प्रकार दुःख-विनाश के विपरीत उपाय करने से दुःख का विकास हो रहा है। मूढ़ पुरुष संसार के भोगोपभोगों और उनके साधनों को ही सुख रूप माने बैठा है और उन्हीं के भरोसे दुःख से बचने का मनोरथ करता है। इस विपरीत बुद्धि को दूर करने के लिए सूत्रकार ने यहां दुःखों की उत्पत्ति का मूल बताया है—'कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं।' अर्थात् दुःखों के जिस प्रबल प्रवाह में प्राणी बहे जा रहे हैं उनका मूल स्रोत—उद्गम स्थान कामभोग की अभिलाषा है।

दुःखों का उद्गम-स्थान समझ लेने पर उनके निरोध का उपाय सहज ही समझा जा सकता है। काम-भोग की लालसा को अगर त्याग दिया जाय और वीतराग वृत्ति को धारण किया जाय तो समस्त दुःखों का अन्त आ सकता है। इसी लिए सूत्रकार कहते हैं—'तस्संतगं गच्छइ वीयरागो' अर्थात् वीतरागता की वृत्ति से शारीरिक और मानसिक समस्त दुःखों का अन्त हो जाता है। राग से उत्पन्न होने वाले दुःख अराग-भाव से ही नष्ट हो सकते हैं।

सूत्रकार द्वारा उपदिष्ट दुःखों के विनाश का मार्ग ही राजमार्ग है, जिस पर अग्रसर होकर, अनादि काल से, अनन्त आत्माओं ने, अपना एकान्त कल्याण किया है, अपने दुःखों का समूल उन्मूलन किया है और सुख के अक्षय कोष पर आधिपत्य प्राप्त किया है।

मूलः—देवदाणवगंधव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करेंति तं॥१८॥

छाया—देवदानवगन्धर्वाः, यक्षराक्षसकिन्नराः।
ब्रह्मचारिणं नमस्यन्ति, दुष्करं ये कुर्वन्ति तम्॥ १८॥

शब्दार्थः—कठिनाई से आचरण में आने वाले ब्रह्मचर्य को पालन करने वाले ब्रह्मचारी को देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर नमस्कार करते हैं।

भाष्यः—सूत्रकार ने ब्रह्मचर्य पालन करने की महत्ता का यहां दिग्दर्शन कराया है।

पहले यह बतलाया जा चुका है कि देव दानव से लगाकर सभी जीवधारी काम के कीचड़ में फंसे हुए हैं। जो लोग काम-भोगों की तुच्छता को समझ लेते हैं, और उनका त्याग करना चाहते हैं, वे भी मन की चंचलता और इन्द्रियों की अदम्यता के कारण उनका त्याग करने में असमर्थ हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में ब्रह्मचर्य का पालन करना सचमुच ही अत्यन्त दुष्कर है।

भ्रमण कहलाता है। भव--भ्रमण करने से गर्भ जन्म, जरा मृत्यु आदि की अपरिमित वेदनाएं भोगनी पड़ती हैं। नरक और तिर्यञ्च योनियों में जो असह्य यातनाएं होती हैं वे सब भोगी जीवों को ही भोगनी पड़ती हैं। भोगों से पराङ्मुख मनुष्य इन वेदनाओं का शिकार नहीं होता। वह मोक्ष के अनन्त, अक्षय, अव्याबाध, असीम, अनिर्वचनीय और अपूर्व आनन्द का अनुभव करता है।

तात्पर्य यह है कि आनन्द आत्मा का स्वभाव है। जो पुरुष आत्मिक आनन्द के रस का आस्वादन करते हैं वे इन जघन्य, घृणित विषयभोगों की ओर आंख उठा कर भी नहीं देखना चाहते। और जो इन तुच्छ विषयभोगों में रचे रहते हैं वे चिन्तामणि का त्याग कर कांच के टुकड़े में अनुराग करते हैं। उन्हें वह स्वाभाविक, स्वाधीन ब्रह्मानन्द स्वप्न में भी उपलब्ध नहीं हो सकता। अतएव विवेकशील पुरुषों को चाहिए कि भोगों से विमुख होकर सच्चे सुख की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हों। सुखप्राप्ति के उद्देश्य से दुःख को अंगीकार न करें।

मूलः—मोक्खाभिकंखिस्स वि माणवस्स,
संसारभीरुस्स ठियस्स धम्मे।
नेयारिसं दुत्तरमत्थि लोए,
जहित्थिओ बालमणोहराओ ॥ १५ ॥

छायाः—मोक्षाभिकांक्षिणोऽपि मानवस्य, संसारभीरोः स्थितस्य धर्मे।
नैतादृशं दुस्तरमस्ति लोके, यथा स्त्रियो बालमनोहराः ॥ १५ ॥

शब्दार्थः—मोक्ष की अभिलाषा रखने वाले, संसार से भयभीत, और धर्म में स्थित भी मनुष्य के लिए, मूर्खों के मन को हरने वाली स्त्रियों से बचना जितना कठिन है, संसार में और कोई वस्तु इतनी कठिन नहीं है।

भाष्यः—संसार में यों तो अनेक प्रलोभन की वस्तुएं हैं। धन के लिए लोग नाना कष्ट सहन करते हैं। स्वजन की ममता प्रत्येक प्राणी के हृदय में विद्यमान रहती है। पुत्र-पौत्र आदि के लिए तरह-तरह की विडम्बनाएं लोग भोगते देखे जाते हैं। अपने यश की वृद्धि के लिए लोग आकाश-पाताल एक कर डालते हैं। मनुष्य इत्यादि अनेक प्रलोभनों की शृंखलाओं में बुरी तरह जकड़ा हुआ है। किन्तु इन सबसे बड़ा एक अत्यन्त उग्र बंधन मनुष्य के लिए है—स्त्री। स्त्री का आकर्षण इतना प्रबल है कि उससे छूटना सहज नहीं है। यह प्रलोभन इतना व्यापक है कि इसने समस्त संसारी जीवों को अपने में फंसा लिया है। मूर्ख तो मूर्ख हैं ही, पर इस प्रलोभन में पड़ कर बड़े-बड़े विद्वान् भी मूर्खों में मुख्य बन जाते हैं। यह आकर्षक योगियों को भी भोगियों की श्रेणी में खींच लाता है। तात्पर्य यह है कि राजा-रंक, पंडित-मूर्ख, रोगी-निरोगी, मनुष्य, पशु--पक्षी आदि सब के सब इस भयंकर फांसी को अपने गले में डाले हैं और वह भी स्वेच्छा से। जो लोग दैववश इस पाश में अब तक नहीं फंसे,

वे भी उसी ओर खिंचे जा रहे हैं। इस आकर्षण से प्रायः कोई नहीं बच पाया।

जो लोग अपने आपको शक्तिशाली समझते हैं, अजेय मानते हैं, वे लोग भी स्त्री के समीप होते ही असमर्थ से बन जाते हैं। उनका अभिमान पल भर में नष्ट हो जाता है। यथा—

व्याकीर्णकेसर-करालमुखा मृगेन्द्राः, नागाश्च भूरिमदराजिविराजमानाः।
मेधाविनश्च पुरुषाः समरेषु शूराः, स्त्रीसन्निधौ परमकापुरुषा भवन्ति॥

अर्थात् फैली हुई अयाल के कारण विकराल मुख वाले केसरी सिंह, झरते हुए मद से सुशोभित हस्ती, बुद्धिशाली पुरुष, युद्ध में वीरता प्रदर्शित करने वाले शूरवीर, स्त्री के समीप पहुंचते ही बिल्कुल कायर बन जाते हैं। बुद्धिमानों की बुद्धि, शूरवीरों की शूरवीरता, विवेकियों का विवेक, स्त्री के समीप न जाने कहां हवा हो जाता है।

मनुष्यों और पशुओं की बात जाने दीजिए। एकेन्द्रिय होने के कारण जिनकी संज्ञा प्रायः व्यक्त नहीं है, जिनमें चैतन्य की मात्रा अधिकांश में आवृत है, ऐसे वृक्ष भी इस प्रलोभन से नहीं बच पाते।

इस प्रकार स्त्री रूप आकर्षण संसार में सर्वत्र व्याप्त है। इस आकर्षण की प्रबलता का विचार करके तथा इसके भयंकर परिणाम का विचार करके अपना क्षेम-कुशल चाहने वालों को सदैव बचना चाहिए।

मूलः—एए य संगे समइक्कमित्ता, सुहुत्तरा चेव भवंति सेसा।
जहा महासागरमुत्तरित्ता, नई भवे अवि गंगासमाना॥१६॥

छायाः—एतांश्च संगान् समतिक्रम्य, सुखोत्तरा श्चैव भवन्ति शेषाः।
यथा महासागरमुत्तीर्य, नदी भवेदपि गंगासमाना॥ १६॥

शब्दार्थः इस स्त्री-प्रसंग का त्याग करने के पश्चात् अन्य संग (वासनाएं) सुगमता से त्यागी जा सकती हैं। जैसे महासमुद्र को पार कर लेने के पश्चात् गंगा के समान नदी भी सरलता से पार की जा सकती है।

भाष्यः—स्त्री-संभोग सम्बन्धी वासना की उत्कृष्टता बतलाई जा चुकी है। अन्यान्य वासनाओं की तुलना इसके साथ करते हुए सूत्रकार ने बतलाया है कि अन्य वासनाएं अगर नदी के समान हैं तो काम वासना महासमुद्र के समान है। महासमुद्र को पार करना जैसे कठिन है, उसी प्रकार काम-वासना को पार करना अत्यन्त कठिन है। जो सत्वशाली पुरुष महासमुद्र को पार कर लेते हैं, उनके लिए बड़ी से बड़ी नदी भी तुच्छ-सी है। वे उसे सहज ही पार करते हैं। अतएव वासनाओं पर विजय पाने की इच्छा रखने वाले पुरुषों को सर्वप्रथम और पूर्ण शक्ति के साथ इस वासना को जीतना चाहिए।

मूलः—कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं,
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स।
जं काइयं माणसिअं च किंचि,
तस्संतगं गच्छइ वीयरागो ॥१७॥

छायाः— कामानुगृद्धिप्रभवं खलु दुःखं, सर्वस्य लोकस्य सदेवकस्य।
यत् कायिकं मानसिकं च किञ्चित्, तस्यान्तकं गच्छति वीतरागः ॥१७॥

शब्दार्थ:—देवों सहित सम्पूर्ण लोक के प्राणी मात्र को कामासक्ति से उत्पन्न होने वाला दुःख लगा हुआ है। वीतराग पुरुष शारीरिक और मानसिक समस्त दुःखों का अन्त करते हैं।

भाष्यः—जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, काम-वासना संसार के प्रत्येक प्राणी के हृदय में विद्यमान है। कोई भी संसारी जीव इसके चंगुल से नहीं बच सका है। क्या देवता, क्या मनुष्य और क्या पशु-पक्षी, सभी इस महान् व्याधि से ग्रस्त हैं। सभी काम-वासना से उत्पन्न होने वाली व्याकुलता से बेचैन हैं। वैमानिक देव अप्सराओं के साथ मोह-मुग्ध होकर अब्रह्म का सेवन करते हैं। इसी प्रकार भवन-वासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवता भी विषयों की तृष्णा के दास हैं, विषयभोग की पीड़ा से व्याप्त हैं, अत्यन्त मूर्छित हैं और काम-भोगों का सेवन करते हुए मोहनीय कर्म का बन्ध करते हैं।

चौंसठ हजार सुन्दरी स्त्रियों का स्वामी चक्रवर्त्ती, विशिष्ट पराक्रमशाली होने पर भी विषयों का दास है। वह सम्पूर्ण भरतखण्ड पर आधिपत्य प्राप्त करता है, चौदह अनुपम रत्नों और नौ निधियों का स्वामी है। उसके प्रचण्ड पराक्रम से बड़े बड़े सम्राटों के हृदय कम्पित होते हैं और उसके चरणों में नतमस्तक होते हुए अपने को भाग्यशाली मानते हैं। फिर भी वह 'अबला' के आगे अबल है, काम-वासना का दास है।

इस वासना के कीचड़ में फंसने से जो बचे हैं, वह वीतराग हैं। जिन्होंने भोगों की निस्सारता अपनी विवेक-बुद्धि से जान ली है, भोगों की क्षणभंगुरता और चिरकाल पर्यन्त दुखःदायकता को भलीभांति समझ लिया है, जो आत्मानन्द में मग्न हैं, वे काम-भोगों की ओर दृष्टिपात भी नहीं करते।

प्रत्येक प्राणी दुःख से भयभीत है, दुःख से दूर रहना चाहता है। मनुष्य, देवता आदि से लेकर निकृष्ट श्रेणी के जीवधारी सदैव इसी प्रयत्न में लगे रहते हैं कि उन्हें दुःख की प्राप्ति न हो। किन्तु दुःख के कारण क्या हैं? दुःख का स्वरूप क्या है? दुःख का प्रतीकार किस प्रकार हो सकता है? इन बातों को भलीभांति न समझने से या विपरीत समझने से, यह होता है कि वे उसी मार्ग पर चलते हैं, जो दुःखों की

दारुणता से व्याप्त है और जिस पर चलने से दुःखों का अन्त नहीं होता वरन् वृद्धि होती है। अज्ञानी जीव भ्रमवश जिन्हें दुःख-मुक्ति का कारण समझता है, वह वास्तव में दुःख-वृद्धि के कारण हैं। वह जिसे सुख मानता है वह वास्तव में सुखाभास है। विपरीत उपचार करने से जैसे रोग की वृद्धि होती है, उसी प्रकार दुःख-विनाश के विपरीत उपाय करने से दुःख का विकास हो रहा है। मूढ़ पुरुष संसार के भोगोपभोगों और उनके साधनों को ही सुख रूप माने बैठा है और उन्हीं के भरोसे दुःख से बचने का मनोरथ करता है। इस विपरीत बुद्धि को दूर करने के लिए सूत्रकार ने यहां दुःखों की उत्पत्ति का मूल बताया है—'कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं।' अर्थात् दुःखों के जिस प्रबल प्रवाह में प्राणी बहे जा रहे हैं उनका मूल स्रोत—उद्गम स्थान कामभोग की अभिलाषा है।

दुःखों का उद्गम-स्थान समझ लेने पर उनके निरोध का उपाय सहज ही समझा जा सकता है। काम-भोग की लालसा को अगर त्याग दिया जाय और वीतराग वृत्ति को धारण किया जाय तो समस्त दुःखों का अन्त आ सकता है। इसी लिए सूत्रकार कहते हैं—'तस्संतगं गच्छइ वीयरागो' अर्थात् वीतरागता की वृत्ति से शारीरिक और मानसिक समस्त दुःखों का अन्त हो जाता है। राग से उत्पन्न होने वाले दुःख अराग-भाव से ही नष्ट हो सकते हैं।

सूत्रकार द्वारा उपदिष्ट दुःखों के विनाश का मार्ग ही राजमार्ग है, जिस पर अग्रसर होकर, अनादि काल से, अनन्त आत्माओं ने, अपना एकान्त कल्याण किया है, अपने दुःखों का समूल उन्मूलन किया है और सुख के अक्षय कोष पर आधिपत्य प्राप्त किया है।

मूलः—देवदाणवगंधव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करेंति तं॥१८॥

छाया—देवदानवगन्धर्वाः, यक्षराक्षसकिन्नराः।
ब्रह्मचारिणं नमस्यन्ति, दुष्करं ये कुर्वन्ति तम्॥ १८॥

शब्दार्थः—कठिनाई से आचरण में आने वाले ब्रह्मचर्य को पालन करने वाले ब्रह्मचारी को देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर नमस्कार करते हैं।

भाष्यः—सूत्रकार ने ब्रह्मचर्य पालन करने की महत्ता का यहां दिग्दर्शन कराया है।

पहले यह बतलाया जा चुका है कि देव दानव से लगाकर सभी जीवधारी काम के कीचड़ में फंसे हुए हैं। जो लोग काम-भोगों की तुच्छता को समझ लेते हैं, और उनका त्याग करना चाहते हैं, वे भी मन की चंचलता और इन्द्रियों की अदम्यता के कारण उनका त्याग करने में असमर्थ हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में ब्रह्मचर्य का पालन करना सचमुच ही अत्यन्त दुष्कर है।

मूल:-कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं,
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स।
जं काइयं माणसिअं च किंचि,
तस्संतगं गच्छइ वीयरागो ॥१७॥

छाया:— कामानुगृद्धिप्रभवं खलु दुःखं, सर्वस्य लोकस्य सदेवकस्य।
यत् कायिकं मानसिकं च किञ्चित्, तस्यान्तकं गच्छति वीतरागः ॥१७॥

शब्दार्थ:—देवों सहित सम्पूर्ण लोक के प्राणी मात्र को कामासक्ति से उत्पन्न होने वाला दुःख लगा हुआ है। वीतराग पुरुष शारीरिक और मानसिक समस्त दुःखों का अन्त करते हैं।

भाष्य:—जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, काम-वासना संसार के प्रत्येक प्राणी के हृदय में विद्यमान है। कोई भी संसारी जीव इसके चंगुल से नहीं बच सका है। क्या देवता, क्या मनुष्य और क्या पशु-पक्षी, सभी इस महान् व्याधि से ग्रस्त हैं। सभी काम-वासना से उत्पन्न होने वाली व्याकुलता से बेचैन हैं। वैमानिक देव अप्सराओं के साथ मोह-मुग्ध होकर अब्रह्म का सेवन करते हैं। इसी प्रकार भवन-वासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवता भी विषयों की तृष्णा के दास हैं, विषयभोग की पीड़ा से व्याप्त हैं, अत्यन्त मूर्छित हैं और काम-भोगों का सेवन करते हुए मोहनीय कर्म का बन्ध करते हैं।

चौंसठ हजार सुन्दरी स्त्रियों का स्वामी चक्रवर्त्ती, विशिष्ट पराक्रमशाली होने पर भी विषयों का दास है। वह सम्पूर्ण भरतखण्ड पर आधिपत्य प्राप्त करता है, चौदह अनुपम रत्नों और नौ निधियों का स्वामी है। उसके प्रचण्ड पराक्रम से बड़े बड़े सम्राटों के हृदय कम्पित होते हैं और उसके चरणों में नतमस्तक होते हुए अपने को भाग्यशाली मानते हैं। फिर भी वह 'अबला' के आगे अबल है, काम-वासना का दास है।

इस वासना के कीचड़ में फंसने से जो बचे हैं, वह वीतराग हैं। जिन्होंने भोगों की निस्सारता अपनी विवेक-बुद्धि से जान ली है, भोगों की क्षणभंगुरता और चिरकाल पर्यन्त दुखःदायकता को भलीभांति समझ लिया है, जो आत्मानन्द में मग्न हैं, वे काम-भोगों की ओर दृष्टिपात भी नहीं करते।

प्रत्येक प्राणी दुःख से भयभीत है, दुःख से दूर रहना चाहता है। मनुष्य, देवता आदि से लेकर निकृष्ट श्रेणी के जीवधारी सदैव इसी प्रयत्न में लगे रहते हैं कि उन्हें दुःख की प्राप्ति न हो। किन्तु दुःख के कारण क्या हैं? दुःख का स्वरूप क्या है? दुःख का प्रतीकार किस प्रकार हो सकता है? इन बातों को भलीभांति न समझने से या विपरीत समझने से, यह होता है कि वे उसी मार्ग पर चलते हैं, जो दुःखों की

'ब्रह्मचर्य उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व तथा विनय का मूल है। यम और नियम रूप प्रधान गुणों से युक्त है। हिमवान पर्वत से महान और तेजस्वी है। ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करने से मनुष्य का अन्तःकरण प्रशस्त, गम्भीर और स्थिर हो जाता है। साधुजन ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं। वह मोक्ष का मार्ग है। निर्मल सिद्ध गति का स्थान है, शाश्वत है, अव्याबाध है। जन्म-मरण का निरोध करने वाला है। प्रशस्त है, सौम्य है, सुख रूप है, शिव रूप है, अचल और अक्षय बनाने वाला है मुनिवरों ने, महापुरुषों ने धीर-वीरों ने, धर्मात्माओं ने, धैर्यवानों ने ब्रह्मचर्य का सदा पालन किया है। भव्यजनों ने इसका आचरण किया है। यह शंका रहित है, भय-रहित है, खेद के कारणों से रहित है, पाप की चिकनाहट से रहित है। यह समाधि का स्थान है। ब्रह्मचर्य का भंग होने पर सभी व्रतों का तत्काल भंग हो जाता है। सभी व्रत, विनय, शील तप, नियम, गुण, आदि दही के समान मथ जाते हैं-चूर-चूर हो जाते हैं, बाधित हो जाते हैं पर्वत के शिखर से गिरे हुए पत्थर के समान भ्रष्ट हो जाते हैं, खंडित हो जाते हैं।

'निरतिचार ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला ही सुब्राह्मण है, सुश्रमण है, सुसाधु है। जो ब्रह्मचर्य का शुद्ध पालन करता है वही ऋषि है, वही मुनि है, वही संयमी है, वही भिक्षुक है।'

अध्यात्म-भावना-प्रधान ऋषियों और मुनियों ने ब्रह्मचर्य को आचार में सर्व-श्रेष्ठ स्थान दिया है। इसके अतिरिक्त धर्मभावनाहीन पाश्चात्य देशीय विद्वान् भी इसके असाधारण गुणों से मुग्ध होकर ब्रह्मचर्य का आदर करते हैं और उसकी महिमा का बखान करते हैं। अध्यापक मोण्टेग्जा कहते हैं—

'ब्रह्मचर्य से तत्काल अनेक लाभ होते हैं। ब्रह्मचर्य से तुरन्त ही स्मरण शक्ति स्थिर और संग्राहक बन जाती है, बुद्धि उर्वरा और इच्छा-शक्ति बलवती हो जाती है। मनुष्य के सारे जीवन में ऐसा रूपान्तर हो जाता है कि जिसकी कल्पना भी स्वेच्छा-चारियों को कभी नहीं हो सकती। ब्रह्मचर्य जीवन में भी ऐसा विलक्षण सौन्दर्य और सौरभ भर देता है कि सारा विश्व नये और अद्भुत रंग में रंगा हुआ-सा प्रतीत होता है और वह आनन्द नित्य नया मालूम होता है। एक ओर ब्रह्मचारी नवयुवकों की प्रफुल्लता, चित्त की शान्ति और तेजस्विता, दूसरी ओर इन्द्रियों के दासों की अशांति, अस्थिरता और अस्वस्थता में आकाश पाताल का अन्तर होता है। भला इन्द्रिय-संयम से भी कोई रोग कभी होता सुना गया है? पर इन्द्रियों के असंयम से होने वाले रोगों को कौन नहीं जानता? इन्द्रियों के असंयम से शरीर सड़ जाता है और उससे भी बुरा परिणाम मनुष्य के मन, मस्तिष्क, हृदय और संज्ञा शक्ति पर पड़ता है।'

इन अवतरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मचर्य आत्मिक, मानसिक और नैतिक उन्नतिको अत्यन्त उपयोगी व्रत है। साथ ही शारीरिक आरोग्य और शारीरिक शक्ति के लिए भी उसकी अनिवार्य आवश्यकता है।

मनुष्य जो आहार करता है, उससे सप्त धातुओं का निर्माण होता है अर्थात् आहार का सात धातुओं के रूप में परिवर्त्तन होता है। सर्वप्रथम आहार से रस बनता है; रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से हड्डी, हड्डी से मज्जा और मज्जा से वीर्य की निष्पत्ति होती है। आहार का सार रस, रस का सार रक्त, रक्त का सार मांस आदि आगे की धातुएं हैं। इस क्रम के अनुसार वीर्य समस्त धातुओं का सार है। आहार से वीर्य बनने में लगभग तीस दिन का समय लगता है।

वैज्ञानिकों के कथनानुसार एक मन आहार से एक सेर रक्त बनता है और एक सेर रक्त से सिर्फ दो तोला वीर्य बनता है इस क्रम के अनुसार विचार करने से प्रतीत होगा कि यदि कोई पूर्ण स्वस्थ पुरुष प्रतिदिन एक सेर आहार करे तो चालीस दिनों में उसे सिर्फ दो ही तोला वीर्य की प्राप्ति हो सकेगी।

वीर्य ही शरीर का मुख्य आधार है। शरीर की शक्ति, इन्द्रियों का सामर्थ्य और मन का बल, सभी कुछ वीर्य पर अवलम्बित है और वीर्य एक दुर्लभ वस्तु है। ऐसे उपयोगी और जीवन के लिए अनिवार्य बहुमूल्यां पदार्थ को जो लोग एक क्षण भर की तृप्ति के लिए गंवा देते हैं उनके अज्ञान का कहाँ तक वर्णन किया जाय।

एक बार वीर्य नष्ट करने का अर्थ है—लगभग चालीस दिन की कमाई को धूल में मिला देना, चालीस दिन तक किये हुए आहार को वृथा कर देना और मूल्यवान् जीवन के चालीस दिन कम लेना। यही नहीं जीवन का सामर्थ्य, स्वास्थ्य, शरीर की कान्ति और मानसिक शान्ति, आदि सब वीर्य--नाश से नष्ट हो जाता है। 'मरणं विन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्' अर्थात् वीर्य के धारण करने पर ही जीवन धारण किया जा सकता है और वीर्य के एक बिन्दु का पतन होना मृत्यु के समान है। वीर्य-रक्षा ही सौभाग्य का कारण है, वीर्य--रक्षा से ही विद्या-बुद्धि प्राप्त होती है, वीर्य--रक्षा से ही आत्मा के सामर्थ्य की वृद्धि होती है, वीर्य--रक्षा ही सब प्रकार की उन्नति का मूल--मन्त्र है।

साधारणतया वीर्य--रक्षा को ही ब्रह्मचर्य कहा जाता है, किन्तु वास्तव में ब्रह्मचर्य का अर्थ है समस्त इन्द्रियों का संयम। जब तक समस्त इन्द्रियों पर संयम न रक्खा जाय तब तक स्पर्शनेन्द्रिय संयम रूप ब्रह्मचर्य का पालन नहीं हो सकता। इसी कारण शास्त्रकारों ने ब्रह्मचर्य की नववाड़ों का उल्लेख करते हुए उसमें पौष्टिक आहार, विकारोत्पादक मसाले आदि के भोजन का त्याग करने का उपदेश दिया है। अर्थात् ब्रह्मचर्य पालन के लिए जिह्वा इंद्रिय पर संयम रखना अत्यन्त आवश्यक है। इसी प्रकार स्त्रियों की ओर देखना और उनके कामोत्तेजक गीत आदि सुनने का निषेध करके चक्षु और श्रवण इन्द्रिय के संयम की आवश्यकता प्रदर्शित की है।

ब्रह्मचर्य की महत्ता को अंगीकार करने वाला समाज और विशेषतः आर्यप्रजा भी इसकी ओर पर्याप्त लक्ष्य नहीं दे रही, यह खेद का विषय है। प्राचीन काल में बालक जब विद्याभ्यास के योग्य वय प्राप्त कर लेता था, तब उसे कलाचार्य के समीप विविध कलाओं का अभ्यास करने के लिये भेज दिया जाता था। वहां का

वातावरण अत्यन्त स्वच्छ, सर्वथा विकारहीन, शान्त और सौम्य होता था। बालक पच्चीस वर्ष की अवस्था तक ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ सब प्रकार की विद्या और कला की शिक्षा ग्रहण करता था। इस प्रकार बाल्यकाल में पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने के कारण लोगों का शारीरिक संगठन खूब दृढ़ होता था और वे दीर्घ जीवन प्राप्त करते थे। साथ ही स्वस्थ, बलिष्ठ और विविध प्रकार की शक्तियों से सम्पन्न होते थे। आज वह परम्परा विच्छिन्न हो जाने से बालक विकारमय वातावरण में बाल्यावस्था व्यतीत करते हैं और अनेक अज्ञान माता-पिता तो कोमल वय में ही विवाह करके उनके जीवन के सर्वनाश की सामग्री प्रस्तुत कर देते हैं। युग युगान्तर से ब्रह्मचर्य की महिमा के गीत गाने वाले धर्म प्रधान इस देश में जितनी छोटी उम्र में बालकों का विवाह हो जाता है, वैसा किसी अन्य देश में नहीं!

ब्रह्मचर्य के विषय में अनेक भ्रम जनता में फैले हुए हैं। कोई यह समझता है कि गृहस्थ ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता और कोई-कोई ब्रह्मचर्य की प्रशंसा करते हुए भी उसे असाध्य समझते हैं। इन भ्रमों का निराकरण करने के लिए कुछ पंक्तियां लिखना आवश्यक है।

वीर्य-रक्षा की आवश्यक्ता प्रत्येक प्राणी को है। चाहे वह साधु हो, चाहे गृहस्थ हो। अपनी वासनाओं पर पूर्ण विजय प्राप्त न कर सकने के कारण गृहस्थ पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य न पाल सके तो उसके लिए एक देश ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। पर-स्त्रियों में मातृ-बुद्धि रखना चाहिए। स्वस्त्री में संतुष्ट रहकर तीव्र काम-भोग की अभिलाषा का त्याग करना चाहिए। दिवा ब्रह्मचर्य की आराधना करना चाहिए। काम-वासनावर्द्धक चेष्टाएं नहीं करना चाहिए। पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन का संकल्प करते रहकर यथाशक्ति तैयारी करना चाहिए। राजस और तामस आहार से बचना चाहिए। इस प्रकार संयम के अनुकूल आहार-विहार करते हुए जीवन-पालन करना चाहिए। धर्म-भावना के साथ समय बिताने से काम-वासना को गृहस्थ भी आंशिकरूप में अवश्य जीत सकता है।

जो लोग ब्रह्मचर्य को असाध्य समझते हैं, उन्हें प्राचीन काल के महात्माओं के पवित्र चरित पढ़ना चाहिए। उन्होंने जीवन का जो क्रम बनाया था उस क्रम पर चलने से ब्रह्मचर्य असाध्य नहीं रह सकता। ब्रह्मचर्य को असाध्य मानना आत्मा की शक्ति को अस्वीकार करना है। जो आध्यात्मिक शक्तियों से अनभिज्ञ हैं और प्रबल विकार के शिकार हैं वही विकार--विजय को असंभव समझते हैं।

ब्रह्मचर्य—साधना के लिए और उसकी रक्षा के लिए इस अध्याय की आदि में ही नव वाड़ों का उल्लेख किया गया है। उनके अतिरिक्त थोड़ी—सी बातें यहां दी जाती हैं, जो ब्रह्मचर्य की साधना के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। वे यह हैं—

(१) पवित्र संकल्प— अर्थात् भावना की पवित्रता। भावना में अद्भुत शक्ति है। भावना अन्तःसंसार में और बाह्य-जगत् में अनेक प्रकार के कार्य सदा करती रहती है। उसका शरीर और वचन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। भावना में अपूर्व निर्माण

करने का सामर्थ्य है। जो मनुष्य अपनी भावना को पवित्र बनाता है वह पवित्र बन जाता है और जिसेकी भावना निकृष्ट होती है वह स्वयं निकृष्ट बन जाता है। हमारे समस्त कार्य-कलाप भावना के ही मूर्त रूप होते हैं। अतएव जो मनुष्य जैसा बनना चाहे उसे उसी प्रकार का संकल्प दृढ़ करना चाहिए। 'मैं ब्रह्मचारी हूं' 'ब्रह्मचर्य पालन मेरा पवित्रतम कर्त्तव्य है', 'जीवन भले ही नष्ट हो जाय पर मेरा व्रत खंडित नहीं होगा' 'मैं अपना सर्वस्व ठुकरा कर भी ब्रह्मचर्य का ही पालन करूंगा' 'संसार की कोई भी प्रचंड शक्ति मुझे अपने व्रत से च्युत नहीं कर सकती', मेरी संकल्प-शक्ति के सामने जगत् नहीं ठहर सकता, 'मेरा निश्चय सुमेरु की तरह अटल और अकंप ही है और रहेगा', 'मेरे संकल्प में अपूर्व और सर्वोपरि क्षमता है' 'जगत् के मलिन एवं निकृष्ट प्रलोभन मुझे कदापि आकर्षित नहीं कर सकते' इत्यादि रूप से अपने संकल्प में दृढ़ता लाने से चित्त में स्थिरता उत्पन्न होती है और आत्मा में प्रलोभनों पर विजय पाने की शक्ति जागृत होती है। अतएव ब्रह्मचारी पुरुष को अपना संकल्प सुदृढ़ बनाना चाहिए।

(२) निर्मल दृष्टि—जैसे माता और बहिन पर नजर पड़ते ही चित्त में एक प्रकार की श्रद्धापूर्ण सात्विकता का उदय होता है और विकारों को कोई स्थान नहीं रहता, यह दृष्टि की निर्मलता का प्रभाव है। यह दृष्टि-नैर्मल्य स्त्री मात्र में जगाने की सदा चेष्टा करना चाहिए। सर्व प्रथम तो स्त्री की ओर आंख उठाकर देखना ही नहीं चाहिए। अगर अचानक दृष्टि उस ओर चली जाय तो तत्काल उसे हटा लेना चाहिए। दृष्टि हटा लेने पर भी मन से वह न निकले तो उसमें मातृत्व का आरोप करना चाहिए। अपनी माता या बहिन के साथ उसकी तुलना करना चाहिए। जब कभी किसी स्त्री से बातचीत करने का अनिवार्य अवसर आ जाय तो उसे माता या बहन कहकर संबोधन करना चाहिए।

(३) सत्संगति—सत्पुरुषों की संगति करने से अज्ञान, चित्तविकार आदि दोष दूर होते हैं। अनेक गुणों की प्राप्ति होती है। कहा भी है—

सत्संगत्वे निःसंगत्वं, निःसंगत्वे निर्मोहत्वम्।
निर्मोहत्वे निश्चलतत्त्वं, निश्चलतत्त्वे जीवन्मुक्तः॥

अर्थात्—संतजनों की संगति से मनुष्य निःसंग (अनासक्त) बनता है, निःसंग होने से निर्मोह हो जाता है, निर्मोह होने से नित्य तत्त्व अर्थात् आत्मा की उपलब्धि होती है और आत्माकी उपलब्धि होने पर जीवन्मुक्त हो जाता है। जीवित रहते हुए भी शरीर की विद्यमानता में भी अपर मोक्ष-आर्हन्त्य दशा-प्राप्त हो जाती है।

वास्तव में संत पुरुषों का समागम एकान्त हित का कारण है और आत्म-श्रेय का प्रथम सोपान है। संत पुरुष के हृदय की पवित्रता का प्रभाव उनके समीपवर्त्तियों पर पड़ता है और नीच प्राणी भी पवित्रता प्राप्त कर सकता है।

(४) सत्साहित्य का अभ्यास—संत पुरुष जीवित साहित्य हैं। पर उनका योग जब न मिले तो उनकी पवित्र भावनाओं का जिस साहित्य में चित्रण किया गया है

उस साहित्य का, एकाग्र मन से, शान्त और एकान्त स्थान में बैठकर अध्ययन करना चाहिए। ऐसा करने से ज्ञान की वृद्धि होती है, भावना में प्रबलता आती है, हृदय स्वच्छ होता है और नवीन पावन विचारों से अनुपम आनन्द की उपलब्धि होती है।

साहित्य के अध्ययन में ब्रह्मचारी महापुरुषों के जीवन-चरित अवश्य पढ़ने चाहिए। उनसे ब्रह्मचारी को बड़ा सहारा, बड़ा बल मिलता है। उन्होंने ब्रह्मचर्य की साधना के लिए जिन उपायों का अवलम्बन किया था उनका हमें ज्ञान होता है। विपत्ति-काल में उन्होंने चट्टान की तरह दृढ़ता रखकर अपने पवित्र प्रण को, प्राणों की परवाह न करके निभाया, यह बात हमें भी शक्ति और दृढ़ता प्रदान करती है, ब्रह्मचारीवर्य्य सुदर्शन का चरित पढ़कर कौन प्रफुल्लित नहीं होता ? उस महात्मा की प्रणवीरता किसे साहस नहीं प्रदान करती ? जब हम प्राणों की मोहममता का त्याग कर सुदर्शन को ब्रह्मचर्य पर स्थिर रहते देखते हैं तब हृदय में साहस की वृद्धि होती है और ब्रह्मचर्य--रक्षा का प्रबल भाव उत्पन्न होता है।

अनेक पुरुष काम-राग-वर्द्धक पुस्तकें पढ़कर अपना समय ही व्यर्थ नहीं खोते, वरन् जीवन का भी सत्यानाश करते हैं। शृंगार रस से भरे हुए उपन्यास, कहानी, काव्य आदि का पठन करने से सोई हुई काम-वासना जाग उठती है और वह कभी--कभी पुरुष को लाचार कर देती है। आजकल के साहित्य में कुछ उच्छृंखल लेखक अनेक प्रकार की गंदगी इधर-उधर से खोज कर भर रहे हैं। उस साहित्य का पठन करने से पाठक का नैतिक पतन होते देर नहीं लगती। अतएव सात्विक साहित्य का ही अध्ययन करना चाहिए।

(५) सिनेमा और नाटक देखने का विवेक—सिनेमा का अब अत्यधिक प्रचार बढ़ रहा है। सिनेमा के व्यवसायी अपने सामाजिक और नैतिक उत्तरदायित्व को विस्मरण करके, व्यक्तिगत स्वार्थ से प्रेरित होकर अधिकांश चित्र कुरुचिपूर्ण-कामोत्तेजक ही तैयार करते हैं। उनमें अनेक प्रकार की विकारकारक भावभंगी का, कायिक कुचेष्टाओं का, राजस प्रेम का और अश्लील नाच-गान का प्रदर्शन होता है। यह प्रदर्शन जनता की नैतिक भावना पर कुठार--प्रहार कर रहा है। कोमल चित्त वाले बालकों और बालिकाओं को भी यह चित्र दिखाए जाते हैं। इससे उनका मन आरंभिक अवस्था में ही अत्यन्त दूषित हो जाता है। आश्चर्य है कि लोग बिना सोचे-समझे, निर्लज्ज होकर ऐसे चित्र स्वयं देखते और अपनी संतान को दिखलाते हैं। किन्तु ऐसे चित्र आंखों के मार्ग से अन्तःकरण में जहर पहुंचाते हैं और वह जहर नैतिकता एवं धार्मिकता का समूल विनाश किये बिना नहीं रह सकता। राज्य-शासन यदि ऐसे चित्रों के प्रदर्शन की मनाई नहीं करता तो वह प्रजा के प्रति अपना कर्त्तव्य पालन नहीं करता। वह प्रजा के विनाश का प्रकारान्तर से अनुमोदन करता है। प्रजा अपने सम्मिलित बल से यदि ऐसे चित्रों का बहिष्कार नहीं करती तो वह अपने और अपनी संतान के सर्वनाश का समर्थन करती है।

राजा या प्रजा जब तक इस घोर अभिशाप को दूर करने का प्रयत्न न करें तब

तक विवेकी व्यक्तियों को अश्लील चित्र-सिनेमा देखने में बहुत विवेक रखना चाहिए और नैतिकता से हीन, अश्लीलतापूर्ण, व्यभिचारवर्द्धक सिनेमा न स्वयं देखना चाहिए, न अपनी संतान को दिखलाना चाहिए। ब्रह्मचर्य--साधना में यह भयंकर अन्तराय है।

(६) व्यसन--त्याग - आजकल अनेक दुर्व्यसन लोगों में घर बनाये हुए हैं। सौ व्यक्तियों में से पांच भी ऐसे व्यक्ति मिलना कठिन है जो किसी न किसी दुर्व्यसन से ग्रस्त न हों। कोई तमाखू पीता है, कोई खाता है, कोई नाक के द्वारा उसका सेवन करता है। कोई बीड़ी के रूप में, कोई सिगरेट के रूप में, कोई किसी रूप में तमाखू की आराधना करता है। कोई गांजा पीता है, कोई अफीम खाता है, कोई भंग या मदिरा का पान करता है। काफी का काफी से अधिक प्रचार बढ़ गया है और चाय की चाह भी अत्यधिक फैल गई है। तात्पर्य यह कि इन सब विषाक्त वस्तुओं का विभिन्न रूपों में सेवन किया जा रहा है और इस कारण ब्रह्मचर्य की आराधना में बड़ी बाधा पड़ रही है।

तमाखू के सेवन से वीर्य उत्तेजित होकर पतला पड़ जाता है, पुरुषत्व शक्ति क्षीण होती है, पित्त विकृत हो जाता है, नेत्रज्योति मंद होती है, मस्तिष्क और छाती कमजोर हो जाती है, खांसी दमा और कफ की वृद्धि होती है। इसी प्रकार चाय, काफी आदि समस्त नशैली वस्तुओं का सेवन करने से स्वास्थ्य के साथ ब्रह्मचर्य को हानि पहुंचती है। अतएव इनका त्याग करना आवश्यक है।

ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह न केवल खान-पान के सम्बन्ध में, वरन् अपने प्रत्येक व्यवहार में खूब सतर्क और विवेकवान् हो और विरोधी व्यवहारों से सर्वदा बचता रहे। ऐसा करने पर ही ब्रह्मचर्य व्रत स्थिर रह सकता है।

ब्रह्मचर्य व्रत का यथाविधि अनुष्ठान करने वाले महात्मा में एक प्रकार का विचित्र तेज आ जाता है। उसमें ऐसी शक्तियां आविर्भूत होती हैं जिनकी कल्पना साधारण लोग नहीं कर सकते। ब्रह्मचर्य के प्रताप से सीता के लिए अग्नि कमल बन गई थी, सुदर्शन के लिए शूली ने सिंहासन का रूप धारण कर लिया था। यह सब ब्रह्मचर्य का अलौकिक प्रभाव है। विषय-वासना के कीट, नास्तिक और बहिरात्मा लोग जिस महत्ता को कल्पना समझते हैं वही महत्ता ब्रह्मचारी प्राप्त करता है। यहां शास्त्रकार ने बतलाया है कि देव, दानव, आदि ब्रह्मचारी के सामने नम्र हो जाते हैं। उनके चरणों में नमस्कार करते हैं। सो यह प्रभाव उपलक्षण समझना चाहिए। ब्रह्मचारी पुरुष अक्षय और अनन्त सुख प्राप्त करता है। इस लोक में उसे अद्भुत शांति, संतोष, निराकुलता और स्वस्थता प्राप्त होती है। साथ ही वह आवा-गमन के चक्र से छूट जाता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत उभयलोक में हितकारी है, सुखकारी है, एकान्त कल्याणकारी है। प्रियकारी है। वही नर और नारी का परम आभूषण है। उसके बिना अन्य आभूषण दूषण रूप हैं। व्यर्थ हैं। ब्रह्मचर्य ही जीवन

हैं। वनस्पति काय को भूत कहते हैं। पंचेन्द्रिय प्राणियों को जीव कहा गया है। पृथ्वी, अप, तेज और वायु काय के जीव सत्व कहलाते हैं। इस सूक्ष्म अर्थ भेद की यहां विवक्षा नहीं की गई है अथवा जीव शब्द उपलक्षण है और उससे प्राण, भूत और सत्व का भी ग्रहण करना चाहिए। इसी प्रकार "प्राणीवध" शब्द के लिए समझना चाहिए।

निर्ग्रन्थ मुनि त्रस और स्थावर-सभी जीवों की मन, वचन, काय से, स्वयं हिंसा नहीं करते, दूसरों से नहीं कराते और हिंसक का अनुमोदन नहीं करते। वे जीवन-पर्यन्त के लिए इस महान् व्रत को अंगीकार करते हैं।

अहिंसा संबंधी विवेचन पहले किया जा चुका है। अतएव यहां पुनः विस्तार नहीं किया जाता।

मूलः—मुसावाओ य लोगम्मि, सव्वसाहूहि गरिहिओ।
अविस्सासो य भूयाणं, तम्हा मोसं विवज्जए ॥२॥

छायाः—मृषावादश्च लोके सर्वसाधुभिर्गर्हितः।
अविश्वासश्च भूतानां, तस्मान्मृषां विवर्जयेत् ॥२॥

शब्दार्थः—हिंसा के अतिरिक्त मृषावाद (असत्य भाषण) भी लोक में समस्त सत्पुरुषों द्वारा निन्दनीय है और मृषावाद से अन्य प्राणियों को अविश्वास होता है, इसलिए मृषावाद का भी निर्ग्रन्थ पूर्ण रूप से त्याग करें।

भाष्यः—अहिंसा महाव्रत का निरूपण करने के पश्चात् यहां द्वितीय सत्यमहाव्रत का उपदेश किया गया है।

मूल में 'य' अव्यय पद पूर्वोक्त अहिंसा का समुच्चय करने के लिए है। उससे यह तात्पर्य निकलता है कि जैसे हिंसा लोक में सत्पुरुषों द्वारा निन्दनीय है, उसी प्रकार असत्य भाषण भी निन्दनीय है। असत्य भाषण अविश्वास का जनक भी है। अर्थात् जो व्यक्ति असत्य भाषण करता है उसकी बात पर कोई विश्वास नहीं करता। असत्य-भाषणशील व्यक्ति का सत्यभाषण भी अविश्वास के कारण असत्य ही समझा जाता है।

असत्यभाषण की सत्पुरुषों ने निन्दा की है। प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा गया है:—

जो लोग गुण-गौरव से रहित तथा चपल होते हैं वे असत्य भाषण करते हैं। असत्य भाषण भयंकर है, दुःखकर है, अयशकर है, वैर-वर्धक है, राग-द्वेष और संक्लेश का जनक है, शुभ फल से शून्य है, मायाचार और अविश्वास को उत्पन्न करता है। नीच लोग इसका आचरण करते हैं। यह अप्रशस्त है। श्रेष्ठ साधुजनों द्वारा निन्दनीय है। दूसरों को पीड़ा पहुंचाता है। परम कृष्णलेश्या से युक्त है। दुर्गति-गमन कराता है। पुनः पुनः जन्म-मरण उत्पन्न करता है, दारुण फल देने वाला है।

मृषावाद के फल का निरूपण करते हुए बतलाया गया है कि—

मृषावाद की आदत वाले लोग पुनर्भव रूप अंधकार में भ्रमण करते हैं, दुर्गति में वास करते हैं। वही लोग इस जन्म में वेहाल, बुरा फल भोगने वाले, पराधीन, निर्धन, भोगोपभोग की सामग्री से हीन और दुःखी देखे जाते हैं। मृषावादियों के शरीर फूट निकलते हैं। वे वीभत्स और कुरूप होते हैं। उनके शरीर का स्पर्श कठोर होता है। उन्हें किसी जगह चैन नहीं मिलती। उनका शरीर निस्सार, निष्कान्ति और उज्ज्वलता से शून्य होता है। उनकी वाणी अस्फुट और अमान्य होती है। वे असंस्कृत असभ्य और अनादरणीय होते हैं। दुर्गंध युक्त शरीर वाले, असंज्ञी, तथा अनिष्ट अप्रिय एवं काक के समान स्वर वाले होते हैं। असत्यवादी जड़, बहरा, अंधा और गूंगा होता है। उसकी इन्द्रियां बुरी और विकारवाली होती हैं। वे स्वयं नीच होते हैं और उन्हें नीच लोगों की सेवा करनी पड़ती है। उन्हें लोक में निन्दनीय समझा जाता है और दूसरों के टुकड़ों पर निर्वाह करना पड़ता है। वे अपमान सहते हैं। दूसरे लोग उनकी चुगली करते हैं। उनके प्रेमियों के साथ प्रेम का नाता तुड़वा दिया जाता है। वे गुरुजनों, बन्धुजनों और स्वजनों के अपशब्द श्रवण करते हैं और विविध प्रकार के अपवाद (आरोप) सहन करते हैं। उन्हें बुरा भोजन, बुरे वस्त्र मिलते हैं। उन्हें बुरी वस्ती में वास करना पड़ता है। असत्यवादी लोग अगले भव में इस प्रकार अनेक क्लेश पाते हैं। उन्हें मानसिक शान्ति की प्राप्ति नहीं होती। वर्त्तमान भव और आगामी भव में घोर दुःख, महान् भय, प्रचुर-प्रगाढ़ दारुण और कठोर वेदना भोगे विना हजारों वर्षों में भी वे असत्यभाषण के फल से छुटकारा नहीं पा सकते और न मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं।

शास्त्रकारों ने असत्य भाषण का यह भयंकर परिणाम प्रकट किया है इस दारुण परिणाम का विचार करके प्रत्येक विवेकी को असत्य का त्याग करना चाहिए। असत्य का त्याग करके सत्य वचन का ही सदा प्रयोग करना चाहिए।

सत्य वचन निर्दोष, पवित्र, शिव, सुजात और सुभाषित रूप हैं। उत्तम पुरुष सत्य का ही सेवन करते हैं। सत्य के प्रभाव से विविध प्रकार की विद्याएं सिद्ध होती हैं। स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है।

सत्य सरल है, अकुटिल है, वास्तविक अर्थ का प्रतिपादक है, प्रयोजन से विशुद्ध है, उद्योतकारी है, अविसंवादी है, मधुर है, प्रत्यक्ष देवता के समान आश्चर्यजनक कार्यों का साधक है।

महासमुद्र के मध्य में स्थित भी प्राणी सत्य के प्रभाव से डूबता नहीं है। सत्य के प्रभाव से अग्नि भी जलाने में असमर्थ हो जाती है। सत्यवादी पुरुष को उबलता हुआ तेल, रांगा, शीशा या लोहा भी नहीं जला सकता। पर्वत से पटक देने पर भी सत्यवादी का वाल वांका नहीं होता। विकराल युद्ध में, शत्रुओं से चारों ओर घिर जाने पर भी सत्यनिष्ठ पुरुष सही-सलामत निकल आता है। सत्यवादी की देवता सहायता करते हैं। सत्य साक्षात् भगवान् है।

सत्य लोक में सारभूत है। समुद्र से भी अधिक गंभीर है, सुमेरु से भी अधिक निश्चल है, चन्द्रमण्डल से भी अधिक सौम्य है, सूर्यमण्डल से भी अधिक दीप्तिमान है, शरद ऋतु के आकाश से भी अधिक निर्मल है और गंधमादन पर्वत से भी अधिक सुरभिमय है। समस्त मंत्र योग-जप-तप सत्य में प्रतिष्ठित हैं। सत्य के बिना इनकी सिद्धि नहीं होती। इस प्रकार सत्य की अद्भुत महिमा है। सत्य का स्वरूप समझ कर सदा सत्य का ही सेवन करना चाहिए।

प्रमाद और कषाय के वश होकर अन्यथा रूप अथवा स्व-पर हानि करने वाले वचनों का प्रयोग करना असत्य भाषण कहलाता है। असत्य मुख्य रूप से चार प्रकार का है— (१) सत् को असत् कहना (२) असत् को सत् कहना (३) अन्यथा स्थित को अन्यथा रूप कहना और (४) सावद्य कथन करना।

(१) विद्यमान पदार्थ का निषेध करना प्रथम प्रकार का असत्य है। जैसे आत्मा का अभाव बतलाना। स्वर्ग, नरक, परलोक और मोक्ष का अभाव कहना।

(२) जो वस्तु जैसी नहीं है उसका अस्तित्व वचन द्वारा प्रकट करना दूसरे प्रकार का असत्य है। जैसे ईश्वर में जगत् को निर्माण करने का स्वभाव न होने पर भी उस स्वभाव का सद्भाव कहना।

(३) वस्तु का स्वरूप वास्तव में अन्य प्रकार का है किन्तु उसे किसी अन्य रूप ही कहना। जैसे आत्मा शरीर-परिमित हैं किन्तु उसे सर्वव्यापक कहना या अणु-परिमाण वाला कहना। वस्तु मात्र अनेकान्तात्मक है पर एकान्त रूप कथन करना।

(४) चतुर्थ सावद्य वचन के तीन भेद हैं - गर्हित, सावद्य और अप्रिय वचन। दुष्टतापूर्ण वचन बोलना, हास्य युक्त वचन बोलना और प्रलापमय कथन करना गर्हित वचन कहलाता है। छेदन, भेदन, वध-बन्धन, व्यापार, चोरी आदि के विधान करने वाले वचन सावद्य वचन कहलाते हैं। अन्य प्राणियों को अप्रीति उपजाने वाले, भय का संचार करने वाले, खेद उत्पन्न करने वाले, वैर शोक और कलह करने वाले, तथा और किसी प्रकार संताप करने वाले वचन अप्रिय वचन कहलाते हैं। यह तीनों प्रकार के असत्य तथा पूर्वोक्त तीनों असत्य साधु को सर्वथा त्याज्य हैं।

असत्य भाषण के सर्वथा त्यागी मुनिराज हेयोपादेय का उपदेश करते हैं, उनके पापनिंदक वचन किसी श्रोता को अप्रिय भी लग सकते हैं, मांस-मदिरा आदि घृणित वस्तुओं के त्याग का उपदेश देने से कसाई, कलार, आदि को कष्ट पहुंचता है, ब्रह्मचर्य के उपदेश से स्वार्थ में बाधा पहुंचने के कारण वेश्या को बुरा लगता है, इस प्रकार अनेक जीवों को मुनिराज का हितोपदेश अनिष्ट प्रतीत होता है, फिर भी उन्हें असत्य भाषण का दोष नहीं लगता है, क्योंकि उनका भाषण कषाय या प्रमाद से प्रेरित होकर नहीं है।

तात्पर्य यह है कि जो भाषण कषाय से प्रेरित होकर किया जाता है और जो हिंसाकारक या असत् पदार्थ की प्ररूपणा करता है वह असत्य कहलाता है। मुनि-

राज सब प्रकार के असत्य का परिहार करके सत्य, न्याय, हितकारी, प्रियकारी और परिमित वचन बोलते हैं।

सत्यव्रत की रक्षा के लिए शास्त्रों में पांच भावनाएं बतलाई गई हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) विना विचारे, उतावला होकर, अवसर के प्रतिकूल वचन नहीं बोलना चाहिए। ऐसा बिना सोचे-समझे बोलने से कभी असत्य या सावद्य भाषण हो सकता है।

(२) क्रोध का सेवन नहीं करना चाहिए। क्रोध के आवेश में मनुष्य को उचित अनुचित, सत्-असत् का भान नहीं रहता। क्रुध मनुष्य कठोर वचन बोलता है, सत्य का हनन करता है, निन्दा का पात्र बनता है। क्रोध से अभिभूत व्यक्ति अपनी मर्यादा को भी भूल जाता है। अतः सत्य का सेवन करने के लिए क्रोध का त्याग अवश्य करना चाहिए।

(३) लोभ का त्याग करना चाहिए। लोभी मनुष्य धन आदि के लिए असत्य भाषण करता है, कीर्ति के वश असत्य भाषण करता है। भोजन-पान, वैभव, शय्या, संस्तारक, वस्त्र, पात्र, कम्बल आदि पदार्थों के लिए भी असत्य भाषण करता है। लालची व्यक्ति सैकड़ों कारणों से असत्य का पात्र बन जाता है। अतएव सत्यव्रती को लोभ का त्याग करना चाहिए।

(४) भयभीत नहीं होना चाहिए। भय, सत्य का संहार कर डालता है। जो निर्भय नहीं है वह शरीर-सुख के लिए, सम्पत्ति नष्ट होने के भय से, दंड के भय से असत्य भाषण करने लगता है।

(५) सत्यवादी को हँसी-मस्करी नहीं करनी चाहिए। हंसोड़ असत्य और अशोभन वचन बोलते हैं। हास्य अपमान का जनक है और उस से परनिन्दा और पर-पीड़ा हो जाती है। हसी के समय उचित-अनुचित का भेदज्ञान नहीं रहता। अतएव सत्यवादी को हास्यशील नहीं होना चाहिए।

असत्य भाषण के इन पांच कारणों का त्याग करने से असत्य भाषण का अवसर नहीं आता। इसी कारण शास्त्रकारों ने इन्हें सत्य व्रत की भावना कहा है।

मूलः—चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं।
दंतसोहणमेत्तं पि, उग्गहंसि अजाइया ॥ ३ ॥

छाया—चित्तवन्तमचित्तं वा, अल्पं वा यदि वा वहु।
दन्तशोधनमात्रमपि, अवग्रहमयाचित्वा ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—अल्प या वहुत, सचेतन अथवा अचेतन, यहां तक कि दांत साफ करने का तिनका भी बिना याचना के ग्रहण नहीं करते हैं।

का परम साध्य है। उसके बिना जीवन अनुपयोगी है।

जिन्होंने सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किया, वे महापुरुप अत्यन्त धन्य हैं, माननीय हैं, वन्दनीय हैं। जो एकदेश ब्रह्मचर्य पालते हैं वे भी धन्य हैं। किसी कवि ने कहा है—'परती लख जे धरती निरखें धनि हैं धनि हैं धनि हैं नर ते।' अर्थात् परस्त्री पर दृष्टि पड़ते ही जो पृथ्वी पर—नीचे की ओर देखने लगते हैं, वे पुरुप धन्य हैं, धन्य हैं धन्य हैं।'

ब्रह्मचर्य की प्रशंसा करते हुए उचित ही कहा है—

> मेरू गरिट्ठो जह पव्वयाणं, एरावणो सारबलो गयाणं।
> सिहो बलिट्ठो जह सावयाणं, तहेव सीलं पवर वयाणं॥

जैसे समस्त पर्वतों में मेरु बड़ा है, समस्त हस्तियों में ऐरावत बलिष्ट है, वन्य पशुओं में सिंह बलवान् है, उसी प्रकार समस्त व्रतों में ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ व्रत है।

इस व्रत के आधार पर ही अन्य व्रत टिकते हैं। जो ब्रह्मचर्य व्रत से च्युत हो जाता है वह अहिंसा, सत्य आदि व्रतों से भी भ्रष्ट हुए बिना नहीं रहता। अतएव ब्रह्मचर्य के महत्व को समझो, उसकी उपयोगिता का ज्ञान करो, उसकी विधिपूर्वक आराधना करो। यही निश्रेयस का मार्ग है, मुक्ति का द्वार है, आध्यात्मिक-विकास का साधन है और समस्त सुखों का भंडार है।

निर्ग्रन्थ-प्रवचन-आठवां अध्याय समाप्त

॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

॥ नववां अध्याय ॥

—: ——— :—

साधु धर्म-निरूपण

श्री भगवान्-उवाच—

मूलः—सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥ १ ॥

छायाः—सर्वे जीवा अपि इच्छन्ति, जीवितुं न मर्तुम्।
तस्मात् प्राणिवधं घोरं, निर्ग्रन्था वर्जयन्ति तम् ॥ १ ॥

शब्दार्थः—हे इन्द्रभूति! संसार के सब जीव जीवन की इच्छा करते हैं, मरने की इच्छा कोई नहीं करता। अतएव निर्ग्रन्थ साधु घोर जीव-वध का त्याग करते हैं।

भाष्य—अणुव्रतों का पालन करने के पश्चात् और ब्रह्मचर्य की आराधना करने पर साधु पद प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त हो जाती है। अतएव सातवें अध्याय में अणुव्रत तथा उनके पालन में सहायक आचार का और आठवें अध्याय में ब्रह्मचर्य का निरूपण करने के अनन्तर इस अध्याय में साधु-धर्म की प्ररूपणा की जाती है।

साधु-धर्म में पञ्च महाव्रतों का सर्वप्रथम और सर्वोपरि स्थान है। यह महाव्रत इतने व्यापक और विशाल अर्थ से परिपूर्ण हैं कि समस्त मुनि-आचार का इन्हीं में समावेश हो जाता है। इसी कारण इन्हें साधु के मूल गुण कहते हैं। जिनागम में विस्तारपूर्वक इनकी विवेचना की गई है। उसी का संक्षिप्त अंश यहां लिखा जाता है।

जैसे समस्त आचार में पांच महाव्रत मुख्य हैं, शेष आचार इन्हीं व्रतों का विस्तार है, उसी प्रकार पांच महाव्रतों में अहिंसा महाव्रत मुख्य है और शेष व्रत उसके विस्तार हैं। जहां अहिंसा की पूर्ण रूप से प्रतिष्ठा हो जाती है वहां असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य और परिग्रह समीप भी नहीं फटक सकते। पूर्ण अहिंसक असत्य का सेवन कर ही नहीं सकता, इसी प्रकार अन्य पापाचरण की भी उससे संभावना नहीं की जा सकती। इसी कारण महाव्रतों में अहिंसा का आद्य स्थान है। यहां अध्याय की आदि में भी सर्वप्रथम अहिंसा का ही कथन किया गया है।

निर्ग्रन्थ अर्थात् बाह्य और आन्तरिक परिग्रह से मुक्त मुनि। अथवा जो अनादि-कालीन राग-द्वेष की गांठ का भेदन कर चुके हैं, उन्हें निर्ग्रन्थ कहते हैं। निर्ग्रन्थ शब्द की व्याख्या प्रथम अध्याय में की गई है।

निर्ग्रन्थ-मुनि प्राणी-वध का सर्वथा त्याग करते हैं, क्योंकि वह घोर है—रौद्र रूप है। वह घोर इसलिए है कि प्रत्येक प्राणी जीवित रहने का अभिलाषी है। प्रत्येक जिन्दा रहना चाहता है। कोई भी प्राणी मृत्यु की इच्छा नहीं करता।

जब प्रत्येक व्यक्ति जीवित रहना चाहता है, तो उसे जीवित न रहने देना उस के प्रति घोर अन्याय है। जब कोई भी प्राणी मरना नहीं चाहता तो बलात्कार से उसे मौत के मुंह में ढकेलना भी उसके प्रति तीव्र अत्याचार है।

संसार अनादिकाल से विद्यमान है। इस भूमि का निर्माण किसी व्यक्ति ने नहीं किया है। समस्त भूमण्डल और भूमण्डल पर निसर्ग से उत्पन्न होने वाली समस्त वस्तुएं सर्व साधारण की सम्पत्ति हैं। उन पर किसी एक या अनेक व्यक्तियों का आधिपत्य होना अप्राकृतिक है। अगर वह आधिपत्य अन्य प्राणीवर्ग के जीवन-- निर्वाह में या निवास में बाधा डालता है, तब वह और पाप का रूप धारण कर लेता है।

तात्पर्य यह है कि जगत् जीव मात्र का निवास-स्थान है और उसमें उत्पन्न होने वाले समस्त साधनों पर जीव मात्र का समान अधिकार है। जैसे एक पिता के चार पुत्रों का पिता की सम्पत्ति पर समान अधिकार होता है, उसमें बड़े-छोटे, सबल-निर्बल आदि के भेद से कोई विषमता नहीं आती, उसी प्रकार प्राणी मात्र को जगत् के पदार्थों पर समान अधिकार प्राप्त है। सबल होने के कारण किसी को अधिक और निर्बल होने से किसी को न्यून अधिकार नहीं है।

अगर प्राणी न्याय नीति को आधार मानकर चले तो उसे इस सहज और सुसंगत सिद्धान्त का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। इस नैतिक मर्यादा में स्वाभाविकता और सुव्यवस्था का मूल है।

मगर नीति की यह मर्यादा स्वार्थ से प्रेरित हो कर प्राणी ने भंग कर दी है। एक व्यक्ति स्वयं जीवित रहना चाहता है, पर दूसरे के जीवित रहने का अधिकार स्वीकार नहीं करना चाहता। एक समाज अपना अस्तित्व चाहता है किन्तु दूसरे समाज का अस्तित्व नहीं चाहता। एक राष्ट्र सुख और शांति के साथ अपनी सत्ता स्थापित रखना चाहता है, पर दूसरे राष्ट्र की सत्ता की उपेक्षा करता है।

इतना ही होता तो गनीमत थी। एक व्यक्ति, समाज या राष्ट्र अगर दूसरे व्यक्ति, समाज या राष्ट्र का सहायक न होता, उसके प्रति उदासीन रहता तो भी खैर थी। पर दुनिया एक कदम आगे बढ़ गई है। एक व्यक्ति दूसरे के अधिकार को अस्वीकार करके ही संतुष्ट नहीं है, पर उसके अधिकार को हड़प कर, उसका हिस्सा स्वयं हस्तगत करके, उसके जीवन का भोग लेकर जीवित रहना चाहता है। इसी प्रकार एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का भाग स्वयं अधिकृत करना चाहता है, उसके जीवन को विपद् में डालकर जीवित रहना चाहता है। यही नहीं उनके रक्त और मांस से अपना भंडार भरने की चिन्ता में संलग्न है।

स्वार्थ की मात्रा यहां तक भी सीमित नहीं है। मनुष्य इतना अधिक क्रूर बन गया है कि वह अन्य प्राणियों की हिंसा करके, उनके जीवन का अन्त करके, उनके शरीर से अपने पेट की पूर्ति करता है। इस क्रूरता के परिणाम स्वरूप 'जीवो जीवस्य जीवनम्' की लोकोक्ति प्रचलित हो गई है। इस लोकोक्ति का अर्थ यह होना चाहिए था कि एक जीव दूसरे जीव के जीवन का अत्यन्त सहायक है अर्थात् प्रत्येक प्राणी दूसरे सब प्राणियों के जीवन-निर्वाह में कारणभूत है। पर ऐसा न होकर जीवन का अर्थ भक्ष्य' समझा जाता है और लोग कहते हैं एक जीव दूसरे का भक्ष्य है!

सूत्रकार ने अहिंसा महाव्रत का स्वरूप समझाते हुए यहां अत्यन्त सुगम और सीधी युक्ति बताई है। प्राणी-बध घोर है, क्योंकि कोई भी प्राणी अपने बध की अभिलाषा नहीं करता। जो लोग इस युक्ति का महत्व स्वीकार नहीं करते उन्हें आत्म-निरीक्षण करना चाहिए। यदि दूसरा व्यक्ति उनका बध करे तो क्या उन्हें इष्ट होगा? नहीं, तो अन्य प्राणियों को भी वह इष्ट नहीं है। अतएव उनका बध करना भी पाप है, घोर है।

जैसे मनुष्य को जीवन प्रिय है, उसे जीवित रहने का अधिकार है, उसी प्रकार पशुओं को, पक्षियों को, कीटों-पतंगों को, वृक्ष लता आदि समस्त जीवों को अपना अपना जीवन प्यारा है, उन्हें जीवित रहने का अधिकार है। उनके जीवन का अंत करने का किसी को अधिकार नहीं है।

मनुष्य अधिक शक्तिशाली और विवेकवान है, इसलिए उसे अन्य प्राणियों का बध करने का अधिकार है, यह सोचना अत्यन्त भ्रमपूर्ण है और भयंकर अन्याय है। फिर तो मनुष्यों में भी जो अपेक्षाकृत अधिक बलशाली होगा उसे अपने लाभ के लिए निर्बल मनुष्यों के बध का अधिकार होना चाहिए। इस प्रकार न्याय-नीति की प्रतिष्ठा न होकर शक्ति की ही पूजा होने लगेगी और संसार घोर नरक बनेगा। वस्तुतः सबल मनुष्य के बल की सार्थकता निर्बल की सहायता करने में है, न कि उसे भक्षण कर जाने में। यही नीति पशुओं के प्रति, पक्षियों के प्रति तथा अन्य जीव-धारियों के प्रति वर्ती जानी चाहिए।

तात्पर्य यह है कि संसार के समस्त प्राणियों को एक दूसरे के जीवन में सहायक होना चाहिए, दूसरे को कष्ट और अनिष्ट से बचाने का प्रयत्न करना चाहिए स्वयं जीना चाहिए और दूसरे को जीवित रहने देना चाहिए, अत्यन्त स्वार्थी बन कर अपने जीवन को आनन्दमय बनाने के लिए अथवा अपनी क्षणिक तृप्ति के लिए किसी प्राणी को नहीं सताना चाहिए।

इस प्रकार जो प्राणीमात्र को अपना बन्धु समझता है वही सच्चा अहिंसक है। जिसके हृदय में यह बन्धुभाव पूर्णरूपेण विकसित हो जाता है वह निर्ग्रन्थ है, वही श्रमण है।

सामान्य रूप से जीव और प्राणी शब्द समानार्थक हैं, पर सूक्ष्म दृष्टि से उनके अर्थ में कुछ भिन्नता है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों को प्राणी कहते

भाष्य:—द्वितीय महाव्रत का स्वरूप बताने के अनन्तर तृतीय महाव्रत का स्वरूप यहां बताया गया है।

मुनिजन संसार की कोई भी वस्तु, विना उसके स्वामी की आज्ञा प्राप्त किये, ग्रहण नहीं करते। चाहे वह सजीव शिष्य आदि हो, चाहे निर्जीव वास आदि हो। यहां तक कि दांत साफ करने का तिनका भी विना आज्ञा के वे ग्रहण नहीं करते हैं।

अदत्तादान इस लोक में और परलोक में एकान्त दुःख का कारण है। वह संताप, मरण, भय और लोभ का सबल हेतु है। उससे अपयश फैलता है। अदत्तादानी सदा दूसरे के घर में घुसने का मौका देखता रहता है और कभी उचित समय देखकर सेंध लगा कर, द्वार तोड़ कर या दीवाल फांद कर घुस जाता है, और पकड़ा जाता है तो उसे भयंकर दण्ड मिलता है। वह अपने इष्टजनों को मुख दिखलाने योग्य नहीं रहता। उनके सामने जाने में लजाता है। इस प्रकार अदत्तादानी को उसके आत्मीयजन भी त्याग देते हैं, मित्रगण उसका तिरस्कार करते हैं। सर्व साधारण के अपमानजनक धिक्कार आदि शब्दों से उसे जीवित रहते हुए भी मृत्यु सरीखा कष्ट भोगना पड़ता है।

मृत्यु के पश्चात् अदत्तादानी घोर नरक में उत्पन्न होता है। नरक में जलते हुए अंगारों से सैंकड़ों गुनी उष्णवेदना और हिमपटल से भी अत्यधिक शीतवेदना आदि अनेक प्रकार के कष्ट प्रतिक्षण भोगते हैं। नरक की यह वेदनाएं सहन करने के पश्चात् अगर उन्हें तिर्यंच भव की प्राप्ति होती है तो वहां भी अनेक वेदनाएं सहनी पड़ती हैं, जिन्हें हम प्रत्यक्ष देखते हैं। कभी पुण्ययोग से मानवभव की प्राप्ति हुई तो वहां भी अनेक कष्टों का सामना करना पड़ता है। इस प्रकार अदत्तादानी उभयलोक में दुःख उठाता है। अदत्तादान के इस भीषण परिणाम का विचार कर उससे निवृत्त होना श्रेयस्कर है।

अदत्तादान विरमण व्रत का सम्यक् प्रकार से पालन करने के लिए पांच भावनाएं बताई गई हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) स्वामी या उसके नौकर की आज्ञा लेकर ही निर्दोष स्थानक में निवास करना चाहिए।

(२) गुरु या अन्य ज्येष्ठ मुनि की आज्ञा लिए विना आहार आदि का उपभोग न करे।

(३) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा पूर्वक सदा गृहस्थ की आज्ञा ग्रहण करना चाहिए।

(४) सचित्त शिष्य आदि, अचित्त तृण आदि और मिश्र उपकरण सहित शिष्य आदि के लिए पुनः-पुनः आज्ञा लेना चाहिए। मर्यादा के अनुसार ही ग्रहण करना चाहिए।

(५) एक साथ रहने वाले सहधर्मियों (साधुओं) के वस्त्र-पात्र आदि, उनकी

आज्ञा लेकर ही ग्रहण करना चाहिए। इन पांच भावनाओं का सेवन करने से अदत्तादान विरमणव्रत का रक्षण और सम्यक् प्रकार से पालन होता है।

अदत्त के चार भेद इस प्रकार किये जाते हैं—

(१) स्वामी-अदत्त—किसी भी वस्तु को उसके स्वामी की आज्ञा विना ग्रहण करना।

(२) जीव-अदत्त—कोई भी जीव अपने प्राणहरण की आज्ञा नहीं देता, अतएव किसी के प्राण हरण करना जीव-अदत्त है।

(३) सर्वज्ञोपदिष्ट शास्त्रों में विधान किये हुए साधु के चिह्न (वेष) से विपरीत वेष धारण करना या विपरीत प्ररूपणा करना तीर्थंकर-अदत्त है।

(४) गुरु-अदत्त – गुरु आदि ज्येष्ठों की आज्ञा भंग करना गुरु-अदत्त है। इन चारों प्रकार के अदत्तादानों का साधु तीन करण और तीन योग से सर्वथा त्याग करते हैं।

मूलः—मूलमेयमहम्मस्स, महादोससमुस्सयं।
तम्हा मेहुणसंसग्गं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥ ४ ॥

छायाः—मूलमेतदधर्मस्य, महादोषसमुच्छ्रयम्।
तस्मान्मैथुनसंसर्गं, निर्ग्रन्था वर्जयन्ति तम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थः—मैथुन - सेवन अधर्म का मूल है और महान् दोषों को बढ़ाने वाला है, इसलिए निर्ग्रन्थ मुनि उसका त्याग करते हैं।

भाष्यः—तृतीय महाव्रत के विवेचन के अनन्तर क्रमप्राप्त चतुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रत का यहां विधान किया गया है।

वेद के राग रूप योग से स्त्री-पुरुष का सहवास होना अब्रह्म कहलाता है। अब्रह्म के यहां दो विशेषण हैं—महादोषों को बढ़ाने वाला और अधर्म का मूल। अर्थात् अब्रह्म बड़े-बड़े दोषों की वृद्धि करने वाला एवं पाप का मूल है।

जहां अब्रह्म का सेवन है वहां हिंसा अवश्यमेव होती है। बिना हिंसा के अब्रह्म का सेवन नहीं हो सकता। अब्रह्म सेवन से द्रव्य-हिंसा और भाव-हिंसा—दोनों प्रकार की हिंसा होती है। स्त्रीयोनि में रहने वाले सम्मूर्छिम जीवों की हिंसा होने से तथा शारीरिक बल की क्षीणता के निमित्त से द्रव्य हिंसा होती है। कहा भी है—

हिंस्यन्ते तिलनाल्यां, तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्।
बहवो जीवा योनौ, हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत् ॥

अर्थात् तिलों से भरी हुई नली में तपी हुई लोहे की सलाई डालने से तिल नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार योनि में बहुत से जीव नष्ट हो जाते हैं।

उक्त कथन से स्व-द्रव्य हिंसा और पर-द्रव्य हिंसा का होना स्पष्ट है। इसके

अतिरिक्त कामोद्रेक रूप राग भाव की विशिष्टता के कारण भावहिंसा भी होती है।

अन्य पापों की अपेक्षा भी अब्रह्म में अधिक गुरुता इस कारण है कि इस पाप की परम्परा अधिक काल तक और अधिक भयंकर रूप से चलती रहती है। इससे होने वाले अनर्थों की गणना नहीं हो सकती। कामान्ध पुरुष उचित-अनुचित का भान नहीं रखता और एक बार अनुचित प्रवृत्ति कर डालने पर अनेकानेक अनुचित और विकराल कार्य उसे करने पड़ते हैं। इसी कारण उसे महान् दोषों का वर्द्धक और पाप का मूल बतलाया है। शास्त्रकारों ने कहा है—

जेहिं नारीण संजोगा, पूयणा पिट्ठओ कया।
सव्वमेयं निराकिच्चा, ते ठिया सुसमाहिए॥

अर्थात् जिन महाभाग पुरुष ने स्त्री-संसर्ग तथा कायविभूषा की ओर से पीठ फेर ली है, वे समस्त उपसर्गों पर विजय प्राप्त करके समाधि में स्थित होते हैं। वास्तव में स्त्रीपरीषह अत्यन्त दुस्सह्य परीषह है, जो इसे सहन कर लेते हैं उन्हें अन्य परीषह और उपसर्ग सहना सरल हो जाता है।

इस विषय का विशेष विवेचन ब्रह्मचर्य नामक अध्ययन में किया जा चुका है। जिज्ञासु पाठक वहां देखें।

मूलः— लोभस्सेसमणुप्फासो, मन्ने अन्नयरामवि।
जे सिया सन्निहीकामे, गिही पव्वइए न से॥ ५॥

छायाः—लोभस्यैष अनुस्पर्शः, मन्येऽन्यतरामपि।
यः स्यात् सन्निधिं कामयेत्, गृही प्रव्रजितो न सः॥ ५॥

शब्दार्थः—लोभ नहीं करने के सम्बन्ध में यहां तक यह विशेषता बताई है कि गुड़, घी, आदि खाद्य पदार्थों में से किसी भी एक पदार्थ को, साधु होकर जो अपने पास रात भर रखने की इच्छा करे तो वह साधु नहीं है—गृहस्थ है।

भाष्यः—शास्त्रकार क्रमप्राप्त पञ्चम महाव्रत का निरूपण करते हुए कहते हैं कि लोभ ऐसा दुर्गुण है कि साधु यदि आहार-पानी को भी, यदि रात भर रख कर दूसरे दिन उपभोग करने की इच्छा करे, तो इच्छा मात्र से ही वह साधु के पद से पतित हो जाता है और गृहस्थ की कोटि में आ जाता है।

इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जब खाने-पीने योग्य वस्तुओं को, अगले दिन के लिए संग्रह कर रखने की इच्छा मात्र से साधु अपने उच्च पद से गिर जाता है तो संग्रह करने से वह किसी भी प्रकार साधु नहीं रह सकता। इससे साधुओं की अकिंचिनता का आभास मिलता है। वास्तव में सच्चा साधु वह है जो भविष्य की चिन्ता से सर्वथा मुक्त है और धर्मोपकरण के अतिरिक्त संसार के किसी भी पदार्थ से, कुछ भी सरोकार नहीं रखता।

लोभ बुरी विपदा है। वह एक बार किसी को चिपटा नहीं कि पूरी तरह

अपने अधीन बना लेता है। धीरे-धीरे बढ़ता हुआ वह अनन्त हो जाता है और मनुष्य उससे आकृष्ट होकर, पथ से विचलित हो जाने की चिन्ता न करता हुआ, उसी के पीछे-पीछे भागता रहता है। परिग्रह, लोभ का कार्य है और लोभ को बढ़ाने का कारण भी है। परिग्रह का फल बताते हुए शास्त्रकार करते हैं कि-परिग्रह के पाश में पड़े हुए जीव परलोक में नष्ट होते हैं और अज्ञान रूपी अंधकार में डूबे रहते हैं। परिग्रह इस लोक और परलोक में अत्यल्प सुख और विपुल दुःख रूप है। वह महाभय का कारण है और प्रगाढ़ कर्म-रज को उत्पन्न करता है। वह दारुण है, कठोर है, असाताकारक है और हजारों वर्ष पर्यन्त भी भोगे विना वह (फल) छूटता नहीं है।

परिग्रह परित्राणपा--रहित है, शरणदाता नहीं है, उसका अन्त दुःखपूर्ण है, वह अध्रुव है अनित्य है, क्षण भंगुर है, पाप का कारण है, सत्पुरुषों के लिए अग्राह्य है, विनाश का मूल है, अतिशय बध-बंध तथा क्लेश का कारण है, उससे अनन्त संक्लेश उत्पन्न होता है, वह सब प्रकार के दुःखों का जनक है।

अपरिग्रह व्रत का अनुष्ठान करने के लिए निम्न-लिखित पांच भावनाओं का आचरण करना चाहिए—

(१) श्रोत्रेन्द्रिय से मनोहर एवं भद्र शब्द सुनकर उदासीन रहना चाहिए। हास्यपूर्ण शब्दों तथा स्त्रियों आदि के आभूषणों के शब्दों की ओर ध्यान नहीं देना चाहिए, उनमें अनुरक्त नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार अमनोज्ञ और पाप रूप वचन सुन कर रोष नहीं करना चाहिए। कोई गाली दे तो भी उस पर द्वेष-भाव नहीं लाना चाहिए। उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिए। आशय यह है कि मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दों पर समताभाव रखना चाहिए।

(२) चक्षु इन्द्रिय के विषय में समभाव रखना चाहिए। मनोहर रूप देख कर अनुरक्त नहीं होना चाहिए और वीभत्स रूप दिखाई देने पर द्वेष या घृणा का भाव नहीं उत्पन्न होने देना चाहिए।

(३) घ्राणेन्द्रिय के विषय में मध्यस्थवृत्ति रखनी चाहिए। सुगंध में अनु-रक्त एवं दुर्गन्ध में द्विष्ट न होकर दोनों पर एक-सी भावना रखनी चाहिए।

(४) जिह्वा इन्द्रिय के विषय में निस्पृह होना चाहिए। सरस, स्वादिष्ट और मनोज्ञ भोजन--पान पाकर प्रसन्न होना और रूखा-सूखा, निःस्वादु आहार--पानी प्राप्त होने पर विषाद करना उचित नहीं है। दोनों प्रकार के भोजन पर समान भाव रखकर उसका उपभोग करना चाहिए।

(५) सुन्दर, सुखद और साताकारी स्पर्श प्राप्त होने पर हर्षित होना एवं कठोर कर्कश तथा असाताजनक स्पर्श का संसर्ग होने पर खेद करना योग्य नहीं है। निस्पृह वृत्ति, वीतराग भावना अथवा अनासक्ति ही साधु के आचार का भूषण है। आसक्ति पाप--बंध का कारण है और अनासक्त भाव से ही धर्म होता है।

तात्पर्य यह है कि पांचों इन्द्रियों के मनोज्ञ एवं अमनोज्ञ विषयोंपर राग—द्वेष

न धारण करने से समभाव रखने से परिग्रह के प्रति लालसा नहीं उत्पन्न होती। इस लिए अपरिग्रह व्रत का सम्यक् प्रकार से पालन करने के लिए इन्द्रियों के विषयों सम्बन्धी राग-द्वेष की निवृत्ति होना आवश्यक है। जो रागभाव एवं द्वेषभाव से अतीत हो जाते हैं वे ही अपना कल्याण करते हैं।

मूलः—जं पि वत्थं व पायं वा, कम्बलं पायपुञ्छणं।
तं पि संजमलज्जट्ठा धारेंति परिहरंति य ॥६॥

छायाः—यदपि वस्त्रं वा पात्रं वा, कम्बलं पादप्रोञ्छनम्।
तदपि संयमलज्जार्थम्, धारयन्ति परिहरन्ति च ॥ ६ ॥

शब्दार्थः—मुनिजन जो वस्त्र, पात्र, कम्बल अथवा पैर पोंछने का वस्त्र धारण करते हैं—अथवा मर्यादायुत वस्त्रादि में भी अल्प रखकर अवशेष वस्त्रादि का त्याग कर देते हैं वह अल्प और मर्यादायुत वस्त्रादि संयम और लज्जा की रक्षा के लिए ही हैं—लोभ या राग के कारण नहीं।

भाष्यः—परिग्रहत्याग महाव्रत के विषय में विशेष स्पष्टीकरण करने के लिए सूत्रकार ने यह गाथा कही है।

इससे पहली गाथा में बताया गया था कि खाद्य सामग्री संग्रह करने वाला साधु भी गृहस्थ की श्रेणी में आ जाता है। इस कथन से यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि जब भोजन-सामग्री केवल एक रात्रि भर रखने से साधुत्व नष्ट हो जाता है तो वस्त्र-पात्र आदि रखने से साधुत्व किस प्रकार टिक सकता है? भोजन की भांति वस्त्र-पात्र आदि भी यदि परिग्रह ही है तो उसके धारण करने से साधुता की मर्यादा भी नहीं रहनी चाहिए। इस शंका का समाधान अगली गाथा में किया है, किन्तु समाधान का बीज इस गाथा में विद्यमान है।

सूत्रकार का कथन है कि साधु जो वस्त्र रखते हैं, वह शरीर के प्रति अनुराग होने के कारण, उसे साता पहुँचाने के लिए नहीं, वरन् लज्जा-निवारण के लिए तथा संयम की रक्षा के लिए रखते हैं। इसी प्रकार पात्र, कम्बल आदि भी संयम के समुचित निर्वाह के लिए ही धारण करते हैं। यह सब उपकरण शास्त्रोक्त मर्यादा के अनुसार परिमित रूप में ही ग्रहण किये जाते हैं। पात्र आदि उपकरणों के बिना संयम की रक्षा और बाह्य शुद्धि आदि का यथायोग्य निर्वाह नहीं हो सकता है।

इस विषय का विशेष स्पष्टीकरण आगे दिया जाता है।

मूलः—न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ॥७॥

छायाः—न सः परिग्रह उक्तः, ज्ञातपुत्रेण त्रायिणा।
मूर्च्छा परिग्रह उक्तः, इत्युक्तं महर्षिणा ॥ ७ ॥

शब्दार्थ:—जीव मात्र के रक्षक ज्ञातपुत्र श्री महावीर ने, संयम और लज्जा के हेतु धारण किये हुए वस्त्र, पात्र आदि को परिग्रह नहीं कहा है। उन्होंने मूर्च्छा को अर्थात् ममता को परिग्रह कहा है, ऐसा महर्षियों ने कहा है।

भाष्य:—भोजन-सामग्री एक रात भी अपने पास न रखने वाले मुनियों को वस्त्र-पात्र-कम्बल आदि रखने पर भी दोष लगता। इसका कारण सूत्रकार ने जो प्रदर्शित किया है वह यह है कि वस्त्र-पात्र आदि परिग्रह नहीं है, क्योंकि साधु में उनके प्रति मूर्च्छा नहीं है। भगवान् महावीर स्वामी ने मूर्च्छा भाव को ही परिग्रह कहा है।

तात्पर्य यह है कि जहां ममता है, राग है, लोलुपता है वहां बाह्य वस्तु का संसर्ग हो चाहे न हो पर वहां परिग्रह अवश्य है। जिसके हृदय से ममत्व नहीं गया वह ऊपर से अकिंचन होने पर भी परिग्रही है। इसके विपरीत, जिसके अन्तःकरण में लेशमात्र भी ममत्व भाव नहीं है, वह संयम की साधना के लिए बाह्य उपकरणों को ग्रहण करने पर भी परिग्रही नहीं होता।

ममत्व के अभाव में यदि बाह्य वस्तु के संसर्ग मात्र को परिग्रह माना जाय तो कोई भी मुनि निष्परिग्रह नहीं हो सकेगा, क्योंकि अन्य बाह्य पदार्थों का त्याग कर देने पर भी शरीर का संसर्ग होने से परिग्रह भी विद्यमान रहेगा। इसके अतिरिक्त पृथ्वी के साथ भी सब का संसर्ग अनिवार्य है। फिर न तो कोई अपरिग्रह महाव्रती हो सकेगा और न मुनि पद ही संसार में रहेगा। मुनि पद के अभाव में मुक्ति का भी अभाव हो जायगा।

इन सब दोषों का निवारण करने के लिए यही मानना युक्ति संगत है कि जहां ममत्व है वहां परिग्रह है और जहां ममत्व का अभाव है वहां परिग्रह का भी अभाव है। मुनि जो धर्मोपकरण रखते हैं, उनमें उन्हें ममत्व नहीं होता। उपकरणों के प्रति अणुमात्र भी राग उनके अन्तःकरण में उदित नहीं होता, अतः वे उपकरणों का उपयोग करते हुए भी परिग्रही नहीं है। इस कथन से पूर्वोलिखित शंका का समाधान भलीभांति हो जाता है।

मूलः—एयं च दोसं दट्ठूणं, नायपुत्तेण भासियं।
सव्वाहारं न भुंजंति, निग्गंथा राइभोयणं ॥८॥

छायाः—एतं च दोषं दृष्ट्वा, ज्ञातपुत्रेण भाषितम्।
सर्वाहारं न भुञ्जन्ति, निर्ग्रन्था रात्रिभोजनम् ॥

शब्दार्थ:—ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट पूर्वोक्त दोषों को देखकर निर्ग्रन्थ रात्रि में सब प्रकार का आहार नहीं भोगते हैं।

भाष्यः—पांच महाव्रतों का स्वरूप प्रतिपादन करने के पश्चात् सूत्रकार यहां रात्रिभोजन त्याग रूप व्रत का कथन करते हैं।

पूर्वोक्त पांच व्रत जिनागम में महाव्रत कहलाते हैं। रात्रि भोजन विरमण का शास्त्रों में महाव्रत के नाम से उल्लेख नहीं है किन्तु उसे व्रत कहा है। इसका कारण यह है कि श्रावकों के लिए भी रात्रि भोजन का त्याग आवश्यक है। महाव्रत के नाम से इसका उल्लेख किया जाता तो यह व्रत श्रावकों के लिए लागू न होता। अतएव श्रावकों के लिए रात्रि भोजन त्याज्य है, यह प्रकट करने के लिए इसे महाव्रत न कह कर सामान्य व्रत ही कहा है।

किसी-किसी ग्रंथ में रात्रिभोजन को छठा अणुव्रत कहा गया है सो उचित है। छठा अणुव्रत होने से भी वह श्रावकों के लिए आवश्यक हो जाता है और जब श्रावकों को रात्रिभोजन त्याज्य है, तो साधुओं को तो उसकी त्याज्यता स्वत: सिद्ध हो जाती है।

रात्रिभोजन से त्रस जीवों की हिंसा होती है, साथ ही भोजन के साथ त्रस जीवों के पेट में चले जाने से मांस-भक्षण भी हो जाता है। इन धार्मिक दोषों के अतिरिक्त शारीरिक दोष भी रात्रि भोजन से होते हैं और स्वास्थ्य में भी विकार उत्पन्न होता है।

इस प्रकार विचार करने पर रात्रिभोजन अनेक दोषों का घर प्रतीत होता है। धर्मनिष्ठ श्रावक भी इसका सेवन नहीं करते तो भला मुनि यह निन्दनीय आचरण कैसे कर सकते हैं?

रात्रिभोजन के सम्बन्ध में पहले श्रावकाचार के निरूपण में विचार किया जा चुका है। पूर्वोक्त समस्त भयंकर दोषों का विचार करके प्रत्येक श्रावक को और साधु को सब प्रकार के रात्रिभोजन का त्याग करना चाहिए।

मूल में 'सव्वाहारं न भुंजंति' ऐसा कहा है। इसका अर्थ है – सब प्रकार का भोजन नहीं करते हैं। इस वाक्य का दुरुपयोग करके कोई दूषित अर्थ यह न समझे कि सब प्रकार का भोजन नहीं करते अर्थात् किसी प्रकार का—एक दो तरह का भोजन कर लेते हैं।

ऐसा दुरर्थ कई स्थलों पर देखा जाता है। जैसे – 'न हिंस्यात् सर्वभूतानि' अर्थात् सब जीवों की हिंसा नहीं करनी चाहिए, इस वाक्य से अनेक स्मृतिकार हिंसा का पोषण करते हुए यह अर्थ निकालते हैं कि खास-खास जीवों की हिंसा करने में पाप नहीं है। इस प्रकार का अर्थ यहां नहीं समझना चाहिये। यहां मुनियों के आचार का प्रकरण है अत: अन्न, पान, खाद्य आदि चारों प्रकार के आहार का सर्वथा निषेध किया है, और यही युक्ति एवं आगम के अनुकूल अर्थ है।

साधुओं को सब प्रकार के त्याग के विधान से यह प्रतीत होता है कि श्रावक यदि सब प्रकार का रात्रिभोजन न त्याग सके तो उसे भी एकदेश त्याग अवश्य करना चाहिए।

मूल:—पुढविं न खणे न खणावए,
सीओदगं न पिए न पियावए।
अगणिसत्थं जहा सुनिसियं,
तं न जले न जलावए जे स भिक्खू ।६।

छाया—पृथिवीं न खनेन्न खानयेत्, शीतोदकं न पिबेन्न पाययेत्।
अग्निशस्त्रं यथा सुनिशितम्, तं न ज्वलेन्न ज्वालयेत् यः स भिक्षु ।६॥

शब्दार्थ—:जो पृथ्वी को न स्वयं खोदे, न दूसरों से खुदवाये, जो शीत अर्थात् सचित्त जल न स्वयं पीए, न दूसरों को पिलावे, जो अत्यन्त तीक्ष्ण अग्नि रूप शस्त्र को न स्वयं जलाए, न दूसरों से जलवाये, वही सच्चा भिक्षु है।

भाष्य:—रात्रिभोजनविरमण व्रत का विधान करके यहां स्थावर जीवों की हिंसा के त्याग का विधान किया गया है।

मुनि, त्रस और स्थावर दोनों प्रकार के जीवों की हिंसा के मन, वचन, काय से पूर्ण त्यागी होते हैं। अतएव यहां स्थावर जीवों की यतना का उपदेश दिया गया है। स्थावर जीव पांच प्रकार के हैं—(१) पृथ्वीकाय (२) जलकाय (३) तेजस्काय (४) वायुकाय और (५) वनस्पतिकाय। इन पांच स्थावरों में से प्रकृत गाथा में आदि के तीन प्रकार के स्थावरों की यतना बताई है।

पृथ्वी को खोदने से पृथ्वीकाय के जीवों की हिंसा होती है और दूसरों को आज्ञा देकर खुदवाने से भी हिंसा के पाप का भागी होना पड़ता है। यही नहीं, पृथ्वी खोदने से पृथ्वी पर आश्रित त्रस जीवों की भी हिंसा अनिवार्य है।

जल जब तक अचित्त नहीं हो जाता तब तक वह एक प्रकार के एकेन्द्रिय जीवों का शरीर है। उसे स्वयं पीने से या अन्य को पिलाने से स्थावर जीवों की हिंसा का अपराधी बनना होता है। अतएव साधु सचित्त जल न स्वयं पीते हैं, न दूसरों को पिलाते हैं।

शस्त्र-परिणत होने पर जो जल अचित्त हो जाता है, और जिसे साधु के निमित्त अचित्त नहीं किया जाता उसी का उपयोग साधु करते हैं। अग्नि के संसर्ग से या अन्य क्षारमय पार्थिव पदार्थों के संयोग से, पूर्ण रूपेण अचित्त हुए जल को ही मुनि ग्रहण करते हैं। अचित्त जल भी मर्यादा के अनुरूप ही उन्हें ग्राह्य होता है। अधिक समय का होने पर वह गरम जल फिर सचित्त हो सकता है और अधिक समय के धोवन में त्रस जीवों की उत्पत्ति हो सकती है। जहां सचित्त-अचित्त और जीवोत्पत्ति विषयक सन्देह होता है वह जल भी मुनि ग्रहण नहीं करते।

अग्नि एक भयंकर शस्त्र है। जैसे लोहमय शस्त्र प्राणियों का घात करते हैं, उसी प्रकार अग्नि संयोग होने पर अन्य काय वाले जीवों का घात करती है। अतएव

इसे अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र कहा है। मुनि न स्वयं अग्नि जलाते हैं और न दूसरों से जलवाते हैं। अग्नि का आरम्भ अत्यन्त पाप का कारण है। अतएव उक्त प्रकार के जीवों का स्वयं आरम्भ न करने वाले और दूसरों से आरम्भ न कराने वाले ही वास्तव में साधु पद को प्राप्त होते हैं।

इस कथन से आग जला कर तपस्या करना, आदि पापमूलक तपों का निषेध भी हो जाता है।

पृथिवीकाय का दूसरा नाम इन्दीथावरकाय है। काली मिट्टी, हरी मिट्टी, पीली मिट्टी, लाल मिट्टी, श्वेत मिट्टी, पाण्डु और गोपीचन्दन, यह सात प्रकार की कोमल पृथ्वी है। खदान की मिट्टी, मुरड़, रेत, पत्थर, सिला, नमक, हरिताल, हिंगलू, मैनसिल, प्रवाल, अभ्रक, पारा आदि बाईस प्रकार की कठोर पृथिवी होती है। यह सब पृथिवी जब खानि में होती है तब सचित्त और खान से पृथक् कर देने पर शस्त्र-परिणत पृथिवी अचित्त हो जाती है।

अप्काय का अपर नाम बंभोथावरकाय है। वर्षा का जल, ओले, बर्फ, नदी, समुद्र आदि जलाशयों का जल, आदि सब इसी में सम्मिलित है।

तेजस्काय का दूसरा नाम सप्पीथावरकाय है। भूभर, ज्वाला, अंगार, अरणि-जन्य अग्नि, दियासलाई से उत्पन्न अग्नि, विद्युत, सूर्यकान्त मणि, उल्कापात आदि का इसमें समावेश होता है।

इनका यथार्थ स्वरूप समझकर विवेकशील साधु को इनकी हिंसा से सर्वथा बचना चाहिए और श्रावक को निष्प्रयोजन आरम्भ नहीं करना चाहिए।

मूलः—अनिलेण न बीए न बीयावए,
हरियाणि न छिंदे न छिंदावए।
बीयाणि सया विवज्जयंतो,
सचित्तं नाहारए जे स भिक्खू ॥१०॥

छायाः—अनिलेन न बीजयेत न बीजायेत्, हरितानि न छिन्दयेन्न छेदयेत्।
बीजानि सदा विवर्जयन्, सचित्तं नाहरेद् यः स भिक्षुः ॥ १० ॥

शब्दार्थः—जो वायु की उदीरणा के निमित्त पंखा नहीं चलाता और न दूसरे से चलवाता है, जो वनस्पति को स्वयं नहीं छेदता और न दूसरे से छिदवाता है, तथा बीजों का सदैव त्याग करता हुआ जो सचित्त वस्तु का आहार नहीं करता, वही भिक्षु है।

भाष्यः—तीन स्थावर कायों की यतना का निरूपण करके सूत्रकार ने शेष दो स्थावरकायों की यतना का यहां कथन किया है।

चतुर्थ स्थावर काय वायुकाय है। वायुकाय की हिंसा से बचने के लिए पंखा चलाना या दूसरे से पंखा चलवाना साधु के लिए सर्वथा त्याज्य है। ऐसा करने से

वायु काय के जीवों का घात होने से हिंसा का पाप लगता है। अतएव वायुकाय की हिंसा से सर्वथा विरत मुनि वायु की उदीरणा का सर्वथा त्याग करे। ऐसा करने वाला ही सच्चा साधु है।

वायु की उदीरणा के लिए पंखा उपलक्षण मात्र है। इससे उन समस्त साधनों का ग्रहण करना चाहिए जिनसे हवा की जा सकती है। जैसे-वस्त्र, पत्र, हाथ, फूंक आदि।

वायु की उदीरणा से वायुकाय की हिंसा के अतिरिक्त साधु में साताशीलता का दोष भी उत्पन्न होता है। सच्चा साधु कायक्लेश को अपना भूषण समझता है। वह गर्मी आदि से घबराता नहीं है। इस प्रकार की दुर्बलता उसके निकट भी नहीं फटक सकती। अतएव श्रमण वायुकाय की यतना के लिए पंखा आदि के द्वारा कभी न स्वयं वायु की उदीरणा करता है और न दूसरे से कराता है।

वायुकाय का दूसरा नाम शास्त्रों में सुमति थावरकाय बतलाया गया है। झंझा वात, मंडलवायु, गुंडल वायु, घन वायु, तनु वायु, आदि समस्त प्रकार की वायु शस्त्र-परिणत होने से पूर्व सचित्त हैं और इनकी यतना सदैव यत्नपूर्वक करनी चाहिए।

साधु वनस्पतिकाय का आरंभ भी नहीं करते और न कभी उसका भक्षण करते हैं। बीज भी वनस्पतिकाय ही है अतः शास्त्रकार ने उसके त्याग का भी विधान किया है।

वनस्पतिकाय के मुख्य दो भेद हैं—(१) प्रत्येक वनस्पति और (२) साधारण वनस्पति। जिस एक वनस्पति रूप शरीर में एक ही जीव स्वामी के रूप में रहता है वह प्रत्येकवनस्पति कहलाती है। जिस वनस्पति रूप एक शरीर में अनन्तानन्त जीव स्वामी रूप में रहते हैं वह वनस्पति साधारण कहलाती है। तात्पर्य यह है कि कोई कोई वनस्पति ऐसी है जिसमें अनन्तानन्त जीव रहते हैं. वे सब जीव उस वनस्पति के आश्रित नहीं है, किन्तु उसे अपना शरीर बनाकर रहते हैं अर्थात् एक शरीर में अनन्तानन्त जीवों का वास है।

प्रत्येक वनस्पति के बारह भेद हैं—वृक्ष (२) गुच्छा (३) गुल्म (४) लता (५) वल्ली (६) तृण (७) वल्लया (८) पव्वया (९) कुहण १० जलवृक्ष (११) औषधि और (१२) हरितकाय।

वृक्ष दो प्रकार के होते हैं—कोई एक बीज वाले और कोई बहु बीज वाले। आँवला, आम, जामुन, बेर आदि एक बीज वाले वृक्ष हैं और अमरूद, अनार, बिल्व, निम्बू आदि अनेक बीज वाले वृक्ष हैं। तुलसी, जवासा, रिंगनी आदि को गुच्छ कहते हैं। जूही, केतकी, केवड़ा, आदि फूलों के झाड़ गुल्म कहलाते हैं। अशोकलता, पद्म-लता आदि पृथ्वी पर फैलकर ऊंचे चढ़ने वाली वनस्पति लता है। तरोई, ककड़ी, करेला, आदि की बेल वल्ली कहलाती है। दूर्वा तथा अन्य प्रकार का घास तृण कह-लाता है। जो वृक्ष ऊंचे जाकर गोलाकार बनते हैं उन्हें वल्लया कहा गया है, जैसे सुपारी खजूर, नारियल आदि वृक्ष। पर्व, पोर या गांठ जिनके बीच में होती है ऐसे

ईख, एरंड, बेंत, बांस, आदि के झाड़ पव्वया या पर्व कहलाते हैं। जमीन फोड़ कर निकलने वाले छोटे पौधे—जैसे कुकरमुत्ता आदि कुहण कहलाते हैं। कमल, सिंघोड़े आदि जल में ही उत्पन्न होने वाली वनस्पति को जल वृक्ष कहा गया है। गेहूं, जौ, जवार, बाजरी, शालि, मक्की, आदि औषधि में गर्भित हैं। जिस धान्य के बराबर-बराबर दो हिस्से नहीं हो सकते उन्हें लहा धान्य और जिनके दो हिस्से होते हैं जैसे चना, मूंग, उड़द, आदि—वह कठोल धान्य कहलाते हैं। यह सब औषधि के ही अन्तर्गत हैं। मूले की भाजी, मैथी की भाजी आदि के वृक्षों को हरित काय समझना चाहिए।

प्रत्येक वनस्पति जब उत्पन्न होती है, उसकी कोंपलें लगती हैं, तब उसमें अनन्त जीव होते हैं। उसके सूख जाने पर उसमें जितने बीज होते हैं उतने ही जीव समझना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक बीज योनिभूत जीव है।

साधारण वनस्पति में मूली, अदरख, आलू, कांदा, लहसुन, गाजर, शकरकन्द, सूरणकन्द, बजरीकन्द, मूसली, अमरवेल, हल्दी आदि का समावेश है। साधारण वनस्पति के, सुई की नौंक पर आ जाय, इतने छोटे से हिस्से में अनन्तानन्त जीवों का सद्भाव होने से यह वनस्पति अत्यन्त पाप का कारण है। धर्मशील पुरुषों को इस वनस्पति का कदापि भक्षण नहीं करना चाहिए। वनस्पति काय का दूसरा नाम पयावच्च थावर काय भी है।

अहिंसा के प्रति मुनि कितने जागरूक रहते हैं, यह बात इस कथन से स्पष्ट हो जाती है। वास्तव में वही पुरुष मुनि पद का अधिकारी है जिसके हृदय से अहिंसा का अविरल और अखण्ड स्रोत प्रवाहित होता हो। एकेन्द्रिय जीवों से लेकर मनुष्य आदि सभी जीवधारियों पर जिसके अन्तःकरण में करुणा की भावना हो और वह भावना गहरी बन गई हो।

मूलः—महुकारसमा बुद्धा, जे भवंति अणिस्सिया।
नाणापिंडरया दंता, तेण वुच्चंति साहुणो ॥११॥

छायाः—मधुकरसमा बुद्धा, ये भवन्त्यनिश्रिताः।
नानापिण्डरता दान्ताः, तेनोच्यन्ते साधवः ॥११॥

शब्दार्थः—जैसे भ्रमर विभिन्न फूलों से थोड़ा-थोड़ा रस लेता है उसी प्रकार, जिन्होंने इन्द्रियों का दमन किया है, जो अनिश्रित हैं, ऐसे ज्ञानीजन नाना पिंडों में, उद्वेग-रहित होकर रत होते हैं, इसलिए वह साधु कहलाते हैं।

भाष्यः—साधु के आचार का प्ररूपण करते हुए, स्थावर जीवों की यतना का विधान पहले किया गया है। यहां फिर जीव रक्षा के लिए आहार संबंधी नियम का निरूपण किया है।

आहार की निष्पत्ति करने में हिंसा अनिवार्य है। अग्निकाय वायुकाय, जलकाय

आदि की हिंसा के बिना आहार तैयार नहीं होता। आहार के बिना जीवन-निर्वाह असंभव है और जीवन के बिना संयम का पालन संभव नहीं है। ऐसी अवस्था में साधुओं का क्या कर्त्तव्य है ? वे लेशमात्र भी हिंसा नहीं कर सकते और संयम की साधना का भी त्याग नहीं कर सकते। तब उन्हें क्या करना चाहिए ? इस प्रश्न का यहां समाधान किया गया है।

गृहस्थ अपने लिए भोजन निष्पन्न करते हैं। उस भोजन में प्रायः थोड़ा-बहुत उनके यहां बच रहता है। साधु को उसी बचे-खुचे भोजन पर निर्वाह करना चाहिए। इससे साधु को आरंभ भी नहीं करना पड़ता और उसकी जीविका का निर्वाह भी हो जाता है।

ऐसा भोजन भी एक ही जगह से पूरा नहीं लेना चाहिए। ऐसा करने से गृहस्थ को शायद फिर आरंभ-समारंभ करके भोजन तैयार करना पड़े। इसलिए साधु के वास्ते शास्त्रों में भ्रमर--वृत्ति का विधान किया गया है। जैसे भ्रमर अनेक फूलों से थोड़ा-थोड़ा रस चूसता है, उसी प्रकार साधु अनेक गृहस्थों के गृहों से थोड़ा-थोड़ा भोजन ग्रहण करते हैं। इससे गृहस्थ को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता और साधु का निर्वाह यथोचित रूप से हो जाता है।

इस प्रकार नाना गृहों से भोजन ग्रहण करने में साधु को उद्वेग का अनुभव नहीं होता। वे उसे विपत्ति समझकर झुंझलाते नहीं है, किन्तु जीवन-निर्वाह का निरवद्य साधन समझकर उस वृत्ति को अपनाते हैं। यह आशय प्रकट करने के लिए सूत्रकार ने 'नानापिण्ड-रत' विशेषण दिया है। इससे यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि साधु नाना प्रकार के आहार में अनुरक्त होते हैं। इसका तात्पर्य यह है साधु नाना गृहों से भोजन की गवेषणा करने में खेद अनुभव नहीं करते।

अनेक गृहों से प्राप्त हुए निर्दोष भोजन में साधुओं को जरा भी लोलुपता नहीं होती। कभी सरस और स्वादिष्ट भोजन प्राप्त होने पर भी उसे समभाव से भोगते हैं और नीरस एवं निःस्वादु भोजन मिलने पर भी उसी प्रकार उसका उपभोग करते हैं। भोजन संबंधी राग-भाव या द्वेष-भाव उनके हृदय में कभी उदित नहीं होता है, क्योंकि वे दान्त हैं—दमनशील हैं। उन्होने अपने मन पर तथा इन्द्रियों पर पूर्ण विजय प्राप्त की है। इन्द्रियों की उच्छृंखलता को दबा दिया है। वे इन्द्रियों के वशवर्त्ती नहीं हैं, इन्द्रियां उनकी दासी बन चुकी हैं

भोजन संबंधी समस्त दोषों का परिहार करके भिक्षा लेने वाले भिक्षु ही सच्चे श्रमण हैं। भोजन के ४७ दोष हैं। उनका स्वरूप इस प्रकार हैं:—१६ उद्गमदोष, १६ उत्पादन दोष, १० एषणा दोष और ५ मण्डल दोष।

उद्गम दोष गृहस्थ के द्वारा लगते हैं। उनके नाम यह हैं—(१) आहाकम्म (२) उद्देसिय (३) पूइकम्मे (४) मीसजाए (५) ठवणे (६) पाहुडियाए (७) पाओअर (८) कीए (९) पामिच्चे (१०) परियट्टए (११) अभिहडे (१२) उब्भिन्ने (मालाहडे) (१४) अच्छिज्जे (१५) अणिसिट्ठे (१६) अज्झोयरए।

(१) आहाकम्म—सामान्य रूप से किसी साधु के उद्देश्य से तैयार किया हुआ आहार देना आहाकम्म दोष है।

(२) उद्देसिय - किसी विशेष साधु के निमित्त बनाया हुआ आहार देना।

(३) पूइकम्मे — विशुद्ध आहार में आहाकम्मी आहार का थोड़ा सा भाग मिल जाने पर भी उसे देना।

(४) मीसजाए—अपने लिए और साधु के लिए सम्मिलित बनाया हुआ आहार देना।

(५) ठवणा—साधु के निमित्त रख छोड़ा हुआ आहार साधु के आने पर देना।

(६) पाहुडियाए - साधु को आहार देने के लिए मेहमान की जीमनवार आगे पीछे करके आहार देना।

(७) पाओअर—अंधेरे में प्रकाश करके आहार देना।

(८) कीए—मोल से खरीदकर साधु को आहार देना।

(९) पामिचे—साधु के निमित्त किसी से उधार लेकर आहार देना।

(१०) परियहए—साधु के लिए सरस-नीरस वस्तु की अदलाबदली करके साधु को आहार देना।

(११) अभिहडे—किसी अन्य ग्राम-नगर आदि से साधु के सामने लाकर आहार देना।

(१२) उब्भिन्ने—भूगृह में रक्खे हुए या मिट्टी, चमड़ा आदि से छापे हुए पदार्थ को उघाड़ कर आहार देना।

(१३) मालाहडे—जहां ऊपर चढ़ने में कठिनाई हो वहां से उतार कर आहार देना या इसी प्रकार नीची जगह से उठाकर आहार देना।

(१) आच्छिज्जे—निर्बल पुरुष से छीना हुआ-अन्याय पूर्वक ग्रहण किया हुआ आहार साधु को देना।

(१५) अणिसिट्ठे—साझे की वस्तु साझेदार की सम्मति के बिना देना।

(१६) अज्झोयरए—अपने लिए रांधते हुए साधु के लिए कुछ अधिक रांध कर देना।

साधु के द्वारा लगने वाले आहार संबंधी दोष उत्पादन दोष कहलाते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं--(१) धाई (२) दूई (३) निमित्ते (४) आजीवे (५) वणीमगे (६) तिगिच्छे (७) कोह (८) माण (९) माया (१०) लोभ (११) पुव्विं पच्छासंथव (१२) विज्जा (१३) मंत (१४) चुन्न (१५) जोग (१६) मूलकम्म।

(१) धाई—गृहस्थ के बाल-बच्चों को धाय की तरह खेलाकर आहार लेना।

(२) दूई—गृहस्थ का गुप्त या प्रकट संदेश उसके स्वजन से कहकर आहार लेना।

(३) निमित्ते--गृहस्थ को निमित्त द्वारा लाभ-हानि बताकर आहार लेना।

(४) आजीवे—गृहस्थ को अपने कुल का अथवा अपनी जाति का बताकर आहार लेना।

(५) वणीमग—मंगते की तरह दीनतापूर्ण वचन कहकर आहार लेना।

(६) तिगिच्छे—ज्वर आदि की चिकित्सा बताकर आहार ग्रहण करना।

(७) कोह—गृहस्थ को डरा धमका कर या शाप का भय दिखाकर आहार लेना।

(८) माण—'मैं लब्धिमान् हूँ, तुम्हें सरस आहार लाकर दूंगा' साधुओं से इस प्रकार कह कर आहार लाना।

(६) माया—छल-कपट करके आहार लेना।

(१०) लोभ—लोभ से अधिक आहार लेना।

(११) पुव्विपच्छासंथव—आहार लेने से पूर्व या पश्चात् देने वाले की प्रशंसा करना।

(१२) विज्जा—विद्या सिखाकर आहार लेना।

(१३) मंत—मोहन आदि मंत्र सिखाकर आहार लेना।

(१४) चुन्न—अदृश्य हो जाने का या मोहित करने का अंजन देकर या बताकर आहार लेना।

(१५) जोग—राजवशीकरण आदि अथवा जल-स्थल मार्ग में समा जाने की सिद्धि बता कर आहार लेना।

(१६) मूलकम्म—गर्भपात आदि की औषधि बताकर या पुत्र आदि के जन्म का दूषण निवारण करने के लिए मघा, ज्येष्ठा आदि दुष्ट नक्षत्रों की शांति के निमित्त मूल स्नान बताकर आहार लेना।

एषणा सम्बन्धी दोष श्रावक और साधु—दोनों के निमित्त से लगते हैं। उनके दस भेद इस प्रकार हैं:—(१) संकिय (२) मक्खिय (३) निक्खित्त (४) पिहिय (५) साहरिय (६) दायग (७) उम्मीसे (८) अपरिणय (६) लित्त तथा (१०) छड्डिय।

[१] संकिय—गृहस्थ को और साधु को आहार देते-लेते समय, 'यह आहार सदोप है या निर्दोष ?' इस प्रकार की शंका होने पर भी आहार देना-लेना।

[२] मक्खिय—हथेली की रेखाओं में अथवा बाल आदि में सचित्त जल लगा होने पर भी आहार देना-लेना।

[३] निक्खित्त—सचित्त वस्तु के ऊपर रक्खा हुआ आहार देना--लेना।

[४] पिहिय—सचित्त वस्तु से ढंके हुए आहार को देना और लेना।

[५] साहरिय—सचित्त में से अचित्त निकाल कर आहार देना या लेना।

[६] दायग—अंधे लूले लंगड़े के हाथ से आहार देना लेना।

[७] उम्मीसे—सचित्त एवं अचित्त करके मिश्र है उस आहार का देना-लेना।

[८] अपरिणय—जिस वस्तु में शस्त्र परिणत न हुआ हो ऐसी वस्तु देना-लेना।

[६] लित्त –तुरन्त लीपी हुई भूमि का अतिक्रमण करके आहार लेना या देना।

[१०] छड्डिय-भूमि पर छींटे बिखेरते हुए या अन्न टपकाते हुए देना लेना।

मण्डल दोप आहार करते समय सिर्फ साधु को लगते हैं। वे पांच इस प्रकार हैं—[१] संजोयणा [२] अप्पमाणे [३] इंगाले [४] धूमे और [५] अकारणे।

[१] संयोजणा जिह्वा की लोलुपता के वश होकर आहार सरस बनाने के लिए पदार्थों को मिला--मिला कर खाना, जैसे दूध के साथ शक्कर मिलाना आदि।

तात्पर्य यह है कि विभिन्न गृहों से प्राप्त हुए नाना पदार्थों के स्वाद का विचार न करके, केवल बुभुत्ता-तृप्ति के लिए साधु को आहार करना चाहिए। अनुकूल पदार्थों का संयोग करके, उसे स्वादयुक्त बनाकर नहीं खाना चाहिए। ऐसा करने पर संयोजना दोप लगता है।

[२] अप्पमाणे—प्रमाण से अधिक भोजन करना।

[३] इंगाले—सरस आहार करते समय वस्तु की या दाता की प्रशंसा करते हुए खाना।

[४] धूमे—नीरस आहार करते समय भोज्य वस्तु या दाता की निन्दा करते हुए, नाक-भौं सिकोड़ते हुए अरुचि पूर्वक खाना।

[५] अकारण—क्षुधावेदनीय आदि छह कारणों में से किसी भी कारण के बिना ही आहार करना।

छह आहार के कारणों में किसी कारण के होने पर ही साधु को आहार करना चाहिए। छह कारण इस प्रकार हैं--[१] क्षुधा वेदनीय की शान्ति के लिए [२] अपने से बड़े आचार्य आदि की सेवा करने के लिए [३] मार्ग आदि की शुद्धि के लिए [४] प्रेक्षादि संयम की रक्षा के लिए [५] प्राणों की रक्षा के लिए तथा [६] शास्त्र-स्वाध्याय एवं धर्म-साधना के लिए।

आहार संबंधी इन दोषों पर दृष्टिपात करने से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि साधु-जीवन में अहिंसा एवं संयम को जिनागम में कितना उच्च स्थान दिया गया है और पद-पद पर उनका कितना अधिक ध्यान रक्खा गया है। मुनि अपने निमित्त कोई भी क्रिया श्रावक से नहीं कराना चाहता और यदि श्रावक भक्ति के अतिरेक से प्रेरित होकर कोई ऐसा कार्य करता है तो साधु उस आहार आदि को ही अग्राह्य समझकर त्याग देता है।

साधु यद्यपि भिक्षु है, तथापि वह धर्म का प्रतिनिधि है। इस कारण वह भिक्षा प्राप्त करने के लिए दीनता प्रदर्शित करके शासन की महत्ता नष्ट नहीं करता और न भिक्षा के बदले के रूप में गृहस्थ की गृहस्थो संबंधी किसी प्रकार की सेवा ही करता है। वह प्राणरक्षा तथा संयम-पालन आदि आवश्यक कारणों से ही आहार ग्रहण करता है। आहार उसके लिए आकर्षण की या अनुराग की वस्तु नहीं है, सिर्फ आध्यात्मिक उपयोगिकता की वस्तु है, इसीलिए वह जिह्वा की परवाह नहीं करता और जिससे निर्वाह हो जाय उसी वस्तु को वह अनासक्त भाव से ग्रहण करता है।

आहार जीवन में एक महत्वपूर्ण वस्तु है। संयम की साधना और विराधना बहुत अंशों में आहार पर भी निर्भर है। लोक में कहावत है-'जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन' अर्थात् भोजन का मानसिक विचारों पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इन सब बातों को लक्ष्य करके शास्त्रों में साधु के लिए अनेक विधि-विधान किये गये हैं। जिज्ञासु पाठकों को विस्तार जानने के लिए दशवैकालिक सूत्र देखना चाहिए। यहां सिर्फ दिग्दर्शन कराया गया है। इस प्रकार मुनि मधुकर--वृत्ति से निर्दोष आहार ही स्वीकार करते हैं।

मूलः—जे न वंदे न से कुप्पे, वंदिओ न समुक्कसे।
एवमन्नेसमाणस्स, सामरणमणुचिट्ठई ॥ १२ ॥

छायाः—यो न वन्देत् न तस्मै कुप्येत्, वन्दितो न समुत्कर्षेत्।
एवमन्वेषमाणस्य, श्रामण्यमनुतिष्ठति ॥ १२ ॥

शब्दार्थः—यदि कोई गृहस्थ साधु को वन्दन न करे तो उस पर कोप न करे। अगर कोई वन्दना करे तो साधु अभिमान न करे। इस प्रकार अपमान और मान की वासना से रहित होकर गवेषणा करने वाले साधु का साधुत्व ठहरता है।

भाष्यः--मुनि के आचार का विवेचन करते हुए शास्त्रकार ने यहां मुनि को समता भाव रखने का उपदेश दिया है।

अगर साधु को कोई गृहस्थ श्रद्धा एवं भक्ति से प्रेरित वन्दना--नमस्कार न करे तो साधु को कुपित नहीं होना चाहिए। उस समय साधु को ऐसा विचार करना चाहिए कि-'मैं दूसरों से वन्दना-नमस्कार कराने के उद्देश्य से संयम का पालन नहीं कर रहा हूं। कोई वन्दना करे तो मुझे क्या लाभ है? वन्दना न करने से मेरे संयम का क्या बिगड़ता है? प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र है। वह अपनी इच्छा के अनुसार प्रवृति करता है। मुझे मान-प्रतिष्ठा की भूख नहीं है। ऐहलौकिक लाभ के मूल्य पर मैं अपना अमूल्य संयम क्यों लुटने दूं? जैसे चिन्तामणि, फूटी कौड़ी के बदले नहीं दिया जा सकता, उसी प्रकार संयम लौकिक गौरव के लिए नहीं बिगाड़ा जा सकता।

अगर कोई साधारण गृहस्थ या राजा आदि विशिष्ट पुरुष साधु को वन्दना करे तो साधु अभिमान न करे। ऐसे समय साधु यह विचार करे कि गृहस्थ मुझे संयमी समझकर नमस्कार करते हैं, पर मेरे संयम में कहीं कोई त्रुटी तो नहीं है? यदि कोई त्रुटि संयम में होगी तो मुझे मायाचार का दोष लगेगा। इस प्रकार अपनी त्रुटि का विचार करके संयम की महत्ता का विचार करे कि-धन्य है यह संयम, जिसका पालन अनादि काल से तीर्थंकर आदि महापुरुप करते आये हैं, और जो मुक्ति का एक मात्र द्वार है। मेरा बड़ा सौभाग्य है कि गुरु महाराज की दया से मुझे भी इसकी प्राप्ति हुई है। गृहस्थ लोग मेरे शरीर को नहीं किन्तु संयम को वन्दना करते हैं, संयम के प्रति अपना आदरभाव व्यक्त करते हैं, अतएव संयम ही सार है। वही आदरणीय है, वही नमस्करणीय है, वही 'वन्दनीय है, वही पूजनीय है।'

इस प्रकार समताभाव की आराधना करता हुआ जो मुनि विचरता है एवं आहार पानी की गवेषणा करता है उसी का साधुत्व स्थिर रहता है। इसका व्यतिरेक रूप अर्थ यह है कि जो वन्दना करने पर अभिमान का अनुभव करता है और वन्दना न करने पर क्रुद्ध हो जाता है, उसकी साधुता स्थिर नहीं रहती, क्योंकि वह अपने संयम को अपने अभिमान कषाय की पुष्टि के लिए उपयोग करता है, उससे लौकिक लाभ उठाना चाहता है।

वन्दना करने या न करने की अवस्था में साम्यभाव का उपदेश उपलक्षण मात्र है। उससे अन्यान्य सभी प्रतिकूल और अनुकूल समझे जाने वाले व्यवहारों का ग्रहण करना चाहिए। यदि कोई पुरुष किसी भी कारण से आवेशयुक्त होकर साधु को दुर्वचन बोले, शारीरिक कष्ट देवे, शस्त्र का प्रहार करे या जीवन से च्युत करदे तो भी साधु को उस पर वही भाव रखना चाहिए जो भाव साधु वन्दना-नमस्कार करने वाले भक्त श्रावक पर रखता है। इस प्रकार साधुत्व की स्थिरता के लिए साम्य-भाव अनिवार्य है।

मूलः—पण्णसमत्ते सदा जए, समताधम्मुदाहरे मुणी।
सुहुमे उ सया अलूसए, णो कुज्झे णो माणि माहणे

छायाः—प्रज्ञासमाप्तः सदा जयेत्, समतया धर्ममुदाहरेन्मुनिः।
सूक्ष्मे तु सदा अलूषकः, न क्रुद्धयेन्न मानी माहनः॥ १३॥

शब्दार्थः-पूर्ण विद्वान् मुनि सदा यतनापूर्वक कषाय आदि पर विजय प्राप्त करे। समभाव से धर्म का उपदेश करे और सूक्ष्म-चारित्र में भी विराधक न हो। ताड़ना की जाय तो भी क्रोधित न हो और सत्कार करने पर भी अभिमान न करे।

भाष्यः—यहां पर भी शास्त्रकार ने मुनि को अपने चारित्र का पालन करने के लिए समताभाव की आवश्यकता प्रकट की है।

सच्चा साधु वह है जो श्रुत का विशिष्ट अध्ययन करके प्रज्ञाशाली बने, और समभाव पूर्वक धर्म का उपदेश करे। इसके अतिरिक्त न केवल बाह्य और स्थूल आचार का निर्दोष पालन करे अपितु सूक्ष्म और आन्तरिक आचार में भी दोष न लगने दे।

बाह्य आचार आन्तरिक शुद्धि का निमित्त है। अंतरंग अशुद्ध हो और उसकी शुद्धता के लिए प्रयत्न न किया जाय, केवल लोक-दिखावे के लिए बाह्य आचार का पालन किया जाय तो साधुत्व स्थिर नहीं रहता। अतएव साधु को अपने सम्पूर्ण सूक्ष्म स्थूल, अंतरंग वहिरंग, आचार का पालन करना चाहिए। प्रतिलेखना आदि बाह्य क्रियाओं का भी यथासमय अनुष्ठान करना चाहिए और उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचिन्य एवं ब्रह्मचर्य आदि धर्मों का भी सदा आराधन करना चाहिए।

इस प्रकार साम्यभाव का अवलंबन करके संयम का प्रतिपालन करने वाला साधु कृतार्थ होता है।

मूलः—न तस्स जाइ व कुलं व ताणं,णण्णत्थ विज्जाचरणं सुचिण्णं।
निक्खम्म से सेवइ गारिकम्मं, ण से पारए होइ विमोहणाए१४

छायाः—न तस्य जातिर्वा कुलं वा त्राणं, नान्यत्र विद्याचरणे सुचीर्णे।
निष्क्रम्य सः सेवतेऽगारिकर्म न सः पारगो भवति विमोचनाय ॥१४॥

शब्दार्थः—सम्यक् प्रकार से प्राप्त की हुई विद्या और आचरण के अतिरिक्त साधु का जाति या कुल उसके लिए शरण नहीं होते। यदि साधु संसार के प्रपंच से निकल कर गृहस्थ के कर्मों का सेवन करता है तो वह संसार से पार नहीं हो सकता।

भाष्यः—सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र से मुक्ति की प्राप्ति होती है, यह पहले बतलाया जा चुका है। जब कोई मुनि जिनदीक्षा अंगीकार करके गुरुजन की यथोचित विनय-भक्ति-शुश्रूषा आदि करके भलीभांति ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तब संसार से मुक्त होने के योग्य होता है। अतएव ज्ञान और चारित्र ही उसके लिए शरणभूत हैं—इन्हीं के अवलम्बन से निस्तार हो सकता है।

मातृपक्ष जाति कहलाता है और पितृपक्ष कुल कहलाता है। अथवा वर्ण को जाति कहा जाता है और उसकी अन्तर्गत शाखाएं, जो किसी महापुरुष के नाम पर प्रायः प्रचलित होती हैं, कुल कहलाती हैं। जैसे क्षत्रिय जाति है और इक्ष्वाकु आदि कुल हैं।

यहां सूत्रकार ने यह बताया है कि जाति और कुल किसी की रक्षा नहीं कर सकते। संसार के घोरतर कर्म-जन्य दुःखों का प्रतीकार जाति से नहीं हो सकता और न कुल से ही हो सकता है। कर्म अमोघ हैं। जिस पुरुष ने जिस प्रकार के शुभ या अशुभ कर्मों का उपार्जन किया है, उसे उसी प्रकार का फल अवश्यमेव भोगना पड़ेगा। "मैं ब्राह्मण हूं" ऐसा समझने अथवा कहने से कर्म करुणा करके कम फल नहीं देते और दूसरे को अधिक फल नहीं देते। ब्राह्मण मर कर जब नरक में जाता है तो वहां उसे अन्य जीवों के समान ही दुःख सहन करने पड़ते हैं। तात्पर्य यह है कि संसार में कहीं भी जाति के भेद से कर्मफल की भिन्नता नहीं दृष्टिगोचर होती। विष खाने वाले शूद्र की जो दशा होती है वही ब्राह्मण की होती है। जिस प्रकार के प्राकृत या पुरुषार्थजन्य सुख-दुःख दूसरे को भोगने पड़ते हैं, उसी प्रकार के ब्राह्मण जातीय को भी सहने पड़ते हैं।

इसी प्रकार कुल भी रक्षक नहीं होता। जिस श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न हुआ विद्यावान् और आचरणवान् महात्मा मोक्ष प्राप्त करता है, उसी कुल में उत्पन्न होने वाला नरक का अतिथि बनता है। कर्म-फल में अन्य कुलों की अपेक्षा उस कुल में कोई विशेषता नहीं देखी जाती। अतएव यह स्पष्ट है कि कुल भी त्राणभूत नहीं है। उपा-

र्जित किये हुए अशुभ कर्मों का जब दुःखमय फल भोगने का अवसर आता है तब कुल की कोई भी विशेषता काम नहीं आती। अतएव सच्चा शरण जिसे चाहिए उसे ज्ञान एवं चारित्र का ही उपार्जन करना श्रेयस्कर है। विद्या और आचरण जीव का संसार संबंधी समस्त दुःखों से उद्धार करने में समर्थ हैं—इन्हीं से जन्म, जरा, मरण की व्याधि दूर हो सकती है।

जाति और कुल का अभिमान करने वाले इन दुःखों से बचने के बदले और अधिक दुःख के भागी होते हैं। जाति एवं कुल का अभिमान, नीच जाति एवं नीच कुल में ले जाता है। ऐसा समझकर साधु को अपनी जाति तथा कुल का मद नहीं करना चाहिए।

जो साधु गृहस्थ दशा का त्याग करने के पश्चात् भी गृहस्थ सरीखे काम करता है, वह संसार से मुक्त होने में समर्थ नहीं हो सकता। त्रस काय का आरंभ करना, सचित्त फल-फूल आदि का भक्षण करना, अग्निकाय का आरंभ करना, सचित्त जल का उपयोग करना, स्नान करना, आदि गृहस्थ के कर्त्तव्य हैं। जो व्यक्ति गृहस्थी को त्याग चुका और त्यागी जीवन में प्रविष्ट हो चुका है, वह भी यदि इन सावद्य कार्यों को करता रहे—इनसे विरत न हो, तो उसका त्यागी जीवन निरर्थक है—नाम मात्र का है। उस से कुछ भी लाभ होने की संभावना नहीं की जा सकती।

अतएव गृहस्थावस्था का त्याग करके, दीक्षा लेने के पश्चात् साधु को गृहस्थोचित समस्त कार्यों का त्याग करना चाहिए और सर्वथा निरवद्य व्यापार में लीन हो कर आत्मकल्याण के लिए, सम्यक् ज्ञान एवं चारित्र का उपार्जन करना चाहिए।

मुनि-जीवन एक नवीन जीवन है नया जन्म है, ऐसा समझ कर अपनी जाति का, कुल का, पद का, स्वजन आदि का संसर्ग त्याग कर एक अपूर्व अवस्था का अनुभव करना चाहिए। जैसे पूर्व जन्म की किसी वस्तु से इस जन्म में संबंध नहीं रहता, उसी प्रकार गृहस्थावस्था के साथ साधु अवस्था का तनिक भी संबंध नहीं रखना चाहिए। ऐसा करने वाला मुनि मुक्ति का पात्र होता है।

मूलः—एवं ण से होइ समाहिपत्ते, जे पन्नवं भिक्खु विउक्कसेज्जा।
अहवा वि जे लाभमयावलित्ते, अन्नं जणं खिंसति बालपन्ने ॥१५॥

छायाः—एवं न स भवति समाधिप्राप्तः, यः प्रज्ञया भिक्षुः व्युत्कर्षेत्।
अथवाऽपि यो लाभमदावलिप्तः, अन्यं जनं खिसति बालप्रज्ञः ॥ १५ ॥

शब्दार्थः—जाति तथा कुल आदि का अभिमान करने वाला साधु समाधि को प्राप्त नहीं होता। जो भिक्षु प्रज्ञावान् होकर अभिमान करता अर्थात् अपनी बुद्धि का मद करता है अथवा लाभ-मद से युक्त होकर दूसरों की निन्दा करता है वह भी समाधि को प्राप्त नहीं होता।

भाष्यः—इससे पूर्व की गाथा में जातिमद और कुलमद की निस्सारता बता-

कर उन्हें त्याज्य बताया था। यहाँ बुद्धि एवं लाभ संबंधी मदों को हेय कहा है।

मैंने अमुक अमुक शास्त्रों का परिपूर्ण अध्ययन कर लिया है, मेरी बुद्धि अत्यन्त प्रकृष्ट है, इस प्रकार का विचार करके जो साधु अभिमान करता है, उसके हृदय में मान कषाय का शल्य विद्यमान होने के कारण वह निश्शल्य नहीं बन पाता। जहाँ निश्शल्यता नहीं है वहाँ समाधि भी नहीं हो सकती, इसी कारण सूत्रकार ने अभिमान को समाधि की अप्राप्ति बताई है।

इसी भाँति जो मुनि लाभ के मद में मत्त होता है और दूसरों की अवलेहना करता है, जैसे मैं इतना सरस सुन्दर और स्वादिष्ट आहार लाकर देता हूं! तुम लोगों को कोई ऐसा अच्छा आहार क्यों नहीं देता? इत्यादि, वह लाभ-मद में मत्त मुनि भी समाधि के अनुपम सुख के स्वाद से वंचित रहता है।

तात्पर्य यह है कि जो जाति का मद करता है उसे संसार में पुनः पुनः जाति (जन्म) जन्य दुःखों का अनुभव करना पड़ता है। जो कुल का अभिमान करता है वह सत्तरलाख कुल-कोटियों में परिभ्रमण करता है। जो प्रज्ञा के मद में मत्त होता है वह बालप्रज्ञ अर्थात् अज्ञान है। वास्तव में जो अज्ञान होता है वही अपने ज्ञान का अभिमान करता है। ज्ञानवान् जन अपने अज्ञान को जानता है, इसलिए वह अभिमान नहीं करता।

अज्ञान पुरुष कितना दयनीय है जो अपने ज्ञान का अभिमान तो करता है, पर अपने अज्ञान का भी जिसे ज्ञान नहीं है! जिसके घर में ही अंधेरा है वह बाहर क्या उजेला करेगा? ज्ञानी जन धन्य हैं जो अपनी छद्मस्थ अवस्था में अपने अज्ञान को भलिभांति जानते हैं और इसी कारण कभी ज्ञान का मद नहीं करते। ज्ञानी और अज्ञानी में कितना भेद है! कहा भी है—

> यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहम् द्विप इव मदान्धः समजनि।
> तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
> यदा किञ्चित् किञ्चिद् बुधजनसकाशादवगतम्,
> तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥

अर्थात् जब मुझे अत्यन्त अल्प ज्ञान था, जब मैं हाथी की तरह मद में अंधा हो रहा था। तब मेरा मन घमंड के मारे ऐसा हो रहा था कि बस, सर्वज्ञ मैं ही हूं। किन्तु जब विद्वानों से थोड़ा सा ज्ञान पाया, तब मुझे प्रतीत हुआ कि मैं अज्ञान हूं। उस समय मेरा समस्त अभिमान ज्वर की तरह उतर गया।

कवि ने अज्ञान का यह सजीव चित्र खींचा है। वास्तव में जब अज्ञान की अधिकता होती है, अज्ञान इतना अधिक बढ़ा होता है कि मनुष्य उसमें आकंठ निमग्न होकर अपने अज्ञान को भी जानने में असमर्थ हो जाता है, तब वह अपने ज्ञान का अभिमान करता है। इसके विरुद्ध ज्ञानी पुरुष को अपने अज्ञान का भलीभांति ज्ञान होता है, इसलिए वह ज्ञान का अभिमान नहीं कर सकता।

यही आशय प्रकट करने के लिए सूत्रकार ने प्रज्ञा आदि के अभिमानी को 'बालप्रज्ञ' अर्थात् अज्ञान बताया है ।

इसी प्रकार जो साधु आहार, पानी, वस्त्र, पात्र आदि के लाभ का अभिमान करता है वह वास्तविक लाभ से सदा वंचित रहता है। पौद्गलिक लाभ में उलझा हुआ वह साधु आत्मा के स्वाभाविक गुणों के लाभ की ओर आकृष्ट नहीं होता और इस कारण वह घोर अलाभ का पात्र बनता है। अतएव साधु को यह विचारना चाहिए कि मैं अपने सहज चिदानन्दमय स्वभाव के लाभ के लिए प्रयत्न कर रहा हूं । जब तक उस अपूर्व, अद्भुत एवं अलौकिक स्वभाव की प्राप्ति नहीं हुई तब तक मुझे किञ्चित् मात्र भी लाभ नहीं हुआ है। भोजन पान का लाभ तो वास्तव में अलाभ है, क्योंकि वह प्रमादजनक तथा तपस्या, ध्यान आदि में विघ्न करता है। भोजन आदि का अलाभ वास्तव में लाभ है, क्योंकि उससे अनायास ही तप एवं संयम आदि की साधना हो जाती है।

इस प्रकार विचार करने से साधु लाभ का अभिमान नहीं करता और अलाभ होने पर विषाद नहीं करता है। अतएव ऐसा विचार कर समाधि प्राप्त करना चाहिए।

मूल:—न पूयणं चेव सिलोयकामी, पियमप्पियं कस्सइ नो करेज्जा
सव्वे अणट्ठे परिवज्जयंते, अणाउले य अकसाइ भिक्खू १६

छाया:—न पूजनं चैव श्लोककामी, प्रियमप्रियं कस्यापि नो कुर्यात् ।
सर्वानर्थान् परिवर्जयन्, अनाकुलश्च अकषायी भिक्षुः ॥१६॥

शब्दार्थ:—साधु न अपने सत्कार की आकांक्षा करे और न कीर्त्ति की कामना करे। न किसी से राग करे और न द्वेष करे। सभी अनर्थों का त्याग करता हुआ, निराकुल और निष्कषाय होकर विचरे।

भाष्य:—साधु प्रवचन करते समय यह इच्छा न करे कि मैं उत्तम उपदेश देता हूं तो श्रोता श्रावक श्रेष्ठ आहार आदि से मेरा सत्कार करें अथवा मेरी प्रशंसा करें।

जिसके अन्तःकरण में ख्याति, लाभ, पूजा आदि की चाहना होती है, उसका हृदय शुद्ध नहीं हो सकता। अतः शुद्धता पूर्वक संयम-निर्वाह के लिए इन सब कामनाओं का परित्याग करना आवश्यक है। जिसकी दृष्टि इस लोक संबंधी लाभ पर ही केन्द्रित रहती है, वह पारलौकिक कल्याण की ओर ध्यान नहीं दे पाता। पर लोक संबंधी कल्याण की प्राप्ति के लिए इस लोक के लाभों से सर्वथा निरपेक्ष रहना चाहिए।

इसी प्रकार साधु किसी पर राग-द्वेष न करे। यदि कोई पुरुष साधु की प्रशंसा करता हो तो उसे अपनी प्रशंसा न समझकर भगवत्प्ररूपित संयम की प्रशंसा समझे। अगर कोई साधु के विद्याविभव की, वाक्कौशल की या अनासक्ति की प्रशंसा करे तो उसे प्रशंसक पर राग नहीं करना चाहिए वरन् अपने अज्ञान आदि का विचार

करके उनकी विशेष प्राप्ति के लिए कटिबद्ध होना चाहिए। इसी प्रकार अगर कोई पुरूष निन्दा आदि करे तो साधु को द्वेष नहीं करना चाहिए। ऐसे समय में उसे निन्दा के विषयभूत दोष पर विचार करना चाहिए कि—'वास्तव में निन्दा के योग्य दोष मुझमें है या नहीं ? यदि है तो निन्दक व्यक्ति सत्य ही कहता है। मुझे उस पर क्रोध न करके उसका ऋणी होना चाहिए कि उसने वह अवगुण त्यागने का मुझे अवसर प्रदान किया है। अगर निन्दनीय दोष न हो तो सोचना चाहिए कि, मुझ में जब दोष नहीं है तो किसी के कहने से मेरी आत्मा का क्या बिगाड़ होगा ? निन्दक ही अपना अहित करके अशुभ कर्मों का संचय कर रहा है। बेचारा मेरे निमित्त से पाप में डूब रहा है, अतएव वह क्रोध का पात्र न होकर दया का पात्र है। अथवा मैंने कोई अशुभ कर्म पहले उपार्जन किया होगा जिसके उदय से मुझे निन्दा का पात्र बनना पड़ा है। वास्तव में तो मेरा कर्म ही मेरी निन्दा करता है, व्यक्ति तो साधारण निमित्त मात्र है। मैं उस पर क्यों क्रोध या द्वेष करूं ? द्वेष आदि करने से तो आगे के लिए फिर अशुभ कर्म का बंध होगा !

इसके अतिरिक्त प्रशंसा और निन्दा की वास्तविकता पर गहरा विचार करना चाहिए। प्रशंसा एक प्रकार की अनुकूल परीषह है, निन्दा प्रतिकूल परीषह है। प्रतिकूल परीषह की अपेक्षा अनुकूल परिषह को जीतना अधिक कठिन होता है अतएव निन्दा की अपेक्षा प्रशंसा को अधिक भयंकर समझना चाहिए और उससे बचने का सदैव प्रयास करना चाहिए। निन्दा और प्रशंसा होने पर समान भाव धारण करके साधु को अपनी साधना की ओर ही ध्यान रखना चाहिए।

संयम को दूषित करने वाले समस्त अनर्थों का, अनाचीर्ण आदि का, त्याग करना चाहिए। अनाचीर्ण क्या है ?

जिन बातों का तीर्थंकरों ने तथा प्राचीन मुमुक्षु महर्षियों ने कभी आचरण नहीं किया है, उन्हें अनाचीर्ण कहते हैं। शास्त्रों में अनाचीर्ण ५२ (बावन) बताये गये हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) औद्देशिक—आहार, पानी, पात्र आदि ग्रहण करना।

(२) क्रीतकृत— साधु के लिए मोल देकर खरीदी हुई वस्तु देने पर उसे लेना।

(३) नित्यपिण्ड—विशेष कारण के बिना एक ही घर से नित्य आहार-पानी लाकर ग्रहण करना।

(४) अभ्याहृत—उपाश्रय में या जहां साधु स्थित हों वहां आहार आदि लाकर श्रावक दे और उसे ग्रहण करना।

(५) रात्रिभक्त—अन्न, पानी, खाद्य, स्वाद्य, आदि किसी भी प्रकार के आहार का रात्रि में उपभोग करना।

(६) स्नान—हाथ पैर आदि धोना देशस्नान कहलाता है और समस्त शरीर का प्रक्षालन करना सर्वस्नान है।

(७) गंध—इत्र, चन्दन आदि सुगंधमय पदार्थ बिना विशेष शारीरिक कारण के लगाना।

(८) माल्य—फूलों की या मोती, पन्ना आदि की माला पहनना ।

(९) वीजन – पंखे से, पुट्ठे से या वस्त्र आदि से हवा करना ।

(१०) सन्निधि – घृत, तेल, शक्कर आदि पदार्थ रात्रि में अपने पास, दूसरे दिन के लिए रखना ।

(१०) गृहीपात्र—गृहस्थ के पात्र में आहार करना ।

(१२) राज पिण्ड—राजा के लिए बनाया हुआ पौष्टिक आहार लेना ।

(१३) किमिच्छक दान—दानशाला आदि में बंटने वाला सदावर्त्त आदि लेना । अर्थात् जहां 'क्या चाहिए तुम्हें ?' इस प्रकार पूछकर सर्वसाधारण भिक्षुकों को दान दिया जाता है, उस स्थान से दान लेना ।

(१४) संवाहन—शरीर को आनन्द देने वाला तैल का मर्दन कराना । रोग निवारण के लिए तैल मर्दन कराना इसमें सम्मिलित नहीं है ।

(१५) दन्तधावन—दांतों को चमकदार बनाने के लिए मंजन, मिस्सी आदि का उपयोग करना ।

(१६) संप्रश्न—असंयमी एवं गृहस्थ से साता पूछना ।

(१७) देहप्रलोकन— कांच में, तेल में या पानी आदि में अपना मुंह देखना, या शरीर देखना ।

(१८) अष्टापद—जुआ खेलना ।

(१९) नालिक— चौपड़ आदि खेलना ।

(२०) छत्रधारण—सिर पर छत्र-छतरी लगाना ।

(२१) चिकित्सा—विना रोग के बल-वृद्धि के लिए औषध का सेवन करना चिकित्सा कराना ।

(२२) उपानह—जूते, खड़ाऊं, मोजे आदि पैर में पहनना ।

(२३) ज्योतिरारंभ—दीपक जलाना, चूला जलाना या अन्य प्रकार से अग्नि का आरंभ करना ।

(२४) शय्यातरपिण्ड – जिसकी आज्ञा लेकर मकान में निवास किया हो उस के घर का आहार-पानी आदि लेना ।

(२५) आसंदी—माचा,पलंग, कुर्सी आदि पर बैठना ।

(२६) गृहान्तर निषद्या – रोग, तपश्चर्याजन्य निर्बलता एवं वृद्धावस्था आदि विशेष कारण के विना गृहस्थ के घर में बैठना ।

(२७) गात्रमर्दन – शरीर पर पीठी आदि लगाना ।

(२८) गृहिवैयावृत्य – गृहस्थ की सेवा करना या गृहस्थ से पांव चम्पी वगैरह सेवा कराना ।

(२९) जात्याजीविका—सजातीय बनकर या अपने को सगोत्री कहकर आहार आदि प्राप्त करना ।

(३०) तप्तानिवृत्त—पूर्ण रूप से अचित्त हुए विना ही जल आदि का ग्रहण कर लेना ।

(३१) आतुरस्मरण—रोगजन्य कष्ट होने पर अथवा परीपह और उपसर्ग प्राप्त होने पर अपने आत्मीय जनों का स्मरण करना।

(३२) मूली का भक्षण करना।

(३३) आर्द्रक अर्थात् अदरख का उपयोग करना।

(३४) इक्षुखण्ड अर्थात् गन्ने के टुकड़े लेना-खाना।

(३५) सूरण आदि कन्दों का आहार।

(३६) जड़ी-बूंटी आदि का उपयोग करना।

(३७) सचित्त फल खाना।

(३८) बीज का भक्षण करना।

(३९-४५) सेंचल नमक, सैंधा नमक, सामान्य नमक, रोम-देशीय नमक, समुद्री नमक, पांशुक्षार और काला नमक, इन सब का भक्षण करना। मूली से लगाकर नमक पर्यन्त सचित्त वस्तुओं का सेवन करना अनाचीर्ण है।

(४६) धूपन—शरीर को या वस्त्र आदि को धूप देना।

(४७) वमन-विना कारण मुंह में उंगली डालकर या औषध लेकर वमन करना।

(४८) वस्ती कर्म—गुदा मार्ग से कोई वस्तु पेट में डालकर दस्त करना।

(४९) विरेचन—निष्कारण जुलाब लेना।

(५०) अंजन—आंखों की सुन्दरता बढ़ाने के लिए काजल लगाना,सुरमा लगाना।

(५१) दन्तवर्ण—दांतों का सौन्दर्य बढ़ाने के लिए दांत रंगना उन पर रंग चढ़ाना

(५२) शारीरिक बल—वृद्धि के लिए व्यायाम करना।

यह बावन अनाचीर्ण संयम के सबल दूषण हैं। इनका सर्वथा त्याग करके साधु को संयम का पालन करना चाहिए।

जो मुनि इन तथा इसी प्रकार के अन्य शास्त्रोक्त अनर्थों का त्याग करता हुआ, निराकुल एवं कषायहीन होकर संयम का पालन करता है, वह परम कल्याण का भागी होता है।

आकुलता, निर्बलता से उत्पन्न होती है। घोर से घोर परीषह और उपसर्ग उपस्थित हो जाने पर पर भी साधु को चट्टान की तरह दृढ़ रहना चाहिए। ऐसे प्रसंगों पर जिसका चित्त सुदृढ़ बना रहता है, उसका परीषह कुछ बिगाड़ नहीं कर सकते। आधे परीषह और उपसर्ग को साधु अपने चित्त की स्थिरता से ही जीत लेता है।

मूलः—जाए सद्धाए निक्खंतो, परियायट्ठाणमुत्तमं।
तमेव अणुपालिज्जा, गुणे आयरियसम्मए ॥१७॥

छायाः—यथा श्रद्धया निष्क्रान्तः, पर्यायस्थानमुत्तमम्।
तामेवानुपालयेत्, गुणेषु आचार्यसम्मतेषु ॥१७॥

शब्दार्थः—जिस श्रद्धा के साथ उत्तम दीक्षा का पद प्राप्त करने के लिए निकला है, उसी श्रद्धा से तीर्थंकर भगवान् द्वारा उपदिष्ट गुणों का पालन करना चाहिए।

भाष्य:—मुनियों के आचार का निरूपण करके अन्त में सामान्य रूप से आचार-पालन का उपदेश करते हुए अध्ययन का उपसंहार किया गया है।

तात्पर्य यह है कि जिस उत्कृष्ट भावना, वैराग्य और मुमुक्षुता के साथ दीक्षा ग्रहण की है, वही उत्तम भावना मुनि को सदा स्थिर रखनी चाहिए, वैसा ही वैराग्य कायम रखना चाहिए। और तीर्थंकर भगवान् ने मुनि के लिए जिन आवश्यक गुणों का निरूपण किया है उन गुणों का सदैव सेवन करना चाहिए।

मन अत्यन्त चंचल है। वह सदैव एक-सा नहीं रहता। जब कोई दुर्घटना होती है, हृदय को किसी प्रकार का आघात लगता है, इष्ट जन या धन आदि का वियोग होता है तब मनुष्य में एक प्रकार की विरक्ति भावना का आविर्भाव होता है। जब किसी महात्मा पुरुष के दर्शन होते हैं या उसके वैराग्य-परिपूर्ण प्रवचन को श्रवण करने का अवसर प्राप्त होता है तब संसार के भोगोपभोग नीरस से प्रतीत होने लगते हैं। मन उनसे विमुख हो जाता है। किन्तु चिर-परिचित कामनाएं कुछ ही काल में पुनरुद्भूत हो आती हैं और वे उस विरक्ति को दबा देती हैं। जैसे सफेद वस्त्र पर काले रंग का दाग जल्दी लगता और दाग लगने पर सफेदी बिलकुल दब जाती है, उसी प्रकार स्वच्छ हृदय-पट पर कामनाओं का धब्बा शीघ्र लग जाता है और वह स्वच्छता का समूल विनाश कर देता है।

इस प्रकार मनुष्य एक बार जिन वासनाओं को दबा लेने में समर्थ हो सका था, वही वासनाएं फिर प्रबल होकर उसे दबा देती हैं। वैराग्य का रंग उड़ जाता है और मन कल्पना द्वारा निर्मित भोगों में निमग्न हो जाता है। धीरे-धीरे अध पतन होता जाता है और अन्त में साधुता भी समाप्त हो जाती है। मन की चंचल गति से इस प्रकार के अनेक अनर्थ होते हैं। अतएव शास्त्रकार यहां सावधान करते हुए कहते हैं कि, मन को अपने अधीन बनाओ। सदा मन की चौकसी करते रहो। वह एक बार ऊंचा उठकर नीचा न गिरने पावे।

मन क्रमश. ऊंचा ही उठता चला जाय तो शास्त्र में आचार्य अर्थात् तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट गुणों का यथावत् पालन हो सकता है, अन्यथा नहीं।

शंका—शास्त्र में पंच परमेष्ठी का प्ररूपण किया गया है। तीर्थंकर भगवान् जब धर्म का उपदेश देते हैं तब वे अर्हन्त पद में स्थित होते हैं। फिर यहां तीर्थंकर को आचार्य क्यों कहा है ?

समाधान—जो मुनि स्वयं आचार का पालन कहते हैं तथा दूसरों से कराते हैं, उन्हें आचार्य कहते हैं। कहा भी है—

दंसणणाणपहाणे, वीरियचारित्तवर तवायारे।
अप्पं परं च जुंजइ, सो आयरियो मुणी झेयो ॥

अर्थात् जो मुनि दर्शनाचार, ज्ञानाचार, वीर्याचार, चारित्राचार तथा तप-आचार में अपने को लगाते हैं और अन्य मुनियों को भी लगाते हैं, उन्हें आचार्य

कहते हैं। वे मुनि ध्यान करने के योग्य हैं।

आचार्य की यह परिभाषा तीर्थंकर भगवान् में पूर्ण रूप से घटित होती है, अतएव सामान्य की अपेक्षा से उन्हें आचार्य कहा गया है। जैसे आचार्य को सामान्य रूप से साधु कहा जा सकता है उसी प्रकार अरिहन्त तीर्थंकर भगवान् को आचार्य भी कहा जा सकता है। अथवा यहां श्री गौतम एवं सुधर्मा स्वामी से तात्पर्य है।

शंका—यहां आचार्य-सम्मत गुणों के पालन करने का विधान किया है, सो वे गुण कौन-कौन से समझने चाहिए ?

समाधान—इस अध्ययन में जिन गुणों का साक्षात् निरूपण किया गया है, उन पांच महाव्रत आदि का तथा उनके अतिरिक्त साधु की द्वादश प्रतिमाओं (पडिमाओं) का, करणसत्तरी, चरणसत्तरी का, आठ प्रभावनाओं का, तथा अन्य शास्त्रोक्त आचार का यहां ग्रहण करना चाहिए।

इनमें से साधु की बारह पडिमाएं इस प्रकार हैं—

(१) पहली पडिमा में साधु को एक मास तक एक दत्ति (दात) आहार लेना चाहिए। अर्थात् आहार देते समय दाता एक बार में जितना आहार देदे उतने ही आहार पर निर्वाह करे और एक बार में, विना धार टूटे जितना पानी मिल जाय, उसी पानी का उपभोग करे। जैसे—किसी दाता ने पहले एक बार सिर्फ एक चम्मच दाल दी तो उसके पश्चात् कुछ भी ग्रहण न करे, उतनी ही दाल का उपभोग करे। इसी प्रकार विना धार तोड़े जो पानी एक बार में मिल जाय उसके अतिरिक्त दूसरी बार फिर न लेवे। इस प्रकार एक मास तक अनुष्ठान करना पहली पडिमा है।

(२) दूसरी पडिमा में, दो मास तक दो दत्ति आहार की तथा दो दत्ति पानी की ग्रहण करे, अधिक नहीं।

(३) तृतीय पडिमा में, तीन मास तक तीन दत्ति आहार और तीन दत्ति पानी ग्रहण करे।

(४) चतुर्थ पडिमा में चार मास तक चार दत्ति आहार और चार दत्ति पानी पर निर्वाह करे।

(५) पंचमी पडिमा में पांच मास तक पांच दत्ति आहार और पांच दत्ति पानी की ग्रहण करे।

(६) षष्ठ पडिमा में छह मास तक छह दत्ति आहार और छह दत्ति पानी की ग्रहण करे।

(७) सातवीं पडिमा में सात मास तक सात दत्ति आहार की और सात दत्ति पानी की ग्रहण करे। इससे कम आहार-पानी ग्रहण करने में हानि नहीं है, किन्तु विशेष तपस्या है, अधिक नहीं लेना चाहिए।

(८) आठवीं पडिमा में सात दिन तक चौविहार एकान्तर उपवास करना

चाहिए। दिन में सूर्य के ताप का सेवन करना चाहिए। रात्रि में नग्न रहना चाहिए। रात्रि में सीधा या एक ही करवट से सोना चाहिए या तो चित्त ही सोवे—करवट न ले। अथवा जिस करवट सोवे उसी से सोता रहे—बदले नहीं। सामर्थ्य विशेष हो तो कायोत्सर्ग करके बैठे।

(९) नवमी प्रतिमा का अनुष्ठान आठवीं के समान है। विशेषता यह है कि रात्रि में शयन न करे, दंडासन, लगुडासन या उत्कुट आसन लगा कर रात्रि व्यतीत करे। दंड की तरह सीधा खड़ा रहना दंडासन है। पैर की ऐड़ी और मस्तक का शिखा स्थान पृथ्वी पर लगा कर समस्त शरीर धनुष की भांति अधर रखना लगुडासन है। दोनों घुटनों के मध्य में मस्तक झुका कर ठहरना उत्कट आसन है।

(१०) दसवीं प्रतिमा (पडिमा) भी आठवीं की तरह है। इसमें विशेषता यह है कि समस्त रात्रि गोदुहासन, वीरासन अथवा अम्बखुजासन से स्थित होकर व्यतीत करना चाहिए। गाय दुहने के लिए जिस आसन से दुहने वाला बैठता है उसे गोदुहासन कहते हैं। पाट पर बैठकर दोनों पैर जमीन में लगा लिए जाएं और पाट हटा लेने पर उसी प्रकार अधर बैठा रहना वीरासन है। सिर नीचे रखना और पैर ऊपर रखना अम्बखुजासन कहलाता है।

(११) ग्यारहवीं पडिमा में बेला (षष्ठभक्त) करना चाहिए, दूसरे दिन ग्राम से बाहर आठ प्रहर तक (रात-दिन-चौबीस घंटे) कायोत्सर्ग करके खड़ा रहना चाहिए।

(१२) बारहवीं पडिमा में तेला करना चाहिए। तीसरे दिन श्मशान में एक ही वस्तु पर अचल दृष्टि स्थापित कर कायोत्सर्ग करना चाहिए। विशिष्ट संयम की साधना के लिए तथा कायक्लेश के लिए साधु को इन बारह पडिमाओं के आचरण का विधान किया गया है। इनके अनुष्ठान के लिए उग्र सामर्थ्य की आवश्यकता होती है। आधुनिक समय में शरीर-संहनन की निर्बलता के कारण पडिमाओं का अनुष्ठान नहीं हो सकता।

करणसत्तरि के सत्तर भेद हैं। यथा--

पिंडविसोही समिई, भावना पडिमनिग्गहो य।
पडिलेहणगुत्तीओ, अभिग्गहं चेव करणं तु॥

अर्थात् पिण्डविशुद्धि, समिति, भावना, प्रतिमा, इन्द्रियनिग्रह, प्रतिलेखना, गुप्ति और अभिग्रह, यह सब करण के भेद हैं।

पिण्डविशुद्धि के चार भेद हैं, समितियां पांच, भावनाएं बारह हैं, प्रतिमाएं बारह, इन्द्रिय निग्रह पांच, प्रतिलेखना पच्चीस, गुप्ति तीन और अभिग्रह चार हैं। इन सबका योग सत्तर होता है।

(१) आहार (२) वस्त्र (३) पात्र और (४) स्थानक, निर्दोष ही काम में लाना-सदोष का परित्याग करना चार प्रकार की पिण्डशुद्धि कहलाती है। पांच समितियों

का, द्वादश भावनाओं का और द्वादश प्रतिमाओं का निरूपण पहले किया जा चुका है। पांच इन्द्रियों का वर्णन भी पहले आ चुका है, उनका दमन करना इन्द्रियनिग्रह है। साधु जो वस्त्र पात्र आदि धर्मोपकरण रखते हैं उनकी यथाकाल प्रतिलेखना करना। प्रतिलेखना पच्चीस प्रकार की सूत्र उत्तराध्ययन में कही गई है।

तीन गुप्तियों का स्वरूप पहले बताया जा चुका है। अभिग्रह चार यह हैं—[१] द्रव्य अभिग्रह [२] क्षेत्र अभिग्रह [३] काल अभिग्रह और [४] भाव अभिग्रह। "मैं आज अमुक वस्तु मिलेगी तो आहार लूंगा, अन्यथा नहीं' इस प्रकार का संकल्प करना द्रव्य अभिग्रह है। अमुक स्थान पर आहार प्राप्त होगा तो लूंगा, अन्यथा नहीं, ऐसा संकल्प करना क्षेत्र-अभिग्रह है। अमुक समय पर मिलेगा तो आहार लूंगा, अन्यथा नहीं, इस प्रकार काल संबंधी संकल्प करना काल-अभिग्रह है। अमुक प्रकार से आहार लूंगा अन्यथा नहीं, इस तरह का संकल्प कर लेना भाव-अभिग्रह है।

तपस्या की विशेष साधना के लिए तथा अन्तराय कर्म के उदय की परीक्षा के लिए मुनिजन अभिग्रह करते हैं। अभिग्रह पूर्ण हो तो आहार ग्रहण करते हैं, अन्यथा अनशन करके कर्मों की निर्जरा करते हैं।

चरण सत्तरि के भी सत्तर प्रकार हैं। वे यह हैं—

वय – समणधम्म-संजय-वेयावच्चं च बंभगुत्तीओ।
नाणाइ नीयं तव, कोहो निग्गहाइ चरणमेये॥

अर्थात्—पांच महाव्रत, दस प्रकार का श्रमणधर्म, सत्तरह प्रकार का संयम, दस प्रकार का वैयावृत्य, नव वाड़ युक्त ब्रह्मचर्य, सम्यग्ज्ञान आदि तीन रत्न, बारह प्रकार का तप, चार क्रोध आदि कषायों का निग्रह, यह सब सत्तर भेद चरणसत्तरी के हैं।

इन सब का स्वरूप प्रायः पहले आ चुका है। उत्तम क्षमा, मुक्ति आर्जव आदि दस धर्म हैं संयम के सत्तरह भेद इस प्रकार हैं—

(१) पृथ्वीकाय संयम पृथ्वीकाय की हिंसा न करना, पृथ्वीकाय की यतना करना।

(२) अप्काय संयम—जलकाय के जीवों की यतना करना—आरंभ न करना।

(३) तेजस्काय संयम—अग्निकाय के जीवों का आरम्भ नहीं करना।

(४) वायुकाय संयम—वायुकाय के जीवों का आरम्भ न करना।

(५) वनस्पतिकाय संयम—वनस्पतिकाय के जीवों का आरम्भ नहीं करना। इन पांचों का स्पर्श तक साधु को त्याज्य है।

(६) द्वीन्द्रिय संयम।

(७) त्रीन्द्रिय संयम।

(८) चतुरिन्द्रिय संयम।

(९) पञ्चेन्द्रिय संयम। इनका अर्थ सुगम है।

(१०) अजीवसंयम—अर्थात् वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि निर्जीव वस्तुओं को यतनापूर्वक उठाना, रखना, उनका सदुपयोग करना एवं संभाल कर काम में लाना।

(११) प्रेक्षासंयम—प्रत्येक वस्तु सम्यक् प्रकार से देख-भाल कर काम में लाना। इससे स्व-पर रक्षा होती है।

(१२) उपेक्षासंयम—सत्य धर्म का उपदेश देकर मिथ्यादृष्टि को सम्यग्दृष्टि बनाना, सम्यग्दृष्टि को श्रावक या साधु बनाना, जो किसी कारण धर्म से चलित हो रहा हो उसे सहायता देकर धर्म स्थिर करना, आदि।

(१३) प्रमार्जनसंयम—जहां परिपूर्ण प्रकाश न हो वहां तथा रात्रि के समय रजोहरण से भूमि का प्रमार्जन करके गमनागमन करना, शरीर पर कीड़ी आदि जन्तु चढ़ जाय तो पूंजणी से प्रमार्जन करके हटाना, आदि।

(१४) परिस्थापनसंयम—मल, मूत्र, कफ, अशुद्ध आहार को देख भाल कर निर्जीव भूमि पर डालना, जिससे किसी जीव का घात न हो।

(१५) मनः संयम—मन को अपने आधीन बनाना, दुर्विचार न होने देना, मन का निरोध करना।

(१६) वचन संयम—अनुचित वचन का प्रयोग न करना अथवा सर्वथा मौन धारण करना।

(१७) काय संयम—शरीर की चेष्टाओं को रोकना अथवा दोष-युक्त व्यापार शरीर से न होने देना।

वैयावृत्य का स्वरूप तप के प्रकरण में कहा जायगा। नव बाड़ युक्त ब्रह्मचर्य का कथन किया जा चुका है। रत्नत्रय का भी स्वरूप-वर्णन हो चुका है। शेष भेद प्रसिद्ध हैं।

पूर्व कथनानुसार आचार्य सम्मत गुणों में आठ प्रभावनाएँ भी अन्तर्गत हैं। उनका स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार है:—

(१) प्रवचनप्रभावना—वीतराग सर्वज्ञ भगवान का उपदेश प्रवचन है और उसकी प्रभावना करना अर्थात् उसके सम्बन्ध में विद्यमान अज्ञान की निवृत्ति करना प्रवचन प्रभावना है। कहा भी है—

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम्।
जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात् प्रभावना॥

अर्थात् अज्ञान रूपी अन्धकार को यथोचित उपायों से दूर करके जिनेन्द्र भगवान् के शासन की महत्ता प्रकट करना प्रभावना है।

जिन का उपदेश ही इस लोक में हितकारी है। उसका अनुसरण किये बिना कल्याण नहीं हो सकता। किन्तु उसके वास्तविक मर्म को न समझने के कारण अनेक कल्याणकामी जन उसका आचरण नहीं करते, उस पर उपेक्षा का भाव रखते हैं

और अनेक मिथ्यादृष्टि जन मिथ्यात्व की प्रबलता के कारण उसे अकल्याणकारी मान कर उससे दूर रहते हैं। यह सब प्रवचन सम्बंधी अज्ञान का परिणाम है। इस अज्ञान को जिन शासन का वास्तविक स्वरूप प्रकट करके हटाना, जिनागम का गंभीर ज्ञान प्राप्त करना, उसकी स्याद्वाद शैली को ध्यान में रखते हुए, अपेक्षा भेद को समझते हुए स्वयं उसमें पारंगत होना, देश, काल के अनुसार उसका प्रचलित और सुगम भाषा में अनुवाद करना, उसके आधार पर तुलनात्मक ग्रंथों की रचना, उसकी हितकरता, व्यापकता, एवं सर्वकालीनता को युक्ति पूर्वक समझाना, जिज्ञासुओं को पढ़ाना आदि प्रवचन की प्रभावना है।

(२) धर्मकथा-प्रभावना—धर्मोपदेश करके, अपनी वक्तृत्वकला के द्वारा जिन शासन की प्रभावना करना धर्मकथाप्रभावना है। धर्मकथा चार प्रकार की है—(१) आक्षेपणी [२] विक्षेपणी [३] संवेगनी और [४] निर्वेदनी।

[क] आक्षेपणी कथा—श्रोताओं के हृदय में से राग, द्वेष और मोह निवृत्त करके तत्त्वों की ओर आकर्षित करने वाली कथा आक्षेपणी कथा कहलाती है। इस कथा के भी चार उपभेद हैं—[१] केश-लोच आदि आचार के द्वारा अथवा आचार के व्याख्यान द्वारा श्रोता को अर्हन्त प्ररूपित शासन की ओर आकृष्ट करना आचार-आक्षेपणी कथा है। [२] किसी समय कोई दोष लगने पर उसकी शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त या व्यवहारसूत्र का व्याख्यान करके शासन की ओर श्रोता को आकृष्ट करना व्यवहार-आक्षेपणी कथा है। [३] जिसे जिनवचन में कहीं संशय हो उसे मधुर वचनों द्वारा समझाकर या प्रज्ञप्तिसूत्र का व्याख्यान करके शासन की ओर आकृष्ट करना प्रज्ञप्ति-आक्षेपणी कथा है। सात नयों के अनुसार जीवादि तत्त्वों का व्याख्यान करके अथवा दृष्टिवाद का व्याख्यान करके श्रोता को तत्त्वबोध कराना दृष्टिवाद-आक्षेपणी कथा है। आक्षेपणी धर्मकथा के यह चार भेद हैं।

[२] विक्षेपणी कथा—सन्मार्ग का त्याग करके कुमार्ग की ओर जाते हुए श्रोता को सन्मार्ग में स्थापित करने वाली कथा [उपदेश] विक्षेपणी कथा कहलाती है। इस कथा में सन्मार्ग के लाभ और कुमार्ग के दोषों एवं हानियों का प्रधान रूप से वर्णन किया जाता है।

विक्षेपणी कथा के चार प्रकार हैं—[१] अर्हत्-शासन के गुणों को प्रकाशित करके, एकान्तवाद के दोषों का निरूपण करना [२] पर-सिद्धान्त का पूर्व पक्ष के रूप में कथन करके स्वकीय सिद्धान्त की प्रमाण और युक्ति के आधार से स्थापना करना। [३] पर-सिद्धान्त में जो विषय जिनागम के समान निरूपित हैं उनका दिग्दर्शन कराते हुए विपरीत बातों में दोषों का निरूपण करना [४] पर-सिद्धान्त में कथित जिनागम से विपरीत वादों का निरूपण करके, जिनागम-के समान विषयों का कथन करना।

[३] संवेगनी कथा—जिस उपदेश से श्रोता के हृदय में वैराग्य की वृद्धि हो और श्रोता संसार से विरक्त हो उसे संवेगनी कथा कहते हैं। संवेगनी कथा के भी चार भेद हैं—[१] इहलोकसंवेगनी [२] परलोकसंवेगनी [३] स्वशरीरसंवेगनी

और [४] परशरीरसंवेगनी।

इहलोकसंवेगनी--इस लोक की अनित्यता, विषयभोगों की निस्सारता, मानव की उत्पत्ति के समय होने वाले कष्ट, इत्यादि का कथन करना। जैसे-मानव जीवन जल के बुलबुले के समान क्षणभंगुर है, जन्म-जरा-मरण के दुःखों से व्याप्त है, आदि।

परलोकसंवेगनी--स्वर्ग के देवता भी वियोग, विषाद, भय, ईर्ष्या आदि से व्याकुल हैं। उनके सुख भी नाशशील हैं, इत्यादि प्रकार से परलोक से विरक्ति उत्पन्न करने वाली कथा परलोक--संवेगनी कथा है।

स्वशरीरसंवेगनी-- यह शरीर अशुचि का पिंड है। इसकी उत्पत्ति अशुचि पदार्थों से हुई है और अशुचि पदार्थों पर ही यह टिका हुआ है। संसार में इससे अधिक अपवित्र वस्तु और क्या है, जिसके संयोग मात्र से समस्त पदार्थ अत्यन्त अशुचि बन जाते हैं! यह शरीर भीतर से अत्यन्त घृणाजनक है। मल-मूत्र आदि का थैला है। इस प्रकार शरीर से विरक्ति उत्पन्न करने वाली कथा स्वशरीरसंवे--गनी है।

परशरीरसंवेगनी—किसी मुर्दे शरीर के स्वरूप का कथन करके विरक्ति उत्पन्न करने वाली कथा परशरीरसंवेगनी है।

(४) निर्वेदनी कथा—इसलोक एवं परलोक में पाप, पुण्य के शुभाशुभ फल का निरूपण करके संसार से उदासीनता उत्पन्न करने वाली कथा निर्वेदनी कहलाती है। इसके भी चार प्रकार हैं।

(१) पहली निर्वेदनी कथा - इस लोक में किये हुए दुष्ट कर्म, इसी भव में दुःखदायक होते हैं, जैसे—चोरी, परस्त्रीगमन आदि। इसी प्रकार इस जन्म में किये हुए शुभ कार्य इसी जन्म में, सुख रूप फल प्रदान करते हैं। जैसे तीर्थंकर भगवान् को दान देने से सुवर्ण वृष्टि रूप फल इसी जन्ममें, तत्काल मिलता है। इस प्रकार का व्या--ख्यान करना पहली निर्वेदनी कथा है।

(२) द्वितीय निर्वेदनी कथा—जीव इस जन्म में जो अशुभ कर्म करता है उसे परलोक में उनका अशुभ फल प्राप्त होता है। यथा-महारंभ, महा परिग्रह आदि नरक गमन योग्य अशुभ कर्म करने वाले जीव को परलोक में नरक का अतिथि बनकर घोर कष्ट सहने पड़ते हैं। इसी प्रकार इस लोक में किये हुए शुभ कार्यों का फल परलोक में सुखदायक होता है, जैसे साधु इस जन्म में जिस संयम, तप आदि की साधना करते हैं, उसका फल उन्हें परलोक में प्राप्त होता है।

(३) तृतीय निर्वेदनी कथा—परलोक में किये हुए अशुभ कर्म इस लोक में फल प्रदान करते हैं। जैसे परलोक में किए हुए अशुभ कर्मों के फल स्वरूप जीव इस लोक में, हीन कुल में उत्पन्न होकर, बचपन से ही अंधा, कोढ़ी, आदि होता है। इसी प्रकार परलोक में कृत शुभ कर्मों का फल सुख रूप इस लोक में प्राप्त होता है। जैसे पूर्व जन्म में आचरण किए हुए शुभ कर्मों के उदय से वर्त्तमान जन्म में तीर्थंकरत्व की

प्राप्ति होती है। इस प्रकार निरूपण करना तीसरी निर्वेदनी कथा है।

(४) चतुर्थी निर्वेदनी कथा—पूर्वभव में किए हुए अशुभ कर्म आगामी भव में दुःख रूप फल देने वाले होते हैं। जैसे पूर्वभव में किये हुए अशुभ कर्मों से जीव काक उलूक आदि के रूप में आगामी भव में उत्पन्न होता है। इसी प्रकार परलोक (पूर्वभव) में किये हुए शुभ कर्म परलोक में (आगामी भव में) सुख रूप फल देते हैं। जैसे देवभववर्त्ती तीर्थंकर का जीव अपने परलोक (पूर्व भव) में आचरण किए हुए शुभ कर्म का फल, परलोक (अगले भव) में भोगेगा। इस प्रकार का कथन करना चौथी निर्वेदनी कथा है।

साधु को विकथाओं का सर्वथा परित्याग करके उक्त चार धर्मकथाओं द्वारा जिनशासन की प्रभावना करनी चाहिए।

(३) निरपवाद प्रभावना—यदि कहीं कोई पाखण्डी, किसी धर्मात्मा पुरुष को, कुमार्ग की ओर आकृष्ट करके उसे भ्रष्ट कर रहा हो अथवा सच्चे संतों की अवहेलना करके उनकी महिमा को कलंकित करने की चेष्टा कर रहा हो, तो वहां जाकर, अपने विशुद्ध एवं तेजस्वी चरित्र--बल के प्रभाव से, वहां के प्रधान पुरुषों के साहाय्य से अथवा अपनी विद्वत्ता के बल से, वाद--विवाद करके सत्य वस्तु-स्वरूप को प्रकट करना। वीतराग के शासन का प्रकाश करना निरपवाद प्रभावना है।

(४) त्रिकालज्ञ प्रभावना—शास्त्रों में वर्णित भूगोल, खगोल आदि का ज्ञान प्राप्त करे। भूकम्प, वायुप्रयोग, दिशाराग, पशुवाद पक्षीवाद, और ज्योतिष संबंधी शास्त्रों का ज्ञाता बने। लाभ-अलाभ, सुख-दुख जीवन--मरण के प्रसंगों पर अपने आत्मा को तथा अन्य धर्मात्माओं को सावधान रक्खे, विघ्न से रक्षा करे। संघ, धर्म आदि पर आने वाली विपदा का पहले से ही ज्ञान प्राप्त कर अनुकूल उपायों की योजना करे यह प्रभावना का चौथा प्रकार है।

(५) तपःप्रभावना—चतुर्विध आहार का परित्याग कर तेला, अठाई, मास--क्षमण आदि तपस्या करके जिन शासन के प्रति श्रद्धा का भाव उत्पन्न करना तपः-प्रभावना है।

(६) व्रतप्रभावना--विषयों में आसक्त जीवों के लिए अपनी इच्छा का निरोध करना अत्यन्त दुष्कर प्रतीत होता है। ऐसी अवस्था में, भोगोपभोग की विपुल सामग्री और पर्याप्त भोगशक्ति विद्यमान होने पर भी जो इच्छा का दमन करते हैं, उनके प्रति लोगों को साश्चर्य श्रद्धा-भक्ति का भाव उद्भूत होता है। अतएव तरुणावस्था में ब्रह्मचर्य का पालन करना, विषयभोगों से विमुख रखना, विविध प्रकार के अभिग्रह धारण करना, इत्यादि व्रतों का अनुष्ठान करना और इससे धर्म की महिमा का विस्तार करना व्रत प्रभावना है—

(७) विद्याप्रभावना—विविध प्रकार की विद्याओं का अध्ययन तथा साधन करके, उनके द्वारा जिनशासन का माहात्म्य प्रसरित करना विद्याप्रभावना है।

(८) कवित्वप्रभावना - काव्यकला, अत्यन्त उच्चश्रेणी की कला है। मनुष्य के हृदय पर वह गहरा और स्थायी प्रभाव डालती है। वीर रस का काव्य श्रवण करके अनेक निराश और उत्साहहीन व्यक्तियों की भुजाएं फड़कने लगती हैं। शृंगार मय काव्य सुनने से श्रोता की वासनाएं अंकुरित हो जाती हैं। करुणा रस की कविता का श्रवण नयनों से नीर का निर्झर प्रवाहित कर देता है। अतएव काव्य-रचना द्वारा जिनशासन का महत्व बढ़ाना कवित्व-प्रभावना है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि काव्य कला है और कला का सन्मान, मनुष्य को उन्नत बनाने में, उसे देवत्व की ओर आकृष्ट करने में तथा उसके सुप्त सुसंस्कारों को जागृत करने में है। जो कला धर्म का पोषण नहीं करती, प्रत्युत धर्म से विपरीत दिशा में जाती है, वह कला की वास्तविकता पाने की अधिकारिणी नहीं है। संस्कारवश पतन की ओर जाते हुए मनुष्य को जो एक धक्का और लगाती है वह कुरूप कला किसी काम की नहीं है। अतएव कवित्व के द्वारा वैराग्य रस का झरना बहाया जाय, धर्म एवं अध्यात्म की सरिता प्रवाहित की जाय, प्रातःस्मरणीय महापुरुषों के पावन चरितों का ग्रथन किया जाय, इसीमें कला की सार्थकता है। प्रभावना के लिए मुनि को इसी प्रकार कवित्व का उपयोग करना चाहिए।

इस प्रकार प्रभावना के आठ भेद हैं। यही प्रभावना के सच्चे स्वरूप हैं। आधुनिक काल में प्रभावना की वास्तविकता बहुत अंशों में न्यून हो गई है और उसने बाह्य रूप धारण कर लिया है। इस ओर विशेष लक्ष्य दिया जाना चाहिए।

अन्यान्य आचार्य-सम्मत गुणों में साधु के लिए दी गई उपमाओं के योग्य बनना भी सम्मिलित है। यथा—

> उरगगिरिजलणसागरनहयलतरुगणसमो य जो होई।
> भमरमियधरणीजलरुह-रविपवणसमो य सो समणो॥

अर्थात् जो सर्प, पर्वत, अग्नि, समुद्र, आकाश, तरु, भ्रमर, मृग, पृथ्वी कमल, सूर्य और वायु के समान होता है, वह श्रमण है। साधु की यह बारह उपमाएं हैं और प्रत्येक को सात-सात प्रकार से घटित किया गया है। जैसे—

(१) सर्प—(१) जैसे सर्प दूसरों के बनाये हुए घर में रहता है, स्वयं घर नहीं बनाता उसी प्रकार साधु अन्य के लिए बनाये हुए घर में निवास करे। (२) जैसे अगंधन कुलोत्पन्न सर्प त्यागे हुए विष का भक्षण नहीं करता इसी प्रकार साधु त्यागे हुए भोगों को न भोगे (३) साधु की गति, सर्प की गति के समान सरल—मोक्ष के अनुकूल होनी चाहिए। (४) जैसे सर्प सीधा बिल में प्रवेश करता है इसी प्रकार साधु आहार का कौर सीधा मुंह में उतारे (५) जैसे सर्प उतारी हुई कैंचली-को फिर धारण नहीं करता इसी प्रकार साधु त्यक्त गृहस्थी को फिर ग्रहण न करे (६) सर्प के समान साधु दोष रूप कण्टकों से सदा सावधान रहे। (७) जैसे सांप से लोग भयभीत होते हैं इसी प्रकार लब्धिमान् साधु से देवता भी डरते हैं।

(२) पर्वत-(१) साधु पर्वत के समान अक्षीणमहानसी लब्धि आदि रूप विविध लब्धियों के धारक होते हैं (२) साधु पर्वत के समान परीषह-उपसर्ग रूप वायु से कंपित नहीं होते (३) साधु पर्वत के समान पशु-पक्षी, राजा-रंक आदि सभी के लिए आश्रय भूत होते हैं (४) साधु पर्वत के समान ज्ञान आदि सद्गुणों की सरिता का उद्गम स्थान होता है (५) साधु मेरु के समान उच्च गुणों के धारक होते हैं (६) साधु पर्वत के समान अनेक सद्गुण रूपी रत्नों के आकर होते हैं (७) साधु पर्वत के समान शिष्य-श्रावक आदि मेखला तथा शिखर आदि से शोभित होते हैं।

(३) अग्नि—(१) साधु अग्नि के समान, ज्ञान आदि ईंधन से तृप्त न हो (२) साधु अग्नि के समान तपस्तेज से सहित हो (३) साधु अग्नि के समान कर्म रूपी कचरे को जलावे (४) साधु अग्नि के समान मिथ्यात्व रूपी अंधकार का विनाश करे ५) साधु अग्नि के समान भव्यजन रूपी सुवर्ण को उज्ज्वल करे (६) साधु अग्नि की तरह जीव रूपी धातु को कर्म रूपी मृत्तिका से पृथक करे (७) साधु अग्नि के समान श्रावक-श्राविका रूप कच्चे पात्र को पक्का बनावे।

(४) समुद्र—(१) साधु समुद्र के समान गंभीर हो (२) गुण रूपी रत्नों का आगर हो (३) तीर्थंकरों द्वारा बांधी हुई मर्यादा का उल्लंघन न करे (४) औत्पत्तिकी आदि बुद्धि रूपी नदियों को अपने में समावेश करे (५) एकान्तवादी मिथ्यात्वी रूपी मच्छ-कच्छों द्वारा किये हुए क्षोभ से क्षुब्ध न हो (६) समुद्र के समान कभी छलके नहीं (७) समुद्र के समान निर्मल अन्तरंग वाला हो।

(५) आकाश-(१) साधु का मन आकाश की भांति सदा निर्मल हो (२) आकाश की तरह साधु किसी के आश्रय की अपेक्षा न रक्खे (३) आकाश की भांति ज्ञान आदि समस्त गुणों का भाजन हो (४) आकाश के समान अपमान निन्दा रूपी शीत-उष्ण से विकृत न हो (५) आकाश के समान वन्दना-प्रशंसा से प्रफुल्लित न हो (६) आकाश के समान साधु चरित्र आदि गुणों द्वारा छेद को प्राप्त न हो (७) आकाश के समान अनन्त गुणों का धारक हो।

(६) तरु—(१) जैसे वृक्ष स्वयं सर्दी-गर्मी सहन करके अपने आश्रितों की रक्षा करता है उसी प्रकार साधु स्वयं कष्ट सहन करके षट्काय के जीवों की रक्षा करे (२) साधु वृक्ष के समान ज्ञान आदि रूपी फल प्रदान करे (३) वृक्ष के समान संसारी जीव रूपी पथिक को आश्रय दे (४) वृक्ष के समान अपने को छेदन-भेदन करने वाले पर रुष्ट न हो (५) वृक्ष के समान पूजा करने वाले पर प्रसन्न न हो (६) वृक्ष के समान ज्ञान रूपी फलों का दान करके प्रत्युपकार की कामना न करे (७) घोर से घोर कष्ट आ पड़ने पर भी वृक्ष के समान अपना स्थान न बदले।

(७) भ्रमर-(१) जैसे भ्रमर फूलों का रस लेते हुए फूल को कष्ट नहीं पहुंचाता, उसी प्रकार साधु आहार आदि लेने में दाता को कष्ट न पहुंचाए (२) भ्रमर के समान, साधु गृहस्थ के घर रूप फूलों से अप्रतिबद्ध आहार आदि ग्रहण करे (३)

जैसे भ्रमर बहुत फूलों से थोड़ा-थोड़ा रस लेता है इसी प्रकार साधु गृहस्थों के अनेक गृहों से थोड़ा-थोड़ा आहार ग्रहण करे (४) भ्रमर के समान आवश्यकता से अधिक आहार आदिरूपी रस का संग्रह न करे (५) साधु भ्रमर के समान बिना आमन्त्रण के ही भिक्षा के लिए गृहस्थी के घर पहुँचे (६) भ्रमर के समान निर्दोष आहार रूपी केतकी से सन्तोषी रहे (७) भ्रमर के समान अपने लिए बना हुआ आहार न लेवे।

(८) मृग —[१] साधु मृग के समान पाप रूपी सिंह से भयभीत हो [२] मृग के समान दोष रूप सिंह से आक्रान्त आहार ग्रहण न करे [३] मृग के समान प्रतिबन्ध रूप सिंह से डरता हुआ एक स्थान पर न रहे [४] मृग के समान रोग आदि कारणों से एक जगह रहे [५] रोग उत्पन्न होने पर मृग के समान अन्य स्वजन आदि का आश्रय न चाहे [७] रोग-मुक्त होने पर मृग के समान अप्रतिबंध विचरण करे।

(९) पृथ्वी – [१] साधु, पृथ्वी के समान समभाव से शीत, उष्ण आदि सहन करे [२] पृथ्वी के समान संवेग, वैराग्य आदि रूप वसु [धन] को धारण करे [३] पृथ्वी के समान ज्ञान एवं धर्म रूपी बीजों की उत्पत्ति का कारण बने [४] पृथ्वी के समान अपनी [अपने शरीर की] शोभा-वृद्धि आदि न करे [५] पृथ्वी के समान, कष्ट देने वाले की किसी से फरियाद न करे। [६] पृथ्वी के समान, अन्य जनों के संसर्ग से उत्पन्न हुए क्लेश रूपी कीचड़ का अन्त करे [७] पृथ्वी के समान साधु प्राण, भूत, जीव और सत्व का आधारभूत हो।

[१०] कमल—[१] साधु कमल के समान काम रूप कीचड़ से तथा भोगोपभोग रूप जल से अलिप्त रहे [२] साधु कमल के समान सदुपदेश रूपी शीतल सुरभि का संचार कर भव्यजीव रूप लोक को शान्ति एवं सुख प्रदान करे [३] पुण्डरीक कमल के समान साधु वेष रूपी रूप तथा यश रूप सुगंध से सुशोभित हो [४] साधु उत्तम जन रूपी सूर्य के दर्शन से प्रफुल्लित हो [५] साधु कमल के समान विकसित रहे [६] साधु कमल के समान अर्हत् की आज्ञा रूपी सूर्य की ओर ही उन्मुख रहे [७] साधु कमल के समान धर्मध्यान, शुक्लध्यान से अपना अन्तर शुद्ध रक्खे।

[११] सूर्य – [१] साधु सूर्य के समान ज्ञान रूप किरणावली के द्वारा धर्म का प्रकाश प्रसरित करे [२] सूर्य के समान भव्य जनों के हृदय-कमल का विकासक हो [३] सूर्य समान अज्ञानान्धकार का अन्त करे [४] सूर्य के समान तपस्तेज से तेजस्वी हो [५] सूर्य के समान अपने प्रकृष्ट प्रताप से मिथ्यात्वी रूप तारागण की प्रभा को क्षीण करे [६] सूर्य के सदृश क्रोध रूप अग्नि के तेज को तिरोहित करे [७] सूर्य के सदृश रत्नत्रय की सहस्र किरणों से सुशोभित हो।

[१२[वायु—[१] साधु के समान सर्वत्र विहार करे[२] वायु के सदृश अप्रतिबंध विहार करे [३] वायु के सदृश द्रव्य-भाव उपाधि से हल्का हो [४] वायु

के सदृश धर्म रूप जीवन का दाता हो [५] वायु के समान पाप रूपी दुर्गंध और पुण्य रूपी सुगंध का ज्ञापक हो [६] वायु के समान किसी के रोके रुके नहीं [७] वायु के समान साधु अपनी शान्तिप्रद, वैराग्य रूप लहरों से विषय-कषाय रूपी ताप का विनाश करे और शान्ति प्रदान करे।

इन बारह उपमाओं का सात-सात प्रकार से विवेचन होने से साधु की ८४ उपमाएं निष्पन्न होती हैं और इन उपमाओं में साधु के विभिन्न गुणों का निरूपण किया गया है।

दोषों का परित्याग किये विना गुणों में पूर्णता नहीं आसकती। अत: आचार्य सम्मत गुण प्राप्त करने के लिए दोषों का परिहार अनिवार्य है। साधु के गुणों का यहां तक जो परिचय दिया गया है, उनसे विपरीत स्वरूप वाले दोषों का परित्याग करना आवश्यक है। तथापि सुगमता के लिए यहां असमाधिजनक कतिपय दोषों का उल्लेख किया जाता है।

(१) अत्यन्त त्वरा से गमन करना असमाधि दोष है।

(२) प्रकाशपूर्ण स्थानों में नेत्रों से भूमि का निरीक्षण किये विना अथवा अन्धकारमय स्थान को रजोहरण से प्रमार्जन किये बिना चलना असमाधि दोष है।

(३) जिस स्थान को देखा या प्रमार्जन किया हो, उसपर न गमन आदि करके अन्य स्थान पर गमन आदि करे तो असमाधि दोष है।

(४) बैठने या सोने के पाट आदि आवश्यकता से अधिक रक्खे तो असमाधि दोष होता है।

(५) आचार्य, उपाध्याय, वयोवृद्ध, गुरु आदि ज्येष्ठ महापुरुषों को उनकी मर्यादा की रक्षा न करते हुए वचन बोलना असमाधि दोष है।

(६) वय:स्थविर, दीक्षास्थविर, श्रुतस्थविर इत्यादि ज्येष्ठ मुनियों की मृत्यु की कामना करना असमाधि दोष है।

(७) प्राणी, भूत, जीव और सत्व के विनाश की वांछा करना—उनका मरण चाहना असमाधि दोष है।

(८) सदा संताप-युक्त रहना, क्षण-क्षण में क्रोध करना असमाधि दोष है।

(९) पीठ पीछे किसी की निन्दा करना असमाधि दोष है।

(१०) कल यह काम करूंगा, परसों वह काम करूंगा, इत्यादि प्रकार से भविष्य सम्बन्धी निश्चयात्मक भाषा बोलना असमाधि दोष है। क्योंकि भविष्य पर भरोसा नहीं किया जा सकता। संभव है कल होने से पहले ही आयु का अन्त हो जाय अथवा विशिष्ट बाधा उपस्थित हो जाय और वह कार्य न हो सके। ऐसी अवस्था में यह भाषा असत्य हो जाती है।

(११) नवीन क्लेश उत्पन्न करना असमाधि दोष है।

(१२) शान्त हुए क्लेश को फिर चेताना असमाधि दोष है।

(१३) कालिक तथा उत्कालिक सूत्रों के पठन के समय का ध्यान न रखते हुए वर्जित काल में पढ़ना तथा चौंतीस प्रकार के असज्भाय में सज्भाय (स्वाध्याय) करना असमाधि दोष है।

(१४) सचित्त रज से भरे हुए पैरों को रजोहरण से प्रमाजन किये विना ही आसन पर बैठना तथा गृहस्थ के सचित्त जल आदि से युक्त हाथों से आहार लेना असमाधि दोष है।

(१५) एक प्रहर रात्रि व्यतीत होने से सूर्योदय तक तीव्र आवाज से बोलना असमाधि दोष है।

(१६) संघ में अनेकता फैलाना, संगठन को तोड़ना तथा मृत्युजनक क्लेश आदि उत्पन्न करना असमाधि दोष है।

(१७) कटुक वचनों का प्रयोग करना, सदा झुंझला कर बोलना, किसी का तिरस्कार करना असमाधि दोष है।

(१८) स्वयं चिन्ता, खेद आदि करना और दूसरे को चिन्तित या खिन्न करना असमाधि दोष है।

(१९) नवकारसी आदि तपस्या न करता हुआ, सुबह से शाम तक अनेक बार खाना असमाधि दोष है।

(२०) एषणा विना ही आहार-पानी लेना असमाधि दोष है।

संयम की साधना के लिए इन दोषों का परित्याग करना आवश्यक है। इनके सेवन से संयम दूषित होता है। यह दोष उपलक्षण मात्र हैं। इससे शास्त्रों में प्रतिपादित सबल दोष आदि दोषों को भी समझकर त्याग करना चाहिए। आचारांग आदि में प्ररूपित अन्यान्य साधु के आचरण का भी आचार्य सम्मत गुणों में समावेश करके साधु को अनुष्ठान करना चाहिए।

साधु को नित्य अपूर्व ज्ञान-ध्यान की वृद्धि करते रहना चाहिए और वैराग्य-वर्द्धन के निमित्त जगत् के एवं शरीर के स्वभाव का चिन्तन करना चाहिए। इस प्रकार जिस उत्कट भावना के साथ दीक्षा ग्रहण की है वही उत्कट भावना बनाये रखना चाहिए। उसमें तनिक भी न्यूनता नहीं आने देना चाहिए। ऐसा करने वाले मुनि शीघ्र ही सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हो जाते हैं।

निर्ग्रन्थ-प्रवचन-नववां अध्याय समाप्त ।

❀ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ❀

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

॥ दसवां अध्याय ॥

प्रमाद-परिहार

श्री भगवान्-उवाच—

मूलः—दुमपत्तए पंडुरए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए।
एवं मणुआण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१॥

छाया:—द्रुमपत्रकं पाण्डुरकं यथा, निपतति रात्रिगणानामत्यये।
एवं मनुजानां जीवितं, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥ १ ॥

शब्दार्थ:—गौतम ! जैसे रात्रि-दिन के समूह व्यतीत हो जाने पर पका हुआ पेड़ का पत्ता झड़ जाता है, इसी प्रकार मनुष्यों का जीवन है। अतः हे गौतम ! एक समय मात्र का भी प्रमाद न कर।

भाष्यः—पिछले अध्याय में साधु के आचार का प्रतिपादन किया गया है। उस आचार का प्रतिपालन सम्यक् प्रकार से तभी हो सकता है जब मुनि प्रतिपल सावधान रहे—सदा जागरूक रह कर अपनी आन्तरिक हलचलों का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करता रहे और उन पर अपना निरन्तर नियन्त्रण स्थापित रक्खे। ऐसा न किया जाय तो मन दुर्व्यापार में लीन हो जाता है और संयम दूषित हो जाता है। अतएव यहां सूत्रकार ने प्रमाद परिहार का उपदेश दिया है।

जैसे कुछ दिन व्यतीत होने के पश्चात् पेड़ का पका हुआ पत्ता पृथ्वी पर पड़ जाता है—अपने स्थान से च्युत हो जाता है, उसी प्रकार मनुष्यों का जीवन परिमित है और कुछ समय में, आयु पक जाने पर, वह समाप्त हो जाता है।

यह कथन नैसर्गिक मृत्यु की अपेक्षा समझना चाहिए। यदि किसी की अकाल मृत्यु न हो तो भी उसका जीवन स्थायी नहीं रह सकता, आयु कर्म के समाप्त होने पर उसका विनाश अवश्यम्भावी है। आयु की स्वाभाविक समाप्ति के पूर्व भी जीवन का विशेष कारणों से अन्त हो जाता है, जैसे वृक्ष का पत्ता पकने से पूर्व ही तोड़ा जाकर नीचे गिरता है।

इस कथन से यह घोषित किया गया है कि जीवन की स्थिति का विश्वास नहीं किया जा सकता। कौन जाने कब इस जीवन की इतिश्री हो जायगी ! अतएव जब तक यह स्थिर है तब तक इसका आत्मकल्याण के लिये अधिक से अधिक उप-

योग कर लेना चाहिए। मनुष्य-शरीर ही मुक्ति का निमित्त है। इस शरीर के बिना मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। इसी कारण सम्यग्दृष्टि देव भी मानवभव पाने की लालसा करते हैं। अत्यन्त प्रबल पुण्य के उदय से इस भव की प्राप्ति होती है। बहुत-सा पुण्य रूपी मूल्य चुका कर इस देह को खरीदा जाता है।

मनुष्यभव में ही विशिष्ट विवेक प्राप्त होता है। इसी में बुद्धि का प्रकर्ष होता है। इसी शरीर का निमित्त पाकर मुनिजन षष्ठ आदि उच्च गुणस्थान प्राप्त करते हैं। ऐसे अमूल्य जीवन को प्राप्त करके यदि विशेष आत्मकल्याण की साधना नहीं की तो यह भव प्राप्त होना ही निरर्थक हो गया। इतना ही नहीं, गांठ की वह पूंजी भी गई जिससे इसकी प्राप्ति हुई थी। साथ ही विषयभोग कर आगे के लिए भारी ऋणी भी बन गया, जिसे चुकाने में ही न जाने कितने भव व्यतीत करने पड़ेंगे?

एक बार मानव-जीवन वृथा व्यतीत कर देने के बाद दूसरी बार इसकी प्राप्ति कब होगी, यह नहीं कहा जा सकता। संसार में जीव-जन्तुओं की, कीट-पतंगों की कितनी जातियां हैं! उन सब में जाने से, तथा नरक-निगोद आदि के भयंकर जीवन से बच कर दुर्लभ मनुष्य जीवन पाना बड़ा ही कठिन है।

इसलिए भगवान् कहते हैं कि—हे गौतम! तू एक समय का प्रमाद न कर अर्थात् प्रमाद की अवस्था में एक भी क्षण व्यतीत न कर। सदा अप्रमत्त होकर विचर। सदैव संयम की ओर दृष्टि रख। निरन्तर आत्मा की ओर उन्मुख बना रह।

जिस क्रिया से जीव बेभान हो जाता है, हिताहित के विवेक से विकल बन जाता है, जिसके वश होकर जीव सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्चारित्र रूप मोक्ष मार्ग के प्रति उद्यम करने में शिथिलता करता है, उसे प्रमाद कहते हैं।

प्रमाद के पांच प्रकार हैं—[१] मद्य [२] विषय [३] कषाय [४] निद्रा और [५] विकथा। कहा भी है—

मज्जं विषयकसाया निद्दा विगहा य पंचमी भणिया।
एए पंच पमाया, जीवं पाडेंति संसारे॥

अर्थात् मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा, ये पांच प्रमाद जीव को संसार में गिराते हैं।

(१) मद्यप्रमाद—मदिरा आदि नशा करने वाले पदार्थों का सेवन करना मद्य प्रमाद कहलाता है। इससे शुभ परिणामों का नाश और अशुभ परिणामों की उत्पत्ति होती है। मदिरा में असंख्य जीवों की उत्पत्ति होने से मदिरापान करने वाला घोर हिंसा का भागी होता है। मदिरा के दोष इस लोक में प्रत्यक्ष देखे जाते हैं और शास्त्रों से परलोक संबंधी अनर्थों का भी पता चलता है। इस से लज्जा, लक्ष्मी विवेक बुद्धि स्मरण शक्ति, शारीरिक बल आदि का विनाश होता है। चेहरे की तेजस्विता का मदिरा हरण कर लेती है और अनेक प्रकार के पापों में प्रवृत्त करती है। इसलिए मदिरापान विवेकी जनों द्वारा सर्वथा त्याज्य है। इसी प्रकार नशा करने वाले अन्या-

न्य पदार्थों के सेवन से भी सदा बचना चाहिए, क्योंकि वे भी पूर्वोक्त दोषों का पोषण करते हैं।

(२) विषय प्रमाद—स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द इन इन्द्रियों के विषय सेवन को विषय प्रमाद कहते है। शास्त्रकारों ने विषयों को विष के समान भाव-प्राणों का नाशक बताया है और विषादजनक कहा है, इसी कारण इन्हें विषय कहते हैं।

एक-एक इन्द्रिय के विषय में आसक्त हाथी, मृग आदि पशु-पक्षियों को भी अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ती है तो जो पांचों इन्द्रियों के विषय में आसक्त होते हैं उनकी दुर्दशा का क्या पार है ? विषयों में ऐसी विचित्रता है कि ज्यों-ज्यों इनका सेवन किया जाता है त्यों-त्यों भोग की लालसा घटने के बदले बढ़ती ही जाती है। इन से कभी किसी जीव को तृप्ति नहीं मिली और न मिल ही सकती है। इसीलिए कहा है—'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः' अर्थात् भोगी जीव भोगों को नहीं भोगता अपितु भोग ही उसे भोगते हैं।

विषयभोग अतृप्तिकारक हैं, यही नहीं, वे भोगाभिलाषा के वर्द्धक होने से जीव के चित्त में स्थायी व्याकुलता उत्पन्न करते हैं। उस व्याकुलता के वशीभूत होकर प्राणी अधिकाधिक भोग-सामग्री के संचय का प्रयत्न करता है और उसके लिए उसे जो घोर विडंबनाएं उठानी पड़ती हैं वे प्रत्यक्ष हैं। इस प्रकार इन्द्रियों के विषय किसी भी अवस्था में ग्राह्य नहीं हैं। जो पुरुष उनसे विमुख हो जाते हैं, उनकी लालसा की जड़ को ही अपने मन रूपी मही से उखाड़ फैंकते हैं, वही निराकुल होकर सच्चे सुख का अनुभव करते हैं, वही तृप्ति का अपूर्व आस्वादन करते हैं, वही इस लोक में सुखी हैं, वही परलोक में परमानन्द के पात्र बनते हैं। अतएव विषय रूप प्रमाद का परित्याग करने में ही सच्चा श्रेय है।

(३) कषाय प्रमाद—क्रोध, मान, माया, और लोभ रूप कषायों के वशीभूत होकर विवेक को भूल जाना, कषाय प्रमाद है। कषायों का स्वरूप कषाय-अध्ययन में निरूपण किया जायगा।

(४) निद्रा प्रमाद—सोने की वह क्रिया, जिसमें चेतना अव्यक्त हो जाती है, निद्रा कहलाती है। शरीर की रक्षा के लिए जितनी निद्रा अनिवार्य है, उसका परिहार न किया जासके तो भी अनावश्यक निद्रा का अवश्य त्याग करना चाहिए। निद्राशील पुरुष न तो ज्ञान-ध्यान का विशेष सेवन कर सकता है और न शरीर को ही स्वस्थ रख सकता है। अतएव आवश्यकता से अधिक सोना तथा असमय में सोना विवेकी जनों द्वारा सर्वथा त्याज्य है।

(५) विकथा प्रमाद—राग-द्वेष के वश होकर स्त्री आदि के संबंध में निरर्थक बातें करना विकथा प्रमाद है। विकथा प्रमाद के चार भेद हैं-(१) स्त्रीकथा (२) भक्तकथा (३) देशकथा (४) राजकथा।

इन चारों कथाओं के चार-चार भेद हैं। स्त्री कथा के चार भेद इस प्रकार हैं—(१) स्त्रीजातिकथा (२) स्त्रीकुल कथा (३) स्त्रीरूप कथा (४) स्त्रीवेष कथा।

(१) स्त्रीजातिकथा-ब्राह्मण आदि जाति की स्त्रियों की प्रशंसा करना अथवा निन्दा करना।

(२) स्त्रीकुलकथा—किसी विशेष कुल की स्त्रियों की प्रशंसा करना अथवा निन्दा आदि करना।

(३) स्त्रीरूपकथा—भिन्न भिन्न देश की स्त्रियों के रूपों का बखान करना अथवा स्त्रियों के अंगोपांगों का वर्णन करना।

(४) स्त्रीवंशकथा—स्त्रियों की वेणी आदि का वर्णन करना या विभिन्न देशों के स्त्री संबंधी पहनावों का वर्णन करना।

स्त्री कथा करने से तथा सुनने से मोह की उत्पत्ति होती है। लोक में निन्दा होती है। ब्रह्मचर्य का विघात होता है। स्त्री कथा करने वाला संयम से भ्रष्ट हो जाता है, कुलिंगी हो जाता है या संयमी के वेश में रहकर घोर असंयम का सेवन करता है।

(२) भक्तकथा—भक्त कथा अर्थात् भोजन संबंधी कथा करना। इसके भी चार भेद हैं—(१) आवाय कथा (२) निर्वाय कथा (३) आरंभ कथा और (४) निष्ठान कथा।

(१) आवाय भक्त कथा—भोजन बनाने की विधि का निरूपण करना, जैसे अमुक भोजन बनाने में इतनी शक्कर, इतना घृत, आदि लगता है।

(२) निर्वाय भक्त कथा—संसार में इतने पक्वान्न हैं, इतनी तरह की मिठाई होती हैं, आदि-आदि कहना।

(३) आरंभभक्त कथा—भोजन संबंधी आरंभ की कथा करना, जैसे इस भोजन में इतने जीवों की हिंसा होगी, आदि।

(४) निष्ठानभक्त कथा—इस भोजन के तैयार होने में इतना धन व्यय होगा, आदि कथन करना।

आहार संबंधी कथा करने से जिह्वा-लोलुपता की वृद्धि होती है। आरंभ आदि दोषों का भागी होना पड़ता है। आहार-लोलुपता त्यागने के लिए भक्त कथा का त्याग करना आवश्यक है।

(३) देशकथा—देश कथा भी चार प्रकार की है। यथा—(१) देश विधि कथा (२) देश विकल्प कथा (३) देश छंद कथा और (४) देश नेपथ्य कथा।

(१) देशविधिकथा—विभिन्न देशों की भोजन, भूमि आदि की रचना का वर्णन करना, वहां भोजन के आरंभ में क्या किया जाता है, क्या-क्या वस्तु खाई जाती है, आदि कथन करना।

(२) देशविकल्प कथा—किस-किस देश में कौन-कौन सा धान्य उपजता है, इत्यादि बखान करना तथा विभिन्न देशों के मकान, कूप, तालाब आदि का वर्णन करना।

(३) देशछंद कथा - विभिन्न देशों में विवाह आदि की जो भिन्न-भिन्न प्रथाएं प्रचलित हैं, इनका कथन करना। जैसे-दक्षिण में मामा की लड़की के साथ विवाह संबंध किया जाता है, अरब में काका की लड़की से भी विवाह किया जा सकता है, आदि।

(४) देशनेपथ्य कथा - विभिन्न देशीय स्त्री-पुरुषों के वेश, विभूषा और स्वभाव आदि का वर्णन करना।

देशकथा करने से राग द्वेष की उत्पत्ति होती है, और राग-द्वेष से कर्म-बंध होता है। ज्ञान-ध्यान आदि की साधना में विघ्न पड़ता है और अनेक अचिन्त्य अनर्थ उत्पन्न हो जाते हैं। अतएव देशकथा सर्वथा त्याज्य है।

(४) राजकथा—राजा संबंधी कथा करना राज कथा है। इसके भी चार भेद हैं, जैसे (१) राज-अतियान कथा (२) राज-निर्याण कथा (३) राज-बलवाहन कथा तथा (४) राज-कोष-आगार कथा।

(१) राज-अतियान कथा-किसी राजा के नगरप्रवेश का वर्णन करना तथा उस समय के उसके ऐश्वर्य का बखान करना।

(२) राज-निर्याणकथा—राजा के नगर से बाहर निकलने का तथा तत्कालीन ऐश्वर्य का वर्णन करना।

(३) राज-वलबाहनकथा—राजा की सेना का तथा उसके रथ, घोड़ा, हाथी आदि का वर्णन करना।

(४) राज-कोष-आगारकथा राजा के खजाने का वर्णन करना और उसके भोजनसामग्री वाले कोठार आदि का वर्णन करना।

राजकथा करने से अनेक अनर्थ होते हैं। राजा आदि इस कथा को सुनकर साधु पर गुप्तचर या चोर होने का संदेह करते हैं। अगर कभी कोई वस्तु चोरी चली गई हो तो इस कथाकार को ही चोर समझकर सताते हैं। राजकथा सुनने वाला साधु अगर पहले राजा हो तो उसे अपने भोगोपभोगों का स्मरण हो आता है अथवा किसी साधु को उसी प्रकार के भोगोपभोग, ऐश्वर्य आदि प्राप्त करने की अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार राजकथा अनेक अनर्थों की जननी है।

यह सब विकथाएं संयम-जीवन की साधना से प्रतिकूल हैं। निरर्थक हैं। संयम में विघ्नकर हैं। अतएव इनका कहना और सुनना सर्वथा हेय है।

इस प्रकार जो साधु पांचों प्रमादों का परित्याग करता है वही अपने अल्प-कालीन जीवन का सार्थक उपयोग करता है। वही अपने वर्त्तमान को तथा भविष्य को कल्याण-परिपूर्ण बनाकर लोकोत्तर सुख का पात्र हो जाता है।

भगवान् ने अपने प्रधान अन्तेवासी गौतम को एक समय मात्र भी प्रमाद न करने का उपदेश दिया है। इससे प्रतीत होता है कि जीवन के निर्माण में एक समय का भी बहुत अधिक महत्त्व है।

काल के सब से छोटे अंश को 'समय' कहते हैं। यह जिनागम में प्रसिद्ध पारिभाषिक शब्द है। समय इतना सूक्ष्मतम कालांश है कि साधारणतया उसकी कल्पना करना भी अशक्य है। एक बार पलक मारने में अगर असंख्य समय व्यतीत हो जाते हैं तो एक 'समय' का ठीक-ठीक परिमाण कैसे जाना जा सकता है!

यह सूक्ष्मतर कालांश भी हमारे जीवन के बनाव-बिगाड़ में बड़ा भाग लेता है। जिसके अन्तःकरण में एक समय के लिए भी अशुचि विचार का संचार होता है, वह अपनी निर्मलता में एक धब्बा लगा लेता है। वह अशुचि विचारों के प्रवेश के लिए अपने हृदय के किवाड़ खोल देता है। अशुचि विचारों के लिए एक मार्ग बन जाता है, जिसके द्वारा वे पुनः-पुनः वहां आते और जाते हैं। धीरे-धीरे वह अन्तः-करण उन दुर्विचारों का निवास-केन्द्र बन जाता है और अन्तःकरण की शुचि का अन्त आ जाता है।

एक 'समय' मात्र के लिए आये हुए अशुचि विचार अन्तःकरण में क्या-क्या उत्पात मचाते हैं, यह अब सहज ही समझा जा सकता है। शास्त्रकार कहते हैं कि जीव एक समय में अनन्तानन्त कर्म-परमाणुओं का बन्ध करता है। कहा भी है—

सिद्धाणंतिमभागं अभव्वसिद्धादणंतगुणमेव।
समयपबद्धं बधदि, जोगवसादो दु विसरित्थं॥

अर्थात्—जीव, अनन्तानन्त प्रमाण वाली सिद्ध-जीवराशि के अनन्तवें भाग और अनन्त प्रमाण वाली अभव्य-जीवराशि से अनन्त गुणा अधिक समयप्रबद्ध का एक समय में बंध करता है। योग की तीव्रता होने पर इससे भी अधिक कर्म-प्रबद्धों का बधन हो सकता है!

एक समय में अनन्त समयप्रबद्धों का बंध होता है और एक-एक समयप्रबद्ध में असंख्य-कर्म परमाणु होते हैं। यदि किसी पुरुष के हृदय में एक समय के लिए भी अशुभ विचारों का उदय होता है तो वह इतने बहुसंख्यक अशुभ कर्मपरमाणुओं का बध करता है और यदि शुभ विचारों का उदय होता है तो इतने ही शुभ कर्म-परमाणुओं का बंध करता है।

अनन्त शुभ या अशुभ कर्म-परमाणुओं का बंध एक 'समय' पर निर्भर है, पर इतने में ही 'समय' का महत्व पूर्ण नहीं हो जाता। बंधे हुए वे कर्म जीव पर अपना चिरकाल तक प्रभाव डालते रहते हैं और उनकी संतति निरन्तर चलती रहती है।

यह सब एक 'समय' मात्र की भलि-बुरी कमाई है। इससे यह समझना कठिन नहीं रहता कि एक 'समय' भी प्रमाद करने का निषेध भगवान् ने क्यों किया है? वास्तव में एक 'समय' भर का प्रमाद अनेक भव-भवान्तर में जीव को दुःखदायक होता है। इसलिए प्रति समय अप्रमत्त भाव में विचरना चाहिए।

गाथा में रात्रि शब्द उपलक्षण है। उससे दिन-रात का ग्रहण होता है। अथवा रात्रि शब्द सामान्य रूप से काल-वाचक यहां विवक्षित है।

मनुष्यों के अतिरिक्त तिर्यञ्चों आदि का जीवन भी नाशशील है। संसार में किसी का जीवन स्थिर नहीं रहता। फिर भी सूत्रकार ने यहां 'मणुआण जीवियं' अर्थात् मनुष्यों के जीवन के साथ ही वृक्ष के पत्ते की तुलना की है। इसका कारण यह है कि मनुष्य जीवन में ही प्रमाद का सर्वथा परिहार किया जा सकता है। मनुष्य ही अप्रमत्त बन सकता है। इसलिए उसे ही अप्रमत्त बनने की प्रेरणा की गई है। आगे भी इसी प्रकार समझना चाहिए।

मूलः—कुसग्गे जह ओसबिन्दुए, थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए।
एवं मणुआण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२॥

छाया'—कुशाग्रे यथाऽवश्यायबिन्दुः, स्तोकं तिष्ठति लम्बमानकः।
एवं मनुजानां जीवितं, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥ २ ॥

शब्दार्थः—हे गौतम ! जैसे कुश की नोंक पर लटकता हुआ ओस का बूंद थोड़ी ही देर ठहरता है, इसी प्रकार मनुष्यों का जीवन है। इसलिए एक समय मात्र भी प्रमाद न करो।

भाष्यः—पूर्व गाथा में मानव-जीवन की अनित्यता का वर्णन करने के पश्चात् यहां दूसरी उपमा देकर फिर उसकी अनित्यता का निरूपण किया गया है। इसका अभिप्राय मानव-जीवन की अत्यन्त अनित्यता का प्रदर्शन करना है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य का जीवन अत्यन्त अस्थिर है। दूर्वा के अग्रभाग पर ओस का जो बिन्दु लटक रहा है वह दीर्घ काल तक नहीं ठहरता, कतिपय क्षणों के पश्चात् ही वह मिट्टी में मिल जाता है, उसी प्रकार मानव-जीवन भी कतिपय क्षणों में ही-समाप्त हो जाता है।

शरीर एक पींजरे के समान है। इसमें जीव रूपी हंस बंद है। पींजरे के अनेक द्वार खुले हुए हैं। ऐसी दशा में हंस कभी भी उड़ सकता है। उसके उड़ने में कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। आश्चर्य तो यह हो सकता है कि वह अब तक उड़ क्यों नहीं गया।

मनुष्य संसार में सदा ही देखता रहता है कि दूसरों का जीवन आनन-फानन समाप्त हो जाता है। एक व्यक्ति बैठा बातें कर रहा है, हास्यविनोद में पूर्णतया निमग्न है, उसी समय हृदय की गति अवरुद्ध हो जाती है और जीवन का अन्त आ जाता है। कोई बैठा-बैठा अचानक जमीन पर लुढ़क पड़ता है, कोई ठोकर लगते ही चल बसता है। जीवन की इस प्रकार क्षणभंगुरता को प्रत्यक्ष करता हुआ भी मनुष्य अपने को अजर-अमर-सा मानता है। वह नाना प्रकार की व्यवस्थाएं सोचता रहता है, अन-गिनते मनोरथों का सेवन करता है। कल यह करेंगे, परसों वह करेंगे। एक वर्ष बाद ऐसा करेंगे, दस वर्ष बाद वैसा करेंगे। पर कल की प्रतीति नहीं। काल सहसा सामने आजाता है और संकल्पों का सत्यानाश करके जीवन का ध्वंस कर डालता है।

मृत्यु एक क्षण भर की भी भिक्षा नहीं देती। तीर्थंकर भी अपनी आयु बढ़ा नहीं

सकते तो औरों की कौन-सी बात है! सामान्य जन किस गिनती में हैं? संसार की समस्त सम्पत्ति, विशाल साम्राज्य, बृहत् परिवार, सभी कुछ यहां का यहां रह जाना है और जीव अकेला-एकदम अकेला, पर अपने किये हुए कर्मों की पोटली लाद कर, महाप्रयाण के लिए चल पड़ता है। कौन उस समय उसकी सहायता करता है?

ऐसे अनित्य, अध्रुव, अस्थायी, क्षणभंगुर जीवन को पा करके जो प्रमाद का सेवन करते हैं, अपने अनमोल जीवन-काल को विषय-भोग आदि कुत्सित कार्यों में व्यतीत करते हैं, जीवन की सफलता के लिए जो कभी प्रयत्न नहीं करते, वे नेत्रों के सद्भाव में भी अंधे हैं। वे संज्ञी होते हुए असंज्ञी के समान हैं। चेतनवाले होने पर भी जड़ हैं। वे अपने क्षुद्र वर्त्तमान के लिए अनन्त भविष्य को दुःखपूर्ण बनाते हैं। चिन्तामणि को खोकर बदले में पत्थर का टुकड़ा लेना चाहते हैं। वे कल्पवृक्ष को उखाड़ कर एरंडी की स्थापना करते हैं। वे अविवेकी हैं, अकुशल, अज्ञान हैं।

जो महापुरुष जीवन की अल्पकालीनता का विचार कर के उसके सहारे शाश्वत सुख प्राप्त करने के प्रशस्त प्रयास में रत रहते हैं, उनका जीवन सफल है। वे धन्य हैं, मान्य हैं। उन्होंने जगत् के समक्ष उज्ज्वल उदाहरण उपस्थित किया है।

अतएव भगवान् कहते हैं—हे गौतम! तुम एक समय का भी प्रमाद मत करो। अपने जीवन का प्रत्येक समय लोकोत्तर धर्म की साधना में व्यतीत करो। अप्रमत्त भाव में विचरो। आत्मा के साथ मन का सान्निध्य साधो। आत्मा रूपी निर्मल सरोवर में मन को डुबोए रहो। उसे बाहर निकालकर काम के कीचड़ में मत फंसाओ।

मूलः—इइ इत्तरिअम्मि आउए जीवियए बहुपच्चवायए। विहुणाहि रयं पुरे कडं, समयं गोयम ! मा पमायए ।३।

छायाः—इतीत्वर आयुषि, जीवितके बहुप्रत्यवायके।
विधुनीहि रजः पुराकृतम्, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥ ३ ॥

शब्दार्थः—निरुपक्रम-आयु अत्यन्त अल्पकालीन है, और सोपक्रम आयु अनेक प्रकार की विघ्न-बाधाओं से परिपूर्ण है। अतएव पूर्वोपार्जित कर्म रूपी रज को धो डालो, हे गौतम! समय मात्र का प्रमाद मत करो।

भाष्यः—शास्त्रकार फिर जीवन की अल्पकालीनता का वर्णन करते हुए प्रमाद-परिहार की प्रेरणा करते हैं।

प्रकृत गाथा में आयु को इत्वर अर्थात् स्वल्प समय स्थायी और जीवन को अनेक विघ्न-बाधाओं से व्याप्त बतलाया गया है। वस्तुतः आयु का सद्भाव ही जीवन कहलाता है, अतएव दोनों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है, फिर भी यहां दोनों का जो पृथक् उल्लेख किया है वह सोपक्रम और निरुपक्रम आयु का भेद प्रदर्शित करने के लिए। आयु का तात्पर्य यहां निरुपक्रम आयु है और जीवन का अर्थ सोपक्रम आयु है।

सार यह है कि जो आयु अध्यवसान, निमित्त आदि कारणों से नियत समय से पूर्व ही भोग ली जाती है वह सोपक्रम आयु कहलाती है। जो आयु नियत समय तक-पहले बांधी हुई काल-मर्यादा के अनुसार ही भोगी जाती है, वह निरुपक्रम कहलाती है।

उपक्रम विष, शस्त्र, भय आदि हैं, जिनसे आयु निश्चित समय के पूर्व ही मुक्त होकर टूट जाती है। उनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। यहां शास्त्रकार यह प्रकट करते हैं कि यदि आयु निरुपक्रम हो, उसे अकाल में नष्ट करने के साधन विद्यमान न हों तो भी वह सदा विद्यमान नहीं रह सकती है वह भी अल्पकालीन ही है। और जो आयु सोपक्रम होती है वह भी अस्थिर ही है। उपक्रमों का संयोग मिलते ही उसका अन्त हो जाता है। उपक्रमों का वर्णन इस प्रकार किया गया है —

दंड-कस-सत्थ-रज्जू, उदगपडणं विसं वाला।
सीउण्हं अरइभयं, खुहा पिवासा य वाही य॥
मुत्त पुरीसनिरोहे, जिन्नाजिन्ने य भोयणं बहुसो।
वंसणघोलन-पीलण-आउस्स उवक्कमा एए॥

अर्थात्--दंड, चाबुक, तलवार, बंदूक आदि शस्त्र, रस्सी, अग्नि, पानी में डूबना, विष, सर्प, शीत, उष्ण, अरति, भय, भूख, प्यास, रोग, मूत्रनिरोध, मलनिरोध, कच्चा पक्का भोजन, अधिक भोजन, घिसा जाना, मसला जाना, कोलू आदि में पेरा जाना, यह सब आयु के उपक्रम हैं। इनसे अकाल में ही आयु का अन्त आजाता है। यह उपक्रम उपलक्षण मात्र हैं। इनके अतिरिक्त भूकंप, मकान का गिरना आदि अन्यान्य, कारणों से भी आयु का अकाल में विनाश हो सकता है।

इन निमित्तों से अनगिनते प्राणियों के प्राणों का अन्त होते देखा जाता है। इससे सहज ही यह कल्पना हो सकती है कि जीवन को नष्ट करने वाली कितनी अधिक सामग्री संसार में भरी हुई है। इतने विरोधियों और विघ्नों के विद्यमान होते हुए भला कौन महासाहसी व्यक्ति भी कल तक का भरोसा कर सकता है? अतः भव्य जीवों! जीवन का विश्वास न करके, आत्महित के साधक कार्यों में ही अहर्निश रत रहो, शीघ्र महान उद्देश्य की प्राप्ति हो, ऐसा प्रयत्न करो। तनिक भी प्रमाद न करो। भगवान् ने इसीलिए कहा है—गौतम! समय मात्र भी प्रमाद न करो।

मूलः--दुल्लहे खलु माणुसे भवे, चिरकालेण वि सव्वपाणिणं।
गाढा य विवाग कम्मुणो, समयं गोयम! मा पमायए॥

छायाः—दुर्लभः खलु मानुष्यो भवः, चिरकालेनापि सर्वप्राणिनाम्।
गाढाश्च विपाकाः कर्मणां, समयं गौतम! मा प्रमादीः॥ ४॥

शब्दार्थः—हे गौतम! सब प्राणियों को, मनुष्य भव चिरकाल तक भी दुर्लभ है-दीर्घकाल व्यतीत होने पर भी उसकी प्राप्ति होना कठिन है, क्योंकि कर्मों के फल प्रगाढ़ हैं। इसलिए समय मात्र का भी प्रमाद न करो।

भाष्य:—कोई-कोई मनुष्य यह विचार करते हैं कि यदि इस जीवन का अन्त अचानक ही हो गया तो भी क्या हानि है ? आत्मा नित्य है, उसका कभी विनाश नहीं होता। एक जन्म के पश्चात् पुनर्जन्म धारण करना ही पड़ेगा, तब उसी आगामी जन्म में शेष कार्य सिद्ध कर लेंगे। इस जन्म में विषयभोगों का सेवन करके भावी भव में आत्म-कल्याण कर लेंगे। अभी क्या जल्दी है ?

इस भ्रान्तियुक्त विचारणा का निरसन प्रकृत गाथा में किया गया है। भगवान् कहते हैं - आगामी भव मनुष्य भव ही होगा, ऐसा कौन छद्मस्थ जानता है ? विशेषतया जो लोग यह जीवन विषय-वासनाओं के सेवन में, अर्थसंचय करने में, हिंसा आदि घोर पाप कर्म करने में, व्यतीत करेंगे महारंभ और महापरिग्रह करके भोग सामग्री को एकत्र करने में दत्तचित्त रहेंगे उन्हें आगामी भव में मनुष्य पर्याय की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? आगामी भव की बात रहने दीजिए, उन्हें तो चिरकाल में भी मनुष्यभव प्राप्त होना कठिन है।

इस प्रकार के भोगी प्रमादी जीव आगामी भव में मनुष्यत्व से ही वंचित नहीं रहते किन्तु उन्हें अपने किए हुए कर्मों के भयंकर फल भी भुगतने पड़ते हैं। नरक गति तथा तिर्यंच गति की घोर यातनाएं उन्हें सहनी पड़ती हैं। इन भवों में मुक्ति की साधना भी नहीं हो सकती। सिवाय मनुष्यभव के, अन्य किसी भी भव में जीव अप्रमत्त अवस्था नहीं प्राप्त कर सकता। देवगति और नरकगति में अधिक से अधिक चतुर्थ गुणस्थान प्राप्त होता है और तिर्यञ्च गति में, क्वचित् पंचम गुणस्थान की उपलब्धि हो सकती है। मुक्ति की साधना के लिए एक मात्र मनुष्यभव ही साधन है। अतएव इस विचार का त्याग करके, कि आगामी भव में आत्म-कल्याण कर लेंगे, इस जन्म को प्रमत्त होकर नहीं गंवाना चाहिए। चिरकाल तक चौरासी लाख जीवयोनियों में भ्रमण करने के पश्चात्, भव-भव में अनेक पुण्य करने से इसकी प्राप्ति हुई है। आत्महित का यह सर्वश्रेष्ठ अवसर है। विवेक-बुद्धि, अविकल इन्द्रियां, सत्कुल में जन्म, सद्धर्म का श्रवण, सुगुरुओं की संगति, आदि अनुकूल निमित्त पाकर अवसर नहीं चूकना चाहिए। इसलिए एक समय मात्र का भी प्रमाद न करो।

मूल:—पुढविक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखाईयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥५॥

छाया:—पृथ्विकायमतिगत:, उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत् ।
कालं संख्यातीतं, समयं गौतम ! मा प्रमादी: ॥५॥

शब्दार्थ:—हे गौतम ! पृथ्वीकाय में गया हुआ जीव उत्कृष्ट असंख्य काल तक वहां रहता है, इस लिए समय मात्र का भी प्रमाद न करो।

भाष्य:—मनुष्यभव दुर्लभ है, यह सामान्य रूप से अनन्तर गाथा में कहा गया था। उसीको विस्तार से समझाने के लिए अब यह बतलाया जाता है कि जीव किस-किस काय में जाकर कितना-कितना समय वहां व्यतीत करता है ? इस

से स्पष्ट रूप से ज्ञात होगा कि कितने लम्बे समय के अनन्तर, कितनी घोरतम यातनाएं सहन करने के पश्चात् इस पर्याय की प्राप्ति होती है।

यहां पृथ्वीकाय की स्थिति बतलाई गई है। स्थिति दो प्रकार की होती है—(१) भवस्थिति और (२) कायस्थिति। सिर्फ एक भव की स्थिति को भवस्थिति कहते हैं और उस काय में अनेक भव करते हुए भी निरन्तर उसी काय में रहने की समय-मर्यादा काय-स्थिति कहलाती है। शास्त्रकार ने यहां कायस्थिति का वर्णन दिया है अर्थात् जीव एक बार जब पृथ्वीकाय में जाता है तो कर्म-योग से असंख्यात काल तक उसी अवस्था में रहता है—पुनः पुनः जन्म मरण करता रहता है पर उसी पर्याय में उत्पन्न होता है। यह पृथ्वीकाय की कायस्थिति है। इसकी जघन्य भवस्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट शुद्ध पृथ्वीकाय की १२ हजार वर्ष की तथा खर पृथ्वीकाय की २२ हजार वर्ष की है।

पृथ्वीकाय स्वभावतः कठोर है, वर्णतः पीत है और संस्थान की अपेक्षा मसूर की दाल के समान है। पृथ्वीकाय की १२ लाख कुल कोटि हैं।

मूलः—आउक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं, समयं गोयम! मा पमायए ॥६॥
तेउक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं, समयं गोयम! मा पमायए ॥७॥
वाउक्कायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं, समयं गोयम! मा पमायए ॥८॥

छायाः—अप्कायमतिगतः, उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत्।
कालं संख्यातीतं, समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥६॥
तेजस्कायमतिगतः, उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत्।
कालं संख्यातीतं, समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥७॥
वायुकायतिगतः, उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत्।
कालं संख्यातीतं, समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥८॥

शब्दार्थः—हे गौतम! जलकाय में गया हुआ जीव उत्कृष्ट असंख्यात काल तक वहां निवास करता है, इसलिए एक समय मात्र का भी प्रमाद न करो।

हे गौतम! तेजकाय में गया हुआ जीव वहां उत्कृष्ट असंख्यात काल तक निवास करता है, इसलिए एक समय मात्र का भी प्रमाद न करो।

हे गौतम! वायुकाय में गया हुआ जीव उत्कृष्ट रूप से वहां असंख्यात काल तक निवास करता है, अतः एक समय का भी प्रमाद न करो।

भाष्यः—पृथ्वीकाय की कायस्थिति का निरूपण करके यहां जलकाय अग्निकाय और वायुकाय की कायस्थिति का वर्णन किया गया है।

इन गाथाओं का अर्थ पूर्वोक्त अनुसार ही है। सभी की उत्कृष्ट कायस्थिति असंख्यात काल तक है। अर्थात् जीव इन कायों में से किसी भी काय में जावे तो असंख्य काल पर्यन्त वहां व्यतीत करता है। इसलिए मानव भव पाकर प्रमाद का परित्याग करके ऐसा प्रयत्न करो, जिससे इन कायों में गमन करके दुःख न उठाने पड़ें।

अप्काय की जघन्य भवस्थिति अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट सात हजार वर्ष की है। अप्काय का वर्ण लाल, स्वभाव ढीला और संस्थान जल के बुद्बुद के समान है। इसकी कुल कोटियां सात लाख हैं अर्थात् जलकाय के सात लाख करोड़ कुल हैं। तेजःकाय की भवस्थिति जघन्य अन्तमुहूर्त्त की और उत्कृष्ट तीन रात्रि दिन की है।

वायुकाय की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त, उत्कृष्ट तीन हजार वर्ष है। वर्ण हरित है। कुल कोटियां सात लाख हैं संस्थान ध्वजा के समान है।

मूलः—वणस्सइकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालमणंतं दुरंतयं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥९॥

छायाः—वनस्पतिकायमतिगतः, उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत्।
कालमनन्तं दुरन्तं, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥ ९ ॥

शब्दार्थः—हे गौतम ! वनस्पतिकाय में गया हुआ जीव उत्कृष्ट अनन्त काल तक वहां निरन्तर निवास करता है, अतएव एक समय मात्र भी प्रमाद न करो।

भाष्यः—यहां वनस्पतिकाय की काय-स्थिति अनन्तकाल बतलाई गई है। शेष गाथा का व्याख्यान पूर्ववत् ही समझना चाहिए।

प्रत्येक वनस्पतिकाय की भवस्थिति जघन्य अन्तमुहूर्त्त और उत्कृष्ट दस हजार वर्ष की है। साधारण वनस्पतिकाय की उत्कृष्ट कायस्थिति अनंत काल है। इसका स्वाभाविक वर्ण नील है। संस्थान और स्वभाव विविध प्रकार है। इसके २८ लाख करोड़ कुल हैं।

शंका—सूत्रकार ने पृथ्वीकाय, अप्काय आदि को जीव रूप में वर्णित किया है, किन्तु इनमें जीव के कोई असाधारण गुण प्रतीत नहीं होते, ऐसी अवस्था में इन्हें जीव मानने में क्या प्रमाण है ?

समाधान—सर्वप्रथम तो हमें अपने ज्ञान की क्षुद्रता समझ लेनी चाहिए। जगत् में इतनी अधिक वस्तुएँ हैं कि उन सब में से स्थूल वस्तुओं के भी विविध गुणों को, उनकी वास्तविकताओं को समझना बड़े-बड़े विद्वानों के लिए भी असंभव है। सूक्ष्म पदार्थों की बात ही दूर है। संसार के छद्मस्थ मनुष्यों ने जगत् का जितना स्वरूप जान पाया है, वह अज्ञात रूप के सामने नगण्य है। ऐसी स्थिति में सिर्फ अपनी बुद्धि को आधार बनाकर कोई भी निर्णय करना अभ्रान्त नहीं हो सकता। हमें अतीतकाल के महर्षियों के अनुभव की प्रमाणता स्वीकार करनी होगी, क्योंकि उन्होंने

अपना सम्पूर्ण जीवन घोर साधना के लिए समर्पण करके दिव्य दृष्टि प्राप्त की थी। हमारे जीवन में न वह समर्थ साधना है, न तज्जन्य दिव्य दृष्टि के अद्भुत प्रकाश की एक भी किरण है। अपने इस असामर्थ्य का अनुभव न करके जो लोग एक मात्र अपनी अनुभूति को ही चरम मानते हैं, वे अंधकार में विचरते हैं और प्रकाश में आना नहीं चाहते।

क्या धर्मशास्त्र, क्या नीतिशास्त्र, और क्या दूसरा कोई शास्त्र, सभी आप्त पुरुष के वचन-प्रामाण्य पर निर्भर होकर चलते हैं। अध्यात्म शास्त्र इन सब में गहन, अतिगहन शास्त्र है। उसमें कल्पना और तर्क से प्रायः काम नहीं चलता। उसमें अनुभूति की प्रधानता है। अनुभूति न तो अध्ययन से प्राप्त होती है, न वाद-विवाद से। उसका एक मात्र मार्ग साधना है। अतएव जब तक हम साधना से अनुभूति-लाभ न कर लें तब तक हमें आप्तजनों के वचनों के अनुसार ही व्यवहार करना चाहिए।

पृथ्वी आदि में चेतना है, यह बात आप्त पुरुषों ने हमें बताई है। सर्वज्ञ ने अपने ज्ञान में उस चेतना का प्रत्यक्ष किया है। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि उसे उसी प्रकार स्वीकार कर व्यवहार करते रहे हैं। इसलिए हमें भी उसी पर श्रद्धा रखकर तदनुसार व्यवहार करना चाहिए।

शंका—यह ठीक है कि हमारा ज्ञान अत्यन्त सीमित है, हम किसी भी वस्तु को पूर्ण रूप से नहीं जान पाते, फिर भी अगर कोई युक्ति इस सम्बन्ध में हो तो उस से श्रद्धा में स्थिरता आ जाती है। अन्य लोगों को भी प्रतीति कराई जा सकती है। क्या इस विषय में कोई युक्ति है ?

समाधान—पृथ्वी आदि में चेतना सिद्ध करने वाली युक्तियां हैं। वनस्पति में जीव है, यह बात तो आज निर्विवाद हो चुकी है। वैज्ञानिकों द्वारा निर्मित यंत्रों से वनस्पति के अनेक चेतनामय भाव और कार्य सभी प्रत्यक्ष देख सकते हैं। अतएव वनस्पतिकाय की चेतना को समझने के लिए उस वैज्ञानिक-सामग्री का अध्ययन करना चाहिए। पृथ्वीकाय में चेतना सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित युक्तियां दी जाती हैं—

(१) जैसे मनुष्यों और तिर्यंचों के शरीर के घाव भर जाते हैं, उसी प्रकार खोदी हुई खानें स्वयं भर जाती हैं।

(२) जैसे मनुष्य का शरीर बढ़ता है वैसे ही पृथ्वीकाय—पत्थर आदि बढ़ते हैं। खान से अलग हुए पत्थर नहीं बढ़ते हैं, जैसे मृत शरीर नहीं बढ़ता है।

(३) जैसे बालक बढ़ता है उसी प्रकार पर्वत भी बढ़ते हैं।

(४) मूत्राशय में कंकर बढ़ने से पथरी रोग होता है।

(५) मछली के पेट में रहने वाले मोती एक प्रकार के पत्थर हैं और उनमें वृद्धि देखी जाती है।

(६) जैसे मनुष्य के शरीर की अस्थियां कठोर होने पर भी सजीव हैं, उसी प्रकार पत्थर आदि कठोर होने पर भी सजीव हैं।

तात्पर्य यह है कि विना चेतना के कोई भी शरीर नहीं बढ़ सकता, और पर्वत आदि बढ़ते देखे जाते हैं, इसलिए उनमें जीव का अस्तित्व अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है।

जल में चेतना की सिद्धि के लिए इस प्रकार युक्तियां समझना चाहिए—

(१) जैसे अंडे में रहा हुआ प्रवाही रस पंचेन्द्रिय जीव है, उसी प्रकार प्रवाही पानी भी जीवों का पिण्ड है।

(२) मनुष्य और तिर्यंच भी गर्भ-अवस्था के प्रारम्भ में तरल होते हैं, इसी प्रकार जल तरल होने पर भी सजीव है।

(३) जैसे शीतकाल में मनुष्य के मुख से भाप निकलती है, उसी प्रकार कूप आदि के जल में से भी वाष्प निकलती देखी जाती है।

(४) जैसे शीतकाल में मनुष्य का सजीव शरीर गर्म रहता है, उसी प्रकार जल भी गर्म रहता है।

(५) ग्रीष्मकाल में जैसे मनुष्य-शरीर ठंडा रहता है, उसी प्रकार जल भी ठंडा रहता है।

(६) जैसे मनुष्य की प्रकृति में सर्दी और गर्मी दोनों हैं उसी प्रकार जल की प्रकृति में भी सर्दी-गर्मी दोनों गुण हैं।

(७) जैसे मनुष्य का शरीर तीव्र शीत के कारण अकड़ जाता है, उसी प्रकार जलकाय के जीवों का शरीर-पानी-भी अकड़ कर बर्फ बन जाता है।

(८) जैसे मनुष्य का शरीर नौ महीने तक गर्भ में परिपक्व होता है, अपरिपक्व अवस्था में गर्भपात हो जाता है, उसी प्रकार पानी छह मास तक बादलों में रहकर परिपक्व होता है तो वर्षा के रूप में पड़ता है, अन्यथा अपरिपक्व अवस्था में ओले के रूप में गिर जाता है।

मनुष्य के साथ इतना सादृश्य जल में जीव की सत्ता सिद्ध करता है। इसी प्रकार अग्निकाय में भी जीव का अस्तित्व सिद्ध होता है। वह इस तरह—

(१) जैसे ज्वर से जलते हुए शरीर में जीव रह सकता है, उसी भांति उष्ण अग्नि में भी जीव रह सकते हैं।

(२) जैसे मृत्यु होने पर मनुष्य का शरीर ठंडा पड़ जाता है, उसी प्रकार अग्नि बुझ जाने पर ठंडी पड़ जाती है।

(३) जैसे जुगनू के शरीर में प्रकाश है, उसी प्रकार अग्नि के जीवों में प्रकाश है।

(४) जैसे मनुष्य गतिशील है, उसी प्रकार अग्नि भी ऊपर की ओर गति करती है।

(५) जैसे मनुष्य, पशु, पत्नी आदि जीव-जन्तु वायु से जीवित रहते हैं उसी प्रकार अग्नि भी वायु से जीवित रहती है। थोड़ी देर हवा न मिलने से जैसे मनुष्य आदि प्राणी मर जाते हैं, उसी प्रकार अग्नि भी नष्ट हो जाती है।

(६) जैसे मनुष्य प्राणवायु (ऑक्सीजन) ग्रहण करता है और विष-वायु (कार्बन) बाहर निकालता है, उसी प्रकार अग्नि भी प्राणवायु ग्रहण कर विषवायु का परित्याग करती है।

(७) जैसे कोसों तक फैले हुए मारवाड़ के रेगिस्तान में, विना पानी के, तीव्र उष्णता में भी चूहे जीवित रह सकते हैं, और जैसे फिनिक्स पक्षी अग्नि में गिर-कर नव-जीवन प्राप्त करता है, उसी प्रकार अग्नि के जीव, उष्ण अग्नि में जीवित रह सकते हैं। तात्पर्य यह है कि जो जीव जहां उत्पन्न होकर निरंतर निवास करता है, उसके लिए वहां की प्राकृतिक शीत-उष्णता या वातावरण बाधक नहीं होता। हिमालय की भयंकर हिम में हम लोग कुछ क्षणों से अधिक जीवित नहीं रह सकते, परन्तु वहां उत्पन्न होने वाले पशु-पक्षी आदि जीवधारी वहीं अपना सम्पूर्ण जीवन सकुशल व्यतीत करते हैं। इसमें आश्चर्य की बात नहीं है। इससे यह समझा जा सकता है कि अग्नि यद्यपि अत्यन्त उष्ण वस्तु है, फिर भी उसमें अग्निकाय के जीव रह सकते हैं। जैसे नीम हमें कटुक प्रतीत होता है पर ऊंट गन्ने से भी अधिक मधुर अनुभव करता है, जो वस्तु हमारे लिए कटुक रस से व्याप्त है वही उसके लिए माधुर्य का भंडार है, इसी प्रकार जो स्पर्श हमें उष्ण प्रतीत होता है वही दूसरी जाति के जीवों को उष्ण प्रतीत न हो, यह बहुत संभव है जो बात रस में देखी जाती है वह स्पर्श में भी हो सकती है। इन युक्तियों से अग्निकाय के जीवों की सत्ता का अनुमान लगाया जा सकता है।

वायुकाय के जीवों का अस्तित्व इस प्रकार समझना चाहिए:—

(१) जैसे मनुष्य आदि प्राणी चलते हैं उसी प्रकार हवा भी चलती रहती है।

(२) हवा अपने में संकोच और विस्तार कर सकती है।

(३) वायु गाय के समान, विना किसी से प्रेरित हुए ही अनियमित रूप से इधर उधर घूमती है।

इन प्रमाणों से वायु में भी चेतना का सद्भाव जाना जा सकता है यह पांचों प्रकार के जीव स्थावर काय कहलाते हैं। इन के पांच इन्द्रियों में से केवल मात्र स्पर्शन इन्द्रिय होती है। यही कारण है कि इनकी चेतना स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं होती और इसी कारण साधारण जनता इनकी सजीवता को स्पष्ट रूप से समझ नहीं पाती। तथापि ज्ञानी जनों ने अपनी उग्र अनुभूति और तीक्ष्ण दृष्टि से उनमें चेतना के दर्शन किये हैं।

जैसे वनस्पतिकाय में जीव को सिद्ध करने के लिए वैज्ञानिक साधन आविष्कृत हो सके हैं, उसी प्रकार पृथ्वी आदि के जीवों का भी अस्तित्व प्रत्यक्ष हो सकने की संभावना की जा सकती है।

वनस्पतिकाय में अनंत काल तक जीव निवास करता है। निगोदवनस्पति के जीवों के विषय में पहले कहा जा चुका है।

मूलः-बेइंदियकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखिज्जसण्णिअं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१०॥

छायाः—द्वीन्द्रियकायमतिगतः, उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत्।
कालं संख्येयसंज्ञितं, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥१०॥

शब्दार्थः—हे गौतम ! दो-इन्द्रिय काय में गया हुआ जीव उत्कृष्ट संख्यात काल तक वहां बना रहता है, इसलिए समय मात्र भी प्रमाद मत करो।

भाष्यः—स्थावर जीवों में जाकर यह आत्मा कितना समय वहां व्यतीत करता है, यह बताने के पश्चात् अब त्रस पर्याय की कायस्थिति बतलाते हुए सर्व प्रथम द्वीन्द्रिय की कायस्थिति का यहां उल्लेख किया गया है।

जीव जब दो इन्द्रिय वाले शरीर में जाता है तब वहां एक भव में जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट बारह वर्ष तक रहता है। तत्पश्चात् मृत्यु को प्राप्त होकर फिर द्वीन्द्रिय हो सकता है, और इस प्रकार संख्यात काल उसी अवस्था में व्यतीत कर सकता है।

यह अवस्था एकेन्द्रिय की अपेक्षा कुछ अधिक विकसित अवस्था है। इसमें स्पर्शनेन्द्रिय के साथ रसनेन्द्रिय भी प्राप्त होती है, फिर भी वहां धर्म साधन या आत्म-हितकारिणी प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव है। अतएव वह सर्वथा अवांछनीय है। इस अवस्था से बचने का मार्ग यही है कि मनुष्यभव पाकर प्रमाद न करते हुए धर्म की आराधना की जाय।

मूलः-तेइंदियकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखिज्जसण्णिअं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥११॥

छायाः—त्रीन्द्रियकायमतिगतः, उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत्।
कालं संख्येयसंज्ञितं, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥११॥

शब्दार्थः—हे गौतम ! तीन इन्द्रिय वाली योनि में जाकर जीव वहाँ उत्कृष्ट संख्यात काल तक रहता है, अतएव एक समय का भी प्रमाद न करो।

भाष्यः—त्रीन्द्रिय जीवों को स्पर्शन और रसना इन्द्रिय के साथ घ्राण इन्द्रिय भी होती है। वे सुगन्ध और दुर्गन्ध को ग्रहण कर सकते हैं। त्रीन्द्रिय जीवों की जघन्य भवस्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट उनचास (४९) दिन की है और कायस्थिति संख्यात काल की है। शेष अंश की व्याख्या पूर्ववत् समझना चाहिए।

मूल:—चउरिंदियकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखिज्जसण्णिअं, समयं गोयम! मा पमायए॥१२॥

छाया:— चतुरिन्द्रियकायमतिगतः, उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत।
कालं संख्यातसंज्ञितं समयं गौतम! मा प्रमादीः॥१२॥

शब्दार्थ:—चार इन्द्रिय वाली योनि में गया हुआ जीव उत्कृष्ट संख्यात काल तक वहीं रहता है, इसलिए हे गौतम! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

भाष्य:—चतुरिन्द्रिय जीवों के चक्षु इन्द्रिय भी होती है, किन्तु उन्हें भी धर्म श्रवण और धर्माचरण की योग्यता प्राप्त नहीं है। इसलिए उस अवस्था से बचने का उपाय, प्राप्त मनुष्यभव को सुधारना है।

चतुरिन्द्रिय जीव की जघन्य भवस्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की, उत्कृष्ट छह महीने की और कायस्थिति संख्यात काल की है। शेष पूर्ववत्।

मूल: पंचिंदियकायमइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
सत्तट्ठभवग्गहणे, समयं गोयम! मा पमायए॥१३॥

छाया:— पञ्चेन्द्रियकायमतिगतः, उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत्।
सप्ताष्टभवग्रहणानि, समयं गौतम! मा प्रमादीः॥१३॥

शब्दार्थ:—पांच इन्द्रिय वाली योनि में गया हुआ जीव उत्कृष्ट सात या आठ भव तक उसी योनि में रहता है, इसलिए हे गौतम! समय मात्र भी प्रमाद न करो।

भाष्य:—पंचेन्द्रिय पर्याय में जाकर जीव सात-आठ भव तक उसी पर्याय में जन्म-मरण करता है। यह पंचेन्द्रिय की उत्कृष्ट कायस्थिति है।

पंचेन्द्रिय जीव चार प्रकार के होते हैं:—(१) मनुष्य (२) तिर्यञ्च, (३) देव और (४) नारक। यहां मनुष्य और तिर्यञ्च की अपेक्षा कायस्थिति का वर्णन किया है। देव और नारकी जीव एक भव से अधिक देवपर्याय और नारक पर्याय में नहीं रहते, मनुष्य और तिर्यञ्च ही सात-आठ भव निरन्तर करते हैं। देव-नारकी की जघन्य भवस्थिति दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट तेतीस सागर की है। मनुष्य और तिर्यञ्च की जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट तीन पल्योपम, की है। एक जीव एक मुहूर्त्त में, अधिक से अधिक इतने भव करता है-पृथ्वीकाय, अप्काय तेउकाय और वायुकाय १२८२४ भव, वादर वनस्पति काय ३२००० भव, सूक्ष्म वनस्पति काय ६५५३६ भव, द्वीन्द्रिय जीव ८० भव, त्रीन्द्रिय जीव ६० भव, चतुरिन्द्रिय जीव ४० भव असंज्ञी पंचेन्द्रिय २४ भव, और संज्ञी पचेन्द्रिय एक भव करता है।

एक मुहूर्त्त में होने वाले इन भवों से समझा जा सकता है कि जन्म-मृत्यु की कितनी अधिक वेदनाएं जीव को विभिन्न योनियों में सहन करनी पड़ती हैं। इसलिए इस प्रचुरतर वेदना से बचने का एक मात्र उपाय मानव-भव पाकर प्रमाद का परि-

हार करना और आत्मरत होकर आध्यात्मिक आनन्द-लाभ करना है। इसीलिए भगवान् कहते हैं—गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद न करो। जो मौका मिल गया है उसे हाथ से न जाने दो।

मूल:--देवे नेरइए अइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे।
इक्किकभवग्गहणे, समयं गोयम ! मा पमायए॥१४॥

छाया:—देवे नैरयिके अतिगतः, उत्कर्षतो जीवस्तु संवसेत्।
एकैकभवग्रहणं, समयं गौतम मा ! प्रमादीः ॥१४॥

शब्दार्थ:—हे गौतम ! देवभव और नरकभव में गया हुआ जीव उत्कृष्ट एक-एक भव तक वहीं रहता है—तेतीस सागरोपम जितना दीर्घकाल वहां व्यतीत करता है, इस लिए समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

भाष्य:—इस गाथा की व्याख्या सुगम है। पहले के समान ही समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि देव मृत्यु के पश्चात निरन्तर भव में पुनः देव नहीं होता और नारकी पुनः नारकी नहीं होता। अतएव दोनों गतियों की कायस्थिति एक-एक भव ही है, किन्तु यह काल बहुत लम्बा है। नरक गति की वेदनाएं असह्य होती हैं और देव भव में आत्मकल्याण की विशेष अनुकूलता नहीं होती। इसलिए ऐसा प्रयत्न करना उचित है जिससे इन भवों से बच सकें।

मूल:-एवं भवसंसारे, संसरइ सुहासुहेहिं कम्मेहिं।
जीवो पमायबहुलो, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१५॥

छाया:—एवं भवसंसारे, संसरति शुभाशुभैः कर्मभिः।
जीवः प्रमादबहुलः, समयं गौतम ! मम प्रमादीः ॥१५॥

शब्दार्थ:—हे गौतम ! अति प्रमाद वाला जीव, इस जन्म-मरण रूप संसार में, शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार भ्रमण करता रहता है। इसलिए समय मात्र का भी प्रमाद न करो।

भाष्य:—पूर्वोक्त भव-भ्रमण का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि इस प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति रूप एकेन्द्रिय कायों में तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय नरक तिर्यंच एवं देव गतिमें पुनः-पुनः जन्म और पुनः-पुनः मरण के घोर कष्ट सहन करता हुआ जीव संसार में भटकता फिरता है। भव-भ्रमण का कारण प्रमाद की बहुलता है। प्रमाद का स्वरूप पहले कहा जा चुका है। उसी के प्रभाव से जीव अनादिकाल से चौरासी के चक्कर में फंसा हुआ है और जब तक वह प्रमाद का परित्याग नहीं करेगा तब तक फंसा रहेगा।

नाना अवस्थाओं में रहा हुआ जीव कभी शुभ कर्मों का उपार्जन करता है और कभी अशुभ कर्मों का। अशुभ कर्मों के फल-स्वरूप नरक--निगोद, तिर्यंच आदि

योनियां पाता है और कभी शुभ कर्मों का उदय होने पर देव आदि पर्यायें पा लेता है। इस प्रकार दोनों प्रकार के कर्म के साहचर्य से भव-भ्रमण करते हैं।

प्रमाद सहज आत्मानन्द की प्राप्ति में बाधक है। उसके प्रभाव से जीव अपनी ओर दृष्टि नहीं करता। जब तक आत्मा, आत्मा में ही पूर्णरूपेण तल्लीन नहीं हो जाता, आत्मिक भाव में ही रमण नहीं करता, तब तक उसे भव-भ्रमण से छुटकारा नहीं मिल सकता। अतएव जिन जीवों को संसार भयंकर प्रतीत होता है, संसार के विषय-भोगों की नीरसता का जिन्हें अनुभव हो चुका है, जो स्वाभाविक सुख का उपभोग करने की अभिलाषा वाले हैं, उन्हें प्रमाद से दूर ही रहना चाहिए। अप्रमत्त दशा ही जागृति की दशा है। इसी दशा में जीव हित-अहित का विवेक कर सकता है। इसी अवस्था में वह अपना नैसर्गिक स्वरूप निहार सकता है। इसी अवस्था में अन्तः-करण में प्रविष्ट होने वाले पाप रूपी तस्करों से अपने स्वरूप-सर्वस्व की रक्षा कर सकता है।

प्रमत्त दशा सुषुप्ति अवस्था है। जैसे द्रव्य-सुषुप्ति में नेत्र बन्द हो जाते हैं उसी प्रकार इस भाव--सुषुप्ति में आन्तरिक नेत्रों पर पर्दा पड़ जाता है। सुप्त पुरुष अपने हित-अहित का विचार नहीं कर पाता इसी प्रकार प्रमाद रूप भाव-सुषुप्ति के अधीन हुआ पुरुष आत्मा के कल्याण-अकल्याण का विचार करने में असमर्थ रहता है। गहरी नींद में सोया हुआ पुरुष अपने धन आदि की रक्षा नहीं कर सकता, इसी प्रकार प्रमत्त जीव अपने आत्मिक धन को अपहरण से नहीं बचा सकता। निद्रा के समय समस्त विश्व अंधकार-निमग्न सा बन जाता है, उसी प्रकार प्रमत्त पुरुष के भाव-नेत्रों के समक्ष गहन अज्ञान-अंधकार फैला रहता है। प्रमाद-निद्रा दृष्टि की निर्मलता का समूल विनाश कर देती है। इस प्रकार प्रमाद के अनेक दोष जान कर ज्ञानीजनों को एक समय मात्र का भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

मूलः—लद्धूण वि माणुसत्तणं, आरिअत्तं पुणरावि दुल्लहं।
बहवे दसुआ मिलक्खुआ, समयं गोयम ! मा पमायए १६

छायाः—लब्ध्वाऽपि मानुषत्वं, आर्यत्वं पुनरपि दुर्लभम्।
वहवो दस्यवो म्लेच्छाः, समयं गौतम ! मा प्रमदीः ॥१६॥

शब्दार्थः—हे गौतम ! मनुष्यत्व पा करके भी आर्यत्व दुर्लभ है—बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है, क्योंकि बहुत से मनुष्य दस्यु और म्लेच्छ होते हैं।

भाष्यः - इस विशाल और विविध योनियों से व्याप्त संसार में, प्रथम तो मनुष्यपर्याय का मिलना ही अत्यन्त कठिन है, जैसे कि पहले बतलाया जा चुका है, कदाचित् पुण्य के परम प्रकर्ष से मनुष्यपर्याय की प्राप्ति हो गई—अंधे के हाथ मणि लग गई—तो उसमें भी अनेकानेक विघ्न विद्यमान रहते हैं।

मनुष्य दो प्रकार के होते हैं—(१) आर्य और (२) अनार्य। जो सुसंस्कारवान्

होते हैं वे आर्य कहलाते हैं और जो संस्कारहीन हैं वे अनार्य कहलाते हैं। आर्य मनुष्य भी दो प्रकार के हैं—ऋद्धिप्राप्त और अनृद्धिप्राप्त। ऋद्धिप्राप्त आर्य सात प्रकार के हैं—(१) बुद्धि-ऋद्धि प्राप्त (२) विक्रिया-ऋद्धि प्राप्त (३) तप-ऋद्धि प्राप्त (४) बल-ऋद्धि प्राप्त (५) औषध-ऋद्धि प्राप्त (६) रस-ऋद्धि प्राप्त (७) अक्षीण-ऋद्धि प्राप्त आर्य।

जिन्हें ऋद्धि प्राप्त नहीं है वे अनृद्धि प्राप्त आर्य पाँच प्रकार के हैं—(१) क्षेत्र-आर्य (२) जाति-आर्य (३) कर्म-आर्य (४) चारित्र-आर्य और (५) दर्शन-आर्य।

क्षेत्र की अपेक्षा आर्य-क्षेत्रों में उत्पन्न होने वाले मनुष्य क्षेत्रार्य कहलाते हैं। ३४३ घनाकार राजू परिमित लोक तीन भागों में विभक्त है। उनमें से १९६ घनाकार राजू अधोलोक है, १३७ घनाकार राजू परिमित उर्ध्वलोक है। यहाँ एक भी आर्य-क्षेत्र नहीं है। १० घनाकार राजू परिमाण वाला मध्यलोक है। इस अपेक्षाकृत अल्प विस्तार वाले मध्यलोक में असंख्यात द्वीप और असंख्यात समुद्र हैं। यह सब द्वीप और समुद्र सिर्फ एक राजू में ही हैं। इन द्वीप-समुद्रों में से केवल अढ़ाई द्वीप में ही मनुष्यजाति का निवास है। इनके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी मनुष्य नहीं रहते। इतने छोटे-से क्षेत्र में भी १५ कर्मभूमि, ३० अकर्मभूमि और ५६ अन्तर्द्वीप, इस प्रकार केवल मात्र १०१ ही मनुष्यों के रहने के क्षेत्र हैं। किन्तु धर्म की साधना का अवकाश न अकर्मभूमिज मनुष्यों को मिलता है और न अन्तर्द्वीपज मनुष्यों को ही। धर्म की साधना कर सकने की योग्यता केवल १५ कर्मभूमियों में रहने वाले मनुष्यों को ही है। पांच महाविदेह, पांच भरत और पांच ऐरावत, इस प्रकार पन्द्रह कर्मभूमियां हैं। पांच महाविदेह क्षेत्र में धर्म-प्रवृत्ति शाश्वत है परन्तु भरत और ऐरावत क्षेत्रों में सिर्फ एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम काल ही धर्म की प्रवृत्ति का होता है। दोनों इन क्षेत्रों में ३२०००-३२००० देश हैं। इन देशों में भी ३१९७४॥ अनार्य देश हैं और सिर्फ २५॥ आर्य देश हैं।

इतने बृहत् लोक में से केवल २५॥ आर्य देशों में से किसी देश में जन्म प्राप्त होना कितने प्रकृष्ट पुण्य का उदय है! जिन्हें इन आर्य देशों में जन्म की प्राप्ति होती है वे क्षेत्र-आर्य कहलाते हैं।

क्षेत्र से आर्य होने पर भी बहुत से जीव पापमय नीच संस्कार वाली जातियों में उत्पन्न होते हैं। उन जातियों में धर्म के संस्कारों का सर्वथा अभाव पाया जाता है। आत्मा क्या है? धर्म क्या है? मनुष्य जीवन की उपयोगिता किस कर्त्तव्य में है? इत्यादि प्रश्न ही उनके हृदय में कभी उद्भूत नहीं होते। वे मनुष्य होते हुए भी पशुओं के समान अपना जीवन यापन करते हैं। कोई जंगली पशुओं की तरह केवल हिंसा वृत्ति से ही अपना जीवन-निर्वाह करके ही मर जाते हैं और अधिक पाप का भार लाद परलोक की ओर प्रयाण करते हैं। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं कि बहुत से मनुष्य दस्यु और म्लेच्छ होते हैं।

दस्यु एक जंगली जाति है। कहा भी है—

पुलिन्दः शबरो दस्युः निषादो व्याधलुब्धकौ।
धानुष्कोऽथ किरातश्च, सोऽरण्यानीचर स्मृत ॥

अर्थात् जंगलों में रहने वाले मनुष्य पुलिन्द, शबर, दस्यु, निषाद, व्याध, लुब्धक, धानुष्क और किरात कहलाते हैं। यह लोक जीव-हिंसा, लूट-खसोट आदि पापमय प्रवृत्तियों में ही सदा लीन रहते हैं। इन बेचारों को धर्म की भावना का स्पर्श भी नहीं हो पाता।

अगर पुण्य का अतिशय अत्यन्त प्रबल हुआ तो सभ्य शिष्ट धर्मभावनावान् मनुष्यों के बीच रहने का सुअवसर प्राप्त होता है। फिर भी वहां अनेक मनुष्यों में से कोई अनार्य कर्म करते हैं जैसे कसाई प्रभृति। इस प्रकार अनार्यत्व से बचकर आर्यत्व को प्राप्त कर लेना इसी प्रकार महान् दुर्लभ है, जैसे अतल जलधि में गिरी हुई सुई दुर्लभ है।

जिन्हें मनुष्यत्व और आर्यत्व दोनों की प्राप्ति हुई है वे अत्यंत पुण्यशाली हैं, वे धन्य हैं। उन्हें अमूल्य अवसर मिला है। इस अवसर को पाकर उन्हें एक समय का भी प्रमाद न करना चाहिए।

मूल:—लद्धूण वि आरियत्तणं अहीणपंचिंदियया हु दुल्लहा।
विगलिंदिया हु दीसइ, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१७॥

छाया:—लब्ध्वाऽपि आर्यत्वम्, अहीनपञ्चेन्द्रियता हि दुर्लभा।
विकलेन्द्रिया हि दृश्यन्ते, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ:—हे गौतम ! आर्यत्व प्राप्त हो जाने पर भी परिपूर्ण पंचेन्द्रियों का प्राप्त होना निश्चय ही कठिन है, क्योंकि बहुत से जीव विकल इन्द्रियों वाले भी देखे जाते हैं।

भाष्य:—धर्मसाधना के अवसर की उत्तरोत्तर दुर्लभता का प्रतिपादन करते हुए सूत्रकार ने यहां यह बतलाया है कि यदि कोई जीव मनुष्यत्व प्राप्त करले और आर्य जाति में जन्म भी ग्रहण करले, तब भी यदि पांच इन्द्रियों में से कोई एक भी इन्द्रिय काम की न हुई तो भी धर्म की उपासना सम्यक् प्रकार से नहीं हो पाती। कोई जीव जन्म से अंधे होते हैं, कोई बहरे होते हैं, कोई मूक होते हैं और कोई लूले लंगड़े होते हैं। ऐसे लोग समय की साधना और धर्म-लाभ करने में प्रायः समर्थ नहीं होते।

ऐसी अवस्था में जिन्हें परिपूर्ण पांचों इन्द्रियां प्राप्त हो गई हैं उन्हें अपने आप को अतीव भाग्यशाली समझकर इस अवसर का परिपूर्ण लाभ उठाना चाहिए और एक समय मात्र का भी प्रमाद न करते हुए धर्म की आराधना करनी चाहिए।

मूल:—अहीणपंचिंदियत्तं पि से लहे, उत्तमधम्मसुई हु दुल्लहा।
कुतित्थिनिसेवए जणे, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१८॥

छाया:— अहीनपञ्चेन्द्रियत्वमपि स लभते, उत्तमधर्मश्रुतिर्हि दुर्लभा ।
कुतीर्थिनिषेवको जनः, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥१८॥

शब्दार्थ:—हे गौतम ! वह जीव यदि परिपूर्ण पांचों इन्द्रियां प्राप्त कर ले तो उत्तम धर्म का श्रवण दुर्लभ है-श्रेष्ठ धर्म के तत्त्व का उपदेश पाना कठिन है, क्योंकि मनुष्य कुतीर्थियों की उपासना करने वाले देखे जाते हैं। इसलिए समय मात्र भी प्रमाद न करो।

भाष्य:—पुण्य अधिक प्रबलतर हुआ और किसी जीव को, मनुष्यत्व, आर्यत्व और परिपूर्ण कार्यकारी इन्द्रियां भी प्राप्त हो गईं तो भी धर्म-साधना के अन्तरायों का अन्त नहीं होता। क्योंकि जगत् में बहुतेरे मनुष्य कुतीर्थियों का सेवन करते हैं।

जिसके द्वारा तरा जाय या जो तारने वाला हो उसे तीर्थ कहते हैं। कहा भी है—

तिज्जइ जं तेण तहिं, तओ व तित्थं तयं च दव्वम्मि ।
सरियाईणं भागो निरवायो तम्मिय पसिद्धे ॥

गाथा का भाव ऊपर आ चुका है। जिसके सहारे तिरने योग्य वस्तु तिरती है-पार पहुंचती है, वह तीर्थ कहलाता है। सुविधाजनक नदी आदि का एक विशिष्ट भाग (घाट) द्रव्यतीर्थ है।

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव रूप चार निक्षेपों के भेद से तीर्थ चार प्रकार का है। किसी वस्तु का, जिसमें तीर्थ का गुण न हो, 'तीर्थ' ऐसा नाम रख लेना नामतीर्थ है। किसी तदाकार अथवा अतदाकार वस्तु में 'तीर्थ' की स्थापना कर लेना स्थापना तीर्थ कहलाता है। नदी सरोवर आदि द्रव्य तीर्थ कहे जाते हैं, क्योंकि उनसे शरीर ही तिरता है अर्थात् शरीर ही इस पार से उस पार पहुंचता है। इसके अतिरिक्त नदी आदि शरीर के द्रव्यमल-बाह्य मैल को ही हटाता है। तथा नदी प्रभृति कभी तिराती है, कभी नहीं तिराती-तैरने वाले को डुबा भी देती है। इन सब कारणों से नदी आदि द्रव्य-तीर्थ कहलाते हैं।

भावतीर्थ का स्वरूप इस प्रकार है—

भावे तित्थं संघो, सुयविहियं तारओ तहिं साहू ।
नाणाइतियं तरणं तरियव्वं भवसमुद्दोऽयं ॥

अर्थात्—संघ भावतीर्थ है। साधु तारने वाले हैं। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप रत्नत्रय तिरने के साधन हैं और संसार रूपी समुद्र तिरने योग्य है।

एकान्त रूप मिथ्या प्ररूपणा करने वाले सिद्धान्त के अनुयायियों का समूह कुतीर्थ समझना चाहिए और उसकी स्थापना करने वाले कुतीर्थी हैं। जगत् के अनेक मनुष्य, मनुष्य भव, आर्य क्षेत्र, इन्द्रियपरिपूर्णता रूप कल्याण की सामग्री प्राप्त करके भी कुतीर्थीयों का सेवन करते हैं। उनका सेवन करने से कल्याण के बदले अकल्याण होता है। नास्तिक लोग आत्मा का अस्तित्व अस्वीकार करके खाने पीने और आनन्दोपभोग करने की वृत्ति जागृत करते हैं और आत्मा को धर्म-मार्ग से हटा देते हैं। कोई लोग समस्त पदार्थों को क्षणिक मानते हैं। अतः किये हुए पुण्य पाप का फल

भोगने में आत्मा समर्थ नहीं ठहरता। कुछ लोग आत्मा को ब्रह्मस्वरूप प्रतिपादन करते हैं। उनके मत से आत्मा को संयम आदि की साधना करने की क्या आवश्यकता है ? इत्यादि अनेक मिथ्या सिद्धान्तों से जीव के अपने स्वरूप में ही भ्रम उत्पन्न हो जाता है, जिससे वह अपने परम कल्याण का सच्चा मार्ग नहीं खोज पाता।

ऐसी अवस्था में विविध प्रकार के एकान्तवादों से बचकर, वास्तविक वस्तु-स्वरूप के प्रतिपादक, वीतराग सर्वज्ञ भगवान् द्वारा उपदिष्ट अनेकान्त रूप उत्तम धर्म के श्रवण करने का अवसर मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। पुण्य की अत्यधिक प्रबलता होने पर ही उत्तम कुल में जन्म, निर्ग्रन्थ गुरुओं का समागम आदि उत्तम धर्म-श्रवण की सामग्री मिलती है। जिन्हें यह सामग्री मिली है उन्हें इस अवसर को गंवाना नहीं चाहिए और एक समय मात्र भी प्रमाद न करके धर्म की आराधना करनी चाहिए।

मूल:-लद्धूण वि उत्तमं सुइं, सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा।
मिच्छत्तनिसेवए जणे, समयं गोयम ! मा पमायए ॥१९॥

छाया:—लब्ध्वाऽपि उत्तमां श्रुतिं, श्रद्धानं पुनरपि दुर्लभम्।
मिथ्यात्वनिषेवको जनः, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥१९॥

शब्दार्थ:—हे गौतम ! उत्तम धर्म-श्रवण की प्राप्ति होने पर भी उसका श्रद्धान दुर्लभ है, क्योंकि लोग मिथ्यात्व का सेवन करते देखे जाते हैं। इसलिए श्रद्धान-लाभ होने पर समय मात्र का भी प्रमाद न करो।

भाष्य:—पूर्वोक्त स्याद्वादमय तथा अहिंसा प्रधान धर्म के श्रवण का अवसर प्राप्त होने पर भी उस पर श्रद्धान होना अत्यन्त कठिन है। अनेक लोग सत्य धर्म का श्रवण करते हुए भी उस पर श्रद्धान नहीं करते—मिथ्यात्व का सेवन करते हैं।

यहां श्रद्धान की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। धर्म-श्रवण कर लेने पर भी जब तक उस पर सुदृढ़ प्रतीति न हो तब तक सम्यक्त्व का उदय नहीं होता और वह श्रोता मिथ्यादृष्टि बना रहता है। श्रद्धा का स्वरूप इस प्रकार कहा है—

इदमेवेदृशमेव, तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा।
इत्यकम्प्यायसाम्भोवत् सन्मार्गेऽसंशया रुचिः ॥

अर्थात् वास्तविक तत्व यही है और इसी प्रकार का है, अन्य नहीं है और अन्य प्रकार का भी नहीं है, ऐसी तलवार की धार के पानी के समान, संशय रहित निश्चल श्रद्धा सन्मार्ग में अर्थात् वीतराग भगवान् द्वारा उपदिष्ट तत्त्व में होना चाहिए।

मिथ्यात्व और सम्यक्त्व का विवेचन पहले किया जा चुका है। वस्तुतः मिथ्यात्व ही संसार का सर्वप्रधान कारण है। वही कर्मबंध का हेतु है। उसके होते हुए मनुष्यत्व, आर्यत्व, धर्मश्रुति, आदि सामग्री व्यर्थ ही होती है, अपितु अधिक अकल्याण का कारण बन जाती है। इसलिए सच्चे धर्म का श्रवण करके इस पर पूर्ण

श्रद्धा का भाव रखना चाहिए। कुगुरु, कुदेव और कुधर्म का सेवन कदापि नहीं करना चाहिए। जिन पुण्यात्माओं को दुर्लभ श्रद्धा भी प्राप्त हो गई है उन्हें एक समय का भी प्रमाद न करके संयम आदि का अनुष्ठान करना चाहिए।

मूल:—धम्मं पि हु सद्दहंतया, दुल्लहा काएण फासया।
इह कामगुणेहि मुच्छिया, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२०॥

छाया:—धर्ममपि हि श्रद्धत, दुर्लभका कायेन स्पर्शकाः।
इह कामगुणैर्मूर्छिताः, समयं गौतम ! मा प्रमादीः। २०॥

शब्दार्थ:—हे गौतम ! धर्म पर श्रद्धान करते हुए भी उसे शरीर से स्पर्श करना अर्थात् श्रद्धा के अनुसार धर्माचरण होना दुर्लभ है, क्योंकि संसार में बहुत से लोग काम-भोगों में मूर्छित हो रहे हैं इस लिए समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

भाष्य:—अनन्तानुबंधी कषाय तथा दर्शमोहनीय कर्म का क्षय या उपशम आदि अन्तरंग कारण तथा निर्ग्रन्थ गुरु का समागम आदि बहिरंग कारणों का योग होने पर धर्म-श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। इस श्रद्धा के जागृत होने से पुरुष सार-असार का विवेक करने लगता है। वह कामभोगों को हेय समझने लगता है और संयम के अनुष्ठान की आकांक्षा भी रखता है, किन्तु अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायों का उदय होने से न तो देश संयम की आराधना कर पाता है और न सर्व-विरति संयम की ही। इसलिए सूत्रकार ने यहां कहा है कि श्रद्धान होने पर भी धर्म का स्पर्श होना अर्थात् आचरण करना कठिन है।

जिन्होंने इन कषायों का क्षय आदि करके संयम के अनुष्ठान की योग्यता को अभिव्यक्त कर लिया है, वे धन्य और मान्य हैं। उन्हें संसार-सागर से पार उतरने की बहुत सी अनुकूलता प्राप्त हुई है। अतएव उन्हें एक समय मात्र भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। प्रमाद के प्रभाव से मुनि तत्काल सप्तम गुणस्थान से पतित होकर छठे गुणस्थान में आ जाता है और प्रमादहीन होते ही सप्तम गुणस्थान में पुनः आरूढ़ हो जाता है। इसीसे प्रमाद का आत्मा पर पड़ने वाला प्रभाव स्पष्ट जाना जा सकता है। अतएव जिन्हें धर्म की स्पर्शना प्राप्त हो गई है उन्हें एक समय भी प्रमाद न करके आत्मकल्याण की उत्कृष्ट साधना करना चाहिए।

मूल:--परिजूरई ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवंति ते।
से सोयबले य हायइ, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२१॥

छाया:—परिजीर्यति ते शरीरकं, केशा पाण्डुरका भवन्ति ते।
तव श्रोत्रबलं च हीयते, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥२१॥

शब्दार्थ:—हे गौतम ! तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश तेरे सफेद होते जाते हैं,

तेरी श्रवण-शक्ति अर्थात् इन्द्रियों की शक्ति दिनों-दिन कम होती जा रही है, इसलिए समय मात्र का भी प्रमाद न कर।

भाष्य:—शरीर की अनित्यता का सुन्दर और स्वाभाविक चित्र यहां खींचा गया है। सीधा अन्तस्तल को स्पर्श करने वाला, चित्त को प्रभावित करने वाला और सोने वालों की निद्रा भंग कर देने वाला यह सुन्दर चित्र है।

शरीर की अनित्यता स्वयं अनुभव की जा सकती है। शिशु का जन्म होता है तब से लगाकर बाल-अवस्था, कुमार-अवस्था, नवयुवक-अवस्था, युवावस्था, प्रौढ़-अवस्था, वृद्धावस्था आदि अनेक अवस्थाएं यह शरीर अनुभव करता है। ये सब अवस्थाएं स्थूल अवस्थाएं हैं, जो सहज ही सब की दृष्टि में आ सकती हैं। मगर इन अवस्थाओं के बीच में भी अनेकानेक सूक्ष्म अवस्थाएं आती और जाती रहती हैं। बालक के शरीर की वृद्धि और पुष्टता के लिए कोई समय नियत नहीं है। प्रतिक्षण बालक बढ़ता रहता है और पुष्ट होता रहता है। इसी प्रकार यौवन अवस्था के पश्चात् शारीरिक शक्ति का ह्रास आरंभ होता है और प्रतिक्षण होता रहता है। जैसे प्रातः—कालिक सूर्य का तेज मध्याह्न तक क्रमशः बढ़ता और मध्याह्न के पश्चात् क्रमशः क्षीण होता जाता है और अन्त में सूर्य ही अस्त हो जाता है, इसी प्रकार क्रम से क्षीण होता हुआ यह शरीर भी अन्त में नष्ट हो जाता है। सूर्य सदा काल उदित नहीं रह सकता, इसी प्रकार शरीर भी सदा टिका नहीं रह सकता। सूर्य अस्त होने पर घोर अंधकार व्याप्त हो जाता है, इसी प्रकार स्थूल शरीर का नाश होने पर मृत्यु रूपी अंधकार छा जाता है।

यह उदय और अस्त निसर्ग का निश्चल नियम है। अनादि काल से यह चला आता है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। इसका कभी भंग नहीं हुआ। इसमें कभी परिवर्त्तन नहीं हुआ। जगत् में बड़े-बड़े शक्तिशाली पुरुष हो गये हैं, पर इस नियम को कोई भंग नहीं कर सका। अनन्त तीर्थंकर हुए, अनन्त चक्रवर्त्ती राजा षट् खंड के अधिपति हुए, कितने ही बड़े-बड़े सम्राट् और बलशाली सेनापति हुए, पर अंत में किसी का शरीर टिका न रहा। जिनकी उंगली के एक इशारे मात्र से बड़े-बड़े वीरों के दिल दहल उठते थे, जो अपने को अपराजित समझे बैठे थे, जिनकी धाक से सारा संसार काँपता था, वे आज कहां हैं? अपने अपरिमित बल के अभिमान में चूर रावण का अन्त वही हुआ जो एक क्षुद्र कीड़े का होता है। तात्पर्य यह है कि संसार में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं जो अजर-अमर बना रह सकता हो।

पल-पल में होने वाले परिवर्त्तन को देखते हुए भी मनुष्य अंधा बना हुआ है। वह अजर-अमर की तरह, भोगोपभोगों में मस्त होकर जीवन को व्यतीत कर रहा है। संसार के दूसरे सब मनुष्यों का अन्त आ जायगा, केवल मैं अनन्त काल तक ऐसा ही बना रहूंगा, ऐसा मानकर मानों सभी मनुष्य व्यवहार कर रहे हैं। यही मोह का प्राबल्य है। मोह के प्रबल उदय से मनुष्य नेत्र होते हुए भी अंधा है, कान होते

हुए भी बहिरा है और चेतन होते हुए भी जड़ बना हुआ है। मोह के उदय से अपने स्वरूप को ही भूल गया है।

जीवन ज्यों-ज्यों अस्त की ओर गमन करता जाता है त्यों-त्यों गृद्धि बढ़ती जाती है। इन्द्रियां क्षीण होती जाती हैं और विषय-वासना के नवीन अंकुर फूटते जाते हैं। शरीर शिथिल होता जाता है पर लालसा की लता लह-लही होती जाती है। गर्दन कांपने लगती है, मानों वह मृत्यु के आने का निषेध कर रही है, फिर भी मृत्यु समीप से समीपतर होती ही जाती है। केश सफेद होते जाते हैं, मानों वे मृत्यु का संदेश सुना रहे हैं, फिर भी वह अनसुना कर रहा है।

ऐसे अज्ञान पुरुषों को सावधान करते हुए एक कवि ने कहा है—

जौ लों देह तेरी काहू रोग सों न घेरी, जौ लों
जरा नाहिं नेरी जासौं पराधीन परि है।
जौ लौं जम नामा बैरी देय ना दमामा, जौ लों
मानै कान रामा बुद्धि जाई ना बिगरि है।।
तौ लों मित्र! मेरे निज कारज संवार लै रे,
पौरुष थकेंगे फेर पीछे कहा करि है?
अहो आग आयें जब झौंपरी जरन लागी,
कुआ के खुदाएं तब कौन काज सरि है?

जब तक शरीर को किसी व्याधि ने नहीं घेरा है, जब तक बुढ़ापा निकट नहीं आया है, जब तक मौत नामक शत्रु अपने नगाड़े नहीं बजाता, जब तक बुद्धि नहीं सठिया गई है, तब तक अपना काम बनालो—आत्मा का कल्याण साधकर जीवन का महान् उद्देश्य पूर्ण कर लो। उसके बाद वृद्धावस्था आ जाने पर पुरुषार्थ थक जायगा तब क्या कर सकेगा? अरे भोले! आग नजदीक आने पर जब झौंपड़ी जलने लगी, तब कुंआ खुदवाने से क्या काम चलेगा? मृत्यु सन्निकट आजाने पर कुछ भी न हो सकेगा।

तात्पर्य यह है कि जब तक शरीर सशक्त है, इन्द्रियां काम दे रही हैं तब तक धर्म की साधना कर लेना चाहिए। वृद्धावस्था में धर्मसाधना का विचार करना अज्ञान है। प्रथम तो यह भी कोई नहीं जानता कि वृद्धावस्था आ पाएगी भी या नहीं? क्योंकि युवावस्था में ही अनेक मनुष्य मरण-शरण चले जाते हैं। कदाचित् वह आई भी तो वह अर्द्धमृतक--सी अवस्था होती है। उसमें नाना प्रकार के रोग, और नाना प्रकार के कष्ट आ घेरते हैं, जिनके कारण अशान्ति और असाता का अनुभव करना पड़ता है। उस अवस्था में धर्म की विशिष्ट प्रतिपालना संभव नहीं है। इसलिए सब प्रकार का सुयोग पाकर प्रमाद नहीं करना चाहिए। अप्रमत्त अवस्था में रह कर संयम आदि का अनुष्ठान करके जरा-मरण को ही जीत लेने का प्रयत्न करना चाहिए।

मूलः—अरई गंडं विसूइया, आयंका विविहा फुसंति ते।
विहडइ विद्धंसइ ते सरीरयं समयं गोयम! मा पमायए २२

छाया:— अरतिर्गण्डं विसूचिका, आतङ्का विविधा स्पृशन्ति ते।
विह्रियते विध्वस्यति ते शरीरकं, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥२२॥

शब्दार्थ:—हे गौतम ! चित्त का उद्वेग, फोड़ा-फुंसी, हैजा तथा विविध प्रकार के अचानक उत्पन्न होने वाले अन्य रोग, तेरे शरीर का स्पर्श करते हैं। शरीर क्षीण होता जाता है और अनन्त में नष्ट हो जाता है। इसलिए समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

भाष्य:—अनन्तर गाथा में, यह बतलाया गया था कि शरीर प्रकृति से ही अनित्य है-प्रकृति स्वयं उसे क्षीण बनाती है। इस गाथा में यह बतलाया गया है कि प्राकृतिक क्षीणता आने से पहले ही आगन्तुक विघ्नों से शरीर किसी भी समय क्षीण हो सकता और नष्ट भी हो सकता है।

अरति का अर्थ है मानसिक उद्वेग। इससे समस्त मानसिक रोगों का ग्रहण करना चाहिए, फोड़ा-फूंसी गांठ आदि गंड कहलाते हैं और वमन दस्त आदि होने को विसूचिका कहते हैं। उदर शूल आदि एकाएक उत्पन्न होने वाले रोग आतंक कहलाते हैं। इनसे अन्य समस्त शारीरिक रोगों का ग्रहण होता है। इन विविध प्रकार के रोगों से शरीर वृद्धावस्था तक न पहुंचने पर भी अशक्त बन जाता है और धर्म की आराधना कठिन हो जाती है।

अनेक पुरुष यह सोचते हैं कि अभी यौवन है, इस समय कामभोगों का सेवन कर लेवें। बुढ़ापे में परलोक की कमाई कर लेंगे। जब शरीर सांसारिक व्यवहारके अयोग्य बन जाएगा तब धर्म की साधना हो जायगी। ऐसा विचार कर मनुष्य दिन-रात भोगोपभोग में निमग्न रहता है। भोगोपभोग के साधन जुटाने में न्याय-अन्याय, उचित-अनुचित, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेक नहीं रखता। दूसरों से अन्याय-पूर्वक व्यवहार करके धनोपार्जन करता है। दीन-हीन जनों को सताकर उनसे अनुचित लाभ उठाता है। धन के लिए हिंसा करता है, असत्य भाषण करता है, चोरी करता है। नीच जनों की सेवा करता है। अपनी स्वाधीनता वेचकर धनिकों के इशारे पर नाचता है। धनवानों की चापलूसी करता है। उनके अवगुणों को गुण बताकर उन्हें प्रसन्न करता है। धनवान यदि कंजूस हुआ तो उसे मितव्ययी कहता है। उड़ाऊ हुआ तो उदार बताकर उसे खुश करता है। कायर हो तो उसे क्षमाशील कहता है। इस प्रकार तरह-तरह से अपने स्वामी को प्रसन्न :करके अर्थलाभ करना चाहता है।

कोई-कोई पुरुष खेती करते हैं। कोई व्यापार करते हैं। जुआ सरीखा निन्दनीय कर्म करते हैं। कोई किसी साधन का अवलम्बन करता है, कोई किसी उपाय को ग्रहण करता है। इस प्रकार मनुष्य अपनी निरोग अवस्था में धनोपार्जन तथा विषयभोग में इतना अधिक लीन रहता है कि उसे आत्मा के कल्याण की कल्पना ही नहीं आती। किन्तु जब उपार्जित धन किसी कारण से नष्ट हो जाता है, इष्टजन का वियोग हो जाता है अथवा अन्य कोई अनिष्ट घटना घट जाती है तब चित्त एकदम क्षुब्ध हो उठता है। चित्त में नाना प्रकार की चिन्ताएं उद्भूत हो जाती हैं।

घोर मानसिक अशांति मनुष्य को बेचैन बना डालती है।

इसी भांति असातावेदनीय कर्म का उदय होने पर तथा अपथ्य सेवन, आहार-विहार की अनुचितता आदि कारण मिलने पर अनेक प्रकार के रोग शरीर में उत्पन्न हो जाते हैं। किसी का शरीर फोड़ा-फुंसी होने से सड़ने लगता है, किसी के गले में गंडमाला हो जाती है, किसी के उदर में गांठें उत्पन्न हो जाती हैं। किसी को वमन और दस्त की बीमारी हो जाती है। कोई अचानक ही उत्पन्न होने वाले शूल से पीड़ित होता है। इस प्रकार अनेक रोग शरीर को निर्बल बना डालते हैं। 'शरीरं व्याधि-मन्दिरम्' अर्थात् शरीर रोगों का घर है, इस कहावत के अनुसार अनेक रोग शरीर में व्याप्त हैं और किसी भी समय, कोई भी रोग भड़क कर शरीर का विनाश कर डालता है। ऐसी अवस्था में, शरीर का भरोसा न करते हुए शीघ्र से शीघ्र आत्म-कल्याण का साधन कर लेना ही चतुरता है। इसलिए भगवान् कहते हैं—गौतम! एक समय का भी प्रमाद न करो।

मूल:—वोच्छिंद सिणेहमप्पणो, कुमुयं सारइयं व पाणियं।
से सव्वसिणेहवज्जिए, समयं गोयम! मा पमायए ॥२३॥

छाया:—व्युच्छिन्धि स्नेहमात्मनः, कुमुदं शारदमिव पानीयम्।
तत् सर्वस्नेहवर्जितः, समयं गौतम! मा प्रमादीः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ—हे गौतम! जैसे शरद काल का कुमुद पानी का त्याग कर देता है उसी प्रकार तू अपने स्नेह को त्याग दे। सब प्रकार के स्नेह से रहित होकर समय मात्र का भी प्रमाद न कर।

भाष्य:—जब तक अन्तःकरण में शरीर के प्रति ममत्व भाव विद्यमान रहता है तब तक विषयों का पूर्ण रूपेण त्याग नहीं किया जा सकता। इसलिए भगवान् ने यहां मुख्य रूप से शरीर के प्रति निर्मोह होने की प्रेरणा की है।

आत्मा का शरीर के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि अनेक अज्ञानी पुरुष शरीर को ही आत्मा समझ बैठते हैं। जो विवेकी पुरुष आत्मा और शरीर को भिन्न समझते हैं, वे भी मोह के कारण उसके प्रति ममत्व का भाव रखते हैं। ममत्व की भावना होने के कारण ही आत्मा को दुःख का अनुभव होता है। जिस वस्तु पर ममत्व होता है उसके बिगड़ने एवं विनष्ट होने से आत्मा अत्यन्त वेदना का अनुभव करता है।

संसार में सहस्रों वस्तुएं प्रतिक्षण विनाश को प्राप्त हो रही हैं, फिर भी उन पर ममत्व न होने से मनुष्य दुःख नहीं अनुभव करता। और जिस पर ममत्व है ऐसी क्षुद्र वस्तु के विनाश से भी वह दुःख मानता है। यह ममता का ही प्रभाव है। शरीर पर घोर ममता का भाव होने से मनुष्य ऐसा व्यवहार करता है, जिससे शरीर का पोषण होता है, शरीर को जो अप्रिय न हो। इसीसे वह साताशील हो जाता है।

व्रत-उपवास आदि से विमुख बन जाता है और भोगोपभोग भोगने में मस्त हो जाता है। अतः आत्महितैषी पुरुष को सर्वप्रथम अपने शरीर से ममत्व हटाने का प्रयत्न करना चाहिए। शरीर सम्बन्धी ममता हटाने का सहज उपाय है, उसके वास्तविक स्वरूप का चिन्तन करना। शरीर स्वभावतः इतना वीभत्स है, इतना मलीन है और इतना अशुचि रूप है कि उसका विचार करने से विरक्ति अवश्य होती है। योगिजन अशुचित्व भावना के चिन्तन द्वारा शारीरिक ममत्व का नाश करते हैं। वे शरीर की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश के कारणों का विचार करते हैं।

शरीर की उत्पत्ति रज और वीर्य रूप अशुचि पदार्थों के संसर्ग से होती है। उसकी स्थिति सप्त धातुओं पर है और अन्त में वह भी विनष्ट हुए बिना नहीं रहता। शरीर को विविध प्रकार के अत्यन्त दूषित और घृणाजनक मल का थैला कहा जा सकता है। ऊपर से मढ़े हुए चमड़े के चद्दर को अगर दूर कर दिया जाय तो शरीर का रूप दिखाई देने लगेगा। यह रूप कैसा वीभत्स और घृणाजनक है! वही इसका असली रूप है। रक्त, मांस, हड्डी, मल, मूत्र आदि का यह पिंड है और इसके अतिरिक्त इसमें कोई सारभूत पदार्थ नहीं है। अनेक खिड़कियों में से भीतर का मल बाहर निकल कर मनुष्यों को भीतरी शरीर का स्वरूप दिखाता रहता है, फिर भी मोहांध मनुष्य उसे नहीं देखता।

शरीर स्वयं अपावन है और संयोग से अन्य पदार्थों को भी अपावन बना डालता है। षट् रस व्यंजन शरीर में जाकर क्या बन जाते हैं? सुगंधित आहार की शरीर में पहुँचते ही क्या दशा होती है? इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु इस अपवित्रता के पिंड का संसर्ग होते ही स्वयं अपवित्र बन जाती है। इस अपूत, घृणाजनक शरीर के प्रति मोही जीव ममता का भाव रखता है! उसे कष्ट न होने पाए, इस विचार से व्रत, उपवास आदि धार्मिक क्रिया भी नहीं करता! इसी शरीर पर वह धर्म को एवं आत्म-हित को न्यौछावर कर देता है! यह मानवीय ज्ञान का दिवाला है। अज्ञान का अतिरेक है। मोह की विडम्बना है। घोर प्रमाद है!

योगिजन शरीर की उपासना करने के लिए आत्महित का परित्याग नहीं करते। वे धर्म और अध्यात्म की साधना का निमित्त बना कर शरीर का पालन-पोषण करते हैं। इसी उद्देश्य की पूर्ति में शरीर की सार्थकता है। अतएव शरीर सम्बन्धी ममता का त्याग करो। जैसे कमल जल में रहता हुआ भी जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार शरीर में रहते हुए भी शरीर में लिप्त न होओ।

शरीर सम्बन्धी ममता का परित्याग कर देने पर अन्य पदार्थों की ममता स्वतः नष्ट हो जाती है। क्योंकि संसार की समस्त नातेदारी शरीर के साथ ही है, आत्मा के साथ नहीं। जब कोई योगी शरीर के प्रति ही निस्पृह बन जाता है, शरीर को ही आत्मा से परे मान लेता है, तब अन्य पदार्थों में ममता का भाव रह ही नहीं सकता। इसी अभिप्राय से सूत्रकार कहते हैं कि अन्त में सब प्रकार के स्नेह से रहित हो जाओ और हे गौतम! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो। शरीर की ममता ही

अन्य पदार्थों की ममता का मूल है और मूल के उखड़ जाने पर वृक्ष स्थिर नहीं रह सकता। इसलिए सर्व प्रथम शारीरिक मोह का परित्याग करना चाहिए। शरीर जड़ है मैं चेतन हूं, शरीर विनश्वर है मैं अविनाशी हूं, शरीर रूपी है मैं अरूपी हूं, शरीर मलीन है और मैं निर्मल हूं, इत्यादि विचार करके आत्मा को शरीर से पृथक् चिन्तन करना चाहिए। शारीरिक ममता के परित्याग का यह उपाय है।

मूलः-चिच्चाए धणं च भारियं,
पव्वइओ हि सि अणगारियं।
मा वंतं पुणो वि आविए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२४॥

छाया:—त्यक्त्वा धनञ्च भार्यां, प्रव्रजितो ह्यसि-अनगारताम्।
मा वान्तं पुनरप्यापिवेः, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥२४॥

शब्दार्थ:—हे गौतम ! तू ने धन और पत्नी का परित्याग करके साधुता स्वीकार करली है, इसलिए वमन किये हुए को फिर मत पी। अपनी त्याग-भावना को निश्चल रखने में समय मात्र का प्रमाद न कर।

भाष्य:—भगवान् अपने शिष्य श्री इन्द्रभूति गौतम को संबोधन करके, प्रकारान्तर से समस्त त्यागियों को अपने किये हुए त्याग पर स्थिर रहने का उपदेश देते हैं।

मनुष्य का मन अत्यन्त चंचल है। वायु का वेग भी उसके तीव्र वेग के सामने मन्थर हो जाता है। सिनेमा के दृश्यों की तरह मन में एक विचार आता है और आने के साथ ही विलीन हो जाता है। जब धर्मश्रवण, स्वाध्याय आदि का योग होता है तब मन में प्रशस्त विचार उदित हो आते हैं और कुछ ही क्षणों के पश्चात् नवीन तृष्णा और मोह से परिपूर्ण विचार उन प्रशस्त विचारों का स्थान ग्रहण कर लेते हैं।

मन की इस चंचलता के कारण अनेक अनर्थ उपस्थित हो जाते हैं। अनेक त्यागी अपने त्याग से च्युत हो जाते हैं, अनेक योगी अपने योग से भ्रष्ट हो जाते हैं और अनेक संयमी अपने संयम से पतित हो जाते हैं। इस अभिप्राय को समक्ष रख-कर भगवान् कहते हैं—गौतम ! सावधान रहो। कभी यह विस्मरण न करो कि तुमने पत्नी का परित्याग कर दिया है अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया है और धन का भी त्याग करके अकिंचन बने हो अर्थात् परिग्रहत्याग महाव्रत धारण किया है। इन त्यागे हुए विषयभोगों को फिर कभी मत ग्रहण करना। इन्हें ग्रहण करने का विचार पल भर के लिए भी हृदय-प्रदेश में उदित न होने देना।

लोक में वमन (कै) घृणित वस्तु समझी जाती है। वमन करके उसे कोई मनुष्य फिर भोगने का विचार भी नहीं करता। कुत्ता या कौवा आदि नीच प्राणी

भले ही उसका भोग करे पर कोई मनुष्य उसकी ओर आंख उठा कर भी नहीं देखना चाहता। इसी प्रकार संसार संबंधी जिन भोगोपभोगों का त्याग कर दिया है, वे वमन के समान हैं। कोई भी विवेकशील त्यागी पुरुष उन्हें पुनः ग्रहण करने की आकांक्षा नहीं कर सकता। अगर कोई ऐसी इच्छा करता है तो उसे काक-कूकर आदि निकृष्ट प्राणियों के समान समझना चाहिए। वह उत्तम पुरुष नहीं है।

संसार में दो ही प्रधान आकर्षण हैं—स्त्री और धन। शेष आकर्षण इन्हीं के पीछे हैं। इन्हें प्राप्त करने के लिए ही जगत् में आरंभ-परिग्रह आदि करने पड़ते हैं। इसलिए सूत्रकार ने यहां इन दोनों का ही ग्रहण किया है।

अथवा भार्या सजीव है और धन निर्जीव है। दोनों उपलक्षण हैं। भार्या शब्द से माता, पिता, बन्धु, बहिन, पुत्र, पौत्र मित्र आदि समस्त सजीवों का उपलक्षण करना चाहिए और धन शब्द से मणि, रत्न, सुवर्ण आदि सब निर्जीव पदार्थों का ग्रहण कर लेना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि संसार के सारे वैभव को विभाव परिणति का मूल कारण समझकर एकवार तुमने त्याग दिया है। उसका त्याग करके अनगार अर्थात् गृहहीन अवस्था धारण की है। इसे सदा स्मरण रक्खो। अपनी इस प्रशस्त त्यागभावना की निरन्तर वृद्धिगत करते रहो। त्यागवृत्ति को उच्चता की ओर ले जाओ। उसे नीचे की ओर मत खिसकने दो। इस प्रकार निरन्तर यत्नशील रहो। इसमें एक समय मात्र का भी प्रमाद न करो।

मूलः—न हु जिणे अज्ज दिस्सई, बहुमए दिस्सई मग्गदेसिए।
संपई नेयाउए पहे, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२५॥

छायाः—न खलु जिनोऽद्य दृश्यते, बहुमतो दृश्यते मार्गदर्शकः।
सम्प्रति नैयायिके पथि, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥ २५ ॥

शब्दार्थः—हे गौतम ! आज जिन नहीं दृष्टिगोचर होते किन्तु रत्नत्रय रूप मोक्ष-मार्ग का दर्शक और बहुतों का माननीय उनका शासन दृष्टिगोचर होता है, ऐसा कहकर पंचम काल के लोग धर्म ध्यान करेंगे। ऐसी दशा में इस समय मेरी विद्यमानता में, न्याय-मार्ग अर्थात् संयमपथ में एक समय मात्र के लिए भी प्रमाद न करो।

भाष्यः—कालचक्र के मुख्य दो विभाग हैं—(१) उत्सर्पिणी और (२) अव-सर्पिणी। यह काल-चक्र अनादि काल से घूम रहा है और अनन्त काल तक घूमता रहेगा। उत्सर्पिणी के समाप्त होने पर अवसर्पिणी काल आरंभ होता है और अव-सर्पिणी काल का अन्त होने पर उत्सर्पिणी का प्रारंभ हो जाता है। दोनों काल दस-दस कोटा-कोटि सागरोपम के होते हैं।

जिस काल में शुभ पुद्गलों की वृद्धि और अशुभ पुद्गलों की हानि होती है वह उत्सर्पिणी अथवा विकासकाल कहलाता है। इस काल में मनुष्यों का सुख, आयु,

बल, आदि बढ़ते हैं। इसके छह आरे इस प्रकार हैं—(१) दुःखमदुःखमा (२) दुःखमा (३) दुःखमसुखमा (४) सुखमदुःखमा (५) सुखमा (६) सुखमसुखमा।

जिस काल में अशुभ पुद्गलों की वृद्धि और शुभ की हानि होती है वह अवसर्पिणी काल कहलाता है। तात्पर्य यह है कि अवसर्पिणी काल में मनुष्यों की आयु क्रमशः कम होती है, शरीर की अवगाहना न्यून होती जाती है, बल क्षीण होता जाता है और धर्मभावना न्यून से न्यूनतर होती चली जाती है। यह ह्रास का समय है। इसके भी छह आरे हैं। उन आरों के नाम वही है, पर उन्हें विपरीत क्रम से गिनना चाहिए। अर्थात् पहले सुखमसुखमा, फिर सुखमा, आदि।

इन छह आरों में से तृतीय आरे के अन्त में और चौथे आरे में ही चौवीस तीर्थंकरों का जन्म होता है और वे जगत के जीवों को आध्यात्मिक उपदेश देकर सन्मार्ग प्रदर्शित करते हैं। पंचम आरा आरंभ होते ही निसर्गतः मुक्ति का द्वार बंद हो जाता है।

भगवान् महावीर चतुर्थ आरे के अंतिम भाग में हुए हैं। उस समय पांचवां आरा आरंभ होने को ही था। अत उसे सन्निकट जान कर भगवान् ने उसी पंचम आरे की अपेक्षा यहां बतलाया है कि, आज अर्थात् पांचवें आरे में, जिन अर्थात् तीर्थंकर नहीं हैं, फिर भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूपी मोक्ष-मार्ग का प्रकाश करने वाला, तथा बहुतों द्वारा माननीय उनका शासन है, ऐसा समझ कर पंचम काल में उत्पन्न होने वाले भव्य जीव धर्म का आचरण करेंगे।

तात्पर्य यह है कि पंचम आरे में तीर्थंकर का अभाव होने पर भी, केवल तीर्थंकर के शासन की विद्यमानता होने से ही मुमुक्षु जीव धर्म की आराधना करेंगे। ऐसी अवस्था में, इस समय तो मैं तीर्थंकर स्वयं विद्यमान हूं। तब नैयायिक पथ में अर्थात् आत्मा को सिद्धि प्रदान करने वाले मार्ग पर चलने में, समय मात्र का भी प्रमाद करना उचित नहीं है।

मूल:—अवसोहिय कंटगापहं, ओइणो सि पहं महालयं।
गच्छसि मग्गं विसोहिया, समयं गोयम ! पमायए॥

छाया:—अवशोध्य कण्टकपथं, अवतीर्णोऽसि पन्थानं महालयम्।
गच्छसि मार्गं विशोध्य, समयं गौतम ! मा प्रमादीः॥ २६॥

शब्दार्थ:—हे गौतम ! तुम कंटकाकीर्ण पथ का परित्याग करके विशाल मार्ग (राजमार्ग) को प्राप्त हुए हो। उस मार्ग का विशोधन करके गमन करने में समय मात्र भी प्रमाद न करो।

भाष्य:—मुक्ति-लाभ के लिए सर्वप्रथम कण्टकपथ का परिहार करना अनिवार्य है। कण्टक दो प्रकार के होते हैं—द्रव्य कण्टक और भाव कण्टक। यहां संयम का प्रकरण है अतः भाव कंटकों का ही ग्रहण करना चाहिए। मिथ्यात्व अविरति

आदि संयम-मार्ग में अग्रसर होने में जो बाधक होते हैं, वे भाव कंटक कहलाते हैं। द्रव्य कंटक पैर में चुभते हैं और भाव कंटक अन्तरात्मा में चुभते हैं। द्रव्य कंटक क्षणिक कष्ट पहुंचाते हैं, भाव कंटक एक बार घुसकर जन्मजन्मान्तर में घोर वेदना पहुँचाते रहते हैं। द्रव्य कंटक बंबूल आदि वृक्षों में लगते हैं, भाव कंटक हृदय-प्रदेश में ही लगते हैं। द्रव्य कंटक स्थूल हैं और उनसे बचना कठिन नहीं है, भाव कंटक सूक्ष्म हैं और उनसे बचना अत्यन्त कठिन होता है। द्रव्य कंटक लुभावने नहीं होते भाव कंटक लुभावने होते हैं। द्रव्य कंटक शरीर का छेदन करते हैं, भाव कंटक आत्मा को-आत्मा के पुनीत संयम को छेद डालते हैं।

द्रव्यकंटक चुभने पर उससे जो शरीरिक वेदना होती है, उसे यदि विना व्याकुल हुए सहन किया जाय तो पूर्वोपार्जित कर्मों की निर्जरा होती है। निर्जरा होने से कर्मों का भार हलका हो जाता है। चढ़ा हुआ ऋण उतर जाता है। भाव कंटक नवीन कर्म-बंध के कारण होते हैं। उनसे आत्मा का बोझ बढता है। वे नवीन ऋण चढ़ाते हैं।

द्रव्य कंटकों का उद्धार करना सरल है, पर भाव-कंटकों का उद्धार करना, उन्हें निकाल फैंकना, दुष्कर कार्य है। द्रव्य कंटक स्वभावतः असाताकारी प्रतीत होते हैं इसलिए उनसे सभी सावधान रहते हैं, पर भाव कंटक मोही जीवों को साताकारी प्रतीत होते हैं, इसलिए वे उनसे बचने का प्रयास नहीं करते।

इस प्रकार द्रव्यकंटकों की अपेक्षा भाव कंटक अनन्तगुणा अधिक भयंकर हैं। जो महापुरुष उन कंटकों को हृदय प्रदेश से हटा देते हैं, वही संयम के कण्टकहीन पथ पर अग्रसर होकर अपने लक्ष्य पर पहुंच पाते हैं।

भगवान्, इन्द्रभूति से कहते हैं—तू ने कंटक सहित पथ का त्याग कर दिया है अर्थात् मिथ्यात्व तथा अविरति आदि का तू परित्याग कर चुका है और महालय अर्थात् मोक्ष के मार्ग पर अवतीर्ण हुआ है। इस मार्ग पर अवतीर्ण होकर के तू उसे भी शोध-शोध कर तय कर रहा है, अर्थात् संयम-मार्ग में शुद्धि का ध्यान रखकर चल रहा है, सो ऐसा करते हुए प्रमाद न करो।

श्री इन्द्रभूति की कथा प्रसिद्ध है। इन्द्रभूति भगवान् महावीर के सन्निकट दीक्षित होने से पूर्व यज्ञ-याग आदि क्रियाकाण्ड के समर्थक थे और स्वयं यज्ञ करते भी थे। हिंसात्मक यज्ञ मिथ्यात्व रूप है, अधर्म रूप है इसलिए आत्मा के लिए कंटक रूप है। इन कंटक रूप यज्ञ याग आदि क्रियाओं का त्याग करके उन्होंने श्री वर्द्धमान स्वामी का चरण-शरण स्वीकार किया था, इस अभिप्राय को लक्ष्य करके भगवान् कहते हैं कि तू ने कण्टकाकीर्ण पथ का अर्थात् हिंसा रूप मार्ग का त्याग करके अहिंसा रूप निष्कंटक पथ अंगीकार किया है।

इसके अतिरिक्त अन्य प्रत्येक दीक्षित होने वाला मुनि मिथ्यात्व और अविरति रूप कंटकों का त्याग करके ही संयम का पथ स्वीकार करता है, अतएव अन्य मुनियों के लिए भी इस कथन की संगति होती है।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक साधु को अपने स्वरूप का विचार करना चाहिए कि मैंने विषय-काम-भोग का सर्वथा त्याग किया है और मैं संयम रूप सन्मार्ग पर-जिससे मुक्ति का लाभ होता है-आरूढ़ हुआ हूं और उस मार्ग पर विशुद्धता के साथ अग्रसर हो रहा हूं, ऐसी अवस्था में मुझे प्रमाद नहीं करना चाहिए।

मूलः-अबले जह भारवाहए, मा मग्गे विसमेऽवगाहिया।
पच्छा पच्छाणुतावए, समयं गोयम ! मा पमायए २७

छायाः— अबलो यथा भारवाहकः, मा मार्गं विषममवगाह्य।
पश्चात् पश्चादनुताप्यते, समयं गोतम ! मा प्रमादीः ॥२७॥

शब्दार्थः—हे गौतम ! जैसे निर्बल भार वाहक (बोझ ढोने वाला) विषम मार्ग में प्रवेश करके फिर पश्चात्ताप करता है, वैसा तू मत कर। सन्मार्ग में प्रगति करने में एक समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

भाष्यः—दुर्बल पुरुष, जिनकी शारीरिक शक्ति वृद्धावस्था अथवा रोग आदि के कारण क्षीण हो गई है, वह अपने मस्तक पर बोझ लाद कर अगर दुर्गम मार्ग का अवलम्बन करे तो, कंटक या रेत की अधिकता आदि के कारण उसे चलना अत्यन्त कठिन हो जाता है। उस समय वह उस मार्ग पर अग्रसर होने के लिए पश्चात्ताप करता है कि 'हाय ! न जाने क्या कुबुद्धि मुझे सूझी थी कि मैं इधर चल पड़ा, मैंने वृथा ही सुमार्ग का त्याग किया, मैं बड़ा अज्ञानी हूं, आदि।

पश्चत्ताप करने पर भी वह अपने आप उत्पन्न की हुई व्यथा से बच नहीं सकता। उसे अपनी असावधानी का भोग भोगना ही पड़ता है। इतना ही नहीं, किन्तु पश्चत्ताप के द्वारा उस व्यथा में वृद्धि कर लेता है।

इसी प्रकार जो साधु सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट मार्ग का त्याग करके अज्ञान या मोह के वश होकर अन्य विषय-मार्ग ग्रहण करता है, उसे भी अन्त में पश्चात्ताप करना पड़ता है। किन्तु बाद का पश्चात्ताप कुछ काम नहीं आता। विषम मार्ग अर्थात् विषय-कषाय आदि का मार्ग स्वीकार करने से नरक तिर्यञ्च गति की विषम वेदनाएं सहनी पड़ती हैं, तब जीव अपने कृत कर्मों पर पछताता है, पर उस पछतावे से वह उनके फल-भोग से मुक्त नहीं हो सकता।

विवेक की उपयोगिता यही है कि पहले से हिताहित का विचार करके किसी मार्ग पर अग्रसर होना चाहिए। भगवान् कहते हैं कि—हे गौतम ! इस प्रकार विचार न करके जो विषम मार्ग की ओर चल पड़ते हैं उन्हें पश्चात्ताप करना पड़ता है। इसलिए ऐसा प्रयत्न करो जिससे पश्चात्ताप करने का अवसर ही न आने पावे। ऐसा करने में एक भी समय का प्रमाद न करो।

विषय मार्ग में व्यथा की अधिकता सूचित करने के लिए सूत्रकार ने भारवाहक का 'निर्बल' विशेषण दिया है। दो बार 'पश्चात्' पद का प्रयोग यह सूचित करता है

कि एकबार भी विषय मार्ग में गमन करने से पुनः-पुनः संताप करना पड़ता है, अनेक भवों में भी संताप करना पड़ता है।

मूलः—तिण्णो हु सि अण्णवं महं, किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ।
अभितुर पारं गमित्तए, समयं गोयम ! मा पमायए ।२८।

छायाः—तीर्णो ह्यसि अर्णवं महान्तं, किं पुनस्तिष्ठसि तीरमागतः।
अभित्वरस्व पारं गन्तुं, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥२८॥

शब्दार्थः—हे गौतम ! तुमने विशाल सागर को पार कर लिया है, फिर किनारे पर आकर क्यों रुक रहे हो ? पहले पार पहुंचने के लिए शीघ्रता करो, एक भी समय का प्रमाद मत करो।

भाष्यः—चतुर्गति रूप संसार विस्तीर्ण सागर के समान है। जैसे कोई बलवान पुरुष भी अपनी भुजाओं से सागर को पार नहीं कर सकता, उसी प्रकार अपने बल से संसार को पार करना संभव नहीं है। समुद्र पार करने के लिए जहाज की जरूरत पड़ती है और संसार को पार करने के लिए धर्म की आवश्यकता होती है।

संसार—सागर का सांगोपाङ्ग रूपक पहले बतलाया जा चुका है। मनुष्य भव, आर्यक्षेत्र, धर्म श्रवण का सुअवसर और धर्मश्रद्धा की प्राप्ति हो जाना मानों संसार-सागर के तट के निकट पहुंच जाना है। एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, तथा नरक तिर्यंच, देव आदि पंचेन्द्रिय संबंधी नाना पर्यायों में भ्रमण करते-करते अत्यन्त कठिनाई से पूर्वोक्त साधनों की प्राप्ति होती है। इस विषय का विवेचन यथावसर किया जा चुका है। यहां उसे दोहराना अनावश्यक है। धर्म-श्रद्धा और धर्मस्पर्शना जिसे प्राप्त हो गई है, वह विशाल सागर को पार कर चुका है। उसे अब थोड़े से ही पुरुषार्थ की आवश्यकता है। यदि थोड़ा सा पुरुषार्थ किया गया तो किनारा प्राप्त हो जायगा और फिर कभी इस अथाह संसार-सागर में नहीं आना पड़ेगा। अगर किनारे आकर जरा-सी असावधानी की गई, एक कदम आगे न बढ़ाया तो, बस पिछला समस्त पुरुषार्थ व्यर्थ बन जायगा। फिर उसी अपार सागर म पड़ना पड़ेगा और फिर न जाने कब, किस प्रकार उद्धार होगा। कब उसे पार करने का सुयोग मिलेगा !

अनादि काल से जीव सुख की खोज में, दुःखों से बचने के लिए प्रयत्न कर रहा है। उसके प्रयत्न में विघ्न बाधाओं का बाहुल्य है। न जाने कितने पूर्व भवों में संचित किये हुए पुण्य के परम प्रकर्ष से यह अवसर मिला है। इसे हाथ से न जाने दो। इसका उपयोग करलो। थोड़ा-सा बल और लगाओ। किनारा पाने के लिए शीघ्रता करो-ढील मत करो। एक समय का भी प्रमाद न करो। एक ही समय में बाजी हाथ से चली जा सकती है। अतएव अप्रमत्त भाव में विचर कर वह साध लो, जिसे साधने के लिए संयम को ग्रहण किया है और जो योगियों का परम अभिमत है।

मूलः—अकलेवरसेणिमूसिया, सिद्धिं गोयम ! लोयं गच्छसि ।
खेमं च सिवं अणुत्तरं, समयं गोयम ! मा पमायए ॥२६॥

छाया:— अकलेवरश्रेणिमुत्सृत्य, सिद्धिं गौतम ! लोकं गच्छसि ।
क्षेमं च शिवमनुत्तरं, समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥ २६ ॥

शब्दार्थः— हे गौतम ! यह आत्मा अशरीर अवस्था प्राप्त करके, कल्याण रूप अनुत्तर और निरुपद्रव सिद्धि क्षेत्र को प्राप्त करता है, अतएव समय मात्र भी प्रमाद न करो।

भाष्यः—संसार-सागर के किनारे आकर जीव यदि कुछ और आगे बढ़ता है तो उसे सिद्धि लोक की प्राप्ति होती है।

ऊर्ध्वलोक में सर्वार्थसिद्धि नामक स्वर्ग से १२ योजन ऊपर, पैंतालीस लाख योजन विस्तार वाली, गोलाकार, एक करोड़ ब्यालीस लाख तीस हजार दो सौ उनंचास (१४२३०२४६) योजन की परिधिवाली, सिद्ध-शिला है। यह लोकाकाश का अन्तिम भाग है। इसी भाग को सिद्धि, लोक, मुक्ति सिद्धालय, मुक्तालय, लोकाग्र अथवा ईषत् प्राग्भार पृथ्वी कहते हैं। इस सिद्ध-शिला के, एक योजन ऊपर, अनन्तानन्त सिद्ध आत्मा विराजमान हैं।

यह सिद्धिलोक क्षेमरूप है, शिव रूप है और अनुत्तर है। अर्थात् यहां विराजमान समस्त आत्माओं को अनन्त आत्मिक सुख प्राप्त है, उन्हें किसी प्रकार की बाधा नहीं है, किसी प्रकार की व्याकुलता नहीं है, सभी प्राप्तव्य प्राप्त हो चुका है। यह सिद्धिक्षेत्र सर्वोपरि है इससे ऊपर लोकाकाश का अन्त हो जाने से किसी जीव का गमन नहीं होता है। भाव की अपेक्षा भी यह अनुत्तर है, अर्थात् सर्व श्रेष्ठ है। इस लोक में पूर्णरूपेण विशुद्ध, निर्मल, निरंजन, निराकार आत्माओं का ही निवास है।

मोक्ष का विस्तृत स्वरूप आगे मोक्ष के अध्ययन में निरूपण किया जायगा। यह आत्मा की स्वाभाविक, स्वरूपमय, शुद्ध अवस्था है। अप्रमत्त जीवों को ही इस लोक की प्राप्ति होती है।

चौदहवें गुणस्थान तक शरीर विद्यमान रहता है। उसके पश्चात् आत्मा शरीर से पृथक् होकर-अशरीर अवस्था प्राप्त करके इस लोक की प्राप्ति करता है। इस परमानन्दमय लोक को प्राप्त करना ही प्रत्येक मुमुक्षु का ध्येय है। यही योगियों का परम लक्ष्य है। संयम की साधना का यही अंतिम परिणाम है। यही आत्मा का सर्वोत्कृष्ट वासस्थान है। इसकी प्राप्ति हो जाने के पश्चात् आत्मा कृतकृत्य हो जाता है। फिर उसे कुछ भी करना शेष नहीं रहता। अतएव हे गौतम ! इसलोक को प्राप्त करने में एक भी समय का प्रमाद न करो।

प्रस्तुत अध्ययन में यद्यपि भगवान् वर्द्धमान स्वामी ने गौतम को संबोधन करके प्रमाद के परिहार की ओजस्वी और प्रभावपूर्ण प्रेरणा की है, तथापि यह प्रत्येक

प्रमादी प्राणी के लिए समझनी चाहिए। जब चार ज्ञान के धनी गौतम जैसे महात्मा को भी प्रमाद-परिहार की प्रेरणा की गई है तो अन्य विषयासक्त जीवों को, जो निरन्तर प्रमत्त दशा में ही विचरते हैं, प्रमाद परित्याग की कितनी आवश्यकता है, यह बात प्रत्येक विवेकशील समझ सकता है।

भव्यजनो! प्रमाद अत्यन्त प्रबल रिपु है। वह आत्मा को मूर्छित करके उसकी नाना प्रकार की दुर्दशा कर रहा है। प्रमाद के पाश में पड़ा हुआ प्राणी चेतन होते हुए भी अचेतना-सा ज्ञान शून्य बन गया है। मनुष्य भव में ही ऐसा अवसर है कि उसे दूर कर अपना अभिमत सिद्ध किया जा सकता है। अतएव हे आत्मन्! जागृत हो। भाव-निद्रा का त्याग कर। अपने स्वरूप की ओर निहार। एक भी क्षण के लिए प्रमाद को समीप न आने दे। इसी में परम कल्याण है, इसी में परम सुख है और इसी में अनमोल मनुष्यजीवन की सार्थकता है।

निर्ग्रन्थ-प्रवचन-दसवां अध्याय समाप्त।

❀ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ❀

निर्ग्रन्थ--प्रवचन

॥ ग्यारहवां अध्याय ॥

—: ❀ :—

भाषा-स्वरूप वर्णन

श्री भगवान्-उवाच—

**मूलः—जा य सच्चा अवत्तव्वा, सच्चामोसा य जा मुसा।
जा य बुद्धेहिंऽणाइण्णा, न तं भासिज्ज पन्नवं ॥ १ ॥**

छायाः—या च सत्याऽवक्तव्या, सत्यामृषा च या मृषा।
या च बुद्धैरनाचीर्णा, न तां भाषेत् प्रज्ञावान् ॥ १ ॥

शब्दार्थः—जो भाषा सत्य होने पर भी बोलने के अयोग्य हो, जो सत्यासत्य-मिश्र-रूप-हो, जो मृषा अर्थात् असत्य हो और जो भाषा तीर्थंकरों द्वारा न बोली गई हो, उस भाषा को बुद्धिमान पुरुष न बोले।

भाष्यः—पिछले अध्याय में प्रमाद के परित्याग का उपदेश देने के पश्चात् प्रकृत अध्याय में भाषा सम्बन्धी निरूपण किया जाता है, क्योंकि जिस प्रकार संयम की शुद्धि के लिए प्रमाद-परिहार की आवश्यकता है उसी प्रकार विशुद्ध भाषण की भी आवश्यकता है। जिसे भाषण सम्बन्धी विवेक नहीं होता वह असत्य भाषण करके सत्य महाव्रत का और अहिंसा महाव्रत का भंग कर डालता है। वह भाषा समिति का भी उल्लंघन करता है और वचन गुप्ति का भी खंडन करता है। तात्पर्य यह है कि भाषा-शुद्धि के विना निर्दोष संयम की साधना संभव नहीं है। इसी कारण यहां भाषा सम्बन्धी विवेचन किया जाता है।

भाषा, शब्दवर्गणा के पुद्गलों का परिणाम है, अतएव वह पौद्गलिक है। मीमांसक मतवाले शब्द को पुद्गल रूप न मानकर उसे आकाश का गुण मानते हैं। वे अपनी मान्यता का इस प्रकार समर्थन करते हैं—

(१) शब्द पौद्गलिक नहीं है, क्योंकि उसके आधार में स्पर्श नहीं है। शब्द आकाश का गुण है, अतएव शब्द का आधार भी आकाश ही माना जा सकता है। आकाश स्पर्श से रहित है। जब आकाश ही स्पर्श से रहित है तब उसका गुण शब्द भी स्पर्श से रहित होना चाहिए और जिसमें स्पर्श नहीं है वह पुद्गल भी नहीं है।

(२) पुद्गल रूपी होता है। रूपी होने से वह स्थूल भी है। स्थूल वस्तु, किसी अन्य सघन वस्तु में न प्रवेश कर सकती है और न उसमें से निकल सकती है। जैसे घड़ा रूपी पदार्थ है अतएव वह सघन दीवाल में न घुस सकता है, न निकल

ही सकता है। शब्द अगर पुद्गल होता तो वह स्थूल भी होता। स्थूल होने से वह दीवाल आदि के पार नहीं निकल सकता था। पर शब्द दीवाल में घुस कर बाहर निकलता है इसलिए वह रूपी नहीं हो सकता और रूपी न होने के कारण पुद्गल भी नहीं माना जा सकता।

(३) पौद्गलिक पदार्थों के उत्पन्न होने से पहले उनका उपादान कारण—अर्थात् पूर्व रूप दिखाई देता है और जब उनका ध्वंस होता है तब उत्तरकालीन रूप दिखाई देता है। जैसे घड़ा बनने से पहले उसका पूर्व रूप मृत्तिका उपलब्ध होती है और घड़ा नष्ट होने के पश्चात् उसका उत्तर रूप टुकड़े (ठीकरे) उपलब्ध होते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक पौद्गलिक पदार्थ का पूर्ववर्त्ती और उत्तरवर्त्ती रूप पाया जाता है, किन्तु शब्द का न तो कोई पूर्वकालीन रूप (पर्याय) ही पाया जाता है, न उत्तरकालीन रूप ही। ऐसी अवस्था में शब्द को पुद्गल मानना उचित नहीं है

(४) पौद्गलिक पदार्थ, दूसरे पौद्गलिक पदार्थ में एक प्रकार की प्रेरणा उत्पन्न करता है, यदि शब्द पुद्गल रूप होता तो वह भी अन्य पौद्गलिक पदार्थों में प्रेरणा उत्पन्न करता। पर वह अन्य पदार्थों को प्रेरित नहीं करता अतएव वह पुद्गल रूप नहीं माना जा सकता।

(५) शब्द आकाश का गुण है, इसलिए वह पौद्गलिक नहीं है। आकाश स्वयं पुद्गल नहीं है, इसलिए उसका गुण भी पुद्गल रूप नहीं हो सकता।

योग मतावलम्बी इन युक्तियों से शब्द की पुद्गलरूपता का निषेध करते हैं। इन युक्तियों पर संक्षेप में विचार किया जाता है।

(१) सर्वप्रथम पहली युक्ति पर विचार करना चाहिए। इस युक्ति में शब्द के आधार को स्पर्श रहित माना गया है, किन्तु यह मान्यता ही निराधार है। वास्तव में शब्द का आधार स्पर्श-रहित नहीं है, किन्तु स्पर्शवान् है। शब्द का आधार भाषा-वर्गणा है और भाषावर्गणा में स्पर्श अवश्य होता है। अतएव शब्द का आधार स्पर्श-वाला होने से शब्द भी स्पर्श वाला है। शब्द स्पर्श वाला है इस कारण वह पुद्गल रूप भी है।

शंका—यदि शब्द में स्पर्श होता तो हमें स्पर्श की प्रतीति अवश्य होती किन्तु जब हम शब्द सुनते हैं जो स्पर्श का अनुभव नहीं होता। ऐसी अवस्था में शब्द को स्पर्शवान कैसे माना जाय ?

समाधान—जिस वस्तु का आपको अनुभव न हो उसका अभाव ही हो, ऐसा नियम नहीं बनाया जा सकता। बहुत-सी वस्तुएं ऐसी हैं जिनका आपको अनुभव नहीं होता, फिर भी अनुमान आदि प्रमाणों से उनका अस्तित्व स्वीकार किया जाता है। परमाणु का कभी प्रत्यक्ष नहीं होता, फिर भी उसका अस्तित्व आप स्वीकार करते हैं। फिर यह नियम कैसे माना जा सकता है ?

शंका—शब्द में स्पर्श है तो उसकी प्रतीति क्यों नहीं होती ?

समाधान—शब्द में स्पर्श है किन्तु वह अव्यक्त है—प्रकट नहीं है। जैसे सुगंध के आधार भूत पदार्थ में, गंध होने से स्पर्श का होना तो निश्चित है, फिर भी उसमें स्पर्श का अनुभव नहीं होता, क्योंकि वह अव्यक्त है, इसी प्रकार शब्द का स्पर्श प्रकट न होने के कारण हमें प्रतीत नहीं होता।

शंका—सुगंध के आधार भूत द्रव्य में तो गंध के होने से स्पर्श का होना अनुमान किया जाता है, क्योंकि जहां गंध होता है वहां स्पर्श भी अवश्य होता है। किन्तु शब्द में स्पर्श होने का निश्चय किस प्रकार किया जा सकता है ?

समाधान—जब वायु अनुकूल होती है तो शब्द बोलने वाला यदि दूरी पर खड़ा हो तो भी स्पष्ट रूप से शब्द सुनाई देता है। प्रतिकूल वायु होने पर पास में बोलने पर भी स्पष्ट सुनना कठिन हो जाता है। इसका क्या कारण है ? इस भेद का एक मात्र कारण यही है कि प्रतिकूल वायु शब्द का प्रतिरोध करती है और अनुकूल वायु उसके संचार में सहायक होती है। वायु का शब्द पर इस प्रकार प्रभाव पड़ना स्पष्ट है। शब्द यदि स्पर्शवान् न होता-अरूपी होता तो उस पर वायु का प्रभाव नहीं पड़ सकता था। इस प्रमाण से यह स्पष्ट हो जाता है कि शब्द स्पर्शवाला है और स्पर्शवाला होने के कारण पौद्गलिक है।

(२) दूसरी युक्ति गंध द्रव्य से बाधित हो जाती है। गंधद्रव्य रूपी है, पौद्गलिक है, फिर भी मकान के भीतर का गंध, किवाड़ बंद होने पर भी बाहर आ जाता है और बाहर का गंध मकान के भीतर चला जाता है। इसी प्रकार शब्द पौद्गलिक होने पर भी आ जा सकता है।

शंका—किवाड़ों में छोटे-छोटे छिद्र होते हैं। उन छिद्रों में होकर गंध आता है। यही कारण है कि किवाड़ खुले होने पर अधिक गंध आता है और बन्द होने पर थोड़ा सा ही। इसलिए गंध न तो सघन प्रदेश में घुसता है, न निकलता है।

समाधान—जो बात आप गंध के लिए कहते हैं वही बात शब्द के लिए भी कही जा सकती है। शब्द भी, गंध की तरह सूक्ष्म छिद्रों में होकर ही आता जाता है। यही कारण है कि खुले में जैसे स्पष्ट शब्द सुनाई देता है उस प्रकार बन्द किवाड़ों में होकर नहीं सुन पड़ता। अतएव यह कहना अनुचित है कि शब्द सघन प्रदेश में भी आता--जाता है।

(३) तीसरी युक्ति विद्युत् और इन्द्र धनुष आदि से दूषित है। बिजली और इन्द्र धनुष पौद्गलिक हैं, यह बात आपको भी मान्य है, परन्तु न तो उनकी उत्पत्ति होने से पहले, उनका पूर्ववर्त्ती रूप देखा जाता है और न उनके नष्ट हो जाने के पश्चात् उत्तर कालीन रूप ही दिखाई देता है। फिर भी जैसे बिजली आदि को आपने पौद्गलिक माना है उसी प्रकार शब्द को पौद्गलिक मानने में क्या हानि है ?

(४) चौथी युक्ति भी निस्सार है। सूक्ष्म रज, धूम, गंध और अनेक पौद्गलिक पदार्थ दूसरे पदार्थ में प्रेरणा उत्पन्न नहीं करते, फिर भी वे पौद्गलिक हैं, इसी प्रकार

शब्द भी पौद्गलिक मानना चाहिए। धूम, गंध और रज कण आदि की भांति शब्द सूक्ष्म पुद्गल रूप होने के कारण वह अन्य पदार्थों को प्रेरित नहीं करता। अतएव उसकी पुद्गलरूपता में कोई बाधा नहीं है।

(५) शब्द आकाश का गुण है, यह कथन सर्वथा निर्मूल है। शब्द आकाश का गुण नहीं है, किन्तु पुद्गल द्रव्य की पर्याय है अतएव उसकी पौद्गलिकता में कोई भी बाधा उपस्थित नहीं होती। शब्द यदि आकाश का गुण होता तो उसका हमें प्रत्यक्ष नहीं हो सकता था। क्योंकि हमें आकाश का प्रत्यक्ष नहीं होता इसलिए उसके गुण शब्द का भी प्रत्यक्ष होना संभव नहीं था। शब्द श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होता है, इसलिए वह आकाश का गुण नहीं हो सकता।

शब्द की पौद्गलिकता इस अनुमान से सिद्धहोती है–शब्द पौद्गिलक है, क्योंकि वह इन्द्रिय का विषय है, जो जो पदार्थ इन्द्रिय का विषय होता है, वह--वह पौद्गलिक होता है, जैसे घट, पट आदि अन्य अनेक पदार्थ। शब्द श्रोत्र--इन्द्रिय का विषय है, अतएव वह पौद्गलिक है।

उल्लिखित कथन से भली भांति प्रकट है कि शब्द पुद्गल रूप ही है। इस पुद्गल रूप शब्द में स्वाभाविक शक्ति ऐसी है, जिससे वह पदार्थों का बोध कराता है। जैसे सूर्य अपनी स्वाभाविक सामर्थ्य से पदार्थों को आलोकित करता है, उसी प्रकार शब्द अपनी स्वाभाविक शक्ति से पदार्थों का बोध कराता है। प्रत्येक शब्द में, प्रत्येक पदार्थ का बोध कराने की शक्ति विद्यमान है। 'घट' शब्द जैसे स्वभावतः घड़े का बोधक है उसी प्रकार वह वस्त्र, आदि अन्य पदार्थों का भी बोधक है। किन्तु मनुष्य समाज ने भिन्न--भिन्न संकेतों की कल्पना करके उसकी वाचक--शक्ति केन्द्रित कर दिया है। अतएव जिस देश में, जिस काल में, जिस पदार्थ के लिए, जो शब्द नियत कर दिया गया है, वह उसी नियत पदार्थ का वाचक बन जाता है।

संकेतों की नियतता के विना मनुष्य-समाज का लोक-व्यवहार ही नहीं चल सकता। यदि कोई भी एक शब्द समस्त पदार्थों का वाचक मान लिया जाता तो किसी एक विशेष पदार्थ को शब्द द्वारा बतलाना असंभव हो जाता। उदाहरण के लिए 'गो' शब्द लीजिए। गो का अर्थ यदि संसार के सभी पदार्थ मान लिए जाएं तो, तब कोई किसी को 'गो' लाने का आदेश देगा तो सुनने वाला पुस्तक, कागज, घोड़ा, कपड़ा आदि कोई भी पदार्थ ले आयगा, क्योंकि 'गो' का अर्थ सभी पदार्थ हैं। इस गड़बड़ से बचने के लिए शब्द की व्यापक वाचक–शक्ति को किसी एक पदार्थ तक ही सीमित करना आवश्यक है।

शंका—जब कि शब्द संकेत के अनुसार एक नियत पदार्थ का ही वाचक होता है तब उसमें समस्त पदार्थों के वाचक होने की शक्ति कैसे मानी जा सकती है?

समाधान—संकेत पुरुषों की इच्छा के अधीन हैं। आज एक शब्द का जिस पदार्थ के लिए संकेत किया जाता है, कल उसी शब्द का दूसरे पदार्थ के लिए भी संकेत किया जा सकता है। इस प्रकार एक ही शब्द, विभिन्न कालों में, विभिन्न

अर्थों का वाचक होता है। एक शब्द देश-भेद से भी भिन्न-भिन्न पदार्थों का बोधक देखा जाता है। अगर चार मनुष्य मिलकर यह निश्चय करलें कि हम लोग आपस में 'हाथी' को 'गाय' कहेंगे, तो उनके लिए 'गाय' शब्द हाथी का अर्थ ही प्रकट करेगा। इससे यह प्रमाणित होता है कि एक शब्द स्वभावतः एक ही पदार्थ का बोधक नहीं है, अपितु संकेत के अनुसार सभी पदार्थों का बोधक हो जाता है।

इस प्रकार स्वाभाविक शक्ति और संकेत के अनुसार शब्द से अर्थ का बोध होता है। श्रोत्र--इन्द्रिय शब्द को ग्रहण करती है, और उसके द्वारा आत्मा को उसके वाच्य अर्थ की प्रतीति होती है।

वक्ता के द्वारा बोला हुआ शब्द श्रोता किस प्रकार सुनता है, शब्द कितनी दूर तक जा सकता है? आदि अनेक प्रश्नों का विवेचन शास्त्रों में विद्यमान है। यहां संक्षेप में इस सम्बन्ध में कथन किया जायगा।

यह बतलाया जा चुका है कि भाषा एक प्रकार के (शब्द वर्गणा के) पुद्गल परमाणुओं से बनती है। यह पुद्गल-परमाणु समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं। जब वक्ता बोलता है तो वे पुद्गल शब्द रूप में परिणत हो जाते हैं और एक ही समय में लोक के अन्त भाग तक पहुंच जाते हैं। उनकी गति का वेग इतना तीव्रतर है कि उसकी कल्पना करना भी कठिन है।

आकाश द्रव्य के प्रदेशों की श्रेणियां--पंक्तियां-बनी हुई हैं। यह पंक्तियां पूर्व, पश्चिमी, उत्तर, दक्षिण, ऊपर तथा नीचे, इस प्रकार छहों दिशाओं में विद्यमान हैं। जब वक्ता भाषा का प्रयोग करता है तब इन श्रेणी रूप मार्गों से शब्द फैलता है। चार समय जितने सूक्ष्म काल में शब्द समस्त लोकाकाश में व्याप्त हो जाता है। श्रोता यदि भाषा की सम श्रेणी में स्थित होता है तो वह वक्ता द्वारा बोली हुई भाषा को या भेरी आदि के शब्द को मिश्र रूप में सुनता है और यदि श्रोता विश्रेणी में स्थित होता है तो वह वासित शब्द सुनता है।

वक्ता द्वारा बोले हुए शब्द ही श्रोता नहीं सुनता, किन्तु बोले हुए शब्द द्रव्य तथा उन शब्द द्रव्यों से, वासित हुए बीच के शब्द द्रव्य मिल कर मिश्र शब्द कहलाते हैं और उन्हीं मिश्र शब्द द्रव्यों को समश्रेणी में स्थित श्रोता सुनता है। विश्रेणी स्थित श्रोता मिश्र शब्द भी नहीं सुन सकता। वह सिर्फउच्चारित मूल शब्दों द्वारा वासित शब्दों को ही श्रवण करता है। वक्ता द्वारा शब्द रूप से त्यागे हुए द्रव्यों से अथवा भेरी आदि के शब्द द्रव्यों से, बीच में स्थित शब्द रूप परिणति के योग्य (शब्द वर्गणा के) पुद्गल, शब्द रूप में परिणत हो जाते हैं, उन शब्द द्रव्यों को वासित शब्द कहते हैं। विश्रेणी में स्थित श्रोता ऐसे वासित शब्द ही सुन पाता है, वक्ता द्वारा प्रयुक्त मूल शब्द नहीं।

विश्रेणी-स्थित श्रोता मूल शब्द नहीं सुन सकता, इसका कारण यह है कि शब्द श्रेणी के अनुसार ही फैलता है, वह विश्रेणी में नहीं जाता। शब्द द्रव्य इतना सूक्ष्म है कि दीवाल आदि का प्रतिघात भी उसे विश्रेणी में ले जाने में समर्थ नहीं है।

शंका—आपने बतलाया है कि शब्द एक समय में श्रेणी के अनुसार लोक के अन्तिम भाग तक पहुंच जाता है। वह दूसरे समय में विदिशा में भी जाता है और चार समय में सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हो जाता है। ऐसी अवस्था में, विदिशा में स्थित श्रोता भी मिश्र शब्द क्यों नहीं सुनता ?

समाधान—भाषा को लोकान्त तक पहुंचने में एक समय लग जाता है और दूसरे समय में वह भाषा, भाषा नहीं रहती। क्योंकि "भाष्यमाणैव भाषा, भाषासमयनन्तरं भाषाऽभाषा" ऐसा कहा गया है। अर्थात् भाषा जिस समय में बोली जा रही हो, उसी समय में वह भाषा कहलाती है। उस एक समय के पश्चात् भाषा अभाषा हो जाती है। बोला हुआ शब्द दूसरे समय में श्रवण करने के योग्य नहीं रहता है।

अतएव विदिशा में जो शब्द सुन पड़ता है वह द्वितीय आदि समयवर्त्ती होने के कारण मूल शब्द नहीं है, क्योंकि द्वितीय समय में वह श्राव्य शक्ति से शून्य हो जाता है, उस मूल शब्द ने अन्य शब्द वर्गणा के पुद्गलों को भाषा रूप परिणत कर दिया है इसलिए वह वासित शब्द है और वही विदिशा में सुनाई देता है।

जल में पत्थर डालने से, जहां पत्थर गिरता है उसके चारों ओर एक लहर उत्पन्न होती है। वह लहर अन्य लहरों को उत्पन्न करती हुई जलाशय के अन्त तक बढ़ती चली जाती है। इसी तरह वक्ता द्वारा प्रयुक्त भाषा द्रव्य आगे बढ़ता हुआ, आकाश में स्थित अन्यान्य भाषा योग्य द्रव्यों को भाषा रूप में परिणत करता हुआ लोक के अन्त तक जाता है। लोक के अन्त में पहुंच कर उसकी सुनाई देने की शक्ति समाप्त हो जाती है, पर उससे अन्यान्य भाषा वर्गणा के पुद्गलों में शब्द रूप परिणति उत्पन्न होती है और वे शब्द, मूल तथा बीच के शब्दों द्वारा अर्थात् मिश्र शब्दों द्वारा प्रेरित होकर गतिमान हो जाते हैं और विश्रेणियों की ओर अग्रसर होते हैं। इस प्रकार चार समय में समस्त लोकाकाश उन शब्दों द्वारा पूर्ण रूप से व्याप्त हो जाता है।

जीव काययोग के द्वारा भाषा द्रव्य को ग्रहण करता है और वचनयोग के द्वारा उसका त्याग करता है। ग्रहण और त्याग करने की यह क्रिया चालू रहती है। जीव कभी निरन्तर भाषा द्रव्य को ग्रहण करता है और निरन्तर भाषा द्रव्य को त्याग करता रहता है। इससे यह अभिप्राय नहीं समझना चाहिए कि जिन द्रव्यों को, जिस समय में ग्रहण किया जाता है, वह द्रव्य उसी समय त्याग दिये जाते है। किन्तु प्रथम समय में ग्रहण किये हुए भाषा द्रव्यों को द्वितीय समय में जीव त्याग करता है और द्वितीय समय में ग्रहण किये हुए द्रव्यों को तृतीय समय में त्यागता है।

औदारिक, वैक्रियक और आहारक शरीर वाला जीव ही भाषा द्रव्य को ग्रहण करता और त्यागता है।

कोई-कोई लोग ब्रह्म को शब्दात्मक स्वीकार करके, समस्त विश्व को शब्दात्मक स्वीकार करते हैं। उनके मत से, संसार में शब्द के अतिरिक्त घट पट आदि

बाह्य पदार्थ और ज्ञान आदि रूप आन्तरिक पदार्थों की सत्ता ही नहीं है। शब्द ही विभिन्न वस्तुओं के रूप में प्रतिभासित होता है। किन्तु यह मत प्रमाण से विरुद्ध है। शब्द की पौद्गलिकता का समर्थन पहले किया जा चुका है और प्रथम अध्याय में स्वतंत्र आत्मा की भी सिद्धि की जा चुकी है। अतएव यहां इस विषय का विस्तार करना अनावश्यक है।

विज्ञान द्वारा आविष्कृत यन्त्रों से शब्द का ग्रहण होता है, यह आधुनिक काल में प्रत्यक्ष हो चुका है। यंत्र पुद्गल रूप है और उनके द्वारा पुद्गल ही पकड़ में आ सकता है, अन्य कोई भी वस्तु यंत्रों द्वारा ग्रहण नहीं की जा सकती। इससे भी शब्द की पौद्गलिकता असंदिग्ध हो जाती है। ऐसी अवस्था में शब्द को ही ज्ञान आदि रूप मानना सर्वथा अयुक्त है।।

निक्षेपों के आधार से भाषा के चार भेद हैं—(१) नाम भाषा (२) स्थापनाभाषा (३) द्रव्य भाषा और भाव भाषा। किसी वस्तु का 'भाषा' ऐसा नाम रख देना नाम भाषा है। पुस्तक आदि में लिखी हुई भाषा स्थापना भाषा है। द्रव्य भाषा दो प्रकार की है—(१) आगम द्रव्य भाषा और (२) नो-आगम द्रव्य भाषा। जो भाषा का ज्ञाता हो किन्तु उसमें अनुपयुक्त (उपयोग रहित) हो उसे आगम द्रव्यभाषा कहते हैं। नो-आगम द्रव्य भाषा के तीन भेद हैं (१) ज्ञशरीर (२) भव्य शरीर और (३) तद्व्यतिरिक्त। भाषा के अर्थ को जानने वाले पुरुष का निर्जीव शरीर तो आगम ज्ञशरीर द्रव्य भाषा है। जो भविष्य में भाषा का अर्थ जानेगा ऐसे पुरुष का शरीर नो-आगम भव्य शरीर द्रव्यभाषा है।

तद्व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्य भाषा के भी तीन भेद हैं—(१) ग्रहण (२) निःसरण और (३) पराघात। वचन योग के परिणमन वाले आत्मा द्वारा ग्रहण किये हुए भाषा द्रव्य को ग्रहण कहते हैं। कंठ आदि स्थानों के प्रयत्न से त्यागे हुए भाषा द्रव्य को निस्सरण कहते हैं। त्यागे हुए भाषा द्रव्यों से वासित हुए, भाषा द्रव्य रूप से परिणत द्रव्य पराघात कहलाते हैं।

उपयोगवान् पुरुष की भाषा भाव-भाषा कहलाती है क्योंकि उपयोग एक प्रकार का भाव है। भावभाषा तीन प्रकार की है—(१) द्रव्याश्रित (२) श्रुताश्रित और (३) चारित्राश्रित।

(१) द्रव्याश्रित भाव भाषा—द्रव्याश्रित भाव भाषा के चार भेद हैं—(१) सत्य भाषा (२) असत्य भाषा (३) सत्यासत्य (मिश्र) भाषा और (४) असत्यामृषा (व्यवहार) भाषा।

(क) सत्यभाषा—यथार्थ वस्तु तत्त्व को स्थापित करने के अभिप्राय से, सिद्धान्त के अनुसार जो भाषा बोली जाती है वह सत्य भाषा कहलाती है। जैसे—आत्मा स्वरूप से सत् है और पर रूप से असत् है।

(ख) असत्य भाषा—सत्य से विपरीत अर्थात् सिद्धान्त विरुद्ध भाषा असत्य भाषा कहलाती है।

(ग) सत्यासत्य भाषा—जो भाषा किंचित् अंश में सत्य और किंचित् अंश में असत्य हो वह सत्यासत्य भाषा कहलाती है। जैसे इमली आदि अनेक जाति के वृक्ष होने पर भी आम वृक्षों की अधिकता के कारण यह आम्रवन है ऐसा कहना।

(घ) असत्यामृषा भाषा—जिस भाषा का इन तीनों प्रकार की भाषाओं में समावेश नहीं किया जा सकता, जो भाषा आराधक भाव तथा विराधक भाव से रहित है वह असत्यामृषा कहलाती है। असत्यामृषा भाषा का निर्णय व्यवहार पर अवलंबित रहता है, इसलिए इसे व्यवहार भाषा भी कहते हैं।

सत्य भाषा दस प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार है—

जणवय-संमत-ठवणा, नामे रूवे पडुच्च सच्चे य।
ववहार-भाव-जोगे, दसमे ओवम्मसच्चे य॥

अर्थात् (१) जनपद सत्य (२) सम्मत सत्य (३) स्थापना सत्य (४) नाम सत्य (५) रूप सत्य (६) प्रतीत्य सत्य (७) व्यवहार सत्य (८) भाव सत्य (९) योग सत्य और (१०) उपमा सत्य। यह सत्य भाषा के दस भेद बताये गये हैं।

(१) जनपद सत्य—विभिन्न देशों में नियत संकेतों के अनुसार पदार्थ का बोध कराने वाली भाषा जनपद सत्य कहलाती है।

(२) सम्मत सत्य—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आश्रय से जो भाषा रूढ़ि को त्याग न करके, मात्र व्युत्पत्ति के द्वारा अर्थ का बोध न करावे वह सम्मत सत्य भाषा है। जैसे कमल के लिए पंकज शब्द का प्रयोग कराना। सेवाल आदि भी पंक (कीचड़) से उत्पन्न होते हैं, इसलिए व्युत्पत्ति के अनुसार वह भी पंकज (कीचड़ से उत्पन्न) हैं, फिर भी पंकज शब्द कमल का ही बोधक है। इसलिए कमल के लिए पंकज शब्द का प्रयोग सम्मत सत्य है।

(३) स्थापना सत्य—स्थापना के अनुसार वचन का प्रयोग करना स्थापना सत्य है। जैसे—एक अंक के पास दो बिन्दु देखकर सौ कहना, तीन बिन्दु देखकर हजार कहना।

(४) नाम सत्य—भाव रूप अर्थ से शून्य, व्युत्पत्तिजन्य अर्थ की अपेक्षा न करके, संकेत मात्र से अर्थ का प्रतिपादन करने वाली भाषा नाम सत्य भाषा है। जैसे--किसी व्यक्ति का 'जगदीश' नाम रखकर इस नाम से कहना। यद्यपि वह व्यक्ति जगत् का ईश अर्थात् स्वामी नहीं है, फिर भी संकेत मात्र से उसे जगदीश कहा जाता है। यह नाम सत्य भाषा कहलाती है।

(५) रूप सत्य—भाव रूप अर्थ से रहित, रूप वाले में जिसका उपचार किया जाता है वह रूप सत्य है। यह भाषा वेश मात्र से सत्य कहलाती है। जैसे कोई दंभी पुरुष साधु का वेश धारण कर लेवे तो उसका वेश देख कर उसे साधु कह देना, यह रूप सत्य है।

(६) प्रतीत्य सत्य-अविरोध पूर्वक सापेक्ष पदार्थ का कथन करने वाली भाषा

प्रतीत्य सत्य है। जैसे-एक ही व्यक्ति अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है और पुत्र की अपेक्षा पिता है। यहां पितृत्व एवं पुत्रत्व धर्म विरोधी प्रतीत होते हैं, किन्तु विभिन्न अपेक्षाओं से उनमें विरोध नहीं रहता।

(७) व्यवहारसत्य—लौकिक विवक्षा से जो भाषा सत्य हो वह व्यवहार सत्य कहलाती है। जैसे यह पथ पाटलीपुत्र को जाता है इस प्रकार कहना। मार्ग में गति क्रिया संभव नहीं है किन्तु पथ और पथिक के अभेद की लौकिक विवक्षा से यह कथन सत्य माना जाता है अथवा 'पर्वत जलता है' यह कथन भी व्यवहार सत्य है, क्योंकि यद्यपि पर्वत पर स्थित घास आदि जलता है, पाषाणसमूह रूप पर्वत नहीं, तथापि आश्रय-आश्रयी के अभेद की विवक्षा से ऐसा कथन करना लौकिक व्यवहार से सत्य है।

(८) भावसत्य—भाव का अर्थ है वर्ण आदि धर्म। जो भाषा भाव की उत्कटता के कारण प्रयोग की जाय वह भाव सत्य है। जैसे 'बगुला सफेद है।' यद्यपि बगुला (बक) में पांचों वर्ण संभव हैं तथापि शुक्ल वर्ण की अधिकता के कारण बगुला सफेद कहलाता है।

(९) योगसत्य—योग अर्थात् संबंध के द्वारा जो भाषा सत्य हो वह योग-सत्य भाषा कहलाती है। यथा—दंड के संबंध से जिसे दंडी कहते हैं, वह कदाचित् दंड न लिये हो तो भी उसे दंडी कहना योगसत्य है।

(१०) उपमासत्य—उपमा अर्थात् दृष्टान्त से जो भाषा सत्य हो वह उपमा सत्य है। उपमा दो प्रकार की है—(१) चरित और (२) कल्पित। वास्तविक उपमा को चरित कहते हैं। जैसे—महारंभी जीव ब्रह्मदत्त की भांति दुःख का पात्र होता है। ब्रह्मदत्त नामक व्यक्ति भूत काल में हुआ है अतएव यह वास्तविक उपमा होने से चरित उपमा है। अनित्यता के लिए पीपल के पत्ते का उदाहरण देना कल्पित उपमा है।

असत्य भाषा के चार प्रकार हैं—(१) द्रव्य-असत्य (२) क्षेत्र-असत्य (३) काल-असत्य और (४) भाव-असत्य। द्रव्यों के संबंध में असत्य बोलना द्रव्य-असत्य है। लोक और अलोक के विषय में असत्य भाषण करना क्षेत्र-असत्य है, दिवस और रात्रि आदि काल में या काल के विषय में असत्य वचनों का प्रयोग करना काल-असत्य है और क्रोध आदि से असत्य बोलना भाव-असत्य है।

द्रव्य और भाव से असत्य की चौभंगी बनती है। वह इस प्रकार-(१) द्रव्य से मृषावाद है, भाव से नहीं। जैसे किसी शिकारी ने पूछा-तुमने मृग देखा है? उसके उत्तर में कोई कहे-'मैंने नहीं देखा।' यहां देखने वाला व्यक्ति यदि नहीं देखना कहता है तो वह द्रव्य से असत्य है, भाव से नहीं।

(२) भाव से मृषावाद है, द्रव्य से नहीं। जैसे-असत्य बोलने की इच्छा वाला पुरुष शीघ्रता में सहसा सत्य बोल जाय। उसकी सत्य भाषा भाव से असत्य है, और द्रव्य से नहीं है।

(३) द्रव्य से मृषावाद और भाव से भी मृषावाद। जैसे मिथ्या भाषण करने के भाव से कोई मिथ्या भाषण करे।

(४) चतुर्थ भंग शून्य रूप है।

प्रकारान्तर से असत्य के दस भेद हैं। इनका उक्त चार भेदों में से भाव-असत्य में समावेश होता है। दस भेद यों हैं—

को॰ माणे माया, लोहे पिज्जे तहेव दोसे य।
हास भए अक्खाइय, उवघाइयणिस्सिया दसमा॥

अर्थात् [१] क्रोधनिश्रित [२] माननिश्रित [३] मायानिश्रित [४] लोभनिश्रित [५] प्रेमनिश्रित [६] द्वेष निश्रित [७] हास्यनिश्रित [८] भयनिश्रित [९] आख्यायिकानिश्रित और [१०] उपघातनिश्रित, यह दस असत्य भाषा के भेद हैं।

[१] क्रोधनिश्रित—क्रोध के वश में हुआ जीव, विपरीत बुद्धि से, जो असत्य या सत्य बोलता है वह क्रोध निश्रित असत्य है। ऐसा व्यक्ति तथ्य पदार्थ का कथन भले ही करे किन्तु उसका आशय दूषित होने के कारण उसकी भाषा असत्य ही है।

[२] माननिश्रित—अभिमान से प्रेरित होकर भाषण करना माननिश्रित असत्य है। जैसे—'पहले हमने ऐसे विपुल ऐश्वर्य का अनुभव किया है कि संसार में राजाओं को भी दुर्लभ है।' इस प्रकार कहना।

[३] मायानिश्रित—दूसरों को ठगने के अभिप्राय से सत्य या असत्य भाषण करना मायानिश्रित असत्य भाषा है। यहां पर भी अभिप्राय की दुष्टता के कारण भाषा दुष्ट हो जाती है।

(४) लोभनिश्रित—लोभ के वश होकर असत्य भाषण करना। जैसे-तराजू में पासंग रख कर के भी कहना कि यह तराजू बिलकुल ठीक है।

[५] प्रेमनिश्रित—प्रेम अर्थात् राग के अधीन होकर मैं तुम्हारा दास हूं इत्यादि चापलूसी के वचन बोलना।

[६] द्वेषनिश्रित—द्वेष से प्रेरित होकर भाषण करना द्वेषनिश्रित असत्य है।

[७] हास्यनिश्रित—हंसी-दिल्लगी, क्रीडा आदि में असत्य भाषण करना।

[८] भयनिश्रित—चोर आदि के भय से असत्य बोलना। जैसे-'मैं दरिद्र हूं, मेरे पास क्या रक्खा है? आदि।' अथवा किये हुए अपराध के दंड के भय से न्यायाधीश के समक्ष असत्य बोलना, प्रायश्चित्त अथवा लोकनिन्दा के भय से असत्य का प्रयोग करना, यह सब भयनिश्रित असत्य है।

[९] आख्यायिकानिश्रित—कथा-कहानी आदि में असंभव बातों का वर्णन करना। यद्यपि कथाओं, कहानियों, उपन्यासों एवं नाटकों में प्रायः कल्पित पात्र होते हैं और उनका वार्त्तालाप तथा चरित्रचित्रण भी कल्पित होता है, तथापि जहां कथा का आशय किसी सत्य का निरूपण करना होता है, वास्तविकता का दिग्दर्शन कराने के लिए जो उपन्यास आदि लिखे जाते हैं, वे असत्य की परिभाषा में अन्तर्गत नहीं होते। जहां आशय दूषित होता है और असंभव एवं अस्वाभाविक बातों का कथन किया जाता है वही आख्यायिका निश्रित असत्य समझना चाहिए।

[१०] किसी व्यक्ति पर मिथ्या आरोप लगाना उपघात निश्रित असत्य है। जैसे--'तू चोर है, परस्त्रीलम्पट है, आदि। इस प्रकार का कथन यदि मिथ्या है अर्थात् जिसे चोर कहा गया है वह वास्तव में चोर नहीं है, तब तो इस भाषण की असत्यता स्पष्ट ही है। यदि वह व्यक्ति वास्तव में चोर है और उसकी निन्दा करने के अभिप्राय से कोई इस प्रकार बोलता है तो भी इसे आशयदोष से मिथ्या ही समझना चाहिए। यदि एकान्त में, उसके दोषों का निवारण करने के लिए, विशुद्ध उद्देश्य से इस प्रकार कहा जाय तो यह असत्य में सम्मिलित नहीं है।

सत्यासत्य भाषा के भी दस प्रकार हैं:—[१] उत्पन्नमिश्रिता [२] विगत--मिश्रिता [३] उत्पन्नविगत मिश्रिता [४] जीवमिश्रिता [५] अजीवमिश्रिता [६] जीवा--जीवमिश्रिता [७] अनन्तमिश्रिता [८] प्रत्येकमिश्रिता [९] अद्धामिश्रिता [१०] अद्धा-द्धामिश्रिता। इनका स्वरूप इस प्रकार है:—

[१] उत्पन्नमिश्रिता—संख्या पूरी करने के लिए, जिसमें न उत्पन्न हुओं के साथ उत्पन्न हुए पदार्थ सम्मिलित हों वह उत्पन्न-मिश्रिता सत्यासत्य भाषा है। जैसे किसी नगर में कम या अधिक बालक जन्में हों तथापि 'आज दस बालकों का जन्म हुआ है' इत्यादि कथन करना।

[२] विगतमिश्रिता—उत्पत्ति के समान मरण के संबंध में पूर्वोक्त प्रकार का कथन करना।

[३] उत्पन्नविगतमिश्रिता—जन्म और मरण-दोनों के विषय में निश्चित परिमाण को उल्लंघन करके कथन करना-आंशिक मिथ्या प्ररूपण करना।

[४] जीवमिश्रिता—जीवों के किसी समूह में बहुत से मृत हों और बहुत से जीवित हों, तथापि यह कहना कि—देखो, कितना बड़ा जीवों का समूह है।' यहां मृत शरीरों में जीवत्व का अभाव है, फिर भी उन्हें जीव शब्द से कहा गया है. यह मिथ्या अंश है और जीवितों को जीव कथन करना सत्य है, अतः यह वाक्य मिश्र भाषा में परिगणित है।

[५] अजीवमिश्रिता—पूर्वोक्त प्रकार से, जहां जीव और अजीव दोनों सम्मिलित हों वहां उन्हें अजीव के रूप में कथन करना अजीवमिश्रिता भाषा है।

[६] जीवाजीवमिश्रिता—उसी पूर्वोक्त समूह में, 'इतने मरे हैं, इतने जीवित हैं' इस प्रकार वास्तविक परिमाण का उल्लंघन करके कथन करना जीवाजीवमिश्रिता भाषा है।

[७] अनन्तमिश्रिता—मूला आदि अनन्त कायिकों से मिश्र प्रत्येकवनस्पति को देख कर कहना-यह सब अनन्तकायिक है।'

[८] प्रत्येकमिश्रिता—प्रत्येक वनस्पतिकाय अनन्त वनस्पतिकाय के साथ रखी हो, उसे देख कर कहना-'यह सब प्रत्येक वनस्पति काय है।'

[९] अद्धामिश्रिता--अद्धा का तात्पर्य यहां रात्रि, दिवस आदि व्यवहार काल

समझना चाहिए। उस काल के द्वारा मिश्रित भाषा अद्धामिश्रिता कहलाती है। जैसे कोई पुरुष जल्दी करने के लिए दिन शेष होने पर भी यह कहे--'जल्दी करो, रात्रि हो गई।' अथवा रात्रि शेष होने पर भी कहना-- उठो, दिन हो गया है। इत्यादि प्रकार से अन्य उदाहरण समझ लेने चाहिए।

[१०] अद्धाद्धामिश्रिता—रात्रि या दिवस का अंश अद्धाद्धा कहलाता है। उसके संबंध में मिश्र भाषा का प्रयोग करना अद्धाद्धा कहलाता है। जैसे दिन का प्रथम प्रहर व्यतीत न हुआ हो तथापि कहना कि-'चलो, मध्याह्न हो गया है।' इत्यादि।

स्थूल अपेक्षा से मिश्र भाषा के उक्त भेद बताये हैं। वक्ता और उनके द्वारा प्रयुक्त किये जाने वाले वाक्य अपरिमित हैं और सत्य एवं असत्य का सम्मिश्रण अनेक प्रकार से किया जा सकता है, किया जाता है। अतएव परिपूर्ण स्वरूप का उल्लेख नहीं हो सकता। विवेकीजनों को विचार करके यथायोग्य समन्वय और निर्धारण कर लेना चाहिए।

चौथी व्यवहार भाषा है। जिसमें सत्य, असत्य अथवा मिश्र भाषा का लक्षण घटित नहीं होता और जो आराधना अथवा विराधना के उपयोग से रहित है वह असत्यामृषा या व्यवहार भाषा कहलाती है।

असत्यामृषा भाषा के बारह प्रकार हैं—[१] आमन्त्रणी [२] आज्ञापनी [३] याचनी [४] पृच्छनी [५] प्रज्ञापिनी [६] प्रत्याख्यानी [७] इच्छानुलोमा [८] अनभिगृहीता [९] अभिगृहीता [१०] संशयकरणी [११] व्याकृता और [१२] अव्याकृता।

[१] आमन्त्रणी—जो भाषा सम्बोधन-पदों से युक्त होती है, और जिसे सुनकर श्रोता श्रवण करने के अभिमुख होता है वह आमन्त्रणी भाषा कहलाती है। यह सत्य आदि भाषाओं से भिन्न प्रकार की है और आराधक-विराधक भाव से रहित है, इसलिए यह असत्यामृषा है।

[२] आज्ञापनी—आज्ञावचन से युक्त भाषा आज्ञापनी कहलाती है।

[३] याचनी—जिस भाषा द्वारा अभीष्ट पदार्थ की याचना की जाय वह याचनी भाषा है। जैसे-'मुझे भिक्षा दो' ऐसा कहना।

यहां यह प्रश्न किया जा सकता है कि वीतराग होने के कारण किसी को कुछ भी न देने वाले तीर्थंकर भगवान् से 'आरुग्गबोहिलाभं समाहिवरमुत्तमं दिंतु' अर्थात् मुझे आरोग्य एवं बोधिलाभ तथा श्रेष्ठ समाधि अरिहन्त भगवान प्रदान करें, इस प्रकार की याचना करना याचनी भाषा कैसी हो सकती है, जबकि याचना के विषय का अभाव है?

इसका समाधान यह है कि वास्तव में यह भक्तिप्रयुक्त याचनी भाषा है। यहां याचना का विषय न होने पर भी असत्यामृषा होने के कारण और निश्चय से सत्य की कोटि में प्रवेश करने रूप गुण से युक्त होने के कारण वह निर्दोष है।

[४] पृच्छनी—जिस विषय में जिज्ञासा का प्रादुर्भाव हुआ हो उस विषय में

उसके ज्ञाता से पूछना पृच्छनी भाषा है। किसी को निरुत्तर करने के अभिप्राय से अथवा अपना गौरव प्रदर्शित करने के विचार से प्रश्न करना पृच्छनी भाषा नहीं है, जैसे कि सोमिल ने पूछा था कि --'आप एक हैं या दो हैं' ? जिज्ञासा की तृप्ति के लिए पूछना ही पृच्छनी भाषा है, जैसे—गौतम ने भगवान् महावीर से प्रश्न किये थे।

(५) प्रज्ञापनी—विनीत शिष्य या मित्र आदि को कर्त्तव्य का उपदेश करना प्रज्ञापनी भाषा है। 'हिंसा गर्हित है, दुःख का कारण है, उसका आचरण नहीं करना चाहिए' इस प्रकार का निषेधप्रधान उपदेश भी प्रज्ञापनी भाषा ही है।

(६) प्रत्याख्यानी—मांगी हुई वस्तु का निषेध करना प्रत्याख्यानी भाषा है। जैसे मैं यह वस्तु नहीं दूंगा।' इसके अतिरिक्त पाप के निषेध का वचन भी प्रत्याख्यानी भाषा है। जैसे—'मैं' न स्वयं पाप करूंगा, न कराऊंगा।' इत्यादि।

[७] इच्छानुलोमा – अपने इष्ट पदार्थ का कथन करना इच्छानुलोमा भाषा है। जैसे कोई पुरुष किसी कार्य को आरंभ करता हुआ पूछे कि-'मैं यह कार्य करूं ?' उत्तर में दूसरा कहे-करो, मुझे भी यह स्पष्ट है। इस प्रकार दूसरे की इच्छा का अनुसरण करना भी इच्छनुलोमा भाषा है।

[८] अनभिग्रहीता—अनेक कार्यों का प्रश्न करने पर उसमें से एक का भी निश्चय न हो वह अनभिगृहीत भाषा है। जैसे-किसी ने, किसी से अनेक कार्य गिनाकर पूछा–कौन सा कार्य करूं ? दूसरे ने उत्तर दिया—'तुम्हारी जो इच्छा हो वही करो'। इस वाक्य से एक भी कार्य का निश्चय नहीं होता। ऐसी भाषा अनभिग्रहीता कहलाती है।

[९] अभिगृहीता – उक्त अनभिगृहीता से विपरीत भाषा को अभिगृहीत भाषा कहते हैं। अर्थात् अनेक कार्यों संबंधी प्रश्न करने पर किसी एक का निश्चय करने वाली भाषा। जैसे-अभी इन सब कार्यों में से अमुक कार्य करो, इत्यादि।

[१०] संशयकरणी-अनेक अर्थ वाला कोई शब्द सुनकर श्रोता जिसमें संशय में पड़ जाय वह संशय करणी भाषा है। जैसे-'किसी ने कहा-सैंधव ले आओ।' सैंधव शब्द के दो अर्थ हैं—नमक और घोड़ा। भोजन का प्रसंग हो तो नमक अर्थ समझा जा सकता है और यात्रा का प्रसंग हो तो घोड़ा अर्थ समझा जा सकता है। ऐसी दशा में यह भाषा संशयकरणी नहीं है। किन्तु जहां प्रकरण या अन्य अर्थ बोध-सहायक सामग्री न हो, वहां श्रोता को संदेह उत्पन्न होता है। इस अवस्था में यह भाषा संशयकरणी है। इसी प्रकार संशय की कारण भूत कोई भी भाषा संशय करणी कहलाती है, चाहे वह अनेकार्थक शब्द के प्रयोग से हो या अन्य प्रकार से। जैसे—'कौन जानता है, परलोक है या नहीं ?'

[११] व्याकृता—जो भाषा प्रकट अर्थ वाली हो वह व्याकृता कहलाती है। जैसे--'यह देवदत्त का भाई है।'

[१२] अव्याकृता—अत्यन्त गूढ़ अर्थ वाली अथवा अस्पष्ट उच्चारण वाली

भाषा अव्याकृता कहलाती है, क्योंकि उसका प्रकट अर्थ समझ में नहीं आता। बालकों की अस्पष्ट भाषा भी अव्याकृता में सम्मिलित है।

इस प्रकार द्रव्याश्रित भाषा के चार प्रकारों का तथा उनके भेद-प्रभेदों का कथन संक्षेप में यहां किया गया है।

समस्त देव, नारकी और मनुष्य चारों प्रकार की भाषा का प्रयोग करते हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों की भाषा असत्यामृषा होती है, क्योंकि वे सम्यग्ज्ञानी न होने के कारण सत्य भाषा का प्रयोग नहीं कर सकते और दूसरों को ठगने का अभिप्राय न होने के कारण असत्य भाषा भी नहीं बोल सकते।

शिक्षा और लब्धि (जातिस्मरण आदि) से रहित पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों की भी भाषा असत्यामृषा होती है शिक्षा और लब्धि वाले पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च यथासंभव चारों भाषाओं का प्रयोग करते हैं।

(२) श्रुताश्रित भाव भाषा-श्रुत विषयक भाव भाषा तीन प्रकार की है- सत्य असत्य और असत्यामृषा। सम्यग्दृष्टि तथा सम्यक् उपयोग वाले पुरुष की भाषा सत्य भावभाषा कहलाती है। जब सम्यग्दृष्टि विना उपयोग बोलता है तब उसकी असत्य भाव भाषा होती है। अथवा सत्य परिणाम रहित मिथ्यादृष्टि की उपयोग सहित या उपयोग रहित समस्त भाषा श्रुतविषयक असत्य भाव-भाषा है। अवधि, मन:पर्याय और केवल ज्ञान में उपयोग वाला श्रुत के विषय में जो भाषा का प्रयोग करता है वह असत्यामृषा भाषा कहलाती है, क्योंकि श्रुतमें प्राय: असत्यामृषा भाषा होती है।

(३) चारित्राश्रित भाव-भाषा—चारित्र की विशुद्धि करने वाली अर्थात् जिस भाषा का प्रयोग करने से चारित्र की शुद्धि हो वह चारित्राश्रित भाव सत्य भाषा है। इससे विपरीत, चारित्र की अविशुद्धि करने वाली भाषा चारित्राश्रित असत्य भाषा समझनी चाहिए। इसी प्रकार चारित्र रूप परिणाम को स्थिर बनाने वाली अ-संक्लेश जनक भाषा भी सत्य भाव भाषा है और चारित्र का अभाव करने वाली भाव असत्य भाषा है।

कहा भी है:—

भासा कुओ व पभवति, कतिहि व समयेहि भासती भासं।
भासा कतिप्पगारा, कति वा भासा अणुमया उ ?॥
सरीरप्पभवा भासा, दोहि व समयेहिं भासती भासं।
भासा चउप्पगारा, दोण्णि य भासा अणुमया उ॥

अर्थात्—भाषा कहां से उत्पन्न होती है? कितने समयों में भाषा बोली जाती है? भाषा के कितने प्रकार हैं? और कितने प्रकार की भाषा बोलने योग्य है?

इन प्रश्नों का समाधान करते हुए कहा गया है- भाषा शरीर से उत्पन्न होती है अर्थात् काययोग से भाषा के योग्य पुद्गलों का ग्रहण किया जाता है और वचन

योग से बाहर निकाली जाती है। दो समयों में भाषा बोली जाती है अर्थात् प्रथम समय में भाषा के पुद्गलों का ग्रहण होता है और दूसरे समय में उनका त्याग किया जाता है। भाषा सत्य आदि के भेद से चार प्रकार की है और उन चार भेदों में से सिर्फ दो प्रकार की भाषा बोलने के योग्य है, सत्य और असत्यामृषा भाषा बोलने योग्य है और असत्य तथा सत्यासत्य भाषा त्याज्य है।

श्री गौतम स्वामी ने भाषा के संबंध में विशिष्ट जिज्ञासा प्रकट करते हुए पूछा है—'भासा णं भंते ! किमादिया, किंपवहा, किंसंठिया, किंपज्जवसिया ?'

अर्थात् भगवन् ! भाषा का आदि कारण क्या है ? भाषा किससे उत्पन्न होती है ? उसका आकार क्या है ? उसका अन्त कहां है ?

समाधान करते हुए भगवान् कहते हैं—'गोयमा ! भासा णं जीवादीया, सरीरप्पभवा, वज्जसंठिया, लोगंतपज्जवसिया पण्णत्ता।'

अर्थात् भाषा का मूल कारण जीव है, क्योंकि जीव के प्रयत्न के बिना बोध कराने वाली भाषा की उत्पत्ति संभव नहीं है। भाषा का मूल कारण यद्यपि जीव है तथापि वह शरीर से उत्पन्न होती है। भाषा का आकार वज्र के समान है, क्योंकि बाहर निकले हुए भाषा-द्रव्य समस्त लोक को व्याप्त करते हैं और लोक की आकृति वज्र के समान है इसलिए भाषा का भी आकार वज्र के समान है। भाषा का अन्त वहां होता है जहां लोक का अन्त होता है। लोकान्त तक ही धर्मास्तिकाय का सद्भाव है। आगे उसका अभाव होने से भाषाद्रव्यों का गमन नहीं होता।

इस प्रकार भाषा का स्वरूप समझ कर विवेकी जनों को भाषा के प्रयोग में कुशलता प्राप्त करनी चाहिए। भाषा संबंधी कौशल से चारित्र की आराधना होती है और अकौशल से विराधना होती है। इसीलिए सूत्रकार यहां यह निरूपण करते हैं कि किस-किस प्रकार की भाषा बोलने योग्य है और किस-किस प्रकार की बोलने के योग्य नहीं है।

जो भाषा सत्य होने पर भी सावद्य होने के कारण बोलने के योग्य नहीं है वह नहीं बोलनी चाहिए। तथा जो भाषा सत्यासत्य रूप अर्थात् मिश्र है तथा जो असत्य है, वह बोलने के योग्य नहीं है। तीर्थंकर भगवान् ने जिस भाषा का स्वयं प्रयोग नहीं किया, वह भाषा भी प्रयोग करने के योग्य नहीं है। इस प्रकार की भाषा चारित्रनिष्ठ विवेकी जनों को नहीं बोलनी चाहिए।

इन भाषाओं का स्वरूप पहले बताया जा चुका है।

मूलः—असच्चमोसं सच्चं च, अणवज्जमकक्कसं।
समुप्पेहमसंदिद्धं गिरं भासिज्ज पन्नवं ॥ २ ॥

छायाः—असत्यामृषां सत्यां च, अनवद्यामकर्कशाम्।
समुत्प्रेक्ष्यासंदिग्धां, गिरं भाषेत प्रज्ञावान् ॥ २ ॥

शब्दार्थः—असत्यामृषा भाषा तथा निर्दोष, कर्कशता रहित, संदेह न उत्पन्न करने वाली सत्य भाषा बुद्धिमान् पुरुष को बोलनी चाहिए।

भाष्यः—पूर्व गाथा में यह बतलाया गया था कि किस प्रकार की भाषा संयमी जनों को नहीं बोलनी चाहिए। उससे यह जिज्ञासा होती है कि यदि ऐसी भाषा नहीं बोलनी चाहिए तो कैसी बोलनी चाहिए ? इसी प्रश्न का समाधान करते हुए सूत्रकार ने कहा है कि 'गांव आ रहा है' इत्यादि पूर्वोक्त स्वरूप वाली व्यवहार भाषा का संयमी जन प्रयोग करें। इसके अतिरिक्त जो सत्य भाषा पापजनक न हो, कठोर न हो और सुनने वालों के अन्तःकरण में संशय उत्पन्न न करे, ऐसी सत्य भाषा का प्रयोग करना चाहिए।

आगे स्वयं सूत्रकार ही इन भाषाओं के संबंध में विशेष कथन करने वाले हैं, अतएव यहां उसका प्रतिपादन करना आवश्यक नहीं है।

मूलः-तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवघाइणी।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ॥३॥

छायाः—तथैव परुषा भाषा, गुरुभूतोपघातिनी।
सत्याऽपि सा न वक्तव्या, यतः पापस्य आगमः ॥ ३ ॥

शब्दार्थः—हे गौतम ! इसी प्रकार कठोर, अनेक प्राणियों का घात करने वाली सत्य भाषा भी बोलने योग्य नहीं है, जिससे पाप का आगमन होता है।

भाष्यः—जिस भाषा के श्रवण से, श्रोता के अन्तःकरण को आघात लगता है वह परुष अर्थात् कठोर भाषा है। उसका स्वरूप सूत्रकार अगली गाथा में निरूपण करेंगे। इसके अतिरिक्त जिस भाषा से अनेक जीवों के घात होने की संभावना हो ऐसी सावद्य भाषा नहीं बोलना चाहिए। इस प्रकार कोई भाषा सत्य भले ही हो अर्थात् तथ्य पदार्थ का निरूपण करती हो फिर भी यदि वह पापजनक है, उससे पाप की उत्पत्ति होती है, तो वह बोलने के योग्य नहीं है।

मूलः-तहेव काणं काणेत्ति, पंडगं पंडगेत्ति वा।
वाहियं वा वि रोगित्ति, तेणं चोरेत्ति नो वए ॥४॥

छायाः—तथैव काणं काण इति, पण्डकं पण्डक इति वा।
व्याधितं वाऽपि रोगीति, स्तेनं चोर इति नो वदेत् ॥ ४ ॥

शब्दार्थः—इसी प्रकार काने को काना न कहे, नपुंसक को नपुंसक न कहे, व्याधि वाले को रोगी न कहे और चोर को चोर न कहे।

भाष्यः—इस गाथा में सत्य यथार्थ भाषा भी बोलने योग्य नहीं है, यह बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं कि काने को काना नहीं कहना चाहिए, नपुंसक को नपुंसक नहीं कहना चाहिए और रोगी को रोगी नहीं कहना चाहिए तथा चोर को चोर नहीं

कहना चाहिए।

इस प्रकार कथन करने से श्रोता दुःख का अनुभव करता है। दूसरे को दुः देना हिंसा है, अतएव इस प्रकार के वचन हिंसाजनक हैं। हिंसा घोर पाप है। इ पाप से बचने के लिए ऐसी भाषा का परित्याग करना चाहिए। इससे अनेक अन हो सकते हैं। संयमी जनों को ऐसे सत्य और मधुर वचनों का प्रयोग करना चाहि जिनसे श्रोता को कष्ट नहीं पहुंचे और जो सत्य से विपरीत भी न हों।

मूलः—देवाणं मणुयाणं च, तिरियाणं च वुग्गहे।
अमुगाणं जओ होउ, मा वा होउ त्ति नो वए ॥५॥

छायाः—देवानां मनुजानां च, तिरश्चां च विग्रहे।
अमुकानां जयो भवतु मा वा भवत्विति नो वदेत् ॥५॥

शब्दार्थ—देवों के, मनुष्यों के अथवा तिर्यञ्चों के युद्ध में अमुक की विजय हो अथवा अमुक की विजय न हो, इस प्रकार नहीं कहना चाहिए।

भाष्यः—जब देवताओं में परस्पर युद्ध हो रहा हो, अथवा मनुष्यों में आपसं संग्राम होता हो या पशु अन्योन्य लड़-भिड़ रहे हों तो, साधु को किसी एक पक्ष के जय और दूसरे पक्ष के पराजय का कथन नहीं करना चाहिए।

जय-पराजय का निर्देश करने से राग-द्वेष की वृद्धि होती है। जिस पक्ष की विजय का कथन किया जाता है उस पर राग का भाव और जिसके पराजय का कथन किया जाता है, उस पर द्वेष भाव होना अनिवार्य है। मुनि राग-द्वेष से अतीत मध्यस्थ भावना से सम्पन्न होता है।

राग-द्वेष के अतिरिक्त युद्ध में पराजय या जय का कथन करने से युद्ध की अनुमोदना का भी दोष लगता है और जिसके पराजय का कथन किया जाता है उसे घोर दुःख होता है। कदाचित् जिसका पराजय चाहा था उसकी विजय हो जाय तो साधु से वह प्रतिशोध लेता है। उस अवस्था में साधु पर, तथा उसके संयम पर और धर्म पर भी संकट आ जाता है। जिसकी विजय की कामना की जाती है वह यदि पराजित हो जाय तो मुनि को खेद और संताप होता है।

इत्यादि कारणों से मुनि को युद्ध के विषय में उदासीन रहना चाहिए। मध्यस्थ भाव धारण करके अपने संयम की साधना में ही दत्तचित्त होना चाहिए। वह जिन प्रपंचों से मुक्त हो चुका है, उनके विषय में पुनः रस लेना उचित नहीं है।

'मनुज' शब्द से राष्ट्र या राष्ट्र समूह का भी ग्रहण करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि साधु किसी भी प्रकार के युद्ध में किसी के जय-पराजय का कथन न करे।

मूलः-तहेव सावज्जणुमोयणी गिरा, ओहारिणी जा य परोवघाइणी
से कोहलोह भयसा व माणवो, न हासमाणो वि गिरं वएज्जा

छाया:—तथैव सावद्यानुमोदिनी गिरा, अवधारिणी या च परोपघातिनी ।
तां क्रोध लोभ भय हास्येभ्यो मानव, न हसन्नपि गिरं वदेत् ॥६॥

शब्दार्थ:-इसी प्रकार सावद्य कार्य का अनुमोदन करने वाली, निश्चयकारी तथा पर का उपधात करने वाली भाषा को विवेकवान् मनुष्य क्रोध से, लोभ अथवा भय से, या हंसी में न बोले, तथा हंसता हुआ भी भाषण न करे।

भाष्य:—जिस वचन से सावद्य कार्य की अनुमोदना होती हो, (सावद्य अर्थात् पाप और पाप सहित को सावद्य कहते हैं) ऐसी भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए। यथा-यह जीव दुःखी है, इसका दुःख दूर करने के लिए इसे मार डालो, अथवा आज अमुक प्रकार का भोजन बनाओ, धान्य की रक्षा के लिए हिरन आदि पशुओं को मार डालना ही उचित है, 'तुमने उन्हें मारा सो अच्छा किया।' इत्यादि प्रकार से हिंसा आदि पापों का समर्थन-अनुमोदन करने वाली वाणी सावद्य भाषा कहलाती है। सावद्य भाषा के प्रयोग से सावद्य कार्य को प्रोत्साहन मिलता है, विवेकी जनों के मुख से ऐसी भाषा सुनकर साधारण जन सावद्य कार्य को सावद्य न समझ कर करने में अधिकाधिक प्रवृत्त होते हैं और बोलने वाले को भी तदनुकूल मानसिक व्यापार होने से पाप का भागी होना पड़ता है इसलिए सावद्य कार्यों का अनुमोदन करने वाली भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

शंका--सावद्य का अनुमोदन करने वाली भाषा का प्रयोग न करना तो उचित कहा जा सकता है, पर निश्चयात्मक भाषा का प्रयोग करना क्यों वर्जित है ? पहले संशय जनक भाषा को त्याज्य बताया है और यहां निश्चय करनेवाली भाषा को हेय कहा है। न तो संशयजनक भाषा बोलना चाहिए, न निश्चयजनक भाषा बोलना चाहिए, तो क्या समस्त वाणी-व्यवहार को ही परित्याग करना शास्त्रकार को अभीष्ट है ? यदि नहीं, तो दोनों प्रकार की भाषाओं का परित्याग किस प्रकार हो सकता है।

समाधान--समस्त वाणी व्यवहार को त्याज्य नहीं बताया है। द्वितीय गाथा में सत्य और व्यवहार-भाषा के प्रयोग का कथन किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त तीर्थंकर भगवान्, गणधर तथा अन्य मुनि भाषा का व्यवहार करते ही हैं। निस्संदेह सन्देहजनक भाषा के त्याग का उपदेश 'असंदिद्धां' पद से पहले किया गया है, पर यहां निश्चयकारी भाषा का अभिप्राय भिन्न है, इसलिए दोष नहीं आता। 'मैं कल तुम्हारे यहां आऊंगा' 'एक वर्ष के पश्चात् अमुक कार्य करूंगा,' 'आगामी चातुर्मास्य के समय अमुक शास्त्र का स्वाध्याय करूंगा' इत्यादि प्रकार से भविष्य काल संबंधी किसी कार्य के लिए निश्चित रूप वचनों का प्रयोग करना यहां अवधारिणी भाषा समझना चाहिए।

अवधारिणी भाषा त्याज्य है, क्योंकि जीवन अनित्य है। वह किसी भी क्षण समाप्त हो सकता है। कौन जाने कल तक शरीर टिकेगा या नहीं ? एक वर्ष तक जीवन स्थिर रहेगा या बीच में ही समाप्त हो जायगा। यदि बीच में ही शरीर छूट जाय तो उक्त निश्चयात्मक कथन पूर्ण न होगा और उस अवस्था में मिथ्या भाषण

का दोष लगेगा। इस दोष से बचने के लिए ऐसी भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए। अगर कभी इस प्रकार का अभिप्राय प्रकट करना पड़े तो 'तुम्हारे यहां कल आने का विचार है,' 'एक वर्ष पश्चात् अमुक कार्य करने का भाव है,' इत्यादि रूप से प्रकट करना चाहिए। अवधारिणी भाषा का यही अभिप्राय है और इसका त्याग करने पर भी वाणी व्यवहार का उच्छेद नहीं हो सकता।

जिस भाषा के प्रयोग से अन्य प्राणियों का उपघात होता है, उन्हें कष्ट पहुँचता है, ऐसी भाषा भी नहीं बोलनी चाहिए।

जिन-जिन कारणों से ऐसी भाषा बोली जाती है उनका उल्लेख करते हुए सूत्रकार ने कहा है कि-क्रोध से, लोभ से, भय से, तथा हंसी से ऐसी भाषा नहीं बोलना चाहिए। क्रोध के आवेश में मनुष्य उचित-अनुचित का विचार भूल जाता है। उस समय मनुष्य के मस्तिष्क में एक प्रकार की उन्मत्तता व्याप्त हो जाती है, अतएव क्रोध का परित्याग करना चाहिए और जब क्रोध का आवेश हो तब मौन ही साध लेना चाहिए। इसी प्रकार लोभ भी असत्य भाषण का कारण है। लोभ के वशीभूत हुआ प्राणी पापमय भाषा का प्रयोग करता है। हंसी भी असत्य भाषण का कारण है। कभी--कभी हंसी-दिल्लगी में अत्यन्त अनर्थकारी वचन निकल जाते हैं। इसलिए इन सब कारणों का परित्याग करें और इनमें से किसी से भी प्रेरित होकर भाषण न करें।

कोई-कोई लोग हंसी में किये हुए अनुचित या असत्य भाषण को दोषपूर्ण नहीं मानते। कहा भी है-'न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति' अर्थात् हास्ययुक्त वचन दूषित नहीं है। इस कथन का निराकरण करने के लिए यहां हास्य करते हुए भाषण करने का निषेध किया गया है। हंसी में अनेक प्रकार से अनुचित शब्द निकल जाते हैं और कभी-कभी उनका परिणाम घोर अनर्थकारी सिद्ध होता है। अतएव हास्य करते हुए भी ऐसे वचनों का प्रयोग नहीं करना चाहिए जिससे किसी को किसी प्रकार की बाधा पहुंचती हो।

मूलः–अपुच्छिओ न भासेज्जा, भासमाणस्स अंतरा।
पिट्ठिमंसं न खाएज्जा, मायामोसं विवज्जए ॥७॥

छायाः – अपृष्टो न भाषेत, भाषमाणस्यान्तरा।
पृष्ठमांसं न खादेत्, मायामृषां विवर्जयेत् ॥७॥

शब्दार्थः—वार्तालाप करते हुए मनुष्यों के बीच में, विना पूछे नहीं बोलना चाहिए, चुगली नहीं खानी चाहिए और माया-मृषा का त्याग करना चाहिए।

भाष्यः—भले मनुष्य को भाषण संबंधी विवेक प्राप्त करके मौन-साधन करना सर्वोत्तम है, किन्तु स्व--पर के उपकार आदि व्यवहारों की सिद्धि के लिए जब बोलना आवश्यक हो तो कम से कम बोलना चाहिए। उस भाषण में भी निम्न लिखित तीन बातों का सदैव ध्यान रखना चाहिए।

(१) दो या अधिक व्यक्ति जब बोल रहे हों तो उनके बीच में, जब तक वे कोई बात पूछें नहीं तब तक नहीं बोलना चाहिए। इस प्रकार बीच में बोल उठने से उनके वार्त्तालाप में विघ्न पड़ता है। उन्हें वह भाषण अरुचिकर हो सकता है और साधु की लघुता होती है और शासन के गौरव में न्यूनता आती है।

(२) किसी व्यक्ति ने, किसी दूसरे व्यक्ति के विरुद्ध कोई बात कही हो, फिर भले ही वह सत्य हो या मिथ्या, उसके परोक्ष में, दुष्ट बुद्धि से प्रेरित होकर दूसरे से कह देना चुगली कहलाता है। उसे प्राकृत भाषा में 'पिट्ठिमंस' कहते हैं। तात्पर्य यह है कि चुगली खाना पीठ का मांस खाने के समान गर्हित कृत्य है। इससे अनेक अनर्थ होते हैं, अतएव भले मनुष्यों को चुगली खाने का सर्वथा ही परित्याग करना चाहिए।

(३) तीसरी बात है मायामृषा का त्याग। कपट से युक्त मिथ्या भाषण करना मायामृषा कहलाता है। जो साधु उत्कृष्ट आचारसम्पन्न नहीं है, वह दूसरों को अपनी उत्कृष्टता का भान कराने के लिए यदि कपट और मिथ्यावाद का आश्रय लेता है और अपने मान-सम्मान की कामना करता है तो वह उत्कृष्टाचारी होने के बदले हीनाचारी ही होता है। अतएव साधु पुरुष को माया-मृषा (कूड़ कपट) से रहित होकर निश्छल व्यवहार ही करना चाहिए।

मूल:—सक्का सहेउं आसाइ कंटया, अओमया उच्छहया नरेणं।
अणासए जो उ सहेज्ज कंटए, वईमए कण्णसरे स पुज्जो॥८॥

छाया:—शक्या सोढुमाशया कण्टका:, अयोमया उत्सहमानेन नरेण।
अनाशया यस्तु सहेत कण्टकान् वाङ्मयान् कर्णशरान् स पूज्य: ॥८॥

शब्दार्थ:—आशा से मनुष्य लोहमय कंटक या तीर उत्साह पूर्वक सहन कर सकता है, किन्तु बिना किसी प्रकार की आशा के, कानों के लिए तीर की तरह, वाचनिक कंटकों को जो सहन कर लेता है, वह पूजनीय है।

भाष्य:—शास्त्रकार ने यहां दो बातों पर सुन्दर शैली से प्रकाश डाला है। प्रथम यह कि दुर्वचनों की कठोरता कितनी अधिक होती है, और दूसरी यह कि जो महापुरुष कठोर वचन सहन कर लेते हैं वे अत्यन्त आदरणीय होते हैं।

यहां यह आशंका की जा सकती है कि जो लोग, दूसरों के दास हैं या सेवक हैं वे अपने स्वामी के दुर्वचन सदैव सहन करते हैं। अगर कोई स्वामी क्रोधशील होता है तो वह पल-पल पर अपने स्वामी के क्रोध का पात्र बन कर असंख्य गालियाँ सुनता है। ऐसी अवस्था में उसे पूजनीय क्यों न माना जाय?

इस आशंका का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि आशा से अर्थात् लोभ के वशीभूत होकर मनुष्य लोहे के तीर या कांटे सहन कर लेता है। अथवा तीर और कांटे के समान वाग्बाण भी सहन कर सकता है और उत्साह के साथ

सहन करता भी है, परन्तु इससे उसकी सहनशक्ति की वृद्धि नहीं मानी जा सकती। वह आशावान् है—लोभ से अभिभूत है, और लोभ ने उसके अन्तःकरण को इतना निम्न श्रेणी का बना दिया है कि वह दुर्वचनों को, भीतर ही भीतर तिलमिलाते हुए भी, सहन करता है। ऐसी अवस्था में उसका सहना उसके कषाय संबंधी उपशम का द्योतक नहीं है प्रत्युत लोभकषाय की अधिकता का ही सूचक है। अतएव लोभ से लोहे के तीर, कांटे या इनके सदृश वचन सहन कर लेने वाला व्यक्ति पूजनीय नहीं है, वरन् दयनीय है—करुणा का पात्र है।

जो महापुरुष कानों में कांटों के समान चुभने वाले, अथवा तीर के समान आघात करने वाले अत्यन्त कर्कश वचनों को, बिना किंचित् लोभ के, निःस्वार्थ भाव से, सहन कर लेता है वह पूज्य है। निःस्वार्थ होकर कठोर दुर्वचनों को वही सहन कर सकता है, जिसके क्रोध आदि कषायों का उपशम हो गया है, जिसने समता भाव प्राप्त कर लिया है और जो निन्दा तथा स्तुति में विषाद एवं हर्ष का अनुभव नहीं करता। ऐसा महापुरुष निन्दक के प्रति किंचित् मात्र भी रोष और प्रशंसक के प्रति किंचित् भी तोष धारण नहीं करता है। निन्दक के प्रति वह विचार करता है—

मन्निन्दया यदि जनः परितोषमेति,
नन्वप्रयत्नसुलभोऽयमनुग्रहो मे।
श्रेयोऽर्थिनोऽपि पुरुषाः परतुष्टिहेतोः,
दुःखार्जितान्यपि धनानि परित्यजन्ति॥

अर्थात् मेरी निन्दा करने से यदि किसी मनुष्य को संतोष मिलता है, तो बिना ही किसी प्रयत्न के यह मेरा बड़ा अनुग्रह है। अपने श्रेय-साधन करने के अभिलाषी पुरुष, दूसरों के सतोष के लिए अत्यन्त कष्ट उठाकर उपार्जित किया हुआ धन भी त्याग देते हैं। तात्पर्य यह है कि दूसरे लोग, पर के संतोष के लिए धन का त्याग करते हैं, और मैं बिना कुछ त्याग किये ही अपने निन्दक को सन्तोष पहुंचा देता हूं। यह मेरे लिए दुःख की बात नहीं वरन् आनन्द की बात है!

इस प्रकार अपना मन समझा कर महापुरुष निन्दक के प्रति क्रोध का भाव उत्पन्न नहीं होने देते। इसी प्रकार गाली देने वालों के प्रति भी समभाव धारण करते हैं। किसी ने उचित ही कहा है—

ददतु ददतु गालीं गालिमन्तो भवन्तः,
वयमपि तदभावाद् गालिदानेऽसमर्थाः।
जगति विदितमेतद् दीयते विद्यमानम्,
न हि शशकविषाणं कोऽपि कस्मै ददाति॥

अर्थात्—आप गाली वाले हैं, तो गाली ही दीजिए। हमारे पास गालियों का अभाव है, अतएव उनका दान करने में असमर्थता है। यह तो सारा संसार जानता है कि जिसके पास जो है, वह वही दे सकता है। क्या कोई किसी को खरगोश का सींग दे सकता है? नहीं, क्योंकि वह विद्यमान ही नहीं है।

इस प्रकार के विचारों से निन्दा और गालियों को सहन करके महापुरुष शान्त रहते हैं। उनके हृदय--सागर में अल्प मात्र भी क्षोभ नहीं होता।

सूत्रकार ने 'कर्ण--शर' पद का प्रयोग करके वचनों की कठोरता एवं दुःख-प्रदता पर भी प्रकाश डाला है। प्रकारान्तर से यह सूचित कर दिया है कि दुर्वचनों के प्रयोग से मनुष्यों को अत्यन्त आघात पहुंचता है। उनका प्रयोग करने से सत्यव्रत का ही नहीं वरन् अहिंसाव्रत का भी भंग होता है। अतएव ऐसे वचनों का प्रयोग कदापि नहीं करना चाहिए। फिर भी बिना किसी क्षोभ के, ऐसे वचनों को जो सहन कर लेते हैं वे महापुरुष असाधारण हैं अतएव पूज्य हैं --श्रेष्ठ हैं।

मूलः--मुहुत्तदुक्खा उ हवंति कंटया, अओमया ते वि तओ सुउद्धरा
वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि, वेराणुबंधीणि महब्भयाणि।६।

छायाः—मुहूर्त्तदुःखास्तु भवन्ति कण्टकाः, अयोमयास्तेऽपि ततः सूद्धःरा।
वाचा दुरुक्तानि दुरुद्धराणि, वैरानुवन्धीनि महाभयानि ॥ ६ ॥

शब्दार्थः—लोहे के कंटक तो केवल मुहूर्त्त मात्र ही दुःख देते हैं और उसके पश्चात् सरलता से बाहर निकाले जा सकते हैं, किन्तु दुर्वचन रूपी कंटक बैर बढाने वाले हैं, महा--भयंकर हैं और उनका निकलना बड़ा कठिन है।

भाष्य—पहली गाथा में वचनों का कंटक रूप में कथन किया है, यहां दोनों की तुलना करते हुए वचनों की अधिक दुःख-दायकता का उल्लेख किया गया है।

'मुहूर्त्त' शब्द यहां अल्प काल का वाचक है। तात्पर्य यह है कि लोहे के कांटे शरीर में चुभ जाएं तो थोड़े समय तक ही कष्ट देते हैं और फिर सरलता से बाहर निकाले जा सकते हैं। मगर मुख से निकले हुए दुर्वचन अत्यन्त भीषण हैं। एक बार चुभने पर उनका निकलना बहुत ही कठिन है, क्योंकि वे शरीर में नहीं अपितु अन्तः--करण में चुभते हैं।

लोहमय कांटों का प्रभाव वर्त्तमान जीवन में ही हो सकता है आगामी जन्म में नहीं, किन्तु वाणी के कंटक इस जन्म में भी वैर बढ़ाते हैं और आगामी जन्मों में भी। वचनजन्य वैर की परम्परा शरीर की समाप्ति हो जाने पर भी समाप्त नहीं होती।

लोहमय कंटक स्थूल होने के कारण स्थूल शरीर के लिए ही भयकारी हैं, परन्तु वाचनिक कंटक सूक्ष्म होने से सूक्ष्म आत्मा के लिए भी भीषण होते हैं। वचनों के दुष्प्रयोग से आत्मा के साथ जिन अशुभ कर्मों का बंध होता है, उनके फलस्वरूप आत्मा को नरक आदि दुःख रूप योनियों में जाना पड़ता है और वहां घोर व्यथाएं सहनी पड़ती हैं।

इस प्रकार लोहमय कंटकों की अपेक्षा वचनमय कंटकों को अधिक भयंकर, अधिक वैरवर्धक और अधिक काल तक स्थायी समझ कर, कभी उनका प्रहार नहीं करना चाहिए। किसी के प्रति कष्टकर वचन का प्रयोग नहीं करना चाहिए। निरवद्य

कोमल, मधुर एवं हितकर वचनों का प्रयोग करने वाला पुरुष ही वाणी का स्वामी बनता है, विवेकी कहलाता है और चारित्र का आराधक होकर आत्मकल्याण करता है।

मूलः—अवरणवायं च परंमुहस्स,
पच्चक्खओ पडिणीयं च भासं।
ओहारिणिं अप्पियकारिणिं च,
भासं न भासेज्ज सया स पुज्जो ॥ १० ॥

छायाः—अवर्णवादं च पराङ्मुखस्य, प्रत्यक्षतः प्रत्यनीकां च भाषाम्।
अवधारिणीमप्रियकारिणीं च भाषां न भाषेत् सदा स पूज्यः ॥ १० ॥

शब्दार्थः—किसी मनुष्य के परोक्ष में या प्रत्यक्ष में अर्थात् उपस्थिति में या अनुपस्थिति में, उसकी निन्दा रूप भाषा कदापि नहीं बोलना चाहिए। इसी प्रकार किसी का अपकार करने वाली, भविष्यकाल संबंधी निश्चय करने वाली और अप्रिय प्रतीत होने वाली भाषा भी नहीं बोलना चाहिए। जो ऐसी भाषा का प्रयोग नहीं करता वह पूजनीय है।

भाष्यः—भाषा-प्रयोग संबंधी अन्य आवश्यक विषयों का उल्लेख करने के लिए सूत्रकार ने यह गाथा कही है। भाषा का प्रयोग करते समय निम्नलिखित नियमों का भी ध्यान रखना चाहिए।

(१) किसी पुरुष की मौजूदगी में या गैरमौजूदगी में किसी भी अवस्था में, निन्दा न की जाए।

(२) मुख से ऐसा एक भी शब्द न निकाला जाय जिससे कि किसी पुरुष का कोई अपकार होता हो या हो सकता हो।

(३) भविष्यकाल में होने योग्य किसी कार्य के संबंध में निश्चयात्मक वाणी का प्रयोग न किया जाय। क्योंकि जीवन का विश्वास नहीं किया जा सकता। औदारिक शरीर क्षणविनश्वर है। वह कब साथ छोड़ देगा, सो नहीं जाना जा सकता। ऐसी दशा में भविष्य-विषयक निश्चय प्रकट करना उचित नहीं है, इससे असत्य भाषण का दोष लगता है और अप्रतीति भी हो सकती है।

(४) ऐसी भाषा का व्यवहार न किया जाय जो श्रोता को अप्रिय प्रतीत हो। अप्रिय भाषा से श्रोता का परिपूर्ण आकर्षण वक्ता की ओर नहीं होता। अतएव अप्रिय वचन प्रायः अग्राह्य हो जाते हैं और श्रोता को मानसिक कष्ट भी पहुंचाते हैं।

इन आवश्यक नियमों तथा पूर्वोक्त नियमों का सदा पालन करने वाला महापुरुष आदरणीय होता है।

मूल:—जहा सुणी पूइकण्णी, निक्कसिज्जइ सव्वसो।
एवं दुस्सीलपडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जइ ॥११॥

छाया.—यथा शुनी पूतिकर्णी, नि कास्यते सर्वतः।
एवं दुश्शीलः प्रत्यनीकः, मुखरी नि.कास्यते ॥ ११ ॥

शब्दार्थ:—जैसे सड़े-गले कान वाली कुतिया सब जगहों से निकाली जाती है, इसी प्रकार दुष्ट शील वाला, गुरु एवं धर्म के विरुद्ध व्यवहार करने वाला और वृथा बड़बड़ाने वाला व्यक्ति भी अपने गच्छ से बाहर निकाल दिया जाता है।

भाष्य:—गाथा का भाव स्पष्ट है। जिस कुतिया के कान सड़ जाते हैं, जिसके कानों में कृमि-कुल उत्पन्न हो जाता है और रुधिर आदि प्रवाहित होता है, वह जिसके गृहमें प्रवेश करती है वही उसे तत्काल, घृणापूर्वक, बाहर भगा देता है। क्षण भर भी कोई अपने घरमें उसे स्थान नहीं देता। इसी प्रकार जो साधु दुःशील होता है, अपने गुरु और धर्म के विरुद्ध आचरण करता है तथा विवेक से शून्य होकर अंटसंट बोलता रहता है, वह जिस किसी गच्छ या कुल में जाता है, वहीं से बाहर कर दिया जाता है। ऐसे व्यक्ति को कोई भी आचार्य अपने कुल में स्थान नहीं देता।

इसी प्रकार अन्य पुरुष भी दुर्गुण के कारण सर्वत्र तिरस्कार का पात्र बनता है और उसे कोई अपने समूह में स्थान नहीं देना चाहता। अतएव इन दोषों का त्याग करना परमावश्यक है।

मूल:—कणकुंडगं चइत्ताणं विट्ठं भुंजइ सूयरे।
एवं सीलं चइत्ताणं, दुस्सीले रमइ मिए ॥ १२ ॥

छाया:—कणकुण्डकं त्यक्त्वा, विष्टां भुङ्क्ते शूकरः।
एवं शीलं त्यक्त्वा, दुश्शीलं रमते मृगः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ:—जैसे शूकर धान्य से भरे हुए कूंडे (पात्र) को छोड़कर विष्टा भक्षण करता है, इसी प्रकार मृग के समान मूर्ख मनुष्य शील का परित्याग करके दुःशील होकर आनन्द का अनुभव करता है।

भाष्य:—सूत्रकार ने यहां शील का महत्त्व प्रकट करते हुए कुशील की निन्दा की है।

जैसे शूकर के सामने धान्य से परिपूर्ण पात्र रक्खा जाय तो भी वह उसे रुचिकर नहीं होता। शूकर उसे त्याग कर विष्टा को ही भक्षण करता है। इसी प्रकार शील को त्याग कर मूर्ख पुरुष कुशील का ही सेवन करता है और उसी में आनन्द मानता है। सूत्रकार ने यहां कुशील को विष्टा की उपमा दी है अतएव कुशीलसेवी शूकर के समान सिद्ध हो जाता है।

विष्टा और कुशील में निम्नलिखित सादृश्य है—

(१) विष्ठा धान्य का विकार है अर्थात् धान्य की विकृति रूप पर्याय है, इसी प्रकार कुशील शील का विकार है।

(२) सत्पुरुष विष्ठा से घृणा करते हैं। इसी प्रकार सत्पुरुष कुशील से घृणा करते हैं।

(३ विष्टा का सेवन करने वाला शूकर पशुओं में नीच गिना जाता है, इसी प्रकार कुशील का सेवन करने वाला पुरुष, मानव-समाज में निम्न कोटि का गिना जाता है।

(४) विष्ठा के संसर्ग से शारीरिक अपवित्रता होती है और कुशील के संसर्ग से आन्तरिक अपवित्रता उत्पन्न होती है।

(५) विवेकी पुरुष जीवन का उत्सर्ग कर सकता है पर जीवन की रक्षा के लिए विष्ठा का सेवन नहीं करता, इसी प्रकार सत्पुरुष जीवन का त्याग करके भी कुशील का सेवन नहीं करते।

(६) विष्ठा का भक्षण अनेक प्रकार के शारीरिक अनर्थों का मूल है, इसी प्रकार कुशील-सेवन विविध प्रकार के आत्मिक अनर्थों का कारण है।

इस प्रकार कुशील को विष्ठा के समान घृणाजनक, हेय और अनर्थकर समझकर विवेकवान् व्यक्तियों को उसका सर्वथा परित्याग करना चाहिए।

शील जीवन रूपी पुष्प का सौरभ है। सौरभ-विहीन सुमन जिस प्रकार आदरणीय नहीं होता, उसी प्रकार शील-शून्य जीवन भी सन्मान का भाजन नहीं होता। कहा भी है—

सीलं उत्तमवित्तं, सीलं जीवाण मंगलं परम।
सीलं दुग्गइहरणं सीलं सुक्खाण कुलभवणं॥

अर्थात् शील उत्तम धन है, शील जीवों के लिए परम मंगल रूप है, शील दुर्गति का विनाश करने वाला है और शील ही सुखों का सदन है। तथा—

सीलं धम्मनिहाणं सीलं पावाण खंडगं भणियं।
सील जंतूण जए, अकित्तिमं मंडणं पवर॥

अर्थात् - शील धर्म का खजाना है, शील से पापों का खंडन होता है, शील इस संसार में जीवों का स्वाभाविक आभूषण है।

इस प्रकार शील सत्पुरुषों द्वारा प्रशंसित है। शील इसलोक में और परलोक में परम कल्याण का कारण है। अतएव शील की शीतल-छाया का आश्रय लेकर समस्त संतापों का अन्त करना चाहिए। सदाचार रूप शील ही सब दुःखों का उन्मूलन करने वाला है। कुप्रवृत्तियों को अर्थात् कुशील को दुःखों और अनर्थों का प्रधान कारण समझकर उनसे दूर रहना चाहिए।

सूत्रकार ने कुशील का सेवन करने वाले पुरुष को 'मृग' शब्द से उल्लिखित

किया है। उसका तात्पर्य यही है कि कुशीलसेवी पुरुष पशु के समान हेयोपादेय से विकल है।

मूल:–आहच्च चंडालियं कट्टु, न निण्हविज्ज कयाइ वि।
कडं कडेत्ति भासेज्जा, अकडं णो कडेत्ति य ॥ १३ ॥

छाया:—कदाचित् चाण्डालिकं कृत्वा. न निह्नुवीत कदापि च।
कृतं कृतमिति भाषेत. अकृतं नो कृतमिति च ॥ १३ ॥

शब्दार्थ:—कदाचित् क्रोध से असत्य भाषण हो गया हो तो उससे कभी मुकरना नहीं चाहिए। किये हुए को किया हुआ कहना चाहिए और न किये को 'नहीं किया' कहना चाहिए।

भाष्य:—क्रोध के आवेश में मनुष्य उन्मत्त हो जाता है। उस समय उसे उचित अनुचित का विचार नहीं रह जाता। उस अवस्था में यदि असत्य वचन निकल जाएं तो आचार्य के सामने या गुरु के समक्ष अपना दोष छिपाना उचित नहीं है।

अगर छिपाना उचित नहीं हैं, तो क्या करना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा गया है कि, असत्य भाषण या अन्य किसी दोष का सेवन किया हो तो 'मैंने यह दोष किया है' इस प्रकार स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लेना चाहिए। अगर कोई दोप न किया हो तो उसके विषय में 'नहीं किया है' ऐसा कह देना चाहिए।

असत्यभाषण और क्रोध आदि पाप विष के समान हैं। विप को ग्रहण न करना ही सर्वश्रेष्ठ है, अगर क्रोध आदि के आवेश में अथवा असावधानी में विष का सेवन हो जाय तो चिकित्सकके समक्ष स्पष्ट रूप से उसको स्वीकार कर लेना चाहिए। अगर ऐसा न किया गया तो जीवन की रक्षा नहीं हो सकती। इसी प्रकार पाप का सेवन न करना ही सर्वोत्तम है। यदि असावधानी आदि किसी कारण से सेवन हो गया हो तो चिकित्सक के समान आचार्य महाराज या गुरुदेव के समक्ष उसे स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लेना चाहिए। ऐसा करने से ही संयम रूप जीवन की रक्षा हो सकती है।

जिसके हृदय में शल्य विद्यमान रहता है वह कभी निराकुल नहीं रह सकता। यह कथन केवल द्रव्य-शल्य के लिए ही सत्य नहीं है किन्तु भाव-शल्य के लिए भी उतना ही सत्य है।

अनेक व्यक्ति ऐसे होते हैं जो भूल तो करते हैं, परन्तु आत्मबल का अभाव होने से उसे स्वीकार नहीं करते। वे जनता के सामने अपने आप को अभ्रान्त सिद्ध करना चाहते हैं, पर वास्तव में देखा जाय तो वे अपनी भूल न स्वीकार करने के कारण अत्यन्त भुलक्कड़ हैं और उनकी भूलों की परम्परा का शीघ्र ही अन्त नहीं आ सकता। उन्हें कभी-कभी एक भूल या अपराध छिपाने के लिए अनेक भूलें या अनेक

अपराध करने पड़ते हैं और अधिकाधिक सशल्य होते जाने के कारण उनकी व्याकुलता में वृद्धि होती रहती है।

इस प्रकार विचार करके किये हुए अपराध को किया हुआ ही कहना चाहिए। उसे छिपाने का किंचित् भी प्रयत्न नहीं करना चाहिए और न उसे न्यून रूप में कहना चाहिए।

यहां यह प्रश्न किया जा सकता है कि सूत्रकारने किये हुए को किया हुआ कहने का उपदेश दिया सो तो ठीक है, क्योंकि अनेक जन किये दोष को नहीं किया कह देते हैं, पर नहीं किये को नहीं किया कहने के उपदेश की क्या आवश्यकता है? कोई भी व्यक्ति नहीं किये हुए दोष को किया हुआ नहीं कहता है।

इस प्रश्न का समाधान यह है कि कभी-कोई व्यक्ति अपने दोष स्वीकार रूप गुण का अतिशय प्रकट करने के लिए न किये हुए सामान्य अपराध को भी किया हुआ कह सकता है, अथवा कोई पुरुष अपनी अप्रामाणिकता के प्रकट होने के भय से नहीं किये को किया कह देता है। अथवा तथाविध अवसर आने पर चित्त शुद्धि आदि रूप संयम की आराधना न की हो तो भी उसका करना कहसकता है। इन सब बातों का निषेध करने के लिए सूत्रकार ने नहीं किये को नहीं किया कहने का विधान किया है।

गाथा में 'आहच्च' शब्द साभिप्राय है। उसके प्रयोग से यह सूचित किया गया है कि यदि कोई पुरुष बारम्बार असत्यभाषण करता जाता है और बारम्बार अपने गुरु के समक्ष उसे प्रकट करता है तो भी उसके प्रकट करने का कोई मूल्य नहीं है। असत्य भाषण न करने की पूर्ण सावधानी रखनी चाहिए। फिर भी किसी प्रकार की निर्बलता आदि विशेष कारण से अगर असत्य भाषण हो जाय तो उसकी शुद्धि के लिए गुरु से निवेदन करना चाहिए। गुरु महाराज उसकी शुद्धि के अर्थ जिस प्रायश्चित का विधान करें उसे सहर्ष स्वीकार कर पाप के उस संस्कार का समूल उन्मूलन कर देना चाहिए और भविष्य में ऐसा न होने देने के लिए सावधान रहना चाहिए।

मूलः–पडिणीयं च बुद्धाणं, वाया अदुव कम्मुणा।
आवीं वा जइ वा रहस्से, णेव कुज्जा कयाइ वि ॥१४॥

छायाः—प्रत्यनीकं च बुद्धानां, वाचाऽथवा कर्मणा।
आविर्वा यदिवा रहसि, नैव कुर्यात् कदापि च ॥ १४ ॥

शब्दार्थः—वचन से अथवा कर्म से, प्रकट रूप से अथवा गुप्त रूप से, कभी भी ज्ञानी जनों से विरुद्ध व्यवहार नहीं करना चाहिए।

भाष्य -विशिष्ट श्रुत एवं संयम से विभूषित, आत्मज्ञानी महापुरुष बुद्ध अथवा ज्ञानी कहलाते हैं। उनके विरुद्ध व्यवहार करने का यहां निषेध किया गया है।

ज्ञानी की वचन के द्वारा निन्दा करना, अर्थात् ज्ञानी को अज्ञानी कहना,

मिथ्यादृष्टि कहना, अचारहीन कहना अथवा अन्य प्रकार से उसकी प्रतिष्ठा को कलंकित करना वाचनिक विरुद्ध व्यवहार करना कहलाता है। इसी प्रकार काय से कोई विरुद्ध चेष्टा करना कर्म से प्रत्यनीक व्यवहार करना कहलाता है। ऐसा व्यवहार न तो प्रकट में करना चाहिए और न गुप्त रूप में ही।

ज्ञानी पुरुष एक प्रकार से ज्ञान गुण का प्रतिनिधि है। उसका सन्मान करने से ज्ञान का सन्मान होता है और उसका तिरस्कार करने से ज्ञान का तिरस्कार होता है। ज्ञान एवं ज्ञानी की आसातना से ज्ञानावरण कर्म का बंध होना शास्त्र में प्रतिपादन किया गया है।

यहां ज्ञानियों से शत्रुता न करने का निषेध किया गया है, इससे यह नहीं समझना चाहिए कि अन्य सामान्य पुरुषों के प्रति शत्रुता का भाव रखना निषिद्ध नहीं है। अज्ञानी, अनाचारी, आदि किसी भी प्राणी के प्रति शत्रुता का भाव धारण करना उचित नहीं है। शत्रुता का भाव एक प्रकार का द्वेष है और द्वेष की हेयता का सर्वत्र विधान किया गया है। फिर भी यहां ज्ञानी पुरुष की महत्ता और विशिष्टता प्रतिपादन करने के लिए ही ज्ञानी के प्रति शत्रुता न करने का कथन किया है।

ज्ञान ही संसार में सर्व श्रेष्ठ प्रकाश है। उसके विना जगत् अन्धा है। सुवर्ण, रजत, मणि, आदि के अभाव में संसार की तनिक भी हानि नहीं है। इनका अभाव हो जाय तो संसार के अनेक संघर्षों की समाप्ति हो सकती है। अनेक पुरुष निराकुलता का आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। निर्धन लूटमार एवं चोरी आदि से बहुत अंशों में बच सकते हैं और धनवान् लोग धन के मद से बच सकते हैं। इस प्रकार अनर्थ के मूल अर्थ के अभाव से किसी का कुछ नहीं बिगड़ने का, प्रत्युत सभी को लाभ है। हां, ज्ञान ऐसी वस्तु नहीं है। वह आत्मा का गुण है, स्वरूप है। इसके विना संसार में अंधकार ही अंधकार है। ज्ञान ही कल्याण का एक मात्र कारण है। ज्ञान के विना मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। अतएव ज्ञानी पुरुष पूजनीय है, आदरणीय है। वह संसार का आभूषण है। अंधों की आंख है। उसके प्रति दुष्ट भाव रखना, उसे शत्रु समझना, उसके विरुद्ध व्यवहार करना, ज्ञान को शत्रु समझने के समान है। अतएव ऐसा कदापि नहीं करना चाहिए।

मूलः—जणवयसम्मयठवणा, नामे रूवे पडुच्च सच्चे य।
ववहारभावजोगे, दसमे ओवम्मसच्चे य ॥ १५ ॥

छायाः—जनपदसम्मतस्थापना नाम रूपं प्रतीत्य सत्यं च।
व्यवहारभावयोगानि दशमौपम्यसत्यं च ॥ १५ ॥

शब्दार्थः—सत्य भाषा दस प्रकार की है।–(१) जनपदसत्य (२) सम्मतसत्य (३) स्थापनासत्य (४) नामसत्य (५) रूपसत्य (६) प्रतीत्यसत्य (७) व्यवहारसत्य (८) भावसत्य (९) योगसत्य और (१०) औपम्यसत्य।

भाष्य:—सत्य भाषा का स्वरूप और उसके उल्लिखित भेदों का निरूपण,प्रकरण-वश पहली गाथा में लिखा जा चुका है। जिज्ञासु वहां देखें। यहां उनकी पुनरुक्ति नहीं की जाती।

मूलः—कोहे माणे माया, लोभे पेज्ज तहेव दोसे य।
हासे भये अक्खाइय, उवघाए निस्सया दसमा ॥१६॥

छाया:—क्रोधं मानं, लोभं रागं तथैव द्वेषं च।
हास्यं भयमाख्यातिकं उपघातं निश्रितो दशमा ॥१६॥

शब्दार्थ:—असत्य भाषा के भी दस भेद हैं—(१) क्रोधनिश्रित (२) माननिश्रित (३) मायानिश्रित (४) लोभनिश्रित (५) प्रेमनिश्रित (६) द्वेषनिश्रित (७) हास्यनिश्रित (८) भयनिश्रित (९) आख्यायिकानिश्रित और (१०) उपघातनिश्रित।

भाष्य:—इन भेदों का निरूपण भी पहले हो चुका है। अतः पुनरुक्ति नहीं की जाती।

मूलः—इणमन्नं तु अन्नाणं इहमेगेसिमाहियं।
देवउत्ते अयं लोए, बंभउत्ते त्ति आवरे ॥१७॥
ईसरेण कडे लोए, पहाणाइ तहावरे।
जीवाजीवसमाउत्ते, सुहदुक्खसमन्निए ॥१८॥
सयंभुणा कडे लोए, इति वुत्तं महेसिणा।
मारेण संथुया माया, तेण लोए असासए ॥१९॥
माहणा समणा एगे, आह अंडकडे जगे।
असो तत्तमकासी य, अयाणंता मुसं वदे ॥२०॥

छाया:—इदमन्यत्तु अज्ञानं, इहैकेषामाख्यातम्।
देवोप्तोऽयं लोकः, ब्रह्मोप्त इत्यपरे ॥१७॥
ईश्वरेण कृतो लोक, प्रधानादिना तथाऽपरे।
जीवाजीवसमायुक्तः, सुखदुःखसमन्वितः ॥१८॥
स्वयम्भुवा कृतो लोकः इत्युक्तं महर्षिणा।
मारेण संस्तुता माया, तेन लोकोऽशाश्वतः ॥१९॥
माहना श्रमणा एके, आहुरण्डकृतं जगत्।
असौ तत्त्वमकार्षीत्, अजानन्तः मृषां वदन्ति ॥२०॥

शब्दार्थ:—सृष्टिके संबंध में अन्य लोगों का कहा हुआ अज्ञान इस प्रकार है।

कोई कहते हैं 'यह लोक देव द्वारा उत्पन्न हुआ है, और कोई कहते हैं यह ब्रह्म के द्वारा उत्पन्न हुआ है।

कोई यह मानते हैं कि जीव और अजीव से व्याप्त एवं सुख-दुःख से युक्त यह लोक ईश्वर के द्वारा किया हुआ है और दूसरे कहते हैं कि प्रधान (प्रकृति) आदि के द्वारा उत्पन्न हुआ है।

स्वयंभू ने लोक का निर्माण किया है, ऐसा महर्षि (मनु) ने कहा है। मार ने माया का विस्तार किया, अतएव लोक अशाश्वत है, अनित्य है।

कोई-कोई ब्राह्मण और श्रमण कहते हैं कि जगत् अंडे से उत्पन्न हुआ है। ब्रह्मा ने तत्त्वों की रचना की है। इस प्रकार यथार्थ वस्तु-स्वरूप को न जानने वाले मिथ्या भाषण करते हैं।

भाष्यः सूत्रकार ने मिथ्या भाषा का स्वरूप बतलाते हुए उदाहरण के रूप में सृष्टि की उत्पत्ति के संबंध में की गई अनेक मिथ्या कल्पनाओं का निर्देश किया है।

मूल में जो 'देवउत्त' शब्द है, उसकी व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है। यथा-देवेन उप्तः देवोप्तः, देवैर्वा गुप्तो रक्षितः देवगुप्तः देवपुत्रो वा। अर्थात् यह लोक एक देव के द्वारा रचा गया है, अथवा अनेक देवों द्वारा रचा गया है, अथवा देवों द्वारा रक्षित है अथवा देव का पुत्र है।

इसी प्रकार 'ब्रह्मोप्त' शब्द की व्याख्या समझनी चाहिए। ब्रह्मा को जगत् का कर्त्ता मानने वाले लोगों के मत के अनुसार, जगत् की आदि में अकेला ब्रह्मा ही था, उसने प्रजापतियों का निर्माण किया और प्रजापतियों ने क्रम से समस्त संसार की रचना की।

कोई लोग ईश्वर को और कोई प्रधान (प्रकृति) को जगत् का कारण बतलाते हैं। महर्षि (मनु) कहते हैं कि जगत् की आदि में अकेला स्वयंभू था। वह अकेला ही रमण करता था। उसे किसी दूसरे की अभिलाषा हुई। उसने ज्यों ही ऐसा विचार किया कि दूसरी वस्तु—शक्ति—उत्पन्न हो गई। उसके पश्चात् जगत् बन गया।

इस प्रकार जगत् बन गया, पर स्वयंभू ने सोचा कि इस तरह तो पृथ्वी पर बहुत भार हो जायगा, इसका कुछ उपाय करना चाहिए। ऐसा सोचकर उसने मार अर्थात् यमराज बना दिया। उस यमराज ने माया का निर्माण कर दिया और माया से प्रजा मरने लगी। जीव का वास्तव में विनाश नहीं होता, किन्तु मरने का व्यवहार माया से होता है। इस प्रकार मायामय मृत्यु के कारण यह लोक अनित्य प्रतीत होता है।

पुराणों को प्रमाण मानने वाले ब्राह्मण और संन्यासी कहते हैं कि यह चराचर रूप समस्त विश्व अंडे से उत्पन्न हुआ है। उनकी मान्यता यह है कि संसार में जब

कोई भी वस्तु नहीं थी—संसार सब पदार्थों से शून्य था, तब ब्रह्मा ने पानी में एक अंडा उत्पन्न किया। अंडा धीरे-धीरे बढता हुआ बीच में से फट गया। उसके दो भाग हो गये। एक भाग से ऊर्ध्वलोक बन गया और दूसरे भाग से अधोलोक की उत्पत्ति हो गई। इसके पश्चात् दोनों भागों में प्रजा की उत्पत्ति हुई। इसी प्रकार पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, समुद्र, नदी और पर्वत आदि उत्पन्न हुए।

कहा भी है—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं, प्रसुप्तमिव सर्वतः ।।

अर्थात्—सृष्टि से पहले यह जगत् अन्धकार रूप, अज्ञात और लक्षणहीन था। वह विचार से बाहर और अज्ञेय था, चारों ओर से सोया हुआ-सा-शान्त था। इस प्रकार के जगत् में ब्रह्मा ने अंडे आदि के क्रम से सृष्टि की रचना की।

इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में नाना लोग नाना प्रकार की कल्पनाएं करते हैं और वे वास्तविकता से शून्य होने के कारण मिथ्या रूप हैं। उनकी मिथ्या-रूपता पर यहां संक्षेप में प्रकाश डाला जाता है।

जो लोग देव या देवों द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति होना बतलाते हैं उनसे पूछना चाहिए कि देव पहले स्वयं उत्पन्न होकर जगत् का निर्माण करता है या बिना उत्पन्न हुए ही जगत् को उत्पन्न करता है? स्वयं उत्पन्न होने से पहले तो वह जगत् उत्पन्न नहीं कर सकता, क्योंकि उस समय वह स्वयं असत् है—अविद्यमान रूप है।

यदि यह कहा जाय कि पहले देव उत्पन्न हो चुका, तब उसने सृष्टि रची, तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि देव किस प्रकार उत्पन्न हुआ--वह अपने आपसे उत्पन्न हो गया या किसी अन्य कारण से उत्पन्न हुआ? देव यदि बिना किसी कारण के स्वयं उत्पन्न हो सकता है तो लोक भी अपने आप क्यों नहीं उत्पन्न हो सकता? देव को उत्पन्न करने वाले किसी कर्त्ता की आवश्यकता नहीं है तो लोक को उत्पन्न करने वाले कर्त्ता की भी क्या आवश्यकता है? देव यदि किसी अन्य कारण से उत्पन्न होता है तो वह देव को उत्पन्न करने वाला कारण कहां से आया? जगत् तो था नहीं, फिर वह कारण क्या था? इसके अतिरिक्त वह कारण भी अपने आपसे उत्पन्न हुआ या किसी अन्य कारण से? अपने आप उत्पन्न होने की बात तो निर्मूल है, यह बताया जा चुका है। अतएव उसे भी किसी अन्य कारण से उत्पन्न होने वाला मानना पड़ेगा। तो देव को उत्पन्न करने वाला कारण, दूसरे कारण से उत्पन्न हुआ है, यह निर्णय हुआ।

लेकिन बात यहीं समाप्त नहीं होती। उस कारण के कारण के विषय में भी यही प्रश्न उपस्थित होता है। अर्थात् वह दूसरा कारण भी स्वयं उत्पन्न हुआ— किसी अन्य कारण से उत्पन्न हुआ? इस प्रकार कारणों की कल्पना करते-क कहीं अन्त ही नहीं आएगा और देव की उत्पत्ति का ही समय नहीं आ सकेग

ऐसी दशा में जगत् का निर्माण होना ही असंभव ठहरता है।

शंका—देव कभी उत्पन्न ही नहीं होता। वह आनदि काल से है। अतएव उसकी उत्पत्ति संबंधी चर्चा करना ही निरर्थक है।

समाधान—यदि देव अनादि है तो लोक को भी अनादि क्यों न मान लिया जाय ? देव को अनादिकालीन मानने में कोई बाधा नहीं आती तो लोक को अनादि मानने में क्या बाधा आ सकती है।

देव अगर अनादि है तो यह बताइए कि वह नित्य है या अनित्य है ? अगर देव नित्य है तो वह जो कार्य करता है सो एक के पश्चात् दूसरा, दूसरे के पश्चात् तीसरा, इस प्रकार क्रम से करता है, या समस्त कार्यों को एक ही साथ कर डालता है।

यदि यह माना जाय कि देव क्रम से एक-एक क्रिया करता है तो यह आशंका होती है कि वह एक क्रिया करते समय, दूसरी क्रिया करने में समर्थ है या असमर्थ है ? अगर समर्थ है तो फिर धीरे-धीरे एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी क्रिया क्यों करता है ? सब क्रियाएं एक ही साथ क्यों नहीं कर डालता ? अगर एक क्रिया के समय दूसरी क्रिया करने में देव को असमर्थ माना जाय और एक क्रिया पूरी हो जाने पर दूसरी क्रिया करने में समर्थ मान लिया जाय तो उसकी नित्यता समाप्त हो जाती है। एक समय वह असमर्थ होता है और दूसरे समय समर्थ हो जाता है तो वह नित्य कैसे रहा ? नित्य तो आपके मत से वही कहलाता है जो सदा काल एकान्त एक रूप बना रहे ? आपका यह देव सदा एक सा नहीं रहता-कभी समर्थ और कभी असमर्थ हो जाता है, ऐसी स्थिति में उसे नित्य किस प्रकार माना जा सकता है ?

देव समस्त क्रियाएं एक साथ कर डालता है, ऐसा माना जाय तो जितनी भी क्रियाएं उसे करनी हैं, वे सब एक ही क्षण में समाप्त हो जाएंगी, फिर दूसरे क्षण में वह क्या करेगा ? अर्थ-क्रिया करना ही वस्तु का स्वभाव है। अगर दूसरे क्षण में वह कुछ भी नहीं करता तो उसे अवस्तु-बन्ध्या-पुत्र की भांति कुछ भी नहीं-अस्तित्वहीन, स्वीकार करना होगा।

यदि यह माना जाय कि देव तो एक साथ समस्त क्रियाएं करने में समर्थ है, किन्तु विभिन्न कार्यों के सहकारी कारण जब जुट जाते हैं तब वह कार्य करता है और जब सहकारी कारण नहीं होते तो कार्य नहीं करता। जैसे बीज में अंकुर को उत्पन्न करने की शक्ति तो सदा रहती है, परन्तु पृथ्वी, पानी, आदि सहायक कारण मिलने पर वह अंकुर को उत्पन्न करता है, उनके बिना नहीं कर सकता।

यहां यह जानना जरूरी है कि सहायक कारण बीज में कोई विशेषता उत्पन्न करते हैं या नहीं करते ? अगर कोई विशेषता उत्पन्न नहीं करते तब तो उनका होना वृथा है—निरर्थक है। ऐसे निरर्थक सहायकों की प्रतीक्षा करने से बीज कभी अंकुर को उत्पन्न ही नहीं कर सकेगा। अगर सहायक कारण बीज में कोई विशेषता उत्पन्न

करते हैं तो बीज की एकान्त नित्यता खंडित हो जाती है। इसी प्रकार सहायक कारण देव में किसी प्रकार की विशेषता उत्पन्न करते हैं तो देव नित्य नहीं रह सकता, क्योंकि किसी प्रकार की विशेषता उत्पन्न होना ही पदार्थ की अनित्यता कहलाती है। ऐसी दशा में या तो देव को नित्य नहीं मानना चाहिए या सहकारी कारणों द्वारा उसमें विशेषता उत्पन्न होना नहीं स्वीकार करना चाहिए।

शंका—देव को नित्य मानने से यदि इतने दोष आते हैं तो उसे अनित्य मान लेते हैं। अनित्य मानने में क्या हानि है?

समाधान—तुम्हारा देव अगर अनित्य है तो वह स्वयं ही उत्पत्ति के अनन्तर नष्ट हो जायगा। जब वह अपनी ही रक्षा नहीं कर सकता तो संसार के समस्त कार्यों की चिन्ता किस प्रकार कर सकेगा?

इसके अतिरिक्त, अनित्य होने से उसका भी कोई कर्त्ता मानना पड़ेगा जो उस का कर्त्ता होगा वह असली देव कहलायगा, आपके देव का देवत्व ही छिन जायगा। इस प्रकार न तो देव को नित्य माना जा सकता है, न अनित्य माना जा सकता है।

अच्छा यह बताइए कि आपका देव मूर्त्त है या अमूर्त्त है? अगर वह अमूर्त्त अर्थात् अशरीर है तो आकाश की तरह वह लोक का कर्त्ता नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि देव, लोक का कर्त्ता नहीं है, क्योंकि वह अशरीर है, जो अशरीर होता है वह कर्त्ता नहीं होता, जैसे आकाश अथवा मुक्तात्मा। आपका माना हुआ देव भी अशरीर है अतएव वह लोक का कर्त्ता नहीं हो सकता।

देव को अगर मूर्त्त अर्थात् सशरीर माना जाय तो यह बताना पड़ेगा कि उस का शरीर दृश्य है या अदृश्य? अर्थात् जैसे हम लोगों का शरीर दिखता है वैसे ही उसका शरीर दिखता है या पिशाच आदि के शरीर की भांति उसका शरीर अदृश्य है? यदि दृश्य शरीर वाला है तो प्रत्यक्ष से बाधा आती है, क्योंकि हम लोगों को उसका शरीर कभी दृष्टिगोचर नहीं होता। इसके अतिरिक्त हमारे शरीर की भांति ही उसका शरीर है तो वह हमारी ही तरह कार्य भी करेगा। ऐसी अवस्था में इस विशाल विश्व का निर्माण किस प्रकार कर सकेगा? एक पर्वत या समुद्र आदि बनाने में ही उसे पर्याप्त समय लग जायगा तो सृष्टि में होने वाले अनन्त कार्यों को वह कब और किस प्रकार करेगा?

यदि पिशाच के शरीर के समान अदृश्य अशरीर वाला है तो यह बताइए कि उसका शरीर अदृश्य क्यों है? क्या हम लोगों में उसे देखने की शक्ति नहीं है या उसके शरीर का माहात्म्य ही ऐसा है कि वह दृष्टिगोचर नहीं होता? अगर यह कहा जाय कि उसका माहात्म्य ही उसके शरीर की अदृश्यता का कारण है तो उसके लिए कोई प्रमाण उपस्थित करना चाहिए। जब तक आप उसका माहात्म्य सिद्ध न करदें तब तक उसका शरीर अदृश्य नहीं माना जा सकता और जब तक उसका शरीर अदृश्य सिद्ध न हो जाय तब तक माहात्म्य सिद्ध नहीं हो सकता। दोनों बातों की सिद्धि एक-दूसरे पर निर्भर है, अतः दोनों में से एक भी सिद्ध नहीं होती।

अगर यह कहा जाय कि हम लोगों में उसका शरीर देखने की शक्ति नहीं है, तो भी सन्देह बना ही रहता है कि क्या हम अपनी अशक्ति के कारण देव का शरीर नहीं देख पाते या शरीर का अभाव होने के कारण नहीं देख पाते? इस सन्देह का निवारण करने के लिए आपके पास कोई प्रमाण नहीं है, तो देव का शरीर अदृश्य किस प्रकार स्वीकार किया जा सकता है?

इस प्रकार कोई भी देव, लोक का निर्माता सिद्ध नहीं होता। देव के कर्तृत्व का जिस प्रकार विचार किया गया है उसी प्रकार ब्रह्म के जगत्-कर्तृत्व पर विचार करना चाहिए।

वैशेषिक दर्शन के अनुयायी ईश्वर को जगत् का कर्त्ता स्वीकार करते हैं। उनका कथन इस प्रकार है—

एक, व्यापक, स्वतंत्र, सर्वज्ञ और नित्य ईश्वर ने इस जगत् का निर्माण किया है। बिना किसी के बनाये जगत् बन नहीं सकता, अतएव कोई पुरुष इसका निर्माता होना चाहिए। जो इसका निर्माता है, उसीको ईश्वर कहते हैं।

पृथ्वी, पर्वत, पेड़ आदि किसी बुद्धिमान् कर्त्ता ने बनाये हैं, क्योंकि यह कार्य हैं, जो कार्य होता है वह बुद्धिमान् कर्त्ता का बनाया हुआ होता है, जैसे घट। पृथ्वी, पर्वत आदि कार्य हैं इसलिए वे भी किसी कर्त्ता के बनाये हुए हैं। इनका बनाने वाला जो कोई बुद्धिमान् कर्त्ता है। वही ईश्वर है।

वह कर्त्ता ईश्वर एक है। यदि जगत् का बनाने वाला एक नहीं माना जायगा और बहुत से कर्त्ता माने जाएंगे तो उनमें कभी मतभेद खड़ा हो जायगा। एक कर्त्ता मनुष्य के दो हाथ, दो पैर और दो नेत्र बनायेगा और दूसरा कर्त्ता चार हाथ, तीन पैर और चार-छह नेत्र बना देगा। इस प्रकार एक-एक वस्तु भिन्न-भिन्न रूप से बनने लगेगी, तो अंधेर मच जायगा। अतएव जगत् का एक ही कर्त्ता मानना चाहिए।

ईश्वर सर्वव्यापी भी है। अगर उसे सर्वव्यापी अर्थात् सम्पूर्ण लोक में ठसाठस भरा हुआ न माना जाय तो सब जगह के सब कार्य वह यथोचित रीति से सम्पन्न नहीं कर सकेगा। किन्तु सब कार्य व्यवस्थित रूप से होते हैं अतएव वह व्यापक है।

ईश्वर स्वाधीन है, क्योंकि वह अपनी इच्छा से संसार के सब प्राणियों को सुख दुःख रूप फल देता है। अगर उसे स्वतंत्र न माना जाय, पराधीन माना जाय तो वह जिसके अधीन होगा वही सच्चा ईश्वर कहलायगा, ईश्वर ईश्वर नहीं रह जायगा।

ईश्वर नित्य है। वह अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहेगा। वह सदा एक रूप रहता है। वह सब का उत्पादक है, पर किसी से उत्पन्न नहीं होता। अगर ईश्वर का उत्पादक कोई हो भी तो उसे नित्य माना जायगा या अनित्य माना जायगा? यदि वह नित्य है तो ईश्वर को ही नित्य मानने में क्या हानि है? अगर ईश्वर का उत्पादक भी अनित्य माना जाय तो फिर उसका भी कोई उत्पादक मानना पड़ेगा। इस प्रकार ईश्वर के उत्पादकों का कहीं अन्त नहीं आयगा और परिणाम

यह होगा कि जगत् के निर्माण का अवसर ही नहीं आ सकेगा। अतएव ईश्वर को ही नित्य मान लेना युक्तिसंगत है।

ईश्वर सर्वज्ञ भी है। वह तीन काल और तीन लोक की समस्त वस्तुओं को, समस्त भावों को, पूर्ण रूप से जानता है।

वैशेषिक के इस कथन पर विचार करने पर यह सारा कथन निराधार सिद्ध होता है। उन्होंने 'कार्यत्व' हेतु से ईश्वर को कर्त्ता सिद्ध करने का प्रयास किया है, किन्तु हेतु से साध्य की सिद्धि तभी होती है जब व्याप्ति निश्चित हो चुकी हो। व्याप्ति का निश्चय हुए बिना कोई भी हेतु अपना साध्य सिद्ध करने में समर्थ नहीं हो सकता।

वैशेपिकों से यह पूछा जा सकता है कि कार्यत्व हेतु की व्याप्ति सशरीर कर्त्ता के साथ है या अशरीर कर्त्ता के साथ? अगर अशरीर कर्त्ता के साथ व्याप्ति है तो यह आशय निकला कि 'जो जो कार्य होते हैं वे सब सशरीर कर्त्ता के बनाये हुए होते हैं।' पर यह व्याप्ति प्रत्यक्ष से ही खंडित हो जाती है, क्योंकि बिजली, इन्द्र-धनुप और मेघ आदि कार्य तो हैं पर उनका कर्त्ता सशरीर नहीं देखा जाता।

अगर यह कहा जाय कि 'कार्यत्व' हेतु की व्याप्ति अशरीर कर्त्ता के साथ है, तो यह तात्पर्य निकला कि—जो-जो कार्य होते हैं वे-वे अशरीर कर्त्ता के बनाये हुए होते हैं। पर ऐसी व्याप्ति बनाने से घट दृष्टान्त की क्या दशा होगी? घट कार्य है पर उसका कर्त्ता अशरीर नहीं है। शरीरधारी कुंभार घट बनाता है, यह लोक-प्रसिद्ध है।

पृथ्वी, पर्वत आदि को आप कार्य कहते हैं तो उनमें सर्वथा कार्यत्व है या कथञ्चित् कार्यत्व है? अगर सर्वथा कार्यत्व का आप विधान करते हैं तो हेतु असिद्ध है, क्योंकि द्रव्य की अपेक्षा पृथ्वी आदि में कार्यत्व नहीं हैं। द्रव्य नित्य होता है अतएव पृथ्वी आदि भी द्रव्य दृष्टि से नित्य हैं। अगर आप कथञ्चित् कार्यत्व सिद्ध करना चाहते हैं तो आपका हेतु विरुद्ध है अर्थात् आप एकान्त रूप से कर्त्ता सिद्ध करना चाहते हैं, पर कथंचित् कार्यत्व हेतु के द्वारा एकान्त से विरुद्ध कथंचित् कर्त्ता ही सिद्ध हो सकता है। इस प्रकार कार्यत्व हेतु दूपित होने के कारण वह ईश्वर को कर्त्ता सिद्ध करने में समर्थ नहीं है।

अब ईश्वर के विशेपणों पर विचार करना चाहिए। मतभेद के भय से ईश्वर को एक मानना उचित नहीं है। यह आवश्यक नहीं कि जहां अनेक कर्त्ता हों वहां मतभेद अवश्य हो। सैकड़ों, हजारों मधु-मक्खियां मिलकर एक छत्ते का निर्माण करती हैं, फिर भी सब छत्तों में सर्वत्र समानता पाई जाती है। कहीं भी विसदृशता नहीं देखी जाती। क्या ईश्वर मधु-मक्खियों से भी गये-बीते हैं कि वे अनेक मिल-कर पारस्परिक सहमति से सदृश कार्य नहीं कर सकते?

अगर यह कहा जाय कि छत्ता का कर्त्ता एक ईश्वर ही है, अनेक मधु-

मक्खियां नहीं हैं। इसी कारण सब जगह एक सरीखे छत्ते देखे जाते हैं; तो घड़े को बनाने वाला भी कुंभार न मानकर ईश्वर ही मान लीजिए। कपड़ा बनाने वाला भी ईश्वर ही है, जुलाहा नहीं। इस प्रकार भले-बुरे सभी कार्यों का कर्त्ता एक मात्र ईश्वर ही ठहरेगा। फिर समस्त लोक-व्यवहार ही असंगत सिद्ध होंगे। किसी भी कार्य के लिए किसी भी व्यक्ति को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकेगा! इस प्रकार उसकी एकता सिद्ध नहीं होती।

ईश्वर को व्यापक मानना भी युक्तिसंगत नहीं है। यदि ईश्वर शरीर से व्यापक है अर्थात् उसका शरीर समस्त लोक में व्याप्त है तब तो अन्य पदार्थों को स्थान ही नहीं मिलना चाहिए। सारा संसार ईश्वर के शरीर से ही खचाखच भर जायगा।

ईश्वर को व्यापक न माना जाय तो वह विभिन्न स्थानों और विभिन्न दिशाओं संबंधी कार्य एक साथ नहीं कर सकेगा, यह तर्क भी ठीक नहीं है क्योंकि ईश्वर अपने शरीर से कार्य करता है या संकल्प मात्र से? अगर शरीर से संसार की रचना करता है तब तो संसार को कभी पूर्ण रूपसे बना नहीं पाएगा। और यदि संकल्प से ही रचना करता है तो व्यापक मानने की आवश्यकता नहीं रहती। एक जगह स्थित होकर के भी संकल्प के द्वारा समस्त विश्व की रचना कर सकता है।

शरीर से व्यापक मानने से और भी अनेक बाधाएं उपस्थित होती हैं। यथा-व्यापक होने से उसका शरीर नरक आदि दुःखपूर्ण स्थानों में तथा अशुचिमय पदार्थों में भी रहेगा और इससे ईश्वर की विशुद्धता एवं आनन्दरूपता में व्याघात पड़ेगा।

ईश्वर को शरीर से नहीं किन्तु ज्ञान से व्यापक माना जाय तो ठीक है, पर आपके आगम से विरोध अवश्य आवेगा। आपके आगम में उसे शरीर से व्यापक माना गया है। अतएव न तो आप शरीर की अपेक्षा व्यापक मान सकते हैं और न ज्ञान की अपेक्षा ही।

आपका माना हुआ ईश्वर यदि स्वतंत्र है, अपनी इच्छा के अनुसार जगत् का निर्माण करता है, तो उसने संसार में दुःख का निर्माण क्यों किया है? एकान्त सुख-मय संसार की रचना क्यों नहीं की? आप उसे दयालु स्वीकार करते हैं, फिर संसार में दुःखों का अस्तित्व क्यों होना चाहिए? अगर यह कहा जाय कि ईश्वर, प्राणियों द्वारा उपार्जित शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार सुख दुःख का भोग कराता है। जिन्होंने पूर्व जन्म में पाप किये हैं उन्हें दुःख रूप फल देना आवश्यक है। तो ईश्वर स्वतंत्र नहीं ठहरता। वह जीव के कर्मों के अधीन है। जैसे कर्म होंगे, वैसा ही फल देने के लिए उसे बाध्य होना पड़ेगा। वह अपनी इच्छा के अनुसार फल नहीं दे सकता।

इसके अतिरिक्त ईश्वर करुणाशील है और सर्वशक्तिसम्पन्न भी है, ऐसा आप स्वीकार करते हैं। तब वह जीवों को पाप में प्रवृत्त क्यों होने देता है? पाप करने की बुद्धि को ही वह क्यों नहीं नष्ट कर देता? सर्वज्ञ होने के कारण वह सब कुछ

जानता है, सर्वशक्तिमान् होने के कारण वह सभी कुछ कर सकता है, फिर पाप करने से जीवों को रोकता क्यों नहीं है? क्या कोई भी पिता, अपने पुत्र को जान बूझ कर और रोकने का सामर्थ्य होने पर भी कुए में पड़ने देता है? वह परम पिता ईश्वर कैसा करुणाशील है जो पहले तो जान-बूझ कर पाप के साधन प्रस्तुत करता है, पाप--बुद्धि उत्पन्न करता है, फिर पाप में प्रवृत्त होने देता है–रोकने की शक्ति होने पर भी रोकता नहीं और टुकुर-टुकुर देखा करता है, अन्त में पाप का दंड देने के लिए तैयार हो जाता है। इस प्रकार का निर्दयतापूर्ण व्यवहार करने वाला पुरुष परम पिता और दयाशील कहा जाय तो क्रूर और शत्रु किसे कहेंगे!

इस कथन से यह स्पष्ट है कि या तो ईश्वर को स्वतंत्र नहीं स्वीकार करना चाहिए, या फिर उसकी दयालुता, सर्वशक्तिमत्ता आदि गुणों को तिलांजलि देनी चाहिए।

ईश्वर को सर्वज्ञ मानना भी उचित नहीं प्रतीत होता। ईश्वर अगर सर्वज्ञ होता और भूतकाल तथा भविष्काल की समस्त घटनाओं को जानता तो वह ऐसे प्राणियों की रचना कदापि न करता, जिनका उसे बाद में संहार करना पड़ता है, या जिनका निग्रह करने के लिए शूकर आदि के रूप में अवतरित होना पड़ता है। इसके अतिरिक्त ईश्वर-विरोधी मनुष्यों की भी वह सृष्टि न करता। ऐसे प्राणियों की उत्पत्ति यह सूचित करती है कि ईश्वर सर्वज्ञ नहीं है अथवा उसे यह अभीष्ट है कि जगत् में मेरे कर्त्तृत्व का विरोध किया जाय! इस प्रकार ईश्वर की सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होती।

सर्वज्ञता इतनी सूक्ष्म वस्तु है कि हम दूसरे की सर्वज्ञता अपने प्रत्यक्ष से जानने में सर्वथा असमर्थ हैं। कोई भी मनुष्य, दूसरे के ज्ञान का परिमाण प्रत्यक्ष से नहीं जान सकता। अतएव ईश्वर की सर्वज्ञता भी प्रत्यक्ष से नहीं जानी जा सकती।

अगर अनुमान प्रमाण से ईश्वर की सर्वज्ञता को जानना चाहें तो वह भी असंभव है। अनुमान से वही वस्तु जानी जाती है, जिसका अविनाभावी साधन निश्चित किया जा चुका है। अग्नि के अविनाभावी (आग के बिना कदापि न होने वाले) साधन धूम से अग्नि का निश्चय हो सकता है। परन्तु ईश्वर की सर्वज्ञता के बिना न होने वाली कोई भी वस्तु हमारे सामने नहीं है, जिससे (अग्नि की भांति) उस की सर्वज्ञता का अनुमान किया जाय।

अब एक आगम प्रमाण रह जाता है। आगम से आगम के वक्ता पुरुष के ज्ञान का पता चल जाता है, इसलिए कर्त्ता वादियों के आगम से उनका ईश्वर सर्वज्ञ सिद्ध होता है या नहीं, इसकी परीक्षा करना आवश्यक है। अगर आगम ईश्वर की सर्वज्ञता सिद्ध करता है तो वह किस का रचा हुआ है-ईश्वर का ही रचा हुआ है या अन्य किसी पुरुष का? अगर ईश्वरकृत आगम ही ईश्वर की सर्वज्ञता का साधक है, तब तो ईश्वर की महत्ता समाप्त हो जाती है। कोई भी महापुरुष अपने मुंह मिया मिठ्ठू नहीं बनता। इसके अतिरिक्त, ईश्वर आगम का प्रणेता नहीं हो सकता। आगम शब्द-स्वरूप है। शब्द तालु, कंठ, ओठ, आदि स्थानों से उत्पन्न होते हैं और तालु,

कंठ आदि शरीर में ही हो सकते हैं। आप ईश्वर को स-शरीर मानेंगे तो पहले कहे हुए अनेक दोष आ जाएंगे। अगर अशरीर मानते हैं तो वह शास्त्र--प्रणेता नहीं हो सकता। इस प्रकार ईश्वरकृत शास्त्र ईश्वर की सर्वज्ञता का साधक नहीं हो सकता।

अगर अन्य पुरुष का रचा हुआ आगम ईश्वर की सर्वज्ञता का समर्थक माना जाय, तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह पुरुष सर्वज्ञ है या असर्वज्ञ ? अगर सर्वज्ञ है तो वह भी ईश्वर हो जायगा, फिर ईश्वर अनेक हो जायेंगे। यदि उसे असर्वज्ञ माना जाए तो उसके वचनों पर विश्वास नहीं किया जा सकता। जो स्वयं असर्वज्ञ है, वह हम लोगों के ही सदृश है। उसके वचनों पर श्रद्धा करने का कोई कारण नहीं है।

इसके अतिरिक्त आपका आगम ईश्वर की सर्वज्ञता से विपरीत असर्वज्ञता ही सिद्ध करता है, क्योंकि उसमें पूर्वापर विरोध की प्रचुरता है। एक जगह लिखा है—

'न हिंस्यात् सर्वभूतानि।'

अर्थात् 'किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए।' दूसरी जगह अहिंसा के इस विधान के विरुद्ध घोर हिंसापरक यज्ञों का विधान किया गया है।

एक जगह 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' अर्थात् निपूते को उत्तम गति की प्राप्ति नहीं होती, यह कहकर सन्तानोत्पादन की अनिवार्यता बतलाई है, दूसरी जगह कुमार ब्रह्मचारियों का सद्गति का प्राप्त होना कहा गया है। यथा—

अनेकानि सहस्राणि, कुमारब्रह्मचारिणाम।
दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसन्ततिम्॥

अर्थात् कई हजार कुमार (कुंवारे) ब्रह्मचारी, अपने कुल की संतान उत्पन्न किये बिना ही स्वर्ग पहुंचे हैं।

इत्यादि अनेक परस्पर विरोधी विधान आपके आगम में विद्यमान हैं। इन आगमों का प्रणेता यदि सर्वज्ञ होता तो इस प्रकार की विरोधी बातें उनमें उपलब्ध न होतीं। इससे स्पष्ट है कि आपका भी आगम उसके कर्त्ता की सर्वज्ञता प्रमाणित नहीं करता। अतएव ईश्वर की सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होती।

इस प्रकार ईश्वर की नित्यता भी युक्तिसंगत नहीं ठहरती। देववाद के प्रकरण में देव की नित्यता पर जिस प्रकार विचार किया है, उसी प्रकार यहां भी करना चाहिए।

ईश्वर को एकान्त नित्य मानने वालों से यह भी पूछा जा सकता है कि जगत् का निर्माण करना ईश्वर का स्वभाव है या नहीं? अगर निर्माण करना उसका स्वभाव है, तो ईश्वर की तरह उसका स्वभाव भी नित्य ही होगा और इस कारण वह सदैव जगत की उत्पत्ति करता रहेगा-कभी समाप्ति नहीं करेगा। अगर कभी निर्माण की क्रिया समाप्त करेगा तो उसका स्वभाव नष्ट हो जायगा और उस अवस्था में ईश्वर भी अनित्य ठहरेगा। ईश्वर को अनित्य मानने में क्या बाधाएं हैं, यह देव के

प्रकरण में बतलाया जा चुका है।

सृष्टि की रचना करना ईश्वर का स्वभाव न माना जाय तो ईश्वर कभी रचना ही न करेगा। ईश्वर से अधिक शक्तिशाली अन्य कोई वस्तु नहीं है, जो बलात्कार करके ईश्वर से जगत् का निर्माण करावे। अगर ऐसी कोई वस्तु मानी जाय तो वही वास्तव में ईश्वर कहलाएगी। बेचारा ईश्वर तो उसकी कठपुतली है, जिसे वह मनमाना नाच नचाती है।

इसके अतिरिक्त ईश्वर को एकान्त नित्य माना जाय तो वह सृष्टि की तरह संहार नहीं कर सकेगा। अन्यथा, कभी सृष्टि करने और कभी संहार करने के कारण वह अनित्य हो जायगा।

नित्य होते हुए भी ईश्वर अगर सृष्टि और संहार दोनों कार्य करता है तो यह आशंका होती है कि दोनों कार्य एक स्वभाव से करता है या भिन्न-भिन्न स्वभावों से? दोनों कार्य यदि एक ही स्वभाव से करता है तो सृष्टि और संहार एक ही साथ होने चाहिए। एक स्वभाव से होने वाले दो कार्य भिन्न-भिन्न समयों में नहीं हो सकते। इसके विपरीत जो कार्य भिन्न समयों में होते हैं उन्हें एक स्वभावजन्य नहीं माना जा सकता।

सृष्टि करते समय ईश्वर का स्वभाव अन्य होता है और संहार करते समय अन्य होता है ऐसा मानने से ईश्वर में अनित्यता आ जायगी। ईश्वर कभी रजोगुण से युक्त होकर सृष्टि करता है और कभी तमोगुण से युक्त होकर संहार करता है, तो वह नित्य किस प्रकार कहला सकता है?

अगर यह कहा जाय कि रजोगुण एवं तमोगुण ईश्वर की दो अवस्थाएं हैं। अवस्थाएं अनित्य हैं—उत्पन्न होती रहती हैं और नष्ट भी होती रहती हैं। फिर भी अवस्थावान् ईश्वर सदा सर्वदा एक-सा बना रहता है। उसमें रंचमात्र भी परिवर्त्तन नहीं होता।

यह समाधान ठीक नहीं कहा जा सकता। अवस्थाओं के भेद से अवस्थावान् में भी भेद होना अनिवार्य है। जब कोई वस्तु एक अवस्था को छोड़ कर दूसरी अवस्था प्राप्त करती है अर्थात् रूपान्तरित होती है, तब वह उस वस्तु का भी रूपान्तर कहलाता है। अगर ऐसा न माना जाय तो कोई भी वस्तु अनित्य नहीं होगी। क्योंकि कोई भी मूल वस्तु कभी बदलती नहीं है। प्रत्येक वस्तु की अवस्थाएं ही बदलती रहती हैं। वास्तव में अवस्थाएं और अवस्थावान् पदार्थ कथंचित् अभिन्न है, अतएव एक का परिवर्तन दूसरे का भी परिवर्तन माना जाता है।

तर्क के खातिर ईश्वर को नित्य मान लिया जाय तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह सदैव सृष्टिनिर्माण में क्यों नहीं लगा रहता? जब ईश्वर नित्य है तो उस का सृष्टिकार्य भी नित्य ही होना चाहिए।

इस प्रश्न का उत्तर यदि यह दिया जाय कि ईश्वर अपनी इच्छा के अनुसार

सृष्टि रचना है। जब उसकी इच्छा होती है तब रचता है, जब इच्छा नहीं होती तब नहीं रचता। तो यह पूछा जा सकता है कि ईश्वर की इच्छा यदि स्वयमेव-विना किसी बाह्य कारण के उत्पन्न होती है तो वह सदैव क्यों नहीं उत्पन्न होती ? उसके कभी-कभी उत्पन्न होने का क्या कारण है ? जिसकी उत्पत्ति किसी अन्य कारण पर निर्भर नहीं है, वह सदा उत्पन्न होनी चाहिए।

उल्लिखित प्रकार से विचार करने पर ईश्वर की नित्यता भी खंडित हो जाती है। अतएव उपर्युक्त विशेषणों से विशिष्ट ईश्वर को जगत् का कर्त्ता मानना तर्क-संगत नहीं है।

संसार के समस्त प्राणी स्वार्थसिद्धि के लिए किसी कार्य में प्रवृत्त होते हैं या करुणा-बुद्धि से प्रवृत्ति करते हैं। यहां यह विचारणीय है कि ईश्वर किस उद्देश्य से जगत् का निर्माण करता है ? ईश्वर कृतकृत्य है, उसे कुछ प्राप्त नहीं करना है, उसके लिए कुछ भी साध्य शेष नहीं रहा है। ऐसी स्थिति में वह स्वार्थ से प्रेरित होकर जगत् का निर्माण नहीं कर सकता।

रही करुणा-बुद्धि। सो दूसरे के दुःख को दूर करना करुणा है। जगत् का निर्माण करने से पहले, जीवों को किसी प्रकार का दुःख नहीं था, तब उसने क्यों सृष्टि उत्पन्न की ?

शंका—सृष्टि से पहले जीव दुखी क्यों नहीं थे ?

समाधान—जब शरीर होता है, इन्द्रियां होती हैं और इन्द्रियों के विषय होते हैं, तभी दुःख की उत्पत्ति होती है। इन सब के अभाव में कोई जीव दुःखी नहीं हो सकता। सृष्टि रचने से पूर्व इन सब का अभाव था, अतएव दुःख का भी अभाव था। इस प्रकार जब दुःख ही विद्यमान न था तब किसका नाश करने के लिए ईश्वर में करुणा की भावना उत्पन्न हुई होगी ? इस प्रकार सृष्टि-रचना का उद्देश्य ही स्थिर नहीं हो पाता।

तात्पर्य यह है कि ईश्वर को जगत् का कर्त्ता मानने में अनेक आपत्तियां हैं, जिनका निराकरण नहीं, हो सकता। यही नहीं, इससे ईश्वर का स्वरूप विकृत हो जाता है और उसे अनेक दोषों का पात्र बनना पड़ता है। अतएव ईश्वर को जगत् का कर्त्ता कहना अज्ञानमूलक मृषावाद है।

सांख्यदर्शन के अनुयायी कहते हैं कि यह लोक प्रधान आदि के द्वारा रचा गया है। यहां 'आदि' शब्द से काल, स्वभाव, यदृच्छा और नियति का ग्रहण किया गया है।

सांख्य दर्शन में प्रकृति एक मूल तत्त्व है, जिससे यह विशाल जगत् उत्पन्न हुआ बतलाया जाता है। सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की साम्य अवस्था प्रकृति कहलाती है। इन गुणों का जब वैषम्य होता है तो सृष्टि का आरंभ होता है। सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार है—

प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात्, पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥

अर्थात्—मूल प्रकृति से सर्वप्रथम बुद्धि तत्त्व उत्पन्न होता है (प्रकृति जड़ है। अतएव उससे उत्पन्न होने वाली बुद्धि को भी सांख्य दर्शन में जड़ माना गया है) बुद्धि तत्त्व में से अहंकार की उत्पत्ति होती है। अहंकार में से पांच कर्मेन्द्रियां, अर्थात् वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ, पांच स्पर्शन आदि ज्ञानेन्द्रिय, पांच तन्मात्राएं (रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द) और मन यह सोलह पदार्थ उत्पन्न होते हैं। पांच तन्मात्राओं से पृथ्वी आदि पांच भूत उत्पन्न होते हैं। अर्थात् शब्द तन्मात्र से आकाश, शब्द और स्पर्श तन्मात्रा से वायु, शब्द, स्पर्श और रूप तन्मात्रा से अग्नि, पूर्वोक्त तीनों के साथ रस तन्मात्रा से जल और पांचों तन्मात्राओं से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है।

प्रकृति के जगत्-कर्त्तृत्व पर अलग विचार करने की आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि ईश्वर के जगत्-कर्तृत्व में जो दोष आते हैं, उसी प्रकार के दोष यहां भी उपस्थित होते हैं। फिर भी संक्षेप में इस सिद्धान्त पर भी विचार कर लेना उचित होगा।

सांख्य प्रकृति को एकान्त नित्य स्वीकार करते हैं। प्रकृति की नित्यता स्वीकार करते हुए उसे जगत् का कर्त्ता मानने में वही दोष हैं जो ईश्वर को सर्वथा नित्य मानने में आते हैं। इसके अतिरिक्त प्रकृति यदि एकान्त नित्य है तो वह बुद्धि आदि अनित्य पदार्थों का उपादान कारण नहीं हो सकती। एकान्त नित्य होने के कारण प्रकृति सदैव एक रूप रहेगी। वह अपने पूर्व स्वभाव का परित्याग नहीं करेगी और उत्तर स्वभाव को ग्रहण नहीं करेगी ऐसी स्थिति में या तो वह सदैव बुद्धि आदि को उत्पन्न करती रहेगी या कभी उत्पन्न नहीं करेगी।

इसके अतिरिक्त प्रकृति मूर्त्त है या अमूर्त्त है? अगर अमूर्त्त है तो उससे अमूर्त पदार्थ ही उत्पन्न हो सकते हैं, समुद्र आदि मूर्त्त पदार्थ नहीं हो सकते। अमूर्त्त उपादान से मूर्त्त उपादेय का उत्पन्न होना असंभव है। प्रकृति को यदि मूर्त्त माना जाय तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रकृति आई कहां से? उसका उत्पादक कौन है? अगर प्रकृति स्वयमेव उत्पन्न हो जाती है, तो लोक भी स्वयमेव क्यों न उत्पन्न हुआ मान लिया जाय? प्रकृति की उत्पत्ति किसी अन्य पदार्थ से मानना भी उचित नहीं है। ऐसा मानना सांख्य-सिद्धान्त के विरुद्ध है और इससे प्रकृति की नित्यता नष्ट हो जायगी।

शंका—प्रकृति न स्वयं उत्पन्न होती है, न परपदार्थ से उत्पन्न होती है। वह सदा से है और सदा रहेगी। ऐसा मानने में क्या आपत्ति है?

समाधान—प्रकृति की नित्यता सिद्ध नहीं होती, यह पहले कहा जा चुका है। दूसरे, जैसे प्रकृति स्वतः सिद्ध अनादि निधन है, उसी प्रकार लोक को अनादि निधन मान लेने में क्या बाधा है?

प्रकृति के विषय में यह भी विचारणीय है कि, वह जब अचेतन है तो पुरुष का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए किस प्रकार प्रवृत्ति कर सकती है? अचेतन होने के कारण उसे यह कैसे ज्ञान होगा कि 'पुरुष' का प्रयोजन सिद्ध करना चाहिए? प्रवृत्ति करने के पश्चात्, जब पुरुष का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, तब प्रकृति अपनी प्रवृत्ति रोक देती है। अचेतन प्रकृति में इस प्रकार चेतनमय की क्रियाएं मान लेना सर्वथा असंगत है। प्रकृति अगर प्रवृत्ति करती है तो वह नित्य होने के कारण प्रवृत्ति से कदापि उपरत न होगी और पुरुष का प्रयोजन सिद्ध होने पर भी प्रवृत्ति करती रहेगी। इस प्रकार विचार करने से प्रधान के द्वारा जगत् का निर्माण होना सिद्ध नहीं होता।

आदि शब्द से सूत्रकार ने स्वभाववाद, कालवाद, नियतिवाद आदि पर प्रकाश डाला है। तात्पर्य यह है कि कोई स्वभाव से सृष्टि की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं, कोई काल से, और कोई नियति आदि से। स्वभाववादी कहता है—

हन्तीति मन्यते कश्चित्, न हन्तीत्यपि चापरः।
स्वभावतस्तु नियतौ, भूतानां प्रभवात्ययौ॥

अर्थात् कोई यह समझता है कि यह इसका वध करता है, दूसरा समझता है कि इसने इसका वध नहीं किया है, पर यह मान्यताएं मिथ्या हैं। वास्तव में जीवों का जन्म और मरण स्वभाव से ही नियत हैं।

कालवादी का कथन है—

कालो हि भूमिमसृजन, काले तपति सूर्यः।
काले हि विश्वाभूतानि, काले चक्षुर्विपश्यति॥

अर्थात् काल ने पृथ्वी की सृष्टि की है। काल के आधार पर सूर्य तपता है। काल के आधार पर ही समस्त भूत टिके हुए हैं और काल के कारण ही चक्षु देखती है। अर्थात् जगत् के सभी व्यवहारों का कारण काल ही है। इसी प्रकार—

जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः।

अर्थात् समस्त उत्पन्न होने वाले पदार्थों का उत्पादक काल ही है और वही तीनों लोकों का आधार है।

आजीवक मत नियतिवाद का समर्थन करता है। वह अपना समर्थन इस प्रकार करता है:—

प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण,
योऽर्थः सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा।
भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने,
नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः॥

अर्थात्—नियति के बल से, जीवों को जो शुभ या अशुभ प्राप्त होना है, वह

अवश्य ही प्राप्त होता है। कोई पुरुष कितना ही महान् प्रयत्न क्यों न करे, किन्तु जो होनहार है वह मिट नहीं सकता—होकर ही रहता है।

नियतिवाद का अर्थ है होनहार का सिद्धान्त स्वीकार करना। नियतिवादी कहते हैं—

न तं सयं कडं दुक्खं कओ अन्नकडं च णं?
सुहं वा जइ वा दुक्खं, सेहियं वा असेहियं॥
सयं कडं न अन्नेहिं, वेदयंति पुढो जिया।
संगइयं तहा तेसिं, इहमेगेसिमाहियं॥

अर्थात्—सुख और दुःख अपने पुरुषार्थ से उत्पन्न नहीं होते हैं, तो दूसरे के पुरुषार्थ से तो हो ही कैसे सकते हैं? अतएव मुक्ति संबंधी और संसार संबंधी सुख तथा दुःख न अपने पुरुषार्थ से उत्पन्न करके जीव भोगते हैं, न दूसरे के पुरुषार्थ से उत्पन्न करके भोगते हैं। सुख और दुःख सांगतिक हैं—नियति से प्राप्त हैं, ऐसा किन्हीं (नियतिवादियों) का कथन है।

यदृच्छावादी, बिना किसी कारण के ही कार्य की उत्पत्ति होना मानते हैं। कांटे का तीखापन जैसे बिना किसी कारण के उत्पन्न होता है, उसी प्रकार संसार के सभी कार्य बिना कारण ही उत्पन्न होते हैं। कहा भी है—

पुरुषस्य हि दृष्ट्वेमामुत्पत्तिमनिमित्ततः
यदृच्छया विनाशं च शोकहर्षावनर्थकौ॥

अर्थात्—मनुष्य की बिना किसी कारण के उत्पत्ति और बिना कारण मृत्यु देख कर शोक एवं हर्ष का अनुभव करना वृथा है।

वास्तव में कार्य की उत्पत्ति में स्वभाव, काल आदि सभी कथंचित् कारण होते हैं। उनमें से अन्य कारणों को अस्वीकार करके किसी एक कारण को स्वीकार कर लेना सत्य नहीं है। इसी कारण इन सब वादों को मिथ्यावाद कहा गया है। इन का विचार पहले किया जा चुका है, अतएव यहां पिष्टपेषण नहीं किया जाता।

किसी-किसी ने जगत् की उत्पत्ति स्वयंभू से बतलाई है। कहा भी है—

ततः स्वयंभूर्भगवान् अव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादि वृत्तौजाः, प्रादुरासीत्तमो नुदः।
सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ, तासु बीजमवासृजत्॥

अर्थात् स्वयंभू पहले अव्यक्त अवस्था में था। वह बाह्य इन्द्रियों के अगोचर था। वह पांच महाभूतों को सूक्ष्म से स्थूल अवस्था में लाने वाला तथा तम अर्थात् प्रलय का अन्त करने वाला प्रकट हुआ। अव्यक्त अवस्था से व्यक्त अवस्था में आया। उसके पश्चात् उसे प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा हुई। उसके संकल्प करते ही उसके शरीर से सर्व प्रथम जल की उत्पत्ति हुई। जल उत्पन्न होने के पश्चात् स्वयंभू ने उसमें

शक्ति रूप बीज का आरोपण कर दिया।

यह मान्यता भी सत्य से विपरीत है। सर्वप्रथम देखना चाहिए कि स्वयंभू का अभिप्राय क्या है ? स्वयंभू शब्द का अर्थ है 'स्वयं' होने वाला। स्वयंभू जब उत्पन्न होता है तब स्वयं अर्थात् दूसरे कारण के बिना ही उत्पन्न होता है या अनादिकाल से उसका अस्तित्व है।

स्वयंभू अगर बिना किसी कारण के अपने आप उत्पन्न हो सकता है तो लोक भी स्वयं क्यों नहीं उत्पन्न हो सकता ? स्वयंभू की उत्पत्ति के लिए अगर किसी कर्त्ता की आवश्यकता नहीं है तो लोक की उत्पत्ति के लिए कर्त्ता की आवश्यकता क्यों समझी जाती है।

इसके अतिरिक्त पृथ्वी आदि भूतों की उत्पत्ति बाद में हुई है तो स्वयंभू का शरीर किन उपादानों से बना होगा ? बिना उपादान कारण के किसी कार्य की उत्पत्ति होना संभव नहीं है। शून्य से कोई सत् पदार्थ उत्पन्न नहीं होता।

स्वयंभू को शरीर रहित मानना भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि बिना शरीर के वह स्थूल रूप धारण नहीं कर सकता और आप स्वयं सूक्ष्म रूप त्याग कर स्थूल (व्यक्त) रूप धारण करना मानते हैं। ऐसी अवस्था में स्वयंभू की उत्पत्ति ही नहीं सिद्ध होती, तो उससे जगत् की उत्पत्ति किस प्रकार सिद्ध हो सकती है ?

स्वयंभू को अनादि कालीन मानने पर उसे नित्य स्वीकार करना होगा और एकान्त नित्य स्वयंभू अव्यक्त से व्यक्त अवस्था को कैसे प्राप्त हो सकेगा ! इसके अतिरिक्त नित्य मानने से ईश्वर और देव के प्रकरण में जो बाधाएं उपस्थित की गई हैं वही सब यहां भी उपस्थित होती हैं। ईश्वर प्रकरण में जिस प्रकार ईश्वर के कर्तृत्व पर विचार किया गया है, उसी प्रकार स्वयंभू के कर्तृत्व पर भी विचार करना चाहिए।

स्वयंभू ने मृत्यु की उत्पत्ति की और मृत्यु प्रजा का संहार करने लगी, यह कथन भी निराधार है। किसी चीज को बना कर फिर बिगाड़ना बुद्धिमान् पुरुष के योग्य नहीं है। या तो अज्ञान के कारण अन्यथा रूप वस्तु बन जाय तो उसे बिगाड़ा जाता है या बच्चों की तरह कौतूहल से बनाने-बिगाड़ने की क्रिया होती है। स्वयंभू को न तो अज्ञान माना है और न बच्चों की तरह कौतूहल-प्रिय ही। फिर उसने सृष्टि करके उसका संहार करने के लिए काल की उत्पत्ति क्यों की ? अगर उसकी बनावट बुरी नहीं थी तो उसे बिगाड़ने की क्या आवश्यकता थी ?

यह कहना व्यर्थ है कि पृथ्वी का भार उतारने के लिए उसने काल का निर्माण किया है। स्वयंभू अगर समझदार है तो उसे इतने ही पदार्थों का निर्माण करना चाहिए, जितने पदार्थों का भार भूमि संभार सके। अधिक बनाने की आवश्यकता ही क्या है ? अगर किसी कारण से अधिक पदार्थ बन गये तो भूमि को अधिक भार सहने में समर्थ बना सकता था। तात्पर्य यह है कि स्वयंभू को जगत् का स्रष्टा और संहारक मानने से उसमें अज्ञानता, बालसुलभ चपलता आदि अनेक दोषों का प्रसंग

आता है। अतएव उसके द्वारा काल आदि की सृष्टि करना सर्वथा निराधार है। संहार कर्त्ता मानने से वह निर्दय, हिंसक भी सिद्ध होता है, अतएव स्वयंभूवाद भी मृषावाद है।

इसी प्रकार अंडे से जगत् की सृष्टि मानना भी मिथ्या है। जब लोक सभी पदार्थों से शून्य था, तब ब्रह्मा ने जल में अंडा उत्पन्न किया, ऐसा कहा जाता है, परन्तु सृष्टि से पहले जल कहां से आ गया? जल अगर सृष्टि से पहले ही विद्यमान था, उसे ब्रह्मा ने नहीं बनाया तो उसी प्रकार अन्य पदार्थों का भी अस्तित्व क्यों न माना जाय? इसके अतिरिक्त जल उस समय कहां था-किस आधार पर ठहरा था? जल का अस्तित्व मानने पर उसका आधार भी कुछ मानना ही पड़ेगा। वह आधार पृथ्वी आदि कोई पदार्थ ही हो सकता है और उसे भी सृष्टि से पहले स्वीकार करना चाहिए।

यह पहले कहा जा चुका है कि विना उपादान कारण के किसी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। इस नियम के अनुसार अंडा बनाने के लिए अपेक्षित उपादान कारण भी पहले ही विद्यमान होने चाहिए। और यह सब पदार्थ, विना आकाश के ठहर नहीं सकते, अतएव इन्हें अवकाश देने वाला आकाश भी अंडे से पहले ही स्वीकार करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त ब्रह्मा पहले अंडा बनाता है फिर उससे अन्य पदार्थों का निर्माण करता है, सो इस क्रम की आवश्यकता क्यों है? जब तक वह अंडा बनाता है तब तक लोक की ही सृष्टि क्यों नहीं कर देता?

ब्रह्मा सशरीर है या अशरीर है? नित्य है या अनित्य है? इत्यादि प्रश्नों पर जिस प्रकार पहले ईश्वर के विषय में विचार किया गया है, उसी प्रकार यहां भी विचार करना चाहिए।

इसी प्रकार ब्रह्मा ने तत्त्वों की सृष्टि की, यह कथन भी मिथ्या है, इस पर अब विचार करना अनावश्यक है।

उल्लिखित विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि सृष्टि रचना के संबंध में अनेक वादियों ने जो कल्पनाएं की हैं, वे युक्ति से सर्वथा विपरीत हैं और उनमें सत्य का लेश मात्र भी नहीं है। यह सब कथन अज्ञानमूलक है, मृषा है। इस विषय में सत्य क्या है? लोक की रचना हुई है या नहीं? अगर हुई तो किस प्रकार? इत्यादि प्रश्नों का समाधान सूत्रकार ने अगली गाथा में किया है।

मूलः—सएहिं परियायेहिं, लोयं बूया कडेत्ति य।
तत्तं ते ण विजाणंति, ण विणासी कयाइ वि ॥ २१ ॥

छायाः—स्वकैः पर्यायैर्लोकमब्रुवत् कृतमिति।
तत्त्वं ते न विजानन्ति, न विनाशी कदापि च ॥ २१ ॥

शब्दार्थः—पूर्वोक्त वादी अपने-अपने अभिप्राय के अनुसार लोक को रचा हुआ

बतलाते हैं, किन्तु वे तत्त्व के ज्ञाता नहीं है--वास्तविकता को नहीं जानते। वास्तविकता यह है कि लोक कभी विनाशी नहीं है।

भाष्य—अनन्तर गाथाओं में देववादी, ब्रह्मवादी, ईश्वरवादी, प्रधानवादी, स्वभाववादी, कालवादी, नियतिवादी, यदृच्छावादी, स्वयंभूवादी, और अण्डवादी, लोगों की कल्पनाओं का दिग्दर्शन कराया जा चुका है और उन कल्पनाओं की संक्षिप्त समालोचना भी की जा चुकी है उससे यह स्पष्ट हो चुका है कि इन वादियों को सृष्टि संबंधी वास्तविकता का ज्ञान नहीं है।

पूर्वोक्त सभी वादी वेद के अनुयायी हैं, वेद को प्रमाण मानते हुए अपने सिद्धान्तों का कथन करते हैं। फिर भी उनमें इतना अधिक मतभेद है। यह मतभेद ही इस बात को प्रमाणित करता है कि उनमें से किसी को सचाई का पता नहीं चला है और जिसके जी में जो बात जंच गई, उसने वही बात मान ली है। अन्यथा इतने अधिक मतभेद न होते और आपस में ये लोग एक दूसरे के मत पर आक्रमण न करते। सृष्टि से पूर्व कौन-सा तत्व था, इस संबंध में भी इनमें एक मत नहीं है और सृष्टि रचना के संबंध में भी यह सब विभिन्न मत प्रदर्शित करते हैं। कोई कहता है—

'असद्वा इदमग्र आसीत्।'

अर्थात् सृष्टि से पहले यह जगत् असत् रूप था।

इसके विरुद्ध दूसरा कहता है—

'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्।'

अर्थात्—हे सौम्य! यह जगत् पहले सत् रूप था। किसी का कहना है कि सृष्टि से पहले आकाश तत्त्व था—'आकाशःपरायणम्।' तो कोई कहता है—

'नैवेह किञ्चनाग्र आसीत्, मृत्युनैवेदमावृतमासीत्।'

अर्थात् सृष्टि से पहले कुछ भी नहीं था, मृत्यु से व्याप्त था—सब कुछ प्रलय के समय नष्ट हो चुका था।

इस प्रकार सृष्टि से पहले क्या था, इस संबंध में जैसे अनेक कल्पनाएं की गई हैं, उसी प्रकार सृष्टि के आरंभ के विषय में भी अनेक कल्पनाएं की गई हैं। पर यहां उनका वर्णन करने से अधिक ग्रंथ-विस्तार होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि यह सब मतभेद सूचित करते हैं कि सचाई किसी ने भी नहीं पाई। सभी ने अपनी कल्पना की दौड़ लगाई है और जिसे जैसा जान पड़ा, उसने वैसा ही बखान कर दिया है। इसीलिए सूत्रकार कहते हैं कि—'तत्तं ते ण विजाणंति।' अर्थात् वे सब लोग तत्व की बात नहीं जानते।

तत्व की बात क्या है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि तत्व यह है कि लोक कभी नष्ट नहीं होता।

जड़ और चेतन का समूह लोक कहलाता है। संसार में जो अपरिमित—

असंख्य पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं, उनका वर्गीकरण किया जाय तो उन समस्त पदार्थों के दो ही वर्ग बन सकते हैं—एक जड़ और दूसरा चेतन। कीट, पतंग, पशु, पक्षी, देव, नारकी मनुष्य आदि जीव चेतन वर्ग में समाविष्ट होते हैं और उनसे पृथक रहने वाले अन्य समस्त पदार्थ अचेतन—जड़—में सम्मिलित हो जाते हैं। इन दो मूल वस्तुओं के अतिरिक्त तीसरी वस्तु कहीं भी उपलब्ध नहीं होती।

उक्त दोनों जड़ और चेतन वस्तुओं में विविध प्रकार के रूपान्तर अनेक कारणों से होते रहते हैं। एक जड़ पदार्थ, जब दूसरे जड़ पदार्थ के साथ मिलता है, तब दोनों में या दोनों में से किसी एक में रूपान्तर हो जाता है। इसी प्रकार जड़ पदार्थों के संयोग से चेतन में रूपान्तर हो जाता है। कपास के बीज से कपास का पौधा उत्पन्न होता है। वह प्राकृतिक गर्मी, सर्दी, तथा पानी और मिट्टी आदि के संयोग से अनेक अवस्थाएं धारण करता हुआ फलों से सुशोभित हो जाता है। मनुष्य उन फलों में से कपास चुगता है। कपास को औंटकर रुई बनाता है। रुई कातकर उससे सूत बनाता है और फिर उससे वस्त्र तैयार कर लेता है। इस प्रकार अनेक रूपान्तर होने के पश्चात् बना हुआ वस्त्र कुछ समय में चींथड़ा हो जाता है और फिर उससे कागज आदि अनेक वस्तुएं निर्मित हो जाती हैं। कागज यदि अग्नि के अर्पण कर दिया जाय तो उससे राख बन जाएगी और वह राख मिट्टी के वर्त्तन आदि अनेक रूपों में परिणत हो सकती है। इस प्रकार कपास के बीज की पर्याय-परम्परा चलती रहेगी। अनन्त काल तक चलती जायगी।

यह एक उदाहरण है। इसी प्रकार अन्य समस्त वस्तुएं परिवर्त्तनशील हैं और उनकी पर्यायों की परम्परा भी अनन्त काल तक चालू रहती है। पर्याय-परम्परा जैसे अनन्त समय तक जारी रहने वाली है उसी प्रकार वह आज या कल से जारी नहीं है, बल्कि अनादिकाल से चली आ रही है। उसका कभी आरंभ नहीं होता, कभी अंत नहीं होता।

ऊपर जिन पर्यायों के परिवर्त्तन का उल्लेख किया गया है वे सब स्थूल पर्यायें हैं—ऐसी स्थूल जो हमारी दृष्टि में आ सकती हैं। एक स्थूल पर्याय से दूसरी स्थूल पर्याय तक के समय में अनेकानेक सूक्ष्म पर्यायें भी होती हैं, जो वस्तु की आकृति बदलने में समर्थ नहीं होती और केवल एक क्षण भर स्थिर रहती हैं। उन्हें हम देख नहीं पाते, परन्तु उनकी कल्पना अवश्य कर सकते हैं।

इन सब पर्यायों के परिवर्त्तन होते रहने पर भी हम स्पष्ट रूप से उनमें रहने वाली अनुगत सत्ता देखते हैं। अर्थात् आकृति में विकृति हो जाने पर भी मूल वस्तु विद्यमान रहती है, उसका विनाश कदापि नहीं होता। जैन परिभाषा में इस अनुगत सत्ता को द्रव्य कहते हैं।

ऊपर विश्व की समस्त वस्तुओं को दो वर्गों में बांटा गया था, उन्हीं को किंचित् विस्तार से छह भेदों में विभक्त किया जाता है और वही षट् द्रव्य कहलाती हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि षट् द्रव्य ही लोक है। जीव, पुद्गल,

धर्म, अधर्म, आकाश और काल यह छह द्रव्य हैं। यह द्रव्य अनादिकालीन हैं और अनन्तकाल तक स्थिर रहेंगे। अतएव लोक भी अनादि अनन्त है।

पर्यायों की दृष्टि से अवश्य उसकी उत्पत्ति भी होती है और नाश भी होता है परन्तु उस उत्पत्ति और विनाश के लिए न तो ब्रह्मा की आवश्यकता है, न स्वयंभू की। उसके लिए ईश्वर की भी अपेक्षा नहीं है और न देव की ही। यह जड़ और चेतन पदार्थ स्वयं किया करते हैं और अधिकांश में हम स्वयं ऐसा अनुभव कर सकते हैं।

इस तथ्य को न समझकर ही लोग अपनी कल्पना के घोड़े दौड़ाते हैं और नाना प्रकार के मिथ्या सिद्धान्तों का प्रणयन करते हैं। वस्तुतः लोक द्रव्य दृष्टि से विनाशी नहीं है—अविनश्वर है और जब उसका कभी विनाश नहीं होता तो उत्पाद की कथा ही क्या है?

सूत्रकार ने लोक को द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा अविनाशी कहा है, यद्यपि पर्यायार्थिक नय से उसका प्रतिक्षण उत्पाद और विनाश होता रहता है। किन्तु यह उत्पाद और विनाश, जैसा कि पहले कहा गया है, मूल वस्तुओं का—द्रव्यों का—नहीं समझना चाहिए। कोई भी सत् पदार्थ कभी असत् नहीं हो सकता और असत् कभी सत् नहीं बन सकता। अतएव अन्य लोगों की सृष्टि और प्रलय की कल्पना भिन्न है और उत्पाद एवं विनाश का सिद्धान्त भिन्न है।

'ण विणासी कयाइ वि' यहां 'विणासी' में 'वि' (विशेष रूप से) उपसर्ग है। विशेष रूप से अर्थात् निरन्वय रूप से—समूल—नाश होने को यहां विनाश कहा गया है। तात्पर्य यह है कि लोक कभी समूल नष्ट नहीं होता, सत् से असत् नहीं बन जाता। पर्यायदृष्टि से, पूर्व पर्याय का नाश होने पर भी विनाश अर्थात् सर्वथा नाश कदापि नहीं हो सकता है।

उल्लिखित विवेचन से लोक की ईश्वर आदि के द्वारा सृष्टि मानना और प्रलय की कल्पना करना मृषावाद है, यह सिद्ध है।
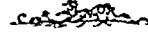
निर्ग्रन्थ-प्रवचन-ग्यारहवां अध्याय समाप्त

॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

॥ बारहवां अध्याय ॥

लेश्या-स्वरूप निरूपण

श्री भगवान्-उवाच—

मूलः—किरहा नीला य काऊ य, तेऊ पम्हा तहेव य।
सुक्कलेसा य छट्ठा य, नामाइं तु जहक्कमं ॥ १ ॥

छायाः-कृष्णा नीला च कापोती च, तेजः पद्मा तथैव च।
शुक्ललेश्या च षष्ठी च, नामानि तु यथाक्रमम् ॥ १ ॥

शब्दार्थः—हे इन्द्रभूति ! लेश्याओं के यथाक्रम नाम इस प्रकार हैं—(१) कृष्ण लेश्या (२) नील लेश्या (३) कापोती लेश्या (४) तेजो लेश्या (५) पद्म लेश्या और छठी (६) शुक्ल लेश्या।

भाष्यः—ग्यारहवें अध्ययन में भाषा का स्वरूप निरूपण किया गया है। भाषा-शुद्धि संयम के लिए आवश्यक है उसी प्रकार लेश्या की शुद्धि भी सद्गति लाभ के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अतः प्रस्तुत अध्ययन में लेश्या का निरूपण किया जाता है।

'लेश्या' शब्द 'लिश्' धातु से बना है। 'लिश्' का अर्थ है-चिपकना, संबद्ध होना। अर्थात् जिसके द्वारा कर्म आत्मा के साथ चिपकते हैं-बंधते हैं-उसे लेश्या कहते हैं। लेश्या आत्मा का शुभ या अशुभ परिणाम है।

लेश्या मूलतः दो प्रकार की होती है—(१) द्रव्यलेश्या और (२) भावलेश्या।

द्रव्यलेश्या क्या वस्तु है, इस विषय में आचार्यों के अभिप्रायों में कुछ भिन्नता है। किसी-किसी आचार्य के मत से द्रव्यलेश्या कर्म-वर्गणा से निष्पन्न द्रव्य है। द्रव्य-लेश्या यद्यपि कर्मवर्गणा से बनी है, फिर भी वह वर्गणा आठ कर्म से अलग है, जैसे कार्माण शरीर की वर्गणा। दूसरे आचार्य द्रव्यलेश्या को कर्म-निष्यन्द रूप मानते हैं। किन्हीं-किन्हीं आचार्यों ने द्रव्यलेश्या को योगवर्गणा के अन्तर्गत स्वतंत्र द्रव्य रूप स्वीकार किया है। किन्तु द्रव्यलेश्या पौद्गलिक है, यह विषय निर्विवाद है।

लेश्या के द्रव्य, कषाय को भड़काते हैं—उत्तेजित करते हैं। जैसे पित्त के प्रकोप से क्रोध की वृद्धि होती है उसी प्रकार लेश्याद्रव्यों से कषाय में उत्तेजना आती है। लेश्या अनुभागबंध का कारण है।

मन, वचन और काय की शुभ या अशुभ परिणति, जो कषायोदय से अनुरंजित होती है, उसे भाव लेश्या कहते हैं। यह आत्मा का ही परिणाम विशेष है। परिणाम-भेद से भाव लेश्या के असंख्य भेद हैं, तथापि सरलता से समझने के लिए शास्त्रों में उसके छह स्थूल भेदों का वर्णन किया गया है। इन भेदों को समझने के लिए निम्न लिखित उदाहरण उपयुक्त है।

छह पुरुष जामुन खाने के लिए चले। चलते-चलते उन्हें जामुन का वृक्ष दिखाई दिया। वृक्ष को देख कर उनमें से एक ने कहा—'लो यह रहा जामुन का वृक्ष। इसके फल खाने के लिए ऊपर चढ़ने के झगड़े में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। फलों से लदी हुई बड़ी-बड़ी शाखाओं वाले इस जामुन वृक्ष को ही काट डालना चाहिए, फिर आराम से जामुन खाए जाएंगे।'

दूसरे पुरुष ने कहा—'वृक्ष काटना तो ठीक नहीं है, उसकी मोटी-मोटी शाखाएं ही काट लेना चाहिए।

तीसरा कहने लगा—'मोटी-मोटी शाखाएं काटने से भी क्या लाभ है? उस की छोटी-छोटी शाखाएं (प्रशाखाएं) काट लेने से ही काम चल सकता है।'

चौथा पुरुष बोला—छोटी-छोटी शाखाएं काटने से भी क्या लाभ होगा, फलों के गुच्छे ही तोड़ना काफी है।'

पांचवें ने कहा—'गुच्छे तोड़ना भी व्यर्थ है। सिर्फ पके-पके फल तोड़ लीजिए।

छठे ने कहा—'आप सब का कहना मुझे नहीं जंचता। हमें पके हुए फलों से प्रयोजन है और पके फल नीचे टपके हुए पड़े हैं। उन्हीं को उठा लेने से हमारा प्रयोजन सिद्ध हो जाता है तो व्यर्थ वृक्ष आदि को तोड़ने से क्या लाभ है!'

इसी प्रकार लेश्याओं के स्वरूप को सरलता से समझने के लिए छह डाकुओं का दृष्टान्त भी उपयोगी है। वह इस प्रकार है:—

छह पुरुष किसी गांव को लूटने के लिए चले। जब वह गांव आ गया तो उनमें से पहला आदमी बोला-'इस गांव को तहस नहस कर डालो-पशु-पक्षी पुरुष स्त्री आदि जो कोई सामने आवे उन सब को मार डालो और गांव लूट लो।'

दूसरे ने कहा—'पशु-पक्षी आदि को क्यों मारा जाय? सिर्फ मनुष्यों को मारना चाहिए।

तीसरा बोला—'उनमें भी स्त्रियों को नहीं, सिर्फ पुरुषों को ही मारना चाहिए।

चौथा कहने लगा—'सब पुरुषों को मारना ठीक नहीं, जो सशस्त्र हों उन्हीं को मारना चाहिए।

पांचवें ने कहा—'सशस्त्र होने पर भी जो विरोध न करें उन्हें नहीं मारना चाहिए।

छठे ने कहा—'भाई! किसी को मारने से क्या प्रयोजन है? हमें धन से प्रयोजन है सो जिस प्रकार धन प्राप्त किया जा सके, करलो। किसी को भी मत मारो। धन लेने के लिए धनी को मार डालना उचित नहीं है।'

इन दो उदाहरणों से लेश्याओं का स्वरूप स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। इन उदाहरणों में पहले-पहले पुरुषों की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के पुरुषों के परिणाम क्रमशः शुभ, शुभतर और शुभतम हैं और अगले अगले पुरुषों के परिणामों की अपेक्षा पहले वालों के परिणाम अशुभ, अशुभतर और अशुभतम हैं। इस प्रकार प्रथम पुरुष के अशुभतम परिणामों को कृष्ण लेश्या, दूसरे के अशुभतर परिणामों को नील लेश्या, तीसरे के अशुभ परिणामों को कापोत लेश्या, चौथे के शुभ परिणामों को तेजो लेश्या, पांचवें के शुभतर परिणामों को पद्मलेश्या एवं छठे पुरुष के शुभतम परिणामों को शुक्ल लेश्या समझना चाहिए।

सूत्रकार ने 'जहक्कमं' पद से यही आशय प्रकट किया है कि यह लेश्याएं कृष्ण, नील आदि जिस क्रम से यहां गिनाई गई हैं उसी क्रम से उनकी शुद्धता बढ़ती गई है।

मूलः-पंचासवप्पवत्तो, तीहिं अगुत्तो छसुं अविरओ य।
तिव्वारंभपरिणओ, खुद्दो साहसिओ नरो॥ २॥
निद्धंधसपरिणामो, निस्संसो अजिइंदिओ।
एअजोगसमाउत्तो, किण्हलेसं तु परिणमे॥ ३॥

छायाः—पञ्चास्रवप्रवृत्तस्त्रिभिरगुप्त षट्सु अविरतश्च।
तीव्रारम्भपरिणतः क्षुद्रः साहसिको नरः॥ २॥
निध्वंसपरिणामः, नृशंसोऽजितेन्द्रियः।
एतद्योगसमायुक्तः, कृष्णलेश्यां तु परिणमेत्॥ ३॥

शब्दार्थः—इन्द्रभूति! हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य, एवं परिग्रह रूप पांच आस्रवों में प्रवृत्ति करने वाला, मन, वचन और काय की गुप्ति से रहित, षट्काय के जीवों की रक्षा से निवृत्त न होने वाला, तीव्र आरंभ में प्रवृत्त, क्षुद्र प्रकृति वाला, बिना सोचे-समझे काम करनेवाला, ऐहिक पारलौकिक दुःख की शङ्का रहित परिणाम वाला, क्रूर, इन्द्रियों का दास, इन सब दुर्गुणों से युक्त मनुष्य कृष्णलेश्या के परिणाम वाला समझना चाहिए।

भाष्यः—पहली गाथा में लेश्या के भेद बतलाने के पश्चात् सूत्रकार क्रम से लेश्याओं का स्वरूप बतला रहे हैं। यहां पहली कृष्ण लेश्या का स्वरूप बतलाया गया है।

जो जीव अहिंसा आदि पांचों पापों में लगा रहता है, मन वचन काय के

अशुभ व्यापार को नहीं रोकता है, पांच स्थावर एवं त्रस जीवों की हिंसा से विरत नहीं होता है, तीव्र तथा महान् आरंभ का सेवन करता है, जो प्रकृति से क्षुद्र है, जो साहसी है अर्थात् उचित-अनुचित की परवाह न करके विना समझे-बूझे किसी भी भयंकर कार्य को कर डालता है, जो दोनों लोक के दुखों की शंका रहित परिणाम वाला होता है, जिसके दिल में दया नहीं है, और जो इन्द्रियों का क्रीत दास है, ऐसे पुरुष को कृष्ण लेश्या वाला समझना चाहिए।

कृष्ण लेश्या नारकी, तिर्यंच, मनुष्य, भवनवासी देवता तथा वाण व्यंतर देवों को होती है। इसका वर्ण, गंध, रस और स्पर्श तथा फल आगे बताया जायगा।

मूलः-इस्सा अमरिस अतवो, अविज्ज माया अहीरया।
गेहा पओसे य सढे, पमत्ते रसलोलुए ॥ ४ ॥
सायगवेसए य आरंभा, अविरओ खुद्दो साहसिओ नरो
एअजोग-समाउत्तो, नीललेसं तु परिणमे ॥ ५ ॥

छायाः—ईर्ष्याऽमर्षातपः अविद्या मायाऽह्रीकता।
गृद्धिः प्रद्वेषश्च शठः, प्रमत्तो रसलोलुपः ॥ ४ ॥
सातागवेषकश्चारम्भादविरतः, क्षुद्रः साहसिको नरः।
एतद्योगसमायुक्तः, नीललेश्यां तु परिणमेत् ॥ ५ ॥

शब्दार्थः—ईर्ष्या करना, क्रोध करना, तप न करना, कुशास्त्र पढ़ना, मायाचार करना, पापाचार करने में निर्लज्ज होना, लोलुपता होना, द्वेष होना, शठता होना, मदोन्मत्त रहना, रसलोलुपता होना, विषयजन्य सुखों की खोज में रहना, हिंसा आदि पाप कर्म से विरत न होना, क्षुद्रता होना, साहस करना, इन सब लक्षणों वाला पुरुष नील लेश्या के परिणाम वाला होता है।

भाष्यः—कृष्ण लेश्या के परिणामों की प्ररूपणा करने के पश्चात् क्रम-प्राप्त नील लेश्या के परिणामों का निरूपण यहां किया गया है।

जो पुरुष गुणी जनों के गुणों को और तज्जन्य प्रशंसा को सहन न कर सकने के कारण उनके प्रति ईर्ष्या का भाव धारण करता है, क्षण-क्षण में क्रोध करने वाला हो, जो शरीर और इन्द्रियों के पोषण में लीन रहता हुआ कभी तपस्या न करता हो, मिथ्यात्ववर्द्धक कुशास्त्रों का पठन-पाठन करता हो, छल-कपट करता हो, निन्दनीय कर्म करते हुए भी लज्जित न होता हो, हिंसा आदि कार्यों में तथा भोगोपभोग के साधनों में आसक्त रहता हो, दूसरे के गुणों पर ध्यान न देकर उसके विद्यमान या अविद्यमान दोष को ही देखता हो और उसका प्रचार करता हो, जिसमें शठता भरी हो, जो प्रमाद से परिपूर्ण हो, रस-लोलुप हो, जिस किसी प्रकार संसार संबंधी सुखों की तलाश में रहता हो, आरंभ करने वाला हो, पाप से विरत न हो, जिसमें

क्षुद्रता भरी हो, जो हिताहित का विचार किये विना ही कार्य में प्रवृत्ति करने वाला हो, इस प्रकार इन दोषों से युक्त प्राणी को नील लेश्या वाला समझना चाहिए।

नील लेश्या नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य, भवनवासी, और वान-व्यन्तर देवों को होती है।

मूलः-वंके वंकसमायारे, नियडिल्ले अणुज्जुए।
पलिउंचग ओवहिए, मिच्छदिट्ठी अणारिए ॥ ६ ॥
उप्फालग दुट्ठवाई य, तेणे आवि य मच्छरी।
एअजोगसमाउत्तो, काउलेसं तु परिणमे ॥ ७ ॥

छायाः—वक्रः वक्रसमाचारः, निकृतिमाननृजुकः।
परिकुञ्चक औपधिकः, मिथ्यादृष्टिरनार्यः ॥ ६ ॥
उत्फालक-दुष्टवादी च, स्तेनश्चापि च मत्सरी।
एतद्योगसमायुक्तः, कापोतलेश्यां तु परिणमेत् ॥ ७ ॥

शब्दार्थः—वक्र, वक्राचारी, मायावी, सरलता से रहित, अपने दोषों को छिपाने वाला, कपटी, मिथ्यादृष्टि, दुःखों का उत्पादक दुष्ट वचन को बोलने वाला अनार्य, चोर, मात्सर्य रखनेवाला, इस प्रकार के दोषों से युक्त पुरुष कापोत लेश्या वाला होता है।

भाष्यः—नील लेश्या का निरूपण करने के अनन्तर क्रम-प्राप्त कापोत लेश्या का स्वरूप यहां बतलाया गया है।

जिसकी वाणी में वक्रता होती है, जिसके आचरण में वक्रता होती है, जिसका व्यापार इतना गूढ़ हो कि दूसरे को उसका पता न चल सके, जिसके हृदय में सरलता न हो, अपने दोषों को दूर करने के बदले जो उन्हें छिपाने की चिन्ता करता रहता हो, बात-बात में जो कपट का सेवन करता हो, मिथ्या दृष्टि वाला हो, अनार्य हो अर्थात् अनार्य पुरुषों के योग्य जिसका आचार-विचार हो, जो दूसरे के मर्म को छेदने वाले वचनों का प्रयोग करता हो, अर्थात् जो अपने वचनों से दूसरों को गहरी और भीतरी चोट पहुंचाता हो, जो चोर हो, मत्सर भाव का धारक हो, इस प्रकार इन भावों को धारण करने वाला पुरुष कापोत लेश्या से युक्त समझना चाहिए।

कापोत लेश्या उन पूर्वोक्त सभी नारकी, तिर्यंच आदि जीवों को होती है, जिन्हें नील लेश्या होती है।

मूलः-नीयावित्ती अचवले, अमाई अकुऊहले।
विणीय विणए दंते, जोगवं उवहाणवं ॥ ८ ॥
पियधम्मे दढधम्मे, अवज्जभीरू हिएसए।
एयजोगसमाउत्तो, तेउलेसं तु परिणमे ॥ ९ ॥

छाया:—नीचैर्वृत्तिरचपल: अमाय्यकुतूहल: ।
विनीतविनयो दान्त:, योगवानुपधानवान् ॥ ८ ॥
प्रियधर्मा दृढधर्मा, अवद्यभीरुर्हितैषिक: ।
एतद्योगसमायुक्त: तेजोलेश्यां तु परिणमेत् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ:—नम्रता युक्त वृत्ति वाला, चपलता रहित, मायाचार से रहित, कौतूहल की वृत्ति से शून्य, गुरुजनों का विनय करने वाला, इन्द्रियों का दमन करने वाला, शुभ योग वाला, तपस्या करने वाला, धर्म प्रेमी, दृढ़धर्मी, पाप से डरने वाला आत्म-कल्याण की इच्छा वाला पुरुष तेजो लेश्या से युक्त होता है ।

भाष्य:—कापोत लेश्या के परिणामों का उल्लेख करने के पश्चात् यहां तेजोलेश्या के परिणाम बताये गये हैं ।

जिस पुरुष की प्रकृति में नम्रता हो, चंचलता न हो, छल-कपट की वृत्ति न पाई जाती हो, अति कौतूहल वृत्ति न हो, जो अपने गुरुजनों का अर्थात् गृहस्थावस्था में माता, पिता, शिक्षक, धर्मगुरु आदि का तथा संयत अवस्था में रत्नाधिक एवं आचार्य आदि का विनय करता हो,—जिसके स्वभाव में ही विनीतता विद्यमान हो, जो अपनी इन्द्रियों की बागडोर अपने काबू में रखता हो अर्थात् इन्द्रियों का स्वामी हो (दास नहीं), जो प्रशस्त व्यापार में निरत रहता हो अर्थात् मन वचन और काय को अशुभ क्रियाओं में न लगाता हो, जो शक्ति के अनुसार तपस्या करता हो, जिसे धर्म के प्रति प्रेम भाव हो, धर्म में जिसकी दृढ़ श्रद्धा हो, पाप कार्यों से भयभीत रहता हो अर्थात् पापों से होने वाले इस लोक और परलोक संबंधी भयों का विचार करके जो पापाचरण न करता हो, तथा जो आत्मा के सच्चे एवं शाश्वत हित के अन्वेषण में उद्योगशील हो, उसे तेजोलेश्या समझनी चाहिए ।

तेजोलेश्या शुभलेश्या है और यह तिर्यञ्चों, मनुष्यों एवं देवों के होती है, नारकी जीवों को नहीं होती ।

मूल:—पयणुकोहमाणे य, मायालोभे य पयणुए ।
पसंतचित्ते दंतप्पा, जोगवं उवहाणवं ॥ १० ॥
तहा पयणुवाई य, उवसंते जिइंदिए ।
एयजोगसमाउत्तो, पम्हलेसं तु परिणमे ॥ ११ ॥

छाया:—प्रतनुक्रोधमानश्च, मायालोभौ च प्रतनुकौ ।
प्रशान्तचित्तो दान्तात्मा, योगवानुपधानवान् ॥ १० ॥
तथा प्रतनुवादी च, उपशान्तो जितेन्द्रिय: ।
एतद्योगसमायुक्त:, पद्मलेश्यां तु परिणमेत् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ:—जिसके क्रोध, मान, माया और लोभ पतले पड़ गये हों, जिसका चित्त प्रशान्त हो, जो इन्द्रियों को तथा मन को दमन करने वाला हो, जिसका योग व्यापार

शुभ हो, जो तपस्वी हो, अल्पभाषी हो और शान्त स्वभाव वाला हो तथा जितेन्द्रिय हो, वह पद्मलेश्या वाला पुरुष है ।

भाष्यः—तेजोलेश्या के स्वरूप-निरूपण के अनन्तर पद्मलेश्या का स्वरूप यहां बतलाया गया है ।

पद्मलेश्या के लक्षण इस प्रकार हैं:—जिसका क्रोध, मान, माया और लोभ पतला पड़ गया हो अर्थात् जिसके कषाय की तीव्रता नष्ट होगई हो, जिसका चित्त शान्त हो अर्थात् विषयभोग-जन्य व्याकुलता जिसके चित्त से दूर हो गई हो, जिसने अपने मन का दमन कर लिया हो, अर्थात् वशवर्त्ती बना लिया हो, जिसका मन वचन और काय शुभ अनुष्ठानों में प्रवृत्त होता हो, अशुभ प्रवृत्ति से हटा रहता हो, जो अपनी शक्ति के अनुसार शास्त्रविहित तपस्या करता हो, जो अल्प भाषण करता हो अर्थात् निरर्थक बकवाद न करता हो, और सोच विचार कर मृदु भाषण करता हो, जिसके स्वभाव में उग्रता न हो, जो जितेन्द्रिय हो, वह पद्मलेश्या वाला पुरुष समझना चाहिए। यह लेश्या तिर्यंच, मनुष्य और वैमानिक देवों को ही होती है। नारकों को तथा अन्य देवों को भी नील लेश्या के योग्य परिणाम-विशुद्धि नहीं हो सकती।

मूलः—अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता, धम्मसुक्काणि झायए।
पसंतचित्ते दंतप्पा, समिए गुत्ते य गुत्तिसु ॥ १२ ॥
सरागो वीयरागो वा, उवसंते जिइंदिए ।
एयजोगसमाउत्तो, सुक्कलेसं तु परिणमे ॥ १३ ॥

छायाः—आर्त्तरौद्रे वर्जयित्वा, धर्मशुक्ले ध्यायति ।
प्रशान्तचित्तो दान्तात्मा योगवानुपधानवान् ॥ १३ ॥
सरागो वीतरागो वा, उपशान्तो जितेन्द्रियः ।
एतद्योगसमायुक्तः, शुक्लेश्यां तु परिणमेत् ॥ १४ ॥

शब्दार्थः—आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान को त्याग कर, धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान का चिन्तन करने वाला, प्रशान्त चित्त वाला, अन्तरात्मा का दमन करने वाला, समितियों से युक्त, तीन गुप्तियों से गुप्त, सराग संयम या वीतराग संयम का अनुष्ठान करने वाला कषायों का उपशम करने वाला और जितेन्द्रिय पुरुष शुक्ल-लेश्या के परिणाम वाला होता है ।

भाष्यः—अन्त में शुक्ल लेश्या के परिणामों का निरूपण करने के लिए यह गाथाएं कही गई हैं ।

शुक्ल लेश्या का स्वरूप इस प्रकार है—जो पुरुष आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान का त्याग कर देता है और धर्मध्यान या शुक्लध्यान का अवलंबन करता है, क्रोध, मान, माया और लोभ के क्षय या उपशम होने से जिसका चित्त शान्त हो गया है, जिसने

अपने अन्तःकरण पर विजय प्राप्त करली है, जो पांच प्रकारकी समितियों से तथा तीन प्रकार की गुप्तियों से युक्त है, जो सराग संयम या वीतराग संयम से युक्त है अथवा जिसमें सूक्ष्म राग विद्यमान है या जिसका रागभाव सर्वथा क्षीण हो चुका है, जिसने मोह का उपशम कर दिया है, जो जितेन्द्रिय है, उसके शुक्ल लेश्या के परिणाम होते हैं।

लेश्याओं के नाम अमुक रंग के नाम पर व्यवस्थित हैं। इसका आशय यह है कि लेश्या द्रव्य, जो अत्यन्त मलीन होते हैं, उन्हें कृष्ण लेश्या कहा गया है। जो लेश्या-द्रव्य अत्यन्त स्वच्छ होते हैं उन्हें शुक्ल लेश्या कहते हैं। इसी प्रकार अन्य लेश्याओं के विषय में समझना चाहिए। इन कृष्ण आदि द्रव्यों की सहायता से आत्मा में इन्हीं के अनुरूप मलिन आदि परिणाम उत्पन्न होते हैं। कहा भी है—

कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात्, परिणामो य आत्मनः।
स्फटिकस्येव तत्रायं, लेश्याशब्दः प्रवर्त्तते ॥

अर्थात् कृष्ण आदि द्रव्यों की प्रधानता से आत्मा में जो परिणाम उत्पन्न होता है, उसमें लेश्या शब्द प्रवृत्त होता है। जैसे स्फटिक मणि स्वभावतः निर्मल होती है, किन्तु उसके सामने जिस रंग की वस्तु रख दी जाय वह उसी रंग की प्रतीत होने लगती है, उसी प्रकार आत्मा में कृष्ण नील आदि द्रव्यों के संसर्ग से उसी प्रकार का परिणाम उत्पन्न होता है।

शंका—कौन सी लेश्या किस वर्ण वाली है ?

समाधान—कृष्ण लेश्या मेघ, अंजन, काजल, जामुन, अरीठे के फूल, कोयल भ्रमर की पंक्ति, हाथी के बच्चे, काले बंबूल के झाड़, मेघाच्छिन्न आकाश, और कृष्ण अशोक, आदि से भी अधिक, अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय और अमनोज्ञ वर्ण वाली है।

नील लेश्या भृंग चास, प्रियंगु, कबूतर की गर्दन, मोर की ग्रीवा, बलदेव के वस्त्र, अलसी के फूल, नील कमल, नीलाशोक, और नीले कनेर से भी अत्यन्त अधिक अनिष्ट, अकान्त अप्रिय वर्ण वाली है।

कापोत लेश्या खेरसार, करीरसार, तांबा, बैंगन के फूल, और जपाकुसुम आदि से भी अधिक अनिष्ट वर्ण वाली होती है।

तेजो लेश्या खरगोश के रक्त, बकरे के रक्त, मनुष्य के रक्त, इन्द्रगोप कीड़े, उदीयमान बाल सूर्य, संध्याराग, मूंगा, लाख, हाथी की तालु, जपाकुसुम, केसूड़ा के फूलों की राशि, रक्तोत्पल आदि से भी अधिक लाल वर्ण वाली होती है।

पद्म लेश्या चंपा, हल्दी के खंड, हड़ताल, वासुदेव के वस्त्र, स्वर्ण जुही, आदि की अपेक्षा भी अधिक उज्ज्वल वर्ण की है।

शुक्ल लेश्या अंकरत्न, शंख, चन्द्रमा, मोगरा, पानी, दही, दूध, तप्त चांदी आदि से भी अत्यन्त अधिक शुक्ल वर्ण वाली एवं अधिक इष्ट और मनोज्ञ है।

इस प्रकार कृष्ण लेश्या काले वर्ण की, नील लेश्या नीले वर्ण की, कापोत लेश्या

कुछ--कुछ काले और कुछ--कुछ लाल वर्ण की, तेजो लेश्या लाल वर्ण की, पद्म लेश्या पीले वर्ण की और शुक्ल लेश्या शुक्ल वर्ण की होती है।

इसी प्रकार कृष्ण लेश्या नीम, नीम का क्वाथ, कड़वी तूंबी आदि की अपेक्षा अत्यन्त अधिक अनिष्ट कडुवे रस वाली है। नील लेश्या चित्रमूल पीपर, पीपरीमूल मिर्च, सोंठ, आदि से, कापोत लेश्या बिजौरा, कैथ (कपित्थ), दाड़म, बोर, तेंदू, आदि से, पीत लेश्या पके हुए आम आदि की अपेक्षा, पद्म लेश्या मधु, इक्षुरस आदि की अपेक्षा, और शुक्ल लेश्या गुड़, शक्कर, आदि से भी अत्यन्त प्रशस्त और उग्र रस वाली होती है।

कृष्ण, नील और कापोत लेश्या दुरभिगंध वाली और पीत, पद्म तथा शुक्ल लेश्या सुरभि गंध वाली है। कहा भी है—

जह गोमडस्स गंधो, णागमडस्स व जहा अहिमडस्स।
एत्तो उ अणंतगुणो, लेस्साणं अप्पसत्थाणं॥
जह सुरभिकुसुमगंधो, गंधवासाण पिस्समाणाणं।
एत्तो उ अणंतगुणो, पसत्थलेस्साण तिण्हंपि॥

अर्थात् मरी हुई गाय, मरे हुए हाथी और मरे हुए सांप की जैसी गंध होती है उससे अनन्तगुनी अधिक दुर्गंध अप्रशस्त लेश्याओं की होती है। इससे विपरीत प्रशस्त लेश्याओं की गंध, सुगंधित पुष्पों अथवा पीसे जाते हुए अन्य सुवासित द्रव्यों की सुगंध से अनन्त गुणी अधिक सुगंध होती है।

कृष्ण नील और कापोत लेश्या अप्रशस्त स्पर्श वाली तथा तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्या प्रशस्त स्पर्श वाली है। कहा भी है—

जह करवयस्स फासो, गोजिब्भाए व सागपत्ताणं।
एत्तो वि अणंतगुणो, लेस्साणं अप्पसत्थाणं॥
जह बूरस्स व फासो, नवणीयस्स व सिरीसकुसुमाणं।
एत्तो वि अणंतगुणो, पसत्थलेस्साण तिण्हं पि॥

अर्थात् जैसे करौंत का, गाय की जिह्वा का और शाक के पत्तों का स्पर्श होता है, इससे अनन्त गुणा अधिक कर्कश स्पर्श अप्रशस्त लेश्याओं का होता है। जैसे बरू, मक्खन और शिरीष के फूल का स्पर्श होता है, उससे अनन्त गुणा अधिक मृदु स्पर्श प्रशस्त लेश्याओं का होता है।

आदि की तीन लेश्याओं का शीत और रूक्ष स्पर्श चित्त को अस्वस्थ बनाता है और अन्त की तीन प्रशस्त लेश्याओं का स्निग्ध और उष्ण स्पर्श चित्त में संतोष और स्वस्थता उत्पन्न करता है।

मूलः—किण्हा नीला काऊ, तिण्णि वि एयाओ अहम्मलेसाओ
एयाहिं तिहिं वि जीवो, दुग्गइं उववज्जई॥ १४॥

छाया:—कृष्णा नीला कापोता, तिस्रोऽप्येता अधर्मलेश्या: ।
एताभिस्तिसृभिरपि जीव:, दुर्गतिमुपपद्यते ॥१४॥

शब्दार्थ:-कृष्ण, नील और कापोत, यह तीन अधर्म लेश्याएं हैं। इन तीनों लेश्याओं से जीव दुर्गति में उत्पन्न होता है।

भाष्य:—पूर्वोक्त छह लेश्याओं में प्रशस्त और अप्रशस्त लेश्याओं का विभाग यहां किया गया है। प्राथमिक तीन-कृष्ण नील और कापोत लेश्याएं अधर्म लेश्याएं अथवा अप्रशस्त लेश्याएं हैं, क्योंकि इन लेश्याओं से युक्त जीव दुर्गति में उत्पन्न होता है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, लेश्याओं के छह विभाग स्थूल विभाग हैं। वस्तुत: इनमें से प्रत्येक लेश्या के परिणाम (तीव्रता, मन्दता आदि रूप) बहुत और बहुत प्रकार के हैं। श्री प्रज्ञापना सूत्र में कहा है—

"कण्ह-लेस्सा णं भंते! कतिविहं परिणामं परिणमति ? गोयमा! तिविहं वा, नवविहं वा, सत्तावीसविहं वा, एक्कासीतिविहं वा, वेतेयालीसतविहं वा, बहुयं वा बहुविहं वा परिणामं परिणमइ, एवं जाव सुक्कलेस्सा।"

अर्थात् हे भगवन्! कृष्ण लेश्या कितने प्रकार के परिणामों में परिणत है ? हे गौतम! तीन प्रकार के, नौ प्रकार के, सत्ताईस प्रकार के, इक्यासी प्रकार के, दो सौ तेतालीस प्रकार के, बहुत और बहुत प्रकार के परिणामों में परिणत है। जैसे कृष्ण लेश्या के परिणाम बहुत हैं उसी प्रकार नील आदि शुक्ल लेश्या पर्यन्त सभी लेश्याओं के परिणाम समझना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि कृष्ण लेश्या जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार के परिणाम वाली है। किन्तु जघन्य परिणाम के भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट परिणाम हैं, मध्यम और उत्कृष्ट परिणाम के भी जघन्य आदि तीन परिणाम हैं। इस प्रकार एक-एक परिणाम के तीन-तीन भेद होने से कृष्ण लेश्या के नौ परिणाम होते हैं। यह नौ परिणाम भी अंतिम नहीं हैं और उसमें भी जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट भेद होते हैं। अतएव नौ परिणामों का जघन्य आदि तीन भेदों से गुणाकार करने पर कृष्ण लेश्या के सत्ताईस परिणाम हो जाते हैं। इसी प्रकार आगे भी गुणाकार करते चलने से इक्यासी, दो सौ तेतालीस तथा बहुत और बहुत प्रकार के परिणाम सिद्ध हो जाते हैं।

नील, कापोत आदि अन्य समस्त लेश्याओं के परिणामों के विषय में भी इसी प्रकार समझना चाहिए। लेश्याओं के जितने परिणाम-भेद हैं, उतने ही भेद उनकी अप्रशस्तता एवं प्रशस्तता अथवा धर्म्यता एवं अधर्म्यता के भी समझने चाहिए। लेश्याओं की इस अप्रशस्तता-प्रशस्तता के तारतम्य के ही अनुसार दुर्गति-प्राप्ति सुगति-प्राप्ति रूप फल में भी तारतम्य हो जाता है।

कहीं-कहीं 'अहम्मलेसाओ' के स्थान पर 'अहमलेसाओ' पाठ भी देखा जाता है। उसका अर्थ 'अधमलेश्याएं' ऐसा होता है, अतएव वह पाठ भी निर्बाध है।

मूलः—तेऊ पम्हा सुक्का, तिण्णि वि एयाओ धम्मलेसाओ।
एयाहिं तिहिं वि जीवो, सुग्गइं उववज्जइ ॥ १५ ॥

छायाः—तेजः पद्मा शुक्ला, तिस्रोऽप्येता धर्मलेश्याः।
एताभिस्त्रिस्तिसृभिरपि जीवः, सुगतिमुपपद्यते ॥ १५ ॥

शब्दार्थः—तेजो लेश्या, पद्म लेश्या, और शुक्ल लेश्या, यह तीनों धर्म लेश्याएं हैं। इन तीनों लेश्याओं से जीव सुगति में उत्पन्न होता है।

भाष्यः—पूर्व गाथा में अधर्म लेश्याओं का निरूपण किया गया था। यहां अन्त की तीन लेश्याओं को धर्म लेश्या बतलाया गया है। तेजो लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या, शुभ, शुभतर और शुभतम परिणामों से युक्त होने के कारण धर्म लेश्याएं हैं और इनसे सद्गति का लाभ होता है।

आत्महितैषी पुरुषों को आदि की तीन अधर्म लेश्याओं से दूर रह कर धर्म-लेश्याओं में ही विचरना चाहिए और ऐसा पुरुषार्थ करना चाहिए जिससे सब प्रकार की लेश्याओं से मुक्ति प्राप्त हो और अलेश्य अवस्था प्राप्त हो जाय।

धर्म लेश्याओं के भी बहु और बहुविध अवान्तर परिणाम हैं, जैसा कि पूर्व गाथा में कहा जा चुका है।

मूलः—अन्तमुहुत्तम्मि गए, अन्तमुहुत्तम्मि सेसए चेव।
लेसाहिं परिणयाहिं, जीवा गच्छंति परलोयं ॥ १६ ॥

छायाः—अन्तर्मुहूर्त्ते गते अन्तमुहूर्त्ते शेषे चैव।
लेश्याभिः परिणताभिः, जीवा गच्छंति परलोकम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थः—परिणत हुई लेश्याओं का अन्तर्मुहूर्त्त व्यतीत हो जाने पर अथवा अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहने पर ही जीव परलोक में जाते हैं।

भाष्यः—किसी भी लेश्या को उत्पन्न हुए जब अन्तर्मुहूर्त्त व्यतीत हो जाता है अथवा लेश्या का अन्त होने में जब अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहता है, तभी जीव परलोक के लिए गमन करता है। मनुष्यों और तिर्यञ्चों की लेश्या जीवन पर्यन्त एक ही नहीं रहती। वह कारण पाकर बदलती रहती है। जो मनुष्य या तिर्यञ्च मरणोन्मुख होता है, उसकी मृत्यु अन्तकालीन ऐसी लेश्या में ही हो सकती है; जिस लेश्या के साथ उसका संबंध कम से कम अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त रह चुका हो। कोई भी जीव नवीन लेश्या की उत्पत्ति के प्रथम समय में ही नहीं मरता किन्तु जब उसकी लेश्या परिणत हो जाती है—स्थिर हो जाती है, तभी वह पुरातन शरीर का परित्याग करके नूतन शरीर ग्रहण करने के लिए गमन करता है। लेश्या के परिणत होने में कम से कम अन्तर्मुहूर्त्त लग जाता है, इसी कारण यहां यह बतलाया गया है कि लेश्या का अन्तर्मुहूर्त्त व्यतीत हो जाने पर ही जीव परलोक जा सकता है।

किसी लेश्या की उत्पत्ति को अन्तर्मुहूर्त्त हो जाने पर भी यदि उस लेश्या के नष्ट होने में अन्तर्मुहूर्त्त शेष न हो तो भी जीव परलोक-गमन नहीं करता। अर्थात् लेश्या के नष्ट होने के अन्तिम समय में भी परलोक गमन संभव नहीं है, क्योंकि उत्पत्ति काल के प्रथम समय की भांति नष्ट होने के अंतिम समय में भी लेश्या अस्थिर-सी रहती है, परिणत नहीं होती।

इस प्रकार लेश्या की उत्पत्ति हुए अन्तर्मुहूर्त्त जब व्यतीत हो जाता है अथवा लेश्या के नष्ट होने में जब अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहता है, तभी जीव परलोक जाता है।

तात्पर्य यह है कि मनुष्यों और तिर्यञ्चों को, अन्त समय में, जिस किसी भी शुभ या अशुभ गति में जाना होता है, उसी गति के अनुसार उसकी भावना मरने के अन्तर्मुहूर्त्त पहले अवश्य हो जाती है। वह भावना अकस्मात् नहीं होती, किन्तु जीव ने अपने जीवन में जैसे शुभ या अशुभ कर्म किये होंगे, और उनके अनुसार जिस आयु का बंध कर लिया होगा, उसी आयु के अनुसार उस जीवन की अंतिम लेश्या हो जायगी।

अनेक लोग इस भ्रम में रहते हैं कि जीवन भर चाहे जैसे कर्म किये जाएं, जीवन भले ही हिंसा आदि पापों से परिपूर्ण व्यतीत किया जाय, घोर आरंभ और घोर परिग्रह में आसक्त रहकर समस्त समय यापन किया जाय, और धर्म सेवन की ओर क्षण भर के लिए भी ध्यान न दिया जाय, परन्तु अंतिम समय सुधार लेने से सारा जीवनकाल सुधर जाता है। यही नहीं, अंत सुधारने से आगामी भव भी सुधर जाता है। ऐसे भ्रम में पड़े हुए व्यक्तियों का भ्रम इस विवेचना से दूर हो जाना चाहिए। जीवन के अंत में, वैसी ही भावना उत्पन्न होती है, जैसी गति में उसे जाना होता है। आयु कर्म अमिट है। उसका एक बार बंध हो जाने पर उसमें फिर परिवर्त्तन होने का अवकाश नहीं है। जिस जीव ने नरकायु का बंध किया है, उसके परिणाम मृत्यु के समय नरकगति के ही अनुकूल होंगे, देवगति के योग्य नहीं हो सकते। और वे परिणाम भी मृत्यु होने से अन्तर्मुहूर्त्त पहले ही उत्पन्न हो जाते हैं। लोक में कहावत है—'अन्त मता सो गता' अर्थात् अंत समय जैसी मति होती है, वैसी ही गति होती है, यह लोकोक्ति सत्य है, पर यह समझ रखना चाहिए कि अंत में मति भी वैसी ही होती है, जैसा आयु कर्म बंध चुका हो। अतएव परलोक सुधारने के लिए सतत सावधान रहना चाहिए, अंत समय के ही भरोसे न रहना चाहिए।

ऊपर लेश्या के संबंध में जो कहा गया है वह मनुष्यों और तिर्यञ्चों के लिए ही संगत हो सकता है, क्योंकि मनुष्यों और तिर्यञ्चों की लेश्या ही परिवर्त्तनशील होती है। देवों और नारकों की कोई भी लेश्या जीवन पर्यन्त एक ही बनी रहती है-वह परिवर्त्तित नहीं होती। ऐसी स्थिति में जब उनका मरण काल आता है तब उनकी लेश्या का अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहता ही है। अतएव वे जिस लेश्या में होते हैं उसी लेश्या में परलोक गमन करते हैं और उसी लेश्या में पुनर्जन्म धारण करते हैं। उनके लिए केवल यह कहा जा सकता है कि वर्त्तमान भव संबंधी लेश्या का अन्तर्मुहूर्त्त शेष

रहने पर देव-नारकी परलोकगमन करते हैं।

किस-किस गति में, कौनसी लेश्या कितने समय तक रहती है अर्थात लेश्याओं की स्थिति कितनी है, यह जान लेना आवश्यक है।

नारकी जीवों की कृष्ण लेश्या की जघन्य स्थिति पल्योपम का असंख्यातवां भाग अधिक दस सागरोपम की है और उत्कृष्ट स्थिति अन्तमुहूर्त्त अधिक तेतीस सागरोपम की है।

नील लेश्या की जघन्य स्थिति पल्योपम का असंख्यातवां भाग अधिक तीन सागरोपम की और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम का असंख्यातवां भाग अधिक तीन सागरोपम की है। कापोत लेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम का असंख्यातवां भाग अधिक तीन सागरोपम की है। तीन प्रशस्त लेश्याएं नारकी जीवों में होती ही नहीं है।

मनुष्यों तथा तिर्यंचों में, जिसे जो लेश्या होती है उसकी स्थिति अन्तमुहूर्त्त की है, किंतु शुक्ल लेश्या की स्थिति जघन्य अन्तमुहूर्त्त और उत्कृष्ट नौ वर्ष कम पूर्व कोटि की है।

देवताओं की लेश्या की स्थिति इस प्रकार है-कृष्ण लेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। कृष्ण लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति से एक समय अधिक नील लेश्या की जघन्य स्थिति और पल्योपम के असंख्यातवें भाग उत्कृष्ट स्थिति है।

भवनवंसी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देवों की तेजो लेश्या की जघन्य स्थिति, दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट स्थिति दो सागरोपम तथा पल्योपम के असंख्यातवें भाग है। तेजो लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति से एक समय अधिक पद्म लेश्या की जघन्य स्थिति है और अन्तर्मुहूर्त्त अधिक दस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है। पद्म लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति से एक समय अधिक शुक्ल लेश्या की जघन्य स्थिति होती है। शुक्ल लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त अधिक तेतीस सागरोपम की है।

शुक्ल लेश्या की तथा अन्य लेश्याओं की स्थिति में जो अन्तर्मुहूर्त्त अधिक बतलाया गया है, वह पूर्वभव का अन्तर्मुहूर्त्त तथा आगामी भव का अन्तर्मुहूर्त्त-इस प्रकार दो अन्तर्मुहूर्त्तों की अपेक्षा से समझना चाहिए। क्योंकि देवों की और नारकों की लेश्या पूर्वभव और उत्तरभव के दो अन्तर-मुहूर्तों से सहित अपने-अपने आयुष्य काल तक रहती है।

नारकी जीवों को कृष्ण, नील और कापोत, यह तीन ही लेश्याएं होती हैं। तिर्यंचों में छहों लेश्याएं होती हैं किन्तु एकेन्द्रियजीवों को कृष्ण, नील, कापोत, और तेज-इस प्रकार चार लेश्याएं, तेजस्काय, वायुकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय तिर्यंचों को नारकों के समान लेश्याएं ही होती हैं।

संमूर्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यंचों को नारकी जीवों की तरह तीन लेश्याएं होती हैं। गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यंचों को छहों लेश्याएं हो सकती हैं। तिर्यंच योनि वाले मादा

(तीरश्ची) को छह, मनुष्यों को छह, संमूर्छिम मनुष्यों को नारकियों की भांति तीन, गर्भज मनुष्यों को छह, मनुष्य स्त्री को छह, देवों को छह, देवियों को कृष्ण, नील, कापोत और तेज यह चार, भवनवासी देवों, भवनवासिनी देवियों, वाणव्यन्तर देवों और वाणव्यन्तरी देवियों को भी चार। ज्योतिषी देव और देवियों को एक तेजो लेश्या, वैमानिक देवों को तेज, पद्म और शुक्ल तथा वैमानिक देवियों को केवल तेज लेश्या होती है।

लेश्या वाले जीवों का अल्पबहुत्व इस प्रकार है—सब से कम जीव शुक्ल लेश्या वाले हैं, उनसे संख्यातगुने पद्मलेश्या वाले हैं और उनसे भी संख्यातगुने तेजो लेश्या वाले हैं। इनसे अनन्तगुने अधिक लेश्या रहित (सिद्ध) जीव हैं। इनसे अनन्तगुने कापोत लेश्या वाले हैं। इनसे विशेषाधिक नील लेश्या वाले हैं और इनसे भी विशेषाधिक कृष्ण लेश्या वाले जीव हैं।

नारकी जीवों में लेश्या की अपेक्षा अल्पबहुत्व इस प्रकार है—कृष्ण लेश्या वाले नारकी सब से थोड़े हैं। नील लेश्या वाले उनसे असंख्यात गुने हैं और कापोत लेश्या वाले उनसे भी असंख्यातगुने अधिक हैं।

लेश्या की अपेक्षा देवों का अल्प बहुत्व इस प्रकार है—देवों में शुक्ल लेश्या वाले सब से कम हैं, इनसे पद्म लेश्या वाले असंख्यातगुना अधिक हैं, इनसे कापोत लेश्या वाले असंख्यात गुना अधिक हैं, इनसे नील लेश्या वाले विशेषाधिक हैं और इनसे कृष्ण लेश्या वाले विशेषाधिक हैं।

देवियों में कापोत लेश्या वाली सब से थोड़ी हैं, इनसे नील लेश्या वाली विशेषाधिक हैं, इनसे कृष्ण लेश्या वाली विशेषाधिक हैं और इनसे तेजो लेश्या वाली संख्यातगुनी हैं।

पंचेन्द्रिय तिर्यंचों का अल्पबहुत्व, सामान्य जीवों के ही अल्पबहुत्व के समान है। उसमें से लेश्या रहित जीवों का पद निकाल देना चाहिए, क्योंकि तिर्यंचों में लेश्या रहित कोई कोई नहीं हो सकता।

एकेन्द्रियों में तेजो लेश्या वाले सब से कम हैं, उनसे कापोत लेश्या वाले अनंत गुने हैं (क्योंकि सूक्ष्म और बादर निगोद में कापोत लेश्या होती है) उनसे नील लेश्या वाले विशेषाधिक हैं और उनसे भी कृष्ण लेश्या वाले विशेषाधिक हैं।

मनुष्यों का अल्पबहुत्व तिर्यंचों के समान ही समझना चाहिए, परन्तु उनमें कापोत लेश्या वाले अनन्तगुने नहीं कहना चाहिए, क्योंकि मनुष्य अनन्त नहीं हैं, जब कि तिर्यंच अनन्त हैं क्योंकि निगोद के अनन्तानन्त जीव तिर्यंच ही हैं।

लेश्याएं एक दूसरी के रूप में परिणत हो जाती हैं। कृष्ण लेश्या के परिणाम वाला जीव नील लेश्या के योग्य द्रव्यों को ग्रहण करके मृत्यु को प्राप्त होता है, उस समय वह नील लेश्या के परिणाम वाला होकर उत्पन्न होता है, क्योंकि जीव जिस लेश्या के योग्य द्रव्यों को ग्रहण करके मरण को प्राप्त होता है उसी लेश्या से युक्त होकर अन्यत्र उत्पन्न होता है। जैसे दूध, छाछ के संयोग से छाछ स्वभाव में अर्थात्

छाछ के वर्ण, रस गंध और स्पर्श रूप में परिणत हो जाता है, अथवा जैसे स्वच्छ वस्त्र अमुक रंग के संयोग से उसी रंग आदि रूप में परिणत हो जाता है, इसी प्रकार कृष्ण लेश्या, नील लेश्या के योग्य द्रव्यों के संसर्ग से नील लेश्या के स्वरूप में, नील लेश्या के वर्ण, रस, गंध और स्पर्श में परिणत हो जाती है।

इस प्रकार का परिणाम न केवल कृष्ण लेश्या का अपितु प्रत्येक लेश्या का हो सकता है।

इस प्रसंग में यह जान-लेना आवश्यक है कि किस-किस लेश्या में कितने गुणस्थान होना संभव है? इससे यह ज्ञात हो सकेगा कि लेश्याएं आध्यात्मिक विकास में कितना प्रभाव डाल सकती हैं।

कृष्ण, नील और कापोत, लेश्याओं में आदि के छह गुणस्थान माने जाते हैं। इन छह गुणस्थानों में से चार गुणस्थानों की प्राप्ति के समय और प्राप्ति के पश्चात् भी यह तीन लेश्याएं हो सकती हैं, परन्तु पांचवां और छठा गुणस्थान इन अप्रशस्त लेश्याओं के समय प्राप्त नहीं हो सकते। इन गुणस्थानों की प्राप्ति तेज, पद्म और शुक्ल लेश्या के समय ही हो सकती है। किन्तु इन गुणस्थानों की प्राप्ति होने के पश्चात्, जीवके परिणामों की शुद्धता कभी कम हो जाने पर उक्त अशुभ लेश्याएं आ जाती हैं। यही कारण है कि किसी-किसी जगह गुणस्थान-प्राप्ति के समय की अपेक्षा, तीन अशुभ लेश्याओं में सिर्फ चार ही गुणस्थानों का प्रतिपादन किया गया है।

तेजो लेश्या और पद्म लेश्या में अप्रमत्त संयत पर्यन्त सात गुणस्थान होते हैं। शुक्ल लेश्या तेरहवें गुणस्थान तक रहती है। यद्यपि तेरहवें गुणस्थान में कषाय का सर्वथा अभाव है, तथापि योग की सत्ता होने के कारण वहां उपचार से शुक्ल लेश्या स्वीकार की जाती है।

इस कथन से स्पष्ट है कि कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्याओं का उदय होने पर सर्वदेश या एकदेश चारित्र की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव चारित्र की कामना करने वाले पुरुषों को अशुभ लेश्याओं से दूर रह कर शुभ लेश्याओं की आराधना करनी चाहिए।

मूलः-तम्हा एयासि लेसाणं, अणुभावं वियाणिया।
अप्पसत्थाओ वज्जित्ता, पसत्थाओऽहिट्ठिए मुणी ॥१७॥

छायाः—तस्मादेतासां लेश्यानाम्, अनुभावं विज्ञाय।
अप्रशस्तास्तु वर्जयित्वा, प्रशस्ता अधितिष्ठेन् मुनिः ॥ १७ ॥

शब्दार्थः—इसलिए लेश्याओं के प्रभाव को जान करके अप्रशस्त लेश्याओं को त्याग कर मुनि प्रशस्त लेश्याओं को अंगीकार करें।

भाष्यः—प्रशस्त और अप्रशस्त लेश्याओं का स्वरूप पहले बतलाया जा चुका है और यह भी बतलाया जा चुका है कि अप्रशस्त या अधर्म लेश्याएं दुर्गति का

कारण तथा प्रशस्त या धर्मलेश्याएं सद्गति का कारण हैं। इन सब विषयों को जान करके मुनि का कर्त्तव्य क्या है? अर्थात् लेश्या-ज्ञान का फल क्या है? यह बताने के लिए सूत्रकार कहते हैं कि लेश्याओं का प्रभाव जान कर मुनि को चाहिए कि वह अपने अन्तःकरण में अशुभ लेश्याओं का प्रादुर्भाव न होने देवे और शुभ लेश्याओं को अंगीकार करे।

यहां यह आशंका हो सकती है कि अलेश्य अवस्था प्राप्त करना मुनि का साध्य है। मुनि को लेश्या मात्र का-चाहे वह शुभ हो या अशुभ हो नाश करने का प्रयत्न करना चाहिए। समस्त लेश्याओं का विनाश हुए बिना मुक्ति की प्राप्ति होना शक्य नहीं है। ऐसा सिद्धान्त होने पर भी यहां प्रशस्त लेश्याओं को अंगीकार करने का विधान क्यों किया गया है?

इस आशंका का समाधान यह है कि लेश्याहीन अवस्था सहसा प्राप्त नहीं की जा सकती। षष्ठ गुणस्थानवर्त्ती मुनि के अन्तःकरण में भी अध्यवसाय की शुद्धि की न्यूनता रूप निमित्त पाकर कदाचित् अशुभ लेश्याओं का प्रादुर्भाव हो जाता है। जहां अशुभ लेश्याओं की विद्यमानता है वहां पहले उनको हटाने के लिए शुभ लेश्याओं को ही अंगीकार करना पड़ेगा। शुभ लेश्याओं को अंगीकार करने के पश्चात् ही अलेश्य अवस्था प्राप्त हो सकती है। इस क्रम को लक्ष्य करके ही सूत्रकार ने यहां शुभ लेश्याओं को अंगीकार करने का विधान किया है। इस विधान से अलेश्य अवस्था रूप अंतिम साध्य का निषेध नहीं होता है, प्रत्युत वह साध्य, साधक के अधिक सन्निकट आता है। अतएव यह विधान आपत्तिजनक नहीं कहा जा सकता।

शंका—पहले लेश्याओं का फल दुर्गति और सुगति की प्राप्ति बतलाया गया है, किन्तु वहां सामान्य कथन किया है। यह बताइए कि किस लेश्या से किस-किस गति की प्राप्ति होती है?

समाधान—आगम में प्रत्येक लेश्या की जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट-इस प्रकार तीन तरह से गति का निरूपण किया गया है। वह इस प्रकार है:—

(१) कृष्ण लेश्या-कृष्ण लेश्या की जघन्य गति भवनवासी वाण व्यन्तर और अनार्य मनुष्य की, मध्यम गति पांच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय और तिर्यंच पंचेन्द्रिय की, उत्कृष्ट गति पांचवें, छठे और सातवें नरक की।

(२) नील लेश्या—नील लेश्या की जघन्य गति भवनवासी, वाण व्यन्तर और कर्मभूमिज मनुष्य की, मध्यम गति पांच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय और तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय की, उत्कृष्ट गति तीसरे तथा चौथे नरक की।

(३) कापोत लेश्या—कापोत लेश्या की जघन्य गति भवनवासी वाण व्यन्तर तथा अन्तर्द्वीपज मनुष्य की, मध्यम गति पांच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय तथा तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय की, उत्कृष्ट गति प्रथम, दूसरे और तीसरे नरक की।

(४) तेजो लेश्या—तेजो लेश्या की जघन्य गति पृथ्वीकाय, अप्काय, वनस्पति

काय तथा युगलिया मनुष्य की, मध्यम गति भवनवासी, वाण व्यन्तर, ज्योतिषी तथा तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय की, उत्कृष्ट गति प्रथम और द्वितीय देवलोक की ।

(५) पद्म लेश्या—पद्म लेश्या की जघन्य गति तीसरे देवलोक की, मध्यम गति चौथे देवलोक की और उत्कृष्ट गति पांचवें देवलोक की ।

(६) शुक्ल लेश्या—शुक्ल लेश्या की जघन्य गति छठे से बारहवें देवलोक की, मध्यम गति नव ग्रैवेयक तथा विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित नामक चार अनुत्तर विमानों की और उत्कृष्ट गति सर्वार्थसिद्ध विमान की ।

ऊपर जो जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट गति बतलाई गई है वह प्रत्येक लेश्या की जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट गति बतलाई गई है । वह प्रत्येक लेश्या के जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट अंशों की अपेक्षा से समझना चाहिए । जैसे—कृष्ण लेश्या के जघन्य अंशों के साथ मरने वाला जीव भवनवासी, वाण व्यन्तर अथवा अनार्य मनुष्य के रूप में उत्पन्न होता है । कृष्ण लेश्या के मध्यम अंशों के साथ मरने वाला जीव पांच स्थावर आदि में उत्पन्न होता है और कृष्ण लेश्या के उत्कृष्ट अंशों के साथ काल करने वाला पांचवें, छठे या सातवें नरक में जाता है । इसी प्रकार अन्य लेश्याओं के संबंध में जान लेना चाहिए ।

यहां यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि अशुभ लेश्याओं के जघन्य अंश, उनके उत्कृष्ट अंशों की अपेक्षा अच्छे हैं और इस कारण उत्कृष्ट अंशों से अधिक अनिष्ट और अशुभ गति प्राप्त होती है और जघन्य अंशों से अपेक्षाकृत कम अनिष्ट और कम अशुभ गति मिलती है । किन्तु शुभ लेश्याओं के विषय में इससे सर्वथा विपरीत बात है । उनके जघन्य अंशों की अपेक्षा उत्कृष्ट अंश अच्छे हैं और इसी कारण शुभ लेश्याओं के उत्कृष्ट अंशों से, जघन्य अंशों की अपेक्षा अधिक शुभ और इष्ट गति की प्राप्ति होती है ।

यहां एक ही लेश्या के जघन्य अंश के भी अनेक फल बताये गये हैं, और मध्यम तथा उत्कृष्ट अंशों के भी एक से अधिक फल बताये हैं । जैसे—कृष्ण लेश्या के जघन्य अंश के साथ काल करने वाला कोई जीव भवनवासी देव होता है, कोई वाण व्यन्तर होता है और कोई अनार्य मनुष्य होता है । इस भेद का क्या कारण है ? कारण की सदृशता होने पर भी कार्य में विसदृशता क्यों आ जाती है ?

इसका समाधान यह है कि सामान्य रूप से यहां जघन्य अंश को एक बतलाया गया है । वस्तुतः उस जघन्य अंश के भी विविध जीवों के अध्यवसायों की शुद्धता एवं अशुद्धता की तरतमता के अनुसार विविध भेद होते हैं । उन अवान्तर भेदों को लक्ष्य करके अनेक फल बतलाये गये हैं । जिस लेश्या के जितने सूक्ष्म भेद हैं, उतने ही उसके फल होते हैं । उन सब अध्यवसायों का उल्लेख करना असंभव है, इस कारण शास्त्रों में स्थूल भेदों का और उनके स्थूल फलों का ही दिग्दर्शन कराया गया है ।

बुद्धिमान् पुरुषों को लेश्याओं के स्वरूप का चिन्तन-मनन करके अपने परिणामों में अधिकाधिक विशुद्धि लाने का निरन्तर प्रयास करना चाहिए ।

❀ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ❀

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

॥ तेरहवां अध्याय ॥

कषायवर्णन

श्री भगवान् उवाच—

मूलः—कोहो अ माणो अ अणिग्गहीया,
माया य लोभो अ पवड्ढमाणा ।
चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥ १ ॥

छायाः—क्रोधश्च मानश्चानिगृहीतौ, माया च लोभश्च प्रवर्धमानौ ।
चत्वार एते कृत्स्नाः कषायाः सिञ्चन्ति मूलानि पुनर्भवस्य ॥ १ ॥

शब्दार्थः—हे इन्द्रभूति ! निग्रह न किया हुआ क्रोध और मान तथा बढ़ती हुई माया और बढ़ता हुआ लोभ ये सब चार कषाय पुनर्जन्म के मूलों को सींचते हैं-हरा भरा करते हैं ।

भाष्यः—बारहवें अध्ययन में लेश्या का निरूपण किया गया है। लेश्या का स्वरूप बताते समय यह कहा गया था कि कषाय से अनुरंजित योग की प्रवृत्ति लेश्या कहलाती है। इस स्वरूप को हृदयंगम करने के लिए कषाय के स्वरूप का प्रतिपादन करना आवश्यक है। अतः लेश्या-निरूपण के पश्चात् कषाय का निरूपण किया जाता है।

कषाय शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार बताई गई है:—

कम्मं कसं भवो वा, कसमाओ सिं जओ कसाया ते ।
कसमाययंति व जओ, गमयंति कसं कसायत्ति ॥
आओ व उवादाणं, तेण कसाया जओ कसस्साया ।
चत्तारि बहुवयणओ, एवं विइयादओऽवि गया ॥

भावार्थ—कष अर्थात् कर्म अथवा भव की जिससे आय--प्राप्ति हो वह कषाय है। अथवा कर्म या संसार का जिससे आदान अर्थात् ग्रहण हो उसे कषाय कहते हैं। अथवा जिसके होने पर जीव कर्म या संसार को प्राप्त करे वह कषाय है। अथवा आय अर्थात् उपादान कारण, संसार या कर्म का उपादान कारण होने से वह कषाय

है। बहुत्व की अपेक्षा से कषाय के चार भेद हैं। इसी प्रकार अन्य भेद भी समझना चाहिए।

कषाय शब्द की एक और व्युत्पत्ति भी प्रचलित है। वह यह है—

सुहदुक्खसुबहुसस्सं, कम्मक्खेत्तं कसेदि जीवस्स।
संसारदूरमेरं तेण कसाओत्ति णं वेंति ॥

अर्थात् जीव के सुख दुःख रूप अनेक प्रकार के धान्य को उत्पन्न करने वाले तथा जिसकी संसार रूप मर्यादा अत्यन्त दूर है, ऐसे कर्म रूपी खेत का कर्षण करता है, इसलिए इसे कषाय कहते हैं।

कषाय शब्द की उल्लिखित व्युत्पत्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कषाय कर्म का कारण है और वह संसार-भ्रमण भी कराता है। कषायों के बिना संसार भ्रमण नहीं हो सकता और न बंध ही हो सकता है। कहा भी है—

"सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः"

अर्थात् जीव कषाय से युक्त होकर कार्माण वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करता है, वही बंध है। इससे भी स्पष्ट है कि बंध में कषाय प्रधान कारण है।

यही नहीं, कषाय जीव के सम्यक्त्व और चारित्र गुण का भी घातक है। अतएव उसका स्वरूप समझकर त्याग करना आत्म-श्रेय के लिए अत्यावश्यक है।

कषाय के मुख्य रूप से चार भेद हैं:—(१) क्रोध (२) मान (३) माया और (४) लोभ।

(१) क्रोध—क्रोध नामक चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से होने वाला, उचित अनुचित का विवेक नष्ट कर देने वाला प्रज्वलन रूप आत्मा का परिणाम क्रोध कहलाता है।

क्रोध की अवस्था में जीव उचित--अनुचित का भान भूल जाता है। वह यद्वा तद्वा चाहे जो बोलता है और नाना प्रकार के घृणास्पद, अशोभनीय और हानिकारक काम कर बैठता है। क्रोध में एक प्रकार का पागलपन उत्पन्न कर देने का स्वभाव है। जैसे पागल मनुष्य यद्वा तद्वा बकने लगता है, वह अपनी वास्तविकता खो बैठता है, उसी प्रकार क्रोधी मनुष्य भी बिना विचार किये बोलता है और अपनी स्थिति को भूल जाता है। क्रोध में एक प्रकार का विष है और इसी कारण भोजन आदि करते समय विशेष शान्ति की आवश्यकता प्रदर्शित की गई है।

पहले तो क्रोध के आवेश में मनुष्य अंट--संट बोलता है और अकृत्य को भी कर बैठता है, पर जब क्रोध का उपशम होता है, चित्त में शांन्ति का आविर्भाव होता है और मनुष्य स्वस्थ हो जाता है, तब अपने अनर्गल भाषण तथा अनुचित कार्य के लिए लज्जित होता है। किन्तु बहुत बार क्रोध के आवेश में ऐसे कार्य हो जाते हैं, जिन्हें शान्ति प्राप्त होने पर बदला नहीं जा सकता। क्रोधी मनुष्य, क्रोध से अत्यन्त आविष्ट होकर दूसरे मनुष्य पर प्रहार कर देता है, अथवा उसके प्राणों का

अन्त कर देता है, तो बाद में लज्जित होने एवं पश्चात्ताप करने पर भी कुछ फल नहीं होता।

क्रोधी मनुष्य दूसरों का ही नहीं, स्वयं अपना भी घोर अनिष्ट कर बैठता है। अनेक मूढ़ क्रोधी अपने जीवन का अन्त कर डालते हैं। कोई नदी में डूब मरता है, कोई कूप में गिर पड़ता है और कोई घासलेट आदि छिड़क कर आग लगा लेता है। इस प्रकार क्रोध के अत्यन्त अनिष्ट और अवांछनीय परिणाम आँखों देखे जाते हैं। क्रोध के विषय में ठीक कहा है—

उत्पद्यमानः प्रथमं दहत्येव स्वमाश्रयम्।
क्रोधः कृशानुवत्पश्चादन्यं दहति वा न वा॥

अर्थात् क्रोध जब उत्पन्न होता है तब अग्नि की तरह सर्व प्रथम अपने आश्रय को ही जलाता है-जिस अन्तःकरण में क्रोध की उत्पत्ति होती है वही अन्तःकरण सर्वप्रथम क्रोध से जलने लगता है। उसके अनन्तर अन्य को कदाचित् जलाता है, कदाचित् नहीं भी जलता। तात्पर्य यह है कि क्रोध से क्रोधी को तो निश्चित रूप से हानि उठानी ही पड़ती है, फिर दूसरे की हानि हो या न हो।

इस प्रकार क्रोध स्व--पर सन्तापप्रद है। साम्यभाव का नाशक है। मुक्ति--सुख का बाधक है। अतएव इसका निग्रह करना परम कर्त्तव्य है। क्रोध का निग्रह न करने से जन्म--मरण की वृद्धि होती है।

(२) मान—मान मोहनीय कर्म के उदय से जाति, कुल, बल, ऐश्वर्य, बुद्धि, आदि गुणों का अहंकार करना रूप आत्मा का विभाव परिणाम मान कहलाता है। क्रोध की भाँति मान कषाय भी जन्म--मरण रूप संसार की वृद्धि करने वाला है। मान-कषाय के वशीभूत होकर जीव आदरणीय पुरुषों का आदर नहीं करता, सन्माननीय जनों का सन्मान नहीं करता। अभिमानी पुरुष के अन्तःकरण में नम्रता का अभाव हो जाता है।

अभिमानी पुरुष अपने रत्ती भर गुण को सुमेरु के बराबर और अन्य के महान् गुणों को न कुछ के बराबर समझता है। वह गुणी जनों को भी तुच्छ दृष्टि से देखता है, इसलिए उनके गुणों से तनिक भी लाभ नहीं उठा सकता। ऐसा करने से गुणी जनों की तो कुछ हानि नहीं होती, उलटे उस अभिमानी को ही भीषण हानि सहनी पड़ती है।

अभिमान के अनेक स्थान हैं। कोई गुणहीन होने पर भी अपनी जाति का अभिमान करता है। कोई अपने कुल के बड़प्पन की गाथा गाता है। कोई अपने ऐश्वर्य का बखान करते नहीं अघाता। कोई अपनी बुद्धि का वर्णन करते--करते नहीं थकता। इस प्रकार विविध प्रकार के अभिमान के नशे में बेभान होकर मनुष्य अपने सत्य स्वरूप को भूल जाता है।

जगत् में एक से बढ़ कर एक बलवान्, बुद्धिमान् और ऐश्वर्यशाली पुरुष

विद्यमान हैं। अगर उनकी ओर दृष्टिपात किया जाय तो अभिमान का नशा नहीं ठहर सकता। जाति और कुल से किसी में बड़प्पन नहीं आता। शास्त्रों में कहा भी है कि—

सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो, न दीसइ जाइविसेस कोइ ॥

अर्थात् तप आदि गुणों की विशेषता तो साक्षात् देखी जाती है परन्तु जाति की विशेषता तो कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होती। ऐसी स्थिति में जाति का या कुल का मद करना निरर्थक है।

अभिमानी पुरुष दूसरों को घृणा की दृष्टि से देखता है, पर उसे यह नहीं मालूम कि समस्त संसार उसे कितनी हीन और उपेक्षा की नजर से देखता है ? वास्तव में अभिमान एक ऐसा आवरण है जिसमें विद्यमान गुण भी छिप जाते हैं। अभिमान के संसर्ग से अन्यान्य गुण-यदि विद्यमान हों तो वे-भी कलंकित हो जाते हैं। अभिमानी पुरुष की कोई भी विवेकशील पुरुष प्रतिष्ठा नहीं करता। अतएव अभिमान शिष्ट पुरुषों द्वारा सर्वथा त्याज्य है। प्रत्येक मुमुक्षु को मान कषाय का निग्रह करना चाहिए।

(३) माया—मोहनीय कर्म के उदय से मन, वचन और काय की कुटिलता रूप आत्मा के परिणाम को माया कषाय कहा गया है। माया संसार को बढ़ाने वाली और इस लोक में अप्रतीति उत्पन्न करने वाली है। मायाचारी पुरुष सदा सब के अविश्वास का भाजन होता है। माया अनेक पापों का प्रसव करने वाली और शान्ति का सर्वनाश करने वाली है। अतएव सूत्रकार कहते हैं कि बढ़ती हुई माया पुनर्भव के मूल का सिंचन करती है।

(४) लोभ—लोभ मोहनीय कर्म के उदय से द्रव्य आदि संबंधी इच्छा, ममता एवं तृष्णा रूप आत्मा के परिणाम को लोभ कहते हैं। लोभ समस्त पापों का पिता है। वह ममत्व का विस्तार करने वाला और शुद्ध आत्मरमण में तीव्र बाधा उत्पन्न करता है। वह जगत् के पर-पदार्थों से जीव को विलग नहीं होने देता और विलग न होने के कारण जीव को नाना प्रकार के कष्ट उठाने पड़ते हैं।

इस प्रकार यह क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चार कषाय जन्म-मरण रूप संसार के मूल को हराभरा बनाती है।

शंका—सूत्रकार ने 'चत्तारि एए कसिणा कसाया' अर्थात् 'यह सब चार कषाय,' यहां चत्तारि शब्द का प्रयोग करके फिर 'कसिणा' (कृत्स्नाः-सब) शब्द का भी प्रयोग किया है। नियत संख्या 'चत्तारि' पद के प्रयोग का क्या प्रयोजन है ?

समाधान—क्रोध, आदि चारों कषायों में से प्रत्येक के चार-चार भेद होते हैं उन भेदों का सूचन करने के लिए सूत्रकार ने 'कसिणा' पद का प्रयोग किया है।

प्रत्येक के चार-चार भेद इस प्रकार हैं-(१) अनन्तानुबंधी (२) अप्रत्याख्यानावरण (३) प्रत्याख्यानावरण और (४) संज्वलन।

(१) अनन्तानुबंधी— जिस कषाय के प्रभाव से जीव अनन्त काल तक संसार में भ्रमण करता है उसे अनन्तानुबंधी कषाय कहते हैं। इस कषाय से जीव के सम्यक्त्व गुण का घात होता है। जब तक इसका उदय बना रहता है तब तक जीव सम्यक्त्व का लाभ नहीं कर सकता। यह कषाय जीवन पर्यन्त विद्यमान रहता है। इस कषाय के उदय से जीव नरक गति में जाता है।

(२) अप्रत्याख्यानावरण—जिस कषाय के उदय से जीव एक देशविरति रूप प्रत्याख्यान भी करने में समर्थ नहीं होता, वह अप्रत्याख्यानावरण कषाय है। इस कषाय के उदय से जीव को श्रावक-धर्म की भी प्राप्ति नहीं होती है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से तिर्यंच गति की प्राप्ति होती है। यह कषाय एक वर्ष पर्यन्त बना रहता है।

(३) प्रत्याख्यानावरण—जिस कषाय के उदय से सर्वविरति रूप प्रत्याख्यान नहीं होने पाता उसे प्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं। यह कषाय साधु-धर्म की प्राप्ति नहीं होने देता। प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से मनुष्य गति के योग्य कर्मों का बंध होता है। इस कषाय की स्थिति चार मास की है।

(४) संज्वलन—जिस कषाय के उदय से परिषह अथवा उपसर्ग आ जाने पर मुनियों को भी किंचित् संताप होता है अर्थात् मुनियों पर भी जिसका प्रभाव बना रहता है वह संज्वलन कषाय कहलाता है। यह कषाय इतना हल्का है कि इससे साधु के धर्म में भी बाधा नहीं पहुंचती है। यह स्वात्म-रमण रूप यथाख्यात चारित्र में बाधक होता है। यह कषाय एक पक्ष तक विद्यमान रहता है। इससे देवगति के योग्य कर्मों का बंध होता है।

कषायों की स्थिति और गति का जो वर्णन दिया गया है वह बहुलता से समझना चाहिए। कभी-कभी संज्वलन कषाय भी अधिक काल तक बना रहता है, जैसे बाहुबली महाराज को रहा था। इसी प्रकार अनन्तानुबंधी कषाय के सद्भाव में भी कोई-कोई मिथ्यादृष्टि ग्रैवेयक में उत्पन्न हो जाते हैं। कहा भी है—

पढमिल्लुआण उदए, नियमा संजोयणा–कसायाणं।
सम्मदंसणलंभं भवसिद्धिया वि ण लहंति॥
बितियकसायाणुदए, अप्पच्चक्खाणनामधेयाणं।
सम्मद्दंसणलंभं विरयाविरइं न उ लहंति॥
तइयकसायाणुदए पच्चक्खाणावरणनामधेज्जाणं।
देसेक्कदेसविरइं चरित्तलंभं न उ लहंति।
मूलगुणाणं लंभं न लहइ मूलगुणघाइणो उदए।
संजलणाणं उदए न लहइ चरणं जहक्खायं॥

अर्थात् संयोजना नामक प्रथम अनन्तानुबंधी कषाय के उदय से भवसिद्धिक (तद्भवमोक्षगामी) जीव भी सम्यग्दर्शन को नियम से प्राप्त नहीं कर सकता।

अप्रत्याख्यानावरण नामक द्वितीय कषाय के उदय से जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, किन्तु देशविरति की नहीं।

प्रत्याख्यानावरण नामक तृतीय कषाय के उदय से एक देश-विरति का लाभ होता है परन्तु सर्वविरति रूप चारित्र की प्राप्ति नहीं होती।

मूल गुणों का घात करने वाले कषायों के उदय से मूल गुण अर्थात् सम्यक्त्व, अणुव्रत तथा महाव्रत-की प्राप्ति नहीं होती और संज्वलन कषाय के उदय से यथाख्यातचारित्र का लाभ नहीं होता।

अनन्तानुबंधी कषाय सम्यक्त्व को उत्पन्न नहीं होने देती, यह बतलाया जा चुका है, पर यह भी ध्यान रखना चाहिए कि यदि अनन्तानुबंधी कषाय के अभाव में सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाय और पुन. उसका उदय हो जाय तो सम्यक्त्व का नाश हो जाता है। इसी प्रकार अन्य कषायों के विषय में समझना चाहिए।

संज्वलन कषाय यथाख्यात चारित्र का घात करने के साथ अन्य चारित्रों में दोष (अतिचार) उत्पन्न करता है। कहा है —

सव्वे वि य अइयारा, संजलणाणं तु उदयओ होंति।

अर्थात् समस्त अतिचार संज्वलन कषाय के उदय से होते हैं—अन्य कषाय तो मूल गुणों का समूल नाश करते हैं।

मूलः—जे कोहणे होइ जगट्ठभासी,
विओसियं जे उ उदीरएज्जा।
अंधे व से दंडपहं गहाय,
अविओसिए घासति पावकम्मी ॥२॥

छायाः—यः क्रोधनो भवति जगदर्थभाषी, व्यपशमितं यस्तु उदीरयेत्।
अन्ध इव स दण्डपथं गृहीत्वा, अव्यपशमितं घृष्यति पापकर्मा ॥२॥

शब्दार्थः—जो पुरुष क्रोधी होता है वह जगत् के अर्थ को कहने वाला अर्थात् कठोर एवं कष्टकर भाषण करने वाला होता है। और जो शान्त हुए क्रोध को फिर जागृत करता है वह अनुपशान्त पाप करने वाला पुरुष दंड लेकर—डंडे के सहारे मार्ग में चलने वाले अंधे पुरुष की भांति कष्ट पाता है।

भाष्यः—प्रथम गाथा में सामान्य रूप से चारों कषायों को संसार-भ्रमण का कारण उल्लेख करके यहां सूत्रकार ने क्रोध के दोषों का दिग्दर्शन कराया है।

क्रोधशील को अर्थात् जिसका स्वभाव क्रोध करने का है—जो बात-बात में कुपित हो जाता है, वह ऐसी भाषा का प्रयोग करता है, जिससे दूसरों को महान् कष्ट होता है। अशुभ कर्मोदय से जीवों को जो बधिरता, अन्धता लूलापन आदि

प्राप्त होता है, उसके कारण क्रोधी पुरुष उन्हें बहिरा, अंधा, लूला आदि कहकर कष्ट पहुंचाता है।

इसके अतिरिक्त क्रोधी पुरुष उपशान्त हुए क्रोध को पुनः जागृत करता है। वह ऐसी चेष्टा करता है जिससे शान्त हुआ क्रोध पुनः भड़क उठता है।

इस प्रकार के क्रोधी पुरुष की क्या दशा होती है? इस का उल्लेख करते हुए सूत्रकार बतलाते हैं कि जैसे कोई अंधा पुरुष हाथ में डंडा लेकर चल पड़ता है, तो मार्ग में अनेक पशु प्रभृति के द्वारा उसे कष्ट उठाना पड़ता है। इसी प्रकार वह क्रोध करने वाला पापी जीव चतुर्गति रूप मार्ग में अनेक प्रकार के जन्म-मरण जन्य दुःख भोगता है।

मूलः–जे आवि अप्पं वसुमंति मत्ता,
संखाय वायं अपरिक्ख कुज्जा।
तवेण वाहं सहिउत्ति मत्ता,
अण्णं जणं पस्सति बिंबभूयं ॥३॥

छायाः—यश्चाऽपि आत्मानं वसुमानिति मत्वा, संख्याय वादमपरीक्ष्य कुर्यात्।
तपसा वाऽहं सहित इति मत्वा, अन्यं जनं पश्यति बिम्बभूतम् ॥३॥

शब्दार्थः—अपने आपको संयमवान् मान करके, और ज्ञानी समझ करके, वस्तुतः परमार्थ को न जानता हुआ भी जो वादविवाद करता है, अथवा 'मैं तप से युक्त हूं—तपस्वी हूं' ऐसा मानता है वह अन्य जन को केवल परछाई मात्र-अपदार्थ समझता है।

भाष्यः—क्रोध से होने वाली हानि का निरूपण करके यहां सूत्रकार मान-कषाय का वर्णन करते हैं।

जो पुरुष अपने आपको वसुमान् अर्थात् संयम वाला समझता है और अपने को ज्ञानी मान कर-वास्तव में परमार्थ का ज्ञान न होने पर भी—वादविवाद करने के लिए तैयार हो जाता है, अथवा जो अपने को तपस्वी मान कर अन्य पुरुषों को बिम्ब के समान-परछाई मात्र मानता है। ऐसा मानी पुरुष दुःख उठाता है।

प्रस्तुत गाथा में संयम तप और ज्ञान के अभिमान का वर्णन किया गया है। संयम, तप आदि आत्मा के गुण हैं। अगर इनकी उत्कृष्ट मात्रा किसी को प्राप्त हो जाय तो भी उसे उनका अभिमान नहीं करना चाहिए। अभिमान करने से संयम और तप आदि गुणों की पवित्रता नष्ट हो जाती है और उन गुणों में कलुषता उत्पन्न हो जाती है। अभिमानी पुरुष का संयम और तप आत्म-शुद्धि का नहीं वरन् उसके कषायपोषण का कारण बन जाता है। अतएव उससे आत्मा अधिक मलीन होती है। इसके अतिरिक्त अभिमानी पुरुष में अपने संयम, तप और ज्ञान के विषय में मद उत्पन्न हो जाता है तब उसकी दृष्टि नी विकृत हो जाती है कि वह अल्प संयम

आदि को ही बहुत अधिक मान बैठता है और उनकी अधिकाधिक वृद्धि की ओर ध्यान नहीं देता है।

संयम आदि के मद का परित्याग करने का कथन करके सूत्रकार ने यह भी प्रदर्शित कर दिया है कि जब आत्मा के गुणों का अभिमान भी त्याज्य है तो धन-दौलत आदि जड़, सर्वथा भिन्न एवं पर वस्तु के अभिमान का तो कहना ही क्या है? वह तो पूर्ण रूप से त्याज्य है ही।

अभिमानी पुरुष अपने को सब कुछ समझता है और अपने आगे दूसरे को कुछ भी नहीं समझता। वह अन्य पुरुषों को बिम्बभूत मानता है—परछाई की भांति अकिंचित्कर समझता है—मानो उनकी वास्तविक सत्ता ही कुछ नहीं है।

यह अभिमान कषाय अनेक प्रकार के अकृत्यों में प्रवृत्त करता है। भाषण न करने योग्य भाषा का प्रयोग कराता है। उचित एवं हितकारक कार्यों में प्रवृत्त नहीं होने देता। आत्म-विकास में घोर प्रतिबंध रूप है। अतएव सर्वथा त्याज्य है।

मूलः—पूयणट्ठा जसोकामी, माण-सम्माणकामए।
बहुं पसवइ पावं, मायासल्लं च कुव्वई॥ ४॥

छाया—पूजनार्थो यशस्कामी मानसन्मानकामुकः।
बहु प्रसूते पापं मायाशल्यं च कुरुते॥ ४॥

शब्दार्थ—अपनी पूजा-प्रतिष्ठा का अर्थी, यश की कामना करने वाला तथा मान-सन्मान की अभिलाषा रखने वाला बहुत पाप उपार्जन करता है और माया शल्य का आचरण करता है।

भाष्यः—प्रस्तुत गाथा में सूत्रकार ने मान के अभिलाषी पुरुष को होने वाली हानियों का तथा माया कषाय के कारण का एक साथ प्रतिपादन किया है।

जो व्यक्ति यह चाहता है कि लोग हमारी पूजा करें-स्तुति-भक्ति करें-जगत में मेरे यश का विस्तार हो और सर्वत्र मेरा आदर-सत्कार हो, उसे अनेक पापों का आचरण करना पड़ता है और मायाचार का सेवन करना पड़ता है।

पूजा, यश, मान-सन्मान की आकांक्षा से माया का जन्म होता है। अतएव मायाचार से बचने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि मनुष्य पूजा की स्पृहा न करे, यश का अर्थी न बने और मान-सन्मान की आकांक्षा से दूर रहे।

किसी कवि ने कहा है—

यदि सन्ति गुणाः पुंसां, विकसन्त्येव ते स्वयम्।
न हि कस्तूरिकामोदः, शपथेन प्रतीयते॥

अर्थात् अगर किसी पुरुष में गुण हैं तो वे स्वयमेव विकसित हो जाते हैं। वाणी से गुणों के प्रकाशन की आवश्यकता नहीं होती। कस्तूरी में गंध है, इस बात

का विश्वास दिलाने के लिए शपथ खाने की आवश्यकता है ?

तात्पर्य यह है कि कस्तूरी की गंध स्वयं चारों दिशाओं में फैल जाती है और स्वयं ही लोग उसकी सुगंध से परिचित हो जाते हैं। इसी प्रकार गुण भी छिपे नहीं रहते। गुणों में भी एक प्रकार का सौरभ है जो अनायास ही दिगदिगंत में प्रसरित हो जाता है। गुणों को प्रकाशित करने के लिए विज्ञापन की अपेक्षा नहीं रहती।

यही कारण है कि सद्गुणों से विभूषित उत्तम पुरुष कदापि अपने गुणों का वर्णन नहीं करते तथापि गुणज्ञ पुरुष उनके चरणों में लोटते हैं। सद्गुण पाकर मनुष्य में एक प्रकार की विनम्रता का भाव प्रबल हो जाता है। वह अपनी लघुता को भली· भांति जानने लगता है। अतएव वह दूसरों के समक्ष भी अपनी लघुता या हीनता को ही प्रकट करता है। उसका यह लघुताप्रदर्शन ही वास्तव में उसकी महत्ता का प्रदर्शक है। ऐसे व्यक्तियों के सामने दूसरों का मस्तक स्वतः नम्र हो जाता है।

सत्कार-सन्मान की कामना करने वाले मनुष्य इन महात्माओं से ठीक विपरीत वृत्ति वाले होते हैं। उनमें सद्गुणों का सद्भाव नहीं होता। वह अपने विशुद्ध अन्तःकरण का दूसरों पर प्रभाव नहीं डाल सकते। ऐसी अवस्था में उनके प्रति किसी को पूज्य भाव उत्पन्न नहीं होता और न कोई उनका सन्मान करता है। किन्तु इस परिस्थिति में उन्हें संतोष नहीं होता है। उन्हें यश चाहिए। उन्हें मान-सन्मान चाहिए। वे पूजनीय बनना चाहते हैं। इन सब बातों की हवस जब उनके हृदय में अत्यधिक बढ़ जाती है, तब वे निर्गुण होने पर भी अपने आपको गुणी प्रकट करने के लिए अनेक प्रकार के मिथ्याडम्बर रचते हैं। भांति-भांति के मायाजाल का सृजन करते हैं। अनृत भाषण करते हैं। इस प्रकार पापाचार एवं छलकपट के द्वारा वे अपनी प्रतिष्ठा का निर्माण करना चाहते हैं।

इन सब दुष्कृत्यों का मूल यशःकामना और सन्मान की भूख है। अतएव इनका त्याग करना ही परम कर्त्तव्य है।

मूलः—कसिणं पि जो इमं लोगं, पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स।
तेणावि से न संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया ॥ ५ ॥

छायाः—कृत्स्नमपि य इमं लोकं, प्रतिपूर्णं दद्यादेकस्मै।
तेनाऽपि स न संतुष्येत् इति दुःपूरकोऽयमात्मा ॥५॥

शब्दार्थः—यदि एक मनुष्य को धन धान्य से परिपूर्ण यह समस्त लोक दे दिया जाय तो उससे भी वह संतुष्ट नहीं हो सकता। इस प्रकार आत्मा इतना असंतोषशील है।

भाष्यः—लोभ कषाय का वर्णन करते हुए सूत्रकार ने यहां यह बतलाया है कि वह संसारी आत्मा इतना असंतोषी है कि किसी भी अवस्था में उसकी इच्छाएं पूर्ण

नहीं हो सकतीं। विराट जगत् में जितना धन-धान्य है, हीरा, मोती, माणक, पन्ना, सोना, चांदी आदि जितने बहुमूल्य पदार्थ हैं, वे सब सिर्फ एक मनुष्य को दे दिये जाएं, तीनों लोकों का एकच्छत्र साम्राज्य भी दे दिया जाय तो भी उसकी इच्छा की पूर्ति न होगी।

लोभ अग्नि के समान है। अग्नि में ज्यों-ज्यों ईंधन डालो त्यों-त्यों उसकी वृद्धि होती है। इसी प्रकार लोभ को शान्त करने के लिए जैसे-जैसे परिग्रह का संचय किया जाता है तैसे-तैसे लोभ बढ़ता ही चला जाता है। अतएव जैसे ईंधन देने से अग्नि कदापि नहीं बुझ सकती, उसी प्रकार परिग्रह जुटाने से लोभ कभी शान्त नहीं हो सकता। अतएव हृदय में रहने वाली लोभवृत्ति को धन आदि से सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करना निरर्थक ही नहीं विपरीत प्रयत्न है। विवेकीजन इस प्रकार के मूढ़तापूर्ण प्रयत्न नहीं करते। वे अकिंचनभाव धारण करके लोभ का विनाश करते हैं।

मूल:—सुवण्णरुप्पस्स उ पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि, इच्छा हु आगाससमा अणंतिआ॥

छाया:—सुवर्णरूप्पयो: पर्वता भवेयु:, स्याद् हि कैलाशसमा असंख्यका:।
नरस्य लुब्धस्य न तैः किञ्चित्, इच्छा हि आकाशसमा अनन्तिका ॥ ६ ॥

शब्दार्थ:—कैलाश पर्वत के समान सोने-चांदी के असंख्य पर्वत हों और वे मिल जाएं तो भी लोभी मनुष्य की किंचित् मात्र तृप्ति नहीं होती, क्योंकि इच्छा आकाश के समान अनन्त है-असीम है।

भाष्य:—यहां पर भी लोभ का वास्तविक स्वरूप अत्यन्त सुन्दर शैली से निरूपण किया गया है। यदि सोने और चांदी के अन-गिनते पर्वत खड़े कर दिये जावें और वे सब किसी एक लोभी व्यक्ति को सौंप दिये जावें, तब भी लोभी को उनसे तनिक भी संतोष नहीं होगा। यह पर्वत पाकर उसके अन्तःकरण में अधिकतर लोभ का उदय होगा और वह सोचने लगेगा कि-क्या ही अच्छा होता, अगर इनसे भी कई गुने पर्वत और मुझे मिल जावें।

मनुष्य क्यों सन्तुष्ट नहीं होता? इसका समाधान करते हुए बतलाया गया है कि इच्छा आकाश के समान अनन्त है। जैसे आकाश का कहीं और कभी अन्त नहीं आता, उसी प्रकार इच्छा का भी कभी अन्त नहीं आता।

आज जो सर्वथा दरिद्र है, जिसके पास खानेको अन्न नहीं है और पहनने को वस्त्र नहीं है, उसे खाने-पहननेकी व्यवस्था करदी जाय तो वह अन्न-वस्त्र के संचय की अभिलाषा करने लगेगा। संचय करने के लिए अगर अन्न और वस्त्र दे दिया जाय तो क्या उस की अभिलाषा समाप्त हो जायगी? कदापि नहीं। एक ओर वह संचय अधिक करने की इच्छा करेगा और दूसरी ओर उसे अन्यान्य भोगोपभोग सामग्री की इच्छा उत्पन्न होगी। इस प्रकार एक इच्छा की पूर्ति होने के साथ ही अनेक नवीन इच्छाओं का उदय होता

है। हजारपति लखपति बनने के लिए चोटी से एड़ी तक पसीना बहाता है, लखपति करोड़पति बनने के लिए मरा जाता है। करोड़पति अरबपति होने के लिए बेचैन है। किसी को अपने यशोविस्तार की लालसा सता रही है। कोई संतान की आशा लगाये बैठा है । किसी को कुछ चाहिए किसी को कुछ और इस प्रकार संसार लोभ के तीव्र दावानल में जल रहा है कहीं शान्ति दृष्टि गोचर नहीं होती। दुनियां के किसी कोने में साता का लेश भी प्रतीत नहीं होता। सर्वत्र तृष्णा! व्यापक असन्तोष! लोभ की परम पीड़ा! अनन्त आशाएं प्राणी मात्र को ऐसे भयंकर और दुर्गम मार्ग की ओर घसीटे लिये जा रही हैं, जिस मार्ग का कहीं अन्त नहीं है, कहीं ओर छोर नहीं है, जिसमें कहीं विश्राम नहीं है। विवेक रूपी नेत्रों पर पट्टी बांधकर प्राणी चला जा रहा है,–बिना सोचे-विचारे, बिना लक्ष्य का निश्चय किये!

जिनके विवेक-नेत्र खुले हैं उन्हें लोभ का यह भीषण स्वरूप देख कर, उससे विमुख होकर आत्मशान्ति के सुखद पथ पर प्रयाण करना चाहिए।

मूलः–पुढवी साली जवा चेव, हिरणं पसुभिस्सह।
पडिपुण्णं नालमेगस्स, इइ विज्जा तवं चरे ॥ ७ ॥

छायाः—पृथिवी शालिर्यवाश्चैव, हिरण्यं पशुभिः सह।
प्रतिपूर्णं नालमेकस्मै, इति विदित्वा तपश्चरेत् ॥ ७ ॥

शब्दार्थः–शालि, यव और पशुओं के साथ सोने से पूरी भरी हुई पृथ्वी एक मनुष्य की भी तृष्णा शान्त करने में समर्थ नहीं है। ऐसा जानकर तप का आचरण करना चाहिए।

भाष्यः—शालि और यव आदि विविध प्रकार के धान्यों से तथा सोने-चांदी आदि बहुमूल्य समझी जाने वाली धातुओं से और हाथी, घोड़ा, भैंस, गाय आदि पशुओं से पूर्ण रूप से भरी हुई पृथिवी, एक ही व्यक्ति को पूरी दे दी जाय तो वह भी उसे पर्याप्त न होगी। सम्पूर्ण भरी-पूरी पृथिवी पाकर भी एक व्यक्ति को संतोष नहीं हो सकता।

इच्छा की अनन्तता का दिग्दर्शन कराते हुए सूत्रकार ने स्पष्ट किया है कि मनुष्य किसी भी अवस्था में सन्तुष्ट नहीं हो सकता। यदि एक पृथ्वी उसे पूरी मिल जाय तो वह सोचने लगेगा-'क्या ही अच्छा होता यदि ऐसी-ऐसी दस-पांच पृथिवियां मुझे मिल जाती!' इस प्रकार उसकी इच्छा अधिक विस्तृत हो जायगी और तृष्णाजन्य दुःख उसे पूर्ववत् सताता रहेगा।

यहां यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि जब लोभ कभी शान्त नहीं होता, इच्छा का कहीं अन्त नहीं आता, तृष्णा सदा बढ़ती रहती है, अभिलाषाएं असीम हैं और इनकी पूर्त्ति होना कदापि संभव नहीं है, तब क्या करना चाहिए? इन सब

से छुटकारा पाने का कोई उपाय है या नहीं ? अगर उपाय है तो क्या है ? किस प्रकार प्राणी इनके चंगुल से बच सकता है ?

इस जिज्ञासा का निवारण करने के लिए सूत्रकार कहते हैं - 'इइ विज्जा तवं चरे।' अर्थात् इच्छा की असीमता, अनन्तता जान करके तप का आचरण करना चाहिए।

तप का स्वरूप बताते हुए आचार्यों ने कहा है—'इच्छानिरोधस्तपः।' अर्थात् इच्छाओं का दमन करना तप कहलाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इच्छाओं को नष्ट करने का एकमात्र उपाय यही है कि अन्तःकरण में इच्छा का उद्भव ही न होने दिया जाय। जैसे अग्नि में ईंधन डालते जाने से अग्नि का उपशम नहीं होता उसी प्रकार इच्छाओं की तृप्ति के लिए सामग्री जुटाते जाने से इच्छाओं की पूर्ति-उपशान्ति नहीं हो सकती। अतएव सर्वोत्तम यह है कि इच्छा की उत्पत्ति न होने दी जाय और अगर कभी कोई इच्छा उत्पन्न हो जाय तो उसका दमन कर दिया जाय।

दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि मनुष्य को इच्छा का दास नहीं, स्वामी बनना चाहिए। जब मनुष्य में बुद्धि वैभव है, उसमें उज्ज्वल शक्ति के उत्कृष्ट अंश विद्यमान हैं तो वह इच्छा के इशारे पर क्यों नाचे ? उसे इच्छा को ही अपने इशारे पर नचाना चाहिए। मनुष्य अपने अन्तःकरण का स्वामी है और इच्छा अन्तःकरण की दासी है। क्या मनुष्य को यह शोभा देता है कि वह जिसका स्वामी है, उसकी दासी की अधीनता अंगीकार करे ?

मानव-जीवन अत्यन्त प्रशस्त है, पर इच्छाओं ने उसे अत्यन्त अप्रशस्त बना दिया है। इच्छाओं के भार से लदा हुआ मनुष्य कभी उन्नति-ऊंची प्रगति-नहीं कर सकता। इच्छा की भूल भुलैया में पड़कर मानव-जीवन पथभ्रष्ट हो गया है। इच्छाओं ने जीवन को अत्यन्त जटिल और व्यस्त बना दिया है।

इच्छाओं की दासता स्वीकार करके मनुष्य प्रत्येक पाप में प्रवृत्त हो जाता है। स्वार्थपरता, हृदयहीनता और निष्ठुरता मनुष्य में कहां से आई है ? इच्छाओं के असीम प्रसार से। मनुष्य पर्याप्त जीवन सामग्री पा करके भी, इच्छा का गुलाम होकर उस प्राप्त सामग्री से संन्तुष्ट नहीं होता। वह अधिकाधिक-निरर्थकप्रायः सामग्री के संचय में इतना व्यस्त रहता है कि उसे अपने भाई-बन्धुओं के जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं का विचार नहीं आता। वह उनके साथ अमानुषिक अत्याचार करता है, अत्यन्त निष्ठुर व्यवहार करता है। इस प्रकार इच्छाओं के स्वच्छंद प्रसार के कारण ही यह मानवीय जगत् नारकीय भूमि बन गया है। प्राणी-सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ विधान मानव-राक्षस के रूप में परिणत हो गया है।

इच्छाओं के प्रसार का यह ऐहलौकिक दिग्दर्शन है। आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होगा कि इच्छा मात्र आध्यात्मिक विकास में प्रबल बाधा है। जब तक इच्छाओं की निवृत्ति नहीं हो जाती तब तक तपस्या का आरंभ ही भली-भांति नहीं होता, क्योंकि पहले बताया जा चुका है कि इच्छा का निरोध करना ही तप है।

यहां यह आशंका की जा सकती है कि यदि मनुष्य अपनी सम्पूर्ण इच्छाओं का समूल विनाश कर डालें तो सब बेकार, निरुद्योग, प्रवृत्तिहीन या निर्जीव से बन जाएंगे। इच्छाएं ही मनुष्य को प्रवृत्त करती हैं, वही प्रेरणा प्रदान करती हैं, उनके सहारे जगत् कार्य-व्यापृत होता है।

इस संबंध में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि इच्छाएं प्राणी को प्रेरणा प्रदान अवश्य करती हैं, पर वह प्रेरणा पाप की प्रेरणा होती है। जो इच्छाएं मनुष्य को दिव्य पथ की ओर प्रेरित करती हैं, वे निस्सन्देह शुभ इच्छाएं हैं, परन्तु उनका महत्त्व उतना ही है जितना विष का नाश करने के लिए विष का महत्त्व है और कांटा निकालने के लिए कांटे का है।

इच्छाओं की यह वास्तविकता जान कर विवेकशील पुरुषों को तपस्या का आचरण करना चाहिए। इसके बिना इह-पर लोक में सुख का अन्य साधन नहीं है।

मूलः—अहे वयइ कोहेणं, माणेणं अहमा गई।
माया गइपडिग्घाओ लोहाओ दुहओ भयं ॥ ८ ॥

छायाः—अधो व्रजति क्रोधेन, मानेनाऽधमा गति।
मायया गतिप्रतिघातः, लोभाद् द्विधा भयम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थः—आत्मा क्रोध से अधोगति में जाता है, मान से अधम गति की प्राप्ति होती है, माया सुगति में बाधा पहुंचाती है और लोभ से दोनों भवों में भय रहता है।

भाष्यः—चारों कषायों का स्वरूप प्रदर्शित करने के पश्चात् यहां कषायों का फल बतलाया जा रहा है।

क्रोध से यह जीव नरक आदि अधोगतियों का पात्र बनता है। मान कषाय से अधम गति की प्राप्ति होती है। माया सद्गति रूपी द्वार में प्रवेश करने से रोकने वाली है और लोभ से वर्त्तमान जीवन तथा आगामी भव भयपूर्ण हो जाते हैं।

क्रोध आदि कषायों का दुर्गति की प्राप्ति रूप फल यहां समान बताया गया है। इन कषायों की उत्पत्ति के स्थान भी समान ही हैं। श्री प्रज्ञापना सूत्र में कहा है—

'कतिहिं भंते! ठाणेहिं कोहुप्पत्ती भवति? गोयमा! चउहिं ठाणेहिं कोहुप्पत्ती भवति, तंजहा-खेत्तं पडुच्च, वत्थुं पडुच्च, शरीर पडुच्च, उवहिं पडुच्च।

अर्थात्-भगवन्! क्रोध की उत्पत्ति कितने स्थानों से होती है? (उत्तर) हे गौतम! चार स्थानों से क्रोध उत्पन्न होता है-(१) क्षेत्र से (२) वास्तु से (३) शरीर से और (४) उपधि से, इस प्रकार चार स्थानों से क्रोध उत्पन्न होता है।

नारकी जीवों को नरक क्षेत्र से, तिर्यञ्चों को तिर्यञ्च क्षेत्र से क्रोध उत्पन्न होता है। किसी-किसी को सचेतन या अचेतन वस्तु के निमित्त से क्रोध की उत्पत्ति होती है। किसी को शरीर की कुत्सित आकृति देख कर क्रोध उत्पन्न होता है और किसी को उपधि-उपकरण के निमित्त से क्रोध उत्पन्न होता है। इसी प्रकार मान, माया

और लोभ के संबंध जानना चाहिए।

वास्तव में कपाय कर्म-बंध का प्रबल कारण है। जब जीव कपाय से युक्त होता है तब वह कार्माण वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके उन्हें कर्म रूप परिणत करता है। कपाय से ही आत्मा में कर्मों की स्थिति होती है और कपाय ही कर्मों में फल देने की शक्ति उत्पन्न करता है। जिस जीव के कपाय का अभाव हो जाता है उसके आत्मा में न तो कर्मों की स्थिति हो सकती है, न उसे कर्म फल ही प्रदान कर सकते हैं। आगम में कहा है—

'जीवा णं भंते! कतिहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपगडीओ चिणिंसु? गोयमा! चउहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपगडीओ चिणिंसु-तंजहा-कोहेणं, माणेणं, मायाए, लोभेणं। जीवा णं भंते! कतिहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपगडीओ चिणंति? गोयमा! चउहिं ठाणेहिं, तं जहा-कोहेणं, माणेणं, मायाए, लोभेणं।...जीवा णं भंते! कतिहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपगडीओ चिणिस्संति! गोयमा! चउहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपगडीओ चिणिस्संति। तंजहा-कोहेणं, माणेणं, मायाए, लोभेणं।

भंते! जीवों ने कितने कारणों से आठ कर्म प्रकृतियों का चय किया है? हे गौतम! चार कारणों से अर्थात् क्रोध से, मान से, माया से और लोभ से। भगवन्! कितने कारणों से जीव आठ कर्म प्रकृतियों का संचय करते हैं? गौतम! चार कारणों से, क्रोध, मान, माया और लोभ से। भगवन्! कितने कारणों से जीव आठ कर्म प्रकृतियों का संचय करेंगे? गौतम! चार कारणों से—क्रोध से, मान से, माया से और लोभ से।

इसी आगम में, इससे आगे आठ कर्म प्रकृतियों के वन्ध के विषय में श्री गौतम स्वामी ने प्रश्न किये हैं और श्रमण भगवान् ने उनका उत्तर प्रदान किया है कि, जीव क्रोध आदि चार कपायों के द्वारा आठ कर्मों का बंध करता है, इन्हीं चार कपायों से भूतकाल में सब जीवों ने कर्म बंध किया है और इन्हीं से भविष्यकाल में कर्म बंध करेंगे।

आत्मा का अहित कपायों द्वारा जितना होता है, उतना किसी अन्य शत्रु द्वारा नहीं हो सकता। कपाय आत्मा का सब से प्रबल और भयंकर शत्रु हैं।

कहा भी है—

अयमात्मैव संसारः कपायेन्द्रियनिर्जितः।
तमेव तद्विजेतारं, मोक्षमाहुर्मनीपिणः॥

अर्थात् कपाय और इन्द्रियां जिस आत्मा पर विजय प्राप्त कर लेती हैं—जो आत्मा इनसे पराजित हो जाता है वही संसार रूप है। इससे विपरीत जो आत्मा कपाय और इन्द्रिय को जीत लेता है वह स्वयं मोक्ष स्वरूप है। तात्पर्य यह है कि संसार और मोक्ष रूप अवस्थाएँ कपायों के न जीतने और जीतने पर निर्भर हैं।

ऐसी अवस्था में मुमुक्षु पुरुष का कर्त्तव्य स्पष्ट है। अगर वह कर्मों पर विजय

पाना चाहता है तो उसे अपने कषायों पर विजय पानी चाहिए। जिसने अपने अन्तः-करण में कषायों का विष नहीं फैलने दिया, वह मुक्ति के समीप पहुँच गया।

मूलः—कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो ॥६॥

छायाः—क्रोधः प्रीतिं प्रणाशयति, मानो विनयनाशनः।
माया मित्राणि नाशयति, लोभः सर्वविनाशनः ॥ ६ ॥

शब्दार्थः—क्रोध प्रीति को नष्ट करता है, मान विनय का नाश करता है, माया मित्रता का नाश करती है और लोभ सभी कुछ नष्ट कर देता है।

भाष्यः—गाथा का भाव सुगम और स्पष्ट है। क्रोध ऐसी अग्नि है जिसकी लपटों में प्रीति का लहराता हुआ पौधा जीवित नहीं रह सकता है। क्रोध की लपटें लगते ही वह मुरझा कर फिर भस्म हो जाता है। इसी प्रकार मान कषाय के कारण प्राणी में ऐसी कठोरता एवं उद्दण्डता का उद्भव होता है जिससे उसकी विनम्रता तत्काल नष्ट हो जाती है।

जहाँ निष्कपटता नहीं है वहां मैत्री नहीं रह सकती। स्वार्थ या कपट की घोर दुर्गन्ध में मैत्री की पावन सुरभि तत्काल प्रभावहीन हो जाती है। मायाचार मैत्री का कलंक है और वह जहां होगा वहां मैत्री घोर शत्रुता के रूप में परिणत हुए बिना नहीं रह सकेगी। मायावी मनुष्य अपने कपटाचार की कैंची से अपने समस्त सद्गुणों को काट फैंकता है। उसके अन्तःकरण की कालिमा में उसके अन्यान्य उज्ज्वल गुण डूब जाते हैं।

इसी प्रकार लोभ मानव जीवन को निरर्थक बना डालता है। लोभी पुरुष, लोभ के वश होकर अपने समस्त सांसारिक सुखों को तिलांजलि दे देता है और सिर्फ अर्थ-चिन्ता में ही निमग्न रहता है। लोभी जीव अर्थ का स्वामी नहीं है, बल्कि अर्थ ही उसका स्वामी है। वह अर्थ का उपभोग नहीं कर सकता किन्तु अर्थ ही उसका उपभोग करता है। वह जितना उपार्जन करता है उससे कई गुना उपार्जन करने की लालसा रखता है, इसलिए उपार्जित धन के द्वारा होने वाली प्रसन्नता, उपार्जन की तीव्र लालसा से आच्छादित हो जाती है और उपार्जित धन उसे आनन्ददायक नहीं होता। वास्तव में लोभी मनुष्य अत्यन्त करुणा का पात्र है। वह दुःखी मानव इस लोक में जैसे सुख के स्पर्श से भी शून्य होता है उसी प्रकार आगामी भव में भी। वह न यहां का रहता है, न वहां का रहता है। मृत्यु-काल में, जब समस्त उपार्जित धन के सम्पूर्ण त्याग का अवसर अनिवार्य रूप से आ जाता है तब उसकी कैसी दयनीय दशा होती है! वह घोर ममता के साथ मर कर नरक का अतिथि बनता है! इसी लिए सूत्रकार कहते हैं—'लोहो सव्वविणासणो' अर्थात् लोभ सर्वनाश करने वाला है। इस लोक और परलोक दोनों को बिगाड़ने वाला है। लोभ मनुष्य को किंचित् भी सुख नहीं देता।

अतएव सुख की कामना करने वालों का यह परम कर्त्तव्य है कि वे क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषायों पर विजय पाने का उत्तरोत्तर प्रयास करते जाएँ। अन्तःकरण की वृत्तियों में उज्ज्वलता उत्पन्न करें। क्षमा, नम्रता, सरलता और उदारता का अभ्यास करें। इन सात्विक वृत्तियों से जीवन आनन्दमय, प्रमोदमय, संतोषमय और शान्तिमय बनता है। जीवन का वास्तविक लाभ लेने के लिए इन वृत्तियों की वृद्धि होना अत्यावश्यक है।

मूलः—उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायमज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे ॥१०॥

छायाः—उपशमेन हन्यात् क्रोधं, मानं मार्दवेन जयेत्।
मायामार्जवभावेन, लोभं सन्तोषतो जयेत् ॥ १० ॥

शब्दार्थः—उपशम से क्रोध का नाश करना चाहिए। नम्रता से मान को जीतना चाहिए। आर्जव से माया को और सन्तोष से लोभ को जीतना चाहिए।

भाष्यः—शास्त्रकार ने पूर्व गाथा में कषायों से होने वाली हानियों का दिग्दर्शन करा कर प्रस्तुत गाथा में कषाय-विजय के उपायों का निर्देश किया है।

क्रोध को उपशम से अर्थात् शान्ति से जीतना चाहिए। जब क्रोध के आवेश से सन्ताप की उत्पत्ति हो जाती है तब शान्ति के सिवाय उस संताप को निवारण करने का अन्य उपाय नहीं हो सकता। क्रोध को जीतने के लिए क्रोध के कारणों से बचना चाहिए, क्रोध के दुष्परिणामों पर विचार करना चाहिए, क्षमा के लाभों को विचारना चाहिए और इन सब के द्वारा हृदय में उपशमवृत्ति ऐसी दृढ़ बना लेनी चाहिए कि क्रोध की उत्पत्ति के लिए अवकाश ही न रहे।

उपशम के समीप क्रोध का संताप ठहर नहीं सकता। जल से परिपूर्ण सरोवर में जैसे सूर्य का संताप कष्टकारक नहीं हो सकता, अथवा जल में जिस प्रकार अग्नि उत्पन्न नहीं हो सकती, उसी प्रकार उपशम रूप सलिल जिस हृदय-सरोवर में भरा होगा उसमें क्रोध की अग्नि कदापि उत्पन्न न हो सकेगी।

मार्दव गुण के द्वारा मान का मद-भंजन करना चाहिए। मृदुता या कोमलता को मार्दव कहते हैं। अभिमान की कठोरता को नष्ट करने के लिये मार्दव ही एक मात्र सफल शस्त्र है। पहले बतलाया जा चुका है कि अभिमान के प्रबल उदय से मनुष्य अन्धा बन जाता है। वह अपनी वास्तविक स्थिति को नहीं सोचता और न दूसरों की सच्ची स्थिति का ही विचार करता है। अभिमानी पुरुष अपने में असत् या नाम मात्र को सत् कतिपय गुणों को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर सोचता है और दूसरों के विशाल गुणों को अत्यन्त अल्प मात्रा में समझता है, या उनका अपलाप ही कर डालता है। अत्यन्त परिमित और क्षुद्र बुद्धि होने पर भी अभिमानी अपने आपको सर्वज्ञ की कोटि में रख देगा और अत्यन्त विशाल बुद्धिशाली होने पर भी दूसरों को जड़ या मूढ़ समझेगा! अभिमानी अपनी बुद्धि के मद में चूर होकर अपने सामने

अन्य को अपदार्थ समझता है पर उस वेचारे को अपनी बुद्धि की क्षुद्रता को जान लेने की भी बुद्धि नहीं है !

इसी प्रकार अन्यान्य विषयों में भी वह अपनी सच्ची स्थिति से अनभिज्ञ रहता है और दूसरों की उच्च स्थिति की मर्यादा भी नहीं समझ पाता।

अभिमान रूपी इस मानसिक अंधता के रोग का निवारण करगे के लिए शास्त्रकार ने उपचार बताया है—मार्दव। मृदुता, कोमल वृत्ति अथवा नम्रता का भाव ही इस रोग को दूर कर सकता है। जहां मार्दव है, अपने गुणों की मात्रा को घटाकर देखने और प्रकाशित करने की वृत्ति विद्यमान है, वहीं उन्नति के लिए पूरा अवकाश रहता है। ऐसा नम्र व्यक्ति यथेष्ट प्रगति कर सकता है। अतएव मान को जीतने के लिए मार्दव का विकास करना चाहिए।

माया को आर्जव से जीतना चाहिए। मन, वचन और काय की सरलता आर्जव कहलाती है। मन में जैसी वात हो, वही वचन से प्रकाशित करना और जो वात वचन द्वारा प्रकाशित की है वही काय के द्वारा करना, यह आर्जव है और इससे माया कपाय पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

आत्मा की विशुद्धि के लिए माया के परित्याग की अत्यन्त आवश्यकता है। माया को शास्त्रकारों ने शल्यों में परिगणित किया है और शल्यों का न होना व्रत पालन के लिए आवश्यक कहा है। इसका अर्थ यह निकलता है कि जिसके अन्तः-करण में मायाचार विद्यमान है वह व्रती अवस्था में नहीं आ सकता। अतएव व्रत-पालन के लिए निष्कपटता अनिवार्यरूपेण आवश्यक है।

लोभ को संतोप से जीतना चाहिए। इस विपय का प्रतिपादन पहले किया जा चुका है, अतएव यहां पुनरावृत्ति नहीं की जाती। हां, इतना समझ रखना चाहिए कि संतोष का भाव उत्पन्न हो जाने पर मनुष्य हीन से हीन अवस्था में, कठिन से कठिन विपदा में भी सुखी रहता है। संतोषी पुरुष के चारों ओर आनन्द का ही वातावरण होता है। इससे विपरीत, असंतोषी व्यक्ति उच्च से उच्च कोटि पर पहुँच कर भी, विशाल साम्राज्य का अधिपति वन जाने पर भी, कभी सुखी नहीं वन सकता। असन्तोप की लपटें उसे जलाती रहती हैं और वह सदैव दुःखमय बना रहता है।

लोभ कपाय वाले जीव संसार में सब से अधिक हैं। कपायों का अल्प बहुत्व वताते हुए कहा गया है कि—मान कपायी जीव क्रोध आदि कपाय वालों से कम हैं। क्रोधी जीव मान कपाय वालों से अधिक हैं। मायावी क्रोधियों से अधिक हैं और लोभी मायावियों से भी विशेषाधिक हैं। लोभ कपाय, अन्य कपायों का अभाव हो जाने पर भी वना रहता है और दसवें गुणस्थान के अन्त में नष्ट होता है। ऐसा होने पर भी स्थूल लोभ तथा अन्य क्रोध आदि का विनाश करने के लिए प्रत्येक को प्रयत्न-शील होना चाहिए।

मूलः—असंखयं जीविय मा पमायए,
जरोवणीयस्स हु णत्थि ताणं।
एअं वियाणाहि जणे पमत्ते,
किं नु विहिंसा अजया गहिंति ? ॥११॥

छायाः—असंस्कृतं जीवितं मा प्रमादीः, जरोपनीतस्य हि नास्ति त्राणम्।
एवं विजानीहि जनाः प्रमत्ताः, किं नु विहिंसा अयता ग्रहीष्यन्ति ॥११॥

शब्दार्थः—यह जीवन असंस्कृत है—आयु टूट जाने पर फिर जुड़ नहीं सकती। इसलिए प्रमाद न करो। वृद्धावस्था में प्राप्त हुए पुरुषों को कोई भी शरणदाता नहीं है- उन्हें मृत्यु से बचाने में कोई भी पुरुष सामर्थ्यवान नहीं है। इसे भलीभाँति समझ लो कि प्रमादी, हिंसक और अयतना से प्रवृत्ति करने वाले-अजितेन्द्रिय पुरुष किस की शरण लेंगे ? अर्थात् अन्त में उन्हें कोई शरण न दे सकेगा !

भाष्यः—कषायों का स्वरूप, उनसे होने वाले दुष्परिणाम तथा उनके उपशमन के उपायों का निरूपण करने के पश्चात् सूत्रकार यहां कषायों की उपशान्ति की आवश्यकता प्रदर्शित करते हैं।

क्रोध कषाय की उपशान्ति रूप क्षमा है, मान कषाय की उपशान्ति होना मार्दव है, माया कषाय का अभाव होना आर्जव है, और लोभ कषाय का नष्ट होने से तप, त्याग, आकिंचिन्य, ब्रह्मचर्य आदि की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार विचार करने से प्रतीत होता है कि दस धर्मों का आविर्भाव कषाय के उपशम पर निर्भर है। अतएव कषायों का उपशम धर्म है और और धर्म ही संसारी जीवों के लिए शरण-दाता है।

कहा भी है—

धम्मो चेवेत्थ सत्ताणं, सरणं भवसायरे।
देवं धम्मं गुरुं चेव, धम्मत्थी य परिक्खए॥

अर्थात् संसार रूपी समुद्र में, जीवों के लिए धर्म ही शरण है। धर्मार्थी पुरुष को देव, धर्म और गुरु की परीक्षा करना चाहिए।

जीवों को धर्म ही शरण है अर्थात् कषायों का उपशम ही उनकी रक्षा कर सकता है-अन्य कोई नहीं। इसीलिए कषायों के उपशम की अत्यन्त आवश्यकता है। यह आवश्यकता प्रदर्शित करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

जीवन संस्कार-हीन है। जैसे फटा हुआ कागज गोंद से चिपक जाता है अथवा टूटा हुआ घड़ा राल आदि द्रव्यों से जुड़ जाता है, उस प्रकार जीवन टूट जाने पर अर्थात् आयु समाप्त हो जाने पर उसे जोड़ने वाली वस्तु संसार में नहीं है। मृत को जीवित करने की भी कोई औषधि संभव नहीं है। अतएव आयु की समाप्ति पर मृत्यु के अतिरिक्त दूसरा विकल्प नहीं है। जब मृत्यु ध्रुव है, निश्चित है तो, जीवन के

इस अल्प काल में प्रमाद का परित्याग करके धर्म की आराधना करनी चाहिए।

बुढ़ापा आने पर-जब इन्द्रियां शिथिल पड़ जाएंगी, शरीर कार्यक्षम नहीं रहेगा, आयु का अन्त निकट आजायगा तब संसार का कोई भी प्राणी शरण नहीं दे सकेगा। इस तथ्य को समझो, इस पर शान्ति के साथ विचार करो।

जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन प्रमाद ही प्रमाद में यापन कर दिया है जिनके दिल में दया का कभी उद्रेक नहीं हुआ—जो हिंसा में परायण रहे हैं, जिन्होंने इन्द्रिय विजय नहीं किया है, जो सावधान होकर क्रिया नहीं करते, वे अन्त में किसका शरण लेंगे? जैसा कि अभी कहा है--धर्म ही एक मात्र शरण है और वह कपायों की उपशान्ति रूप है। जिन्होंने कपायों का दमन करके धर्म को ग्रहण नहीं किया, वे अन्त में किसी का शरण ग्रहण नहीं कर सकते। उन्हें बचाने वाला कोई नहीं है। सघन वन में जैसे मृग की सिंह से रक्षा कोई नहीं कर सकता, उसी प्रकार जीवन की अंतिम वेला में धर्म के सिवाय और कोई जीव की रक्षा नहीं कर सकता।

धर्म परलोक में सुख का साधन है। संसार का समस्त ऐश्वर्य, विपुल द्रव्य, विशाल परिवार और स्नेहीजन, सब यहां के यहीं रह जाते हैं। आगामी भव में उनमें से कोई सहायक नहीं होता। अतएव परलोक का सच्चा सखा, सुख प्रदान करने वाला एक मात्र सहारा धर्म है। धर्म का संग्रह करो। धर्म को अन्तरात्मा में जागृत करो। धर्म के लिए जीवन अर्पण कर दो। धर्म की रक्षा करो। अन्तरात्मा को निर्मल बनाओ। प्रमाद को हटाकर, भूतदया करो-विवेक के साथ धर्म की अंतरंगता को समझकर उसकी आराधना करो।

मूलः-वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते, इमम्मि लोए अदुवा परत्था।
दीवप्पणट्ठेव अणंतमोहे, नेयाउअं दट्ठुमदट्ठुमेव ॥१२॥

छायाः—वित्तेन त्राणं न लभेत प्रमत्तः, अस्मिल्लोकेऽथवा परत्र।
दीपप्रणष्ट इव अनन्त मोहः, नैयायिकं दृष्ट्वाऽप्यदृष्ट्वेव ॥ १२ ॥

शब्दार्थः--प्रमादी पुरुप इस लोक में अथवा परलोक में धन से त्राण नहीं पाता। जैसे दीपक के बुझ जाने पर न्याययुक्त मार्ग देखा हुआ भी न देखे के समान हो जाता है।

भाष्यः—संसार में अनेक मनुष्य ऐसे हैं जो धन को सर्वशक्तिमान माने बैठे हैं। वे सोचते हैं-'धन से क्या नहीं हो सकता! अगर हमारे पास पर्याप्त सम्पत्ति है तो रोग उत्पन्न होने पर हजारों वैद्य बुलाये जा सकते हैं। लाखों की औषधि खरीदी जा सकती है। फिर भय किस बात का है?' ऐसे लोगों की विचारधारा को भ्रमपूर्ण प्रदर्शित करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—'वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते।' अर्थात् कपाय आदि प्रमादों का सेवन करने वाला प्रमादी पुरुप धन से त्राण नहीं पा सकता। धन से न तो रोगों के उपशमन का नियम है, न आयु की वृद्धि हो सकती है। नष्ट आयु जब महाप्रयाण के लिए प्राणी को प्रेरित करती हैं, तब बहुमूल्य

मोतियों की माला भी फांसी का फंदा बन जाता है। अपरिमित धन से परिपूर्ण कोष मिट्टी के ढेर की भांति वृथा हो जाता है।

कहा भी है—

अक्षय धन-परिपूर्ण खजाने, शरण जीव को होते,
तो अनादि के धनी सभी, इस पृथ्वी पर ही होते।
पर न कारगर धन होता है, बंधु ! मृत्यु की वेला,
राजपाट सब छोड़ चला जाता है जीव अकेला ॥

धन मृत्यु से रक्षा करने में समर्थ होता तो धनी मनुष्य कभी न मरते। वे अपने धन से या तो नूतन जीवन खरीद लेते या मृत्यु को टाल देते। पर संसार में ऐसा देखा नहीं जाता। अनादिकाल से लेकर अब तक असंख्य षट् खंड के अधिपति और चौदह दिव्य रत्नों एवं नव निधियों के स्वामी चक्रवर्ती तथा अन्यान्य अपरिमित धन से सम्पन्न पुरुष इस भूतल पर अवतीर्ण हुए हैं, पर उनमें से आज एक भी कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता ! वे सब आज कहां हैं ? धन ने उनका त्राण नहीं किया। उनकी असीम सम्पत्ति उन्हें मौत से बचाने में समर्थ नहीं हो सकी। वह ज्यों की त्यों पड़ी रही और उसका स्वामी चुपचाप चलता बना। संसारी जीव की विवशता प्रत्यक्ष दिखाई दे रही है, फिर भी अज्ञान मनुष्य धन का आश्रय लेना चाहता है ! मौत को घूंस देकर मौत से बचने का मूर्खतापूर्ण विचार करता है !

कदाचित् इस लोक का धन परलोक में हमारी रक्षा न कर सकेगा तो इस लोक में तो करेगा, ऐसा विचारने वालों का भ्रम निवारण करते हुए कहा गया है— 'इमम्मि लोए अदुवा परत्था।' अर्थात् धन न इस लोक में शरण है, न परलोक में शरण है।

इस लोक का धन परलोक में साथ नहीं जाता है, अतएव यह स्पष्ट है कि धन परलोक में शरणदाता नहीं है। परन्तु यह भी प्रत्यक्ष सिद्ध है कि इस लोक का धन इस लोक में भी शरणदाता नहीं है। जब पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मों का फल भोगना पड़ता है और फलस्वरूप नाना प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक कष्ट आकर मनुष्य को घेर लेते हैं, तब धन उन कष्टों का प्रतीकार करने में सर्वथा असमर्थ बन जाता है। कभी-कभी ऐसी विकट वेदना का शरीर में प्रादुर्भाव होता है कि लाखों उपाय करने पर भी और करोड़ों रुपये लुटा देने पर भी उसका उपशमन नहीं होता ! इसी प्रकार विरुद्ध वर्त्ताव करने वाले स्वजनों के निमित्त से जो मानसिक पीड़ा होती है उसका प्रतीकार धन से होना असंभव बन जाता है। अतएव यह सत्य है कि वित्त के द्वारा मनुष्य न इस लोक में शरण पा सकता है, न परलोक में ही।

वस्तुतः धन शरणभूत नहीं है, फिर भी जो लोग अज्ञान से आवृत होने के कारण उसे आश्रयदाता मानते हैं, उनकी क्या दशा होती है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

वे मोही जीव दीपक के नष्ट हो जाने पर न्याययुक्त मार्ग को देखते हुए भी नहीं देखने वाले के समान हैं। जैसे—मूल्यवान् धातु की खोज करने वाले मनुष्य दीपक को लेकर पर्वत की गुफा की ओर गये और उस दीपक से गुफा देख भी ली। परन्तु गुफा में प्रवेश करते समय उन्होंने उस दीपक की परवाह नहीं की। उनके प्रमाद से दीपक बुझ गया। तब उन्होंने अंधेरे में इधर-उधर भटकते हुए प्राणान्तकारी कष्ट पाया। इसी प्रकार प्रमादी जीव धर्म के द्वारा मुक्ति-पथ को देख लेने पर भी, द्रव्य के लोभ में पड़कर उस धर्म की उपेक्षा कर देते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि उन्हें जन्म-जन्मान्तरों में जन्म-मृत्यु के भयंकर कष्ट उठाने पड़ते हैं।

सार यह है कि प्रत्येक विवेकशील पुरुष यह समझ ले कि धन दुःखों से कदापि नहीं बचा सकता, यही नहीं बल्कि धन दुःख की उत्पत्ति में उल्टा सहायक होता है। अतएव धन पाकर किसी को निर्भय नहीं बन जाना चाहिए। प्रमाद-पूर्ण जीवन व्यतीत नहीं करना चाहिए। अन्ततः धर्म की शरण लेने से ही आत्मा का वास्तविक कल्याण हो सकता है। इस कारण कषाय के उपशम रूप धर्म की शरण ग्रहण करना चाहिए। इसके अतिरिक्त संसार में अन्य कोई भी वस्तु मनुष्य को आश्रय नहीं दे सकती।

मूलः—सुत्तेसु यावि पडिबुद्धजीवी, न वीससे पंडिए आसुपन्ने। घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं, भारण्डपक्खीव चरऽप्पमत्तो ॥ १३ ॥

छायाः—सुप्तेषु चापि प्रतिबुद्धजीवी, न विश्वसेत् पण्डित आशुप्रज्ञः।
घोरा मुहूर्त्ता अबलं शरीरं, भारण्डपक्षीव चराऽप्रमत्तः ॥ १३ ॥

शब्दार्थः—तीक्ष्ण बुद्धि वाला, तत्व का स्वरूप जानने वाला, हिता-हित का विवेकी पंडित पुरुष द्रव्य और भाव से निद्रा के अधीन हुए मनुष्यों पर विश्वास न करे उनका अनुकरण न करे। क्योंकि काल भयंकर है और शरीर निर्बल है, अतएव भारंड पक्षी की भांति प्रमादहीन होकर विचरण करो।

भाष्यः—प्रकृत गाथा में भी प्रमाद का परित्याग करके धर्म-साधन की आवश्यकता प्रदर्शित की गई है।

निद्रा दो प्रकार की है—(१) द्रव्य निद्रा और (२) भाव निद्रा। जिस निद्रा में शारीरिक व्यापार स्थगित हो जाता है और जो दर्शनावरण कर्म के उदय से आती है वह द्रव्य निद्रा है। सुयोग्य मानसिक व्यापार अर्थात् हित-अहित के विवेक का स्थगित होना भाव-निद्रा है। यह निद्रा मोहनीय कर्म के उदय से आती है। द्रव्य निद्रा अल्पकालीन होती है और उसकी समाप्ति होने पर शरीर में नवीन स्फूर्ति आती है, भाव निद्रा आजीवन और आगामी जीवन पर्यन्त भी बनी रह सकती है और वह आत्मा को स्फूर्तिहीन एवं प्रमत्त बनाती है। जो पुरुष भाव-निद्रा से मुक्त हैं अर्थात् वास्तविकता का विचार करने में दक्ष हैं, तत्त्व-चिन्ता में जिनकी बुद्धि स्थ-

गित नहीं हो जाती, साथ ही पर्याप्त बुद्धि होने से वस्तुस्वरूप को जो शीघ्र ही ग्रहण कर लेते हैं, जो पंडित हैं अर्थात् हित एवं अहित का विश्लेषण करने का सामर्थ्य जिन्हें प्राप्त है, ऐसे बुद्धिमान् एवं विवेकीजनों को चाहिए कि वे द्रव्य-निद्रा और भाव-निद्रा के वशीभूत हुए प्रमत्त पुरुषों का अनुकरण न करें।

मनुष्य में अनुकरण करने की वृत्ति स्वाभाविक है। बालक अनुकरण के द्वारा ही अनेक बातें सीखता है और बड़े-बूढ़े भी अन्य का अनुकरण करते हैं। इस प्रकार अनुकरण मनुष्य समाज का एक सामान्य और अनिवार्य भाव बन चुका है। उसकी उपयोगिता में भी सन्देह नहीं किया जा सकता। अनुकरण ने अनेक कलाओं को भी जन्म दिया है। इतना होने पर भी उसका कृष्ण पक्ष (काली बाजू) कम भयानक नहीं है। लोग सत्-अनुकरण की अपेक्षा असत्-अनुकरण करने में अधिक रुचि रखते हैं और असदनुकरण की ओर ही अधिक झुकते देखे जाते हैं। विदेशीय जनता का अनुकरण करके अपने देश की पोशाक का—जो क्षेत्र, काल आदि के लिहाज से अधिक उपयोगी है—परित्याग कर देना, आर्यजनोचित भोजन-पान का त्याग करके सत्वहीन, अविशुद्ध और हानिकारक भोजन-पान को देखादेखी अपनाना, तथा विवाह आदि लौकिक संस्कारों के अवसर पर श्रीमानों का अनुकरण करके वृथा धन-व्यय करना पर धार्मिक, सामाजिक एवं जातीय हितों की उपेक्षा करना, बिना सोचे-विचारे, परम्परा से चली आई हुई अनेक कुत्सित परम्पराओं का पालन करना, इत्यादि अनेक उदाहरण हैं जिनमें असदनुकरण का प्रभाव ही मुख्य है। किन्तु सच्चा विवेकवान् वह है जो अपनी बुद्धि से सत्-असत् का विवेक करके सत् का अनुकरण करता है और असत् का परित्याग कर देता है। शास्त्रकार ने यहां यही बात बतलाई है कि जो लोग द्रव्यनिद्रा एवं भाव निद्रा में सोते पड़े हैं अर्थात् जो शरीर एवं मन से प्रमादशील हैं, उन पर भरोसा न करो। उनका अनुकरण न करो। उन्हें अपना आदर्श न समझो। उन्हें आदर्श समझने से तुम स्वयं उनके समान बनने के लिए ललचाओगे और प्रयत्न करके उन्हीं जैसे बन जाओगे। वे सोये पड़े हैं। जागृति से बहुत दूर हैं। तुम न सोओ, जागृत रहो।

जागृत रहने की क्या आवश्यकता है ? अगर कोई सोया पड़ा है तो वह सोता रहे—कभी न कभी जाग उठेगा। इतनी जल्दी क्या पड़ी है ?

इस प्रकार की आशंका का उत्तर देते हुए सूत्रकार ने कहा है—'घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरम्।' अर्थात् काल भयंकर है और शरीर निर्बल है। मुहुत्त शब्द यहां सामान्य रूप से काल वाचक है। समय भयंकर है। क्यों है ? इसलिए कि वह प्रत्येक क्षण जीवन को घटा रहा है—काल के कारण निरन्तर जीवन की अवधि न्यून से न्यूनतर होती जाती है। काल जीवन को चूस रहा है—जीवन का सार-सत्व निचोड़ रहा है। काल अपनी सर्वग्रासी दाढ़ों से जीवन को पीस रहा है। जीवन का कुछ भाग प्रतिपल काल निगल रहा है। अतएव काल घोर है—भयंकर है। ऐसी अवस्था में, एक भी पल प्रमाद में नहीं बिताना चाहिए, किन्तु सतत अप्रमत्त रहकर जीवन

के महान् ध्येय की पूर्ति करने का प्रयत्न करना चाहिए।

कदाचित् शरीर इतना सबल होता कि वह काल के प्रहार को सहन कर लेता तो चिन्ता नहीं थी। फिर काल से डरने की कोई आवश्यकता न थी। पर ऐसा नहीं है। हाड़-मांस का यह पुतला अत्यन्त निर्बल है। काल का प्रहार इससे सहन न होगा। काल के एक ही झपट्टे में यह निकम्मा बन जायगा। अतएव ऐसे निर्बल शरीर का भरोसा करके निश्चिन्त कैसे रहा जा सकता है? जिस नौका में अनेक छिद्र हो गये हों, वह कब तक पानी पर तैरती रहेगी? वह किसी भी क्षण जल के तल पर पहुँच सकती है। इसी प्रकार यह शरीर किसी भी क्षण नष्ट विनष्ट हो सकता है।

अन्त में शास्त्रकार कहते हैं—'भारंडपक्खी व चरऽप्पमत्तो।' अर्थात्—इसलिए भारंड पक्षी की तरह प्रमाद रहित होकर विचरो। जैसे भारंड नामक पक्षी प्रतिक्षण सावधान रहता है, वह प्रमाद का सेवन नहीं करता, इसी प्रकार तुम भी प्रमाद से सर्वथा रहित बनो। एक क्षण का प्रमाद भी घोर अनर्थ उत्पन्न कर सकता है।

मूलः—जे गिद्धे कामभोएसु, एगे कूडाय गच्छइ।
न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खुदिट्ठा इमा रई॥ १४॥

छायाः—यो गृद्धः कामभोगेषु, एकः कूटाय गच्छति।
न मया दृष्टः परलोकः, चक्षुर्दृष्टेयं रतिः॥ १४॥

शब्दार्थः—जो कोई पुरुष काम-भोगों में आसक्त है, वह हिंसा तथा मृषावाद को प्राप्त होता है। वह कहने लगता है—परलोक मैंने देखा नहीं है, परन्तु सांसारिक सुख तो प्रत्यक्ष नजर आ रहे हैं।

अर्थात् परलोक संबंधी सुखों के लिए इस लोक के प्राप्त सुखों का त्याग क्यों किया जाय?

भाष्यः—प्रथम अध्ययन में आत्मा का सनातनत्व सिद्ध किया जा चुका है। जब आत्मा सनातन-नित्य है तो उसका कभी विनाश नहीं हो सकता। जब आत्मा का विनाश नहीं हो सकता और वर्तमान जीवन अल्पकाल पर्यन्त ही रहता है तो परलोक माने बिना काम नहीं चल सकता। आत्मा की एक अवस्था त्याग कर दूसरी अवस्था में जाना ही परलोक गमन कहलाता है। आत्मा की एक अवस्था स्थायी नहीं रहती, फिर भी आत्मा स्थायी रहता है अर्थात् वह दूसरी अवस्था को अवश्य ही अंगीकार करता है।

इस प्रकार परलोक तर्कसंगत होने पर भी कामी और भोगी जीव परलोक के विषय में उपेक्षा का भाव व्यक्त करते हैं। शास्त्रकार कहते हैं कि जो काम-भोग में गृद्ध हैं—आसक्त हैं, जो काम-भोग का परित्याग करने में अशक्त हैं, जिनकी इन्द्रियां इतनी उच्छृंखल हो रही हैं कि वे यम-नियम के नियंत्रण में नहीं आ सकतीं,

वे लोग इन्द्रियों के अनुगामी होकर परलोक संबंधी सुखों की परोक्षता का बहाना बनाते हैं। वे लोग अपनी काम-भोग संबंधी आसक्ति का औचित्य सिद्ध करने के लिए कहने लगते हैं कि—इस जीवन के सुख तो प्रत्यक्ष-से दृष्टिगोचर हो रहे हैं और परलोक का पता नहीं है। ऐसी स्थिति में परलोक के भरोसे रहकर इस लोक के सुखों से क्यों वंचित रहें?

वस्तुतः यह विचारधारा भ्रान्तियुक्त है। जब परलोक का अस्तित्व युक्ति-सिद्ध है तब उसे न देखने मात्र से उस पर संदेह नहीं किया जा सकता। संसार में प्रतिदिन सहस्रों व्यापार भविष्य काल की आशा पर होते हैं। किसान पहले घर में रक्खे हुए धान्य को खेत की मिट्टी में मिला देता है, सो केवल भविष्य की आशा पर निर्भर रहकर ही। आगामी विशेषतर लाभ के लिए प्राप्त धान्य का परित्याग किया जाता है। यदि किसान नास्तिकों का अनुकरण करके, भविष्य की उपेक्षा करता हुआ धान्य को खेत में न फेंके और सोचने लगे कि भविष्य की फसल किसने देखी है? कौन जाने फसल आएगी या नहीं? क्या पता है कि मैं तब तक जीवित रह सकूंगा या नहीं? ऐसी स्थिति में घर में मौजूद धान्य को क्यों खेत में डालूं? जो प्राप्त है उसी का उपभोग क्यों न करूं? तो आगे चल कर उस किसान की क्या दशा होगी? प्राप्त धान्य की समाप्ति हो जाने के पश्चात् उसका जीवन-निर्वाह कैसे होगा? इतना ही नहीं, 'अन्नं वै प्राणाः' अर्थात् अन्न ही प्राण है—इस कथन के अनुसार किसान द्वारा तैयार होने वाले अन्न पर निर्भर रहने वाले शेष मनुष्यों का जीवन भी समाप्त हो जायगा।

वणिक् पहले घर की पूंजी लगाकर भविष्य के लाभ के लिए व्यापार करता है। नास्तिक की विचारधारा को मान्य किया जाय तो अनिश्चित भविष्य में होने वाले लाभ की आशा से वर्तमान में प्राप्त धन का व्यय क्यों किया जाय? इसी प्रकार अन्यान्य लौकिक कार्य यदि स्थगित हो जाएं तो संसार का क्या स्वरूप होगा, यह विचारणीय है।

सत्य यह है कि त्याग के बिना लाभ होना असंभव है। जो जितनी मात्रा में त्याग करेगा उसे उतनी ही मात्रा में लाभ हो सकता है। मगर जिनमें दीर्घदर्शिता नहीं है, सुनहरी भविष्य की कल्पना करने में जिनकी मेधा-शक्ति कुंठित हो जाती है, जो संकुचित एवं क्षुद्र दृष्टि वाले हैं वे लोग भविष्य की उपेक्षा करते हैं। उनमें अनपढ़ किसानों के बराबर भी आस्तिकता नहीं है। वे व्यापारी के बराबर भी आस्थाशील नहीं हैं। ऐसे लोगों की क्या दशा होगी? उनकी भविष्य में वही दशा होगी जो सम्पूर्ण मूल पूंजी खा जाने वाले वणिक् की होती है और बीज न बोकर घर के सब धान्य को उदरस्थ कर लेने वाले किसान की होती है। यही नहीं, बल्कि कामी-भोगी जीव की गति किसान और वणिक की अपेक्षा अधिक निकृष्ट हो जाती है। किसान धान्य उधार लेकर फिर बो सकता है और वणिक् ऋण लेकर व्यापार कर सकता है। परन्तु जो लोग पूर्वोपार्जित पुण्य के उदय से प्राप्त विषयभोग भोगकर पुण्य को क्षीण कर चुकते हैं और आगे के लिए

पुण्योपार्जन नहीं करते--परलोक की चिन्ता नहीं करते वे परलोक के समय क्या करेंगे ? जैसे धान्य या धन ऋण लिया दिया जा सकता है, उस प्रकार पुण्य में आदान-प्रदान नहीं हो सकता। अतएव उन्हें अन्त में पश्चात्ताप करने के सिवाय और कोई चारा नहीं रहता।

विवेकी पुरुष वह है जो पश्चात्ताप का अवसर न आने दे, जो केवल वर्त्तमान को ही सब कुछ न समझकर भविष्य का विचार करे। ज्ञानी पुरुष एक नेत्र से वर्त्तमान को देखता है और दूसरे नेत्र से भविष्य की ओर निहारता है।

मूलः—हत्थागया इमे कामा, कालिआ जे अणागया।
को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुनः ॥१५॥

छायाः—हस्तागता इमे कामाः, कालिका येऽनागताः।
को जानाति परः लोक, अस्ति वा नास्ति वा पुन ॥१५॥

शब्दार्थः—वर्त्तमान कालीन ये काम भोग हाथ में आये हुए हैं, और आगामी भव में प्राप्त होने वाले सुख भविष्य पर निर्भर हैं। और कौन जानता है कि परलोक है या नहीं ?

भाष्यः—पूर्वगाथा में जिस विषय का प्रतिपादन किया गया है उसी विषय को यहां कुछ स्पष्ट रूप से कहा गया है।

श्रद्धाहीन नास्तिक की यह विचार--परम्परा है। वह सोचता है कि आगामी भव में जो सुख मिलने वाले हैं, उनकी आशा करके वर्त्तमान में प्राप्त सुखों का परित्याग करने से क्या लाभ ? वे सुख भविष्य पर निर्भर हैं, न जाने मिलेंगे या नहीं ? यह भी कौन जानता है कि परलोक है या नहीं है ? अगर परलोक न हुआ तो इन सुखों से भी गये और उन सुखों से भी गये ! अतएव यही श्रेष्ठतर है कि प्राप्त सुखों का उपभोग कर लिया जाय।

इस विचारश्रेणी पर पूर्व गाथा में विचार किया जा चुका है। वस्तुतः वर्त्तमान कालीन सुखों के साथ भविष्य में त्याग द्वारा प्राप्त होने वाली देव--अवस्था के सुखों की तुलना नहीं की जा सकती। त्याग से अनेकानेक गुनी वस्तु की प्राप्ति होती है, यह बात ऋषि-मुनि बतलाते आये हैं। अगर उनके कथन पर विश्वास न किया जाय तो प्रकृति के नियम पर विचार करना चाहिए। प्रकृति से भी इस नियम का समर्थन होता है। धान्य का एक बीज बोने से अनेकानेक बीजों की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार एक फल के लगाने से, उससे, उत्पन्न हुआ विशाल वृक्ष अगणित फल प्रदान करता है। इसी प्रकार थोड़े से पुण्य के फल का त्याग करने से भविष्य में प्रभूत फल की प्राप्ति होती है। गेहूँ के दस दाने भक्षण किये जाएं तो वे एक क्षण भर की भी तृप्ति न करेंगे, मगर उन्हें बो दिया जाए तो उनसे उत्पन्न होने

वाले गेहूँ अधिक समय तक तृप्ति करेंगे। आम की एक गुठली कितनी और कितने समय तक तृप्त रख सकेगी ? और उस गुठली से उत्पन्न हुआ आम का वृक्ष कितने समय तक का तृप्ति का कारण होगा ?

इसी प्रकार पुण्य का जो फल इस समय अत्यल्प सुख का कारण हो सकता है, उसे यदि त्याग दिया जाय तो वह अनेकानेक गुने सुख का कारण होगा। कहां मनुष्य भव की थोड़ी-सी आयु और कहां सागरोपम तक स्थिर रहने वाला देव भव ! कहां मनुष्य का नगण्य सुख और कहां देवों का अनुपम और दिव्य सुख ! वास्तव में दोनों में तुलना होना कठिन है।

ऊपर के विवेचन से यह नहीं समझना चाहिए कि त्याग एक प्रकार का व्यापार है। जैसे एक से अनेक गुणा पाने की लालसा से व्यापार किया जाता है, उसी प्रकार थोड़ा त्याग कर वहुत पाने की अभिलाषा से त्याग करना आदर्श नहीं है। कामना से प्रेरित त्याग मलीन है, विकृत है और आत्मा में मलीनता उत्पन्न करता है। त्याग में एक प्रकार का आनन्द है। त्याग स्वयं सुखमय है। त्याग से होने वाली निराकुलता में एक निराला आनन्द है। उस आनंद का अनुभव निष्काम या निःशल्य होकर त्याग करने वाले महानुभाव ही कर सकते हैं। उसी आनन्द की अनुभूति के लिए त्याग करना शास्त्रविहित है। पारलौकिक सुख आनुषंगिक फल है और उसकी कामना न की जाय तो भी वह प्राप्त होता है। बल्कि कामना न करने से और भी अधिक फल की प्राप्ति होती है।

परलोक है या नहीं है ? इस सन्देह का निराकरण पहले किया जा चुका है। उसे भलीभांति समझकर श्रद्धा के साथ यथाशक्ति त्याग करना चाहिए और काम अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय तथा चक्षुरिन्द्रिय के विषयों में और भोग अर्थात् घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय के विषयों में आसक्त नहीं होना चाहिए।

मूल:-जणेण सद्धिं होक्खामि, इइ बाले पगब्भइ।
कामभोगाणुराएणं, केसं संपडिवज्जइ ॥ १६ ॥

छाया:--जनेन सार्द्धं भविष्यामि, इति बालः प्रगल्भते।
कामभोगानुरागेण, क्लेशं सम्प्रतिपद्यते ॥ १६ ॥

शब्दार्थ:—अन्यान्य मनुष्यों के साथ, जो होना होगा सो मेरा भी हो जायगा-जैसी दशा औरों की होगी वह मेरी भी हो जायगी, इस प्रकार अज्ञानी जीव बकवाद करता है। वह अन्त में काम और भोग संबंधी अनुराग के कारण क्लेश प्राप्त करता है।

भाष्य:—एक प्रकार की विचारधारा का उल्लेख करके शास्त्रकार यहां नास्तिकों की दूसरी विचारधारा का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि:—

अनेक नास्तिक जन ऐसे हैं जो अपने भविष्यकालीन हिताहित की अपेक्षा न करते हुए यह सोचते हैं कि, अगर परलोकगमन करना पड़ेगा तो अकेले मुझे तो

करना ही न पड़ेगा—सभी को करना होगा। सभी मरेंगे और सभी परलोक जाएंगे। ऐसी स्थिति में जो अवस्था अन्य लोगों की होगी वह मेरी भी हो जाएगी। मैं अकेला क्यों चिन्ता करूं ?

इस प्रकार का विचार करके नास्तिक काम में और भोग में अनुरक्त हो जाता है। काम-भोगों के भोगने में वह स्वच्छन्द बन जाता है और अन्त में क्लेश प्राप्त करता है।

यहां यह ध्यान रखने की बात है कि प्रत्येक जीव की स्वतंत्र सत्ता है और प्रत्येक जीव अपने-अपने किये हुए पुण्य या पाप का फल स्वतंत्र भोगता है। दूसरा अगर पाप कर्म करता है तो उसका फल कोई दूसरा नहीं भोगेगा। इसी प्रकार पुण्य का फल, उस पुण्य का कर्त्ता ही भोगेगा। एक के द्वारा उपार्जित अदृष्ट अनेक लोग थोड़ा-थोड़ा बंटवारा करके नहीं भोगते हैं। ऐसी अवस्था में यह विचार सर्वथा अज्ञानपूर्ण ही है कि जो औरों का होगा, वह हमारा भी हो जायगा।

इसके अतिरिक्त इस प्रकार की विचारणा करने वाले लोग जगत् में विद्यमान त्यागियों और तपस्वियों की ओर दृष्टिपात नहीं करते। वे कामी और भोगी जनों की ओर ही नजर करते हैं और उन्हीं से एक प्रकार का मिथ्या आश्वासन पाते हैं। उनमें यह सोचने का सामर्थ्य नहीं होता कि अगर दूसरे लोग भी दुःख एवं क्लेश के भागी होंगे तो हमारा दुःख और क्लेश कम नहीं हो जायगा।

संसार विचित्रताओं का घर है। यहां घोर से घोर पापी भी हैं और उच्च से उच्च श्रेणी के धर्मनिष्ठ पुण्यात्मा पुरुष भी हैं। कहीं दुराचार की तेज बदबू मौजूद है तो कहीं सदाचार का सौरभ महक रहा है। कहीं अज्ञान का घना अन्धकार छाया हुआ है तो कहीं ज्ञान का उज्ज्वलतर प्रकाश चमक रहा है। कहीं वासनाओं की कालिमा व्याप्त है, कहीं तप और त्याग की शुभ्रता दीप्त हो रही है। इन परस्पर विरोधी दो तत्त्वों में से जिसे जो चुनना है, वह उसे चुन ले। नास्तिक पाप, दुराचार, अज्ञान, वासना और कालिमा अपने लिए चुनता है और आस्थाशील आस्तिक इनसे विपरीत चुनाव करता है। नास्तिक की दृष्टि अधोगामिनी होती है, आस्तिक की ऊर्ध्वगामिनी होती है। नास्तिक कृष्णपक्षी है, आस्तिक शुक्लपक्षी है। नास्तिक की दृष्टि क्षुद्र और संकुचित होती है, आस्तिक विशाल और विस्तीर्ण दृष्टिवाला होता है। नास्तिक निम्न कोटि के पशु की नाईं सिर्फ वर्त्तमान तक सोचता है, आस्तिक भविष्य को भी सन्मुख रखकर अपने कर्त्तव्य का निर्णय करता है। नास्तिक अपने आपको जड़ शरीरपिण्ड मात्र ही अनुभव करता है, आस्तिक अपनी ज्ञानमूर्ति चेतना की अनुभूति का रसास्वादन करता है। नास्तिक के अन्तःकरण में भोग की उत्ताल तरंगें उठती रहती हैं अतएव वह सदा क्षुब्ध रहता है, आस्तिक का अन्तः-करण प्रशान्त और गंभीर सागर के समान क्षोभहीन होता है। नास्तिक जगत् का दूषण है, आस्तिक संसार का भूषण है। दोनों में आकाश-पाताल का अंतर है।

नास्तिकता से प्रेरित होकर मनुष्य क्या करता है, इसका वर्णन आगे किया जाता है।

मूलः-तो से दंडं समारभइ, तसेसु थावरेसु य।
अट्ठाए व अणट्ठाए, भूयग्गामं विहिंसइ ॥ १७ ॥

छायाः—ततः स दण्डं समारभते त्रसेषु स्थावरेषु च।
अर्थाय अनर्थाय, भूतग्रामं विहिनस्ति ॥ १७ ॥

शब्दार्थः—परलोक संबंधी असंभावना का विचार करके वह नास्तिक त्रस और स्थावर जीवों के विषय में, प्रयोजन से अथवा बिना प्रयोजन के ही, दंड का समारंभ करता है, और प्राणियों के समूह का वध करता है।

भाष्यः—परलोक के विषय में अविश्वास करने का तात्कालिक फल क्या होता है; यह बात शास्त्रकार यहां प्रतिपादन करते हैं।

परलोक संबंधी अश्रद्धा करने के पश्चात् नास्तिक पाप-पुण्य के विचार से जब निरपेक्ष हो जाता है तब वह त्रस जीवों की और स्थावर जीवों की हिंसा करने लगता है। सार्थक तथा निरर्थक दोनों प्रकार की हिंसा द्वारा वह अनेक प्राणियों का संहार करता है। यह परलोक संबन्धी अश्रद्धा का पहला फल है। जो लोग परलोक में विश्वास नहीं करते, उनका मन निरंकुश हो जाता है और वे निर्भय निस्संकोच होकर पाप में प्रवृत्त हो जाते हैं।

यहां यह आशंका की जा सकती है कि प्रत्येक गृहस्थ हिंसा करता है। हिंसा किये बिना संसार-व्यवहार का निर्वाह होना असंभव है। परलोक में श्रद्धा रखने वाला, धर्मप्रिय श्रावक भी हिंसा से पूर्णरूपेण नहीं बच पाता। फिर हिंसा को नास्तिकता का परिणाम क्यों कहा गया है? इस संबंध में अनेक बातें कही जा सकती हैं। वे इस प्रकार हैं:—

(१) धर्मप्रेमी आस्तिक गृहस्थ यदि श्रावक के व्रतों का ग्रहण नहीं करता-सिर्फ सम्यग्दृष्टि होता है तो भी वह हिंसा को पाप ही समझता है। सम्यग्दृष्टि जीव हिंसा रूप पाप को नास्तिक की तरह अ-पाप नहीं समझता और इस कारण अगर वह पाप में प्रवृत्ति करता है तो भी पाप से भयभीत रहता है, अपने कृत्य को निन्दनीय समझता है। इस प्रकार उसकी श्रद्धा में अहिंसा विद्यमान रहती है। नास्तिक के श्रद्धान और आचरण दोनों में हिंसा होती है।

(२) देशव्रती श्रावक त्रस जीवों की संकल्पपूर्वक हिंसा नहीं करता और स्थावर जीवों की निरर्थक हिंसा से भी बचता है। नास्तिक त्रस और स्थावर की सार्थक तथा निरर्थक दोनों प्रकार की हिंसा करता है। इसी कारण सूत्रकार ने 'तसेसु थावरेसु य' तथा 'अट्ठाए व अणट्ठाए' पदों का प्रयोग किया है।

(३) तीसरी बात यह है कि सम्यग्दृष्टि की हिंसा लाचारी से प्रेरित होती है और वह उग्र परिणाम द्वारा नहीं की जाती। नास्तिक-मिथ्यादृष्टि की हिंसा व्यसन

या आनन्द से प्रेरित होती है और वह उग्र कषाय युक्त परिणामों से की जाती है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि एक हीकृत्यतीव्रभाव, मन्दभाव आदि से किया जाने पर विभिन्न फल देने वाला होता है। तत्त्वार्थ-सूत्र में कहा है:-'तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः।' अर्थात् तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण तथा शक्ति के भेद से कर्म के आस्रव में भेद हो जाता है। तात्पर्य यह है कि तीव्र भाव से किया जाने वाला पाप अधिक अशुभ कर्म-बंध का कारण है और मन्दभाव से किया जाने वाला कर्म कम अशुभ कर्म के बंध का कारण है। इसी प्रकार 'मैं इस प्राणी को मारूं' ऐसा जान बूझ कर हिंसा-पाप करने वाला अधिक पाप का भागी है और अनजान में जिससे पाप हो जाय वह कम पाप का भागी होता है। द्रव्य को अधिकरण कहते हैं और उसकी शक्ति-विशेष को वीर्य कहते हैं। इनके भेद से भी आस्रव में भेद होता है। आस्रव भेद से फल में भी भेद हो जाता है।

त्रस एवं स्थावर जीवों की हिंसा करने वाले नास्तिक को किस फल की प्राप्ति होती है ? इसका स्पष्टीकरण शास्त्र में इस भांति किया गया है:—

जाईपह अणुपरिवट्टमाणे, तसथावरेहिं विणिघायमेति।
से जातिं जातिं बहुकूरकम्मे, जं कुव्वती मिज्जति तेण बाले॥

अर्थात् एकेन्द्रिय आदि प्राणियों को दण्ड देने वाला जीव बार-बार उन्हीं एकेन्द्रिय आदि योनियों में उत्पन्न होता है और मरता है। वह त्रस एवं स्थावरों में उत्पन्न होकर नाश को प्राप्त होता है। वह बारम्बार जन्म लेकर क्रूर कर्म करता हुआ, अपने कर्मों की बदौलत मृत्यु को प्राप्त होता है।

इस प्रकार परलोक संबंधी अश्रद्धा के परिणाम जानकर विवेकजनों को श्रद्धायुक्त होना चाहिए और इस लोक के साथ ही साथ परलोक के सुधार का प्रयत्न करना चाहिए।

मूल:-हिंसे बाले मुसावाई, माइल्ले पिसुणे सढे।
भुंजमाणे सुरं मंसं, सेयमेअं ति मन्नइ ॥ १८ ॥

छाया:—हिंस्रो बालो मृषावादी, मायी पिशुनः शठः।
भुञ्जानः सुरां मांस, श्रेयो मे इदमिति मन्यते ॥ १८ ॥

शब्दार्थ:—परलोक को न मानने वाला वह हिंसक, अज्ञान, मृषा भाषण करता है, मायाचार करता है, निन्दा करता है, पर-वञ्चना करता है और मदिरा तथा मांस का सेवन करता है। वह मानता है कि मेरे लिए यही श्रेयस्कर है।

भाष्य:—परलोक को न मानने वाला पुरुष हिंसक बन जाता है, यह पहले बतलाया जा चुका है। परन्तु उसका पतन वहीं समाप्त नहीं हो जाता। 'विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः' अर्थात् विवेक से भ्रष्ट लोगों का शत-मुख पतन होता

है, इस कथन के अनुसार हिंसा-प्रवृत्त नास्तिक भी नीचे गिरता चला जाता है और असत्य भाषण, मायाचार, पिशुनता, शठता आदि अनेक दुर्गुणों का पात्र बन कर मदिरा-मांस का सेवन करने लगता है।

इन दुर्गुणों एवं मदिरा-मांस के सेवन में वह इतना अधिक गृद्ध हो जाता है कि अपनी बुराई को बुराई नहीं समझता और उसे ही अपने लिए कल्याणकारी समझता है। रोगी अपने आपको रोगी समझता हो तो वह चिकित्सा का पात्र है। अगर वह अपने को निरोग समझे या रोग को ही स्वस्थता समझ बैठे तो उसकी चिकित्सा नहीं हो सकती। नास्तिक अपनी करतूतों को कल्याणकारी समझने लगता है, इस कारण वह उनसे विमुख होना नहीं चाहता और न विमुख होने का प्रयत्न करता है।

पतन की यह पराकाष्ठा है। इस अवस्था में उत्थान के लिए अवकाश नहीं रहता। इसी कारण शास्त्रकार ने उसे बाल अर्थात् अज्ञान कहा है। वह अचिकित्स्य है।

मूलः—कायसा वयसा मत्तो, वित्त गिद्धे य इत्थिसु।
दुहओ मलं संचिणइ, सिसुणागुव्व मट्टियं ॥ १९ ॥

छायाः—कायेन वचसा मत्तः, वित्ते गृद्धश्च स्त्रीषु।
द्विधा मलं सञ्चिनोति, शिशुनाग इव मृत्तिकाम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थः—वह नास्तिक काय से और वचन से गर्व युक्त हो कर, धन में और स्त्रियों में आसक्त होकर, राग-द्वेष के द्वारा कर्म-मल का संचय करता है, जैसे शिशुनाग कीड़ा मिट्टी से लिपटा रहता है।

भाष्यः—परलोक को स्वीकार न करने वाला नास्तिक, सर्व प्रथम हिंसा में प्रवृत्त होता है, हिंसा के पश्चात् असत्य भाषण आदि पाप उसके लिए बायें हाथ के खेल बन जाते हैं और वह मांस-मदिरा का सेवन करने में प्रवृत्त हो जाता है। यह निरूपण करने के पश्चात् उसके अधःपतन का आगे का क्रम यहां बतलाया गया है।

वह मन, वचन और काय से मत्त-उन्मत्त बन जाता है।। मदिरा आदि के सेवन से उसकी तामस वृत्ति अत्यन्त उग्र हो जाती है और उसका फल यह होता है कि वह स्त्री संबंधी भोगों में तथा धन में अतीव आसक्त हो जाता है।

जहां आसक्ति है—लोलुपता है-राग-है वहां द्वेष अवश्य पाया जाता है। राग और द्वेष की व्याप्ति निश्चित है। एक वस्तु के प्रति राग होगा तो उससे विरोधी वस्तुओं के प्रति द्वेष का भाव अवश्यंभावी है। अतएव वह नास्तिक राग और द्वेष—दोनों के द्वारा मल अर्थात् कर्म रूप मल का संचय करता है। जैसे शिशुनाग (अलसिया) मिट्टी से उत्पन्न होकर मिट्टी से ही लिपटा रहता है और सूर्य की गर्मी से मिट्टी सूख जाने पर घोर कष्ट पाता है, उसी प्रकार वह नास्तिक जन्म-जन्म में भयं-

कर कष्ट भोगता है। नास्तिक के पतन की यह परम्परा यहीं समाप्त नहीं हो जाती। उसे क्रमशः अन्यान्य अनेक दुःखों का सामना करना पड़ता है, क्योंकि उसका पतन होता ही चला जाता है। उसका दिग्दर्शन शास्त्रकार स्वयं आगे कराते हैं।

मूलः-तओ पुट्ठो आयंकेण, गिलाणो परितप्पइ।
पभीओ परलोगस्स, कम्माणुप्पेहि अप्पणो ॥ २० ॥

छायाः—ततः स्पृष्ट आतङ्केन, ग्लानः परितप्यते।
प्रभीतः परलोकात्, कर्मानुप्रेक्ष्यात्मनः ॥ २० ॥

शब्दार्थः—तत्पश्चात् असाध्य रोगों से घिरा हुआ वह नास्तिक रोगी बन कर अत्यन्त संताप पाता है-पश्चाताप करता है और अपने कर्मों को देखकर-अपनी करतूतों का विचार करके परलोक से डरता है।

भाष्यः—पहले नास्तिक की अवस्था का वर्णन करते हुए यह बताया गया है कि वह मद्य-मांस और महिला में अतीव आसक्त बन जाता है। इस प्रकार की आसक्ति के मुख्य रूप से दो फल होते हैं—एक इहलौकिक फल कहलाता है और मृत्यु के पश्चात् होने वाला फल पारलौकिक कहलाता है।

नास्तिक मद्य, मांस एवं स्त्री आदि विषयक घोर आसक्ति से अपने शरीर का सत्यानाश कर लेता है, अतएव वह विविध प्रकार की शारीरिक व्याधियों का शिकार बन जाता है। जब वह रुग्ण हो जाता है और शरीर को क्षीण एवं दुर्बल बना डालता है, उससे असह्य दुःख भोगता है तब उसका नशा दूर होता है। उस समय उसकी मस्ती उतर जाती है। उसकी बुद्धि ठिकाने आती है। और तभी उसकी आंखें खुलती हैं ? किन्तु 'फिर पछताये होत का, चिड़ियां चुग गई खेत।' जब चिड़ियां खेत चुग चुकी तब पछताने से-सिर पटकने से-क्या लाभ है उस समय का नास्तिक का पश्चाताप या संताप कुछ भी काम नहीं आता। पहले उसने अपनी करतूतों से जो स्थिति खड़ी करली है वह पश्चाताप से नहीं मिट सकती। उसे अनेक शारीरिक पीड़ाएं सहन करने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

नास्तिक इधर शारीरिक कष्ट भुगतता है, उधर उसे परलोक का भय बेचैन बना डालता है। वह अपने किये हुए कर्मों का विचार कर-करके जब यह सोचता है कि आगे इन कर्मों का फल मुझे भुगतना होगा, तो उसे शारीरिक वेदना के साथ घोर मानसिक वेदना भी सहनी पड़ती है। इस प्रकार दुहरी वेदना से वह छटपटाता है-विकल होता है, पर उसका कोई प्रतीकार उस समय नहीं हो सकता। उन भयानक दुःखों को भोगे विना वह छुटकारा नहीं पा सकता।

मूलः-सुआ मे नरए ठाणा, असीलाणं च जा गई।
बालाणं कूरकम्माणं, पगाढा जत्थ वेयणा ॥ २१ ॥

भाष्यः--मिथ्यादृष्टि नास्तिक के जीवन का जब सन्ध्याकाल आ पहुँचता है, जीवन-सूर्य जब अस्तोन्मुख हो जाता है, परलोक-प्रयाण की तैयार हो चुकती है, तब वह अपने कर्मों का विचार करता है और गुरुओं से सुने हुए आगम-प्ररूपित नरक-स्थानों का स्मरण करता है तथा परलोक से भयभीत हो जाता है, उसके अन्तःकरण की क्या स्थिति होती है ? यह यहां बतलाया गया है।

मिथ्यादृष्टि नास्तिक पहले परलोक से पराङ्मुख होकर नाच-गान में डूबा रहता है, पर अन्त में वही गान उसे विलाप के समान कष्ट-कारक प्रतीत होने लगता है। नाटक, तमाशे और खेल-जिनमें पहले वह अत्यन्त आनन्द का अनुभव करता था, उसे विडम्बना दिखाई देने लगते हैं। पहले वह आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता था-केवल शरीर की सत्ता ही उसके लिए सब कुछ थी। अतएव वह सद्गुणों द्वारा आत्मा के सौन्दर्य की वृद्धि करने का विचार भी नहीं करता था। मणिजटित सुवर्ण के अलंकारों से शरीर की शोभा बढ़ाना ही उसका एक मात्र लक्ष्य बन गया था। किन्तु जब परलोक जाने का समय आता है तब समस्त आभूषण उसे भार रूप प्रतीत होते हैं।

काम-भोग आदि में सुख रूप जान पड़ते हैं, पर वास्तव में वे दुःख के कारण होने से दुःखमय हैं। नास्तिक पहले उनमें इतना अधिक आसक्त रहता है कि उसे अपने हिताहित का यथार्थ भान ही नहीं होता। वह दिन-रात कामभोग के उद्देश्य से ही चेष्टा करता है। उन्हीं में डूबा रहता है। अन्त में आंखें खुलने पर उसे प्रतीत होने लगता है कि सब प्रकार के कामभोग दुःखदायी हैं। इनका परिणाम एक ही जन्म में नहीं, अनेक जन्मों में दुःख रूप ही होता है।

नास्तिक की ऐसी स्थिति का वर्णन यहां इस उद्देश्य से किया गया है कि लोग इसका श्रवण, पठन एवं मनन करके पहले से ही सावधान हो जाएँ। जीवन भर नास्तिकता का सेवन करके, भोगोपभोगो में मस्त रहकर, धर्म-कर्म को विसार कर पापाचार में लगे रहने से अन्त में चेत आने पर भी कुछ विशेष लाभ नहीं हो सकता। अतएव परमित जीवन का प्रति क्षण सत्य, अहिंसा आदि शुभ अनुष्ठानों में, धर्म की आराधना में व्यतीत करना चाहिये। यही मानव-जीवन की सार्थकता है धर्माराधन के कारण ही मानव जीवन श्रेष्ठ और प्रशस्त बनता है।

धर्महीन मानव-जीवन, पशु-पक्षियों के जीवन से किंचित् भी श्रेष्ठ नहीं है। प्रत्युत उससे भी अधिक अप्रशस्त है। पशु-पक्षियों में योग्यता की न्यूनता होने से वे अधिक पाप का आचरण नहीं कर सकते,किन्तु मनुष्य अधिक शक्तिमान् होने से अधिक पाप का संचय करता है। इस प्रकार अधार्मिक जीवन पशुओं के जीवन से भी निकृष्ट बन जाता है।

मूलः-जहेह सीहो व मियं गहाय,
मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले।

उनकी विद्यमानता बताना, भीतर से मलिन, पापाचारी होते हुए भी ऊपर से पवित्र और धर्मात्मा होने का ढोंग करना, कलुषित स्वार्थ साधना, यह दंभ है।

अपनी जाति, कुल, मर्यादा, पद, प्रतिष्ठा, धन, परिवार, सत्ता, ऐश्वर्य, बल, विद्या, बुद्धि, धर्म, रूप आदि शरीर की उपाधियों का अभिमान करना और दूसरों का अपमान करना, दूसरों को तुच्छ तथा नीच एवं अस्पृश्य मानना यह दर्प कहलाता है इसी प्रकार अभिमान करना, क्रोध करना एवं परुषता करना अर्थात् दूसरों के साथ कठोर व्यवहार करना, रुखाई दिखाना, दयापूर्ण व्यवहार न करना, इत्यादि, तथा अज्ञान होना यह सब आसुरी प्रकृति के लक्षण हैं। दैवी प्रकृति मोक्ष का कारण है। और आसुरी प्रकृति बंध का कारण है

आसुरी प्रकृति के संबंध में और भी कहा है।" आसुरी प्रकृति के मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति को नहीं जानते। न उनमें पवित्रता होती है, न आचार और सत्य ही रहता है। तात्पर्य यह कि आसुरी प्रकृति के नास्तिक लोग इस बात का कुछ भी विचार नहीं करते कि कौन सी क्रियाएं प्रवृत्तिरूप हैं और कौन सी निवृत्तिरूप हैं। किस तरह के आचरणों से बंधन होता है, और किस तरह के आचरणों से मोक्ष ? कौनसे कर्म[कार्य] बुरे हैं और कौन से अच्छे ? उनका अन्तकरण दंभ, दर्प, काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्षा, द्वेष आदि विकारों से सदा ग्रसित रहने के कारण मलिन रहता है। वे जगत् को असत्य बतलाते हैं, ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। आसुरी प्रकृति के नास्तिक लोग केवल प्रत्यक्षवादी होते हैं। अदृष्ट आत्मा अथवा परमात्मा को वे नहीं मानते। उनका मत है कि न कोई आत्मा है, न कोई ईश्वर है, न पुण्य है न पाप है। यह सब झूठी कल्पनाएं हैं। जो कुछ है, स्थूल जगत् ही है। शरीर की उत्पत्ति से पहले कुछ भी नहीं होता और मरने के बाद कुछ शेष नहीं रहता।"

इस प्रकार नास्तिक मिथ्यादृष्टियों अथवा आसुरी प्रकृति के लोगों का सर्वत्र वर्णन किया गया है और यह बताया गया है कि उनकी यह दृष्टि या प्रकृति घोर बंध का ही कारण है। इसे भलीभांति समझ कर इसका परित्याग करना, इसे ग्रहण न करना यही बुद्धिमान् पुरुष का परम कर्त्तव्य है।

नरक-स्थानों का तथा उनमें होने वाली वेदना का विस्तृत वर्णन आगे नरक प्रकरण में किया जायगा। यहां उसका सामान्य उल्लेख किया गया है।

मूलः—सव्वं विलविअं गीअं, सव्वं नट्टं विडंविअं।
सव्वे आभारणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा ॥२२॥

छायाः—सर्वं विलपितं गीतं, सर्वं नाटयं विडम्बितम्।
सर्वाण्याभरणानि भारा, सर्वे कामा दुःखावहाः ॥ २२ ॥

शब्दार्थः—सारे गीत विलाप के समान, समस्त नाटक-नृत्य विडम्बना रूप और सब आभरण भार रूप प्रतीत होते हैं। सब प्रकार के कामभोग दुःखदायी जान पड़ते हैं।

भाष्यः--मिथ्यादृष्टि नास्तिक के जीवन का जब सन्ध्याकाल आ पहुँचता है, जीवन-सूर्य जब अस्तोन्मुख हो जाता है, परलोक-प्रयाण की तैयार हो चुकती है, तब वह अपने कर्मों का विचार करता है और गुरुओं से सुने हुए आगम-प्ररूपित नरक-स्थानों का स्मरण करता है तथा परलोक से भयभीत हो जाता है, उसके अन्तःकरण की क्या स्थिति होती है ? यह यहां बतलाया गया है।

मिथ्यादृष्टि नास्तिक पहले परलोक से पराङ्मुख होकर नाच-गान में डूबा रहता है, पर अन्त में वही गान उसे विलाप के समान कष्ट-कारक प्रतीत होने लगता है। नाटक, तमाशे और खेल-जिनमें पहले वह अत्यन्त आनन्द का अनुभव करता था, उसे विडम्बना दिखाई देने लगते है। पहले वह आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता था-केवल शरीर की सत्ता ही उसके लिए सब कुछ थी। अतएव वह सद्गुणों द्वारा आत्मा के सौन्दर्य की वृद्धि करने का विचार भी नहीं करता था। मणिजटित सुवर्ण के अलंकारों से शरीर की शोभा बढ़ाना ही उसका एक मात्र लक्ष्य बन गया था। किन्तु जब परलोक जाने का समय आता है तब समस्त आभूषण उसे भार रूप प्रतीत होते हैं।

काम-भोग आदि में सुख रूप जान पड़ते हैं, पर वास्तव में वे दुःख के कारण होने से दुःखमय हैं। नास्तिक पहले उनमें इतना अधिक आसक्त रहता है कि उसे अपने हिताहित का यथार्थ भान ही नहीं होता। वह दिन-रात कामभोग के उद्देश्य से ही चेष्टा करता है। उन्हीं में डूबा रहता है। अन्त में आंखें खुलने पर उसे प्रतीत होने लगता है कि सब प्रकार के कामभोग दुःखदायी हैं। इनका परिणाम एक ही जन्म में नहीं, अनेक जन्मों में दुःख रूप ही होता है।

नास्तिक की ऐसी स्थिति का वर्णन यहां इस उद्देश्य से किया गया है कि लोग इसका श्रवण, पठन एवं मनन करके पहले से ही सावधान हो जाएँ। जीवन भर नास्तिकता का सेवन करके, भोगोपभोगो में मस्त रहकर, धर्म-कर्म को विसार कर पापाचार में लगे रहने से अन्त में चेत आने पर भी कुछ विशेष लाभ नहीं हो सकता। अतएव परमित जीवन का प्रति क्षण सत्य, अहिंसा आदि शुभ अनुष्ठानों में, धर्म की आराधना में व्यतीत करना चाहिये। यही मानव-जीवन की सार्थकता है धर्माराधन के कारण ही मानव जीवन श्रेष्ठ और प्रशस्त बनता है।

धर्महीन मानव-जीवन, पशु-पक्षियों के जीवन से किंचित् भी श्रेष्ठ नहीं है। प्रत्युत उससे भी अधिक अप्रशस्त है। पशु-पक्षियों में योग्यता की न्यूनता होने से वे अधिक पाप का आचरण नहीं कर सकते,किन्तु मनुष्य अधिक शक्तिमान् होने से अधिक पाप का संचय करता है। इस प्रकार अधार्मिक जीवन पशुओं के जीवन से भी निकृष्ट बन जाता है।

मूलः-जहेह सीहो व मियं गहाय,

मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले।

न तस्स माया व पिआ व भाया,
कालम्मि तस्संसहरा भवन्ति ॥ २३ ॥

छाया:—यथेह सिंह इव मृगं गृहीत्वा, मृत्युर्नरं नयति हि अन्तकाले ।
न तस्य माता वा पिता वा भ्राता, काले तस्यांशधरा भवन्ति ॥ २३ ॥

शब्दार्थ:—जैसे सिंह हिरन को पकड़कर उसका अन्त कर डालता है, उसी प्रकार निश्चित रूप से मृत्यु आयु पूर्ण होने पर मनुष्य को परलोक में ले जाती है । उस समय उस मनुष्य की माता, उसका पिता अथवा भ्राता उसके दुःख में भागीदार नहीं होते ।

भाष्य:—गाथा का भाव स्पष्ट है । इस जीवन का अन्त अवश्य होता है, यह बात युक्ति या प्रमाण से सिद्ध करना आवश्यक नहीं है । सभी जीवधारी इसका अनुभव करते हैं । कौन नहीं जानता कि जैसे सिंह, हिरन को पकड़ कर तत्काल ही उसे जीवन-हीन बना डालता है, उसी प्रकार मृत्यु मनुष्य को परलोक का अतिथि बना डालती है ।

मनुष्य अपनी जीवित अवस्था में जो द्रव्य आदि उपार्जन करता,है उसमें माता-पिता का भी भाग रहता है और भाई भी उसके हिस्सेदार रहते हैं । सभी कुटुम्बी अपने योग्य हिस्सा लेते हैं । अगर कोई पुरुष अपने कठिन परिश्रम द्वारा उपार्जित, धन-दौलत का हिस्सा भाई आदि को नहीं देता, तो भाई न्यायालय के दरवाजे खटखटाता है और न्यायालय के द्वारा अपना हिस्सा लेकर संतुष्ट होता है । अगर किसी में इतना सामर्थ्य होता है तो वह न्यायालय तक जाने का भी कष्ट नहीं उठाता और स्वयं लड़ाई-झगड़ा करके, मारपीट कर अपना हिस्सा वसूल कर लेता है । ऐसे सैकड़ों नहीं, हजारों उदाहरण अनायास ही देखे जा सकते हैं । इस प्रकार धन-दौलत में भाग बँटाने के लिए तो वे तैयार रहते हैं, पर जिन पापों का आचरण करके धनोपार्जन किया जाता है उन पापों में कोई हिस्सा नहीं लेता । पापों का वह फल अकेले उसी को भोगना पड़ता है ।

अनेक लोग चोरी करके, डाका डालकर, गांठ काट कर या धन के स्वामी का का खून करके, और नाना प्रकार की धोखेबाजी करके धन कमाते हैं । इन कर्मों का फल कभी-२ इसी लोक में मिल जाता है, क्योंकि कोई-कोई कर्म इस लोक में, कोई परलोक में और कोई अनेक जन्मों के पश्चात् अपना फल देता है । सूयगडांग में कहा है—

अस्सिं च लोए अदुवा परत्था, सयग्गसो वा तह अन्नहा वा ।
संसारमावन्न परं परं ते, वंधंति वेयंति य दुन्नियाणि ॥

अर्थात्—कोई कर्म इसी जन्म में फल देते हैं, कोई दूसरे जन्म में देते हैं । कोई एक ही जन्म में फल देते हैं, कोई सैकड़ों जन्मों में देते हैं । कोई कर्म जिस तरह किया जाता है उसी तरह फल देता है, कोई दूसरी तरह से फल देता है । दुराचारी पुरुष संसार में भ्रमण करते रहते हैं और वे एक कर्म का फल-दुःख भोगते समय

फिर आर्त्तध्यान करके दूसरा कर्म बांधते हैं।

इस कथन के अनुसार जब चोरी आदि कर्मों का फल कोई इसी जन्म में भोगता है तब भी उसके भाई-बन्धु उसमें भाग नहीं लेते। चोरी या खून करने वाला अकेला ही घोर ताड़ना सहता है, अकेला ही कारावास के कष्ट भोगता है और अकेला ही अपमानित एवं तिरस्कृत होता है। जब इसी लोक में भाई-बन्धु साथ नहीं देते तो वे परलोक में क्या साथ देंगे? परलोक में साथ देने की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

आयु जब पूर्ण हो जाती है तब जीव को कोई बचा नहीं सकता। अगर दूसरे लोग अपनी आयु का कुछ भाग मरने वाले को प्रदान करदें तो उसे बचाया जा सकता है, पर ऐसा होना असंभव है। आयु में आदान-प्रदान नहीं हो सकता। वह भी कर्म का एक फल है और कर्म का फल कर्ता को ही भोगना पड़ता है। 'कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं।' कर्म,कर्त्ता का ही अनुगमन करता है। इसी लिए शास्त्रकार कहते हैं-माता-पिता, भ्राता आदि उस समय हिस्सा बटाने में समर्थ नहीं हो सकते। अतएव कुशल पुरुष को कर्म करते समय उसके फल का अवश्य विचार कर लेना चाहिए।

एक अवस्था को त्याग कर दूसरी अवस्था धारण करना मरना कहलाता है। अवस्थान्तर को मृत्यु कहते हैं। एक शरीर को छोड़ना और दूसरे शरीर को प्राप्त करना जैसे अवस्थान्तर है, उसी प्रकार एक शरीर की विद्यमानता में भी प्रतिक्षण नूतन अवस्था होती रहती है। इसके अतिरिक्त पूर्वबद्ध आयु कर्म के थोड़े-थोड़े अंश प्रति समय जीव भोगता है और भोगे अंशों का क्षय प्रतिक्षण होता रहता है। आयु कर्म का क्षय होने से प्रतिक्षण जीव की मत्यु होती रहती है। शास्त्रकारों ने मृत्यु के सत्तरह प्रकार बताये हैं जैसे-

(१) आवीचिमरण--जन्म लेने के पश्चात् क्षण-क्षण आयु की कमी होना-भुक्त आयु कर्म के दलिकों का क्षय होना।

(२) तद्भवमरण--वर्तमान जीवन में प्राप्त शरीर के संयोग का अभाव हो जाना तद्-भव मरण है।

(३) अवधिमरण-गत जीवन में जितनी आयु बंधी थी, उसके पूर्ण होने पर मृत्यु होना।

(४) आयन्तमरण--सर्वदेश और एक देश से आयु का क्षीण होना तथा दोनों भवों में एक ही प्रकार की मृत्यु होना।

(५) बालमरण--सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की आराधना से रहित होकर मरना, अज्ञान-पूर्वक मरना, विष-भक्षण करके, जल में डूब करके, पर्वत से कूद करके या अन्य प्रकार से आत्मघात करके मरना।

(६) पण्डितमरण--समाधिभाव के साथ, रत्नत्रय की आराधना पूर्वक, साम्य

भाव सहित मृत्यु होना।

(७) आसन्न मरण--संयम से च्युत होकर अथवा व्रत से भ्रष्ट होकर मरना।

(८) बाल-पण्डित-मरण--सम्यक्त्व एवं श्रावक के व्रतों से युक्त होकर किन्तु महाव्रतों से रहित होकर, समाधि के साथ मृत्यु होना।

(९) सशल्यमरण--परलोक में सुखों की आशा रखकर मरना, मिथ्यात्व और माया-चार सहित मरना अर्थात् तीन शल्यों में किसी शल्य के साथ मृत्यु होना।

(१०) प्रमादमरण--प्रमाद के अधीन होकर अत्यन्त संकल्प-विकल्प युक्त भाव से जीवन का त्याग करना।

(११) वशार्तमृत्यु-इन्द्रियों के वश होकर, कषाय के वश होकर अथवा वेदना के वश होकर मृत्यु होना।

(१२) विप्रणमरण—संयम, शील, व्रत आदि का यथावत् पालन न कर सकने के कारण अपघात करना।

(१३) गृद्धपृष्टमरण—युद्ध में शूरवीरता दिखाकर मरना।

(१४) भक्तपानमरण-प्रत्याख्यान मरण-विधि पूर्वक तीनों प्रकार के आहार का जीवन-पर्यन्त परित्याग करके मृत्यु होना।

(१५) इंगितमरण-समाधि मरण धारण करके-संथारा लेकर फिर किसी से सेवा-चाकरी न कराते हुए देह त्याग करना।

(१६) पादोपगमन मरण—आहार का तथा शरीर का यावज्जीवन त्याग करके वृक्ष की भांति स्थिर रह कर-गमनागमन आदि क्रियाओं का त्याग करके-प्राण त्याग करना।

(१७) केवलिमरण--केवल ज्ञान प्राप्त हो जाने के पश्चात् देहका पृथक् होना। इन सत्तरह प्रकार की मृत्यु में से कोई भी मृत्यु ऐसी नहीं है जिसमें कुटुम्बी जन भागीदार बन सकते हों।

मूलः—इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि,
इमं च मे किच्चमियं अकिच्चं।
तं एवमेवं लालप्पमाणं,
हरा हरंति त्ति कहं पमाए ॥२४॥

छाया—इदं च मेऽस्ति इदम् च नास्ति, इदं च मे कृत्यमिदमकृत्यम्।
तमेवमेवं लालप्यमानं, हरा हरन्तीति कथं प्रमादः ॥२४॥

शब्दार्थः—यह मेरा है,यह मेरा नहीं है, यह कार्य करने योग्य है और यह करने योग्य नहीं है, इस प्रकार बोलने वाले जीव को रात दिन रूपी चोरहरण कर लेते हैं। ऐसी अवस्था में प्रमाद कैसे किया जा सकता है? अर्थात् प्रमाद नहीं करना चाहिए।

भाष्यः—जीवन अनित्य है। उसके स्थिर रहने की सामयिक मर्यादा नहीं है। जल का बुदबुद किसी भी समय, वायु निकलते ही नष्ट हो जाता है। जीवन भी श्वासोच्छ्वास रूप वायु के आगमन एवं निर्गमन पर निर्भर है। वह भी किसी भी क्षण समाप्त हो सकता है। अनेक प्राणी इसी प्रकार जीवन त्याग कर अचानक चल देते हैं। मनुष्य जीवन की इस क्षणभंगुरता को भलीभांति जानता है, देख भी रहा है। फिर भी वह अपने जीवन पर विचार नहीं करता। मानों वह अनित्य एवं क्षणविनश्वरता का अपवाद है और उसने जीवित रहने का ठेका ले लिया है।

मनुष्य अपने वर्तमान को देखता है और भविष्य के प्रति एकदम उपेक्षा की वृत्ति से काम लेता है। अगर कभी भविष्य की ओर देखता भी है तो इस दृष्टि से जैसे उसे सदा जीवित ही रहना है-मरने का अवसर उसके सामने उपस्थित ही न होगा। अतएव वह सोचता है-यह मेरा है, यह मेरा नहीं है। अर्थात् अमुक वस्तु मेरी है और अमुक मेरी नहीं है। इस प्रकार वाह्य पदार्थों में आत्मीयता का भाव स्थापित करता है। यह आत्मीयता की कल्पना दुःख का मूल कारण है। इसी से अनेक दुःखों की उत्पत्ति होती है।

आत्मा का जीवन पर्यन्त साथ देने वाला शरीर भी जब आत्मा का अपना नहीं है-पराया है-तो अन्य वस्तुएं आत्मा की कैसे हो सकती हैं ?

कहा भी है—

एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा, विनिर्मलः साधिगमस्वभावः।
बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ता, न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः॥

अर्थात्-मेरा आत्मा अकेला है, अजर अमर अविनाशी है, स्वभावतः निर्मल है, चेतनामय है। दूसरे समस्त पदार्थ आत्मा से भिन्न-वाह्य हैं। वे नाशशील हैं और कर्मोदय से प्राप्त हुए हैं, इस कारण आत्मा के अपने नहीं हो सकते। तथा—

यस्यास्ति नैक्यं वपुषाऽपि सार्द्धं,
तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः ?
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः,
कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ? ॥

अर्थात्--जिस आत्मा की शरीर के साथ भी एकता नहीं है यानी जो आत्मा जीवन-पर्यन्त शरीर के साथ रहने पर भी शरीर से सर्वथा निराला है, उसकी पुत्र, मित्र और पत्नी आदि प्रत्यक्ष से भिन्न दिखाई देने वाले पदार्थों के साथ एकता कैसे हो सकती है ? चमड़ी अगर हटा दी जाय तो शरीर में रोम कैसे रह सकते हैं ? अर्थात् शरीर के साथ रोमों का संबंध चमड़ी के द्वारा होता है, अतएव चमड़ी शरीर से हट जाने पर रोम स्वतः हट जाते हैं। इसी प्रकार पुत्र, कलत्र आदि के साथ जो संबंध है वह शरीर के निमित्त से है। जब शरीर ही आत्मा से भिन्न है तो पुत्र आदि अभिन्न कैसे हो सकते हैं।

इस प्रकार संसार के समस्त पदार्थ आत्मा से भिन्न हैं, फिर भी मनुष्य उन्हें अपना समझता है। इसी प्रकार दूसरे पदार्थों को परकीय समझता है—अर्थात् वह कुछ पदार्थों पर राग भाव करता है और कुछ पर द्वेष का भाव धारण करता है। अथवा वस्तुतः वे पदार्थ दूसरी आत्मा के नहीं हैं फिर भी उन्हें उनके समझता है। इस मिथ्या समझ के कारण जब कर्म-जन्य पदार्थों का संयोग होता है तो इष्ट संयोग होने पर प्रसन्नता का अनुभव करता है और अनिष्ट संयोग होने पर दुःख का अनुभव करता है। इसी प्रकार उनके वियोग में दुःख-सुख की कल्पना करता है।

इन कल्पनाओं के जाल में फंसकर जीव अपनी वास्तविकता को तो भूल जाता है, और 'यह कार्य मुझे कल करना है' 'अमुक काम अमुक समय करना है' 'यह मुझे नहीं करना है' इत्यादि संकल्प विकल्पों में ही पड़ा रहता है।

इन संकल्प-विकल्पों का कहीं अन्त होता तब तो गनीमत थी, पर उनका कहीं और कभी अन्त नहीं आता। एक संकल्प पुण्योदय से अगर पूर्ण हो जाता है तो अन्य अनेक संकल्प नवीन उत्पन्न हो जाते हैं। फिर वे सब पूर्ण भी नहीं हो पाते कि नवीन-नवीन फिर उत्पन्न होते रहते हैं। इस प्रकार संकल्पों की अनवस्था जीवन को कभी निश्चिन्त नहीं होने देती।

इधर तो मनुष्य संकल्पों को पूर्ण करने की चेष्टा में निरन्तर प्रयत्नशील रहता है, उधर रात और दिन रूपी चोर बहु मूल्य जीवन के भाग सदैव हरण करते रहते हैं। वे प्रतिपल आयु का कुछ भाग हर लेते हैं। एक ओर संकल्प-विकल्पों की पूर्ति का प्रयत्न चालू रहता है और दूसरी ओर काल की क्रिया निरन्तर जारी रहती है। परिमित आयु का अन्त आ जाता है, पर अपरिमित संकल्पों की समाप्ति नहीं होने पाती। अन्त में प्राणी इन संकल्प-विकल्पों के साथ ही परलोक की ओर प्रयाण कर देता है।

मृत्यु यह नहीं सोचती कि इसके संकल्प पूर्ण हो गये हैं या नहीं? वह तो आती है और जीवन-धन का हरण करके तत्काल नाम शेष कर जाती है। ऐसी अवस्था में कोई भी ज्ञानवान् पुरुष प्रमाद में जीवन कैसे यापन कर सकता है? ज्ञानी पुरुष अपने जीवन का काल आत्मा के श्रेयस् के लिए अर्पण करता है। वह बाह्य उपाधियों से अलग होकर परकीय पदार्थों को अपना न मानता हुआ, सिर्फ अपने को (आत्मा को) ही अपना समझता है और उसीके शाश्वत कल्याण में निरन्तर निरत रहता है। ऐसे पुरुष अप्रमत्त होकर, निष्कषाय होकर, देह से सदा के लिए मुक्त होते हैं, सिद्ध होते हैं। वही महापुरुष अनुकरणीय हैं।

निर्ग्रन्थ-प्रवचन-तेरहवां अध्याय समाप्त

—:-०-:—

॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

॥ चौदहवां अध्याय ॥

वैराग्य-सम्बोधन

भगवान् श्री ऋषभ-उवाच—

मूलः–संबुज्झह किं न बुज्झह संबोही खलु पेच्च दुल्लहा ।
णो हूवणमंति राइओ नो सुलभं पुणरावि जीवियं ॥१॥

छाया: –संबुध्यध्वं कि न बुध्यध्वं, सम्बोधिः खलु प्रेत्य दुर्लभा ।
नो खलूपनमन्ति रात्रय. नो सुलभं पुनरपि जीवितम् ॥ १ ॥

शब्दार्थः—भव्यो ! सद्धर्म का स्वरूप समझो । तुम समझते क्यों नहीं हो ? मृत्यु के पश्चात् बोध प्राप्त होना दुर्लभ है । बीती हुई रात्रि फिर लौट कर नहीं आती और पुनः मानव जीवन की प्राप्ति सुलभ नहीं है ।

भाष्यः—पिछले अध्ययन में कषाय का वर्णन किया गया है और उससे मुक्त होने की प्रेरणा की गई है । किन्तु जब तक हृदय में सांसारिक पदार्थों के प्रति तीव्र अनुराग विद्यमान रहता है तब तक कषाय से मुक्ति होना संभव नहीं है । अन्तःकरण में विराग-भावना का जन्म होने पर कषाय क्षीण होने लगता है । अतएव कषाय-अध्ययन के अनन्तर वैराग्य-सम्बोधन नामक अध्ययन कहा है ।

इस अध्ययन में, अन्य अध्ययनों की अपेक्षा एक विशेष बात यह है कि अन्य अध्ययन श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के उपदेश रूप में है और प्रकृत अध्ययन आदि तीर्थंकर भगवान् श्री ऋषभदेव के सदुपदेश से आरम्भ हुआ है ।

भगवान् ऋषभदेव जब निर्ग्रन्थ दीक्षा से दीक्षित हो गये, तब उनके ज्येष्ठ पुत्र चक्रवर्त्ती भरत ने सम्पूर्ण भारतवर्ष पर अपना एकछत्र साम्राज्य स्थापित करना आरम्भ किया । भगवान् ऋषभदेव ने अपने सब पुत्रों को राज्य बांट दिया था, पर भरत उन सब को अपने अधीन बनाना चाहते थे । इस प्रकार महाराज भरत द्वारा सताये जाने पर उन्होंने भगवान श्री ऋषभदेव के समीप जाकर कहा-'प्रभो ! भरत हमें अपने अधीन करना चाहते हैं । वह यह चाहते हैं कि हम सब उनकी आज्ञा का पालन करें । इस स्थिति में हमें क्या करना चाहिए ? भगवान् ने उन्हें जो उपदेश उस समय दिया था, उसी का यहां उल्लेख किया गया है ।

भगवान् ऋषभदेव कहने लगे—हे भव्यो ! तुम लोग बोध प्राप्त करो अर्थात्

सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप धर्म का यथार्थ स्वरूप समझो, क्योंकि इस प्रकार का उत्तम अवसर फिर मिलना कठिन है। पहले बतलाया जा चुका है कि मनुष्य जन्म कितना दुर्लभ है। मनुष्य जन्म का लाभ हो जाने पर भी कर्मभूमि, आर्य देश, सुकुल में उत्पत्ति, इन्द्रियों की परिपूर्णता और धर्म श्रवण, श्रद्धा का होना आदि उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं। अतिशय पुण्य के प्रताप से जब यह सब सामग्री प्राप्त हो गई है तो बोध क्यों नहीं प्राप्त करते? इस अपूर्व अवसर को पाकर बोध-लाभ करना ही चाहिए। कहा भी है--

निर्वाणादिसुखप्रदे नरभवे जैनेन्द्रधर्मान्विते,
लब्धे स्वल्पमचारु कामजसुखं नो सेवितुं युज्यते।
वैडूर्यादिमहोपलौघनिचिते प्राप्तेऽपि रत्नाकरे,
लातुं स्वल्पमदीप्ति काचशकलं किं साम्प्रतं साम्प्रतम्?"

अर्थात्—जिनेन्द्र भगवान् के धर्म से युक्त इस मानव भव को पा करके तुच्छ तथा नीरस कामभोगों का सेवन करना उचित नहीं है। वैडूर्य आदि मणियों से युक्त समुद्र मिल जाने पर भी बिना चमक का-तुच्छ कांच का टुकड़ा लाना क्या उचित कहा जा सकता है? यानी जिस प्रकार वैडूर्य आदि मणियों को छोड़कर कांच का टुकड़ा ग्रहण करना उचित नहीं है उसी प्रकार जिनधर्म का सेवन न करके विषयभोगों का सेवन करना भी उचित नहीं है।

इस स्वर्ण—अवसर को जो यों ही बिता देते हैं अथवा जो जीव यह सोचते हैं कि—चलो अभी तो संसार के सुख भोग लें, फिर वृद्ध अवस्था आने पर धर्म की साधना कर लेंगे, उनका प्रमाद दूर करने के लिए कहा गया है—जो समय व्यतीत हो जाता है वह लौटकर नहीं आता। आयु प्रतिक्षण क्षीण होती जा रही है। यदि यह आयु समाप्त हो गई और धर्म का आचरण न किया तो रत्नत्रय की प्राप्ति होना भविष्य में अत्यन्त कठिन है। जो लोग धर्माचरण से भ्रष्ट होते हैं वे अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं।

तात्पर्य यह है कि अनन्त आत्मिक सुख की प्राप्ति करने के लिए मनुष्य भव ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। पुण्य के योग से यह साधन मिलगया है। ऐसी स्थिति में इस सुयोग का सदुपयोग करो। एक वार अगर यह अवसर हाथ से चला गया तो अनन्तकाल तक संसार में भ्रमण करना पड़ेगा और जन्म-मरण आदि की प्रबल वेदनाएं सहन करनी पड़ेगी। एक वार मनुष्य पर्याय का क्षय हो जाने के पश्चात् दूसरी वार उसकी प्राप्ति होना कितना कठिन है, यह बात समझाने के लिए शास्त्रकारों ने दस दृष्टान्तों की योजना की है। इन दृष्टान्तों से स्थूल बुद्धि वाले भी मानव-जीवन की दुर्लभता की कल्पना कर सकते हैं। वे दृष्टान्त इस प्रकार हैं—

विप्रः प्रार्थितवान् प्रसन्नमनसः श्रीब्रह्मदत्तात् पुरा।
क्षेत्रेऽस्मिन् भरतेऽखिले प्रतिगृहं मे भोजनं दापय॥

इत्थं लब्धवरोऽथ तेष्वपि कदाप्यश्नात्यहो द्विः स चेद्,
भ्रष्टो मर्त्यभवात्तथाप्यसुकृती भूयस्तमाप्नोति न ॥ १ ॥

अर्थात् किसी दरिद्र ब्राह्मण पर चक्रवर्त्ती राजा ब्रह्मदत्त प्रसन्न हो गये। उन्होंने उससे मन चाहा वर मांगने की स्वीकृति दे दी। ब्राह्मण ने कहा—मुझे यह वरदान दीजिए कि आपके राज्य में—'सम्पूर्ण भरत क्षेत्र में' प्रतिदिन एक घर में मुझे भोजन करा दिया जाय। जब 'सब घरों में भोजन कर लूंगा तो दूसरी बार भोजन करना आरम्भ करूंगा।' इस प्रकार जीमते-जीमते सम्पूर्ण भरतक्षेत्र के घरों में जीम चुकने पर दूसरी बार बारी आना बहुत ही कठिन है। वह सारे जीवन में एक-एक बार भी सब घरों में नहीं जीम पाएगा। किन्तु संभव है, दैवयोग से कदाचित दूसरी बार बारी आ जाय, पर प्राप्त हुए मनुष्य भव को जो व्यक्ति वृथा व्यतीत कर देता है उसे फिर मनुष्य भव प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है।

स्तम्भानां हि सहस्रमष्टसहितं प्रत्येकमष्टोत्तरं,
कोणानां शतमेषु तानपि जयन् द्य ूतेऽथ तत्संख्यया।
साम्राज्यं जनकात्सुतः स लभते स्याच्चेदिदं दुर्घटम्,
भ्रष्टा मर्त्यभवात्तथाप्यसुकृती भूयस्तमाप्नोति न ॥ २ ॥

अर्थात्—एक सौ आठ कोने वाले एक हजार आठ स्तम्भों को, जूए में एक भी बार बिना हारे भले ही एक सौ आठ बार जीत ले—और इस प्रकार पुत्र अपने पिता से साम्राज्य प्राप्त कर ले—अर्थात् यह अघट घटना भले ही घट जाय, पर मनुष्य भव को एक बार वृथा व्यतीत कर देने वाले पुरुष को फिर मनुष्य भव की प्राप्ति होना कठिन है।

वृद्धा काऽपि पुरा समस्तभरतक्षेत्रस्य धान्यावलिं,
पिण्डीकृत्य च तत्र सर्षपकणान् क्षिप्त्वाढ़केनोन्मितान्।
प्रत्येकं हि पृथक्करोति किल सा सर्वाणि चान्नानि चेद्।
भ्रष्टो मर्त्यभवात्तथाप्यसुकृती भूयस्तमाप्नोति न ॥ ३ ॥

अर्थात्—सम्पूर्ण भरत क्षेत्र के गेहूँ, जौ, मक्की, चना आदि सब धान्यों को एक जगह इकट्ठा किया जाय और उस एकत्रित ढेर में थोड़े से सरसों के दाने डाल दिये जाएं और अच्छी तरह उन्हें हिला दिया जाय। फिर एक क्षीण नेत्र-ज्योति वाली वृद्धा से कहा जाय कि इस ढेर में से सरसों बीन-बीन कर अलग कर दे। वह वृद्धा ऐसे करने में समर्थ नहीं हो सकती। किन्तु किसी प्रकार अदृष्ट दिव्य-शक्ति के द्वारा वह ऐसा करने में समर्थ हो भी जाय, तब भी मनुष्य भव पाकर पुण्योपार्जन न करने वाले को पुनः मनुष्य भव की प्राप्ति होना इससे भी अधिक कठिन है।

(४) एक धनी सेठ के पास बहुत से रत्न थे। एक बार वह परदेश चला गया और पीछे से उसके पुत्रों ने उसके बहुमूल्य रत्न, बहुत थोड़े मूल्य में बेच डाले। रत्न खरीदने वाले वणिक् विभिन्न दिशाओं में, अपने-अपने देश चले गये। सेठ परदेश से लौटा अपने पुत्रों की करतूत जानकर क्रुद्ध हुआ। उसने अपने पुत्रों को आज्ञा

दी—जाओ, और वे सब रत्न वापिस ले आओ। सब पुत्र घर से निकले और इधर-उधर घूमने लगे। क्या वे समस्त रत्न वापिस ला सकते हैं? नहीं। तथापि दैवयोग से कदाचित् वे इस कठिन कार्य में सफलता प्राप्त कर सकें किन्तु मनुष्य भव पाकर पुण्योपार्जन न करने वाले को पुनः मनुष्य भव प्राप्त होना उससे भी अधिक कठिन है।

(५) एक भिखारी को रात्रि के अन्तिम प्रहर में स्वप्न आया कि उसने पूर्णमासी का चन्द्रमा निगल लिया है। उसने अपने स्वप्न का हाल अन्य भिखारियों से कहा। भिखारियों ने स्वप्न का फल प्रकट करते हुए कहा—तुमने पूर्ण चन्द्रमा स्वप्न में देखा है, इस लिए आज तुम्हें उसी आकार का पूरा रोट भिक्षा में मिलेगा। भिखारी को उस दिन सचमुच एक रोट मिल गया। उसी रात्रि में, उसी ग्राम में एक क्षत्रिय ने भी ऐसा ही स्वप्न देखा। उसने स्वप्न शास्त्रियों के पास जाकर स्वप्न का फल पूछा। स्वप्न शास्त्रियों ने फल बताया —तुम्हें सम्पूर्ण राज्य की प्राप्ति होगी। संयोगवश उसी दिन उस ग्राम के राजा का देहान्त हो गया। वह निस्संतान था। प्राचीन काल की प्रथा के अनुसार, सूंड में फूलमाला देकर हथिनी छोड़ी गई। वह जिसके गले में माला डाल दे, वही राज्य का स्वामी बनाया जाय। हथिनी फूलमाला लिये घूमती हुई उसी राजपूत के पास आई और उसके गले में माला डाल दी। परम्परा के अनुसार वह राजा बनाया गया।

जब स्वप्न में पूर्ण चन्द्र देखने वाले भिखारी को वह हाल मालूम हुआ तो वह सोचने लगा—जो स्वप्न राजपूत ने देखा था। वही मैंने भी देखा था। उसे राज्य मिला और मुझे सिर्फ एक रोट। मैं अब फिर सोता हूँ और फिर पूर्ण चन्द्रमा का स्वप्न देख कर राज्य प्राप्त करूंगा।' क्या भिक्षुक फिर वह स्वप्न देखकर राज्य प्राप्त कर सकता है? बहुत ही कठिन है, पर एक बार मनुष्य जीवन व्यर्थ बिता देने पर नर भव का लाभ पुनः होना उससे भी कठिन है।

(६) मथुरा के राजा जितशत्रु की एक पुत्री थी। राजा ने उसका स्वयंवर किया। उसमें काठ की एक पुतली बनाई। पुतली के नीचे आठ चक्र लगाये। चक्र-निरन्तर घूमते रहते थे। पुतली के नीचे तैल से भरी हुई एक कड़ाही रक्खी गई। राजा ने यह घोषणा की कि तैल में पड़ने वाली पुतली की परछाई को देखकर आठ चक्रों के बीच फिरती हुई पुतली की बांई आँख की टीकी को बाण द्वारा वेधने वाले राजकुमार को मेरी कन्या व्याही जाएगी। स्वयंवर में सम्मिलित हुए समस्त राजा और राजकुमार ऐसा करने में असमर्थ रहे। अतएव जिस प्रकार उस पुतली के वाम नेत्र की टीकी को वेधना कठिन है, उसी प्रकार वृथा व्यतीत किये हुए मानव भव को पुनः प्राप्त करना दुर्लभ है।

(७) एक बड़ा सरोवर था। उस पर काई छाई हुई थी। पर बीच में छोटा सा एक छिद्र था—जहाँ काई नहीं थी। सौ वर्ष बीत जाने पर वह छेद इतना चौड़ा हो जाता था कि उसमें कछुए की गर्दन समा सकती थी। एक बार छेद जब चौड़ा हुआ तो एक कछुआ ने उसमें अपनी गर्दन डाली और ऊपर की ओर जो दृष्टि फैंकी

तो उसे शरद्-पूर्णिमा के चन्द्र का दर्शन हुआ। उसके लिए वह दृश्य अपूर्व था। अतः अपने कुटुम्ब के व्यक्तियों को चन्द्र दिखलाने की इच्छा से उसने पानी में डुबकी लगाई। जब वह उन्हें साथ लेकर आया तब तक छेद बंद हो गया था। अब दूसरी बार चन्द्र-दर्शन होना बहुत कठिन है। कदाचित् दैवीशक्ति की सहायता से कछुए को ऐसा अवसर फिर मिल जाय, किन्तु मनुष्य भव पाकर पुण्योपार्जन न करने वाले को पुनः मनुष्य भव की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है।

(८) स्वयंभूरमण समुद्र के एक किनारे गाड़ी का युग (जूआ) डाल दिया जाय और दूसरे किनारे पर समिला (कील) डाल दी जाय, दोनों समुद्र की तरंगों में इधर-उधर भटकते-भटकते मिल जाएं और वह कील जूए के छेद में घुस जाय। यह घटना अत्यन्त कठिन है। इसी प्रकार मानव भव की पुनः प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है।

(९) जिस प्रकार देवाधिष्ठित पाशों से खेलने वाले पुरुष को सामान्य पाशों से खेल कर हराना अत्यन्त कठिन है, उसी प्रकार मनुष्य भव पाकर विशिष्ट पुण्य उपार्जन न करने वाले को पुनः मानव पर्याय की प्राप्ति होना कठिन है।

(१०) एक विशाल स्तम्भ के टुकड़े-टुकड़े इतने सूक्ष्म टुकड़े जिनके फिर टुकड़े न हो सकें—करके कोई देव एक नली में भर ले और सुमेरु पर्वत की चोटी पर जाकर, जोर से फूंक मार कर उन तमाम टुकड़ों (अणुओं) को हवा में उड़ा देवे। क्या कोई पुरुष उन समस्त अणुओं को इकट्ठा करके, फिर उस स्तम्भ की रचना कर सकता है? अत्यन्त कठिन है। पर कदाचित् दैवी शक्ति से ऐसा हो सकता है, किन्तु मनुष्य भव पाकर उसे वृथा गंवा देने वाले को मनुष्य भव की प्राप्ति होना उससे भी अधिक कठिन है।

इन दस दृष्टान्तों से मनुष्य भव की दुर्लभता की कल्पना की जा सकती है। वास्तव में मनुष्य पर्याय की प्राप्ति होना अतिशय पुण्य का फल है। जिसे इस पुण्य के संयोग से यह भव प्राप्त हो गया है, उन्हें इसका वास्तविक मूल्य और महत्त्व अंकित करना चाहिए एवं उससे अधिक से अधिक लाभ उठाने की चेष्टा करनी चाहिए। तुच्छ कामभोगों में उसे व्यतीत कर देना घोर अविवेक है। एक बार जब वह व्यतीत हो जाता है तो दूसरी बार मिलना सरल नहीं है। अतएव मनुष्य भव पाकर धर्म के आचरण द्वारा आत्मकल्याण करना विवेकी पुरुषों का परम कर्त्तव्य है।

मूलः—डहरा बुड्ढा य पासह, गब्भत्था वि चयंति माणवा।
सेणे जह वट्टयं हरे, एवमाउखयम्मि तुट्टई ॥ २ ॥

छायाः—दहरा वृद्धाश्च पश्यत, गर्भस्था अपि चयन्ति मानवाः।
श्येनो यथा वर्त्तिकां, हरेदेवमायुः क्षये त्रुटयति ॥ २ ॥

शब्दार्थः—श्री ऋषभदेव अपने पुत्रों से कहते हैं—बालक, वृद्ध और यहां तक कि

गर्भस्थ मनुष्य भी अपने जीवन को त्याग देते हैं, इस सत्य को देखो। जैसे बाज पक्षी तीतर को मार डालता है, उसी प्रकार आयु का क्षय होने पर मनुष्य का जीवन समाप्त हो जाता है।

भाष्यः—अनन्तर गाथा में मनुष्य भव की दुर्लभता का प्रतिपादन किया गया था। यहां प्राप्त हुआ मनुष्य जीवन भी चिरस्थायी एवं नियत समय तक स्थिर रहने वाला नहीं है, यह बतलाया जा रहा है।

अनेक मनुष्य विषयभोगों में आसक्त होकर यह विचार करते हैं कि अभी यौवन अवस्था में संसार-सम्बन्धी सुखों का आस्वादन कर लें, फिर इच्छाएं जब शान्त हो लेंगी तब धर्म का आचरण करेंगे। ऐसे मनुष्यों को समझाने के लिए भगवान् कहते हैं—मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु यद्यपि तीन पल्य की है, फिर भी तीन पल्य तक जीवन टिकना निश्चित नहीं है। अनेक मनुष्य बाल्यकाल में ही प्राण त्याग देते हैं। अनेक वृद्धावस्था तक पहुँचते हैं तो अनेक ऐसे भी हैं जो गर्भ में आकर एक मुहूर्त्त पूर्ण होने से पहले ही चल बसते हैं। यह सब प्रत्यक्ष से देखो—लोक में सदैव इस प्रकार की मृत्यु-घटनाएं घटती रहती हैं।

जब यह निश्चित है कि जीवन का कुछ भी ठिकाना नहीं है, कल तक जीवित रहने का भी भरोसा नहीं किया जा सकता तो वृद्धावस्था की राह देख कर बैठ रहना बुद्धिमत्ता नहीं है। जैसे बाज पक्षी तीतर पर अचानक झपट कर उसके प्राणों का तत्काल अन्त कर देता है, उसी प्रकार मृत्यु भी किसी क्षण मनुष्य के जीवन पर आक्रमण करके प्राणों का अन्त कर देती है। अतः बुद्धिमान् पुरुष को अमूल्य मानव भव पाकर, एक भी क्षण का प्रमाद न करते हुए शीघ्र ही आत्महित में संलग्न होना चाहिए।

मूलः—मायाहिं पियाहिं लुप्पइ, नो सुलहा सुगई य पेच्चओ।
एयाइं भयाइं पेहिया, आरंभा विरमेज्ज सुव्वए ॥३॥

छायाः—मातृभिः पितृभिर्लुप्यते, नो सुलभा सुगतिश्च प्रेत्य।
एतानि भयानि प्रेक्ष्य आरम्भाद् विरमेत् सुव्रतः ॥ ३ ॥

शब्दार्थः—कोई-कोई माता पिता आदि स्वजनों के स्नेह में पड़कर संसार में भ्रमण करते हैं। उन्हें परलोक में सुगति की प्राप्ति होना सरल नहीं है। सुव्रत पुरुष इन भयों का विचार करके आरम्भ से निवृत्त हो जाय।

भाष्यः—आयु की अनित्यता का निरूपण करके यहाँ यह बताया गया है कि परिमित आयु किस प्रकार व्यर्थ चली जाती है और विवेकी पुरुषों का कर्त्तव्य क्या है?

माता-पिता शब्द यहाँ उपलक्षण हैं। इन शब्दों से यहाँ भ्राता, पुत्र, पत्नी आदि-आदि स्वजनों तथा अन्य स्नेहीजनों का ग्रहण करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि अनेक मनुष्य स्वजनों के स्नेह-जाल में ऐसे फंसे रहते हैं कि उन्हें अपने उदार और महान् कर्त्तव्य की पूर्ति करने का अवसर ही नहीं मिल पाता। स्नेह, मोह या

ममता के बंधन में जकड़े हुए लोग कर्त्तव्य पूर्ति के लिए तनिक भी चेष्टा नहीं कर पाते। अन्ततः वही स्नेह आगामी भव में भी उनका दुर्गति का कारण होता है।

इस लोक-संबंधी और परलोक-संबंधी दुर्गति-गमन आदि भय के कारणों पर विचार करके विवेक-विभूषित व्यक्ति को सावद्य अनुष्ठान रूप आरम्भ से निवृत्त होना चाहिए और वीतराग भगवान् द्वारा उपदिष्ट अहिंसा आदि सुव्रतों का आचरण करना चाहिए।

कुछ अज्ञानी पुरुष इस प्रकार के उपदेश से यह तात्पर्य निकाल लेते हैं कि पुत्र को माता-पिता की सेवा-शुश्रूषा नहीं करनी चाहिए। अगर कोई पुरुष उनकी सेवा करता है तो वह एकान्त पाप है। संसार से सब प्रकार का नाता तोड़ लेने वाले, अध्यात्म की साधना में लगे हुए और जगत् के प्राणी मात्र पर समान भाव स्थापित कर चुकने वाले महात्माओं के लिए यह कहा जाय तो संगत हो सकता है, पर यह बात जब गृहस्थ के लिए भी कही जाती है तो विचारणीय बन जाती है। पुत्र पर माता-पिता का असीम उपकार है। परमोत्तम मानव-जीवन की प्राप्ति में वे निमित्त हैं। अनेक कष्ट उठाकर वे पुत्र का परिपालन करते हैं। कुसंगति से बचाकर सत्संगति का अवसर प्रदान करते हैं। पुत्र में जो बुद्धिबल हैं, प्रतिभा का वैभव है, भलाई-बुराई को समझने के विवेक की क्षमता है वह प्रायः माता-पिता की ही कृपा का फल है। इसी कारण शास्त्रकारों ने माता-पिता के उपकार की गुरुता का वर्णन करते हुए कहा है-कोई कुलीन पुरुष प्रतिदिन प्रातःकाल होते ही शतपाक, सहस्रपाक जैसे तैलों से माता-पिता के शरीर की मालिश करे, मालिश करके सुगंधित द्रव्यों से उबटन करे, उबटन करके उन्हें सुगंधित एवं शीतोष्ण जल से स्नान करावे, तत्पश्चात् सभी अलंकारों से उनके शरीर को अलंकृत करे, वस्त्रों एवं आभूषणों से अलंकृत करके मनोज्ञ, अठारह प्रकार के व्यंजनों सहित भोजन करावे और इसके पश्चात् उन्हें अपने कंधों पर बैठा कर फिरे। जीवन पर्यन्त ऐसा करने पर भी पुत्र माता-पिता के महान् उपकार से उऋण नहीं हो सकता।

इतनी प्रबल चेष्टाएँ करते रहने पर भी जिन माता-पिता के उपकार से उऋण नहीं हो सकते, उनकी सेवा करने वाले पुत्र को एकान्त पापी बतलाना घोर अज्ञान का परिणाम है।

आगम के अनुसार पुत्र यदि केवली भगवान् द्वारा निरूपित धर्म का कथन करके, उसका बोध देकर माता-पिता को धर्म में दीक्षित करदे तो वह माता-पिता के परम उपकार का बदला चुका सकता है।

वास्तव में अवस्था-भेद से मनुष्य के कर्त्तव्य में भी भिन्नता आ जाती है। गृहस्थ के लिए जो परम कर्त्तव्य है, वह साधु के लिए अकर्त्तव्य हो सकता है और साधु का प्रत्येक कर्त्तव्य गृहस्थ के लिए अनिवार्य नहीं है। गृहस्थावस्था और मुनि-अवस्था भिन्न-भिन्न हैं और दोनों के कर्त्तव्य कार्यों का केवली भगवान् ने पृथक्-पृथक् निरूपण किया है। जो भाग्यशाली महापुरुष संसार को त्याग देते हैं, महाव्रतों को

अंगीकार करके विचरते हैं और जिन्होंने शरीर में रहते हुए भी शरीर-सम्बन्धी ममत्व का त्याग कर दिया है, वे अन्य कुटुम्बियों में ममता कैसे धारण कर सकते हैं ? वे संसार से परे पहुँच चुके हैं। उनके लिए शत्रु, मित्र, पिता, पुत्र, माता और पत्नी-सब समान हैं। उनकी किसी भी प्राणी के साथ कोई भी विशेष नातेदारी नहीं है। उन पर कुटुम्ब-परिवार का कुछ भी उत्तरदायित्व नहीं है।

क्या यही सब विधि-विधान गृहस्थ को लागू किये जा सकते हैं ? जो गृहस्थ सांसारिक व्यवहारों में प्रवृत्ति कर रहा है, अनेक प्रकार के आरम्भ-समारम्भ करके धनोपार्जन करता है, अपने लिए भवनों का निर्माण करता है, सन्तानोत्पत्ति करता है, क्या वह भी कुटुम्ब के उत्तरदायित्व से मुक्त हो सकता है ? उसके लिए माता पिता की सेवा करना एकान्त पाप कहा जा सकता है ? कदापि नहीं। इस प्रकार का विधान करना अज्ञान की चरम सीमा है।

यह आशंका की जा सकती है कि यदि गृहस्थ के लिए माता-पिता की सेवा करना एकान्त पाप नहीं है तो 'मायाहिं पियाहिं लुप्पइ' यह वाक्य भगवान् ने क्यों कहा है ? इसका समाधान स्पष्ट है। भगवान् ऋषभदेव अपने पुत्रों को मुनिव्रत धारण करने का उपदेश दे रहे हैं और इसी कारण 'आरम्भा विरमेज्ज सुव्वए' इन शब्दों का भी प्रयोग किया है अर्थात् 'सुव्रती पुरुष आरम्भ से निवृत्त हो जाय।' इस प्रकार मुनि वृत्ति के उपदेश में, इस प्रकार का कथन बाधक नहीं है। इस उपदेश से यह नहीं सिद्ध होता कि गृहस्थ माता-पिता की सेवा न करे। जो सब प्रकार के आरम्भ से निवृत्त होगा—मुनि होगा—उसके लिए उनकी सेवा करने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता, जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है।

अतएव स्नेह रूप बंधन को जन्म-जन्मान्तरों में अनेकानेक कष्टों का कारण समझ कर—संसार भ्रमण रूप भय का विचार करके आरम्भ अर्थात् सावद्य क्रिया से निवृत्त हो जाना चाहिए। जो आरम्भ से निवृत्त होता है वही सुव्रती हो सकता है। गृहस्थी छोड़ देने पर भी जो अनेक प्रकार के आरम्भ में अनुरक्त रहते हैं, वे सुव्रती नहीं कहलाते।

मूलः-जमिणं जगती पुढो जगा, कम्मेहिं लुप्पंति पाणिणो।
सयमेव कडेहिं गाहइ, णो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठयं ॥ ४ ॥

छायाः—यदिदं जगति पृथग् जगत्, कर्मभिः लुप्यन्ते प्राणिनः।
स्वयमेव कृतैर्गाहते, नो तस्य मुच्येत अस्पृष्टः ॥ ४ ॥

शब्दार्थः—संसार में अलग-अलग निवास करने वाले प्राणी अपने किये हुए कर्म का फल भोगने के लिए नरक आदि यातना के स्थानों में जाते हैं। वे अपने कर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं पाते।

भाष्यः—जो प्राणी हिंसा आदि पाप कर्मों से विरत नहीं होते, उनकी दशा का

यहां निरूपण किया गया है। सावद्य कर्मों में रत रहने वाले वे जीव अपने-अपने अनुष्ठानों के अनुरूप नरक आदि अशुभ गतियों में भ्रमण करते हैं। उनके किये हुए कर्म ही उन्हें ऐसे स्थानों में ले जाते हैं, ईश्वर आदि कोई भिन्न व्यक्ति उन्हें कष्टकर स्थानों में नहीं पहुँचाता। इसके अतिरिक्त, कर्मोपार्जन करने वाला व्यक्ति, उन कर्मों का फल भोगे विना छुटकारा नहीं पा सकता।

मनुष्य प्राणी अपनी अनादि-अनन्त सत्ता को जानता हुआ भी व्यवहार में उसे अस्वीकार-सा करता है। अस्वीकार का तात्पर्य यह है कि व्यवहार में उस स्वीकृति के अनुसार नहीं चलता। उसकी दृष्टि और भविष्य से हटकर केवल क्षुद्र वर्तमान तक सीमित रहती है। वह वर्तमान के लाभालाभ की तराजू पर ही अपने कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को तोलता है। भविष्य में चाहे जो हो, जिस कार्य से वर्तमान में लाभ दिखाई देता है, वही कार्य उसे प्रिय लगता है। उसे भविष्य की कुछ भी चिंता नहीं रहती, मानो भविष्य के साथ उसे कोई सरोकार नहीं है। इस संकीर्ण भावना से प्रेरित होकर मनुष्य भविष्य की ओर से निरपेक्ष बन जाता है। अपने भविष्य को सुधारने की ओर लक्ष्य नहीं देता।

ऐसे जीवों को यहां सावधान किया गया है। उन्हें समझाया गया है कि वर्तमान तक ही दृष्टि न दौड़ाओ। वर्तमान तो शीघ्र ही 'भूत' बन जायगा। आज का जो भविष्य है, वही कल वर्तमान बनेगा और उसी के साथ तुम्हें निबटना पड़ेगा। अतएव उस आगामी वर्तमान को विस्मरण न करो। जो लोग उसे विस्मरण करते हैं उन्हें विभिन्न प्रकार के नरक आदि यातनाओं से परिपूर्ण स्थानों का अतिथि बनना पड़ता है।

जगत् में नाना प्रकर के जो दुःख दिखाई देते हैं, उनका मूल कारण दुःख भोगने वाला स्वयमेव है। जहां बीज पड़ता है वहीं अंकुर उगता है, इसी प्रकार जहां जिस आत्मा में अशुभ कर्मों का संचय होगा वहीं दुःखों की उत्पत्ति होगी। अतएव अपने किसी दुःख के लिए दूसरे को उत्तरदायी ठहराना घोर भ्रम है। न कोई किसी को दुःखी बना सकता है, न कोई किसी को सुखी बना सकता है समस्त सुख-दुःख आत्मा के अपने ही व्यापारों के फल हैं। कहा भी है:—

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥

अर्थात् आत्मा ने जैसे कर्म किये हैं, उन्हीं का शुभ या अशुभ फल वह आप पाता है। यदि दूसरों का दिया हुआ फल दूसरा पावे तो उसके उपार्जन किए हुए कर्म निष्फल हो जाएँगे।

सदा इस सत्य का स्मरण रखते हुए अपने दुःख—सुख के लिए दूसरों को उत्तरदायी न ठहराओ। अपने दुःख के लिए किसी पर द्वेष न करो और सुख के लिए राग भाव धारण न करो। अन्यथा राग-द्वेष के वश होकर और अधिक पाप

कर्म उपार्जन करोगे। जब पूर्वार्जित पाप या पुण्य का दुःख रूप या सुख रूप फल प्राप्त हो तो उसे अपने ही कर्म का फल समझ कर साम्य भाव एवं धैर्य के साथ सहन करो। पहले जो ऋण अपने मस्तक पर चढ़ाया है, उसे उतारते समय विषाद-युक्त एवं अधीर बनने से क्या काम चलेगा ? उसे तो किसी भी अवस्था में चुकाना पड़ेगा। हां, भविष्य का विचार करो और निश्चय करलो कि अब जो कर्म करोगे उनका फल भी इसी प्रकार भोगना पड़ेगा।

इस प्रकार विवेक और धैर्य का सहारा लेने से भविष्य कालीन दुःख से अपनी रक्षा कर सकोगे। साथ ही उपस्थित दुःख की मात्रा भी न्यून हो जायगी। यह स्मरण रखना चाहिए कि सुख-दुःख जहां बाह्य निमित्तों पर अवलंबित हैं, वहां अपनी मनोवृत्ति पर भी उनका बहुत कुछ आधार है। दृढ़ मनोवृत्ति पर्वत के समान भारी दुःख को भी राई के बराबर बना देती है और कातर भाव से राई के बराबर दुःख भी पर्वत के समान बन जाता है।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक मनुष्य को निम्न लिखित बातों का सदैव ध्यान रखना चाहिए:—

(१) जो कर्म आज किया जाता है, उसका फल भविष्य में अवश्यंभावी है।

(२) कृत कर्मों का फल भोगने के लिए जीव को नाना योनियों में भ्रमण करना पड़ता है।

(३) अपने किये हुए कर्मों का फल प्राणी आप ही पाता है। फल भोगने के लिए न ईश्वर की अपेक्षा होती है और न किसी अन्य की।

इन बातों का ध्यान रखकर विवेकियों को प्रवृत्ति करनी चाहिए।

मूलः—विरया वीरा समुट्ठिया, कोहकायरियाइपीसणा।
पाणे ण हणंति सव्वसो, पावाओ विरयाभिनिव्वुडा ॥५॥

छायाः—विरता वीराः समुत्थिताः, क्रोधकातरकादिपीषणाः।
प्राणिनो न घ्नन्ति सर्वशः, पापाद् विरता अभिनिर्वृताः ॥५॥

शब्दार्थः—जो पौद्गलिक सुख से तथा हिंसा आदि पापों से विरक्त हैं, जो सम्यक् चारित्र की उपासना में सावधान हैं, जो क्रोध, मान, माया और लोभ को नाश करने वाले हैं, वे मन, वचन एवं काय से प्राणियों की हिंसा नहीं करते। ऐसे वीर पुरुष मुक्तात्माओं के समान शान्त हैं।

भाष्यः—प्रकृत गाथा में क्रोध के ग्रहण से मान का भी ग्रहण किया गया है। कातरिका अर्थ माया है। 'कातरिका' के ग्रहण से लोभ का भी ग्रहण हो जाता है।

यहां यह स्पष्ट किया गया है कि विषय-जन्य सुखों की प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार के आरंभ-समारंभ करने पड़ते हैं। विषय-जन्य सांसारिक सुख बाह्य पदार्थों

पर अवलंबित है। जितने परिमाण में अनुकूल योग्य सामग्री प्रस्तुत होगी, उतने ही परिमाण में सांसारिक सुख प्राप्त होगा। इस प्रकार की बद्धमूल धारणा के कारण सुख का अभिलाषी प्राणी अधिक से अधिक सुख प्राप्त करने के उद्देश्य से अधिक से अधिक सुख-सामग्री जुटाना चाहता है। उस सामग्री को जुटाने के लिए वह अधिक से अधिक आरम्भ अर्थात् सावद्य क्रियाएँ करता है।

जैसा कि पहले बतलाया गया है, सावद्य क्रियाओं का दुष्फल उसे भोगना पड़ता है। वर्तमान काल में भी वह उस सामग्री के कारण अनेक दुःख उठाता है। सुख-सामग्री के उपार्जन में नाना प्रकार के कष्ट, उपार्जित सामग्री के संरक्षण की विविध प्रकार की सदा प्रवृत्त होने वाली चिन्ताएं और अन्त में उसके वियोग से होने वाला घोर विषाद, यह सब उस सुख-सामग्री के दान हैं। सुख सामग्री की बदौलत इन सब की जीव को प्राप्ति होती है। ऐसे जीव को कदापि शान्ति-लाभ नहीं हो सकता। अनुपम और स्थिर शान्ति की प्राप्ति उन्हीं को होती है जो सब प्रकार के आरम्भ से विमुख हो जाते हैं तथा क्रोध, मान, माया और लोभ का परित्याग कर देते हैं। ऐसे जीव संसार से रहते हुए भी संसार में अतीत हैं।

मूलः—जे परिभवइ परं जणं, संसारे परियत्तइ महं।
अदु इंखिणिया उ पाविया, इति संखाय मुणी न मज्जइ ॥

छायाः—यः परिभवति परं जनं, संसारे परिवर्त्तते महत्।
अथ ईक्षणिका तु पापिका, इति संख्याय मुनिर्न माद्यति ॥ ६ ॥

शब्दार्थः—जो दूसरे का पराभव-तिरस्कार करता है वह चिरकाल तक संसार में भ्रमण करता है। पराई निंदा करना, पाप का कारण है, ऐसा जानकर मुनि अभिमान नहीं करते।

भाष्यः—गाथा का भाव स्पष्ट है। जो मुनि विशिष्ट ज्ञानी, ध्यानी, त्यागी और तपस्वी है, उसे अपने ज्ञान, ध्यान, तप आदि का अभिमान नही करना चाहिए। 'मैं अमुक उच्च जाति में उत्पन्न हुआ हूँ, मेरा गोत्र संसार भर में विख्यात एवं प्रशस्त है, मैं इतना अधिक विद्वान् हूँ, शास्त्रों के मर्म का वेत्ता हूँ, मैं ऐसा घोर तप करता हूँ, तुमसे कुछ भी नहीं बन पड़ता। तुम मुझ से हीन जाति के हो, तुम मेरे आगे अज्ञ हो, इत्यादि प्रकार से अभिमान करने वाला संसार में चिर भ्रमण करता है। क्योंकि पर-निन्दा पाप का कारण है।

दूध में खटाई का थोड़ा-सा अंश सम्मिलित हो जाय तो सारा दूध फट जाता है—विकृत हो जाता है और अन्त में वह स्वयं दधि के रूप में खटाई बन जाता है। इसी प्रकार तपस्या, त्याग आदि में अभिमान कषाय का अंश सम्मिलित होने से वह तपस्या आदि कषाय रूप परिणत हो जाती है। कारण यह है कि उस समय तप-त्याग आदि क्रियाएं आध्यात्मिक विशुद्धि के उद्देश्य से नहीं होती, किन्तु मान कषाय

की पुष्टि के लिए प्राय: की जाती हैं। हम दूसरों से किस प्रकार ऊँचे कहलावें और हम अपने सामने दूसरों को किस प्रकार नीचा दिखाएं, यह भावना तप-त्याग के मूल में होती है तो कषाय पोषण-ही उसका मूल्य रह जाता है। यही कारण है कि उस तप-त्याग के विद्यमान होने पर भी संसार-भ्रमण का अन्त नहीं होता, वरन् वह और अधिक बढ़ता है।

अतएव यहाँ सूत्रकार कहते हैं कि जो अविवेकी जन दूसरे का तिरस्कार करता है, वह चार गति रूप संसार में रहेट की घड़ियों की भांति भ्रमण करता है और उसका भ्रमण चिरकाल तक चालू रहता है। क्योंकि ईक्षणिका अर्थात् परनिन्दा पाप का कारण है। ऐसा समझ कर मुनि अपने तप-त्याग-ज्ञान-ध्यान का अभिमान करके दूसरों को नीचा दिखाने का कदापि प्रयत्न नहीं करते हैं।

तात्पर्य यह है कि तपस्या आदि बाह्य क्रियाओं के आचरण का एक मात्र उद्देश्य आत्मशुद्धि होना चाहिए। अपना महत्त्व सिद्ध करने के लिए बाह्य क्रियाओं का आचरण नहीं करना चाहिए। बाह्य क्रियाएं इतनी पवित्र हैं कि उन्हें कीर्ति का वाहन बनाने वाला पुरुष घोर अविवेकी है और उनकी प्रकारान्तर से आसातना करता है। वह उन महान् क्रियाओं को अपनी क्षुद्र कीर्ति का कारण बनाकर उनके वास्तविक फल से वंचित हो जाता है। लेकिन जब वह उन क्रियाओं को परनिन्दा का साधन बनाता है, तब तो उसके पाप की गुरुता और भी अधिक बढ़ जाती है और परिणाम यह होता है कि उसे दीर्घकाल तक संसार में भटकना पड़ता है। इस केवली प्ररूपित तत्त्व को विदित करके पर-निन्दा से सदैव बचना चाहिए और अपने को ऊंचा सिद्ध करने के लिए दूसरों को नीचे गिराने का वाचनिक प्रयास नहीं करना चाहिए।

मूलः—जे इह सायाणुगा नरा, अज्झोववन्ना कामेहिं मुच्छिया।
किवणेण समं पगब्भिया, न वि जाणंति समाहियाहितं॥

छायाः—य इह सातानुगा नराः, अध्युपपन्नाः कामैर्मूर्च्छिताः।
कृपणेन समं प्रगल्भिताः, न विजानन्ति समाधिमाख्यातम्॥ ७॥

शब्दार्थः—जो पुरुष इस लोक में सुख का अनुसरण करते हैं, तथा ऋद्धि, रस और साता के गौरव में आसक्त हैं और काम-भोग में मूर्छित हैं, वे इन्द्रियों के दासों के समान काम-भोगों में भ्रष्ट बन जाते हैं और कहने पर भी धर्म-ध्यान को नहीं समझते हैं।

भाष्यः—सूत्रकार ने यहाँ यह प्रदर्शित किया है कि किस प्रकार के पुरुष समाधि अर्थात् धर्म ध्यान की आराधना करने में असमर्थ होते हैं।

जो पुरुष सातानुगामी होते हैं अर्थात् सुख के पीछे-पीछे चलते हैं और दुःखों से भयभीत होकर प्राप्त सुख का किंचित् अंश भी त्याग नहीं करते, वे समाधि की आराधना नहीं कर सकते। जिन वस्तुओं के सेवन से इन्द्रियों को सुख की अनुभूति

होती है और चित्त में आह्लाद होता है, उन वस्तुओं का त्याग करने में असमर्थ पुरुष उनका सेवन करता है। धर्म की उपासना के लिए यदि उनका त्याग करना आवश्यक होता है तो वे धर्म का ही त्यागकर देते हैं। अतएव धर्माराधना की अभिलाषा रखने वाले पुरुषों को सर्वप्रथम साता-शीलता का त्यागकर देना चाहिए।

भगवान् ने इसीलिए कहा है—'आयावयाहि चय सोगमल्लं' अर्थात् कष्ट सहन करो—सुकुमारता त्यागो। जो सुकुमार हैं, अपने शरीर को कष्टों से बचाने के लिए निरन्तर व्यग्र रहते हैं, वे अवसर आने पर धर्म में दृढ़ नहीं रह सकते।

'अध्युपपन्ना' का अर्थ है—ऋद्धि, रस, और साता में आसक्त। ऋद्धि आदि में आसक्त तथा कामभोगों में मूर्च्छित मनुष्य अन्त में धृष्ट बन कर अपना अहित करते हैं। वे वीतराग भगवान् द्वारा उपदिष्ट समाधि को नहीं प्राप्त कर सकते।

मूल:—अदक्खुव्व दक्खुवाहियं, सद्दहसु अदक्खुदंसणा।
हंदि हु सुनिरुद्धदंसणे, मोहणिज्जेण कडेण कम्मुणा ८

छाया:—अपश्यवत् पश्यव्याहृतं श्रद्धत्स्व अपश्यदर्शन !
गृहाण हि सुनिरुद्धदर्शनाः, मोहनीयेन कृतेन कर्मणा ॥ ८॥

शब्दार्थ:—हे अन्धे के समान पुरुषो ! तुम सर्वज्ञ भगवान् द्वारा कहे हुए सिद्धान्त में श्रद्धा करो। असर्वज्ञ पुरुषों के आगम में श्रद्धा रखने वाले पुरुषो ! उपार्जित किये हुए मोहनीय कर्म के उदय से जिसकी दृष्टि रुक गई है वह सर्वज्ञ प्ररूपित आगम पर श्रद्धा नहीं करता।

भाष्य:—जिसे नेत्रों से दिखाई नहीं देता वह लोक में अन्धा कहलाता है। शास्त्रकार ने यहां अपश्य अर्थात् अन्धा न कह कर अपश्यवत् अर्थात् अन्धे के समान कहा है। जो पुरुष अपने कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के विचार से शून्य है—जिसकी विवेक दृष्टि जागृत नहीं हुई अपश्यवत् अर्थात् अन्धे के समान कहलाता है। उसी को सम्बोधन करके यहां श्रद्धान करने का विधान किया गया है।

कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के विवेक से शून्य होने के कारण हे अन्धवत् ! सर्वज्ञ भगवान् के कहे हुए आगम पर श्रद्धा ला, तथा हे असर्वज्ञ पुरुष के दर्शन पर श्रद्धा करने वाले अपने कदाग्रह को त्याग और सर्वज्ञ के उपदेश पर विश्वास कर। जीव मोहनीय कर्म के प्रबल उदय से सर्वज्ञ वीतराग भगवान् द्वारा भव्य प्राणियों पर करुणा करके उपदिष्ट आगम पर, श्रद्धा नहीं करते।

यहां एक मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण को स्वीकार करने वाले नास्तिक मत के अनुयायियों को तथा छद्मस्थ पुरुषों द्वारा प्रणीत मत का अनुसरण करने वालों को उपदेश दिया गया है।

प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने वाले नास्तिकों के मत पर पहले विचार किया जा चुका है। अनुमान आगम को प्रमाण न मानना अज्ञान है। अन्य बातों को

यदि छोड़ दिया जाय और लोक-व्यवहार पर ही सूक्ष्म रूप से विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि अकेले प्रत्यक्ष से संसार का निर्वाह नहीं हो सकता है और न हो रहा है। यहां पद-पद पर अनुमान और आगम प्रमाण का आश्रय लेना पड़ता है। माता पिता आदि गुरुजनों के वाक्यों को कौन सुपुत्र स्वीकार नहीं करता ? माता-पिता आदि के वाक्य लौकिक आगम प्रामण में अन्तर्गत हैं और उन्हें प्रमाण माने विना लेन-देन आदि का व्यवहार नहीं चलता। इसी प्रकार अनुमान प्रमाण का भी पद-पद पर प्रयोग करना पड़ता है। धूम्र को देख कर सभी चतुर पुरुप अग्नि का अनुमान करते हैं। व्यक्त वाणी सुनकर मनुष्य के अस्तित्व का वोध होता है, दोनों किनारों को स्पर्श करती हुई, मैले-कुचैले पानी वाली एवं तीव्रतर वेग वाली नदी के एक विशेष प्रकार के प्रवाह को देखते ही वर्षा का ज्ञान हुआ करता है। यह सब ज्ञान अनुमान रूप है। इसे अप्रमाण कहना अति साहस है, आत्मवंचना है और लोक के साथ छल करना है।

इस प्रकर आगम और अनुमान प्रमाण की आवश्यकता स्थूल लौकिक विषयों में भी प्रतीत होती है, तो अत्यन्त सूक्ष्म, बुद्धि के अगोचर, मन से अगम्य, इन्द्रियों के सामर्थ्य से अतीत गूढ़ तत्त्वों को समझाने के लिए यदि आगम और अनुमान आदि प्रमाणों की आवश्यकता प्रतीत हो तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? प्रत्युत ऐसे विषयों के वोध के लिए भी आगम आदि प्रमाणों को स्वीकार न करना ही आश्चर्य की बात हो सकती है।

मनुष्य अपने बुद्धि वैभव का कितना ही अभिमान क्यों न करे, पर वास्तव में उसकी बुद्धि की परिधि अत्यन्त संकीर्ण है। उसकी इन्द्रियां, जिन पर वह इतराता है न कुछ के बराबर जान पाती हैं। इन्द्रियां जितना जानती हैं, उससे बहुत अधिक भाग ऐसा है जिसे वे नहीं जान पातीं। और बेचारा मन, इन्द्रियों का अनुचर है। वह इन्द्रियों के पीछे-पीछे ही चलता है। जहां इन्द्रियों की पहुँच नहीं है वहां मन की भी गति नहीं है। ऐसी अवस्था में मनुष्य समग्र वस्तु-तत्त्व को जानने का दम क्यों भरता है ? विशाल सागर के एक जल-विन्दु जितने भाग को भी वह नहीं जान पाता। फिर भी वह मनुष्य इतना गर्वीला बन जाता है कि वह अपनी अक्षमता को अस्वीकार करने के बदले एक क्षुद्र जल-कण को ही सागर कहने लगता है और उस कणिका के अतिरिक्त असीम जल-राशि के अस्तित्व से इन्कार कर देता है, क्योंकि वह उसके ज्ञान से परे है।

जो हम जानते हैं, बस वही सब कुछ है। जिसे हम नहीं जान रहे हैं, वह कुछ भी नहीं है, यह तर्क है तो अज्ञान की चरम सीमा पर पहुंचा हुआ, पर अपने आप को अद्भुत ज्ञानी मानने वाला मनुष्य उपस्थित करता है। इस श्रेणी के मनुष्यों को कूप-मंडूक कहा गया है।

मनुष्य का यह दर्प मानव-समाज की प्रगति का अवरोध करता है। नम्रता-पूर्वक अपने अज्ञान की स्वीकृति से मनुष्य आगे बढ़ता है और अपने अज्ञान को

क्षीण करता चलता है और अन्त में अज्ञान से सर्वथा मुक्त हो जाता है। इसके विपरीत अज्ञान की अस्वीकृति से मनुष्य अज्ञान के गहन से गहनतर अन्धकार में डूबता जाता है।

अतएव यह सर्वथा उचित और वांछनीय है कि मनुष्य अपने अभिमान का भार अपने सिर से उतार फैंके और स्वस्थ होकर अपनी वास्तविक स्थिति का विचार करे। वह अपनी मर्यादाओं का आकलन करे और अपने प्रत्यक्ष पर ही अवलंबित न रहकर आगम एवं अनुमान का आश्रय लेते हुए अपनी बौद्धिक परिधि में विस्तीर्णता लाने की चेष्टा करे।

आगम को प्रमाण मानने में एक अड़चन उपस्थित की जाती है। संसार में एक दूसरे के विरुद्ध वस्तु-तत्त्वों का निरूपण करने वाले इतने अधिक आगम हैं कि किस पर श्रद्धान किया जाय और किस पर श्रद्धान न किया जाय? सभी आगम सत्य का निरूपण करने का दावा करते हैं और अपनी प्रामाणिकता की मुक्त कंठ से उद्‌घोषणा करते हैं। फिर भी एक पूर्व को जाता है तो दूसरा पच्छिम को। ऐसी अवस्था में किस आगम का अनुसरण करना चाहिए? इसी उलझन में पड़कर किसी ने कहा भी है—

> तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
> धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्, महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

अर्थात्—तर्क अस्थिर है, शास्त्र भिन्न-भिन्न हैं और एक ऐसा कोई मुनि नहीं है जिसके वचन प्रमाण माने जाएं। धर्म का तत्त्व अन्धकार से आच्छादित है। ऐसी दशा में, वही मार्ग है जिस पर बहुत लोग चलते हैं या बड़े लोग चलते हैं।

सच पूछो तो यह कथन, कथन करने वाले की बुद्धि-संबंधी दरिद्रता को सूचित करता है। जो मनुष्य विवेकशील है वह अनेकों की परीक्षा करके उनमें से एक को छांट सकता है। वह सत्य और असत्य का भेद कर सकता है। जब मनुष्य व्यावहारिक बुराई-भलाई का निर्णय अपने अनुभव से कर सकता है तो धार्मिक बुराई-भलाई की पहचान क्यों नहीं कर सकता?

तर्क जब निराधार होता है, उसका एक निश्चित लक्ष्य नहीं होता तभी वह अस्थिर होता है। लक्ष्य के अभाव में वह इधर-उधर भटकता फिरता है। किन्तु जब लक्ष्य स्थिर हो जाता है तब तर्क अप्रतिष्ठ नहीं रहता।

तर्क का लक्ष्य क्या है? उसे कहां पहुँच कर स्थिर हो जाना चाहिए? निस्सन्देह वीतराग और सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित तत्त्व ही तर्क का लक्ष्य होना चाहिए। उन तत्त्वों को बुद्धिगम्य बनाने में ही तर्क की सार्थकता है।

वीतराग और सर्वज्ञ पुरुष द्वारा-प्ररूपित तत्त्वों का निश्चय किस प्रकार किया जा सकता है? इस प्रश्न का समाधान है—साधना से तथा अनुभव से। विशिष्ट और तटस्थ अनुभव के द्वारा, जो कि साधना से ही उपलब्ध होता है, सर्वज्ञोक्त

सत्य का निश्चय किया जा सकता है। अनुभव जिसका समर्थन करता है, ऐसे सत्य का निरूपण जिस आगम में विद्यमान है वह सच्चा आगम है।

आगम की यथार्थता की एक कसौटी है—अनेकान्त दृष्टि। जिस दृष्टि में एकान्त का आग्रह नहीं है, जहां विभिन्न बाजुओं से वस्तु का उदारतापूर्वक निरीक्षण किया जाता है, वही दृष्टि निर्दोष होती है। जिस आगम में इसी दृष्टि से तत्त्वों का अवलोकन किया गया हो और उस अवलोकन के द्वारा विशाल एवं सम्पूर्ण सत्य की प्रतिष्ठा की गई हो वही आगम मनुष्य-समाज के लिए पथ-प्रदर्शक होता है।

इस कसौटी पर कसने से आगम की सत्यता-असत्यता की परीक्षा हो जाती है और पूर्वोक्त उलझन भी दूर हो जाती है।

इसीलिए प्रकृत गाथा में शास्त्रकार आगम पर श्रद्धान रखने का उपदेश देते हैं और अन्त में मिथ्या आगम को त्याग कर सर्वज्ञ भगवान् द्वारा उपदिष्ट आगम के अनुसरण का उपदेश देते हैं।

जो लोग अपनी क्षुद्र दृष्टि से परलोक आदि न देख सकने के कारण, अपनी क्षुद्र शक्ति स्वीकार करने के बदले परलोक आदि का ही निषेध करने लगते हैं, वे दया के पात्र हैं। नेत्र बंद कर लेने से जगत का अभाव नहीं हो सकता, इसी प्रकार किसी को सूक्ष्म, दूरवर्त्ती या गूढ़ तत्त्व यदि दिखाई न दे तो इसी कारण उसका अभाव नहीं हो जाता।

पूर्वोपार्जित मोहनीय और ज्ञानावरण नामक कर्मों के उदय से ऐसे लोगों की दृष्टि विपरीत एवं अज्ञानमय है। उनका अनुसरण करने से एकान्त अहित होता है। जिन्हें आत्मा का कल्याण करना है उन्हें सर्वज्ञोक्त आगम पर निश्चल श्रद्धा रखनी चाहिए। उन्हें न तो आगम मात्र पर अश्रद्धा करनी चाहिए और न असर्वज्ञ पुरुषों के द्वारा उपदिष्ट आगम पर श्रद्धा करनी चाहिए।

मूलः—गारं पि अ आवसे नरे, अणुपुव्व पाणेहिं संजए।
समता सव्वत्थ सुव्वए, देवाणं गच्छे सलोगयं ॥ ६ ॥

छायाः—अगारमपि चावसन्नरः, आनुपूर्व्या प्राणेषु संयतः।
समता सर्वत्र सुव्रतः देवानां गच्छेत्सलोकताम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थः—घर में रहता हुआ मनुष्य यदि अनुक्रम से प्राणियों की यतना करता है, सब जगह समभाव वाला है, तो ऐसा सुव्रत (गृहस्थ भी) देवताओं के लोक में जाता है अर्थात् देवलोक प्राप्त करता है।

भाष्यः—पूर्व गाथा में सर्वज्ञ-प्ररूपित आगम पर श्रद्धा करने का उपदेश दिया गया था। किन्तु आगम पर श्रद्धा करने से क्या लाभ होता है? यह बात यहां बतलाते हुए गृहस्थ धर्म का महत्त्व बतलाते हैं।

जो सम्यग्दृष्टि पुरुष आगम पर श्रद्धा करता है, वह आगमोक्त धर्म का ग्रहण

करता है और धर्म को स्वीकार करता है। इस प्रकार आनुपूर्वी से अर्थात् क्रमपूर्वक वह त्रस एवं स्थावर जीवों की यतना करने लगता है। वह कोई भी क्रिया करते समय प्राणि-हिंसा के प्रति सावधानी रखता है। उसके अन्तःकरण में सर्वत्र समताभाव उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार पांच अणुव्रत आदि गृहस्थ के व्रतों से युक्त होकर वह देव-लोक की प्राप्ति करता है।

तात्पर्य यह है कि गृहस्थी का त्याग करके महाव्रत रूप सकल संयम का पालन करने की तो बात ही क्या है? उससे तो मुक्ति तक की प्राप्ति होती है। परन्तु यदि कोई पुरुष इतना अधिक त्याग करने में समर्थ न हो तो भी उसे निराश नहीं होना चाहिए। गृहस्थी में रहते हुए भी गृहस्थ धर्म का विधिवत् पालन करना चाहिए। विधिवत् गृहस्थ धर्म का पालन करने से त्याग की वृत्ति बढ़ती है और शनैः-शनैः मुक्ति समीप आती जाती है।

मूलः—अभविंसु पुरा वि भिक्खवो, आएसा वि भवंति सुव्वता।
एयाइं गुणाइं आहु ते, कासवस्स अणुधम्मचारिणो ॥१०॥

छायाः—अभवन् पुराऽपि भिक्षवः, आगमिष्या अपि सुव्रताः।
एतान् गुणानाहुस्ते, काश्यपस्यानुधर्मचारिणः ॥१०॥

शब्दार्थः—हे भिक्षुओ! पहले जो जिन हुए हैं और भविष्य में जो जिन होंगे वे सब सुव्रती थे अर्थात् सुव्रती होने से ही जिन हुए और होंगे। वे सभी इन गुणों का उपदेश देते हैं, क्योंकि वे काश्यप भगवान् के धर्म का आचरण करने वाले थे।

भाष्यः—प्रकृत गाथा में दो बातों पर प्रकाश डाला गया है—

प्रथम यह कि जिन अवस्था सुव्रतों का पालन करने पर प्राप्त होती है और दूसरी यह कि जिनके उपदेश में कभी भिन्नता नहीं होती।

राग और द्वेष रूप कषाय को जीतने वाले जिन कहलाते हैं। जिन अवस्था आत्मा की ही एक विशिष्ट पर्याय है। सामान्य संसारी जीव सर्वज्ञोक्त विधि-विधान का आचरण करके, अपनी कषाय रूप विभाव परिणति से मुक्त हो कर स्वाभाविक परिणति को प्राप्त कर लेता है। आत्मा का शुद्ध स्वरूप में अवस्थान होना ही जिन अवस्था की प्राप्ति है। यह जिन अवस्था अहिंसा, सत्य आदि व्रतों का सम्यक् प्रकार से आचरण करने पर प्राप्त होती है।

मूल गाथा में 'व्रत' की विशेषता बताने के लिए 'सु' विशेषण लगाया गया है। उसका आशय यह है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक आचरण किये जाने वाले व्रत ही सुव्रत कहलाते हैं और उन्हीं से जिन अवस्था की प्राप्ति होती है। मिथ्या दर्शन के साथ आचरण किये जाने वाले विविध प्रकार के व्रत संसार-भ्रमण के कारण होते हैं। उनसे सांसारिक वैभव भले ही मिल जाय परन्तु आध्यात्मिक विभूति नहीं मिलती।

सुव्रतों का आचरण एक प्रकार की आध्यात्मिक औषधि है। जैसे भौतिक औषधि, भौतिक शरीर की व्याधियों का विनाश करती है उसी प्रकार सुव्रत आत्मिक विकार राग-द्वेष आदि का संहार करते हैं। यही कारण है कि शास्त्रों में आचरण की महिमा मुक्त कण्ठ से गाई गई है। वस्तु-स्वरूप को ठीक-ठीक समझने के लिए ज्ञान की अनिवार्य आवश्यकता है। किन्तु उस ज्ञान का फल चारित्र है। जिस ज्ञान से चारित्र की प्राप्ति न हो वह ज्ञान वन्ध्य है—निष्फल है। ज्ञान की सार्थकता चारित्र-लाभ में ही निहित है। इसी कारण यहाँ शास्त्रकार ने कहा है कि भूतकाल में जितने जिन हुए हैं और भविष्यकाल में जितने जिन होंगे, वे सब सुव्रत अर्थात् सम्यक् चारित्र की बदौलत ही जानने चाहिए। इस प्रकार सुव्रतों का माहात्म्य समझकर यथाशक्ति व्रतों का पालन करना चाहिए।

मोक्ष मार्ग की प्रवृत्ति सामान्यतया अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहेगी। किसी काल-विशेष में, किंचित समय के लिए वह रुक जाती है, पर सदा के लिए नहीं। अतएव अनादिकाल से लेकर अब तक आत्माओं ने जिन पर्याय प्राप्त की है। वे सभी जिन सर्वज्ञ थे। सर्वज्ञों के मत में कभी भिन्नता नहीं आ सकती। सर्वज्ञ का स्वरूप पहले बतलाया जा चुका है। जिसमें अज्ञान का अल्पमात्र भी अंश शेष नहीं रहता, वही सर्वज्ञ पद प्राप्त करता है। ऐसे पुरुषों के मत में भेद की संभावना भी नहीं की जा सकती। मतभेद का कारण अज्ञान है, या कषाय है। वह जिन में विद्यमान नहीं है ऐसे दो व्यक्तियों में मतभेद का कोई कारण ही नहीं रहा। अतएव सर्वज्ञों ने भूतकाल में जो उपदेश दिया था, वही वर्तमान अवसर्पिणी कालीन सर्वज्ञों ने दिया है और वही उपदेश आगामी काल में होने वाले तीर्थङ्कर (सर्वज्ञ) देंगे।

सर्वज्ञों के उपदेश की त्रैकालिक एक रूपता का कारण स्पष्ट है। सत्य सनातन है। वह देश और काल की परीधि से घिरा हुआ नहीं है। सत्य आकाश की भांति व्यापक और नित्य है। वह कभी उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि उसका विनाश नहीं होता। सत्य जब शाश्वत है, ध्रुव है अचल है, और सत्य ही धर्म की आत्मा है, तो धर्म भी शाश्वत, ध्रुव और अचल है। इस प्रकार धर्म काल-भेद या देश-भेद से भिन्न नहीं हो सकता। उसका स्वरूप सदा अपरिवर्त्तित रहता है।

धर्म जब सनातन है तो उसके उपदेश में भी भेद नहीं हो सकता। इसी कारण यहाँ कहा गया है कि भूतकाल और भविष्यकाल के जिन एक ही से धर्मतत्त्व का कथन करते हैं।

धर्मतत्त्व की एकरूपता का प्रतिपादन करने के लिए मूल में 'कासवस्स अणु-धम्मचारिणो' कह कर एक 'काश्यप' शब्द से ही प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव तथा अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर का ग्रहण किया है। तात्पर्य यह है कि भग-वान् ऋषभदेव ने जिस धर्म का उपदेश दिया था, उसी धर्म का भगवान् महावीर ने निरूपण किया है।

यहाँ यह आशंका की जा सकती है कि बीच के बाईस तीर्थङ्करों ने चातुर्याम

धर्म का उपदेश दिया था और आद्य एवं अन्तिम तीर्थंकरों ने पंच महाव्रत रूप धर्म का कथन किया था। ऐसी अवस्था में समस्त जिनों के धर्म की एकरूपता किस प्रकार सिद्ध हो सकती है?

समाधान—धर्म तत्व की एकरूपता के विषय में ऊपर जो कहा गया है, उससे यह नहीं समझना चाहिए कि समस्त तीर्थंकरों के उपदेश के शब्द भी एक-से ही होते हैं। श्रोताओं की परिस्थिति के अनुसार धर्मोपदेश की शैली में और उसके बाह्य रूप में भेद हो सकता है किन्तु मौलिक रूप में भेद कदापि नहीं हो सकता।

व्रतों को चार भागों में विभक्त करना या पांच भागों में विभक्त करना विवक्षा पर आश्रित है। यह मौलिक सिद्धान्त नहीं है। मौलिक विषय तो यह है कि अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह को सभी तीर्थंकरों ने धर्म कहा है। किसी भी काल में और किसी भी देश में कोई भी तीर्थंकर ब्रह्मचर्य को अधर्म या अब्रह्म को धर्म नहीं कह सकते।

इस प्रकार धर्म के बाह्य रूपों में भले ही भिन्नता दृष्टिगोचर हो किन्तु उनका अन्तरतत्व सदा सर्वत्र समान ही होगा। इसी कारण नन्दी सूत्र में अर्थागम की अपेक्षा से द्वादशांगी को नित्य, शाश्वत एवं ध्रुव कहा गया है। शब्द रूप आगम का विच्छेद हो जाता है किन्तु उस आगम में प्ररूपित अर्थ का कदापि विच्छेद नहीं होता।

इस प्रकार धर्म अपने मौलिक रूप में सनातन है—परिवर्तन से रहित है और समस्त तीर्थंकर उसी के स्वरूप का प्ररूपण करते हैं।

मूलः—तिविहेण वि पाण मा हणे, आयहिते अणियाण संवुडे।
एवं सिद्धा अणंतसो, संपई जे अणागयावरे॥ ११ ॥

छायाः—त्रिविधेनापि प्राणान् मा हन्यात्, आत्महितोऽनिदानः संवृतः।
एवं सिद्धा अनन्तशः, सम्प्रति ये अनागत अपरे॥ ११ ॥

शब्दार्थः—तीन प्रकार से प्राणियों का हनन नहीं करना चाहिए। अपने हित में प्रवृत होकर तथा निदान रहित होकर संवरयुक्त बनना चाहिए। इस प्रकार अनन्त जीव सिद्ध हुए हैं, वर्तमान में होते हैं और भविष्य में होंगे।

भाष्यः—समस्त तीर्थंकरों ने जिन गुणों का एक समान उपदेश दिया है, वे गुण कौन से हैं? अथवा समस्त जिनों द्वारा उपदिष्ट सनातन धर्म का रूप क्या है? इस प्रश्न का यहां समाधान किया गया है।

तीन प्रकार से प्राणियों की हिंसा न करना, यह धर्म का प्रथम रूप है। तीन प्रकार से अर्थात् मन, वचन और काय से। तात्पर्य यह है कि किसी प्राणी को कष्ट पहुँचाने का मन में विचार न आना, कष्टप्रद वचनों का प्रयोग न करना और शरीर से किसी को कष्ट न होने देना, यह अहिंसा महाव्रत धर्म का प्रथम रूप है।

अहिंसा महाव्रत यहां उपलक्षण है। उसका ग्रहण करने से शेष चार महाव्रतों का भी ग्रहण हो जाता है। अथवा पांचों महाव्रतों में अहिंसा मुख्य और मूल भूत हैं। शेष चार महाव्रतों अहिंसा के पोषक होने से अहिंसा के ग्रहण में ही उनका ग्रहण हो जाता है।

धर्म का दूसरा रूप है—आत्महित। हित अर्थात् सुख। जो आत्मा के लिए सुख रूप हो वही आत्महित कहलाता है। सच्चे आत्मिक सुख की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना आवश्यक है। बाह्य पदार्थों से होने वाला सुख, सुख नहीं है, सुखाभास है। वस्तुतः वह दुःख का कारण होने से दुःख रूप है, क्योंकि उसे प्राप्त करने के लिए विषयों का उपार्जन एवं संरक्षण करना पड़ता है और विषयों के उपार्जन एवं संरक्षण में पाप रूप व्यापार अनिवार्य होता है। सच्चा सुख विषयों के परित्याग में है। इस प्रकार सुख के सच्चे स्वरूप को ज्ञात करके उसे प्राप्त करने के लिए चेष्टा करना धर्म है।

मुमुक्षु जीव को मुख्य रूप से आत्महित के लिए ही प्रवृत्ति करनी चाहिए। इसका आशय यह नहीं है कि वह धर्मोपदेश आदि के द्वारा परोपकार करने का परित्याग करदे। साधुजन परोपकार को भी आत्मोपकार के रूप में परिणत कर लेते हैं, क्योंकि दूसरे जनों को धर्म-मार्ग में लगाना परहित कहलाता है और यह परहित ही आत्महित है। अतएव आत्महित शब्द से ही परहित का भी ग्रहण हो जाता है। कहा भी है—

न भवति धर्मः श्रोतुः सर्वस्यैकान्ततो हितश्रवणात्।
ब्रुवतोऽनुग्रहबुद्ध्या, वक्तुस्त्वेकान्ततो भवति ॥

अर्थात् हितकारक वाणी को सुन लेने मात्र से प्रत्येक श्रोता को धर्म लाभ नहीं हो जाता, किन्तु अनुग्रहपूर्ण बुद्धि से उपदेश देने वाले वक्ता को तो अवश्य ही धर्म होता है।

इससे स्पष्ट है कि धर्मोपदेश रूप परहित वस्तुतः आत्महित से विरोधी नहीं है। इसी प्रकार अन्य परहित के कार्य भी आत्महित रूप ही गिने जाते हैं।

हां, आत्महित के लिए प्रवृत्ति करने के विधान से यह सिद्ध होता है कि साधु को अपना निर्दिष्ट लक्ष्य न छोड़ कर-स्वयं पथभ्रष्ट न होकर ही अन्य प्रवृत्ति करनी चाहिए। अपना ध्येय सदा सन्मुख रख कर और उसे अक्षुण्ण बनाये रखकर ही साधु परहित में संलग्न हो सकता है।

धर्म का तीसरा रूप है निदान रहित होकर संवर में प्रवृत्ति करना। स्वर्ग आदि सांसारिक सुखों की अभिलाषा करना या किये हुए धर्माचरण का इह लोक संबंधी फल चाहना निदान कहलाता है। निदान से की हुई तपस्या निष्फल हो जाती है। अतएव निदान का परित्याग करके संवर में अर्थात् मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति से गुप्त होकर विचरना चाहिए।

इस धर्म का पालन करने से भूतकाल में अनन्त जीव मुक्ति प्राप्त कर चुके हैं।

वर्त्तमान काल में मुक्ति प्राप्त कर रहे हैं और भविष्य में भी इसी से प्राप्त करेंगे। तात्पर्य यह है कि धर्म का यह रूप त्रैकालिक है—शाश्वत है।

मूल:-संबुज्झह जंतवो माणुसत्तं, दट्ठुं भयं बालिसेणं अलंभो
एगंतदुक्खा जरिए व लोए, सकम्मुणा विप्परियासुवेइ

छाया:—संबुध्यध्वं जन्तवो मानुषत्वं, दृष्ट्वा भयं बालिशेनालभ्य:।
एकान्तदुःखाज्ज्वरित इव लोकः, स्वकर्मणा विपर्यासमुपैति ॥ १२ ॥

शब्दार्थ:-हे जीवो! मनुष्य भव की दुर्लभता को समझो तथा नरक आदि गतियों के भय को देखकर तथा अज्ञान पुरुषों को विवेक की प्राप्ति होना दुर्लभ है, यह समझो यह लोक ज्वर से ग्रस्त-सा होकर एकान्त दुःखी है। यह सुख चाहता हुआ भी अपने कर्मों से दुख प्राप्त करता है।

भाष्य:—मनुष्य को जब तक अपनी स्थिति का ज्ञान न हो और वह संसार के असली स्वरूप को न जान ले तब तक धर्म में प्रायः प्रवृत्ति नहीं होती। अतएव यहां मनुष्य भव की दुर्लभता का प्रतिपादन करने के साथ लोक का स्वरूप शास्त्रकार ने प्रदर्शित किया है।

भगवान् के वचनों का अनुवाद करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—हे प्राणियो! निश्चित समझो कि मनुष्य भव अत्यन्त ही दुर्लभ है। यह बड़े सौभाग्य से, प्रबलतर पुण्य के उदय से प्राप्त होता है। मनुष्य भव की दुर्लभता का निरूपण पहले किया जा चुका है।

तात्पर्य यह है कि मनुष्यता, तुम्हारे सौभाग्य का सब से बड़ा वरदान है। जिस मनुष्यता के लाभ के लिए असंख्य प्राणी तरस रहे हैं वह तुम्हें अकस्मात् प्राप्त है। ऐसी अवस्था में इसे वृथा गंवा देना विवेकशीलता नहीं है। जो अनमोल निधि तुम्हें सौभाग्य से प्राप्त हुई है उसका यदि सदुपयोग न करके उसे निकम्मा कर दोगे तो उसकी फिर प्राप्ति होना कठिन है। इस बात को भलीभांति समझ लो।

हे जीवो! तुम यह भी समझ लो कि यदि मनुष्यत्व को व्यर्थ व्यतीत कर दिया तो नरक और तिर्यञ्च योनि में भ्रमण करना होगा। यह योनियां अत्यन्त भयंकर हैं। दुःख उनमें परिव्याप्त है और सुख का लेश मात्र नहीं है। नरक के दुःखों का वर्णन आगे किया जायगा। तिर्यञ्च योनि के दुःख साक्षात् देखे जा सकते हैं। कीट, पतंग, पशु, पक्षी आदि तिर्यञ्च योनि के अन्तर्गत हैं। इन्हें कितनी भयंकर वेदनाएं सहनी पड़ती हैं।

बचारे तिर्यञ्च व्यक्त वाणी से हीन हैं। उन्हें भूख लगती है तो उसे वचनों द्वारा कह नहीं सकते। प्यास से तड़फते रहते हैं, पर अपनी वेदना अपने स्वामी के आगे प्रगट करने में असमर्थ हैं। इधर भूख-प्यास के मारे प्राण निकल जाना चाहते हैं, उधर स्वामी गाड़ी आदि वाहनों में जोत देता है और धूप में, भारी वजन

लाद कर कोसों तक ले जाता है। उसे पशु की प्यास का पता नहीं और भूख का भान नहीं रहता। सदा गले में बंधन पड़ा रहता है और नाक छेद कर उसमें नकेल पहना दी जाती है। इस तरह की वेदनाएं सहते-सहते जब वह वृद्ध हो जाता है तब उसकी समस्त शक्ति विलीन हो जाती है। उस समय भी लोभी स्वामी उसे गाड़ी, हल आदि में जोतकर अपना स्वार्थ सिद्ध करता है। जब उससे चलते नहीं बनता तो ऊपर से निर्दयतापूर्वक ताड़न किया जाता है। अनेक प्रकार के अत्याचार उसके साथ किये जाते हैं। फिर भी वह मौन-निःशब्द रह कर सब कुछ सहन करता है।

अनेक पशु ऐसे हैं जिन्हें मार कर अनार्य मनुष्य भक्षण कर जाते हैं। किसी को देखते ही दुष्ट पुरुष मार डालते हैं, अतएव उन्हें बिलों में या झाड़ी आदि में लुक-छिप कर अपना जीवन व्यतीत करना पड़ता है। बहुत से जानवरों को जानवर देखते ही खा जाते हैं। इस प्रकार पशुओं के प्राण निरन्तर खतरे में रहते हैं।

मनुष्यों की भांति पशुओं को भी अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं, पर मनुष्यों की भांति उनकी चिकित्सा नहीं होती। बेचारे दीन पशु अपनी व्याधि का वर्णन नहीं कर सकते, अतएव वे उससे तड़फते रहते हैं—बेचैन रहते हैं पर उन्हें कौन पूछता है! पालतू पशुओं की भी चिकित्सा नहीं होती तो जंगल में रहने वाले उन अनाथ तिर्यञ्चों की बात क्या ! ?

इस प्रकार तिर्यञ्च जीवों की वेदनाएं अनगिनती हैं। उनकी वेदनाएं वही जानते हैं जो उन्हें भोगते हैं। इन वेदनाओं का ख्याल करके मनुष्य को ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे उसे तिर्यञ्च योनि में तथा उससे भी अनन्त गुणी वेदना वाली नरक योनियों में निवास न करना पड़े।

ऐसा प्रयत्न तभी संभव है जब मनुष्य अपनी बालिशता अर्थात् अज्ञता को त्याग कर दे। क्योंकि जब तक सम्यग्ज्ञान का लाभ नहीं होता तब तक सत्-असत् का विवेक नहीं हो सकता।

समस्त संसार, वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो, ज्वर से पीड़ित पुरुष की भांति एकान्त दुःख से घिरा हुआ है। यहां किसी को किसी प्रकार का सुख नहीं है। जो अपने आप को सुखी समझते हैं, वे अज्ञान हैं। स्वप्न देखने वाला पुरुष जैसे स्वप्न काल में राजा बन जाता है और अपनी उस स्थिति पर प्रसन्नता से फूला नहीं समाता है, उसी प्रकार संसारी जीव लक्ष्मी पाकर अपने को सुखी मानता है। किन्तु स्वप्न का राजा जैसे कुछ ही क्षणों के पश्चात् अपना भ्रम समझने लगता है उसी प्रकार संसारी प्राणी को जब किसी प्रकार की चोट लगती है और जब लक्ष्मी कुछ भी काम नहीं आती, या लक्ष्मी उसे लात मार कर किसी अन्य पुरुष की बन जाती है तब उसे अपना भ्रम मालूम होता है।

इसी प्रकार शरीर की सुन्दरता एवं स्वस्थता के अभिमान से फूला हुआ मनुष्य अचानक किसी रोग की उत्पत्ति होते ही भयंकर वेदना भोगने लगता है और उसका भ्रम निवारण हो जाता है। सांसारिक सुख के अन्यान्य साधनों का भी

यही हाल है। ज्यों-ज्यों उन साधनों का संचय किया जाता है त्यों-त्यों सुख के बदले दुःख का संचय होता जाता है।

अकेला आदमी असंतुष्ट होकर परिवार में दुःख का अनुभव करता है और बहुत परिवार वाला व्यक्ति परिवार की झंझटों के कारण अशान्ति का अनुभव करता है। निर्धन, धनवानों की स्थिति में सुख समझता है और धनवान् अपने धन के नष्ट न हो जाने की चिन्ता में रात-दिन व्याकुल रह कर निर्धनों की निश्चिन्तता की कामना करता है। राजा अपने पीछे लगी रहने वाली सैकड़ों उपाधियों से चिन्तित बना रहता है और रंक राजा का वैभव देखकर उसे पाने को लालायित रहता है। इस प्रकार वारीक दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि कोई भी मनुष्य अपनी प्राप्त अवस्था में सुखी नहीं है। अपने से भिन्न अन्य अवस्था को सब सुखमय मानते हैं। जब नवीन अभिलषित अवस्था प्राप्त हो जाती है तब उसमें भी असन्तुष्ट होकर फिर नवीन अवस्था पाने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकार जन्म-मरण, अनिष्ट-संयोग इष्ट-वियोग, आदि की प्रचुर वेदनाओं से यह जगत् परिपूर्ण है।

सामान्यतया स्वर्ग में रहने वाले देवों को सुखी समझा जाता है। किन्तु उनके स्वरूप का विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि उनका सुख भी दुःख रूप है। पारस्परिक ईर्षा, उच्च-नीच भाव की विद्यमानता, स्वामी-सेवक सम्बन्ध, देवपर्याय के पश्चात् होने वाला तिर्यञ्च, नरक आदि योनियों का भ्रमण, इत्यादि अनेक कष्ट स्वर्ग में विद्यमान रहते हैं। इन कष्टों के कारण देव भी सुखी नहीं है।

जब देवता भी दुःख से अभिभूत हैं—वे भी अपनी इच्छा के अनुसार सदा काल अपरिमित सुखों का भोग नहीं कर पाते, तो औरों की बात ही क्या है?

जिस प्रकार ज्वर से पीड़ित पुरुष संताप का अनुभव करता है उसी प्रकार संसारी जीव घोर शारीरिक एवं मानसिक संताप भोगता है। ज्वर की दशा में मनुष्य को एक क्षण भर भी शान्ति नहीं मिलती, उसी प्रकार संसार में संसारी जीव क्षणभर भी शान्ति नहीं पाता। ज्वर में जैसे मधुर पदार्थ कटुक प्रतीत होते हैं उसी प्रकार संसारी जीव को सुख के सच्चे साधन और मधुर रस देने वाले तप आदि कार्य कटुक प्रतीत होते हैं।

इस प्रकार विपरीत रुचि होने के कारण संसारी जीव सुख के लिए पापाचार सेवन करता है। कोई चोरी करता है, कोई डाका डालता है, कोई व्यापार में वेईमानी करता है—अच्छी वस्तु दिखा कर बुरी दे देता है या मिलावट कर देता है। कोई घृत जैसे जीवनोपयोगी पदार्थ में तेल मिला देता है या वनस्पति घृत सरीखे कृत्रिम घी को घी के भाव वेचता है। दूध में पानी का मिश्रण कर देता है। इस प्रकार से जन-समाज की स्वस्थता को विपद् में डालता है और मानव-समूह का घोर अहित करता है।

कोई-कोई राक्षसी प्रकृति के लोग सुख की प्राप्ति के लिए कर्मादानों का सेवन

करते हैं, कोई-कोई तो कत्लखाने तक चला कर घोरतर पशु हिंसा करते हैं। कोई चाकरी करते हैं, कोई फौज में भर्ती होकर पेट के लिए युद्ध में लड़ने जाते हैं, कोई कुछ और कोई कुछ करते हैं। इस प्रकार सुख की प्राप्ति के लिए अज्ञान प्राणी नाना प्रकार की चेष्टाएं करते देखे जाते हैं इन पूर्वोक्त पाप रूप चेष्टाओं के कारण उसे पाप कर्म करने का बन्ध होता है और परिणाम स्वरूप दुःख उठाना पड़ता है। इस प्रकार सुख के लिए किये जाने वाले प्रयत्न दुःख के हेतु बन जाते हैं। और यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि आम खाने के लिए यदि कोई नीम का वृक्ष लगाएगा तो उसे आम के बदले नीम का ही फल प्राप्त होगा।

अनुकूल कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है। दुःख के हेतुओं से सुख कदापि नहीं मिल सकता। बालू से तेल नहीं निकल सकता और आरम्भ, परिग्रह एवं सावद्य व्यापार से सुख नहीं मिल सकता। अतएव सुख के सच्चे साधन धर्म को ग्रहण करो तो सुख की प्राप्ति होगी। सावद्य क्रियाओं से उपरत होना, निरवद्य क्रियाओं में संलग्न रहना, त्याग-शील बनना, आदि धर्म रूप व्यापार हैं, जिनसे सच्चे सुख की प्राप्ति होती है। अतएव सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी बन कर सम्यक्चारित्र का सेवन करना चाहिए। संसार को दुःखमय समझकर उसमें अनुरक्त नहीं होना चाहिए। यही सुख की प्राप्ति का साधन है।

मूलः—जहा कुम्मे सअंगाई, सए देहे समाहरे।
एवं पावाइं मेधावी, अज्झप्पेण समाहरे ॥१३॥

छायाः—यथा कूर्मः स्वाङ्गानि, स्वदेहे समाहरेत्।
एवं पापानि मेधावी, अध्यात्मना समाहरेत् ॥ १३ ॥

शब्दार्थः—जैसे कछुवा अपने अंगों को अपने शरीर में संकुचित कर लेता है, इसी प्रकार बुद्धिमान् पुरुष अध्यात्म भावना से अपने पापों को संकुचित कर ले।

भाष्यः—पहली गाथा में पाप रूप व्यापार से उपरत होने का विधान किया गया है। किस प्रकार पाप से उपरत होना चाहिए, यह बात यहां उदाहरण के साथ बताई गई है।

जैसे कछुवा अपनी ग्रीवा आदि अंगों को, विपद् की संभावना होते ही, अपने शरीर में छिपा लेता है - उन अंगों को व्यापार-रहित बना लेता है, इसी प्रकार, सत्-असत् का विवेक रखने वाले बुद्धिमान् पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह पाप रूप असत् व्यापारों को अध्यात्म भावना का सेवन करके अर्थात् सम्यक् धर्मध्यान आदि की आसेवना से विलीन करदे। मन सदा व्याप्त रहता है। वह निष्क्रिय एक क्षण के लिए भी नहीं रह सकता। अतएव अशुभ भावनाओं से बचाने के लिए, यह अनिवार्य रूप से आवश्यक है कि मन में धर्म्म भावनाएं उदित की जाएं। धर्म्म भावनाएं उदित होने से पाप भावनाएं स्वतः विलीन हो जाती हैं। जब मन शुभ भावनाओं से व्याप्त

रहता है तो अशुभ भावनाओं को उसमें अवकाश ही नहीं रहता। इसी कारण यहां अध्यात्म भावना से पापों के संहार का विधान किया गया है।

मूलः-साहरे हत्थपाए य, मणं पंचेंदियाणि च।
पावकं च परीणामं, भासादोसं च तारिसं ॥१४॥

छायाः—संहरेत् हस्तपादौ वा, मनः पञ्चेन्द्रियाणि च।
पावकं च परिणामं, भाषादोषं च तादृशं ॥ १४ ॥

शब्दार्थः—ज्ञानीजन, कछुवे की भांति हाथों और पैरों की वृथा चलन क्रिया को, मन की चपलता को और विषयों की ओर जाती हुई पांचों इन्द्रियों को तथा पापोत्पादक विचार को तथा भाषा-सम्बन्धी दोषों को रोक लेते हैं।

भाष्यः—गाथा का अर्थ स्पष्ट है। आशय यह है कि ज्ञानी पुरुष अपने मन और इन्द्रियों को तथा वाणी को पूर्ण रूप से अपने नियंत्रण में ले लेते हैं। वे सामान्य पुरुषों की भांति इन्द्रियों के दास नहीं रहते, किन्तु इन्द्रियों को अपनी दासी बना लेते हैं। वे मन की मौज पर नहीं चलते, वरन् मन रूपी घोड़े की लगाम को अपने हाथों में थाम कर उसे अपनी इच्छा के अनुसार चलाते हैं। मन उन पर सवार नहीं हो पाता, वे स्वयं उस पर सवार रहते हैं।

इसी प्रकार वाणी का प्रयोग भी वे विवेक पूर्वक ही करते हैं। आवेश के प्रबल कारण उपस्थित होने पर भी वे आवेश के वश होकर यद्वा तद्वा नहीं बोलते। हित, मित और निरवद्य वाणी का ही प्रयोग करते हैं। वे भाषा-संबंधी समस्त दोषों से बचते हैं। प्राकृत, संस्कृत, मागधी, पैशाची, शौरसेनी और अपभ्रंश, यह छह प्रकार की गद्य रूप और छह प्रकार की पद्य रूप—इस प्रकार भाषा के बारह भेद किये गये हैं और विश्व की समस्त भाषाओं का इन्हीं छह में समावेश हो जाता है।

यहाँ भाषा का तात्पर्य वचन से है, अर्थात् साधु को पाप जनक वचनों का प्रयोग नहीं करना चाहिए, किन्तु साथ ही भाषा शास्त्र के नियमों के अनुसार वचन प्रयोग करना भी आवश्यक है। अतएव साधु को भाषा-संबंधी नियमों का ज्ञाता होना चाहिए, अन्यथा विद्वत्समूह में गौरव की रक्षा नहीं हो सकती।

मूलः-एयं खु णाणिणो सारं, जं न हिंसति किंचणं।
अहिंसा समयं चेव, एतावंतं वियाणिया ॥ १५ ॥

छायाः—एतत्खलु ज्ञानिनः सारं, यन्न हिंस्यति किञ्चनम्।
अहिंसा समयं चैव एतावती विज्ञानिता ॥ १५ ॥

शब्दार्थः—ज्ञानी जनों का सार है—किसी जीव की हिंसा न करना। अहिंसा ही संयम है- आगम का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है और अहिंसा ही विज्ञान है।

भाष्यः—हित-अहित का विवेचन करने में कुशल पुरुषों ने ज्ञान का सार

अहिंसा कहा है। जिस ज्ञान की प्राप्ति के फल-स्वरूप अहिंसा की उपलब्धि नहीं होती वह ज्ञान निस्सार है। ज्ञान की सार्थकता अहिंसा में है।

अहिंसा शब्द यहाँ व्यापक भावना के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। वास्तव में अहिंसा तत्त्व इतना व्यापक है कि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो सम्पूर्ण सदाचार का उसमें समावेश हो जाता है। अतएव ज्ञान का सार सदाचार है, यह भी कहने में आपत्ति नहीं है। 'ज्ञानं भारः क्रियां विना' अर्थात् सम्यक्चारित्र के विना ज्ञान भार रूप है। उस वृक्ष से क्या लाभ है जो फल नहीं देता ? इसी प्रकार वह ज्ञान किस काम का है जिस से सदाचार का पोषण नहीं होता ? ज्ञान का प्रयोजन, ज्ञान का सार, सदाचार में ही निहित है। जैसे सूर्योदय होने पर कमल विकसित हो जाता है उसी प्रकार ज्ञान प्राप्त होने पर अहिंसा रूप सदाचार का उदय होना चाहिए।

अहिंसा की इतनी अधिक महिमा है, अतएव वीतराग भगवान् द्वारा उपदिष्ट आगम का प्रधान प्रतिपाद्य विषय अहिंसा है। अहिंसा का ही आगमों में विस्तार किया गया है। सत्य, अचौर्य आदि व्रत, अहिंसा रूपी वृक्ष की शाखाएं हैं और अहिंसा ही मूल भूत तत्त्व है। आगम में प्ररूपित सम्यक् चारित्र को ध्यान पूर्वक निरीक्षण करने से विदित होता है कि सर्वत्र अहिंसा की दृष्टि ही ओत-प्रोत है और उसी की पुष्टि के लिए चारित्र का विस्तार किया गया है। वस्तुतः जिसके जीवन में अहिंसा-तत्त्व की प्रतिष्ठा हो चुकी है उसका कोई भी व्यवहार सदाचार से विसंगत नहीं हो सकता।

अहिंसा विज्ञान है। जो लोग भ्रमवश यह मान बैठे हैं कि प्राचीन काल में विज्ञान के स्वरूप से परिचय नहीं था। और विज्ञान आधुनिक काल का वरदान है, उन्हें इस वाक्यांश पर ध्यान देना चाहिए। हां, यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि आधुनिक विज्ञान हिंसा की नींव पर स्थित है और प्राचीन कालीन विज्ञान, जैसा कि यहां बतलाया गया है, अहिंसा रूप था।

वर्तमान में विज्ञान को अहिंसा की भूमिका से हटा कर हिंसा की भूमिका पर आरोपित किया गया है, इस कारण वह आज मानव समाज के लिए दिव्य वरदान के बदले घोर अभिशाप सिद्ध हो रहा है। विश्व में जो आमूलचूल अशान्ति, असाता और अव्यवस्था दिखलाई पड़ती है उसका एक मात्र प्रधान कारण यही है कि विज्ञान अहिंसा के क्षेत्र को छोड़ गया है। और जब तक वह पुनः अहिंसा की शीतल छाया तले नहीं आ जायगा तब तक मानव-समाज उससे सुखी न हो सकेगा। वह भीषण संहार-कारक साधनों के द्वारा, राष्ट्रीयता, धर्म, सम्प्रदाय आदि के बहाने मनुष्य-समाज पर भीषण वज्रपात करता ही रहेगा। अहिंसा-निरपेक्ष विज्ञान इससे अधिक अन्य कुछ भी नहीं कर सकता। इसके विपरीत जो विज्ञान अहिंसा-सापेक्ष है, वह मानव समाज की समृद्धि, शान्ति और साता को उत्पन्न करता एवं बढ़ाता है।

यहां यह कहा जा सकता है कि विज्ञान का कार्य साधनों का आविष्कार करना

है। उन साधनों का सदुपयोग करना या दुरुपयोग करना मनुष्य की सत् या असत् भावना पर निर्भर है। यदि विज्ञान के साधनों का दुरुपयोग कोई करता है तो इसमें विज्ञान का क्या दोष है ?

इसका समाधान यही है कि प्रथम तो संहार के साधनों का आविष्कार करना ही विज्ञान की भयंकर भूल है। आधुनिक काल में वैज्ञानिक प्रायः अधिक से अधिक भीषण संहार के साधनों की तलाश करने में ही व्यग्र हैं। दूसरे, बालक के हाथ में विष की गोली देने वाले ज्ञानवान् पुरुष को जो दोष दिया जा सकता है, वही दोष सर्वसाधारण जनता को संहार के साधन देने वाले वैज्ञानिकों को दिया जाना चाहिए। वे जगत् को जो दान दे रहे हैं, उससे उन्हें कृतान्त का काका कहा जा सकता है।

सारांश यह है कि वास्तव में विज्ञान वह है जो मनुष्य को उसकी वर्तमान स्थिति से ऊंचा उठाता है, जगत् के मंगल की वृद्धि में सहायक होता है और मनुष्य की आत्मीयता की भावना को विस्तृत बनाता है। जो विज्ञान इससे विपरित कार्य करता है वह विकृत ज्ञान है—कुज्ञान है। उससे जगत् का अमंगल होना निश्चित है। ऐसे कुज्ञान से अज्ञान श्रेष्ठ है।

जिन्हें सौभाग्यवश ज्ञान की प्राप्ति हुई है, उन्हें मैत्री भावना के विस्तार का प्रयत्न करना चाहिए। मैत्री भावना का प्रसार ही अहिंसा का महत्त्व है। इसीलिए शास्त्रों का प्रतिपाद्य मुख्य विषय अहिंसा है। अहिंसा से ही जगत् का निस्तार है।

मूलः—संबुज्झमाणे उ णरे मतीमं, पावाउ अप्पाण निवट्टएज्जा
हिंसप्पसूयाइं दुहाइं मत्ता, वेराणुबंधीणि महब्भयाणि १६

छाया—सबुध्यमानस्तु नरो मतिमान्, पापादात्मानं निवर्त्तयेत्।
हिंसाप्रसूतानि दुःखानि मत्वा, वैरानुबन्धीनि महाभयानि ॥ १६ ॥

शब्दार्थः—तत्त्व को जानने वाला बुद्धिमान पुरुष, हिंसा से उत्पन्न होने वाले दुःखों को कर्म-बन्ध का कारण तथा अत्यन्त भयंकर मानकर पाप से अपनी आत्मा को हटाते हैं।

भाष्यः—गाथा का भाव स्पष्ट है। जिसे सम्यक् बोधि की प्राप्ति हुई है उसे आत्मा को पापों से निवृत्त करना चाहिए। जो अपनी आत्मा को पाप से निवृत्त नहीं करता उसका बोध-ज्ञान-निरर्थक है। जो हित की प्राप्ति और अहित के परिहार में पुरुष को समर्थ नहीं बनाता उस ज्ञान से क्या लाभ है।

हिंसा के फल अत्यन्त दुःख रूप होते हैं। हिंसा से वैर का अनुबंध होता है। एक जन्म में जिसकी हिंसा की जाती है वह अनेकों जन्मों में उसका बदला लेता है। धर्मकथानुयोग के शास्त्रों में इसके लिए अनेक कथानक विख्यात हैं।

हिंसाजन्य पाप महान् भयकारी होते हैं। हिंसा से नरक, तिर्यञ्च आदि अशुभ

गतियों की प्राप्ति होती है और वे गतियां अत्यन्त भयंकर हैं। पहले इसका विवेचन आ चुका है।

मूलः—आयगुत्ते सया दंते, छिन्नसोए अणासवे।
जे धम्मं सुद्धामक्खाति, पडिपुरणमणेलिसं॥ १७॥

छाया:—आत्मगुप्तः सदा दान्तः, छिन्नस्रोताऽनास्रवः।
यो धर्मं शुद्धमाख्याति प्रतिपूर्णमनीदृशम्॥ १७॥

शब्दार्थः—मन, वचन और काय से आत्मा को पाप से बचाने वाला, जितेन्द्रिय, संसार के स्रोत को बंद कर देने वाला, आस्रव से रहित महापुरुष पूर्ण शुद्ध और अनुपम धर्म का उपदेश देता है।

भाष्यः—अनादि काल से अब तक असंख्य धर्म और धर्मप्रवर्त्तक भूमंडल में अवतीर्ण हुए हैं। सबने अपने-अपने विचार के अनुसार धर्म का कथन किया और जनता को उसी धर्म के अनुसरण का उपदेश दिया। पर उनमें से आज अधिकांश धर्मों और धर्मोपदेशकों का नाम भी कोई नहीं जानता। कितनेक ऐसे हैं जिनका नाम ही शेष रह गया है और इतिहास के विद्यार्थी ही उन्हें जानते हैं। इसका कारण क्या है?

इसका कारण यह है कि वे धर्म-प्रवर्त्तक पूर्णज्ञानी नहीं थे। अपूर्ण ज्ञानवान् होने के कारण उनके द्वारा प्ररूपित धर्म भी अपूर्ण रहा। जो धर्म तीन लोक में और प्राणि-मात्र के लिए समान रूप से उपयोगी होता है वही पूर्ण कहलाता है।

जिस धर्म में अधर्म का लेशमात्र भी मिश्रण नहीं होता और जो समस्त दोषों से रहित होता है वह धर्म शुद्ध कहलाता है।

इस प्रकार जो धर्म पूर्ण है अर्थात् सब जीवों का हितकारी और आत्मा को पूर्ण रूप से पवित्र बनाने वाला है, तथा सर्वथा निर्दोष है, और दोनों विशेषणों से युक्त होने के कारण जो अनुपम है, वही सत्य धर्म है। वही प्राणियों को जन्म जरा, मरण आदि के दुःखों से मुक्त कर सकता है।

ऐसे धर्म की प्ररूपणा करने का अधिकारी कौन है, यह सूत्रकार ने यहां बतलाया है। जो आत्मगुप्त, सदा दान्त, छिन्न-स्रोत और अनास्रव होता है वही महात्मा शुद्ध और पूर्ण धर्म की प्ररूपणा कर सकता है। मन, वचन और काय से आत्मा को गोपने वाला अर्थात् इनसे होने वाले सावद्य व्यापार को रोक देने वाला, इन्द्रियों को और मन को दमन करने वाला, कर्मों के आगमन के द्वारा भूत आस्रव को बंद कर देने वाला, अथवा कर्मास्रव के कारण भूत परिणाम रूपी स्रोत से रहित महापुरुष ही धर्मदेशना का अधिकारी है।

उपर्युक्त गुण जिनमें विद्यमान नहीं है, अर्थात् जो पाप से स्वयं उपरत नहीं हुए हैं, जिनकी इन्द्रियां और जिनका मन वश में नहीं हुआ है और जिन्होंने आस्रव रूपी

कर्मस्रोत बन्द नहीं कर पाया है, इस प्रकार जो स्वयं विषय-कषाय के पाश में फँसे हुए हैं, वे धर्मदेशना के अधिकारी नहीं हैं।

ऐसे पुरुषों द्वारा उपदिष्ट धर्म आत्मकल्याण का साधन नहीं बन सकता। जो स्वयं अन्धा है वह दूसरों का पथ-प्रदर्शन कैसे कर सकता है? अतएव धर्मप्रिय सज्जनों को धर्मप्रणेता के जीवन पर दृष्टिपात करके उसकी धर्म-प्ररूपणा की योग्यता जांच लेनी चाहिए।

मूलः—न कम्मुणा कम्म खवेंति बाला,
अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा।
मेधाविणो लोभमयावतीता,
संतोसिणो नो पकरेंति पावं॥ १८॥

छायाः—न कर्मणा कर्म क्षपयन्ति बालाः, अकर्मणा कर्म क्षपयन्ति धीराः।
मेधाविनो लोभमदावतीताः सन्तोषिणो नो प्रकुर्वन्ति पापम्॥ १८॥

शब्दार्थः—बाल जीव सावद्य कर्मों से कर्म का क्षय नहीं करते हैं। धीर पुरुष अकर्म से अर्थात् संवर आदि शुद्ध अनुष्ठानों से कर्म क्षय करते हैं। लोभ और अभिमान से रहित, संतोषी बुद्धिमान् पुरुष पाप का उपार्जन नहीं करते हैं।

भाष्यः—बालक के समान हित और अहित के विवेक से शून्य पुरुष भी बाल कहलाते हैं। यह बाल जीव कर्मों का क्षय करने के लिए अनेक प्रकार के सावद्य अनुष्ठानों का सहारा लेते हैं।

जैसे रक्त से रक्त नहीं धुल सकता, उसी प्रकार पाप कर्मों से पाप कर्मों की निवृत्ति नहीं हो सकती। अतएव ऐसे विपरीत प्रयास करने वालों को शास्त्रकार 'बाल' जीव कहते हैं।

किस प्रकार कर्मों का क्षय नहीं हो सकता, यह स्पष्ट करने के पश्चात् द्वितीय चरण में शास्त्रकार यह बताते हैं कि पाप कर्मों का नाश किस प्रकार हो सकता है।

परीषह और उपसर्ग आने पर भी जो अपने पथ से और अपने पद से च्युत नहीं होते और दृढ़तापूर्वक समस्त विरोधी शक्तियों के साथ जूझते हैं, उन्हें, धीर कहते हैं। धीर पुरुष अकर्म से अर्थात् निरवद्य अनुष्ठानों से—समिति, गुप्ति तपस्या, संवर आदि के व्यवहार से कर्मों को क्षय करते हैं। कर्मों के क्षय का यही एक एकमात्र उपाय है। पाप कर्मों का विनाश निष्पाप क्रियाओं से ही हो सकता है।

कर्मों का क्षय होते रहने पर भी यदि नवीन कर्मों का आस्रव होता रहे तो मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। पूर्वोपार्जित कर्मों का क्षय और नवीन कर्मों के आस्रव का अभाव होने पर ही मुक्ति-लाभ होता है। अतएव शास्त्रकार उत्तरार्द्ध में नवीन कर्मों के उपार्जन के अभाव के उपाय बतलाते हुए कहते हैं—मेधावी अर्थात्

बुद्धिमान पुरुष जब लोभ और मद से अतीत हो जाते हैं अर्थात् चारों प्रकार के कषाय से मुक्त हो जाते हैं और संतोष उन्हें प्राप्त हो जाता है तब वे पापों का उपार्जन नहीं करते।

तात्पर्य यह है कि जब तक कषायों की विद्यमानता है और संतोष वृत्ति अन्तः-करण में उत्पन्न नहीं होती, तब तक पाप का निरोध नहीं होता। 'लोभ पाप का बाप बखाना' अर्थात् लोभ पापों का जनक है। जब तक लोभ का प्राबल्य है तब तक मनुष्य भांति-भांति के आरंभ-समारंभ में निरत रहता है और पाप से बच नहीं सकता। इसी प्रकार अभिमान की विद्यमानता में भी पाप कर्म की उत्पत्ति होती रहती है।

लोभ का अभाव एकान्त तुच्छाभाव रूप नहीं है, यह सूचित करने के लिए 'सन्तोषी' कहा है। सन्तोषी नर सदा सुखी रहता है। उसे निरारंभ वृत्ति से जो कुछ भी प्राप्त हो जाता है उसी में वह सन्तुष्ट रहता है। उससे अधिक की प्राप्ति के लिए वह हाय-हाय नहीं करता। सच्चा सुख ऐसे ही पुरुषों को प्राप्त होता है। संतोष के अभाव में तीन लोक की समस्त सम्पत्ति भी तुच्छ है। असंतोषी उससे भी अधिक की आशा रखता है, अतएव वह संपत्ति भी उसे सुखी नहीं बना सकती। इसके विपरीत संतोषी नर रूखे-सूखे चने चबेने को भी पर्याप्त समझकर उसे ग्रहण करता है और उसी में सुख मान लेता है।

बारीकी से देखा जाय तो प्रतीत होगा कि संसार का अधिकांश दुःख असं-तोष से उत्पन्न होता है। असंतोष को जितने अंशों में घटाते चले जाओ, उतने ही अंशों में दुःख घटता चला जायगा। अतएव हे भव्य प्राणी! तू संसार का वैभव प्राप्त करने का वृथा प्रयास मत कर। यह तो आकाश को लांघने के समान बालचेष्टा है। अगर तुझे सुखी होना है तो संतोष वृत्ति धारण कर।

संतोष वृत्ति का अन्तःकरण में उदय होते ही तेरा दुःख न जाने कहां विलीन हो जायगा और तब तेरे कर्मों के आस्रव का भी निरोध हो जायगा।

मूलः—डहरे य पाणे बुड्ढे या पाणे,
ते आत्तओ पस्सइ सव्व लोए।
उव्वेहती लोगमिणं महंतं,
बुद्धेऽप्पमत्तेसु परिव्वएज्जा ॥१६॥

छाया—डिम्भश्च प्राणो वृद्धश्च प्राणः, स आत्मवत् पश्यति सर्वलोकान्।
उत्प्रेक्षते लोकमिमं महान्तम्, बुद्धोऽप्रमत्तेषु परिव्रजेत् ॥ १६ ॥

शब्दार्थः—छोटे और बड़े सभी प्राणियों को-समस्त लोकों को-जो अपने समान देखता है और इस महान् लोक को अशाश्वत देखता है वह ज्ञानी संयम में रत रहता है।

भाष्य:—चिऊंटी, जूं, मच्छर आदि छोटे-छोटे प्राणियों को अपने समान समझने वाला और जगत् की अनित्यता एवं दुःख-मयता समझने वाला विवेकशील पुरुष ही प्रमाद-रहित होकर संयम का आचरण करता है।

जैसा कि पहले अध्ययन में निरूपण किया जा चुका है, समस्त प्राणियों में समान आत्मा विद्यमान है। आत्म द्रव्य सर्वत्र एक जातीय होने पर भी जीवों में बौद्धिक, शारीरिक या आध्यात्मिक अन्तर जो दृष्टि गोचर होता है, उसका कारण कर्म है। कर्म अर्थात् आवरण की न्यूनाधिकता के कारण किसी को छोटे शरीर की प्राप्ति होती है और किसी को बड़ा शरीर मिलता है। इसी प्रकार बौद्धिक भेद भी ज्ञानावरण आदि कर्मों के कारण होता है। अतएव शारीरिक एवं बौद्धिक भिन्नता होने पर भी आत्माओं के मूल स्वरूप में किञ्चित् भी भेद नहीं है। समस्त प्राणी उपयोगमय स्वरूप वाले हैं-अनंतज्ञान, दर्शन, शक्ति आदि के भंडार हैं। जब आत्मा के गुणों का पूर्णरूपेण प्राकट्य होता है तब मूलगत सदृशता स्पष्ट प्रकट हो जाती है।

सभी जीव समान स्वभाव वाले हैं। जैसे एक जीव सुख की आकांक्षा करता है और दुःख से भयभीत होता है, उसी प्रकार अन्य जीव भी सुख की इच्छा रखते हैं और दुःख से बचना चाहते हैं। विवेकी जन वही है जो इस प्रकार विचार करता है कि-'जैसे मृत्यु मुझे अनिष्ट है और जीवन इष्ट है, इसी प्रकार समस्त प्राणियों को अपनी मृत्यु अनिष्ट है और जीवन इष्ट है। मेरे साथ छल-कपट करके मुझे ठगने वाला निन्दनीय कार्य करता है, उसी प्रकार यदि मैं किसी को धोखा देता हूँ तो निन्दनीय कार्य करता हूँ। इस प्रकार समता भाव की आराधना करने से संयम की आराधना होती है। जिसके अन्तःकरण में साम्यभाव का उद्रेक हो उठता है वह अन्य प्राणी को कष्ट देना अपने आपको कष्ट देने के समान अप्रिय अनुभव करता है। वह दूसरे प्राणियों के सुख के लिए इतना अधिक प्रयत्नशील रहता है, जितना अपने सुख के लिए। जैसे कोई पुरुष अपने को दुःख देने की बात मन में भी नहीं आने देता, उसी प्रकार वह साम्यभाव का आराधक दूसरों का अहित करने का संकल्प तक नहीं करता। जैसे आप दुःख का अनुभव करके विकल हो जाता है उसी प्रकार अन्य प्राणियों की वेदना भी उसे विकल बना देती है। अपना दुःख उत्पन्न होने पर उसके प्रतिकार के लिए जैसे वह उद्यत होता है उसी प्रकार अन्य प्राणियों को दुःखी देख कर समताभावी पुरुष अकर्मण्य होकर नहीं बैठा रहता, वरन् उस दुःख को निवारण करने के लिए पूर्ण प्रयत्न करता है।

महापुरुषों के चरित का सावधानी के साथ अध्ययन किया जाय तो प्रतीत होगा कि वे जगत् के दुःख को अपना ही दुःख मान कर उसके निवारण के लिए उद्योगशील बने रहते थे। यह साम्यभाव उनमें जीवित रूप से विद्यमान था। उनके अद्भुत उत्कर्ष का प्रधान कारण भी यही साम्यभाव था।

साम्यभाव की आराधना के लिए पर पदार्थों के प्रति आसक्ति का अभाव आवश्यक है। जिसके अन्तःकरण में इन्द्रियों के विषयों सम्बन्धी तथा भोगोपभोग

के अन्य साधनों संबंधी ममता की अधिकता होती है वह सदा नाना प्रकार के संकल्प विकल्पों में उलझा रहता है। उसे निराकुलता का अपूर्व आनन्द प्राप्त नहीं होता। अतएव साम्यभाव की आराधना के लिए संसार को अशाश्वत समझकर उससे उदासीनता धारण करनी चाहिए। विचारना चाहिए कि समस्त संसार के पदार्थ नाशवान् हैं। इनके साथ आत्मा का कुछ भी वास्तविक संबंध नहीं है। जीव जब जन्म लेता है तो पूर्व जन्म के किसी भी पदार्थ को साथ नहीं लाता और जब आयु पूर्ण करके परलोक की ओर प्रयाण करता है तब भी साथ में कुछ नहीं ले जाता। संसार के पदार्थ आत्मा का साथ नहीं देते। जीव मरकर जब नरक गति की भूख और प्यास भोगता है, तिर्यञ्च गति की नाना प्रकार की व्यथाएं सहन करता है, तब कोई भी वस्तु या पूर्वजन्म का कुटुम्बी सहायक नहीं बनता।

इतना ही नहीं, संसार में आज जिन्हें जीव अपना मानता है, जिनके स्नेह में पड़कर धर्म को भी भूल जाता है, जिन्हें प्रसन्न करने के लिए कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के भान को एक किनारे रखकर सभी कार्य करता है, जिनके पालन-पोषण के हेतु नाना सावद्य क्रियाएं करता है, जिनके अनुराग में रत रहकर शेष संसार को कुछ भी नहीं समझता, वे आत्मीय जन क्या वास्तव में आत्मीय हैं? जो सचमुच आत्मीय होता है, वह त्रिकाल में भी आत्मा से अलग नहीं हो सकता। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र, आदि गुण आत्मा के लिए आत्मीय हैं, अतएव वे किसी भी काल में आत्मा से न्यारे नहीं होते। इसी प्रकार क्या कुटुम्बी जन सदा साथ देते हैं? नहीं।

संसार में ऐसा कोई जीव नहीं है जिसके साथ कोई संबंध न हो चुका हो, सभी जीवों के साथ सब का संबंध हो चुका है। अगर वे वास्तव में आत्मीय होते तो क्या आज पराये बन सकते थे? फिर भी रागान्ध मनुष्य की आखें नहीं खुलतीं। वह अपनी आत्मीयता की भावना को एक छोटी-सी सीमा में बंद कर रखता है। ज्ञानी जन इस प्रकार विचार करते हैं कि—'संसार के समस्त संबंध नश्वर हैं। आत्मा सब पदार्थों से विलग है, उसके साथ किसी का संबंध नहीं हो सकता। शरीर में आत्मा रहता है, फिर भी दोनों के संयोग विनाश-शील है। शरीर जड़ है और आत्मा चिदानन्दमय है। दोनों का ऐक्य कैसे हो सकता है? जब शरीर ही विनश्वर है तो संसार के अन्य संबंध, माता, पिता, पुत्र और भाई आदि के रिश्ते, कैसे नित्य हो सकते हैं? इन सब का संबंध तो शरीर के साथ है, जब शरीर ही स्थायी नहीं, तो यह रिश्ते स्थायी कैसे हो सकते हैं? 'मूलं नास्ति कुतः शाखा' अर्थात् मूल के अभाव में शाखाएं किस प्रकार ठहर सकती हैं? ज्ञानी जन ठीक ही कहते हैं—

> यस्यास्ति नैक्यं वपुषाऽपि सार्धम्,
> तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः?
> पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः,
> कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये॥

अर्थात् आत्मा की शरीर के साथ ही एकता नहीं है तो फिर पुत्र, स्त्री और मित्रों के साथ क्या एक रूपता हो सकती है ? यदि शरीर के ऊपर से चमड़ी उखाड़ ली जाय तो रोमकूप कैसे रह सकते हैं ? कदापि नहीं रह सकते।

तात्पर्य यह है कि आत्मा समस्त पदार्थों से भिन्न, अपने ही गुणों में रमा हुआ है। संसार के अनित्य पदार्थों के साथ उसका संबंध नहीं है। इस प्रकार विचार कर संसार में राग-भाव का त्याग करना चाहिये और आत्मशुद्धि के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

निर्ग्रन्थ-प्रवचन-चौदहवां अध्याय समाप्त।

॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

॥ पन्द्रहवां अध्याय ॥

—:-☆-:—

मनोनिग्रह

श्री भगवान् उवाच—

मूलः—एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस ।
दसहा उ जिणित्ता णं, सव्वसत्तू जिणामहं ॥ १ ॥

छायाः—एकस्मिन् जिते जिता पञ्च, पञ्चसु जितेपु जिता दश ।
दशधा तु जित्वा, सर्वशत्रून् जयाम्यहम् ॥ १ ॥

शब्दार्थः—एक को जीत लेने पर पाँच जीत लिये जाते हैं, पाँच को जीतने पर दस के ऊपर विजय प्राप्त होती है और दस पर विजय प्राप्त करने वाला समस्त शत्रुओं पर जय पा लेता है ।

भाष्यः—चौदहवें अध्ययन में वैराग्य का विवेचन किया गया है । आत्म-कल्याण की भावना जिसके हृदय में उद्भूत हुई है उसे संसार से विरक्त हो जाना चाहिए—सांसारिक वस्तुओं में राग-द्वेष का त्याग कर समभाव धारण करना चाहिए । इस अध्ययन में समभाव के प्रधान कारण मनोनिग्रह का विवेचन किया जाता है । मनोनिग्रह के विना समभाव नहीं हो सकता । इसी कारण वैराग्य सम्बोधन के पश्चात् मनोनिग्रह की प्रेरणा की गई है ।

आत्मविजय में सर्वप्रथम मन की विजय का स्थान है । जो सत्त्वशाली पुरुष एक मन को जीत लेता है वह पांच को अर्थात् पांच इन्द्रियों को जीत लेता है । अर्थात् जिसने अपने मन को वश में कर लिया वह पांचों इन्द्रियों को वश में कर सकता है । मन को जीते विना इन्द्रियां वश में नहीं होती । अतएव आत्मविजय की साधना करने वाला सर्व प्रथम अपने मन पर अधिकार करे । मन पर किस प्रकार अधिकार हो सकता है, यह आगे निरूपण किया जायगा । मन पर विजय प्राप्त करने पर इन्द्रियां स्वयमेव विजित हो जाती हैं ।

मानसिक शुद्धि होने पर ही इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होती है । मानसिक शुद्धि के अभाव में यम, नियम आदि द्वारा किया जाने वाला काय-क्लेश व्यर्थ है । प्रवृत्ति न करने योग्य विपयों में प्रवृत्ति करने वाला और निरंकुश होकर इधर-उधर भटकने

वाला मन संसार को जन्म-मरण की घानी में पील रहा है। संसार से विमुख हो कर एकान्त, शान्त और निरुपद्रव स्थान में जाकर मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा से तीव्र तपस्या का आचरण करने वाले मुनियों को भी मन कभी-कभी चंचल बना देता है। मन बन्दर से भी अधिक चंचल है। पल-पल में वह नया-नया रंग दिखलाता रहता है। मुक्ति की साधना में मन की यह चंचलता सब से प्रबल बाधा है। अतएव मुमुक्षु जनों को अपनी साधना सार्थक करने के लिए मन पर पूरा नियंत्रण करना चाहिए।

महापुरुषों का कथन है कि मन की शुद्धता होने पर अविद्यमान गुण भी आविर्भूत हो जाते हैं और मन शुद्ध न हो तो मौजूदा गुण भी नष्ट हो जाते हैं। अतएव प्रत्येक सम्भव उपाय से विवेकवान् पुरुष को मन पर विजय प्राप्त करनी चाहिए जैसे अंधे के आगे रक्खा हुआ दर्पण वृथा है, उसी प्रकार मनोनिग्रह के अभाव में तपस्या भी निरर्थक है।

मन का निग्रह हो जाने पर इन्द्रियों का जीत लेना कठिन नहीं रहता। इन्द्रियों को उन्मार्गगामी और चपल अश्व की उपमा दी जाती है। जिनके इन्द्रिय रूपी अश्व नियंत्रण में नहीं होते, अर्थात् जो पुरुष इन्द्रियों को विना लगाम के स्वतंत्र गति करने देता है और स्वयं इन्द्रियों का अनुचर बन जाता है, उसे इन्द्रिय रूप अश्व शीघ्र ही नरक रूपी अरण्य की ओर ले जाते हैं। जो इन्द्रियों का निग्रह नहीं करते उनका निश्चित रूप से अधःपतन होता है। इन्द्रिय निग्रह न करने से परलोक में कितने कष्ट भुगतने पड़ते हैं, इस बात को थोड़ी देर के लिए रहने भी दिया जाय और सिर्फ इसी भव के कष्टों का विचार किया जाय तो इन्द्रियों की अनर्थता स्पष्ट हो जाती है। जो लोग पांचों इन्द्रियों के अधीन हो रहे हैं, उनकी क्या गति होगी! जब कि केवल एक-एक इन्द्रिय के गुलाम बनने वालों की भयंकर दुर्दशा प्रत्यक्ष देखी जाती है। केवल मात्र स्पर्शन इन्द्रिय के अधीन होने वाले हाथी की दुर्दशा का विचार कीजिए। वह हथिनी के स्पर्श के अनुराग में अंधा होकर गड्ढे में गिरता है और वध-बंधन की वेदनाएं सहन करता है। इसी प्रकार अगाध जल में विचरने वाला मत्स्य जिह्वा के अधीन होकर जाल में फंसकर मृत्यु का शिकार हो जाता है। घ्राण-इन्द्रिय का वशवर्त्ती बनकर हाथी के मद के गंध से लुब्ध होकर हाथी के गण्डस्थल पर बैठने वाला भ्रमर अपने प्राणों से हाथ धो बैठता है। चक्षु इन्द्रिय का दास बनकर पतंग, अग्नि की ज्वाला का अतिथि बनता है और अपनी जान गंवा बैठता है। मधुर गान सुनने का अभिलाषी हिरन, श्रोत्र-इन्द्रिय के अधीन होकर व्याध के तीखे बाण का लक्ष्य बनता है।

इस प्रकार एक-एक इन्द्रिय के अधीन होने वाले प्राणियों की जब वह दशा होती है तब जो पांचों इन्द्रियों के अधीन हो रहे हैं उनकी क्या दशा होगी?

शंका—जब तक शरीर है तब तक इन्द्रियां भी अवश्य रहती हैं और जब तक इन्द्रियां हैं तब तक वे अपने-अपने विषय में प्रवृत्ति भी करेंगी ही! ऐसी अवस्था में इन्द्रियनिग्रह कैसे हो सकता है?

समाधान—इन्द्रियनिग्रह का आशय यह नहीं है कि विषयों में उनकी प्रवृत्ति न होने दी जाय। जो विषय योग्य देश में विद्यमान होगा वह इन्द्रियों का विषय हो ही जायगा। कोई भी योगी अपनी आंखें सदा बन्द नहीं रखता और न कानों में ढक्कन लगाता है। इन्द्रिय-निग्रह का ऐसा अर्थ समझ लेने पर तो इन्द्रिय-निग्रह संभव ही नहीं रहेगा। इन्द्रियों को जीतने का अर्थ यह है कि इन्द्रियों के विषयों में राग और द्वेष का परित्याग कर दिया जाय और साम्यभाव का अवलम्बन किया जाय। इन्द्रियों की समताभाव से युक्त प्रवृत्ति इन्द्रियजय में ही अन्तर्गत है। उदाहरण के लिए भोजन को लीजिए। इन्द्रियविजयी मुनि भी आहार करता है और इन्द्रियों का वशवर्ती साधारण व्यक्ति भी आहार करता है। आहार के स्वाद रूप विषय में दोनों की रसना-इन्द्रिय प्रवृत्त होती है। मगर मुनि स्वादिष्ट भोजन पाकर प्रसन्न नहीं होता और निःस्वाद भोजन मिलने पर चित्त में खेद नहीं लाता। वह मधुर पकवान और दाल के छिलके को समभाव से ग्रहण करता है। इससे विपरीत इन्द्रियाधीन व्यक्ति मनोज्ञ भोजन अत्यन्त रागभाव से और अमनोज्ञ भोजन तीव्र द्वेष के साथ, नाक-भौंह सिकोड़ता हुआ ग्रहण करता है। आहार की समानता होने पर भी चित्तवृत्ति की विभिन्नता के कारण मुनि इन्द्रियविजयी और दूसरा व्यक्ति इन्द्रियों का दास कहा जाता है।

यही बात अन्य इन्द्रियों के संबंध में समझ लेनी चाहिए। मुनि भी अपने कानों से शब्द सुनते हैं और अन्य व्यक्ति भी। किन्तु गाली आदि के अनिष्ट शब्द सुनकर मुनि को खेद नहीं होता और स्तुति आदि के इष्ट समझे जाने वाले शब्द सुनने से उन्हें हर्ष नहीं होता। दूसरा व्यक्ति ऐसे प्रसंगों पर राग और द्वेष से व्याकुल हो जाता है।

इस प्रकार इन्द्रियों के विषयों में चित्त की रागात्मक और द्वेषात्मक परिणति न होना इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना कहलाता है। मुनिराज इसी प्रकार इन्द्रिय-विजय करते हैं।

मुनिराज विचार करते हैं कि वास्तव में न कोई विषय प्रिय है, न अप्रिय है। प्रियता और अप्रियता तो चित्त की तरंग है। यही कारण है कि जो विषय एक समय प्रिय लगता है वही दूसरे समय में अप्रिय लगने लगता है। सूर्य के आतप से तपा हुआ मनुष्य सरोवर के शीतल जल का स्पर्श करने में आनन्द का अनुभव करता है, किन्तु कुछ समय पश्चात्-जल में अवगाहन करने के बाद-शीत स्पर्श से व्याकुल होकर उष्ण स्पर्श की अभिलाषा करने लगता है। गालियां सुनकर मनुष्य आग बबूला हो उठता है, पर ससुराल में दी जाने वाली गालियों से प्रसन्न होता है। इसका एक मात्र कारण यही है कि वास्तव में कोई भी विषय स्वभावतः प्रिय अथवा अप्रिय नहीं है। प्रिय और अप्रिय विषय का भेद करना मन की कल्पना मात्र है। मनुष्य पहले इस कल्पना की सृष्टि करता है और फिर उसी कल्पना के जाल में स्वयमेव फँस जाता है। योगी वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझते हैं अतएव वे इन्द्रिय के किसी भी

विषय में राग द्वेष धारण नहीं करते।

इस प्रकार जो महापुरुष मन को जीत लेता है, मन को इष्ट-अनिष्ट विषय की कल्पना करने से रोक देता है, वह इन्द्रियों को भी जीत लेता है। इसी अभिप्राय से शास्त्रकार ने कहा है-'एगे जिए जिया पंच।' अर्थात् एक मन पर नियंत्रण कर लेने पर पांच अर्थात् पांच इन्द्रियों पर नियंत्रण स्थापित हो जाता है।

पांच इन्द्रियों को जीत लेने पर दस पर अर्थात् मन, पांच इन्द्रियां और क्रोध मान, माया एवं लोभ रूप चार कषायों पर विजय प्राप्त होती है।

कषायों का मूल भी मन है। जब मन काबू में आ जाता है तो राग और द्वेष रूप चार कषायें भी काबू में आजाती हैं। ऊपर के विवेचन से यह विषय स्पष्ट है।

जो महात्मा कषायों पर विजय प्राप्त कर लेता है उसके चित्त की चिर-कालीन असमाधि सहसा विलीन हो जाती है। वह समताभाव के परम रम्य सरोवर में अवगाहन करके लोकोत्तर शान्ति का आस्वादन करता है। इस सरोवर में अवगाहन करते ही चिर संचित मलीनता धुल जाती है। कहते हैं, आधे क्षण भी जो पूर्ण समता-भाव का अवलम्बन करता है, उसके इतने कर्मों की निर्जरा हो जाती है जितने कर्म करोड़ों वर्षों तक तपस्या करने वालों के भी निर्जीर्ण नहीं होते। समताभाव का परम प्रकाश जहां प्रकाशमान होता है वहां राग द्वेष का प्रवेश नहीं होने पाता। अतएव समताभाव प्राप्त करने के लिए चार कषायों को जीतना परमावश्यक है। कषाय-जय के लिए शास्त्रकार ने कहा है—

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे !
मायमज्जवभावेणं, लोहं संतोसओ जिणे ॥

अर्थात् क्षमा भाव का आश्रय लेकर क्रोध पर विजय प्राप्त करनी चाहिए, मृदुता (विनय) का अवलम्बन करके मान को जीतना चाहिए, आर्जव (सरलता) धारण करके माया को हटाना चाहिए और संतोष धारण करके लोभ का नाश करना चाहिए।

इस प्रकार विरोधी गुणों की प्रबलता होने पर कषायों का अन्त आता है। कषाय आत्मा का भयंकर शत्रु है। वह संसार को बढ़ाने वाला, दुर्गति में ले जाने वाला और आत्मा को अपने स्वरूप से च्युत करने वाला है। ग्यारहवें गुणस्थान तक पहुंचे हुए मुनि की आत्मा में उत्पन्न होकर कषाय ही उनके अधःपतन का कारण होता है। कषाय के सद्भाव में सम्यक् चारित्र की पूर्णता नहीं हो पाती। अनन्तानु-बंधी कषाय तो सम्यक्त्व को भी उत्पन्न नहीं होने देता। इस प्रकार कषाय के कारण आत्मा को अत्यन्त कष्ट उठाना पड़ता है। अतएव मन और इन्द्रियों को जीत कर कषायों को जीतने का प्रयत्न करना चाहिए।

मन को, पांच इन्द्रियों को और चार कषायों को जीतने का माहात्म्य बतलाते हुए शास्त्रकार अन्त में कहते हैं—'दसहा उ जिणित्ता णं सव्वसत्तु जिणामहं।' अर्थात् मन आदि दस को जीत लिया जाय तो समस्त शत्रुओं पर विजय प्राप्त हो

जाती है।

आत्मा का अनिष्ट करने वाला शत्रु कहलाता है। शत्रु कौन है, इस विषय का विवेचन प्रथम अध्ययन में किया जा चुका है। साधारण मनुष्य जिसे शत्रु समझता है वह वास्तव में शत्रु नहीं है। आत्मा के असली शत्रु राग, द्वेष, अज्ञान आदि दोष हैं। कषायों का जब सर्वथा नाश हो जाता है तब राग आदि विकार पूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं। उस समय कोई भी शत्रु अवशिष्ट नहीं रहता। मगर कषाय रूप शत्रु के कौशल को तो देखिए कि उसने जो शत्रु नहीं हैं उन्हें शत्रु बना रक्खा है और स्वयं शत्रु है, फिर भी वह मित्र बना रहता है। उसने आत्मा को ऐसे भ्रम में डाल रक्खा है कि आत्मा अपने शत्रु-मित्र को भी पहचानने में असमर्थ बन गया है। यही कारण है कि वह दूसरे मनुष्यों को, जो असाता के निमित्त मात्र बन जाते हैं, अपना शत्रु मानता है और कषाय को-जो कर्मबंध का प्रधान कारण हैं, शत्रु नहीं मानता।

गंभीर दृष्टि से देखा जाय तो विदित होगा कि क्रोध, मान, माया और लोभ का जब तक सद्भाव है तबतक मित्र-शत्रु की कल्पना होती है। इनके विनाश हो जाने पर संसार में शत्रु कोई हो ही नहीं सकता। अतएव जिसने कषायों को जीत लिया उस ने समस्त शत्रुओं को जीत लिया।

मन दो प्रकार का है—(१) द्रव्यमन और (२) भावमन। मनोवर्गणा के पुद्गल से निष्पन्न द्रव्यमन और मनन, चिन्तन आदि का साधन भाव मन कहलाता है। द्रव्य मन पौद्गलिक है और भाव मन चेतना रूप है।

योग शास्त्र में मन चार प्रकार का माना गया है—(१) विक्षिप्त (२) यातायात (३) श्लिष्ट और (४) सुलीन।

(१) विक्षिप्त—इधर से उधर भटकने वाला विक्षिप्त चित्त।

(२) यातायात—कभी अन्दर की तरफ स्थिर हो जाने वाला और कभी बाहर निकल कर दौड़ने वाला।

(३) श्लिष्ट—दूसरे चित्त की अपेक्षा अधिक स्थिर।

(४) सुलीन—अत्यन्त निश्चल।

चित्त जितने अंश में आत्मा में स्थिर रहता है उतने ही अंशों में आत्मिक आनन्द का अनुभव होता है। यातायात चित्त जब आत्मलीन होता है तब आनन्द की उपलब्धि होती है। श्लिष्ट चित्त उसकी अपेक्षा अधिक आनन्ददाता है और सुलीन चित्त परमानन्द का कारण है। अतएव मन को आत्मा में स्थिर करने का प्रयत्न करना चाहिए।

इन्द्रियों का और कषायों का निरूपण पहले हो चुका है।

मूलः-मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई।
तं सम्मं तु निगिण्हामि, धम्मसिक्खाहि कंथगं ॥ २ ॥

छाया:—मनः साहसिकं भीमं, दुष्टाश्वः परिधावति ।
तत् सम्यक् तु निगृह्णामि, धर्मशिक्षाभिः कन्थकम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ:—मन बड़ा साहसी और भयंकर है। वह दुष्ट घोड़े की तरह इधर-उधर दौड़ता रहता है। धर्म शिक्षा से, उत्तम जाति के अश्व के समान उसका मैं निग्रह करता हूँ।

भाष्य: पूर्व गाथा में मनो-निग्रह का महत्त्व बतलाने के बाद यहां उसके निग्रह की कठिनाई का प्रतिपादन किया गया है। मनोनिग्रह में कठिनता यह है कि मन अत्यन्त साहसी और भयंकर है, साथ ही वह दुष्ट घोड़े की तरह लगाम की परवाह न करके इधर से उधर भटकता फिरता है।

हित-अहित की अपेक्षा न करके प्रवृत्ति करने वाला साहसी कहलाता है। मन उचित और अनुचित का विवेक किये बिना ही प्रवृत्ति करता है। जो लोग सदा अपने मन की गति-विधि का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करने में सावधान होते हैं और कुमार्ग की ओर जाते ही उसे रोक लेते हैं, उन्हें भी कभी-कभी मन धोखा दे देता है। जो योगी उसे आत्मा में लीन रखने के लिए ध्यान आदि का अनुष्ठान करते हैं, उनका मन भी कभी उच्छृंखल बन जाता है और अनिष्ट विषयों की ओर चला जाता है। अनेक पुरुष मन की स्थिरता के लिए अरण्यवास अंगीकार करते हैं, मगर मन उन्हें राज प्रासाद में लेजाता है, अनेक त्यागी संसार से विरक्त होकर काय-क्लेश करते हैं, पर मन भोगों में डूब कर उनके कायक्लेश को व्यर्थ बना देता है। न जाने कितने कण्टक-शय्या पर सोने वालों का मन दौड़कर सुखमयी सेज पर पौढ़ जाता है। साधक पुरुष मन को अपनी ओर खींचता है और मन उसे अपनी ओर खींचता है। साधक पुरुष साम्यभाव के सुधा-सलिल से आत्मा को स्वच्छ बनाने में निरत होता है, तब मन उसके काबू से बाहर होकर राग-द्वेष के मैल द्वारा आत्मा को मलिन बना डालता है। मनुष्य कितनी ही बार अनाचार से ऊब कर उसे त्याग देने का संकल्प करता है मगर मन नहीं मानता और उसे फिर अनाचार के कीचड़ में फंसा देता है। अपने कर्मों के क्षय के लिए प्रयत्न वाले और भोगों का सर्वथा त्याग कर देने वाले त्यागी पुरुष को मन कभी अतीतकाल में भुक्त भोगों का स्मरण कराता है और कभी स्वर्ग के भोगोपभोगों की कामना उत्पन्न करके उसके तप-त्याग को मिट्टी में मिला देता है।

मन अत्यन्त धृष्ट है। एक बार उसका निग्रह कर लेने पर भी वह थकता नहीं। आत्मा से बाहर निकलने के उसने अनेक मार्ग बना रक्खे हैं। जब कोई पुरुष एक मार्ग बंद कर देता है तो वह दूसरे मार्ग से बाहर निकल भागता है।

मन में विचित्र मोहनी शक्ति है। जो मनुष्य उसे नियंत्रण में रखना चाहते हैं, उन्हें भी वह मोहित कर लेता है। ऐसी स्थिति में जो लोग मन की ओर से सर्वथा लापरवाह हैं, मन को अपने अधीन न रखकर स्वयं मन के अधीन होकर रहना

चाहते हैं, उनकी तो बात ही क्या है। ऐसे लोग मन के क्रीत दास बनकर उसके संकेत के अनुसार चलकर अपना घोर अनिष्ट करते हैं। वे लोग घोर राग-द्वेष आदि में लिप्त होकर अत्यन्त अशुभ और कटुक फल देने वाले-कर्मों का संचय करके आत्मा को भारी बनाते हैं।

मन पारे की तरह चपल है। जैसे पारा एक जगह स्थिर नहीं रहता, इसी प्रकार विशिष्ट योगियों को छोड़ कर, साधारण जन का मन भी स्थिर नहीं रहता। उसकी गति का वेग वायु से भी अत्यन्त तीव्र होता है। एक क्षण में यहां है तो दूसरे क्षण में वह किसी दूसरे ही लोक में जा पहुंचता है। जैसे ज्वार और भाटे के कारण समुद्र शान्त नहीं रहने पाता, उसी प्रकार मन की चंचलता के कारण आत्मा शान्ति का अनुभव नहीं कर पाती।

शास्त्रकार ने मन को दुष्ट अश्व की उपमा दी है। दुष्ट अश्व अपने आरोही के नियन्त्रण से बाहर हो जाता है। ज्यों-ज्यों उसकी लगाम खेंची जाती है त्यों-त्यों वह कुपथ की ओर अधिकाधिक अग्रसर होता है। मन की भी यही स्थिति है। जैसे-जैसे उसे नियन्त्रण में लेने का प्रयत्न किया जाता है, तैसे-तैसे वह अधिक अनियंत्रित बनता जाता है। मगर जैसे अत्यन्त कुशल अश्वारोही दुष्ट अश्व को अन्त में वश में कर लेता है उसी प्रकार प्रबल पुरुषार्थ करने वाला योगी भी मन पर विजय प्राप्त कर लेता है। अन्त में दुष्ट अश्व भी अनुकूल बन जाता है, इसी प्रकार अनियंत्रित मन भी अभ्यास से नियंत्रित हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि आध्यात्मिक साधना करने वालों को सतत अभ्यास से मानसिक गति-विधि का सूक्ष्म और सावधान अवलोकन करते हुए मन पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। मन को जीते बिना किया जाने वाला क्रियाकाण्ड करीब-करीब वैसा है जैसे अंक के बिना शून्य राशि। इसी कारण कहा है—

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।"

अर्थात् मन ही मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष का प्रधान कारण है।

मन के बिना तन-द्वारा की जाने वाली क्रिया निर्जीव होती है। सामायिक जैसी प्रशस्त क्रिया करते समय भी मन यदि राग-द्वेष में फँसा हो तो वह भी वृथा हो जाती है। इसके विपरीत बाह्य रूप से भोग भोगने वाला भी अगर मन भोगों में अलिप्त हो तो वह योगी की कोटि का हो जाता है। अतएव मन का निग्रह करना अत्यन्त आवश्यक है।

मन का निग्रह किस प्रकार हो सकता है? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए शास्त्रकार ने कहा है—'तं सम्मं तु निगिण्हामि धम्मसिक्खाहिं।' अर्थात् मैं धर्मशिक्षा के द्वारा मन सम्यक् प्रकार से निग्रह करता हूँ।

'निगिण्हामि' इस उत्तम पुरुष की क्रिया का प्रयोग करके यह सूचित किया गया है कि मनोनिग्रह का यह उपदेश केवल वाचनिक उपदेश ही नहीं है, वरन् जिस

उपाय का यहाँ कथन किया गया है वह व्यवहार में लाया हुआ है, अभ्यस्त है। अभ्यस्त उपाय में शंका के लिए अवकाश ही नहीं रहता। ऐसे उपाय में श्रद्धा के साथ-साथ प्रतीति भी हो जाती है।

जिस पथ पर पहले किसी ने प्रयाण न किया हो, वह पथ भले ही सुगम हो, फिर भी दुर्गम ही जान पड़ता है। जिस पथ पर दूसरे पुरुष चले हों अथवा चलते हों वह दुर्गम होने पर भी सुगम-सा प्रतीत होता है। मनुष्य की इस प्रकृति के ज्ञाता शास्त्रकार ने मनोजय के मार्ग को आचीर्ण बताने के लिए 'निगिण्हामि' क्रियापद का प्रयोग किया है। तात्पर्य यह है कि धर्मशिक्षा के द्वारा ही मैंने मन का निग्रह किया है और धर्मशिक्षा के द्वारा ही तुम अपने मन का निग्रह कर सकते हो।

मनोनिग्रह को शास्त्रीय भाषा में मनोगुप्ति भी कहा गया है। मनोगुप्ति से क्या लाभ होता है, यह शास्त्र में इस प्रकार बतलाया है—

प्रश्न—मणगुत्तयाए णं भंते ! जीवे किं जणेइ ?

उत्तर—मणगुत्तयाए जीवे एगग्गं जणयइ, एगग्गचित्ते णं जीवे मणगुत्ते संजमाराहए भवइ।

प्रश्न—भगवन् ! मनोगुप्ति से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—हे गौतम ! मनोगुप्ति से जीव को एकाग्रता की प्राप्ति होती है। एकाग्र चित्त वाला जीव संयम का आराधक होता है।

इसी प्रकार मानसिक समाधि के विषय में शास्त्र में लिखा है—

प्रश्न—मणसमाहारणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—मणसमाहारणयाए एगग्गं जणयइ, एगग्गं जणइत्ता नाणपज्जवे जणयइ, नाणपज्जवे जणइत्ता सम्मत्तं विसोहेइ, मिच्छत्तं च निज्जरेइ।

प्रश्न—भगवन् ! मन को समाधि में स्थिर करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—मन को समाधि में स्थिर करने से एकाग्रता आती है। एकाग्रता उत्पन्न करके जीव ज्ञान-पर्याय अर्थात् ज्ञान की अपूर्व शक्ति प्राप्त करता है और आत्मज्ञान की शक्ति प्राप्त करके सम्यक्त्व की विशुद्धि और मिथ्यात्व की निर्जरा करता है।

शास्त्रकार ने मन की एकाग्रता का जो फल बताया है उससे यह स्पष्ट है कि संयम की आराधना, आत्मज्ञान की प्राप्ति, सम्यक्त्व की विशुद्धि और मिथ्यात्व की निर्जरा के लिए मनोगुप्ति, मनः समाधि अथवा मनोनिग्रह कितना आवश्यक है।

इस प्रकार मन वश में करना कठिन भले ही हो, पर असंभव नहीं है। मनोनिग्रह असंभव होता तो शास्त्रकार ऐसा करने का उपदेश ही न देते। उपदेश संभव का दिया जाता है, असंभव का नहीं।

मन की एकाग्रता के विना सच्ची शान्ति नहीं मिल सकती। मनुष्य मात्र निद्रा लेता है। एक रात भी अगर जागते-जागते व्यतीत की जाय तो स्वास्थ्य

खराब हो जाता है। निद्रा लेना एक प्रकार की मन की एकाग्रता है, यद्यपि वह विकृत है। जो व्यक्ति चंचलता त्याग कर, थोड़ी देर के लिए भी निद्रा लेकर विकृत मानसिक एकाग्रता प्राप्त करता है वह शरीर को स्वस्थ रखता है। इस प्रकार मन की विकारमयी एकाग्रता से भी जब शान्ति और स्वास्थ्य की वृद्धि होती है, तब सम्यक् प्रकार मन को एकाग्र बनाने से कितना लाभ होगा यह सहज ही समझा जा सकता है।

वस्तुतः मानसिक एकाग्रता अपूर्व आत्मानन्द की जननी है। मन की एकाग्रता आत्मा रूपी निर्झर से आनन्द का स्रोत प्रवाहित होने लगता है। जिसे इस आनन्द की अनुभूति करनी है उन्हें मानसिक एकाग्रता साधनी चाहिए।

मन की एकाग्रता का उपाय शास्त्रकार ने 'धर्मशिक्षा' बताया है। धर्मशिक्षा का अर्थ है—धर्माचार या संयम का अभ्यास।

संयम के अभ्यास में ध्यान का महत्त्वपूर्ण स्थान है और मन की एकाग्रता के लिए ध्यान अत्यन्त उपयोगी है। सामान्य रूप से ध्यान चार प्रकार का है—(१) आर्त्तध्यान (२) रौद्रध्यान (३) धर्मध्यान और (४) शुक्लध्यान। इन चार भेदों में पहले के दो ध्यान अशुभ हैं और अन्त के दो शुभ हैं। चारों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(१) आर्त्तध्यान—अनिष्ट संयोग और इष्ट वियोग आदि से उत्पन्न होने वाली चिन्ता आर्त्तध्यान है। इसके भी चार भेद हैं—

(क) अनिष्ट शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श की प्राप्ति होने पर उनके वियोग की चिन्ता करना।

(ख) इष्ट शब्द, रूप आदि तथा स्नेही स्वजन आदि का वियोग होने पर उनके संयोग की चिन्ता करना।

(ग) ज्वर, शिरोवेदना आदि से उत्पन्न हुई आर्त्ति-वेदना से विकल होकर उससे छुटकारा पाने की चिन्ता करना।

(घ) भोगोपभोग की प्राप्त सामग्री का वियोग न हो जाय, वह किस प्रकार मेरे अधीन बनी रहे, इत्यादि विचार करना।

आगामी विषयभोगों की प्राप्ति के लिए चिन्ता करना भी इसी भेद में अन्तर्गत है।

आर्त्तध्यान प्रारम्भ के छह गुण स्थानों तक हो सकता है। पांचवें गुणस्थान तक आर्त्तध्यान के चारों भेद पाये जाते हैं और छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान में चौथे भेद को छोड़कर शेष तीन भेद ही हो सकते हैं।

आर्त्तध्यान वाला पुरुष आक्रंदन करता है, रुदन करता है, शोक करता है, चिन्ता करता है, आंसू बहाता है और विलाप करता है।

(२) रौद्रध्यान—'रुद्रः क्रूराशयः, तस्य कर्म तत्र भवं वा रौद्रम्' अर्थात्—रुद्र ... अर्थ है क्रूर आशय, क्रूर आशय के कर्म को अथवा क्रूर आशय से उत्पन्न

अपने घोर पापों के लिए पश्चात्ताप नहीं करते।

रौद्रध्यानी जीव अत्यन्त कठोर अन्तःकरण वाला होता है। वह दूसरे को दुःख पहुँचाकर सुख का अनुभव करता है। दूसरे पर विपत्ति आ पड़ती है तो उसे प्रसन्नता होती है। हिंसा आदि पापों का सेवन करने में उसे आनन्दानुभव होता है। वह न इस लोक से डरता है, न परलोक की परवाह करता है। उसके चित्त में दया परदुःखकातरता आदि सद्वृत्तियां नाम मात्र को भी नहीं होतीं। वह पाप करने में धृष्ट होता है।

रौद्रध्यान अविरत जीवों को होता है। देशविरति को धनादि के संरक्षण आदि के निमित्त से कभी-कभी रौद्रध्यान हो सकता है, पर वह इतना तीव्र नहीं होता जो नरक आदि दुर्गति का कारण हो सके।

(३) धर्मध्यान—सूत्रार्थ की साधना करना, पंच महाव्रत धारण करना, बन्ध और मोक्ष एवं संसारी जीवों की गति-आगति का विचार करना, इन्द्रिय-विषयों से निवृत्त होने की भावना होना, हृदय में दयालुता होना, तथा इन सब प्रशस्त कार्यों में ।न की एकाग्रता होना, धर्मध्यान है।

धर्मध्यान भी चार प्रकार का है—(१) आज्ञाविचय (२) अपायविचय (३) विपाकविचय और (४) संस्थानविचय।

(क) आज्ञाविचय—संसारी जीवों को संसार के महान् भयंकर जन्म-जरा-मरण आदि की यातनाओं से छुड़ाने वाली, परम मंगलमयी, सद्भूत अर्थों को प्रकाशित करने वाली, निर्दोष, नय और प्रमाण के द्वारा समग्र वस्तुस्वरूप का बोध देने वाली, एकान्तवादियों द्वारा कदापि पराभूत न होने वाली, विवेकी पुरुषों द्वारा श्रद्धा करने योग्य, मिथ्या दृष्टियों द्वारा दुर्ज्ञेय, वीतराग और सर्वज्ञ पदवी को प्राप्त श्रीजिनेन्द्र देव की आज्ञा (कथन) अगर योग्य आचार्य, विद्वान के अभाव से समझ में न आवे, बुद्धि की मन्दता या क्षयोपशम की न्यूनता के कारण समझ में न आवे, अथवा अत्यन्त गहन होने के कारण, अनुभव-गम्य होने कारण या हेतु एवं उदाहरण की वहां तक पहुँच न होने के कारण समझ में न आवे, तब भी उस पर श्रद्धा करना चाहिए। ऐसे प्रसंग पर चित्त को डोलायमान न करके विचार करना चाहिए कि यह वचन सर्वज्ञ, वीतराग और हितोपदेशक जिनेन्द्र भगवान के हैं, अतएव सर्वांश में सत्य ही हैं। क्योंकि 'नान्यथा वादिनो जिनाः' अर्थात् जिन भगवान् अन्यथावादी हो ही नहीं सकते। निष्कारण उपकार करने वाले, जगत् में प्रधान, तीन काल और तीन लोक को हस्तामलकवत् जानने वाले, राग और और द्वेप के सम्पूर्ण विजेता, कृतकृत्य श्रीजिनेश्वर देव के वचन सत्य ही होते हैं। उनके वचनों में असत्य का कुछ भी कारण नहीं है।

इस प्रकार जिन-वचन में सुदृढ़ श्रद्धा रखना, श्रद्धापूर्वक उनका चिन्तन-मनन करना, गूढ़ तत्त्व में भी सन्देह न करना और उन्हीं वचनों में मन को एकाग्र करना

आज्ञाविचय नामक धर्म ध्यान कहलाता है।

अथवा—हे जीव! जगद्बन्धु, जगत्पिता, परम करुणाकर जिन भगवान् ने आरंभ, परिग्रह आदि को त्याज्य बतलाया है भगवान् ने हिंसा, असत्य आदि पापों को त्यागने की आज्ञा दी है। फिर भी तू आरम्भ-परिग्रह में पड़ा है और पापों से निवृत्त नहीं होता! तुझे अपने परम कल्याण के लिए भगवान् की आज्ञा के अनुसार चलना चाहिए। इस प्रकार विचार करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

(ख) अपायविचय धर्मध्यान—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग से होने वाले आस्रव से इस लोक और परलोक में होने वाले कुफल का विचार करना। जैसे 'भयंकर बीमारी में अन्न की इच्छा करना हानिकारक है, उसी प्रकार राग-द्वेष आदि जीव को भव-भव में हानिकारक हैं। जैसे अग्नि से ईंधन भस्म हो जाता है उसी प्रकार राग-द्वेष के कारण आत्मा के समस्त सद्गुण नष्ट हो जाते हैं और उसे घोर संताप होता है। राग-द्वेष के जाल में फंसा हुआ जीव न इस लोक में चैन पाता है और न परलोक में सुगति का पात्र होता है।

राग और द्वेष पर विजय प्राप्त न की जाय और उन्हें बढ़ने दिया जाय तो संसार की परम्परा बढ़ती है।

मिथ्यात्व से जिसकी मति मूढ़ हो रही है ऐसा पापी जीव इस लोक में भी भयंकर दुःख का पात्र होता है और परलोक में नरक आदि के कष्ट पाता है।

हिंसा, असत्य, चोरी आदि पापों में प्रवृत्ति करने वाला पातकी पुरुष इसी लोक में शिष्ट पुरुषों द्वारा निन्दनीय होता है, अविश्वास का भाजन होता है, व्याकुल रहता है, शंकितचित्त रहने के कारण अशान्त-चित्त रहता है, राजा के द्वारा दंड का पात्र होता है। परलोक में भी उसकी घोर दुर्गति होती है।

प्रमाद के कारण जीव कर्त्तव्य कर्म में प्रवृत्ति नहीं करता, अकर्त्तव्य कर्मों में प्रवृत्त होता है, अतएव प्रमाद मनुष्य का भयानक शत्रु है। वह अनेक प्रकार के कष्टों का जनक है। महापुरुषों ने उसे त्याज्य बतलाया है।

अनन्त शक्ति से सम्पन्न आत्मा, अनन्त सुख का अनुपम धाम होने पर भी आस्रव के ही कारण घोर दुःख सहन करता है। आस्रव ही भव-भ्रमण का कारण है। आस्रव से उपार्जित कर्मों का फल भोगने के लिए आत्मा को नाना गतियों के दुःख सहन करने पड़ते हैं। आस्रव की सरिता में चेतना के स्वाभाविक गुण बह जाते हैं।

कायिकी आदि क्रियाओं में वर्तमान जीव भी इस लोक एवं परलोक में अनेक प्रकार की वेदनाएं भोगते हैं। जिन भगवान् द्वारा निरूपित पचीस क्रियाएं संसार को बढ़ाने वाली, और दुःख को देने वाली हैं।

इस प्रकार चिन्तन करना अपाय विचय धर्मध्यान कहलाता है। अथवा करुणा-परायण अन्तःकरण से जगत् के जीवों के अपाय का चिन्तन करना अपायविचय

है जैसे—'संसारी जीवों के हित, सुख, मंगल, कल्याण और श्रेय के लिये सर्वज्ञ भगवान् ने धर्म—देशना देकर सन्मार्ग प्रकट किया है, परन्तु अज्ञान जीव उस मार्ग पर आरूढ़ न होकर किस प्रकार कुमार्गगामी हो रहे हैं और उन्हें कितने कष्टों का सामना करना पड़ेगा! उनकी कैसी दुर्गति होगी और वर्तमान में हो रही है, इस प्रकार जीवों के हित का चिन्तन करना।

इस प्रकार का ध्यान करने से जीव को पापों के प्रति विरक्ति की भावना उत्पन्न होती है। वह पापों से बचकर आत्म-कल्याण के मार्ग पर अग्रसर होता है।

(ग) विपाकविचय धर्मध्यान—ज्ञानावरण आदि कर्मों के फल के विचार रूप प्रणिघात को अपायविचय कहते हैं। जैसे—आत्मा स्वभावतः अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन आदि गुणों से युक्त है। किन्तु ज्ञानावरण कर्म के उदय से उसका ज्ञान गुण विकृत हो रहा है और दर्शनावरण कर्म ने उसकी अनन्त दर्शन शक्ति को खंडित कर रक्खा है। यद्यपि आत्मा अनन्त सुख का भंडार है मगर वेदनीय कर्म के उदय से सुख विकृत अवस्था में परिणत हो गया है और दुःख रूप बन गया है। वेदनीय कर्म के उदय से ही जीव इष्ट विषयों की प्राप्ति होने पर साता का और अनिष्ट विषयों की प्राप्ति होने पर असाता का अनुभव करता है।

मोहनीय कर्म सब से बड़ा शत्रु है। वह इष्ट-अनिष्ट का, हित-अहित का, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का सत्य-असत्य का और धर्म-अधर्म का विवेक नहीं होने देता। यही नहीं, चेतना गुण में वह ऐसा विकार पैदा कर देता है जिस से जीव विपरीत समझने लगता है। हित को अहित, धर्म को अधर्म, इसी प्रकार अहित को हित और अधर्म को धर्म समझाने वाला मोहनीय कर्म ही है। यह कर्म आत्मा के सम्यक्त्व गुण का तथा चारित्र गुण का घात करता है और आत्मा की शक्तियों को मूर्च्छित बना डालता है।

आयु कर्म ने आत्मा को शरीर रूप कारागार में कैद कर रक्खा है। इस कर्म के उदय से आत्मा शरीर में बंधा रहता है।

नाम कर्म का फल भी बहुत व्यापक होता है। वह अमूर्त्त आत्मा को मूर्त्त रूप प्रदान करता है। शरीर की, शरीर के आकार की तथा अन्य अनेक शारीरिक पर्यायों की रचना करके आत्मा में विकृति उत्पन्न करता है।

गोत्र कर्म विशुद्ध निर्विकल्प आत्मा में ऊँच, नीच गोत्र की दृष्टि से आत्मा में विकल्प उत्पन्न करता है।

आत्मा अनन्त शक्तियों का पुंज है परन्तु अन्तराय कर्म उन शक्तियों के प्रकाश एवं विकास में विघ्न उपस्थित करता है। जैसे अक्षय भण्डार का अधिपति राजा किसी कारण पैसे-पैसे के लिए मोहताज हो उसी प्रकार की दशा अन्तराय कर्म ने आत्मा की बना डाली है।

इस प्रकार यह आठों कर्म आत्मा को विकारमय एवं दुःख का भाजन बनाये

हुए हैं। इस तरह कर्मों के फल का, आस्रव एवं बन्ध आदि के फलों का चिन्तन करने में चित्तवृत्ति रोकना अपायविचय धर्मध्यान है।

अथवा हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य तथा परिग्रह आदि पापों के इस लोक में और परलोक में होने वाले दुर्विपाक का विचार करने में मन लगाना, आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, आदि से उत्पन्न होने वाले कुफल का चिन्तन करना विपाकविचय है।

(घ) संस्थानविचय धर्मध्यान—संस्थान शब्द का अर्थ है आकृति। विचय का अर्थ—विवेक या विचार करना। तात्पर्य यह है कि धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों का, उनकी पर्यायों का, जीव के आकार का, लोक के स्वरूप का, पृथ्वी, द्वीप, सागर, देवलोक, नरकलोक के आकार का, त्रसनाड़ी के आकार का चिन्तन करने में चित्त लगाना संस्थानविचय धर्मध्यान है।

जीव और कर्म के संयोग से उत्पन्न होने वाले जन्म, जरा, मरण रूपी जल से परिपूर्ण, क्रोध आदि कषाय रूप तल वाले, भांति-भांति के दुःख रूप मगर-मच्छों से व्याप्त, अज्ञान रूपी वायु से उठने वाली संयोग-वियोग रूप लहरों से युक्त इस अनादि-अनन्त संसार-समुद्र का विचार करना। तथा संसार-समुद्र से पार उतारने वाली, सम्यग्दर्शन रूपी सुदृढ़ बंधनों वाली, ज्ञान रूपी नाविक द्वारा संचालित, चारित्र रूपी नौका है। संवर से निश्छिद्र, तपस्या रूप पवन वेग के समान शीघ्रगामी, वैराग्य मार्ग पर चलने वाली, अपध्यान रूपी तरंगों से न डिगने वाली बहुमूल्य शील रत्न से परिपूर्ण नौका पर चढ़ कर मुनि रूपी यात्री शीघ्र ही, बिना किसी विघ्न-बाधा के निर्वाण रूप नगर को पहुँच जाते हैं। लोकाकाश के सर्वोच्च प्रदेश सिद्ध शिला को प्राप्त करके अक्षय, अव्याबाध, स्वाभाविक और अनुपम आनन्द के स्वामी बनते हैं। इस प्रकार का विचार करना।

संस्थानविचय में चौदह राजू लोक का या उसके किसी एक भाग का या उस सम्बन्धी विषय का प्रधान रूप से चिन्तन किया जाता है।

शास्त्र में धर्मध्यान के चार लिंग निरूपण किये गये हैं—(१) आज्ञारुचि (२) निसर्गरुचि (३) सूत्ररुचि और (४) अवगाढ़रुचि (उपदेशरुचि)।

(क) आज्ञारुचि—सूत्र में गणधरों द्वारा प्रतिपादित अर्थ पर रुचि धारण करना आज्ञारुचि है।

(ख) निसर्गरुचि—बिना किसी के उपदेश के, स्वभाव से ही जिन-भाषित तत्त्वों पर श्रद्धान होना निसर्गरुचि है।

(ग) सूत्ररुचि—सूत्र अर्थात् आगम द्वारा वीतराग प्ररूपित द्रव्य और पर्याय आदि पर श्रद्धा करना सूत्ररुचि है।

(घ) अवगाढ़रुचि—द्वादशांग का विस्तारपूर्वक ज्ञान प्राप्त करने से जिनोक्त तत्त्वों पर जो श्रद्धा होती है वह अवगाढ़ रुचि कहलाती है। अथवा साधु के संसर्ग में रहने वाले पुरुष को साधु के सूत्रानुसारी उपदेश से होने वाली श्रद्धा अवगाढ़

करना चाहिए। अग्नि की यह ज्वाला क्रमशः बढ़ती-बढ़ती ऊपर वाले कमल पर स्थित आठ कर्मों को जलाने लगती है, ऐसा विचार करना चाहिए। तदनन्तर वह ज्वाला कमल के मध्य में छेद करके ऊपर मस्तक तक आजाए और उसकी एक रेखा बाईं ओर और दूसरी रेखा दाहिनी ओर निकल जाए फिर नीचे की तरफ आकर दोनों कानों को मिलाकर एक अग्निमयी रेखा बन जाय। अर्थात् ऐसा विचार करे कि अपने शरीर के बाहर तीन कोण वाला अग्निमंडल हो गया।

इन तीनों लकीरों में प्रत्येक 'र' अक्षर लिखा हुआ विचारे अर्थात् तीनों तरफ 'र' अक्षरों से ही यह अग्निमंडल बना हुआ है। इसके अनन्तर त्रिकोण के बाहर, तीन कोनों पर स्वस्तिक अग्निमय लिखा हुआ तथा भीतर तीन कोनों में प्रत्येक पर 'ॐ र्' ऐसा अग्निमय लिखा हुआ सोचे। तब यह विचारना चाहिए कि यह अग्निमंडल भीतर आठ कर्मों को जला रहा है और बाहर इस शरीर को भस्म कर रहा है। जलते-जलते समस्त कर्म और शरीर राख हो गये हैं, तब अग्नि धीरे-धीरे शान्त हो गई है। इस प्रकार विचारना आग्नेयी धारणा है।

(३) वायु धारणा—वायु धारणा को मारुती धारणा भी कहते हैं। आग्नेयी धारणा का चिन्तन करके ध्यानी पुरुष इस प्रकार विचार करे—चारों ओर बड़े वेग के साथ पवन वह रही है, मेरे चारों ओर वायु ने गोल मंडल बना लिया है, उस में आठ जगह घेरे में 'स्वाय' 'स्वाय' सफेद रंग का लिखा हुआ है। वह आयु कर्मों की तथा शरीर की राख को उड़ा रही है और आत्मा को साफ कर रही है। इस प्रकार का चिन्तन करना वायु-धारणा है।

(४) वारुणी धारणा—वारुणी धारणा का अर्थ है जल का विचार करना। वही ध्यानी उसी वायुधारणा के पश्चात् इस प्रकार का चिन्तन करे—आकाश में मेघों के समूह आ गये हैं, बिजली चमकने लगी है, मेघ-गर्जना हो रही है और मूसलधार पानी बरसने लगा है। मैं बीच में बैठा हूँ। मेरे ऊपर अर्द्ध चन्द्राकार पानी का मंडल है तथा जल के बीजाक्षरों से प प प प लिखा हुआ है। यह जल मेरे आत्मा पर लगे हुए मैल को-राख को साफ कर रहा है और आत्मा बिल्कुल पवित्र बनता जा रहा है।

(५) तत्त्वरूपवती धारणा—इस धारणा को तत्रभूधारणा भी कहते हैं। वारुणी धारणा के पश्चात् इस प्रकार विचार करना चाहिए-'अब मैं सिद्ध के समान सर्वज्ञ वीतराग, निर्मल, निष्कलंक, निष्कर्म हो गया हूँ। मैं पूर्ण चन्द्रमा के समान देदीप्यमान ज्योति-पुंज हूँ।' इस प्रकार विचार करना तत्त्वरूपवती धारणा है।

इस प्रकार पूर्वोक्त क्रम से पांचों धारणाओं का चिन्तन करने से आत्मा तेजस्वी और विशुद्ध बनता है।

(२) पदस्थध्यान—ऊपर बतलाया जा चुका है कि किसी पवित्र पद का अवलम्बन करके जो ध्यान किया जाता है वह पदस्थ ध्यान कहलाता है उसके प्रकार इस तरह हैं—

सोलह पांखुड़ी वाले नाभि-कमल में, प्रत्येक पांखुड़ी पर स्वरमाला—अ, आ वगैरह—भ्रमण करती हुई विचारनी चाहिए। फिर हृदय में चौबीस पांखुड़ी के बीज कोश वाले कमल की कल्पना करके, उसमें क्रमशः पच्चीस वर्णों का चिन्तन करना चाहिए। फिर आठ पांखुड़ी वाले मुखकमल की कल्पना करके उसमें य से लेकर ह अक्षर तक आठ वर्णों की कल्पना करना चाहिए।

अथवा मंत्रराज 'र्हं' का ध्यान करना चाहिए। यह मंत्र साक्षात परमात्मा और चौबीस तीर्थंकरों का स्मरण कराने वाला है।

पहले इसे दोनों भौंहों के मध्य में चमकता हुआ जमा कर देखे, फिर विचारे कि वह मुख में प्रवेश करके अमृत झरा रहा है। फिर नेत्रों की पलकों को छूता हुआ मस्तक के केशों पर चमकता हुआ, फिर चंद्रमा तथा सूर्य के विमानों का स्पर्श करता हुआ, ऊपर स्वर्ग आदि को लांघता हुआ मोक्ष में पहुंच गया है। इस प्रकार भ्रमण करते हुए मंत्रराज का ध्यान करे।

अथवा प्रणव मंत्र ॐ का ध्यान करना चाहिए। उसकी विधि इस प्रकार है—हृदय में सफेद रंग का कमल है। उसके मध्य में 'ॐ' चन्द्रमा के समान चमक रहा है। इस कमल के आठ पत्तों पर—तीन पर सोलह स्वर, पांच पर पच्चीस व्यंजन लिखे हुए हैं और वे सब चमक रहे हैं। इस प्रकार अक्षरों से वेष्टित ॐकार का ध्यान करना चाहिए। फिर इस चमकते हुए ॐ को नीचे के स्थानों पर भी विराजमान करके ध्यान करना चाहिए।

अथवा—नाभिकंद के नीचे आठ पांखुड़ी के कमल की कल्पना करना चाहिए। उसमें सोलह स्वरों रूपी सोलह केसर-तन्तुओं की कल्पना करना चाहिए। उसकी प्रत्येक पांखुड़ी में अक्षरों के आठ वर्गों में से एक-एक वर्ग स्थापित करना चाहिए। उन पांखुड़ियों के अन्तराल में सिद्धस्तुति अर्थात् ह्रींकार ही स्थापना करनी चाहिए और पांखुड़ियों के अग्रभाग में 'ॐ ह्रीं' स्थापना करना चाहिए। तदनन्तर उस कमल के बीच में 'अर्हं' शब्द को स्थापित करना चाहिए। यह अर्हं शब्द पहले प्राणवायु के साथ ह्रस्व उच्चारण वाला होकर फिर दीर्घ उच्चारण वाला होता है, इसके बाद उससे भी दीर्घ-प्लुत-उच्चारण वाला होकर फिर सूक्ष्म होता-होता अत्यन्त सूक्ष्म होकर, नाभिकंद एवं हृदय घंटिका को भेदता हुआ, मध्य मार्ग से जा रहा है, इस प्रकार विचार करना चाहिए। इसके बाद उस नाद-विन्दु से तप्त हुई कला में से झरते हुए दूध के समान स्वच्छ अमृत में आत्मा को अवगाहन करते चिन्तन करना चाहिए! तदनन्तर अमृत के सरोवर में उगे हुए सोलह पांखुड़ी वाले कमल में अपने आत्मा को स्थापित करके, उन पांखुड़ियों का चिन्तन करना चाहिए। फिर तेजस्वी स्फटिक के घटों में से डाले जाने वाले स्वच्छ दूध के समान सफेद अमृत में आत्मा को देर तक अवगाहन करते हुए चिन्तन करना चाहिए। फिर इस मंत्र के वाच्य अर्हन्त परमेष्ठी का मस्तक में विचार करना चाहिए। तदनन्तर ध्यान केआवेश में 'सोऽहं' का बार-बार उच्चारण करके परमात्मा के साथ अपने आत्मा

की एकता का निःशंक चिन्तन करना चाहिए। फिर नीरोगी, अमोही, अद्वेषी, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, देवपूजित तथा सभा में धर्मदेशना देते हुए परमात्मा के साथ आत्मा को अभिन्न समझने वाला योगी, पाप का क्षय करके परमात्मदशा प्राप्त कर लेता है।

अथवा—इसी मंत्रराज को अनाहतध्वनि से युक्त सुवर्णकमल में स्थित, चन्द्रमा की किरणों के समान निर्मल, अपने तेज से समस्त दिशाओं को व्याप्त करने वाला, आकाश में संचार करता हुआ चिन्तन करना चाहिए। तत्पश्चात् इस प्रकार सोचना चाहिए-मंत्रराज मुख-कमल में प्रवेश कर रहा है, फिर भ्रमर के मध्य भाग में भ्रमण कर रहा है, आंखों की बरौनियों में स्फुरायमान हो रहा है, कपाल मंडल में विराजमान हो रहा है, तालुरंध्र से बाहर निकल रहा है, अमृत-रस की वर्षा कर रहा है, ज्योतिर्गण के बीच चन्द्रमा की स्पर्धा कर रहा है और मोक्ष लक्ष्मी के साथ अपने को जोड़ रहा है।

तत्पश्चात् रेफ, विन्दु और कला से रहित इसी मंत्र का चिन्तन करना चाहिए और फिर बिना ही किसी अक्षर का जिसे उच्चारण न किया जा सके चिन्तन करना चाहिए। तदन्तर 'अनाहत' नामक देव को चन्द्रमा की कला के आकार से, तथा सूर्य के समान तेज से स्फुरायमान होता हुआ विचारना चाहिए, फिर उसे बाल के अग्रभाग जितने सूक्ष्म रूप में, फिर थोड़ी देर बिलकुल अव्यक्त होता हुआ और फिर सम्पूर्ण जगत को ज्योतिर्मय कर डालने वाला चिन्तन करना चाहिए।

इस प्रकार लक्ष्य वस्तु को छोड़कर अलक्ष्य वस्तु में मन को स्थिर करते-करते अन्तरंग में क्रमशः अक्षय एवं अतीन्द्रिय ज्योति प्रकट होती है। जिन मुनि का मन सांसारिक पदार्थों से विमुख हो जाता है वही मुनि इस प्रकार की साधना करके अभीष्ट फल की प्राप्ति कर पाते हैं—अन्य नहीं।

पदस्थ ध्यान की साधना के लिए और भी विधियां योग शास्त्र में प्रतिपादित की गई हैं। जैसे-हृदय-कमल में स्थित, शब्द ब्रह्म के एक मात्र कारण, स्वर एवं व्यंजन से युक्त, पंचपरमेष्ठी के वाचक तथा चन्द्रकला से झरते अमृतरस से सिंचित महामंत्र 'ॐ' का ध्यान करना चाहिए। इसी प्रकार परम मंगलमय पंच-नमस्कार मंत्र (णमोकार-मंत्र) का भी चिन्तन किया जा सकता है। इसकी विधि यह है-आठ पांखुड़ी से सफेद कमल की कल्पना करना चाहिए। उसके बीज कोश में 'नमो अरिहंताणं' इस सात अक्षर वाले पद का चिन्तन करना चाहिए। फिर 'नमो सिद्धाणं' 'नमो आयरियाणं' 'नमो उवज्झायाणं' और 'नमो लोए सव्वसाहूणं' इन चार पदों को क्रम से पूर्व आदि चार दिशा की चार पांखुड़ियां कल्पना करना चाहिए। शेष में 'एसो पंच नमोक्कारो' 'सव्वपावप्पणासणो' 'मंगलाणं च सव्वेसिं' 'पढमं हवइ मंगलं' यह चार पद आग्नेय आदि चार विदिशाओं में कल्पित करना चाहिए।

मन, वचन, काय की शुद्धता पूर्वक एक सौ आठ वार इस मंत्र का चिन्तन करने से मुनि को आहार करते हुए भी चतुर्मासिक उपवास का फल प्राप्त होता है।

योगी जनों ने इस महामंत्र का चिन्तन करके मोक्ष-लक्ष्मी प्राप्त की है और वे जगत् के वन्दनीय बन गये हैं। बड़े-बड़े हिंसक तिर्यञ्च भी इस मन्त्र की आराधना करके स्वर्ग को प्राप्त हुए हैं।

इसी प्रकार इस महामंत्र में से 'अरिहंत सिद्ध' इन छह अक्षरों को, अथवा 'अरिहन्त' इन चार अक्षरों को अथवा 'अ' इस अकेले अक्षर को तीन, चार तथा पाँच सौ बार जपने से चार टंक के उपवास का फल मिलता है।

इसी प्रकार—'चत्तारि मंगलं, अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलि-पन्नतो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा, अरिहंत्ता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा साहू लोगुत्तमा, केवलिपन्नत्तो धम्मो लोगुत्तमो। चत्तारि सरणं पव्वज्जामि, अरिहंते सरणं पव्वज्जामि, सिद्धे सरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि, केवलिपन्नत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि।' इस मंत्र का स्मरण-चिंतन करने से मोक्ष-लक्ष्मी की प्राप्ति होती है।

इस तरह किसी पवित्र पद का अवलम्बन करके ध्यान करना पदस्थ ध्यान कहलाता है।

रूपस्थ धर्मध्यान—समवसरण में विराजमान अर्हन्त भगवान् का ध्यान करना रूपस्थ ध्यान है। मुक्ति-लक्ष्मी के सन्मुख स्थित निष्कर्म, चतुर्मुख, समस्त संसार को अभय देने वाले, स्वच्छ चन्द्रमा के समान तीन छत्रों से सुशोभित, भाम-ण्डल की शोभा से युक्त, दिव्य दुदुंभि की ध्वनि से युक्त अशोक वृक्ष से सुशोभित सिंहासन पर विराजमान, अलौकिक द्युति से सम्पन्न, जिन पर चामर ढोरे जा रहे हैं, जिनके प्रभाव से सिंह और मृग जैसे जाति-विरोधी जीवों ने भी अपने वैर का त्याग कर दिया है, समस्त अतिशयों से विभूषित, केवल ज्ञान युक्त और समवसरण में विराजमान अर्हन्त भगवान् के स्वरूप का अवलम्बन करके जो ध्यान किया जाता है वह रूपस्थ ध्यान है।

इस ध्यान का अभ्यास करने वाला ध्याता अपने आत्मा को सर्वज्ञ के रूप में देखने लगता है। अर्हन्त भगवान् के साथ तन्मय होकर, 'अर्हन्त भगवान् मैं' ही हूँ इस प्रकार की साधना कर लेने पर, ध्याता ईश्वर के साथ एक रूपता अनुभव करने लगता है।

वीतराग का ध्यान करने वाला योगी स्वयं वीतराग बनकर मुक्ति प्राप्त कर लेता है। इससे विपरीत रागी पुरुष का ध्यान करने वाला रागी बनता है।

(४) रूपातीत धर्मध्यान—रूपस्थ ध्यान का अभ्यास करके योगी जब अधिक अभ्यासी बन जाता है तब वह अरूपी, अमूर्त्त, निरंजन सिद्ध भगवान् का ध्यान करता है। इस प्रकार सिद्ध परमात्मा का ध्यान करने वाला योगी ग्राह्य-ग्राहक भाव से मुक्त, तन्मयता प्राप्त करता है। अनन्य भाव से ईश्वर का शरण लेने वाला ईश्वर में ही लीन हो जाता है। फिर ध्यान, ध्येय और ध्याता का भेद भाव नहीं रह जाता। ध्याता स्वयं ध्येय रूप में परिणत हो जाता है। इस निर्विकल्प अवस्था में आत्मा और परमात्मा एक रूप हो जाता है।

इस प्रकार पिण्डस्थ ध्यान से आरम्भ करके रूपातीत ध्यान तक का अभ्यास करने से मन की चंचलता ही नष्ट नहीं होती, वरन् आत्मा विशुद्ध बनती है।

(४) शुक्लध्यान—शुक्ल ध्यान वज्रऋषभनाराच संहनन वाले तथा पूर्व नामक शास्त्रों के ज्ञाता महामुनि ही कर सकते हैं। अल्प बल वाले और विविध विषयों में व्याकुल चित्त वाले क्षुद्र मनुष्य का मन किसी भी प्रकार पूर्ण रूप से निश्चल नहीं बन सकता।

शुक्लध्यान के भी चार भेद हैं—(१) पृथक्त्व वितर्क सविचार (२) एकत्व-वितर्क अविचार (३) सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाती और (४) समुच्छिन्नक्रिया।

(क) पृथक्त्व वितर्क सविचार—यहां वितर्क का अर्थ है—श्रुत या शास्त्र और विचार का अर्थ है—शब्द, अर्थ और योग का संक्रमण होना। तात्पर्य यह है कि कोई योगी पूर्व नामक श्रुत के अनुसार किसी भी एक द्रव्य का आश्रय लेकर ध्यान करे और उस समय द्रव्य के किसी एक पर्याय पर स्थिर न रहते हुए, उसकी अनेक पर्यायों का चिन्तन करे, तथा कभी द्रव्य का चिन्तन करते-करते पर्याय का और पर्याय का चिन्तन करते-करते द्रव्य का चिन्तन करने लगे, अथवा द्रव्य का चिन्तन करते-करते उसके वाचक शब्द का अथवा शब्द से हटकर द्रव्य का चिन्तन करे, इसी प्रकार जिस ध्यान में एक योग की स्थिरता न रहे—संक्रमण होता रहे वह पृथक्त्व वितर्क सविचार नामक शुक्लध्यान कहलाता है।

(ख) एकत्व विचार-अविचार—पूर्व श्रुत के अनुसार किसी एक द्रव्य का अवलम्बन करके, उसकी एक ही पर्याय पर चित्त एकाग्र करके शब्द, अर्थ या योग का परिवर्तन न करते हुए ध्यान करना एकत्व वितर्क-अविचार शुक्ल ध्यान कहलाता है।

पहले पृथक्त्व वितर्क ध्यान का अभ्यास दृढ़ हो जाने पर दूसरे शुक्ल ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है। दूसरे ध्यान के प्रभाव से मन शान्त एवं निश्चल बन जाता है। फल स्वरूप चारों घाति कर्मों का क्षय हो जाता है और सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है।

(ग) सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति—मन, वचन और काय के स्थूल योगों का निरोध करके सिर्फ श्वासोच्छ्वास जैसी सूक्ष्म क्रिया ही शेष रह जाने पर जो ध्यान होता है वह सूक्ष्माक्रियाऽप्रतिपाति ध्यान कहलाता है। उससे फिर पतन की सम्भावना नहीं रहती, अतएव उसे 'अप्रतिपाति' कहा गया है।

(घ) समुच्छिन्नक्रिया तृतीय शुक्ल ध्यान के पश्चात् जब सूक्ष्म क्रिया का भी अस्तित्व नहीं रहता और आत्मा के परिणाम सुमेरु की तरह अचल हो जाते हैं, उस समय के ध्यान को समुच्छिन्नक्रिया ध्यान कहा गया है।

पहले शुक्लध्यान में मन, वचन और काय में से किसी एक का अथवा तीनों का व्यापार होता है। दूसरे में तीन में से किसी भी एक का व्यापार होता है। तीसरे

शुक्ल ध्यान में सूक्ष्म काययोग ही रहता है और चौथा भेद अयोगी महापुरुषों को ही होता है।

इस प्रकार धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान के द्वारा मन पर विजय प्राप्त करनी चाहिये। शुक्ल ध्यान, ध्यान की उत्कृष्ट एवं सर्वोच्च स्थिति है। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए प्रारंभिक तैयारी की अनिवार्य आवश्यकता है। ध्यान की योग्यता प्राप्त करने के लिये मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ्य आदि तथा अनित्यता, अशरणता आदि भावनाओं से चित्त सुवासित करना चाहिए।

प्राणी मात्र पर मित्रता का भाव होना मैत्री भावना है। गुणी जनों को देख कर प्रसन्न होना, सद्गुणी पुरुषों के गुणों में अनुराग होना प्रमोद भावना है। दीन-दुःखी प्राणियों को देख कर उनका दुःख दूर करने की भावना होना करुणा भावना है। पाप कर्म करने वाले, दुराचारी पुरुषों के प्रति, तथा धर्म-निन्दकों के प्रति उपेक्षा-बुद्धि होना माध्यस्थ्य भावना है। अनित्यता आदि बारह भावनाओं का निरूपण पहले किया जा चुका है। इन भावनाओं के पुनः-पुनः चिन्तन से चित्त की विशुद्धि होती है और ध्यान करने की योग्यता प्राप्त हो जाती है।

ध्यान करने के लिये समुचित क्षेत्र और काल का भी विचार करना चाहिये। ध्यान के लिये ऐसा क्षेत्र उचित है जहां किसी प्रकार का क्षोभ न हो, कोलाहल न हो, दुष्ट पुरुषों का, स्त्रियों का तथा नपुंसकों का आवागमन न हो। जहां पूर्ण रूप से शांति हो, आस-पास में गाना-बजाना न हो, दुर्गन्ध न आती हो, अत्यधिक गर्मी-सर्दी न हो, जानवरों का त्रास न हो। इस प्रकार का योग्य और निराकुलताजनक स्थान ध्यान के लिये उपयुक्त होता है। कहा भी है—

यत्र रागादयो दोषा अजस्रं यान्ति लाघवम्।
तत्रैव वसतिः साध्वी ध्यानकाले विशेषतः॥

अर्थात् जिस स्थान में रहने से राग आदि दोष शीघ्र हट जावें वहीं निवास करना अच्छा है। ध्यान के समय तो खास तौर से इस बात का विचार रखना चाहिए।

ध्यान के लिए प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल उचित अवसर हैं। छह-छह घड़ी पर्यन्त ध्यान का समय है। किन्तु यह अनिवार्य नहीं है। ध्याता अपनी शक्ति के अनुसार चार घड़ी, दो घड़ी या एक घड़ी का ध्यान कर सकता है और क्रमशः अभ्यास बढ़ा सकता है।

ध्यान में आसन का कोई विशेष नियम नहीं है। पर्यंकासन, अर्द्धपर्यंकासन, वीरासन, वज्रासन, पद्मासन, भद्रासन, दण्डासन, उत्कटिकासन, गोदोहिकासन, कायोत्सर्ग आदि अनेक आसन हैं। जिस आसन का अवलम्बन करने से निराकुलता हो और मन स्थिर हो उसी को ध्यान का साधन मान कर मन को स्थिर करना चाहिए। ध्यान करते समय दोनों आंखें बन्द कर लेना चाहिए, दृष्टि नासिका के अग्र-

भाग पर स्थिर करनी चाहिए और मुख प्रसन्न रखना चाहिए। मुख पूर्व दिशा या उत्तर दिशा की ओर रखकर, कमर सीधी करके ध्यान के लिए बैठना चाहिए। कहा भी है—

पूर्वाशाभिमुखः साक्षादुत्तराभिमुखोऽपि वा।
प्रसन्नवदनो ध्याता, ध्यानकाले विशिष्यते ॥

ध्यान के लिए यद्यपि प्राणायाम की अनिवार्य आवश्यकता नहीं है, फिर भी शरीर की शुद्धि और मन की एकाग्रता में प्राणायाम का अभ्यास सहायक हो जाता है। कभी-कभी प्राणायाम से हानि भी होती है, जैसा कि कहा है--

प्राणस्यायमने पीडा तस्यां स्यादार्त्तसम्भवः।
तेन प्रचाव्यते नूनं, ज्ञाततत्त्वोऽपि लक्षितः ॥

अर्थात् प्राणायाम में प्राण--श्वास को रोकने से पीड़ा होती है, पीड़ा के कारण आर्त्तध्यान होना संभव है और इस कारण तत्त्वज्ञानी पुरुष भी भाव--विशुद्धि से कदाचित् च्युत हो सकता है।

तथापि वायु पर विजय प्राप्त करने से मन पर विजय प्राप्त करने में सहायता मिलती है, अतएव यदि कोई पुरुष विद्वान् गुरु की देख-रेख में प्राणायाम का अभ्यास करे तो हानि नहीं है।

प्राणायाम के मुख्य तीन भेद हैं--(१) पूरक (२) कुम्भक और (३) रेचक।

(१) पूरक--बाहर की वायु शरीर में खींच कर गुदा भाग पर्यन्त उदर को पूर्ण करना-भरना पूरक प्राणायाम कहलाता है।

(२) कुम्भक—वायु को नाभिकमल में स्थिर करना कुम्भक प्राणायाम कहलाता है।

(३) रेचक—वायु को उदर में से, ब्रह्मरंध्र द्वारा, या नासिका द्वारा बाहर निकाल फैंकना रेचक प्राणायाम है।

पूरक प्राणायाम से पुष्टि और रोगक्षय होता है, कुंभक प्राणायाम से हृदय-कमल का शीघ्र विकास होता है, आन्तरिक ग्रंथियां भिद जाती हैं तथा बल और स्थिरता की प्राप्ति होती है। रेचक प्राणायाम उदर व्याधि और कफ का विनाश करता है।

इस प्रकार यथायोग्य ध्यान से मन को जीतना चाहिए। जिनमें ध्यान करने की योग्यता नहीं आई है उन्हें आध्यात्मिक शास्त्रों का स्वाध्याय करके मन को शुभ व्यापार में रत करना चाहिए। स्वाध्याय भी मानसिक एकाग्रता का अत्यन्त उपयोगी साधन है।

पूर्वोक्त उपायों से मन का सम्यक् निग्रह करने वाले महात्मा संसार में रहते हुए भी दुःख के संस्पर्श से रहित हो जाते हैं और अन्त में मुक्ति-लक्ष्मी का भाजन बनते हैं।

मूलः—सच्चा तहेव मोसा य, सच्चामोसा तहेव य।
चउत्थी असच्चमोसा य, मणगुत्ती चउव्विहा ॥३॥

छायाः—सत्या तथैव मृषा च, सत्यामृषा तथैव च।
चतुर्थ्यसत्यामृषा तु मनोगुप्तिश्चतुर्विधा ॥ ३ ॥

शब्दार्थः—मनोगुप्ति चार प्रकार की है (१) सत्य मनोगुप्ति (२) असत्य मनोगुप्ति (३) सत्या-सत्य मनोगुप्ति और (४) असत्य-अमृषामनोगुप्ति।

भाष्यः—मन का निग्रह करने का उपदेश पहले दिया गया है, पर मन की प्रवृत्ति का विश्लेषण किये बिना उसका यथावत निग्रह नहीं हो सकता। अतएव यहाँ मानसिक प्रवृत्ति का विश्लेषण किया गया है।

आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, संरंभ, समारंभ और आरंभ संबंधी संकल्पविकल्प न करना, इह परलोक में हितकारी धर्मध्यान संबंधी चिन्तन करना, मध्यस्थ भाव रखना, अशुभ एवं शुभ योग का विरोध करके अयोगी अवस्था में होने वाली आत्मा की अवस्था प्राप्त करना मनोगुप्ति है। तात्पर्य यह है कि मन की नाना प्रकार की प्रवृत्ति को रोक देना मनोगुप्ति कहलाती है।

मन की प्रवृत्ति चार प्रकार के विषय में होती है—सत्य विषय में, असत्य विषय में, सत्यासत्य अर्थात् उभय रूप विषय में एवं अनुभयरूप—जो सत्य भी न हो और असत्य भी न हो ऐसे-विषय में। इन्हीं चार भेदों को चार मनोयोग कहते हैं। इनका सामान्य स्वरूप इस प्रकार है:—

(१) सत्य मनोयोग—मन का जो व्यापार सत् या साधु पुरुषों के लिए हित-कारक हो, उन्हें मुक्ति की ओर ले जाने वाला हो वह अथवा जीव, अजीव आदि पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का विचार सत्य मनोयोग कहलाता है।

(२) असत्यमनोयोग—सत्य से विपरीत अर्थात् संसार की ओर ले जाने वाला मानसिक व्यापार असत्य मनोयोग कहलाता है। अथवा जीव आदि पदार्थों के अवास्तविक रूप का चिन्तन करना असत्यमनोयोग कहलाता है। जैसे, आत्मा नहीं है, पदार्थ एकान्त रूप है, आत्मा स्वभाव से जड़ है, इत्यादि।

(३) सत्यासत्य मनोयोग—जिसमें कुछ अंशों में सच्चाई हो और कुछ अंशों में मिथ्यापन हो ऐसा मिश्रित विचार सत्यासत्य मनोयोग कहलाता है। व्यवहारनय से ठीक होने पर भी निश्चयनय से जो विचार पूर्ण सत्य न हो उसे भी उभयमनोयोग कहते हैं। जैसे किसी वन में तरह-तरह के वृक्ष हैं—धव, खदिर, पलाश आदि सभी विद्यमान हैं परन्तु अशोक वृक्षों की अधिकता होने के कारण उसे अशोक वन कहना। वन में अशोकवृक्षों की अधिकता के कारण उसे 'अशोकवन' कहना सत्य है, मगर अन्य वृक्षों का सद्भाव होने से 'अशोकवन' कहना असत्य भी ठहरता है।

(४) असत्यामृषा मनोयोग—जो मानसिक विचार सत्य रूप भी नहीं और

असत्य रूप भी नहीं वह असत्यामृषा मनोयोग कहलाता है। इसे अनुभय रूप मनोयोग भी कहते हैं। सर्वज्ञ भगवान् के द्वारा प्ररूपित वस्तुतत्व का यथार्थ चिन्तन सत्य-मनोयोग और इससे विपरीत चिन्तन असत्य मनोयोग है। जहां इन दोनों बातों की कल्पना नहीं होती वह अनुभय मनोयोग कहलाता है। जैसे—देवदत्त, पुस्तक लाओ।' इस प्रकार के चिन्तन में सत्य-असत्य की कल्पना नहीं की जा सकती। इससे आराधक, विराधक का भी विकल्प नहीं उठता। अतएव इस प्रकार का विचार असत्यामृषा मनोयोग है। यह चौथा विकल्प व्यवहारनय से समझना चाहिए। निश्चयनय से यह भी सत्य या असत्य में समाविष्ट हो जाता है।

उल्लिखित चार मनोयोगों को रोकना मनोगुप्ति है। मगर योग का निरोध चौदहवें गुणस्थान में होता है, उससे पहले नहीं। अतएव पहले असत्यमनोयोग का और उभय रूप (सत्य-मृषा) मनोयोग का त्याग करके गुप्ति की आराधना करनी चाहिए।

मूलः—संरंभसमारंभे, आरंभम्मि तहेव य।
मणं पवत्तमाणं तु, नियत्तिज्ज जयं जई ॥ ४ ॥

छायाः—संरम्भे समारम्भे, आरम्भे तथैव च।
मनः प्रवर्त्तमानं तु, निवर्त्तयेत् यतं यतिः ॥ ४ ॥

शब्दार्थः—हे इन्द्रभूति ! मुनि संरंभ में, समारंभ में और आरंभ में प्रवृत्त होने वाले मन को यतनापूर्वक निवृत्त करे।

भाष्यः—पूर्व गाथा में मनोगुप्ति के भेदों का निरूपण करके यहां यह प्रतिपादन किया गया है कि इनको किस विषय में प्रवृत्त होने से रोकना चाहिए।

'प्राणव्यपरोपणादिषु प्रमादवतः प्रयत्नावेशः संरम्भः।' अर्थात् प्रमादी जीव का प्राणव्यपरोपण (हिंसा) आदि असत् कार्यों में प्रयत्न का आवेश होना संरम्भ कहलाता है।

'साधनसमभ्यासीकरणं समारम्भः।' अर्थात् हिंसा आदि के साधन जुटाना समारंभ कहलाता है।

'प्रक्रमः आरम्भः।' अर्थात् हिंसा आदि पाप कार्य को शुरु कर देना आरम्भ कहा गया है।

तात्पर्य यह है कि किसी भी पाप कार्य को करते समय तीन अवस्थाएं होती हैं। सर्वप्रथम जीव पाप कर्म करने का संकल्प करता है। संकल्प करने के पश्चात् उस कार्य को सम्पन्न करने के लिए यथोचित सामग्री जुटाता है और फिर उसे आरंभ करता है। यही तीन अवस्थाएं यहां संरंभ, समारम्भ और आरम्भ कहलाती हैं। यद्यपि यह अवस्थाएं मानसिक भी होती हैं, वाचिक भी होती हैं, और कायिक भी होती हैं—अर्थात् मन से संरंभ, समारंभ और आरंभ किया जाता है, वचन से

भी तीनों किये जाते हैं और काय से भी किये जाते हैं। किन्तु यहां मन का प्रकरण होने से इनमें प्रवृत्त होने वाले मन को ही रोकने का विधान किया गया है।

अथवा—कायकृत संरंभ और वचनकृत संरंभ आदि का मूल कारण मनोव्यापार है। सर्वप्रथम मन से संरंभ आदि होते हैं, फिर वचन और काय से। मानसिक संरंभ, समारंभ और आरंभ के अभाव में वचन और काय से संरंभ आदि के होने की संभावना नहीं है। अतएव मानसिक संरंभ आदि का त्याग होने पर कायिक एवं वाचनिक त्याग स्वतः सिद्ध हो जाता है।

अथवा—मन यहां उपलक्षण है। मन से वचन और काय का भी ग्रहण करना चाहिए। अतएव संरंभ आदि में प्रवृत्त होने वाले मन को रोकने का अर्थ यह है कि वचन और काय को भी रोकना चाहिए।

मूल पाठ में 'यतं' क्रियाविशेषण है। उसका अर्थ है—यतनापूर्वक। मुनि को अपना मन यतनापूर्वक रोकना चाहिए। मनोनिरोध की अनेक परिपाटियां प्रचलित हैं। उनमें से जिस प्रणाली का पहले कथन किया जा चुका है, उसी का अवलम्बन करके, अप्रमत्त भाव से मन को रोकना चाहिए।

मानसिक पाप यद्यपि बाहर दिखाई नहीं देता, फिर भी वह अत्यन्त भयंकर होता है। तण्डुल नामक मत्स्य मानसिक पाप के प्रभाव से सातवें नरक में जाता है। मानसिक पाप घोर दुर्गति का कारण है। वह वचन और काय सम्बन्धी पापों का जनक है। मन में जब तक पाप विद्यमान रहता है, तब तक कोई भी कायिक अनुष्ठान यथार्थ फलदाता नहीं होता। अतएव सर्वप्रथम मानसिक शुद्धता की ओर ध्यान देना आवश्यक है। इसी उद्देश्य से सूत्रकार ने संरंभ आदि में प्रवृत्त होने वाले मन को रोकने का उपदेश दिया है।

मूलः—वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चाइ त्ति वुच्चइ ॥५॥

छायाः—वस्त्रगन्धमलंकारं, स्त्रियः शयनानि च।
अच्छंदा ये न भुञ्जति, न ते त्यागिन इत्युच्यन्ते ॥ ५ ॥

शब्दार्थः—जो पराधीन होकर वस्त्र, गंध, अलंकार, स्त्री, और शय्या आदि का भोग नहीं करते हैं, वे त्यागी नहीं कहलाते।

भाष्यः—शास्त्रकार ने यहां मन की प्रधानता प्रतिपादन की है। मन का त्याग ही सच्चा त्याग है। जिसका मन त्यागी नहीं बना वह सच्चा त्यागी नहीं हो सकता।

संसार में ऐसे बहुत से लोग हैं जिन्हें वस्त्र, सुगंध, अलंकार, स्त्री और शय्या आदि पदार्थ प्राप्त नहीं हैं, किन्तु उनका मन इन पदार्थों को प्राप्त करने के लिए लालायित रहता है। पहले पुण्य कर्म का उपार्जन न करने के कारण भोगोपभोग की सामग्री जिन्हें नहीं मिली है, वे मन की लालसा पर अगर विजय प्राप्त नहीं कर

मके और केवल लोक-दिखावे के लिए अथवा प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए अपने आपको त्यागी कहते हैं, तो समझना चाहिए कि वे जगत को ठगना चाहते हैं।

इसी प्रकार अगर किसी रोग-विशेष में रुग्ण पुरुष को वैद्य भोजन देने का निषेध कर देता है, पर रोगी भोजन के लिए भीतर से व्याकुल रहता है तो वह भोजन का त्यागी नहीं कहला सकता।

तात्पर्य है कि राजा या समाज या जाति आदि के कठोर नियम के कारण बिना अपनी इच्छा के, भोगोपभोग न भोगना त्याग नहीं है। जन्मजात नपुंसक स्त्री का भोग नहीं कर सकता, फिर भी शास्त्र में नपुंसक की काम-वासना, स्त्री और पुरुष की काम-वासना से भी अधिक उग्र बतलाई गई है। जिसमें इतनी तीव्र काम-वासना भरी है उसे ब्रह्मचारी का उच्च पद नहीं प्राप्त हो सकता। बिना इच्छा के, पराधीनता के कारण भोगोपभोग न भोगना जीवित त्याग नहीं है।

मूल में 'इत्थीओ' पद उपलक्षण है। उससे पुरुष का भी ग्रहण होता है। अर्थात् केवल पराधीनता के ही कारण स्त्री का भोग न करना जैसे पुरुष का सच्चा त्याग नहीं है, उसी प्रकार पराधीनता के कारण अगर कोई स्त्री, पुरुष का भोग नहीं करती तो वह स्त्री का सच्चा त्याग नहीं है।

शंका—जिसके पास रहने को अपना मकान नहीं है, पहनने को आभूषण नहीं है, स्त्री आदि अन्य सुख सामग्री नहीं है, वह क्या कभी त्यागी नहीं हो सकता ?

समाधान—यहां दीन-दरिद्र के त्याग का निषेध नहीं किया गया है, किन्तु यह बतलाया गया है कि भोगोपभोग चाहे विद्यमान हों चाहे विद्यमान न हों, पर उनकी ओर से जिनका मन विमुख नहीं हुआ है, वे त्यागी नहीं कहे जा सकते। अगर कोई चक्रवर्त्ती षट खण्ड का साम्राज्य त्यागकर दीक्षित हो जाय और दीक्षित होने के पश्चात् उसे तुच्छ से तुच्छ विषय भोग की लालसा उत्पन्न हो जाय तो वह त्यागी नहीं कहला सकता। इससे विपरीत एक दरिद्र पुरुष, जिसके पास सुखसामग्री नहीं है, अगर दीक्षा लेकर सुख-सामग्री की लालसा त्याग देता है तो वह सच्चा त्यागी है।

पराधीनता, लाचारी या बलात्कार में भाव त्याग नहीं है। लोक-लाज, प्रतिष्ठा-भंग का भय, राजकीय शासन या सामाजिक बंधन इन सब बाह्य कारणों से जो त्याग ऊपर से लदता है, उसमें वास्तविकता नहीं होती। वास्तविक त्याग मानसिक विरक्ति से उत्पन्न होता है। वह अन्तरात्मा में उद्भूत होता है, ऊपर से नहीं ठूंसा जाता। अतएव ऊपर से ठूंसा हुआ त्याग एक प्रकार का बलात्कार है, सच्चा त्याग नहीं।

सच्चा त्याग किसे कहना चाहिए, यह अगली गाथा में सूत्रकार स्वयं प्रकट करते हैं।

मूलः–जे य कंते पिये भोए, लद्धे वि पिट्ठी कुव्वइ ।
साहीणे चयइ भोए, सेहु चाइत्ति वुच्चइ ॥ ६ ॥

छायाः– यश्च कान्तान् प्रियान् भोगान्, लब्धानपि पृष्ठीकुरुते ।
स्वाधीनस्त्यजति भोगान्, स हि त्यागीत्युच्यते ॥ ६ ॥

शब्दार्थः—जो पुरुष स्वाधीन होकर, प्राप्त हुए कान्त और प्रिय भोगों से पीठ फेरता है, वह सच्चा त्यागी कहलाता है ।

भाष्यः—पूर्व गाथा में यह बतलाया गया था कि त्यागी कौन नहीं कहलाता ? यहां यह बतलाया गया है कि त्यागी कौन कहला सकता है ! पूर्व गाथा में व्यतिरेक रूप से जो विषय प्रतिपादन किया गया है, वही विषय यहां अन्वय रूप से निरूपण किया गया है ।

यहां आशंका की जा सकती है कि व्यतिरेक कथन से ही अन्वय कथन का ज्ञान हो जाता है, तो फिर व्यतिरेक और अन्वय दोनों प्रकार से विषय का प्रतिपादन करना पुनरुक्ति क्यों न समझा जाना चाहिए ।

इसका समाधान यह है कि यद्यपि व्यतिरेक और अन्वय में से किसी एक के कथन से ही तात्पर्य सिद्ध हो जाता है तथापि यहां दोनों प्रकार से कथन करने का कारण शास्त्रकार की दयालुता है । परम दयालु शास्त्रकार तीक्ष्ण बुद्धि, मध्यम बुद्धि और मंद बुद्धि वाले—सभी शिष्यों के लाभ के लिए शास्त्र-निर्माण में प्रवृत्त होते हैं । अतएव जिस प्रकार अधिक लाभ हो उसी प्रकार की रचना करते हैं । शिष्यों को वस्तु स्वरूप का विशद रूप से प्रतिपादन करने में पुनरुक्ति दोष नहीं माना जा सकता । अगर यहां केवल अन्वय या व्यतिरेक रूप में ही कथन किया जाता तो मंद-बुद्धि शिष्यों को स्पष्ट वस्तुस्वरूप समझ में न आता । आचार्य शीलांक ने कहा भी है:—'अन्वयव्यतिरेकाभ्यामुक्तोऽर्थः सूक्तो भवति ।' अर्थात् अन्वय और व्यतिरेक—दोनों द्वारा कहा हुआ अर्थ सम्यक् प्रकार कहा हुआ कहलाता है । अतएव उसे अधिक स्पष्ट करने के लिए ही शास्त्रकार ने निषेधात्मक और विधि रूप कथन किया है ।

संसार के जो भोगोपभोग सर्वसाधारण के लिए प्रिय हैं, और भोगों में अनुरक्त पुरुष जिनकी निरन्तर कामना करते रहते हैं, उन्हें पाकर के भी जो महाभाग उनका त्याग कर देता है, और वह त्याग भी स्वेच्छा से करता है, न कि किसी प्रकार की लाचारी से, वही सच्चा त्यागी कहलाता है ।

तात्पर्य यह है कि जिसे वस्त्र, गंध, अलंकार और स्त्री आदि सुखसामग्री पूर्वोपार्जित पुण्य कर्म के उदय से प्राप्त है, और जो उसका उपभोग करने में स्वाधीन है, जिस पर किसी प्रकार का अंकुश नहीं है, किसी की जबर्दस्ती नहीं है, वह अगर अपनी आन्तरिक निवृत्तिपरक मनोवृत्ति से प्रेरित होकर उस सामग्री को त्याग दे तो उसे सच्चा त्यागी समझना चाहिए ।

त्यागी बनने में मुख्य बात मनोवृत्ति है। जिसका मन भोगों से विमुख हो गया हो, जिसे भोग भुजंग के समान और इन्द्रियों के विषय विष के समान जान पड़ने लगे हैं वही सच्चा त्यागी है। अतएव सच्ची त्यागवृत्ति लाने के लिए मन को त्यागपरायण बनाना चाहिए। ऊपर से साधु का वेष धारण कर लिया और मन यदि भोगों में निमग्न बना रहा तो उस त्याग का कुछ भी मूल्य नहीं है। इसके विपरीत भौतिक दृष्टि से भोगोपभोग प्राप्त न होने पर भी जो मन से उनकी कामना नहीं करता वह सच्चा त्यागी है।

वास्तव में त्यागधर्म स्वाधीनता से उत्पन्न होता है। धर्म में किसी भी प्रकार के बलात्कार को अवकाश नहीं है। जहां बलात्कार है वहां धर्म नहीं और जहां धर्म है वहां बलात्कार नहीं है। ऐसा समझकर स्वेच्छापूर्वक त्याग करके आत्मकल्याण करना चाहिए।

पूर्ववर्त्ती गाथा में 'अच्छंदा' पद बहुवचनान्त है और प्रकृत गाथा में 'साहीणे' पद एकवचनान्त है। एकवचन और बहु वचन का यह सूक्ष्म भेद शास्त्रकार की सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है। इससे यह आशय निकलता है कि पराधीन होकर भोग न भोगने वाले तो संसार में बहुतेरे हैं, परन्तु स्वाधीन होकर प्राप्त भोगों का त्याग करने वाला कोई विरला ही होता है। यही कारण है कि पहले बहु-वचन का और बाद में एक वचन का प्रयोग किया गया है।

मूलः—समाइ पेहाए परिव्वयंतो, सिया मणो निस्सरई बहिद्धा।
न सा महं नो वि अहं वि तीसे, इच्चेव ताओ विणएज्ज रागं

छाया—समया प्रेक्षया परिव्रजतः, स्यान्मनो निःसरति बहिः।
'न सा मम नोऽप्यहमपि तस्याः इत्येव तस्या विनयेत् रागम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थः—सम भावना पूर्वक विचरते हुए मुनि का मन कदाचित संयम से बाहर चला जाय तो 'न वह मेरी है और न मैं उसका ही हूँ' इस प्रकार विचार करके उससे मोह हटा लेवे।

भाष्यः—सच्चे त्यागी का स्वरूप बतलाकर यहां यह बताया गया है कि स्वाधीनतापूर्वक भोगों का त्याग करने के पश्चात् भी कदाचित् मन भोग की ओर चला जाय तो त्यागी का क्या कर्त्तव्य है ?

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मन अत्यन्त चपल है। वह वायु की गति से भी अधिक तीव्र गतिशील है। वह इधर-उधर भटकता रहता है। त्यागी पुरुष के लिए यद्यपि पहले भोगे हुए भोगोपभोग का स्मरण करना वर्जित है, क्योंकि स्मरण करने से भी भोगों के प्रति अभिलाषा उत्पन्न होती है। अतएव मुनि अपने भोगमय सांसारिक जीवन को विस्मृति के अनन्त सागर में डुबा देता है और संयममय वर्त्तमान जीवन को ही सावधानी के साथ यापन करता हुआ मुक्ति के स्वरूप का

चिन्तन करता है। फिर भी मुनि जब तक साधक अवस्था में है, जब तक उसकी साधना पूर्णता पर नहीं पहुँचती है, वह अपनी साधना को समाप्त करके सिद्ध नहीं बन पाया है, तब तक उसे अनेक प्रकार की मानसिक चढ़ाव-उतार की अवस्थाओं का अनुभव करना पड़ता है।

विषयभोग अनादिकाल से जीव के परिचित हैं। अतएव उन्हें सहसा भुला देना सहल नहीं है। जिस गाय को, अपने झुंड में से निकलकर धान्य के खेतों में भाग जाने की टेव पड़ जाती है, वह गोपालक के अनेक यत्न करने पर भी और गले में ठेंगुर डालने पर भी अवसर देखकर खेत में भाग ही जाती है! वह खेत गाय का अल्पकाल से ही परिचित होता है, और गाय का स्थूल होने के कारण निरीक्षण करना भी सहज होता है, फिर भी गोपालक कभी न कभी धोखा खा जाता है और गाय अपने झुंड में से बाहर निकल कर खेत में भाग जाती है। जब गाय को रोकना कठिन है तो गाय की अपेक्षा अत्यन्त ही सूक्ष्म अमूर्त्त और चपल मन को रोकने में कितनी अधिक कठिनाई होती है, यह अनुमान लगाया जा सकता है। स्वाध्याय और ध्यान आदि अनुष्ठान मन को इधर-उधर भागने से रोकने के लिए ठेंगुर के समान हैं मगर अनादि कालीन अभ्यास के कारण मन किसी समय रुकता नहीं है और संयम की मर्यादा से बाहर चला जाता है। शास्त्र-कार ने, ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर मुनि को क्या करना चाहिए, यह यहां बत-लाया है।

मन यदि किसी स्त्री की ओर आकृष्ट हो जाय तो सोचना चाहिए-'न मैं उसका हूँ और न वह मेरी है।' इस प्रकार की अन्यत्व भावना हृदय में प्रबल करके उत्पन्न हुए राग भाव को हटा देना चाहिए। वास्तव में संसार में कोई किसी का नहीं है। किसी का किसी दूसरे पदार्थ के साथ कुछ भी संबंध नहीं है। आत्मा जब शरीर से ही भिन्न है तो अन्य पदार्थों से अभिन्न कैसे हो सकता है? इस सत्य की परीक्षा के लिए मृत्युकाल का विचार करना चाहिए। मृत्युकाल उपस्थित होने पर संसार का समस्त वैभव यहीं ज्यों का त्यों पड़ा रह जाता है और अकेला आत्मा परलोक के पथ पर प्रयाण करता है। उस समय स्त्री, पुत्र या वैभव साथ नहीं देता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वास्तव में आत्मा का किसी भी दूसरे पदार्थ के साथ कुछ भी नाता-रिश्ता नहीं है। इस प्रकार अन्यत्व भावना का चिन्तन करके मन को पुनः संयम में स्थिर करना चाहिए।

'सा' सर्वनाम शब्द का प्रयोग करके शास्त्रकार ने यद्यपि स्त्री की मुख्यता प्रति-पादित की है, फिर भी 'स्त्री' शब्द का प्रयोग न करके सर्वनाम का प्रयोग इसलिए किया प्रतीत होता है कि स्त्री के समान संसार के किसी पदार्थ की ओर प्रवृत्त होने वाले मन को इसी भावना से निवृत्त करना चाहिए।

व्याकरण शास्त्र के विधान से सामान्य में नपुंसक लिंग का प्रयोग होता है। अगर सामान्य रूप से सब पदार्थों से मन निवृत्त करने का उपाय यहां बताया गया

है तो नपुंसक लिंग का प्रयोग न करके स्त्रीलिंग का प्रयोग क्यों किया गया है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि संसार में सब से अधिक प्रबल-आकर्षण पुरुष के लिए 'स्त्री' है। उससे चित्तवृत्ति का हटाना बहुत कठिन है। जो योगी स्त्री के आकर्षण से परे हो जाते हैं, उन्हें अन्य पदार्थ अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकते। कहा भी है—

इत्थीओ जे ण सेवंति, आइमोक्खा हु ते जणा।
ते जणा बंधणुम्मुक्का, नावकंखंति जीवियं॥

—सूयगडांग, १५-६

अर्थात् जो पुरुष, स्त्री का सेवन नहीं करते हैं वे आदि-मोक्ष हैं—सब से पहले मुक्ति प्राप्त करते हैं। ऐसे पुरुष बंधन से मुक्त हैं और असंयम रूप जीवन की आकांक्षा से रहित हैं।

इस प्रकार स्त्रीसेवन के त्याग की महिमा जानकर साधु को स्त्रियों के परिचय से दूर ही रहना चाहिए। शास्त्रकार कहते हैं—

नो तासु चक्खु संधेज्जा, नो वि य साहसं समभिजाणे।
णो सहियं पि विहरेज्जा, एवमप्पा सुरक्खिओ होई॥

अर्थात्—साधु स्त्रियों की ओर अपनी दृष्टि न लगावे और न कभी उनके साथ कुकार्य करने का साहस ही करे। साधु को स्त्रियों के साथ विहार भी नहीं करना चाहिए। इस प्रकार व्यवहार करने से साधु के आत्मा की रक्षा होती है।

उल्लिखित प्रकार से साधु अपने उत्तम संयम की रक्षा में सदा दत्तचित्त रहे। कदाचित् मन कभी संयम की सीमा का उल्लंघन करे तो पूर्वोक्त प्रकार से उसे पुनः संयम में स्थापित करे। इसके लिए असंयम से होने वाली दुर्गति का भी विचार करना चाहिए, जिससे चित्त में स्थिरता आ जावे। यथा—

अवि हत्थपाय छेदाए, अदुवा वद्धमंस उक्कंते।
अवि तेयसाभितावणाणि, तच्छियखारसिंचणाइं च॥

अर्थात्—जो लोग परस्त्री सेवन करते हैं उनके हाथ-पैर काट लिये जाते हैं, अथवा उनका चमड़ा और और मांस काट लिया जाता है, वे अग्नि के द्वारा तपाये जाते हैं और उनके शरीर को छील कर उस पर नमक आदि क्षार छिड़का जाता है।

इस प्रकार के अनर्थ तो वर्तमान भव में ही परस्त्री-संसर्ग से होते हैं, परन्तु परलोक में इनसे भी अधिक भयंकर और प्रगाढ़ दुःख का पात्र बनना पड़ता है।

इत्यादि विचार करके अस्वस्थ और असंयत मनको स्वस्थ बनाना चाहिए। जो महापुरुष अपने मन की गति का अप्रमत्त भाव से निरीक्षण करते रहते हैं, वही शीघ्र मन को वश में कर पाते हैं। अतएव मानसिक व्यापार का सावधानी के साथ निरीक्षण करते हुए उसे सन्मार्ग की ओर ले जाना ही मुमुक्षु पुरुषों के लिए श्रेयस्कर है।

मूलः-पाणिवहमुसावाया अदत्तमेहुण परिग्गहा विरओ ।
राईभोयणविरओ, जीवो होइ अणासवो ॥ ८ ॥

छाया:—प्राणिवधमृषावाद-अदत्तमैथुनपरिग्रहेभ्यो विरतः ।
रात्रिभोजनविरतः, जीवो भवति अनास्रवः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ:—हिंसा, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह से विरत तथा रात्रि-भोजन से विरत जीव आस्रव से रहित हो जाता है।

भाष्य:—गाथा का भाव स्पष्ट है। हिंसा आदि का स्वरूप पहले बतलाया जा चुका है और रात्रिभोजन के त्याग का भी निरूपण किया जा चुका है।

जीव प्रतिक्षण कर्मों को ग्रहण करता रहता है, अनादिकाल से कर्मों के ग्रहण की यह परम्परा अविरत रूप से चली आ रही है। इसका अन्त किस प्रकार हो सकता है, यह यहाँ बतलाया गया है। हिंसा आदि पापों का त्याग करने वाला जीव आस्रव अर्थात् कर्मों के आदान से बच जाता है।

शंका—शास्त्र में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को आस्रव का कारण बतलाया गया है। अतएव इनके त्याग से ही आस्रव का नाश होना चाहिए। इसके बदले यहाँ हिंसा आदि के त्याग से अनास्रव अवस्था का प्रतिपादन क्यों किया गया है ?

समाधान—हिंसा आदि के त्याग में ही मिथ्यात्व आदि का त्याग गर्भित हो जाता है, अतएव दोनों में विरोध नहीं समझना चाहिए। मिथ्यात्व का त्याग हुए बिना हिंसा आदि पापों का त्याग होना संभव नहीं है, अतएव मिथ्यात्व का त्याग उनके त्याग में स्वतः सिद्ध है। हिंसा आदि अविरति रूप ही हैं अतएव उनके त्याग में अविरति का त्याग भी सिद्ध है। प्रमाद और कषाय भी हिंसा रूप हैं—उनसे स्व-हिंसा और परहिंसा होती है अतएव हिंसा आदि के पूर्ण त्याग में उनका त्याग भी समाविष्ट हो जाता है। जब तक योग की प्रवृत्ति है तब तक चारित्र की पूर्णता नहीं होती और चारित्र की परिपूर्णता होने पर योग का सद्भाव नहीं रहता और केवल मात्र योग से साम्परायिक आस्रव भी नहीं होता अतएव योग का भी यहीं यथायोग्य अन्तर्भाव करना चाहिए। इस प्रकार दोनों कथनों में शब्दभेद के अतिरिक्त वस्तु-भेद नहीं है।

इस तरह हिंसा आदि पापों का त्याग करने पर जीव नवीन कर्मों को ग्रहण करना बन्द कर देता है।

मूलः-जहा महातलायस्स, सन्निरुद्धे जलागमे ।
उस्सिंचणाए तवणाए, कमेणं सोसणा भवे ॥ ९ ॥

छाया: -यथा महातडागस्य, सन्निरुद्धे जलागमे ।
उत्सिञ्चनेन तपनेन, क्रमेण शोषणा भवेत् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ:— जैसे नवीन जल के आगमन का मार्ग रोक देने पर और पहले के जल को उलीच देने से और सूर्य का ताप लगने पर विशाल तालाब का भी शोषण हो जाता है ।

भाष्य:—गाथा का भाव स्पष्ट है । आगे कहे जाने वाले विषय को सुगम बनाने के लिए यहां दृष्टान्त का प्रयोग किया है ।

तालाब चाहे कितना ही विशाल क्यों न हो पर वह भी सुखाया जा सकता है । उसे सुखाने के लिये दो उपाय हैं प्रथम तो यह कि उसमें जिन स्रोतों से—मार्गों से पानी आता हो उन्हें बन्द करके नवीन पानी का आना रोक दिया जाय । दूसरे, पहले के विद्यमान जल को उलीच डाला जाय अथवा सूर्य के तीव्र ताप से वह सूख जाय । ऐसा करने से बड़े से बड़ा तालाब भी सूख जाता है ।

इसी प्रकार जब जीव नवीन कर्मों के आगमन के द्वार—आस्रव को बन्द कर देता है तो नवीन कर्मों का आना रुक जाता है । इस उपाय के पश्चात् क्या करना चाहिये, यह अगली गाथा में स्पष्ट किया गया है ।

मूल:-एवं तु संजयस्सावि, पावकम्मनिरासवे ।
भवकोडिसंचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ ॥१०॥

छाया:—एवं तु संयतस्यापि पापकर्मनिरास्रवे ।
भवकोटिसञ्चितं कर्म, तपसा निर्जीर्यते ॥ १० ॥

शब्दार्थ:—इसी प्रकार पाप कर्मों का आस्रव रुक जाने पर संयममय जीवन व्यतीत करने वाले के करोड़ों भवों के पूर्वोपार्जित कर्म तप द्वारा खिर जाते हैं ।

भाष्य:—पूर्व गाथा में दृष्टान्त का कथन करके यहाँ उसका दार्ष्टान्तिक बताया गया है ।

जीव तालाब के समान है । जल कर्म के समान है । जल के आगमन का मार्ग आस्रव के समान है । जल के आगमन की रुकावट संयम के समान है । उलीचना और सूर्य का ताप, तप के समान है । तालाब के जल का सूख जाना कर्मों के क्षय के समान है ।

तात्पर्य यह है कि जैसे नवीन जल का आगमन रुक जाने पर और पूर्वसंचित जल के सूर्य की गर्मी द्वारा सूख जाने पर तालाब जल-हीन हो जाता है, इसी प्रकार नवीन कर्मों के आगमन रूप आस्रव का निरोध कर देने पर और तप के द्वारा पूर्व-संचित कर्मों की निर्जरा कर देने पर जीव कर्मों से सर्वथा रहित हो जाता है ।

यहां दो उपायों के बताने से यह स्पष्ट है कि इनमें से एक उपाय का अव-लम्बन करने पर कर्मों का सर्वथा नाश होना संभव नहीं है । जिस तालाब में नवीन

नवीन जल आता रहता हो उसमें से पुराने जल को उलीचने पर भी तालाब खाली नहीं हो सकता। और कल्पना कीजिए, नवीन जल का आगमन रोक दिया गया, पर पुराना जल न सूखा, तब भी तालाब सर्वथा निर्जल न होगा। इसी प्रकार जब तक आस्रव का प्रवाह चालू रहता है, तब तक आत्मा सर्वथा निष्कर्म नहीं हो सकता और जब तक पूर्व संचित कर्मों को तप के द्वारा भस्म न किया जाए तब तक भी कर्महीन अवस्था उत्पन्न नहीं हो सकती। अतएव कर्मों का सर्वथा क्षय करने के लिए संवर और निर्जरा-दोनों ही अपेक्षित हैं। इन दोनों का परम प्रकर्ष होने पर मोक्ष-निष्कर्म दशा की प्राप्ति होती है।

तप निर्जरा का साधन है। जैसे ईंधन अग्नि के द्वारा भस्म कर दिया जाता है, उसी प्रकार कर्मों का ध्वंस करने के लिए तप अग्नि के समान है। करोड़ों भवों में संचित कर्म तपस्या के द्वारा नष्ट हो जाते हैं। यही कारण है कि श्रमणोत्तम भगवान् महावीर ने तप का स्वयं आदर किया और उसकी महिमा प्रकट की है। शास्त्र में कहा है:—

धुणिया कुलियं व लेववं, किसए देहमणसणाइहिं।
अविहिंसामेव पव्वए, अणुधम्मो मुणिणा पवेइओ॥
सउणी जह पंसुगुंडिया, विहुणिय धंसयई सियं रयं।
एवं दविओवहाणवं, कम्मं खवइ तवस्सि माहणे॥

—सूयगडांग, अ० २-उ० १, गा० १४-१५

अर्थात्—जैसे लेप वाली दीवाल, लेप हटा कर कृश बना दी जाती है इसी प्रकार अनशन आदि तप के द्वारा शरीर को कृश कर डालना चाहिए और अहिंसा धर्म का पालन करना चाहिए। ज्ञात मुनि ने ऐसा उपदेश दिया है।

जैसे पक्षिणी अपने शरीर में लगी हुई धूल, शरीर को हिलाकर झाड़ देती है, इसी तरह अनशन आदि तप करने वाला पुरुष कर्मों का क्षय कर देता है।

यहां पर तप की महत्ता बतलाने के साथ हिंसा आदि रूप आस्रव के त्याग करने का भी विधान किया गया है।

शंका—यदि तपस्या से कर्मों का क्षय होता है तो अज्ञान पूर्वक तप करने वाले बाल-तपस्वियों के कर्मों का भी क्षय होना चाहिए। क्या तप के द्वारा वे भी निष्कर्म अवस्था प्राप्त करते हैं?

समाधान—अज्ञानपूर्वक किया जाने वाला तप कर्मक्षय का कारण नहीं होता। ऐसा तप संसार-वृद्धि का ही कारण होता है। कहा भी है: —

जे य बुद्धा महाभागा, वीरा सम्मत्तदंसिणो।
सुद्धं तेसिं परक्कंतं, अफलं होइ सव्वसो॥

अर्थात् जो सम्यग्ज्ञानी, महाभाग, वीर एवं सम्यग्दृष्टि हैं उन्हीं का तप आदि अनुष्ठान शुद्ध है और उसीसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। उन महापुरुषों का तप सांसा-

रिक फल के लिए नहीं होता।

इतना ही नहीं, शास्त्रकार तपस्या की शुद्धि के विषय में और भी कहते हैं:--

तेसिं पि तवो ण सुद्धो, निक्खंता महाकुला!
जन्ने वन्ने वियाणंति, न सिलोगं पवेज्जए॥

अर्थात्:--जो लोग बड़े कुल में उत्पन्न होकर अपने तप की प्रशंसा करते हैं अथवा तप के फल-स्वरूप मान-बड़ाई की अभिलाषा करते हैं उनका भी तप अशुद्ध है। साधु को अपना तप गुप्त रखना चाहिए और अपने तप की आप प्रशंसा नहीं करनी चाहिए।

तात्पर्य यह है कि तप का प्रयोजन कर्मों की निर्जरा करना है। अतएव निर्जरा के प्रयोजन से ही जो तप किया जाता है, वही उत्तम होता है। पूजा-प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि और कीर्त्ति की कामना से किया हुआ तप अशुद्ध है और उससे आत्मशुद्धि नहीं होती। अतः लोकैषणा का परित्याग करके यथाशक्ति शुद्ध भाव से तप करना मुमुक्षु जीव का कर्त्तव्य है।

मूलः-सो तवो दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भिंतरो तहा॥
बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भिंतरो तवो॥ ११ ॥

छायाः—तत्तपो द्विविधमुक्तं, बाह्यमाभ्यन्तरं तथा।
बाह्यं षड्विधमुक्तं, एवमाभ्यन्तरं तपः॥ ११ ॥

शब्दार्थः--वह तप सर्वज्ञ भगवान् के द्वारा दो प्रकार का कहा गया है--(१) बाह्य तप और (२) आभ्यन्तर तप। बाह्य तप छह प्रकार का कहा गया है और आभ्यन्तर तप भी छह प्रकार का है।

भाष्यः--तप की महत्ता प्रदर्शित करके, उसकी विशेष विवेचना करने के लिए शास्त्रकार ने यहां तप के दो भेद बताये हैं। बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से तप दो प्रकार का है। दोनों प्रकारों के भी अवान्तर प्रकार छह-छह होते हैं।

गाथा में 'सो' पद पूर्वगाथा में वर्णित तप का परामर्श करने के लिए है। अर्थात् जिस तप में करोड़ों भवों में उपार्जित कर्मों को नष्ट कर देने की शक्ति विद्यमान है, वह तप दो प्रकार का है।

जो तप बाह्य पदार्थों की अपेक्षा रखते हैं और जो पर को प्रत्यक्ष हो सकते हैं वे बाह्य तप कहलाते हैं। मुख्य रूप से मन को संयत करने के लिए जिनका उपयोग होता है वह आभ्यन्तर तप कहलाते हैं। यह बाह्य और आभ्यन्तर तप में भिन्नता है।

अवान्तर भेदों के नाम आगे स्वयं शास्त्रकार बतलाते हैं।

मूलः-अणसणमूणोयरिया, भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो संलीणया, य बज्झो तवो होई॥ १२ ॥

छाया:—अनशनमूनोदरिका भिक्षाचर्या च रसपरित्यागः ।
कायक्लेशः संलीनता च, बाह्यं तपो भवति ।। १६ ।।

शब्दार्थ:—अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचर्या, रसपरित्याग, कायक्लेश और संलीनता, यह छह बाह्य तप हैं ।

भाष्य:—पूर्वगाथा में सामान्य रूप से विभाग बतला कर यहां बाह्य तप के नाम बतलाये गये हैं। बाह्य तप के छह भेद इस प्रकार हैं (१) अनशन (२) ऊनोदरी (३) भिक्षाचर्या (४) रसपरित्याग (५) कायक्लेश और (६) संलीनता ।

अनशन आदि तपों का स्वरूप इस प्रकार है:—

(१) अनशन—संयम की विशेष सिद्धि के लिए, रागभाव का नाश करने के लिए, कर्मों की निर्जरा के लिए, ध्यान की साधनाओं के लिए तथा आगम की प्राप्ति के लिए अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य—इन चारों प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन तप कहलाता है ।

अनशन तप के दो भेद हैं—(१) इत्वरिक तप और (२) यावत्कथिक अनशन तप । अमुक काल की मर्यादा के साथ किया जाने वाला अनशन इत्वरिक अनशन कहलाता है। काल की मर्यादा न करके जीवन पर्यन्त के लिए किया जाने वाला अनशन यावत्कथित अनशन कहलाता है ।

इत्वरिक अनशन तप के भी छह भेद हैं—(१) श्रेणीतप (२) प्रतरतप (३) घनतप (४) वर्गतप (५) वर्गावर्गतप और (६) प्रकीर्णतप ।

(क) श्रेणी तप—चतुर्थ भक्त (उपवास), षष्ठ भक्त (दो उपवास—बेला), अष्ट भक्त (तीन उपवास—तेला), आदि के क्रम से बढ़ते-बढ़ते पक्षोपवास, मासोपवास, द्विमासोपवास आदि करते-षट्मासोपवास तक यथाशक्ति करना, यह श्रेणी तप कहलाता है ।

(ख) प्रतरतप—सोलह खानों का चौकोर यन्त्र बनाया जाय और उसके प्रत्येक खाने में अंक स्थापित किये जाएँ । बाईं तरफ से दाहिनी तरफ और ऊपर नीचे के चार खानों में क्रमशः एक, दो, तीन और चार का अङ्क स्थापित करना चाहिए। इन अंकों के क्रम से, जहां जितना अंक हो उतने ही उपवास करना प्रतर तप है । यन्त्र का स्वरूप इस प्रकार है:—

प्रतर तप

१	२	३	४
२	३	४	१
३	४	१	२
४	१	२	३

अर्थात्—एक, दो, तीन, चार, उपवास के बाद दो, तीन चार और एक, इस प्रकार अंकों के अनुसार उपवास करना प्रतर तप है।

(ग) घन तप—उल्लिखित यन्त्र के समान ही ८ x ८ = ६४ खानों का यन्त्र बना कर और उसमें यथाक्रम से अङ्क स्थापित करके उन अङ्कों के अनुसार तप करना घन तप है।

(घ) वर्ग तप—पूर्वोक्त यन्त्र के समान ही ६४ x ६४ = ४०९६ खानों में अंकों, की स्थापना करके उन अंकों के अनुसार अनशन करना वर्ग तप कहलाता है।

(ङ) वर्गावर्ग तप—पूर्वोक्त यन्त्र के समान ही ४०९६ x ४०९६ = १६७७७२१६ खानों के यन्त्र में यथाक्रम अङ्क स्थापन करके उन्हीं अङ्कों के अनुसार तप करना वर्गावर्ग तप है।

(च) प्रकीर्ण तप—रत्नावली, कनकावली, मुक्तावली, एकावली, बृहत्सिंह-क्रीड़ा, लघुसिंह क्रीड़ा, गुणरत्नसंवत्सर, वज्रमध्यप्रतिमा, सर्वतोभद्र, महाभद्र, भद्र प्रतिमा, आयंबिल, वर्द्धमान आदि नाना प्रकार के फुटकल तप करना प्रकीर्णक तप है।

इन तपों का स्वरूप कोष्ठकों से समझने में सुगमता होगी अतएव यहाँ कोष्ठक दिये जाते हैं:—

रत्नावलि-तप ※ कनकावलि-तप

रत्नावलि-तप

१ २ ३

२ २ २ / २ ※ २ / २ २ २

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६

रत्नावलि-तप की एक लड़ में ३८४ तप दिन, ८८ पारणा होते हैं। १५ मास और २२ दिन लगते हैं। पूरे तप में ५ वर्ष २ मास और २८ दिन लगते हैं।

१ २ ३

२ २ २ / २ ※ २ / २ २ २

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६

।२।

२ २ २ २ / २ २ २ २ २ / २ २ २ २ २ २ / २ २ २ २ २ २ / २ २ २ २ २ / २ २ २ २

।२।

कनकावलि-तप

१ २ ३

३ ३ ३ / ३ ※ ३ / ३ ३ ३

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६

कनकावलि तप में कुल ५ वर्ष, ९ मास और १८ दिन लगते हैं। एक लड़ में ४३४ तपस्या के दिन और ८८ पारणा दिन हैं।

१ २ ३

३ ३ ३ / ३ ※ ३ / ३ ३ ३

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६

।३।

३ ३ ३ ३ / ३ ३ ३ ३ ३ / ३ ३ ३ ३ ३ ३ / ३ ३ ३ ३ ३ ३ / ३ ३ ३ ३ ३ / ३ ३ ३ ३

।३।

एकावली तप

१ २ ३

१ १ १
१ * १
१ १ १

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६

एकावली तप की एक लड़ में ३३४ दिन तप के और ८८ दिन पारणों के हैं। इस की एक लड़ में १४ मास और २ दिन लगते हैं। चारों लड़ों में ४ वर्ष, ८ मास लगते हैं।

१ २ ३

१ १ १
१ * १
१ १ १

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६

१
१ १
१ १ १ १
१ १ १ १ १ १
१ १ १ १ १ १
१ १ १ १ १ १
* १ १ १ १ *
१ १
१

*

मुक्तावली तप

१ २ १ ३ १ ४ १ ५ १ ६ १ ७ १ ८ १ ९ १ १० १ ११ १ १२ १ १३ १ १४ १ १५ १

मुक्तावली की एक लड़ में २८४ दिन तप के और ५९ दिन पारणा के हैं। एक लड़ में ११ महीना और दिन १३ कुल ३ वर्ष ९ महीना और २२ दिन का है।

१६

१ २ १ ३ १ ४ १ ५ १ ६ १ ७ १ ८ १ ९ १ १० १ ११ १ १२ १ १३ १ १४ १ १५ १

सर्वतोभद्र प्रतिमा तप

५	६	७	८	९	१०	११
८	९	१०	११	५	६	७
११	५	६	७	८	९	१०
७	८	९	१०	११	५	६
१०	११	५	६	७	८	९
६	७	८	९	१०	११	५
९	१०	११	५	६	७	८

तप दिन ३९२, पारणा ४९, ४४१ दिन अर्थात् १४ मास और २१ दिन का यह तप है।

लघु सर्वतोभद्र प्रतिमा तप

१	२	३	४	५
३	४	५	१	२
५	१	२	३	४
२	३	४	५	१
४	५	१	२	३

भद्र प्रतिमा तप ३ मास १० दिन का है। ७५ तप दिन और २५ पारणा दिन इसमें होते हैं।

महासर्वतोभद्र प्रतिमा तप

१	२	३	४	५	६	७
४	५	६	७	१	२	३
७	१	२	३	४	५	६
३	४	५	६	७	१	२
६	७	१	२	३	४	५
२	३	४	५	६	७	१
५	६	७	१	२	३	४

महाभद्र तप ८ मास ३ दिन का है।
तप दिन १९६, पारणा ४९।

लघुसिंह निष्क्रीडित तप

१	लघुसिंह क्रीड़ा के तप के १५४ तप दिन, ३३ पारणा। ६ मास, ७ दिन एक लड़ में लगते हैं। समस्त तप में २ वर्ष और २८ दिन होते हैं।	१
२		२
१		१
३		३
२		२
४		४
३		३
५		५
४		४
६		६
५		५
७		७
६		६
८		८
७		७
९		९

※

महासिंह निष्क्रीडित तप

१	महासिंह निष्क्रीडित तप की एक लड़ के दिन ४९७ और पारणा दिन ६१ कुल एक वर्ष, ६ मास, १८ दिन होते हैं। चारों लड़ों का समय ६ वर्ष, २ मास, १२ दिन।	१
२		२
१		१
३		३
२		२
४		४
३		३
५		५
४		४
६		६
५		५
७		७
६		६
८		८
७		७
९		९
८		८
१०		१०
९		९
११		११
१०		१०
१२		१२
११		११
१३		१३
१२		१२
१४		१४
१३		१३
१५		१५
१४		१४
१६	१५	१६

भद्रोत्तर प्रतिमा तप

५	६	७	८	९
७	८	९	५	६
९	५	६	७	८
६	७	८	९	५
८	९	५	६	७

भद्रोत्तर तप २ वर्ष, २ मास और २० दिन का है। तप दिन ७००, पारणा दिन १०० हैं।

आयम्बिल वर्द्धमान तप

१	१	२	१	३	१	४	१	५	१	६	१	७	१	८	१	९	१
१०	१	११	१	१२	१	१३	१	१४	१	१५	१	१६	१	१७	१	१८	१
१९	१	२०	१	२१	१	२२	१	२३	१	२४	१	२५	१	२६	१	२७	१
२८	१	२९	१	३०	१	३१	१	३२	१	३३	१	३४	१	३५	१	३६	१
३७	१	३८	१	३९	१	४०	१	४१	१	४२	१	४३	१	४४	१	४५	१
४६	१	४७	१	४८	१	४९	१	५०	१	५१	१	५२	१	५३	१	५४	१
५५	१	५६	१	५७	१	५८	१	५९	१	६०	१	६१	१	६२	१	६३	१
६४	१	६५	१	६६	१	६७	१	६८	१	६९	१	७०	१	७१	१	७२	१
७३	१	७४	१	७५	१	७६	१	७७	१	७८	१	७९	१	८०	१	८१	१
८२	१	८३	१	८४	१	८५	१	८६	१	८७	१	८८	१	८९	१	९०	१
९१	१	९२	१	९३	१	९४	१	९५	१	९६	१	९७	१	९८	१	९९	१
१००	१	*	*	*	*	*	*	*	*	*	*	*	*	*	*	*	*

आयम्बिल वर्द्धमान तप, चौदह वर्ष, तीन मास और बीस दिन का होता है।

गुणरत्न संवत्सर तप

तप दिन	पारणा																सर्व दिन
३२	१६	१६	२														३४
३०	१५	१५	२														३२
२८	१४	१४	२														३०
२६	१३	१३	२														२८
२४	१२	१२	२														२६
३३	११	११	११	३													३६
३०	१०	१०	१०	३													३३
२७	९	९	९	३													३०
२४	८	८	८	३													२७
२१	७	७	७	३													२४
२४	६	६	६	६	४												२८
२५	५	५	५	५	५	५											३०
२४	४	४	४	४	४	४	६										३०
२४	३	३	३	३	३	३	३	३	८								३२
२०	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	१०						३०
१६	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	३२

यावत्कथित अनशन के दो भेद हैं—(१) चारों प्रकार के आहार का जीवन पर्यन्त त्याग करना और (२) आहार के साथ शरीर का भी त्याग कर, हिलना-चलना आदि वंद करके, एक ही आसन से जीवन पर्यन्त बैठे रहना। पहले को भक्त प्रत्याख्यान अनशन कहते हैं और दूसरे का नाम पादोपगमन अनशन है।

ध्यान रखना चाहिए कि यावत्कथिक अनशन विशेष अवस्था में ही किया जाता है। प्राणहारी उपसर्ग आने पर, असाध्य रोग के कारण मृत्यु का निश्चय हो जाने पर या ऐसी ही किसी अन्य विशेष अवस्था में जीवनपर्यन्त अनशन किया जाता है।

(२) ऊनोदरी तप—आहार, उपधि और कषाय की न्यूनता करना ऊनोदरी तप है। ऊनोदरी तप दो प्रकार का है (१) द्रव्य ऊनोदरी और (२) भाव ऊनोदरी। द्रव्य ऊनोदरी के तीन भेद हैं। (१) ममत्व घटाने के लिए, ज्ञानध्यान में वृद्धि करने के लिए और सुखपूर्वक विहार करने के लिए वस्त्रों और पात्रों की कमी करना उपकरण-उनोदरी तप है।

पुरुष का पूरा आहार बत्तीस कवल का है। उनमें से सिर्फ सोलह ग्रास ग्रहण कर सन्तुष्ट रहना अर्द्ध ऊनोदरी है। आठ कवल ग्रहण करके संतोष करना पाव ऊनोदरी है। और चार कवल ग्रहण करना अध-पाव-ऊनोदरी है। बत्तीस में से एक-दो कम कवल ग्रहण करना किञ्चित् ऊनोदरी तप है।

"अट्ठकुक्कुडि-अंडगमेत्तप्पमाणे कवले आहारेमाणे अप्पाहारे, दुवालसकवलेहिं अवड्ढोमोयरिया, सोलसहिं दुभागपत्ते, चउवीसं ओमोदरिया, तीसं पमाणपत्ते, बत्तीसं कवला संपुण्णाहारे।"

अर्थात् मुर्गी के अंडे के बराबर आठ कवल का आहार करना अल्पाहार करना कहलाता है। बारह कवल का आहार करना अपार्ध ऊनोदरी है। सोलह कवल का आहार करना अर्ध ऊनोदरी है। तीस कवल का आहार प्रमाणप्राप्त आहार कहलाता है और बत्तीस कवल खाना सम्पूर्ण आहार है।

ऊनोदर तप से अनेक लाभ हैं। अल्प आहार से आलस्य अधिक नहीं आता, शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा होती है और बुद्धि का भी विकास होता है।

ऊपर के कथन से यह न समझना चाहिए यह क्रम सिर्फ साधु के लिए है। व्यावहारिक और पारमार्थिक दोषों का निराकरण करने के लिए गृहस्थों को भी इस तपस्या को अङ्गीकार करना चाहिए। अन्यान्य तपों के विषय में भी यही बात है।

क्रोध, मान, माया और लोभ को न्यून करना भाव-ऊनोदरी तप कहलाता है। आत्मसिद्धि के लिए ऊनोदरी तप की महान् उपयोगिता है। अतएव साधु और श्रावक-दोनों को यथाशक्ति इस तप का पालन करना चाहिए।

(३) भिक्षाचर्या तप—अनेक घरों से थोड़ी-थोड़ी भिक्षा लेकर उससे शरीर का निर्वाह करना भिक्षाचरी तप है। इसी को भिक्षाचर्या भी कहते हैं।

जैसे गृहस्थ द्वारा अपने उपभोग के लिए बनाये हुए उद्यान में अचानक आकर भ्रमर, थोड़ा-थोड़ा अनेक फूलों का रसग्रहण करता है। ऐसा करने से फूलों का रस समाप्त नहीं हो जाता है और भ्रमर का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार गृहस्थ ने अपने उद्देश्य से जो भोजन बनाया हो, उसमें से थोड़ा-सा आहार

साधु ले लेते हैं। उस से न तो गृहस्थ को किसी प्रकार का कष्ट होता है और न साधु ही को निराहार रहना पड़ता है।

भिक्षाचर्या तप चार प्रकार का है—(१) द्रव्य से (२) क्षेत्र से (३) काल से और (४) भाव से। द्रव्य से भिक्षाचर्या के छव्वीस प्रकार के अभिग्रह होते हैं। यथा—

(१) वर्त्तन में से निकाल कर दिये जाने वाले आहार को लेना 'उक्खित्त—चरए' कहलाता है।

(२) वर्त्तन में वस्तु डालता हुआ दाता दे, उसे निक्खित्तचरए कहते हैं।

(३) वर्त्तन में से वस्तु निकाल कर फिर डालते दे, उसे लेना उक्खित्त-निक्खित्तचरए है।

(४) वर्त्तन में डालकर फिर फिर निकालते हुए दे उसे लेना निक्खित्त-उक्खित्तचरए है।

(५) दूसरे को देते-देते बीच में दिये जाने वाले आहार को लेना वहिज्जयाण-चरए है।

(६) दूसरे से लेते-लेते मध्य में दिये जाने वाले आहार को लेना आहरिज्ज-माणचरए है।

(७) अन्य को देने के लिए जा रहा हो उसमें से लेना उवणीयचरए है।

(८) अन्य को दे देने के लिए आ रहा हो उसमें से लेना आवणीयचरए है।

(९) किसी को देने के लिए जाकर लौट रहा हो उस समय लेना उवणीय-अवणीयचरए है।

(१०) अन्य से लेकर वापस देने जाता हुआ दे, उसे ले लेना अवणीय-उव-णीयचरए है।

(११) भरे हुए हाथों से देवे, उसे लेना संसट्ठचरए है।

(१२) विना भरे (साफ-सुथरे) हाथों से दे और उसे लेना असंसट्ठ-चरए है।

(१३) जिस वस्तु से हाथ भरे हों उसी दी जाने वाली वस्तु को लेना तज्जाय-संसट्ठचरए है।

(१४) अपरिचित कुल से—अर्थात् जिस कुल वाले साधु को पहचानते न हों उससे, लेना अन्नायचरए है।

(१५) विना वोले-मौन रहकर चर्या करना (गोचरी करना) मोणचरिए है।

(१६) दिखाई देने वाली वस्तु लेना सो दिट्ठिलाभए है।

(१७) दिखाई न देने वाली वस्तु लेना अदिट्ठिलाभए है।

(१८) 'अमुक वस्तु लेंगे ?' इस प्रकार मन में संकल्प कर वही वस्तु लेना पुट्ठलाभए है।

(१६) विना पूछे ही दे, वही वस्तु लेना अपुट्ठलाभए है।

(२०) जो निन्दा करके देवे वहीं से लेना भिक्खलाभए है।

(२१) जो स्तुति करके दे, उसी के यहां से लेना अभिक्खलाभए है।

(२२) कष्टकर आहार लेना अणगिलाए है।

(२३) गृहस्थ भोजन कर रहा हो और उसी में से देवे तो यह उवणिहिय चर्या है।

(२४) परिमित सरस—अच्छा आहार लेना परिमित-पिण्डवाए है।

(२५) चौकस कर लेना शुद्धेपणिए है।

(२६) एवं वस्तु की मर्यादा करके लेना संखदत्तिचर्या है।

ऊपर द्रव्य भिक्षाचर्या के जो रूप बतलाये गये हैं, वे अभिग्रह के प्रकार हैं। मुनि अपने अन्तराय कर्म की परीक्षा के लिए नाना प्रकार के अभिग्रह करते हैं। अमुक प्रकार का योग मिलने पर ही आहार ग्रहण करना, अन्यथा नहीं, इस तरह के संकल्पों को अभिग्रह कहते हैं। अभिग्रह गृहस्थों को प्रकट नहीं होने पाता। इससे बहुत बार मुनि को निराहार रहना पड़ता है।

(२) क्षेत्र से भिक्षाचर्या के आठ भेद हैं। वे इस प्रकार हैं:—

(१) चार कोने वाले घर से आहार मिलेगा तो ग्रहण करेंगे, अन्यथा नहीं, इस प्रकार का संकल्प करना 'पेटीए' भिक्षाचर्या है।

(२) दो कोने वाले घर से भिक्षा मिलेगी तो लेंगे, अन्यथा नहीं, इस प्रकार का अभिग्रह 'अद्धपेटीए' भिक्षाचर्या है।

(३) गो मूत्र के समान वांके, एक ओर के एक, मकान से और फिर दूसरी ओर के दूसरे मकान से भिक्षा लेना 'गोमुत्ते' भिक्षाचर्या है।

(४) पतंग के उड़ने के समान प्रकीर्णक घरों से भिक्षा लेना 'पतंगीए' भिक्षाचर्या है।

(५) पहले नीचे घर से फिर ऊपर के घर से लेना अन्यथा नहीं, वह 'अब्भंतर संखावत्तो' भिक्षाचर्या है।

(६) पहले ऊपर के घर से, फिर नीचे के घर से भिक्षा लेना 'वाहिरा संखावत्तो' भिक्षाचर्या है।

(७) जाते समय ही भिक्षा लेना, आते समय नहीं उसे 'गमणे' भिक्षाचर्या कहते हैं।

(८) जाते समय भिक्षा न लेना, सिर्फ आते समय लेना 'आगमणे' भिक्षाचर्या है।

क्षेत्र भिक्षाचर्या में क्षेत्र की अपेक्षा नाना प्रकार के अभिग्रह किये जाते हैं।

(३) काल से भिक्षाचर्या के अनेक भेद हैं। प्रथम प्रहर का लाया हुवा आहार तीसरे प्रहर में खाना। प्रथम प्रहर का लाया हुआ आहार प्रथम प्रहर में खाना और प्रथम प्रहर का लाया आहार दूसरे प्रहर में खाना। इसी प्रकार घड़ी आदि की अपेक्षा अभिग्रह करना काल से भिक्षाचर्या है।

(४) भाव—भिक्षाचर्या के सभी अनेक विकल्प हैं। जैसे-अनेक भोज्य वस्तुएँ अलग-अलग लाना और सब को मिश्रित कर खाना, प्रिय एवं रुचिकर वस्तु का त्याग कर देना, गृद्धि रहित होकर आहार करना, आदि।

(४) रसपरित्याग—इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिए, जिह्वा को प्रिय, स्वादु, बलवर्द्धक वस्तुओं का त्याग करके नीरस भोज्य पदार्थ खाना रसपरित्याग तप है। इसके चौदह भेद इस प्रकार हैं:—

(१) निव्वितिए—दूध, दही, घृत, तेल, मिठाई, इन पांच विगय (विकृति-जनक) वस्तुओं का त्याग करना।

(२) पणीयरसपरिच्चाय—पौष्टिक एवं मादक द्रव्यों का तथा समस्त विषयों का त्याग करना।

(३) आयमसित्थभोग—ओसावन में के ही दाने खाना।

(४) अरस-आहार—मसालों से रहित आहार लेना।

(५) विरस-आहार—पुराना धान पका (सीझा-असीझा) लेना।

(६) अंत-आहार—चना, उड़द आदि के छिलके लेना।

(७) पंत-आहार- ठंडा, वासी आहार लेना।

(८) लुक्ख-आहार—रूखा आहार लेना।

(९) तुच्छ-आहार—जली या अधजली निस्सल खुरचन आदि लेना।

(१०-१४) अरस, विरस, अन्त, प्रान्त और रूक्ष आहार से संयम का निर्वाह करना।

(५) कायक्लेशतप—स्वेच्छापूर्वक धर्मवृद्धि के लिए तथा कर्मों की विशिष्ट निर्जरा करने के लिए काय को कष्ट देना कायक्लेश तप कहलाता है। इसके भी अनेक भेद हैं।

मुख्य भेद इस प्रकार हैं:—

(१) ठाणाठिइए कायोत्सर्ग करके खड़ा रहना।

(२) ठाणाइय—कायोत्सर्ग के विना ही खड़ा रहना।

(३) उक्कडासणिय दोनों घुटनों के बीच सिर झुकाये कायोत्सर्ग करना।

(४) पडिमाठाइए—साधु की बारह प्रतिमाएं (प्रतिज्ञाएं) धारण करना।

बारह प्रतिमाओं का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है:—पहली प्रतिमा में, एक महीने तक एक दत्ति आहार और एक दत्ति पानी की लेना। आहार लेते समय एक साथ एक बार में जितना आहार मिले उतना ही लेना, दूसरी बार न लेना एक दत्ति आहार कहलाता है। इसी प्रकार धारा टूटे बिना एक साथ जितना पानी मिले उतना ही लेना, धारा टूटने पर फिर न लेना पानी की एक दत्ति कहलाती है।

इसी प्रकार दूसरी प्रतिमा में दो मास तक दो-दो दत्ति (दांत) आहार-पानी की लेना, तीसरी प्रतिमा में तीन मास तक तीन-तीन और चौथी प्रतिमा में चार मास तक चार-चार दत्ति लेना क्रमश: दूसरी, तीसरी और चौथी प्रतिमा कहलाती है। पांचवीं प्रतिमा में पांच मास तक पांच-पांच आहार-पानी की दत्ति ली जाती है। इसी प्रकार छठी प्रतिमा में छह मास तक छह-छह दत्ति और सातवीं प्रतिमा में सात-सात दत्ति ली जाती है।

आठवीं प्रतिमा में सात दिन तक चौविहार एकांतर उपवास करना, दिन में सूर्य की आतापना लेना, रात्रि में वस्त्र रहित रहना, रात्रि के समय चारों प्रहर सीधा सोना या एक ही करवट से सोना या कायोत्सर्ग करके बैठे-बैठे रात्रि व्यतीत करना, दैविक, नरकीय, तिर्यञ्चों सम्बन्धी उपसर्ग उपस्थित होने पर शांति एवं धैर्य से उन्हें सहन करना और चलायमान न होना।

नौवीं प्रतिमा आठवीं के समान है। विशेषता यह है कि दंडासन, लगुडासन या उक्कुडासन में से किसी एक आसन का प्रयोग करना चाहिए। सीधा खड़ा रहना दंडासन है। पैर की एड़ी और मस्तक का शिखा-स्थान भूतल में लगा कर शरीर को कमान के समान अधर रखना लगुडासन है। दोनों घुटनों के बीच सिर झुका रखना उक्कुडासन है। रात भर एक ही आसन से रहना चाहिए।

दसवीं प्रतिमा भी आठवीं के ही समान है। विशेषता यह है कि गोदुहासन, वीरासन अम्बकुब्जासन, में से किसी एक आसन का प्रयोग करना चाहिए। जिस आसन का प्रयोग किया जाय उसी का रात्रि भर अवलम्बन लेना चाहिए। गाय को दुहने के लिए जिस आसन से बैठा जाता है उसे गोदुहासन कहते हैं। कुर्सी पर बैठ कर पैर जमीन पर लगावे और कुर्सी हटा देने के बाद जैसा आसन रह जाता है वह वीरासन कहलाता है। सिर नीचे और पैर ऊपर रखना अम्बकुब्जासन कहलाता है।

ग्यारहवीं प्रतिमा में षष्ठ भक्त करना चाहिए। और दूसरे दिन ग्राम से बाहर जाकर एक अहोरात्रि (आठ प्रहर पर्यन्त) कायोत्सर्ग करके खड़ा रहना चाहिए। किसी भी प्रकार का उपसर्ग आने पर स्थिर भाव से उसे सहन करना चाहिए।

बारहवीं प्रतिमा में अष्टम भक्त करना चाहिए। तीसरे दिन महाभयंकर श्मशान में किसी भी एक वस्तु पर दृष्टि स्थापित करके कायोत्सर्ग करना चाहिए। उपसर्ग आने पर जो महामुनि निश्चल बने रहते हैं उन्हें अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवल ज्ञान में से किसी एक ज्ञान की प्राप्ति होती है। उपसर्ग आने पर जो चंचल हो

जाते हैं, भयभीत हो जाते हैं उन्हें या तो उन्माद हो जाता है या चिरस्थायी कोई अन्य रोग हो जाता है और वे जिन मार्ग से च्युत हो जाते हैं।

इस प्रकार बारह प्रतिमाएँ कायक्लेश तप के अन्तर्गत हैं। केशों का लुंचन करना, पैदल विचरना, परीषह सहन करना, स्नान न करना, शरीर का मैल न उतारना, आदि-आदि भी कायक्लेश के ही अन्तर्गत है।

(६) संलीनता—संलीनता तप को प्रतिसंलीनता भी कहा जाता है। इसके चार भेद हैं—(१) इन्द्रिय प्रतिसंलीनता, (२) कषाय प्रतिसंलीनता (३) योगप्रतिसंलीनता और (४) शयनासन प्रतिसंलीनता।

आस्रव के जो कारण पहले बतलाये जा चुके हैं उनका निग्रह करना प्रतिसंलीनता तप कहलाता है। राग-द्वेष की उत्पत्ति करने वाले शब्दों के श्रवण से कानों को रोकना, विकारजनक रूप को देखने से नेत्रों को रोकना, गंध से घ्राणेन्द्रिय को रोकना और रस से जिह्वा को रोकना एवं स्पर्श से स्पर्शनेन्द्रिय को रोकना इन्द्रियप्रतिसंलीनता तप है।

क्षमा भाव की प्रबलता से क्रोध को शान्त करना, नम्रता धारण करके अभिमान का त्याग करना, सरलता से माया को हटाना और सन्तोष की वृत्ति से लोभ का परिहार करना कषायप्रतिसंलीनता तप है।

असत्य मनोयोग और मिश्र मनोयोग का निग्रह करके सत्य या व्यवहारमनोयोग की ही प्रवृत्ति करना, इसी प्रकार सत्य वचन योग की प्रवृत्ति करना एवं असत्य तथा मिश्रवचन योग का निग्रह करना, औदारिक, औदारिक मिश्र, वैक्रिय योग, वैक्रिय मिश्र आहारक योग, आहारक मिश्रयोग, और कार्मण योग—इन काय के सात योगों की अशुभ प्रवृत्ति रोक कर शुभ प्रवृत्ति करना योग प्रतिसंलीनता तप है।

वाटिका, बगीचा, उद्यान, यक्षादि देवों का स्थान हो, हाट, दुकान, हवेली, उपाश्रय, गुफा श्मशान में किसी वृक्ष के नीचे, जहां स्त्री, पशु और नपुंसक का योग हो, एक रात या यथेष्ट समय तक रहना शयनाशन प्रतिसंलीनता तप कहलाता है।

मूलः—पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं च विउस्सग्गो, एसो अब्भिंतरो तवो॥ १३॥

छायाः—प्रायश्चित्तं विनयः, वैयावृत्यं तथैव स्वाध्यायः
ध्यानं च व्युत्सर्गः, एतदाभ्यन्तरं तपः॥ १३॥

शब्दार्थः—आभ्यन्तर तप छह प्रकार के हैं:—(१) प्रायश्चित्त (२) विनय (३) वैयावृत्त्य (४) स्वाध्याय (५) ध्यान और (६) व्युत्सर्ग।

भाष्यः—बाह्य तपों का स्वरूप बतलाने के पश्चात् क्रम प्राप्त आभ्यन्तर तपों के नामों का यहां उल्लेख किया गया है। बाह्य तपों से मुख्य रूप से इन्द्रियों का दमन होता है और आभ्यन्तर तप मन के निग्रह के कारण भूत हैं। आभ्यन्तर

तपों का स्वरूप इस प्रकार समझना चाहिए।

(१) प्रायश्चित्त—प्रमाद के कारण लगे हुए दोषों का निवारण करना अथवा पाप रूप पर्याय का उच्छेदन करना प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त तप दस प्रकार का है। वह इस प्रकार है—

(१) आलोचना—अपने लिए अथवा आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी या बीमार मुनि के लिए आहार लेने या अन्य किसी कार्य के लिए उपाश्रय से बाहर जाने और आने के बीच जो चारित्र-व्यतिक्रम हुआ हो, वह सब अपने गुरु के या अपने से बड़े मुनि के समक्ष स्पष्ट रूप से—न्यूनाधिक न करते हुए कह देना आलोचना है।

(२) प्रतिक्रमण—आहार में, विहार में, प्रतिलेखना में, हिलने-चालने में, या इसी प्रकार की किसी अन्य क्रिया में जो अज्ञात दोष लग गया हो उसके लिए पश्चात्ताप करना प्रतिक्रमण तप है।

(३) तदुभय—पूर्वोक्त क्रियाओं में जान बूझ कर जो दोष लगा हो उसे गुरु के समीप प्रकट करके 'मिच्छा मि दुक्कडं' अर्थात् मेरा पाप निष्फल हो, इस प्रकार की भावना करना तदुभय तप है।

(४) विवेक—अशुद्ध, अकल्पनीय तथा तीन प्रहर तक रहा हुआ आहार आदि परिष्ठापन कर देना विवेक प्रायश्चित्त है।

(५) कायोत्सर्ग—कायोत्सर्ग करना, और उसके द्वारा दुःस्वप्नजन्य पाप का निवारण करना कायोत्सर्ग या व्युत्सर्ग है।

(६) तप—पृथ्वीकाय, वनस्पतिकाय आदि सचित्त के संस्पर्श से उत्पन्न हुए पाप को उपवास आदि द्वारा निवारण करना तप है।

(७) छेद—अपवाद विधि का सेवन करने और विशेष कारण उपस्थित होने पर जान बूझ कर दोष लगाने के कारण पाप का निराकरण करने के लिए, दीक्षा-पर्याय में किंचित् न्यूनता कर देना छेद प्रायश्चित्त है।

(८) मूल प्रायश्चित्त—जान-बूझ कर हिंसा करने पर, असत्य भाषण करने पर, चोरी करने, मैथुन सेवन करने या धातुओं की वस्तुएं अपने पास रखने पर, अथवा रात्रि भोजन करने पर पूर्व दीक्षा को भंग करके नवीन दीक्षा देना मूल प्रायश्चित्त है।

(९) अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त—क्रूरता के वश होकर अपने या दूसरे के शरीर पर लाठी का प्रहार करने, घूंसा मारने आदि कुत्सित क्रियाओं के कारण सम्प्रदाय से पृथक् करके ऐसा दुष्कर तप कराना जिससे वह बैठे से उठ भी न सके और फिर नवीन दीक्षा देना अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त है।

(१०) पाराञ्चितक प्रायश्चित्त—शास्त्र के आदेश की अवज्ञा करना, आगम विरुद्ध भाषण करना, साध्वी का व्रत भंग करना आदि पापकर्म करने पर कम से कम

जाते हैं, भयभीत हो जाते हैं उन्हें या तो उन्माद हो जाता है या चिरस्थायी कोई अन्य रोग हो जाता है और वे जिन मार्ग से च्युत हो जाते हैं।

इस प्रकार वारह प्रतिमाएँ कायक्लेश तप के अन्तर्गत हैं। केशों का लुंचन करना, पैदल विचरना, परीषह सहन करना, स्नान न करना, शरीर का मैल न उतारना, आदि-आदि भी कायक्लेश के ही अन्तर्गत है।

(६) संलीनता—संलीनता तप को प्रतिसंलीनता भी कहा जाता है। इसके चार भेद हैं—(१) इन्द्रिय प्रतिसंलीनता, (२) कषाय प्रतिसंलीनता (३) योगप्रतिसंलीनता और (४) शयनासन प्रतिसंलीनता।

आस्रव के जो कारण पहले वतलाये जा चुके हैं उनका निग्रह करना प्रतिसंलीनता तप कहलाता है। राग-द्वेष की उत्पत्ति करने वाले शब्दों के श्रवण से कानों को रोकना, विकारजनक रूप को देखने से नेत्रों को रोकना, गंध से घ्राणेन्द्रिय को रोकना और रस से जिह्वा को रोकना एवं स्पर्श से स्पर्शनेन्द्रिय को रोकना इन्द्रियप्रतिसंलीनता तप है।

क्षमा भाव की प्रवलता से क्रोध को शान्त करना, नम्रता धारण करके अभिमान का त्याग करना, सरलता से माया को हटाना और सन्तोष की वृत्ति से लोभ का परिहार करना कषायप्रतिसंलीनता तप है।

असत्य मनोयोग और मिश्र मनोयोग का निग्रह करके सत्य या व्यवहारमनोयोग की ही प्रवृत्ति करना, इसी प्रकार सत्य वचन योग की प्रवृत्ति करना एवं असत्य तथा मिश्रवचन योग का निग्रह करना, औदारिक, औदारिक मिश्र, वैक्रिय योग, वैक्रिय मिश्र आहारक योग, आहारक मिश्रयोग, और कार्मण योग—इन काय के सात योगों की अशुभ प्रवृत्ति रोक कर शुभ प्रवृत्ति करना योग प्रतिसंलीनता तप है।

वाटिका, वगीचा, उद्यान, यक्षादि देवों का स्थान हो, हाट, दुकान, हवेली, उपाश्रय, गुफा श्मशान में किसी वृक्ष के नीचे, जहां स्त्री, पशु और नपुंसक का योग हो, एक रात या यथेष्ट समय तक रहना शयनाशन प्रतिसंलीनता तप कहलाता है।

मूलः—पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं च विउस्सग्गो, एसो अब्भिंतरो तवो॥ १३॥

छायाः—प्रायश्चित्तं विनयः, वैयावृत्यं तथैव स्वाध्यायः
ध्यानं च व्युत्सर्गः, एतदाभ्यन्तरं तपः॥ १३॥

शब्दार्थः—आभ्यन्तर तप छह प्रकार के हैं:—(१) प्रायश्चित्त (२) विनय (३) वैयावृत्य (४) स्वाध्याय (५) ध्यान और (६) व्युत्सर्ग।

भाष्यः—वाह्य तपों का स्वरूप वतलाने के पश्चात् क्रम प्राप्त आभ्यन्तर तपों के नामों का यहां उल्लेख किया गया है। वाह्य तपों से मुख्य रूप से इन्द्रियों का दमन होता है और आभ्यन्तर तप मन के निग्रह के कारण भूत हैं। आभ्यन्तर

[३] आचार्य की आसातना—पंचाचार के प्रतिपालक, दीक्षा-शिक्षादाता आचार्य उम्र में कम हों इस कारण या अन्य किसी कारण से उनकी आसातना करना।

[४] उपाध्याय की आसातना—द्वादशांग के पाठी, मत-मतान्तर के ज्ञाता उपाध्याय की निन्दा करना, सन्मान न करना।

[५] स्थविर की आसातना—साठ वर्ष की उम्र वाले वय स्थविर का, वीस वर्ष की दीक्षा वाले दीक्षास्थविर का एवं श्रुतधर्म के विशिष्ट ज्ञाता श्रुतस्थविर का अवर्णवाद करना।

[६] कुल-आसातना—एक गुरु के बहुत से शिष्य परस्पर एक दूसरे का आसातना करें।

[७] गण-आसातना-एक ही सम्प्रदाय के साधुओं द्वारा परस्पर में एक दूसरे का अवर्णवाद करना।

[८] संघ-आसातना—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका के समूह को संघ कहते हैं। उसका अवर्णवाद करना।

[९] क्रियानिष्ठ-आसातना—शास्त्रविहित शुद्ध क्रिया करने वाले चारित्रनिष्ठ सत्पुरुष का अवर्णवाद करना।

[१०] संभोगी-आसातना--जिनका आहार-विहार एक है वे साधु संभोगी कहलाते हैं। आपस में उनमें से एक दूसरे की आसातना करना।

[११-१५] मतिज्ञानी, श्रुत ज्ञानी, अवधि ज्ञानी, मनःपर्यय ज्ञानी, तथा केवल ज्ञानी के सद्भूत गुणों को छिपा कर अवगुणों का आरोप करना, उनकी निन्दा करना।

पूर्वोक्त पन्द्रह की आसातना का त्याग करना, उनकी भक्ति करना और उनके गुणों का कीर्तन करना, इस प्रकार पन्द्रह को तीन से गुणा करने पर दर्शनविनय के पैंतालीस भेद हैं।

(३) चारित्रविनय--चारित्र के पांच भेद हैं-सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात। इन पांचों चारित्रों का तथा चारित्र का पालन करने वालों का यथोचित विनय करना पांच प्रकार का चारित्र विनय है। उनका स्वरूप इस प्रकार है:—

[१] सामायिकचारित्रविनय--सम अर्थात् राग-द्वेष से रहित, आत्मा को प्रतिक्षण अपूर्व निर्जरा होने से विशुद्धि होना सामायिक चारित्र है। इस चारित्र से युक्त पुरुष का विनय करना।

[२] छेदोपस्थापनाचारित्रविनय—पूर्व चारित्रपर्याय विच्छेद होने पर जो महाव्रत ग्रहण किये जाते हैं उन्हें छेदोपस्थापना चारित्र कहते हैं। इस चारित्र वाले का विनय करना।

छः मास, एक वर्ष और उत्कृष्ट बारह वर्ष पर्यन्त सम्प्रदाय से पृथक् करके पूर्वोक्त दुष्कर तप कराकर नवीन दीक्षा देना पाराञ्चितक प्रायश्चित्त है।

शारीरिक शक्ति की न्यूनता होने के कारण आधुनिक समय में अन्त के दो प्रायश्चित्त नहीं दिये जाते हैं। फिर भी इससे यह स्पष्ट है कि जैन संघ में मुनियों की आचार परिपाटी को निर्मल बनाये रखने के लिए कितनी सावधानी रखने का आदेश है।

(३) विनय तप—गुरु आदि ज्येष्ठ महापुरुषों का, वयोवृद्धों का तथा गुण-वृद्धों का यथोचित सत्कार-सन्मान करना विनय तप कहलाता है। विनयतप सात प्रकार का है [१] ज्ञानविनय [२] दर्शनविनय [३] चारित्रविनय [४] मनो-विनय [५] वचनविनय [६] कायविनय और [७] लोकव्यवहारविनय।

[१] ज्ञानविनय—मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्यायज्ञानी और केवलज्ञानी का तथा ज्ञान के उपकरणों का विनय करना ज्ञानविनय है।

[२] दर्शनविनय—सम्यग्दृष्टि पुरुष का यथायोग्य विनय करना शुश्रूषा दर्शनविनय है। यह पैंतालीस प्रकार की है। पैंतालीस आसातनाओं का संक्षिप्त स्वरूप आगे बतलाया जायेगा।

[३] चारित्रविनय—चारित्रनिष्ठ महात्माओं का विनय करना, उनकी यथो-चित सेवा-भक्ति करना चारित्रविनय है।

[४] मनविनय—कर्कश, कठोर, छेदन-भेदन कारी परितापजनक, अप्रशस्त विचार का त्याग करके दयामय, वैराग्यपूर्ण प्रशस्त विचार करना मनोविनय है।

[५] वचनविनय—कठोर और दुःखप्रद वचन का प्रयोग न करके हित, मित, मधुर वचन बोलना वचनविनय है।

[६] कायविनय—शरीर को अप्रशस्त क्रिया में प्रयुक्त न होने दे कर प्रशस्त क्रिया में प्रयुक्त करना कायविनय है।

[७] लोकव्यवहारविनय—गुरु की आज्ञा के आधीन रहना, गुणाधिक स्वधर्मियों की आज्ञा मानना, स्वधर्मी का कार्य कर देना उपकारक का उपकार मानना, दूसरे की चिन्ता दूर करने का यथोचित उपाय करना, देश-काल के अनुसार व्यव-हार करना और विचक्षणता पूर्वक, सभी को प्रिय लगने वाली प्रवृत्ति करना यह सब लोक व्यवहार विनय है।

पैंतालीस आसातना विनय इस प्रकार हैं:—

(१) अर्हन्त आसातना—अर्हन्त के स्मरण से दुःख होता है, उपद्रव होता है अथवा शत्रु का नाश होता है, इस प्रकार कहना या विचार करना अर्हन्त आसातना है।

(२) धर्म की आसातना—जैन धर्म में स्नान का विधान नहीं है, अतएव वह बुरा है अथवा मोक्ष का कारण नहीं है, इस प्रकार कहना धर्म की आसातना है।

[३] आचार्य की आसातना—पंचाचार के प्रतिपालक, दीक्षा-शिक्षादाता आचार्य उम्र में कम हों इस कारण या अन्य किसी कारण से उनकी आसातना करना।

[४] उपाध्याय की आसातना—द्वादशांग के पाठी, मत-मतान्तर के ज्ञाता उपाध्याय की निन्दा करना, सन्मान न करना।

[५] स्थविर की आसातना—साठ वर्ष की उम्र वाले वय स्थविर का, वीस वर्ष की दीक्षा वाले दीक्षास्थविर का एवं श्रुतधर्म के विशिष्ट ज्ञाता श्रुतस्थविर का अवर्णवाद करना।

[६] कुल-आसातना—एक गुरु के बहुत से शिष्य परस्पर एक दूसरे का आसातना करें।

[७] गण-आसातना-एक ही सम्प्रदाय के साधुओं द्वारा परस्पर में एक दूसरे का अवर्णवाद करना।

[८] संघ-आसातना—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका के समूह को संघ कहते हैं। उसका अवर्णवाद करना।

[९] क्रियानिष्ट-आसातना—शास्त्रविहित शुद्ध क्रिया करने वाले चारित्रनिष्ठ सत्पुरुष का अवर्णवाद करना।

[१०] संभोगी-आसातना—जिनका आहार-विहार एक है वे साधु संभोगी कहलाते हैं। आपस में उनमें से एक दूसरे की आसातना करना।

[११-१५] मतिज्ञानी, श्रुत ज्ञानी, अवधि ज्ञानी, मनःपर्यय ज्ञानी, तथा केवल ज्ञानी के सद्भूत गुणों को छिपा कर अवगुणों का आरोप करना, उनकी निन्दा करना।

पूर्वोक्त पन्द्रह की आसातना का त्याग करना, उनकी भक्ति करना और उनके गुणों का कीर्तन करना, इस प्रकार पन्द्रह को तीन से गुणा करने पर दर्शनविनय के पैंतालीस भेद हैं।

(३) चारित्रविनय—चारित्र के पांच भेद हैं-सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात। इन पांचों चारित्रों का तथा चारित्र का पालन करने वालों का यथोचित विनय करना पांच प्रकार का चारित्र विनय है। उनका स्वरूप इस प्रकार है:—

[१] सामायिकचारित्रविनय—सम अर्थात् राग-द्वेष से रहित, आत्मा की प्रतिक्षण अपूर्व निर्जरा होने से विशुद्धि होना सामायिक चारित्र है। इस चारित्र से युक्त पुरुष का विनय करना।

[२] छेदोपस्थापनाचारित्रविनय—पूर्व चारित्रपर्याय विच्छेद होने पर जो महाव्रत ग्रहण किये जाते हैं उन्हें छेदोपस्थापना चारित्र कहते हैं। इस चारित्र वाले का विनय करना।

[३] परिहारविशुद्धि चारित्र विनय—जिस चारित्र में परिहार तप-विशेप से कर्म-निर्जरा की जाती है वह परिहार विशुद्धि चारित्र है। यह चारित्र तीर्थंकर भगवान् के समीप या तीर्थंकर भगवान् के समीप रह कर जिसने यह चारित्र अंगीकार किया हो उसके समीप ग्रहण किया जाता है। नौ साधुओं में से चार तप करते हैं, उन्हें पारिहारिक कहते हैं। चार साधु उनकी सेवा करते हैं वे अनुपारिहारिक कहलाते हैं और एक साधु गुरु रूप में रहता है, जिसके समीप पारिहारिक और अनुपारिहारिक साधु आलोचना, प्रत्याख्यान आदि करते हैं।

पारिहारिक साधु ग्रीष्म ऋतु में जघन्य एक उपवास, मध्यम वेला (दो उपवास) और उत्कृष्ट तेला (तीन) उपवास करते हैं। शिशिर ऋतु में जघन्य वेला मध्यम तेला और उत्कृष्ट चौला (चार उपवास) करते हैं। चौमासे के काल में अल्प तेला, मध्यम चौला और उत्कृष्ट पंचौला [पांच] उपवास करते हैं। शेप आनुपारिहारिक एवं गुरु पद-स्थापित मुनि प्रायः नित्य आहार करते हैं। पर सदा आयंबिल ही करते हैं। इस प्रकार पारिहारिक साधु छह मास पर्यन्त तपस्या करते हैं। छह मास के पश्चात् पारिहारिक मुनि अनुपारिहारिक--सेवा करने वाले हो जाते हैं और अनुपारिहारिक, पारिहारिक बन जाते हैं। यह क्रम भी छह मास तक चलता रहता है। इस प्रकार जब आठ मुनियों की तपस्या हो जाती है तब उनमें से एक गुरु पद पर स्थापित किया जाता है और सात उसकी वैयावृत्य (सेवा) करते हैं। पहले जो मुनि गुरु पद पर स्थित था वह तपस्या करना आरम्भ करता है। उसकी तपस्या भी पूर्ववत् छह मास तक चालू रहती है। इस प्रकार अठारह मास में परिहार विशुद्धि तप का कल्प पूर्ण हो जाता है।

पूर्ण हो जाने पर अगर वह मुनि चाहें तो फिर उस तपस्या को आरंभ कर सकते हैं, या जिनकल्प धारणा करके अपने गच्छ में पुनः सम्मिलित हो सकते हैं। इस प्रकार परिहार विशुद्धि चारित्र वालों का यथायोग्य विनय करना परिहार विशुद्धि चारित्र विनय कहलाता है।

(४) सूक्ष्मसम्परायचारित्र—विनय सम्पराय का अर्थ है कषाय। जिस चारित्र में स्थूल कपाय का अभाव हो जाता है और सिर्फ सूक्ष्म सम्पराय अर्थात् संज्वलन लोभ का अंश मात्र ही शेप रहता है वह सूक्ष्म सम्पराय चारित्र कहलाता है। इस चारित्र से युक्त मुनिराज का विनय करना सूक्ष्म सम्पराय चारित्र का विनय है।

(५) यथाख्यातचारित्र विनय—कपाय न रहने पर अतिचार रहित जो विशिष्ट चारित्र हैं वह यथाख्यात चारित्र कहा गया है। इस चारित्र से युक्त महापुरुषों का विनय करना यथाख्यात चारित्र विनय है।

(३) वैयावृत्य--वैयावृत्य का अर्थ सेवा है। सेवनीय के भेद से इस तप के दस भेद हैं। यथा--(१) आचार्य अर्थात् संघ के प्रधान-शासक मुनि की सेवा करना (२) उपाध्याय की सेवा करना (३) शैक्ष अर्थात् ज्ञानाभ्यास करने वाले

मुनि की सेवा करना (४) ग्लान अर्थात् रुग्ण मुनि की सेवा करना (५) तपस्वी की सेवा करना (६) स्थविर की सेवा करना (७) स्वधर्मी की सेवा करना (८) कुल [गुरु भ्राता] की सेवा करना (६) गण [सम्प्रदाय] के साधुओं की सेवा करना (१०) संघ अर्थात् चतुर्विध तीर्थ की सेवा करना।

[४] स्वाध्यायतप—मानसिक विकास के लिये और ज्ञानवृद्धि के लिए शास्त्रों का पठन-पाठन करना स्वाध्यायतप कहलाता है। स्वाध्याय पांच प्रकार का है:—

[१] वाचना—शिष्य को सूत्र एवं अर्थ की वांचनी देना।

[२] पृच्छना—वाचना लेकर उसमें संशय होने पर पुनः पूछना या प्रश्न करना पृच्छना है।

[३] परिवर्त्तना—पढ़े हुए विषय को बार-बार फेरना।

[४] अनुप्रेक्षा—सीखे हुए सूत्र को याद रखने के लिए पुनः-पुनः चिन्तन-मनन करना।

[५] धर्मकथा—चारों प्रकार के स्वाध्याय में कुशल होकर धर्म का उपदेश देना।

(५) ध्यानतप—मानसिक चिन्ता का निरोध करके उसे एकाग्र करना ध्यान तप है। इसके चार भेद हैं। उनका विवरण पहिले किया जा चुका है।

(६) व्युत्सर्गतप—काय आदि सम्बन्धी ममता का त्याग व्युत्सर्ग तप है। इसके प्रधान दो भेद हैं:—[१] द्रव्यव्युत्सर्ग और [२] भावव्युत्सर्ग। इसमें से द्रव्यव्युत्सर्ग के चार भेद हैं—[१] शरीरव्युत्सर्ग [२] गणव्युत्सर्ग [३] उपधि-व्युत्सर्ग और [४] भक्तपानव्युत्सर्ग।

[१] शरीरव्युत्सर्ग—शरीर की ममता का त्याग कर अंग विशेष की ओर लक्ष्य न देना।

[२] गणव्युत्सर्ग—विशेष ज्ञानी, जितेन्द्रिय, धीर, वीर शरीर सम्पत्ति वाला, क्षमावान्, शुद्ध श्रद्धा से युक्त और अवसर का ज्ञाता मुनि, गुरु की आज्ञा से सम्प्रदाय का त्याग करके अकेले विहार करे, वह गण व्युत्सर्ग है।

[३] उपधिव्युत्सर्ग—संयम के उपकरण कम रखना उपधि व्युत्सर्ग है।

[४] भक्तपानव्युत्सर्ग नवकारसी, पौरसी आदि तप करना और खाने-पीने की वस्तुओं का यथायोग्य त्याग करना भक्तपानव्युत्सर्ग तप है। यह द्रव्य व्युत्सर्ग के चार भेद हैं।

भावव्युत्सर्ग के तीन भेद हैं। यथा—[१] कषायव्युत्सर्ग [२] संसारव्युत्सर्ग और [३] कर्मव्युत्सर्ग। इनका स्वरूप इस प्रकार है:—

(१) कषायव्युत्सर्ग—क्रोध, मान, माया, और लोभ कषाय को न्यून से न्यूनतर बनाना।

(२) संसारव्युत्सर्ग—संसार से यहां संसार के कारणों का ग्रहण करना चाहिए। तात्पर्य यह कि संसार के कारणों का त्याग करके मोक्ष के कारणों का अनुष्ठान करना संसारव्युत्सर्ग है।

चार गति को संसार कहा गया है। अतएव चारों गतियों के कारण ही संसार के कारण हैं। महा-आरंभ अर्थात् निरन्तर षटकाय के जीवों के घात रूप परिणाम से तथा तीव्र ममता भाव रूप महा परिग्रह से नरक गति की प्राप्ति होती है और मदिरा मांस का सेवन और पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा भी नरक गति का कारण है। मायाचार, विश्वासघात, असत्यभाषण और झूंठा तोलना-नापना, इन चार कारणों से तिर्यञ्च गति का बन्ध होता है। विनयशीलता, परिणामों की भद्रता, दयालुता एवं गुणानुराग रूप चार कारणों से मनुष्य गति की प्राप्ति होती है। सराग संयम, संयमासंयम, अकाम निर्जरा और बालतप से देव गति प्राप्त होती है। चारों गति के इन सोलह कारणों का त्याग करना एवं सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तप का सेवन करना संसार व्युत्सर्ग तप कहलाता है।

(३) कर्मव्युत्सर्ग—आठ कर्मों के बन्ध के कारणों की निर्जरा करना कर्मव्युत्सर्ग तप है। कर्म बन्ध के कारणों का वर्णन द्वितीय अध्ययन में किया जा चुका है।

आभ्यन्तर तप के छह भेदों का यही स्वरूप है। शास्त्रकारों ने तप की जो महत्ता प्रदर्शित की है वह आत्मशुद्धि के लिए है। क्या बाह्य तप और क्या आभ्यन्तर तप, सभी आत्मशुद्धि के उद्देश्य से ही करने चाहिये। तपों का विशेष वर्णन शास्त्रों से समझ लेना चाहिये। विस्तारभय से यहां विस्तृत वर्णन नहीं किया जा सकता।

मूलः—रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालिअं पावइ से विणासं।
रागाउरे से जह वा पयंगे,
आलोयलोले समुवेइ मच्चुं ॥ १४ ॥

छायाः—रूपेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्रां, अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम्।
रागातुरः स यथा वा पतङ्गः, आलोकलोलः समुपैति मृत्युम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थः—हे इन्द्रभूति! जो प्राणी रूप में तीव्र गृद्धि को प्राप्त होता है वह असमय में ही विनाश को प्राप्त होता है। जैसे प्रकाश का लोलुप पतंग मृत्यु को प्राप्त होता है।

भाष्यः—मनोनिग्रह के साधनभूत तप का वर्णन पहले किया गया है। किन्तु तप की सार्थकता तभी है जब इंद्रियों को जीत लिया जाय। जिस तप से इन्द्रियविजय नहीं होता वह मानसिक निग्रह का कारण नहीं होता। अतएव शास्त्रकार ने यहां इन्द्रियलोलुपता के कारण होने वाले पाप का दिग्दर्शन कराते हुए इन्द्रियविजय का उपदेश दिया है।

आलोक का लोलुप पतंग, तीव्र राग में ऐसा डूब जाता है कि उसे अपने जीवन का भी विचार नहीं रहता। जैसे वह दीपक की लौ पर आकर गिरता है और मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, इसी प्रकार जो जीव चक्षु-इन्द्रिय के वश में होकर रूप-लोलुपता धारण करते हैं, उनकी भी ऐसी ही दुर्दशा होती है। सौन्दर्य में अत्यन्त आसक्ति वाला पुरुष असमय में ही मृत्यु का शिकार हो जाता है।

यद्यपि अनुक्रम का विचार किया जाय तो पहले स्पर्शेन्द्रिय है और व्यतिक्रम से पहले श्रोत्रेन्द्रिय है। तथापि यहां सर्वप्रथम चक्षु-इन्द्रिय की लोलुपता की गति बतलाई गई है। उसका कारण यह है कि चक्षुइन्द्रिय में और इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक विष रहता है। चक्षु-इन्द्रिय ही प्रायः अन्य इन्द्रियों को उत्तेजित करती है। चक्षु-इन्द्रिय अधीन हो जाय तो शेष इन्द्रियों का अधीन करना सरल होता है। इसी लिए सर्व प्रथम यहां चक्षु के विषय का वर्णन किया गया है। मुमुक्षु पुरुषों को अपनी साधना को सफल करने के लिए रूप-विषयक आसक्ति का त्याग करना चाहिए। स्त्री आदि के रूप की ओर दृष्टि नहीं करनी चाहिए और कदाचित् अचानक चली जाय तो उसे तत्काल हटा लेनी चाहिए। जैसे सूर्य की ओर देखकर तत्काल दृष्टि हटाली जाती है, उसी प्रकार रूप-सौन्दर्य की ओर से भी तत्काल दृष्टि फेर लेनी चाहिए।

मूलः–सद्देसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालिअं पावइ से विणासं।
रागाउरे हरिणमिये व्व मुद्धे,
सद्दे अतित्ते समुवेइ मच्चुं ॥ १५ ॥

गाथाः—शब्देषु यो गृद्धिमुपैति तीव्रां, अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम्।
रागातुरो हरिणमृग इव मुग्धः, शब्देऽतृप्तः समुपैति मृत्युम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—जैसे राग से आतुर, हिताहित का भान न रखने वाला, अर्थात् मूढ़, और शब्द में अतृप्त हिरन मृत्यु को प्राप्त होता है, उसी प्रकार जो पुरुष शब्दों में तीव्र आसक्ति रखता है वह अकाल में ही मृत्यु को प्राप्त होता है।

भाष्यः—चक्षु-इन्द्रिय की लोलुपता से होने वाले पाप का दिग्दर्शन कराने के पश्चात् यहां श्रोत्रेन्द्रिय संबंधी पाप और अपाप का दिग्दर्शन कराया गया है।

व्याध के मनोहर गीत श्रवण में लोलुप होकर मृग जैसे मृत्यु का अतिथि बनता है। इसी प्रकार जो जीव श्रुतेन्द्रिय में आसक्त होता है और उस आसक्ति के आधिक्य से अपने हित-अहित को भी भूल जाता है उसे भी अकाल मृत्यु को प्राप्त होना पड़ता है। अतएव शब्द सम्बन्धी आसक्ति का त्याग करना चाहिए। मनोज्ञ शब्द सुनने में आतुरता और अमनोज्ञ शब्द सुनने में विकलता का त्याग करके समभाव पूर्वक साधना करने से ही आत्म शुद्धि होती है।

मूलः—गंधेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालिअं पावइ से विणासं।
रागाउरे ओसहिगंधगिद्धे,
सप्पे बिलाओ विव निक्खमंते ॥१६॥

छायाः—गन्धेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्राम्, अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम्।
रागातुर औषधगन्धगृद्धः सर्पो बिलादिव निष्क्रामन् ॥ १६ ॥

शब्दार्थः—नागदमनी औषधि की गंध में मग्न होने से आतुर सर्प बिल से बाहर निकलने पर नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार जो जीव गंध में तीव्र गृद्धता को प्राप्त होता है वह असमय में ही मृत्यु का पात्र बनता है।

भाष्यः—श्रोत्रेन्द्रिय के अपाय का निरूपण करने के बाद यहां घ्राणेन्द्रिय के अपाय का निरूपण किया गया है।

जैसे सांप घ्राणेन्द्रिय के अधीन होकर नागदमनी औषध की गंध सूंघने के लिए बिल से बाहर निकला और मारा जाता है, भ्रमर आदि गंध के लोलुप जीव कमल के फूल में कैद हो जाते और मृत्यु के मेहमान बनते हैं। इसी प्रकार जो अन्य जीव गंध में तीव्र आसक्ति वाले होते हैं उन्हें असमय में ही मृत्यु का आलिंगन करना पड़ता है। इस प्रकार विचार कर घ्राणेन्द्रिय को वश में करना चाहिए और गंध में राग द्वेष का त्याग करके समभाव धारण करना चाहिए।

मूलः—रसेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालिअं पावइ से विणासं।
रागाउरे वडिसविभिन्नकाये,
मच्छे जहा आमिसभोगगिद्धे ॥ १७ ॥

छायाः—रसेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्राम्, अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम्।
रागातुरो बडिशविभिन्नकायः, मत्स्यो यथाऽऽमिषभोगगृद्ध ॥ १७ ॥

शब्दार्थः—जैसे मांस-भक्षण के स्वाद में लोलुप, राग से आतुर मत्स्य, कांटे से बिंधकर नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार जो जीव रस में तीव्र आसक्ति रखता है वह अकाल मृत्यु को प्राप्त होता है।

भाष्यः—इस गाथा का अर्थ पूर्ववत् ही समझना चाहिए। यहां जिह्वा की लोलुपता के लिए मच्छ का दृष्टान्त दिया गया है। मच्छीमार मच्छ को पकड़ने के लिए कांटे में आटा या मांस का टुकड़ा लगा लेता है और कांटा पानी में डाल देता है। जिह्वालोलुप मच्छ आटे या मांस के लोभ से कांटे में फँस जाता है, उसका

शरीर बिंध जाता है और वह मृत्यु को प्राप्त होता है। जिह्वा लोलुप अन्य जीवों की भी ऐसी ही दशा होती है। अतएव इस संबंधी लोलुपता का त्याग करना चाहिए।

मूलः—फासस्स जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे सीयजलावसन्ने,
गाहग्गहीए महिसे व रणे ॥१८॥

छायाः—स्पर्शेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्राम्, अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम्।
रागातुरः शीतजलावसन्नः, ग्राहग्रहीतो महिष इवारण्ये ॥ १८ ॥

शब्दार्थः—जैसे अरण्य में, शीतजल के स्पर्श का लोभी-ठंडे जल में बैठा रहने वाला, रागातुर भैंसा, मगर द्वारा पकड़ लिए जाने पर मारा जाता है। इसी प्रकार जो पुरुष स्पर्श के विषय में तीव्र गृद्धि धारण करता है वह असमय में विनाश को प्राप्त होता है।

भाष्यः—स्पर्शनेन्द्रिय के वशीभूत होकर भैंसा, नदी के गंभीर जल में बैठ कर आनन्द मानता है। मगर जब मगर आकर उसे पकड़ लेता है तो भैंसे को अपने प्राण गंवाने पड़ते हैं। इसी प्रकार जो पुरुष स्पर्शनेन्द्रिय के विषय में अत्यन्त आसक्त होता है उसे भी असमय में प्राणों से हाथ धोने पड़ते हैं।

शास्त्रकार ने एक-एक इन्द्रियों की लोलुपता द्वारा होने वाले अपाय का निरूपण एक-एक गाथा में किया है। इसका अभिप्राय यह है कि जब एक-एक इन्द्रिय के विषय में आसक्त प्राणी भी विनाश को प्राप्त होते हैं, तब पांचों इन्द्रियों के विषयों में तीव्र आसक्ति रखने वाले मनुष्यों की कैसी दुर्दशा होगी !' यह स्वयं समझ लेना चाहिए।

पांचों इन्द्रियों के विषय में तिर्यञ्चों का उदाहरण दिया गया है। वेचारे तिर्यञ्च विशिष्ट विवेक से विकल हैं और शास्त्रीय उपदेश को श्रवण करने योग्य नहीं हैं। अतः उनकी यह दुर्दशा होती है, मगर जो मनुष्य विशिष्ट विवेक से विभूषित हैं और शास्त्रकार जिसे प्रशस्त पथ प्रदर्शित कर रहे हैं, वह भी अगर इन्द्रियों के अधीन होकर पशु-पक्षियों की भांति अपने मरण को आमंत्रित करे तो आश्चर्य की बात है।

अतः पांचों इन्द्रियों के विषयों संबंधी आसक्ति का त्याग कर मध्यस्थ भाव पूर्वक विचरना चाहिए।

निर्ग्रन्थ-प्रवचन-पन्द्रहवां अध्याय समाप्त

❀ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ❀

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

॥ सोलहवां अध्याय ॥

—:-★-:—

आवश्यक कृत्य

श्री भगवान् उवाच—

मूलः—समरेसु अगारेसु, संधीसु य महापहे।
एगो एगित्थिए सद्धिं, णेव चिट्ठे ण संलवे ॥ १ ॥

छायाः—समरेषु अगारेषु, सन्धिषु च महापथे।
एक एकस्त्रिया सार्धं, नैव तिष्ठेन्न संलपेत् ॥ २ ॥

शब्दार्थः—हे गौतम! लुहार की शाला में, मकान के खंडहरों में, दो मकानों के बीच में और महापथ में, अकेला पुरुष अकेली स्त्री के साथ न खड़ा रहे, न बातचीत करे।

भाष्यः—पन्द्रहवें अध्ययन में मनोनिग्रह का वर्णन किया गया। मनोनिग्रह के लिए अनेक बातों की आवश्यकता होती है, जिनका ध्यान रखने और पालन करने से मन पर काबू किया जा सकता है। अतएव यहां, इस अध्ययन में उन बातों का निरूपण किया जाता है।

संसार में सर्वाधिक प्रबल आकर्षण पुरुष के लिए स्त्री है और स्त्री के लिए पुरुष है। जो महासत्व व्यक्ति इस आकर्षण पर विजय पा लेते हैं उन्हें अन्य प्रलोभनों पर सहज ही विजय प्राप्त हो जाती है। अतएव शास्त्रकार ने सर्व प्रथम इस आकर्षण से बचने का उपाय प्रदर्शित किया है।

मूल में जिन स्थानों का कथन किया गया है, वे उपलक्षण मात्र हैं। लुहार की शाला, खंडहर, मकानों की संधि और महापथ में अकेले पुरुष को अकेली स्त्री के साथ न खड़ा होना चाहिए और न वार्त्तालाप करना चाहिए। इस कथन से उक्त स्थानों के अतिरिक्त अन्य समस्त स्थानों का ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् किसी भी स्थान पर अकेला पुरुष अकेली स्त्री के साथ न खड़ा रहे और न बातचीत करे। इस कथन से अकेली स्त्री का अकेले पुरुष के साथ खड़े होने या वार्त्तालाप करने का निषेध स्वतः सिद्ध हो जाता है।

अतएव कामवासना से बचे रहने के लिए स्त्री-पुरुष की एकत्र स्थिति और वार्तालाप का त्याग आवश्यक है। जो महा-पुरुष कामवासना से मुक्त हो जाते हैं

उन्हें कल्याण के मार्ग में अग्रसर होने में सरलता होती है। कहा भी है:—

जेहिं नारीण संजोगा, पूयणा पिट्ठतो कया।
सव्वमेयं निराकिच्चा, ते ठिया सुसमाहिए॥

अर्थात् जिन पुरुषों ने स्त्रीसंसर्ग और काम-शृङ्गार का त्याग कर दिया है वे अन्य समस्त उपसर्गों को जीतकर उत्तम समाधि में स्थित होते हैं।

एकान्त में स्त्री और पुरुष के परस्पर वार्त्तालाप करने या खड़े रहने से अनेक प्रकार के विकारों की उत्पत्ति होना संभव है। नीतिकार कहते हैं:—

घृतकुम्भसमा नारी, तप्ताङ्गारसमः पुमान्।
तस्माद् घृतञ्च वाह्निञ्च, नैकत्र स्थापयेद् बुधः॥

अर्थात् स्त्री घी के घड़े के समान है और पुरुष तपे हुए अंगार के समान है। अतएव बुद्धिमान पुरुष घृत और अग्नि को एक स्थान पर न रक्खे।

कदाचित् कोई जितेन्द्रिय पुरुष या स्त्री विकार से परे हो तो भी उन्हें एकान्त में स्थित नहीं चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से संसार में अपकीर्त्ति होती है। लोग संदेह की दृष्टि से देखने लगते हैं। अतएव विशेषतः त्यागी पुरुष को इस उपदेश का सावधान होकर पालन करना चाहिए।

जहाँ अनेक मार्ग आकर मिलते हैं वह महापथ कहलाता है। गाथा के शेष पदों का अर्थ सुगम है।

मूलः-साणं सूइअं गाविं, दित्तं गोणं हयं गयं।
संडिब्भं कलहं जुद्धं, दूरओ परिवज्जए॥ २॥

छायाः—श्वानं सूतिकां गां, दृप्तं गोणं हयं गजम्।
संडिम्भं कलहं युद्धं, दूरतः परिवर्जयेत्॥२॥

शब्दार्थः—हे इन्द्रभूति! श्वान, प्रसूता गाय, मतवाले बैल, घोड़ा और हाथी से तथा बालकों के क्रीड़ास्थल से और कलह एवं युद्ध से दूर ही रहना चाहिए।

भाष्यः—मुनि यद्यपि एकान्त स्थान में निवास करते हैं, तथापि आहार आदि के लिए उन्हें इधर-उधर मोहल्लों में आना ही पड़ता है। तब वहां उन्हें इन बातों का ध्यान रखना चाहिए। कुत्ते से दूर रहें, प्रसूता अर्थात् तत्काल व्याई हुई गाय से दूर होकर निकलें, मतवाले बैल से, घोड़े से और हाथी से बचकर चलें। बालक रास्ते में क्रीड़ा करते हैं, वे रेत में अपना क्रीड़ास्थल बनाते हैं। कोई २ मकान बनाने की क्रीड़ा करते हैं कोई अन्य प्रकार की। उन बालकों के लिए यह घरधूला बड़ा प्रिय होता है। कोई उसे बिगाड़ दे तो उन्हें अत्यन्त दुःख होना है। अतएव बच्चों के क्रीड़ा-स्थल से बचकर ही निकलना चाहिए।

वाचनिक झगड़ा कलह कहलाता है और शस्त्रों के प्रयोग के साथ होने वाला

झगड़ा युद्ध कहलाता है। मार्ग में अगर कलह या युद्ध हो रहा हो तो उससे दूर ही रहना चाहिए। कलह या युद्ध को कौतूहलवश देखने से अन्तःकरण में राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है और कदाचित् न्यायालय में साक्षी के रूप में उपस्थित होना पड़ता है। अतएव इन सब का त्याग करके अपने प्रयोजन के लिए ही जाना चाहिए।

मूलः—एगया अचेलए होइ, सचेले आवि एगया।
एअं धम्महियं णच्चा, णाणी णो परिदेवए॥ ३॥

छायाः—एकदाऽचेलको भवति, सचेलो वाऽप्येकदा।
एतं धर्महितं ज्ञात्वा, ज्ञानी नो परिदेवेत॥ ३॥

शब्दार्थः—मुनि कदाचित् वस्त्ररहित हो अथवा कभी वस्त्रसहित हो, उस समय समभाव रखना चाहिए। इस धर्म को हितकारक समझकर ज्ञानी खेद न करे।

भाष्यः—यहां मुनि को, जिस किसी भी अवस्था में उसे रहना पड़े समभाव-पूर्वक ही रहना चाहिए। यह विधान किया गया है।

चेल का अर्थ है—वस्त्र। अचेलक अर्थात् वस्त्ररहित और सचेलक अर्थात् वस्त्रसहित। कभी मुनि को वस्त्रहीन रहना पड़े और कभी वस्त्रयुक्त रहना पड़े तो दोनों अवस्थाओं में उसे साम्यभाव धारण करके खेद नहीं करना चाहिए। इस कथन से अन्य अवस्थाओं में भी समभाव रखने का विधान समझना चाहिए।

जीवन के दिन सदा समान नहीं बीतते। कभी अनूकूल परिस्थिति उत्पन्न होती है तो कभी प्रतिकूल। कभी सुख की सामग्री का संयोग होता है, कभी दुःख की सामग्री प्राप्त होती है। कालिदास ने कहा है—

नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा, चक्रनेमिक्रमेण।

अर्थात्—अवस्थाएँ पहिये की नेमि के समान ऊँची-नीची होती रहती हैं।

इन विभिन्न परिस्थितियों में अगर विषमभाव का सेवन किया जाय तो आत्मा में मलीनता बढ़ती है। जो पुरुष सुखमें फूला नहीं समाता और दुःख में विकल हो जाता है वह राग-द्वेष के अधीन होकर सुख का अनुभव नहीं कर सकता। वास्तविक सुख समभावी को प्राप्त होता है। सम्पत्ति-विपत्ति में, संयोग-वियोग में और सुख-दुःख में जो पुरुष समान रहता है, उसे जगत् की कोई भी शक्ति दुःखी नहीं बना सकती। इस प्रकार समभाव ही सुख की कुंजी है।

समभाव में ही सच्चा धर्म है। जहां विषमभाव होता है, राग-द्वेष की धमा-चौकड़ी मची रहती है वहां धर्म की स्थिति नहीं होती। ऐसा जान कर सम्यग्ज्ञानी पुरुष किसी भी अवस्था में खिन्न नहीं होते और कर्मोदय के कारण जिस अवस्था में आते हैं उसी अवस्था में सन्तोष मान लेते हैं।

मूल:-अक्कोसेज्जा परे भिक्खुं, न तेसिं पडिसंजले।
सरिसो होइ बालाणं, तम्हा भिक्खू न संजले ॥ ४ ॥

छाया:—आक्रोशेत्परः भिक्षुं, न तस्मै प्रतिसंज्वलेत्।
सदृशो भवति बालानां, तस्माद् भिक्षुर्न संज्वलेत् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ:—दूसरा कोई पुरुष भिक्षु पर आक्रोश करे तो उस आक्रोश करने वाले पर भिक्षु क्रोध न करे। क्रोध करने पर वह स्वयं बाल-अज्ञानी के समान हो जाता है, अतएव भिक्षु क्रोध न करे।

भाष्य:—नाना देशों में विहार करने वाले साधु के जीवन में ऐसे भी प्रसंग उपस्थित होते हैं जब कि दूसरे लोग साधु पर क्रोध करते हैं, उस पर आक्रोश करते हैं, उसका अपमान करते हैं। ऐसा करने के अनेक कारण हो सकते हैं। धार्मिक द्वेष, स्वजन का मोह या इसी प्रकार के अन्य निमित्त मिलने पर अथवा निष्कारण ही कोई पुरुष साधु पर नाराज हो तो साधु को क्या करना चाहिए? इसका समाधान यहां किया गया है।

शास्त्रकार ने कहा है—ऐसे अवसर पर साधु को उस क्रोध करने वाले पर क्रोध नहीं करना चाहिए। अगर साधु क्रोध करने वाले पर स्वयं क्रोध करने लगे तो अज्ञानी और ज्ञानी पुरुष में क्या अन्तर रह जायगा? अज्ञानी पुरुष अपने अनिष्ट के वास्तविक कारण को और क्रोध के फल को न जान कर क्रोध करता है और क्रोध करके आप ही अपना अनिष्ट करता है। इसी कारण क्रोध को निन्दनीय कहा गया है। अगर क्रोध का अवसर उपस्थित होने पर साधु भी क्रुद्ध हो जाय तो दोनों ही समान हो जाएंगे।

लोक में एक नीति प्रचलित है—'शठे शाठ्यं समाचरेत्' अर्थात् शठ के साथ शठता का ही व्यवहार करना चाहिए। इस नीति का धर्म शास्त्र विरोध करता है। जो लोग शठ के सामने स्वयं शठ बन जाने का समर्थन करते हैं, वे संसार को शठता से मुक्त नहीं कर सकते वरन् शठता की वृद्धि में सहायक हो सकते हैं। शठता अगर बुराई है तो उसका सामना करने के लिए बुराई को अंगीकार नहीं करना चाहिए। ऐसा करने से बुराई मिटती नहीं, बढ़ती है। इसके अतिरिक्त शठता अगर दंडनीय है तो उसे दंडित करने के लिए धारण की गई शठता भी क्यों न दंडनीय समझी जाय? और इस स्थिति में सिवा अनवस्था के और क्या होगा?

जो व्यक्ति जिस दोष से रहित है, उसे ही दोषवान् व्यक्ति को दंड देने का अधिकार उचित अधिकार माना जाता है। शठ को दंड देने का अधिकार किसे हो सकता है? जो शठता से परे हो। जो स्वयं शठ बन जाता है उसे दूसरे शठ को दंड देने का अधिकार नहीं रह जाता, वरन् वह तो स्वयमेव दंड का पात्र बन जाता है।

यही बात क्रोध के विषय में समझनी चाहिए। अज्ञ पुरुष क्रोध करता है। उसे क्रोधाविष्ट देख कर अगर ज्ञानी क्रोध करने लगे तो अज्ञानी और ज्ञानी में क्या अन्तर रह जायगा? उस समय दोनों एक ही कोटि में सम्मिलित हो जाएंगे। इसीलिए शास्त्रकार ने कहा है कि आक्रोश करने वाले पर क्रोध करने वाला भिक्षु बाल जीव के सदृश ही बन जाता है। अतएव ज्ञानी पुरुष क्रोध न करे। किन्तु क्रोध के कारण उपस्थित होने पर क्रोध से होने वाली हानियों का विचार करके शान्ति धारण करे।

मूलः—समणं संजयं दंतं, हणेज्जा कोवि कत्थइ।
नत्थि जीवस्स नासो त्ति, एवं पेहिज्ज संजए ॥५॥

छायाः—श्रमणं संयतं दान्तं, हन्यात् कोऽपि कुत्रचित्।
नास्ति जीवस्य नाश इति, एवं प्रेक्षेत संयतः ॥ ५ ॥

शब्दार्थः—कोई पुरुष संयमनिष्ठ, इन्द्रिय विजेता और तपस्वी को ताड़ना करे तो संयमी पुरुष ऐसा विचार करे कि—'जीव का कदापि नाश नहीं हो सकता।'

भाष्यः—क्रोध का कारण उपस्थित होने पर ज्ञानी पुरुष को किस प्रकार उसे शान्त करना चाहिए, यहां यह बतलाया गया है।

अगर कोई अज्ञानी पुरुष षट्काय के जीवों की रक्षा करने वाले संयमी, इन्द्रियों को वशवर्त्ती बना लेने वाले दान्त और नाना प्रकार की तपस्या करने वाले श्रमण को ताड़ना करे, तो उस समय साधु को विचार करना चाहिए कि—यह अज्ञानी जीव, क्रोध रूपी पिशाच के वश होकर जो ताड़ना-तर्जना कर रहा है सो केवल शरीर को ही कर रहा है। शरीर पौद्‌गलिक है, मैं सच्चिदानन्दमय चेतन हूँ। यह चेतन को कुछ भी क्षति नहीं पहुँचा रहा है और न पहुँचा ही सकता है। अगर यह बहुत करेगा तो आत्मा को शरीर से विलग कर देगा और इससे मेरी क्या हानि हो सकती है? अन्ततः एक दिन तो दोनों का साथ छूटना ही है। आयुकर्म की समाप्ति होने पर आत्मा शरीर में नहीं रह सकता सो अगर यह पुरुष मुझे शरीर से विलग भी करता है तो नवीन या अनहोनी बात क्या है?

कोई कितना ही क्यों न करे, आत्मा का नाश नहीं हो सकता। आत्मा अजर-अमर-अविनाशी तत्त्व है। अनादि-अनन्त आत्मा को न कोई मार सकता है, न वह मर सकता है। जब आत्मा मर नहीं सकता और शरीर की क्षति से मेरी कुछ भी क्षति नहीं होती तो मैं क्रोध क्यों करूं।

शरीर को क्षति पहुँचाने वाले पर क्रोध करके मैं अपने आत्मा को क्षति पहुँचाऊंगा। इस प्रकार जो अनिष्ट दूसरे ने नहीं किया वह मैं अपने आप कर बैठूंगा। मैं अपने अधिक अनिष्ट का कारण बनूंगा। शरीर को क्षति पहुँचने पर भी मुझे किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँच सकती, क्योंकि मैं शरीर-रूप नहीं हूँ। शरीर भिन्न है,

मैं भिन्न हूँ। शारीरिक क्षति को क्षमा भावना के साथ सहन करने से अधिक निर्जरा होती है और उससे आत्मा कर्मों के भार से हल्का बनता है। इस प्रकार पारमार्थिक दृष्टि से देखने पर शरीर को क्षति पहुँचाने वाला पुरुष उपकारक है, अपकारक नहीं।

इत्यादि विचार करके संयमी पुरुष अपने आत्मा को समभाव के अमृत से सिंचन करे।

मूल:-बालाणं अकामं तु, मरणं असइं भवं।
पंडिआणं सकामं तु, उक्कोसेण सइं भवे ॥ ६ ॥

छाया:—बालानामकामं तु मरणमसकृद् भवेत्।
पण्डितानां सकामं तु, उत्कर्षेण सकृद् भवेत् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ:--अज्ञानी पुरुषों का अकाम मरण बार-बार होता है और ज्ञानी पुरुषों का सकाम मरण उत्कृष्ट एक बार होता है।

भाष्य: - शारीरिक यातना के समय, मृत्यु का प्रसंग उपस्थित होने पर भिक्षु को क्या विचारना चाहिए, यह बात यहां बताई गई है।

जिन्हें सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई है, जो विषयभोग में गृद्ध हैं, जिन्हें आत्मा अनात्मा का विवेक नहीं है, पुण्य, पाप और उनके फलस्वरूप होने वाले परलोक पर विश्वास नहीं है, जो आत्मा को इसी शरीर के साथ नष्ट हुआ मानते हैं, ऐसे पुरुष बाल जीव कहलाते हैं। जिन्हें सम्यग्ज्ञान प्राप्त है, जो विषयभोग से विरक्त हैं, जिन्हें आत्मा-अनात्मा का विवेक है, जो आत्मा को अजर-अमर अनुभव करते हैं, संयम-पालन में सदा रत रहते हैं वे ज्ञानी पुरुष कहलाते हैं।

अज्ञानी पुरुष और ज्ञानी पुरुष की मृत्यु में भी उतना ही भेद होता है जितना उनके जीवन में भेद होता है। ज्ञानी जीवन की कला को जानते हैं और मृत्युकला में भी निष्णात होते हैं। अज्ञानी न कलापूर्ण जीवन-यापन करते हैं, न मृत्युकला ही को वे जानते हैं। अतएव अज्ञानियों का जीवन मृत्यु का कारण बनता है और उनकी मृत्यु नवीन जन्म का कारण होती है। इस प्रकार उनके जन्म-मरण का चक्कर अनन्त काल तक चलता रहता है। ज्ञानी पुरुष जीवन को मृत्यु का नाशक बना लेते हैं और मृत्यु को नवीन जन्म का नाशक बना लेते हैं। अतएव उनके जन्म-मरण की परम्परा विच्छिन्न हो जाती है और वे शाश्वत सिद्धि का लाभ कर लेते हैं।

जो अज्ञानी अपने जीवन में हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार और परिग्रह आदि पापों में फँसा रहता है, जिसे धर्म-अधर्म का, कृत्य-अकृत्य का, हित-अहित का किंचित् भी विवेक नहीं रहता वह मृत्यु का अवसर आने पर अत्यन्त दुखी होता है। वह सोचने लगता है—'हाय! मैं अत्यन्त कष्ट पूर्वक उपार्जन की हुई सुख-सामग्री से विलग हो कर जा रहा हूँ। मेरे प्यारे कुटुम्बी जन मुझसे अलग हो रहे हैं। अब आगे न जाने क्या होगा? हाय! मेरा सुनहरा संसार मिट्टी में मिल रहा है!

इस प्रकार दुःख, खेद संताप और विकलता से ग्रस्त होकर अज्ञानी मरण-शरण होता है। इस प्रकार की मृत्यु अकाममृत्यु कहलाती है और इसी को काल-मृत्यु भी कहते हैं।

अकाम-मरण अनन्त भव-परम्परा का कारण है। जब तक अकाम-मरण की परम्परा चालू है तब तक जन्म-मरण का प्रवाह समाप्त नहीं हो सकता। इसी अभिप्राय से शास्त्रकार ने वाल-जीवों का अकाम मरण पुनः-पुनः बतलाया है।

ज्ञानी जन आत्मतत्त्व के वेत्ता होते हैं। वे यह भली भांति जानते हैं कि मृत्यु कोई अनोखी वस्तु नहीं है। वह जीव की एक साधारण क्रिया है। जैसे पुराना वस्त्र उतार कर फैंक दिया जाता है और नवीन वस्त्र धारण किया जाता है, यह दुःख या शोक की बात है। इसी प्रकार पुराने जरा-जीर्ण शरीर को त्याग देने में शोक या परिताप की क्या बात है ?

इस प्रकार विचार करके ज्ञानी जन मृत्यु की भयंकरता को जीत लेते हैं। उन्हें मृत्यु का अवसर उपस्थित होने पर किंचित् मात्र भी भय, दुःख या संताप नहीं होता। जैसे किसी शूरवीर राजा पर जब कोई दूसरा राजा चढ़ाई करता है तो वह चढ़ाई का समाचार सुनते ही वीर रस में डूब जाता है। उसका अंग-प्रत्यंग वीर रस के आधिक्य से फड़कने लगता है। वह तत्काल अपनी सेना सजाकर राजसुख से विमुख होकर, शीत, ताप, भूख, प्यास आदि के कष्टों की चिन्ता त्याग कर, अस्त्र शस्त्र के प्रहार की परवाह न करता हुआ शत्रु को परास्त करने में लग जाता है और शत्रु-सेना को भयभीत एवं कम्पित करता हुआ विजय प्राप्त करके अन्त में निष्कंटक राज्य का भोग करता है। उसी प्रकार ज्ञानी जन काल रूप शत्रु का आगमन जानकर तत्काल सावधान हो जाते हैं। वे शारीरिक कष्टों की चिन्ता भूल कर, क्षुधा-तृषा आदि परिषहों की परवाह न करते हुए, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, और तप की चतुरंगिणी सेना सजाकर, सकाम मरण रूप समर में जूझ पड़ते हैं और काल-शत्रु को पराजित करके निष्कंटक मुक्ति रूपी राज्य का परमोत्तम सुख भोगते हैं।

मृत्यु के विषय में ज्ञानीजनों की विचारणा क्या है, यह समझ लेना चाहिए। ज्ञानी जन मृत्यु को भी महोत्सव रूप में परिणत कर लेते हैं। कहा भी है:—

> कृमिजालशताकीर्णे, जर्जरे देहपञ्जरे।
> भज्यमाने न भेत्तव्यं, यतस्त्वं ज्ञानविग्रहः ॥

अर्थात्—हे आत्मन्! तू ज्ञान रूपी दिव्य शरीर को धारण करने वाला है तो फिर सैंकड़ों कीड़ों से भरे हुए, जर्जर देह रूपी पींजरे के भंग होने पर क्यों भय करना चाहिए ?

> सुदत्तं प्राप्यते यस्मात्, दृश्यते, पूर्वसत्तमैः।
> भुज्यते स्वर्भवं सौख्यं, मृत्युभीतिः कुतः सताम् ॥

अर्थात्—जीवन-पर्यन्त दिये हुए दान आदि के फल स्वरूप स्वर्ग के सुख

जिस के द्वारा प्राप्त होते हैं, उस मृत्यु से सत्पुरुषों को भय क्यों होना चाहिए ?

आगर्भाद् दुःखसन्तप्तः प्रक्षिप्तो देहपञ्जरे।
नात्मा विमुच्यतेऽन्येन मृत्युभूमिपतिं विना ॥

अर्थात्:—गर्भ से लेकर अब तक कर्म रूपी शत्रु ने आत्मा को शरीर रूपी कारागार में कैद कर रक्खा था। मृत्यु रूप राजा के सिवाय आत्मा को कौन उस कैदखाने से छुड़ा सकता है ?

जीर्णं देहादिकं सर्वं, नूतनं जायते यतः।
स मृत्युः किं न मोदाय,सतां सातोत्थितिर्यथा ॥

अर्थात्—जिसकी कृपा से जीर्ण-शीर्ण शरीर और इन्द्रियां नष्ट होकर नवीन देह और इन्द्रियों की प्राप्ति होती है, वह सुखप्रद मृत्यु सत्पुरुषों के आनन्द का कारण क्यों न हो।

इस प्रकार परमार्थ-दृष्टि से विचार करके ज्ञानी पुरुष मृत्यु आने पर रोते-चिल्लाते नहीं है, किन्तु उसका मित्र की भांति स्वागत करते हैं। यही कारण है कि मृत्यु उनके लिए महोत्सव रूप है।

किसान बीज बोता है और तत्पश्चात् अत्यन्त परिश्रम के साथ उसकी रक्षा करता है। धान्य जब सफल होकर पककर सूखने लगता है तब उसे दुःख नहीं होता। वह यह नहीं सोचता कि—'हाय ! मेरा हरा-भरा खेत सूख रहा है !' प्रत्युत अपने श्रम को सार्थक होते देखकर उसकी प्रसन्नता का पार नहीं रहता। वह समझता है कि गर्मी, सर्दी और वर्षा का कष्ट सहन करने का जो उद्देश्य था वह अब पूरा होने जा रहा है।

इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष जीवन-पर्यन्त जो दान, ध्यान आदि शुभ अनुष्ठान करता है, और संयम की रक्षा करने में नाना प्रकार के परीषह एवं उपसर्ग सहन करता है, उसका फल मृत्यु के समय ही उसे प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में वह दुखी न होकर प्रसन्न ही होता है। शास्त्र में कहा है—

मरणं पि सपुण्णाणं, जहा मेयमणुस्सुयं।
विप्पसण्णमणाघायं, संजयाण वुसीमओ ॥

अर्थात्—जिन पुण्यवान और संयमी पुरुषों ने अपना जीवन ज्ञानी जनों द्वारा प्ररूपित धर्म के अनुसार व्यतीत किया है, उनका मरण प्रसन्नतापूर्ण और सब प्रकार के आघात से रहित होता है। उन्हें इस बात का विश्वास है कि जीवन में आचरित धर्मकार्य का फल उन्हें अवश्य ही प्राप्त होगा।

तेसिं सोच्चा सपुज्जाणं, संजयाण वुसीमओ।
न संतसंति मरणंते, सीलवंता बहुस्सुया ॥
तुलिया विसेसमादाय, दया-धम्मस्स खंतिए।
विप्पसीएज्ज मेहावी, तहाभूएण अप्पणा ॥

तओ काले अभिप्पेए, सड्ढी तालिसमंतिए।
विणएज्ज लोमहरिसं, भेयं देहस्स कंखए॥
अह कालम्मि संपत्ते, आघायस्स समुस्सयं।
सकाममरणं मरइ, तिण्हमन्नयरं मुणी॥

उत्तराध्ययन ५. २६-३२

अर्थात् शीलवान् एवं बहुश्रुत पुरुष मरण-समय उपस्थित होने पर किसी प्रकार के त्रास का अनुभव न करते हुए, धैर्य के साथ, प्रसन्नतापूर्वक मृत्यु को अंगीकार करते हैं, अतएव उनका मरण सकाममरण कहलाता है।

जीवन भर दयाधर्म का पालन करने वाले मेधावी पुरुष, समय आने पर श्रद्धा पूर्वक गुरुके सामने, विषाद का परित्याग करके, देह के भंग होने की प्रतीक्षा करता हुआ तैयार रहता है और तीन प्रकार के सकाममरण में से एक प्रकार के सकाममरण पूर्वक शरीर को त्याग देते हैं।

सकाम मरण के तीन प्रकार यह हैं—(१) भक्तप्रत्याख्यान-आजीवन भोजन का त्याग करना।

(२) इत्वरिक मरण-आहार के त्याग के साथ-साथ चलने-फिरने के क्षेत्र की मर्यादा करना।

(३) पापोपगमन-शरीर की समस्त चेष्टाओं का त्याग करके निश्चल हो जाना। सकाम मरण के गुणनिष्पन्न पांच नाम हैं—(१) सकाममरण (२) समाधिमरण (३) अनशन (४) संथारा और (५) संलेखना।

(१) सकाममरण—मुमुक्षु पुरुष सदा के लिए मृत्यु से मुक्त होने की कामना करते हैं। यह कामना जिससे पूर्ण होती है उसे सकाम मरण कहा गया है।

(२) समाधिमरण—सब प्रकार की आधि, व्याधि और उपाधि से चित्त को हटाकर पूर्ण रूप से समाधि में स्थापित किया जाता है। अतएव उसे समाधिमरण कहते हैं।

(३) अनशन—चारों प्रकार के आहार का त्याग इस मृत्यु के समय किया जाता है अतएव उसे अनशन भी कहते हैं।

(४) संथारा—अन्त समय बिछौने में शयन करके सज्झाय के कारण संथारा कहते हैं।

(५) संलेखना—माया, मिथ्यात्व और निदान रूप शल्यों की आलोचना, निन्दा एवं गर्हा उस समय की जाती है, अतएव उसे संलेखना भी कहते हैं।

ऊपर सकाममरण का जो विवेचन किया गया है, उससे यह अभिप्राय समझना चाहिए कि ज्ञानी पुरुष मृत्यु की कामना करते हैं, या मृत्यु का आह्वान करते हैं या भविष्य में आनेवाली मृत्यु को शीघ्र बुलाने का कोई प्रयत्न करते

ज्ञानी पुरुष ऐसा नहीं करते। वे जिस प्रकार जीवन के लोभ से जीवित रहने की कामना से मुक्त होते हैं, उसी प्रकार परलोक के परमोत्तम सुख की आकांक्षा से या जीवन से तंग आकर मृत्यु की कामना भी नहीं करते। उनका समभाव इतना जीवित और विकसित होता है कि उन्हें दोनों अवस्थाओं में किसी प्रकार की विषमता ही अनुभूत नहीं होती। मृत्यु आने पर वे दुःखी नहीं होते, यही सकाममरण का आशय है।

इस प्रकार जीवन और मृत्यु के रहस्य को वास्तविक रूप से जानने वाले पंडित पुरुष मृत्यु से घबराते नहीं हैं। वे मृत्यु को इतना उत्तम रूप देते हैं कि उन्हें फिर कभी मृत्यु के पंजे में नहीं फंसना पड़ता। अतएव प्रत्येक भव्य पुरुष को मृत्यु-काल में समाधि रखना चाहिए और तनिक भी व्याकुल नहीं होना चाहिए।

मूलः—सत्थग्गहणं विसभक्खणं च, जलणं च जलपवेसो य।
अणायारभंडसेवी, जम्मणमरणाणि बंधंति ॥७॥

छायाः—शस्त्रग्रहणं विषभक्षणञ्च, ज्वलनञ्च जलप्रवेशश्च।
अनाचारभाण्डसेवी, जन्ममरणानि बध्येते ॥ ७ ॥

शब्दार्थः—जो अज्ञानी आत्मघात के लिए शस्त्र का प्रयोग करते हैं, विषभक्षण करते हैं, अग्नि में प्रवेश करते हैं, जल में प्रवेश करते हैं और न सेवन करने योग्य सामग्री का सेवन करते हैं, वे अनेक वार जन्म-मरण करने योग्य कर्म बांधते हैं।

भाष्यः- इससे पूर्व गाथा में सकाममरण का जो स्वरूप बताया गया है, उससे कोई आत्मघात करने का अभिप्राय न समझे, इस बात के स्पष्टीकरण के लिए शास्त्रकार स्वयं आत्मघातजन्य अनर्थ का वर्णन करते हैं।

प्राचीन काल में देहपात करना धर्म समझा जाता था। अनेक अज्ञानी पुरुष स्वेच्छा से, परलोक के सुखों का भोग करने के लिए अपने स्वस्थ और सशक्त शरीर का त्याग कर देते थे। इस क्रिया को वे समाधि कहते थे।

समाधि लेने की अज्ञानपूर्ण क्रिया के उद्देश्य का विचार किया जाय तो पता चलेगा कि उसके मूल में लोभ कषाय या द्वेष कषाय है। या तो जीवन के प्रति घृणा उत्पन्न होने से, जो कि द्वेष का ही एक रूप है, आत्मघात किया जाता है या परलोक के स्वर्गीय सुख शीघ्र पा लेने की प्रबल अभिलाषा से। इन में से या इसी से मिलता जुलता कोई अन्य कारण हो तो भी, यह स्पष्ट है कि आत्मघात में कषाय की भावना विद्यमान है। जहां कषाय है वहां धर्म नहीं। अतएव आत्मघात की क्रिया अधर्म का कारण है। धार्मिक दृष्टि के अतिरिक्त, किसी लौकिक कारण से किया जाने वाला आत्मघात तो सर्वसम्मत अधर्म है ही।

इसी अर्थ को शास्त्रकार ने स्पष्ट किया है। धर्म-लाभ के लिए या क्रोध आदि के तीव्र आवेश में आकर जो लोग अपघात करने के लिए शस्त्र का प्रयोग करते हैं,

विष का भक्षण करते हैं, अग्नि में प्रवेश करते हैं, जल में प्रवेश करते हैं, या इसी प्रकार के किसी अनाचरणीय उपाय का आचरण करते हैं, वे कर्मों से छुटकारा तो पाते नहीं, वरन् प्रगाढ़ नवीन कर्मों का वंध करके दीर्घ काल पर्यन्त जन्म-मरण के पंजे में फँसे रहते हैं।

पति के परलोक गमन करने पर पत्नी का अग्निप्रवेश भी आत्मघात ही है। स्त्री का सच्चा सतीत्व शीलरक्षा एवं ब्रह्मचर्य के पालन में है, न कि आपघात में। अतएव आत्मघात किसी भी अवस्था में विधेय नहीं है। आत्मघात घोर कायरता का फल है या घोरतर अज्ञान का फल है। इसलिए बुद्धिमान् पुरुष आत्मघात को अधर्म समझकर उसमें कदापि प्रवृत्त नहीं होते।

मूलः—अह पंचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भई।
थंभा कोहा पमाएणं, रोगेणालस्सएण य ॥८॥

छाया --अथ पञ्चभिः स्थानैः, यैः शिक्षा न लभ्यते।
स्तम्भात् क्रोधात् प्रमादेन, रोगेणालस्येन च ॥ ८ ॥

शब्दार्थः—जिन पांच कारणों से शिक्षा प्राप्त नहीं होती, वे यह हैं--(१) अभिमान से (२) क्रोध से (३) प्रमाद से (४) रोग से और (५) आलस्य से।

भाष्यः—आत्मा में विद्यमान शक्ति का जिससे विकास होता है वह शिक्षा है। शिक्षा-प्राप्ति के लिए नम्रता आदि गुणों की आवश्यकता होती है। जो शिष्य अभिमानी होता है और अभिमान के कारण यह सोचता है कि—इसमें क्या रक्खा है? गुरुजी जो सिखाते हैं वह सब तो मैं स्वयं जानता हूँ। और इस प्रकार सोचकर विनय के साथ गुरुप्रदत्त पाठ को अंगीकार नहीं करता वह शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता। अभिमान करने से गुरु का शिष्य पर आन्तरिक स्नेह नहीं होता और विना स्नेह के भलीभांति शिक्षा का प्रदान नहीं हो सकता है। अतएव शिक्षा के अर्थी शिष्य को अभिमान का त्याग करना चाहिए।

जो शिष्य क्रोधी होता है, गुरुजी द्वारा डांटने-डपटने पर आग बबूला हो जाता है, वह भी अपने गुरु का हृदय नहीं जीत पाता और शिक्षा से वंचित रहता है।

क्रोध और अभिमान की मात्रा कदाचित् अधिक न हो और प्रमाद का आधिक्य हो तथा प्रमाद के कारण पठित विषय का वारम्बार स्मरण या पारायण न करे तो पिछला पाठ विस्मृत हो जाता है। आगे-आगे पढ़ता जाय और पीछे--पीछे का भूलता जाए तो उसका परिणाम कुछ भी नहीं निकलता। अतः शिक्षार्थी को प्रमाद का परित्याग कर पिछले-अगले पाठ का वार-वार चिन्तन मनन करना चाहिए। ऐसा किये विना शिक्षा की प्राप्ति नहीं होती। पिछले पाठ को छोड़ वैठना ही प्रमाद नहीं है, वरन आगे का पाठ पढ़ने में निरुत्साह होना, आज नहीं तो फिर कभी पढ़ लेंगे, इस प्रकार का भाव होना भी प्रमाद के ही अन्तर्गत है।

प्रमाद की भांति रोग भी शिक्षा-प्राप्ति में बाधक होता है। रोगी शिष्य का चित्त, असाता के कारण अध्ययन में संलग्न नहीं होता और संलग्नता के बिना शिक्षा नहीं प्राप्त होती। अतः विद्यार्थी को अपने शारीरिक स्वास्थ्य की ओर अवश्य ध्यान रखना चाहिए। जो केवल बौद्धिक या मानसिक शिक्षा ग्रहण करना चाहता है और शरीर की शिक्षा की तरफ से उदासीन रहता है वह शिक्षा नहीं ग्रहण कर सकता है। अतः जैसे मानसिक स्वास्थ्य की आवश्यकता है, उसी प्रकार शारीरिक स्वास्थ्य की भी विद्यार्थी को आवश्यकता है।

विद्वानों का कथन है कि स्वस्थ तन में ही स्वस्थ मन रहता है। अस्वस्थ तन में स्वस्थ मन रह नहीं सकता। ऐसी स्थिति में जो तन की स्वस्थता का ध्यान नहीं रखते वे शिक्षा से वंचित रहते हैं।

आलस्य भी शिक्षा प्राप्ति में बाधक है। जिस विद्यार्थी में फुर्ती नहीं, चुस्ती नहीं, जो मंथर गति से, मरे हुए-से मन से काम करता है, एक घड़ी के कार्य में दो घड़ी लगाता है, आलस्य से ग्रस्त होकर जल्दी सो जाता और सूर्योदय तक बिछौने पर पड़ा रहता है, वह भलीभांति शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकता।

मूलः—अह अट्ठहिं ठाणेहिं, सिक्खासीले त्ति वुच्चइ।
अहस्सिरे सया दंते, न य मम्ममुदाहरे ॥ ९ ॥
नासीले य विसीले य, न सिआ अइलोलुए।
अक्कोहणे सच्चरए, सिक्खासीले त्ति वुच्चइ ॥ १० ॥

छायाः— अथ अष्टभिः स्थानैः, शिक्षाशील इत्युच्यते।
अहसनशीलः सदा दान्तः, न च मर्मोदाहरेत् ॥ ९ ॥
नाशीलो न विशीलः, न स्यादतिलोलुपः।
अक्रोधनः सत्यरतः, शिक्षाशील इत्युच्यते ॥ १० ॥

शब्दार्थः—हे गौतम! आठ कारणों से शिष्य शिक्षाशील कहा जाता है:—(१) हंसोड़ न हो (२) सदा इन्द्रियों को अपने अधीन रखता हो (३) मर्मवेधी या दूसरे की गुप्त बात प्रकट करने वाली भाषा न बोलता हो (४) शील से सर्वथा रहित न हो (५) शील को दूषित करने वाला न हो (६) अत्यन्त लोलुप न हो (७) क्रोधी स्वभाव का न हो और (८) सत्य में रत रहने वाला हो।

भाष्यः—शिक्षाप्राप्ति के लिए यहां जिन गुणों की आवश्यकता प्रतिपादित की गई है, उस पर विवेचन करने की आवश्यकता नहीं। शिष्य को अधिक हंसोड़ न होकर गंभीरवृत्ति वाला होना चाहिये। यद्यपि प्रसन्नचित्तता आवश्यक है, पर अत्यन्त हंसोड़पन क्षुद्रता प्रकट करता है। अतएव शिष्य को हंसोड़पन का त्याग करना चाहिए। इन्द्रियों पर अंकुश रखना चाहिए। जो इन्द्रियों का दमन न करेगा वह

इन्द्रियों के विषय में आसक्त बन कर शिक्षा-ग्रहण से वंचित रह जायगा।

इसी प्रकार दूसरे के मर्म को चोट पहुँचाने वाली बात कहना, या किसी की गुप्त बात प्रकाश में लाना, सदाचार से सर्वथा शून्य होना, सदाचार में दोष लगाना, अतीव लोलुपता का होना, क्रोधशील होना, और असत्यमय व्यवहार करना, यह सब दोष जिसने जितनी मात्रा में त्याग दिये हैं वह उतनी ही मात्रा में शिक्षा के योग्य बनता है। अतएव शिष्य को इन आठ गुणों का धारण-पालन करके शिक्षा ग्रहण करना चाहिए।

मूलः—जे लक्खणं सुविण पउंजमाणे,
निमित्तकोऊहलसंपगाढे।
कुहेड-विज्जासवदारजीवी,
न गच्छइ सरणं तम्मि काले॥ ११॥

छायाः—यो लक्षणं स्वप्नं प्रयुञ्जानः, निमित्तकौतूहलसम्प्रगाढ़ः।
कुहेटकविद्यास्रवद्वारजीवी, न गच्छति शरणं तस्मिन् काले॥ ११॥

शब्दार्थः—जो साधु होकर भी स्त्री-पुरुष के हाथ की रेखाएं देख कर उनका फल बतलाता है, स्वप्न का फलादेश बताने का प्रयोग करता है, भावी फल बताने में, कौतूहल करने में तथा पुत्रोत्पत्ति के साधन बताने में आसक्त रहता है, मंत्र, तंत्र, विद्या रूप आस्रव के द्वारा जीवन निर्वाह करता है, वह कर्मों का उदय आने पर किसी का भी शरण नहीं पाता।

भाष्यः—साधु की आत्मसाधना का पथ अत्यन्त दुर्गम है। जरा-सी असावधानी होते ही पथ से विचलित हो जाना पड़ता है। एकाग्र भाव से, तल्लीनता-पूर्वक साधना करने वाला मुमुक्षु ही अपने ध्येय में सफलता प्राप्त करता है। जो पुरुष मानसिक चंचलता के कारण या कौतूहल के वश होकर अपने प्रधान साध्यविन्दु से हटकर दूसरी ओर मुड़ जाता है और संसार को एक बार त्याग फिर संसार की ओर उन्मुख हो जाता है, ग्रहण की हुई निवृत्ति से च्युत होकर पुनः प्रवृत्ति रूप प्रपञ्च में पड़ जाता है, वह 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' होकर इस लोक से भी जाता है और परलोक से भी जाता है।

सांसारिक प्रपञ्चों में पड़ने से, मुक्ति की साधना में व्याघात हुए विना नहीं रहता। इसी कारण जिनागम में मुनियों के ऐसे आचार का प्रतिपादन किया गया है कि वे संसार-व्यवहार सम्बन्धी किसी विषय से सम्पर्क न रख कर एकांत आत्मसाधना में ही तन्मय रहें।

सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार स्त्री-पुरुष आदि के हाथ की रेखाएं देखकर उनके फल का प्रतिपादन करना, स्वप्न शास्त्र के अनुसार स्वप्न का फलाफल बतलाना,

भविष्य किस प्रकार का होगा, यह निमित्त देखकर बताना, वशीकरण मंत्र, मोहन मंत्र, उच्चाटन आदि की विधि बताना या सिखाना, कौतूहलजनक क्रियाएं करना, जैसे अदृश्य हो जाना, या अदृश्य हो जाने की विद्या सिखलाना, आदि इसी प्रकार का कोई भी कार्य करना सांसारिक प्रपञ्च है। साधु को इस प्रपञ्च से दूर रहना चाहिए।

इस प्रकार के प्रपञ्च आत्मसाधना के घोर विरोधी हैं। जिसका चित्त इनकी ओर लगा रहेगा वह आत्मसाधना के कठोर पथ पर चल नहीं सकता। इतना ही नहीं, साधु को अपने उदर की पूर्ति के लिए भी इनका आश्रय नहीं लेना चाहिए। साधु की आजीविका सर्वथा निरवद्य बतलाई गई है। उसका विवेचन पहले किया जा चुका है। उसी के अनुसार अपना निर्वाह करना साधु का धर्म है। अतएव किसी भी कारण से साधु को सामुद्रिक शास्त्र, स्वप्न शास्त्र, निमित्त शास्त्र, मंत्र, तंत्र, विद्या आदि का प्रयोग करना उचित नहीं है।

मुनि हो करके भी इनका प्रयोग करने वाले की क्या दुर्गति होती है, इस सम्बन्ध में शास्त्रकार ने कहा है—'न गच्छइ सरणं तम्मि काले' अर्थात् कर्म का उदय होने पर अथवा मृत्यु का समय उपस्थित होने पर उसके लिए कोई शरणदाता नहीं होता। वह अशरण, असहाय और अनवलम्ब होकर दुःख का अनुभव करता है। अन्त समय धर्म ही शरण होता है। कहा भी है—

धम्मो मंगलमउलं, ओसहमउलं च सव्वदुक्खाणं।
धम्मो वलमवि विउलं, धम्मो ताणं च सरणं च ॥

अर्थात्—धर्म ही अनुपम मंगलकारी है, धर्म ही समस्त दुःखों की अनुपम औषध है, धर्म ही अनुपम बल है और धर्म ही त्राण एवं शरण है।

जब धर्म ही जीव को शरणभूत है तो अधर्म का सेवन करने वालों को क्या शरण हो सकता है? अधर्मनिष्ठ लोग अशरण होकर दीन दशा का अनुभव करते हुए दुःखों के पात्र बनते हैं। ऐसा विचार कर प्रत्येक मोक्षाभिलाषी पुरुष को अधर्म का त्याग कर धर्म का ही आश्रय ग्रहण करना चाहिए।

मूलः—पडंति नरए घोरे, जे नरा पावकारिणो।
दिव्वं च गइं गच्छंति, चरित्ता धम्ममारियं ॥१२॥

छाया: पतन्ति नरके घोरे, ये नराः पापकारिणः।
दिव्यां च गतिं गच्छन्ति चरित्वा धर्ममार्यम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थः—जो मनुष्य पाप करते हैं वे घोर नरक में पड़ते हैं और सदाचार रूप धर्म का आचरण करने वाले दिव्य गति में—देवलोक में—जाते हैं।

भाष्यः—प्रस्तुत गाथा में धर्म और अधर्म के फल का सार निचोड़ कर रख दिया गया है। हिंसा, असत्य, आदि पापों का सेवन करने वाले पुरुष घोर वेदना-

जनक नरक में जन्म लेते हैं और आर्य अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा प्ररूपित धर्म का सेवन करने वाले स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं।

शास्त्रकार ने अधर्म और धर्म के फल की प्ररूपणा करके परलोक का भी विधान कर दिया है और धर्म-सेवन की महिमा का भी कथन कर दिया है।

इस गाथा से यह अभिप्राय भी निकलता है कि आत्मा सदा एक ही स्थिति में नहीं रहता। जो आत्मा एक वार अधर्म के फलस्वरूप नरक का अतिथि वनता है, वही दूसरे समय, धर्म का सेवन करके स्वर्ग का अधिकारी वन जाता है। अतएव जो लोग आत्मा को सदैव एक ही स्थिति में रहना स्वीकार करते हैं, उनकी मान्यता भ्रमपूर्ण है। सदा एक ही स्थिति में रहने से पुण्य-पाप या धर्म-अधर्म के फल का उपभोग नहीं वन सकता। इस स्थिति में धर्म का आचरण करना निष्फल हो जाता है।

शास्त्रकार के इस विधान से यह भी फलित होता है कि आत्मा ही कर्त्ता है और वही स्वयं कर्म के फल का भोक्ता है। आत्मा में दैवी और नारकीय दोनों अवस्थाओं को अपनाने की शक्ति विद्यमान है। वह जिस अवस्था को ग्रहण करना चाहे, उसी के अनुसार व्यवहार करे। मनुष्य एक चौराहे पर खड़ा है। चारों ओर मार्ग जाते हैं। उसकी जिस ओर जाने की अभिलाषा हो वही मार्ग वह पकड़ सकता है।

मनुष्य को यह महा दुर्लभ अवसर मिला है। एक क्षण का भी इस समय वड़ा मूल्य है। हे भव्य जीवो! इसका सदुपयोग करो और अक्षय कल्याण के पात्र वनो।

मूलः—बहु आगमविरणाणा,
समाहिउप्पायगा य गुणगाही।
एएण कारणेणं,
अरिहा आलोयणं सोउं ॥ १३ ॥

छाया: वहु वागमविज्ञाना, समाध्युत्पादकाश्च गुणग्राहिणः।
एतेन कारणेन, अर्हा आलोचनां श्रोतुम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थः—जो वहुत आगमों के ज्ञाता होते हैं, कहने वाले अर्थात् अपने दोषों को प्रकट करने वाले को समाधि उत्पन्न करने वाले होते हैं, और जो गुणग्राही होते हैं, वही इन गुणों के कारण आलोचना सुनने के योग्य-अधिकारी है।

भाष्यः—लगे हुए दोषों का स्मरण करके उनके लिए पश्चात्ताप करना आलोचना है। आलोचना अगर गुरु के समक्ष की जाती है, तो उसका महत्व अधिक होता है। गुरु के समीप निष्कपट बुद्धि से, अपने दोष को निवेदन करने से हृदय में वल आता है और भविष्य में उस दोष से वचने का अधिक ध्यान रहता है। आलोचना किस योग्यता वाले के सामने करनी चाहिए, यह यहाँ स्पष्ट किया गया है।

जो विविध शास्त्रों का वेत्ता हो, जिसे आलोचना करने वाले के प्रति सहानु-

भूति हो—जो आलोचक को सान्त्वना एवं सुशिक्षा देकर समाधि उत्पन्न करने वाला हो और गुणग्राही हो, वही आलोचना सुनने का अधिकारी है।

किसी का दोष जानकर जो उसका ढोल पीटे, उस दोष को प्रकट करके सर्व-साधारण में निन्दा करे अथवा जो दोषदर्शी हो, आलोचक के गुणों को न देख कर केवल मात्र दोषों को देखता हो, आलोचना करने की सरलता रूप गुण को भी जो न देखे और साथ ही जिसे शास्त्रीय ज्ञान पर्याप्त न हो वह आलोचना सुनने का अधिकारी नहीं है।

मूलः—भावणा जोगसुद्धप्पा, जले णावा व आहिया।
नावा व तीरसम्पन्ना, सव्वदुक्खा तिउट्टइ ॥ १४ ॥

छायाः—भावना-योगशुद्धात्मा, जले नौरिवाख्याता।
नौरिव तीरसम्पन्ना, सर्वदुःखात् त्रुट्यति ॥ १४ ॥

शब्दार्थः—भावना रूप योग से जिसकी आत्मा शुद्ध हो रही है वह जल में नौका के समान कहा गया है। जैसे अनुकूल वायु आदि निमित्त मिलने पर नौका किनारे लग जाती है उसी प्रकार शुद्धात्मा जीव समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है—संसार-सागर के किनारे पहुँच जाता है।

भाष्यः—संसार को विशाल समुद्र की उपमा दी गई है। जैसे समुद्र को पार करके किनारे पहुँच जाना अत्यन्त कठिन होता है, उसी प्रकार संसार से छुटकारा पाकर मुक्ति का प्राप्त होना भी अतीव कठिन है। किन्तु उत्तम भावना के योग से जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है वह संसार के प्रपंचों को त्यागकर, जल में नौका के समान, संसार-सागर के ऊपर ही रहता है। जैसे नौका जल में डूबती नहीं है, उसी प्रकार शुद्ध अन्तःकरण वाला पुरुष संसार-सागर में नहीं डूबता है। जैसे कुशल कर्णधार द्वारा प्रयुक्त और अनुकूल वायु द्वारा प्रेरित नौका सब प्रकार के द्वन्द्वों से मुक्त होकर किनारे लग जाती है, इसी प्रकार उत्तम चारित्र से युक्त जीव रूपी नौका, श्रेष्ठ आगम रूप कर्णधार से युक्त होकर और तप रूपी पवन से प्रेरित होकर दुःखात्मक संसार से छूट कर समस्त दुःखाभाव रूप मोक्ष को प्राप्त होती है।

तात्पर्य यह है कि वही पुरुष मुक्ति-लाभ कर सकते हैं, जिनका अन्तःकरण भावनायोग से विशुद्ध होता है। बारह प्रकार की भावनाओं का वर्णन पहले किया जा चुका है। उनके पुनः-पुनः-चिन्तन से भावनायोग की सिद्धि होती है और उसीसे अन्तःकरण की शुद्धि होती है। अन्तःकरण की शुद्धि शाश्वत सिद्धि का मूल है।

मूलः—सवणे नाणे विण्णाणे, पच्चक्खाणे य संजये।
अणाहए तवे चेव, वोदाणे अकिरिया सिद्धी ॥१५॥

छाया:—श्रवणं ज्ञानं विज्ञानं, प्रत्याख्यानञ्च संयमः ।
अनाश्रवं तपश्चैव, व्यवदानमक्रिया सिद्धिः ॥ १५ ॥

शब्दार्थः—ज्ञानी पुरुषों की संगति से धर्मश्रवण का अवसर मिलता है, धर्मश्रवण से ज्ञान प्राप्त होता है, ज्ञान से विज्ञान होता है, विज्ञान से त्याग उत्पन्न होता है, त्याग से संयम होता है, संयम से आश्रव का अभाव हो जाता है और उस से तप की प्राप्ति होती है। तप के प्रभाव से पूर्वसंचित कर्मों का नाश होता है, कर्मनाश से क्रिया का अभाव हो जाता है और क्रिया के अभाव से सिद्धिलाभ होता है।

भाष्यः—शास्त्रकार ने यहां आध्यात्मिक विकास का क्रम संक्षेप में प्रस्तुत किया है। संसारी जीव किस प्रकार अपने कर्मों का सर्वथा क्षय करके और पूर्ण निर्मलता प्राप्त करके मुक्ति प्राप्त करता है, यह बात इस कथन से स्पष्ट समझ में आ जाती है।

जीव के पाप कर्म जब कुछ पतले पड़ते हैं तब उसे वीतराग सर्वज्ञ भगवान् द्वारा प्ररूपित, वस्तुस्वरूप के यथार्थ प्रकाशक, अनेकान्त दृष्टिमय और अहिंसा-प्रधान धर्म के श्रवण का अवसर मिलता है।

धर्मश्रवण करने से उस जीव को ज्ञान की प्राप्ति होती है। अब तक अज्ञान के बोझ से दबा हुआ वह जीव कुछ हल्का हो जाता है। वह घोर तिमिर से प्रकाश में आता है।

जीव को जब ज्ञान की प्राप्ति होती है तो वह वस्तुओं के स्वरूप को समझने का प्रयत्न करता है। वह आत्मा और अनात्मा के भेद को ग्रहण करता है। आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप को समझता है और वर्त्तमानकालीन विकारमय पर्याय को देखकर उसे त्यागने की इच्छा करता है। वह नौ तत्वों का ज्ञाता बन जाता है। इन्द्रियों के विषयभोगों की निस्सारता समझने लगता है।

इस प्रकार जीव का ज्ञान, जब विज्ञान बन जाता है, तब उसमें प्रत्याख्यान का भाव उत्पन्न होता है। वह पापों से पराङ्मुख होकर यथाशक्ति त्यागी बन जाता है।

इन्द्रियों के विषयों का एवं पापों का प्रत्याख्यान करने के अनन्तर वह संयमी अवस्था प्राप्त करता है। संयम से आस्रव को रोकता है और तप के द्वारा पूर्वसंचित कर्मों का क्षय करके सब प्रकार की मानसिक, वाचनिक एवं कायिक क्रिया से मुक्त हो जाता है। क्रिया से मुक्त होने पर सिद्धि प्राप्त होती है। सिद्धि ही आत्मा की स्वाभाविक स्थिति है।

मूलः-अवि से हासमासज्ज, हंदा णंदीति मन्नति।
अलं बालस्य संगेणं, वैरं वड्ढई अप्पणो ॥ १६ ॥

छायाः—अपि स हास्यमासज्य, हन्ता नन्दीति मन्यते।
अलं बालस्य सङ्गेन, वैरं वर्द्धत आत्मनः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ:—जो पुरुष कुसंगति करता है वह हास्य आदि में आसक्त होकर हिंसा करने में ही आनन्द मानता है। वह अन्य जीवों के साथ वैर बढ़ाता है, अतएव अज्ञानी पुरुषों की संगति नहीं करनी चाहिए।

भाष्य:—सत्संगति से होने वाले लाभों का उल्लेख करके यहां अज्ञान पुरुषों की कुसंगति से होने वाली हानि का कथन किया गया है।

हिंसा आदि अकर्त्तव्य कार्यों में दत्तचित्त रहने वाले, इन्द्रियों के क्रीत-दास, विषयलोलुप, धर्म-मार्ग से प्रतिकूल चलने वाले पुरुष अज्ञानी कहलाते हैं। ऐसे पुरुषों का संसर्ग करने वाला भद्र परिणामी मनुष्य भी उन्हीं जैसा बन जाता है। वह हिंसा करता है और हिंसा करने में आनन्द का अनुभव करता है। अपने मनोरंजन के लिए, बिना किसी प्रयोजन के ही, प्राणियों का घात करने से उसे संकोच नहीं होता।

इस प्रकार हिंसा करके, वह जिन प्राणियों का हनन करता है, उनके साथ वैरानुबंधी कर्म बांधता है। इस कर्म के उदय से उसे भव-भवान्तर में दुःख का भागी होना पड़ता है। वैर की परम्परा अनेक भव पर्यन्त चालू रहती है। अतएव अज्ञान पुरुषों की संगति का त्याग करना चाहिए।

मूल:—आवस्सयं अवस्सं करणिज्जं,
धुवनिग्गहो विसोही य।
अज्झयण-छक्कवग्गो,
नाओ आराहणामग्गो ॥१७॥

छाया:—आवश्यकमवश्यं करणीयम्, ध्रुवनिग्रहः विशोधिश्च।
अध्ययनषट्कवर्गः, ज्ञेय आराधनामार्गः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ:—इन्द्रियों का निग्रह करने वाला, आत्मा को विशेष रूप से शुद्ध करने वाला, न्याय के कांटे के समान, जिससे वीतराग के वचनों का पालन होता है, ऐसे मोक्ष मार्ग रूप, छह वर्ग अध्ययन जिसके पढ़ने के हैं ऐसा, आवश्यक अवश्य करने योग्य है।

भाष्य:—शास्त्रकार ने यहां षट आवश्यक कृत्य को अवश्य करने का विधान किया है। आवश्यक को आराधना का मार्ग, इन्द्रिय निग्रह करने का साधन और आत्मा को विशुद्ध करने वाला निरूपण किया गया है। आवश्यक क्रिया का निरूपण करने वाला आवश्यक सूत्र छह अध्ययनों में विभक्त है, क्योंकि आवश्यक के विभाग छह हैं।

आवश्यक के छह विभाग यह हैं— (१) सामायिक (२) चतुर्विंशतिस्तव (३) वन्दना (४) प्रतिक्रमण (५) कायोत्सर्ग और (६) प्रत्याख्यान।

(१) सामायिक राग और द्वेप का त्याग करके, समभाव-मध्यस्थ भाव में रहना अर्थात् जगत् के जीव मात्र को अपने ही समान समझना सामायिक कहलाता है। समस्त सावद्य क्रियाओं का त्याग करके दो घड़ी पर्यन्त समभाव के सरोवर में अवगाहन करना श्रावक की सामायिक क्रिया है। साधु की सामायिक यावज्जीवन सदैव रहती है, क्योंकि साधु समस्त सावद्य क्रिया का त्यागी और सदा समभावी रहता है।

सामायिक के तीन भेद कहे गये हैं—(१) सम्यक्त्व-सामायिक (२) श्रुत सामायिक और (३) चारित्रसामायिक, क्योंकि सम्यक्त्व, श्रुत और चारित्र के अवलम्बन से साम्यभाव से मन स्थिर होता है। इनमें से चारित्र-सामायिक के दो भेद हैं—(१) देश-चारित्र सामायिक और (२) सर्वचारित्र सामायिक पहला भेद श्रावकों को दूसरा साधुओं को होता है।

सामायिक की बड़ी महिमा है। वास्तविक बात तो यह है कि समभाव के बिना सुख की उपलब्धि नहीं हो सकती। जहां समभाव नहीं है, राग-द्वेप आदि विषम भावों की प्रधानता है, वहां दुःख का दौर दौरा है। जितने अंशों में समभाव आत्मा में उदित होता जाता है, उतने ही अंशों में सुख का उदय होता जाता है। अन्तःकरण को निष्पाप बनाने के लिए सामायिक ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। कहा भी है—

प्रश्न—सामाइएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

अर्थात्—भंते ! सामायिक से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयइ।

अर्थात्—सामायिक से पापमय व्यापार के प्रति विरति की उत्पत्ति होती है।

पापमय व्यापार अर्थात् सावद्ययोग का त्याग कर देने पर श्रावक भी साधु की कोटि का बन जाता है। यथा—

> सामाइयंमि तु कडे, समणो इव सावओ हवइ जम्हा।
> एतेण कारणेणं, बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥

अर्थात्—सामायिक करते समय श्रावक भी साधु के समान कई अंशों में हो जाता है। इस कारण बहुत बार-बार सामायिक करना चाहिए।

(२) चतुर्विंशतिस्तव—चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करना चतुर्विंशतिस्तव कहलाता है। स्तव करना अर्थात् गुणों का कीर्त्तन करना। तीर्थङ्कर भगवान् आदर्श महापुरुप हैं, जिन्होंने आत्मशुद्धि का परम आदर्श उपस्थित किया है। उनके स्तवन से आत्मा के स्वाभाविक गुणों के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है। आत्मा उन गुणों को प्राप्त करने के लिए उद्योगशील बनता है। चतुर्विंशति स्तव से सम्यक्त्व की शुद्धि भी होती है। यथा—

प्र०—चउवीसत्थएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—चउवीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ ।

अर्थात्—प्र० चतुर्विंशतिस्तव से जीव को क्या लाभ होता है ?

उ०—चतुर्विंशतिस्तव से दर्शन गुण की विशुद्धता अर्थात् निर्मलता होती है ।

(३) वन्दना—मन, वचन और काय के द्वारा पूजनीय पुरुषों के प्रति आदर-सन्मान प्रकट करना वन्दना है । अर्हन्त भगवान्, सिद्ध भगवान्, आचार्य महाराज, उपाध्याय और कंचन-कामिनी के त्यागी, पंचमहाव्रतधारी, समिति-गुप्ति के प्रतिपालक मुनि महाराज वन्दनीय महापुरुष हैं । इन्हें वन्दना करने से अनेक लाभ होते हैं । यथा —

प्र०—वन्दणएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—वन्दणएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ । उच्चागोयं कम्मं निबंधइ । सोहग्गं च णं अपडिहयं आणाफलं निवत्तेइ । दाहिणभावं च जणयइ ।

प्र०—वन्दन करने से, भगवन् ! जीव को क्या लाभ है ?

उ०—वन्दन करने से नीच गोत्र कर्म का क्षय होता है । उच्च गोत्र कर्म का बंध होता है । अप्रतिहत सौभाग्य की प्राप्ति होती है । आज्ञा की आराधना होती है । दाक्षिण्य की उत्पत्ति होती है ।

वन्दना करना, वंदना करने वाले की विनम्रता का सूचक है । अथवा यों कहना चाहिए कि वन्दनीय व्यक्ति के सद्गुणों के प्रति हृदय में जब भक्तिभाव उत्पन्न होता है तब उनके सामने स्वयं मस्तक झुक जाता है । अन्तःकरण की प्रेरणा से जनित इस प्रकार की वन्दना ही सच्ची वन्दना है ।

वन्दना के बत्तीस दोष बतलाये गये हैं । उन दोषों का परिहार करते हुए की जाने वाली वन्दना ही उत्तम कहलाती है । बत्तीस दोष इस प्रकार हैं:—

अणाढियं च थद्धं च पविद्धं परिपिंडियं ।
टोल गई अंकुसं चेव, तहा कच्छभरिंगिअं ॥
मच्छोव्वत्तं मणसा य, पउट्ठं तहय वेइयाबद्धं ।
भयसा चेव भयंतं, मेत्ती गारव-कारणा ॥
तेणिअं पडणीअं चेव, रुट्ठं तज्जियमेव य ।
सढं च हीलिअं चेव, तहा विपलिउंचिअ ॥
दिट्ठमदिट्ठं च तहा, सिंगं च करमोअणं ।
आलिद्धमनालिद्धं, ऊणं उत्तर चूलियं ॥
मूअं च ढड्ढरं चेव, चुडलिं च अदच्छियं ।
बत्तीस दोस परिसुद्धं, किइकम्मं पउंजए ॥

बत्तीस दोषों का संक्षिप्त अर्थ इस प्रकार है:—

(१) अनाहत—विना आदर के वन्दना करना।

(२) स्तब्ध—अभिमान से युक्त होकर वन्दना करना।

(३) प्रविद्ध—वन्दना करते-करते भाग जाना।

(४) परिपिण्डित—बहुत से मुनियों को एक साथ वन्दना करना।

(५) टोल गति—उछल उछल-कर वन्दना करना।

(६) अंकुश—जैसे अंकुश से हाथी को सीधा किया जाता है, उसी प्रकार सोये हुए या अन्य कार्य में व्यग्र आचार्य को आसन पर सीधा बिठाकर वन्दना करना। अथवा रजोहरण को अंकुश के समान हाथों में पकड़ कर वन्दना करना, अथवा अंकुश से आहत हस्ती के समान सिर ऊंचा-नीचा करके वन्दना करना।

(७) कच्छपरिंगित—रेंगते हुए-से वन्दना करना।

(८) मत्स्योद्वृत्त—जल में मत्स्य के समान उठते-बैठते हुए वन्दना करना अथवा एक मुनि को वन्दना करके जल्दी से दूसरे मुनि की ओर अंग झुकाकर वन्दना कर लेना।

(९) दुष्टमनस्कता—यह वन्दनीय मुझसे अमुक गुण में हीन हैं फिर भी मैं इन्हें वन्दना कर रहा हूँ, इस प्रकार सोचते हुए दूषित मन से वन्दना करना।

(१०) वेदिकावद्ध—घुटनों पर हाथ रखकर अथवा गोदी में घुटने और हाथ रखकर वन्दना करना।

(११) भय—संघ से, कुल से, गच्छ से या किसी अन्य से डर कर वन्दना करना।

(१२) भजमान—यह मेरी सेवा करेंगे या की नहीं, इस बुद्धि से वन्दना करना।

(१३) मैत्री—आचार्य मेरे मित्र हैं, या वन्दना करने से इनके साथ मैत्री हो जायगी, ऐसा विचार कर वन्दना करना।

(१४) गौरव—मैं वन्दना-समाचारी में निष्णात हूँ, यह वात दूसरों पर प्रकट हो जावे, इस प्रकार की बुद्धि से वन्दना करना।

(१५) कारण—ज्ञान आदि से भिन्न वस्त्र आदि के लाभ रूप निमित्त से वन्दना करना, अथवा मैं लोक में पूज्य होऊं या दूसरों से अधिक ज्ञानी हो जाऊं, इस भावना से वन्दना करना अथवा वन्दना से राजी कर लूंगा तो मेरी प्रार्थना अस्वीकार न करेंगे, इस भावना से वन्दना करना।

(१६) स्तैनिक—वन्दना करने से मेरी हीनता प्रकट होगी, यह विचार कर चोर की तरह छिप कर वन्दना करना।

(१७) प्रत्यनीक—आहार आदि करने में वाधा पहुँचाते हुए वन्दना करना।

(१८) क्रोध के आवेश में आकर वन्दना करना।

(१९) तर्जित—वन्दना करने वाला और वन्दना न करने वाला तुम्हारे लिए

एक सरीखा है, इत्यादि प्रकार से भर्त्सना करते हुए वन्दना करना।

(२०) शठता—शठतापूर्वक वन्दना करना या बीमार होने का बहाना बना कर सम्यक् प्रकार से वन्दना न करना।

(२१) हीलना--आपको वन्दना करने से क्या होना-जाना है, इस प्रकार अवज्ञा करते हुए वन्दना करना।

(२२) विपरिकुंचित—आधी वन्दना करके ही इधर-उधर की बातें करने लगना।

(२३) दृष्टादृष्ट--अंधेरे में जब कोई देखता न हो तो यों ही खड़ा रहना और देखता हो तब वन्दना करना।

(२४) शृंग--'अहो कायं' इत्यादि पाठ बोलते समय ललाट के मध्य भाग को स्पर्श न करके दाहिनी-बाईं ओर स्पर्श करते हुए वन्दना करना।

(२५) कर--वन्दना को राजकीय कर (टेक्स) देने के समान मजबूरी का कार्य समझते हुए करना।

(२६) मोचन--लौकिक कर से तो छुटकारा मिल गया पर वन्दना के इस कर से मुक्ति न मिल पाई, ऐसी बुद्धि से वन्दना करना।

(२७) आश्लिष्ट-अनाश्लिष्ट--इसकी चौभंगी होती है:--[क] 'अहो कायं' इत्यादि बोलते समय रजोहरण और शिर का दोनों हाथों से स्पर्श होना। [ख] सिर्फ रजोहरण का हाथों से स्पर्श हो शिर का नहीं। [ग] शिर का हाथों से स्पर्श हो रजोहरण का नहीं। [घ] न शिर का हाथों से स्पर्श हो और न रजोहरण का। इस चौभंगी में से प्रथम भंग शुद्ध है, शेष अशुद्ध हैं।

(२८) न्यून--वन्दना का पाठ पूर्ण रूप से न बोलना।

(२९) उत्तरचूल--वन्दना करके 'मत्थएण वंदामि' ऐसा बहुत जोर से बोलना।

(३०) मूक—पाठ का उच्चारण न करते हुए वन्दना करना।

(३१) ढड्ढर - बहुत जोर-जोर से बोलते वन्दना करना।

(३२) चुडली—हाथ लम्बा फैला कर वन्दना करना या सब साधुओं की ओर हाथ घुमा कर 'सभी को वन्दना हो' इस प्रकार कहकर वन्दना करना।

इन बत्तीस दोषों का परित्याग करके शुद्ध भाव से आन्तरिक भक्ति एवं आह्लाद के साथ, बाह्य शिष्टता का ध्यान रखते हुए यथायोग्य वन्दना करना चाहिए।

(४) प्रतिक्रमण—'प्रतिक्रमण' के शब्दार्थ पर ध्यान दिया जाय तो उसका अर्थ है--पीछे फिरना-लौटना। तात्पर्य यह है कि प्रमाद के कारण शुभ योग से च्युत होकर अशुभ योग में चले जाने पर फिर अशुभ योग से शुभ योग में लौटना, प्रतिक्रमण कहलाता है। प्रतिक्रमण में, लगे हुए व्रत सम्बन्धी अतिचारों का संशोधन

किया जाता है। साधुओं और श्रावकों के व्रत पृथक्-पृथक् हैं अतएव दोनों के प्रति-क्रमण भी भिन्न-भिन्न हैं। साधुओं और श्रावकों को प्रतिक्रमण, प्रतिदिन सायंकाल और प्रातःकाल अवश्य करने का विधान है। कहा भी है:—

समणेण सावयेण य, अवस्सकायव्वयं हवइ जम्हा।
अन्ते अहोणिसस्स य, तम्हा आवस्सयं नाम॥

अर्थात्—श्रमणों तथा श्रावकों को दिन और रात्रि के अन्त समय, अवश्य करणीय होने से ही इस क्रिया का नाम 'आवश्यक' पड़ा है।

भगवान् अजीतनाथ से लेकर पार्श्वनाथ तक के शासन में कारण-विशेष उप-स्थित होने पर—दोष लगने पर ही प्रतिक्रमण करने का विधान था, मगर भगवान् ऋषभदेव के शासन के समान चरम तीर्थंकर महावीर स्वामी के शासन में प्रतिक्रमण सहित ही धर्म निरूपण किया गया है। यथा—

सपडिक्कमणो धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमयाण जिणाणं, कारणजाए पडिक्कमणं॥

—आवश्यकनिर्युक्ति

प्रतिक्रमण क्रिया करने से होने वाले लाभ का वर्णन श्री उत्तराध्ययन सूत्र में इस प्रकार किया गया—

प्र०—पडिक्कमणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

उ०—पडिक्कमणेणं जीवे वयछिद्दाइं पिहेइ। पिहियवयछिद्दे पुण जीवे निरु-द्धासवे, असवलचरित्ते, अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिए विहरइ।

अर्थात्—प्र०—भंते! प्रतिक्रमण से जीव को क्या लाभ होता है?

उ०—प्रतिक्रमण से जीव अपने व्रतों के छिद्र ढंकता है। दोषों का निवारण करता है। दोषों का निवारण करने वाला जीव आस्रव का निरोध करता है, शुद्ध चारित्र वाला होता है, आठ प्रवचनमाताओं में (पांच समिति, तीन गुप्ति में) उप-योगवान् बनता है और समाधि युक्त होकर विचरता है।

प्रतिक्रमण के पांच भेद हैं—(१) दैवसिक (२) रात्रिक (३) पाक्षिक (४) चातुर्मासिक और (५) सांवत्सरिक।

दिन में लगे हुए दोषों का प्रतिक्रमण करना दैवसिक प्रतिक्रमण और रात्रि संबंधी दोषों के प्रतिक्रमण को रात्रिक प्रतिक्रमण कहते हैं। एक पक्ष-पन्द्रह दिन-के दोषों का प्रतिक्रमण करना पाक्षिक, चार मास के दोषों का प्रतिक्रमण करना चातु-र्मासिक और संवत्सरी पर्व के दिन वर्ष भर के दोषों का प्रतिक्रमण करना सांवत्सरिक प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण के सामान्य रूप से दो भेद भी किये जाते हैं—(१) द्रव्य प्रतिक्रमण और (२) भावप्रतिक्रमण। लोकदिखावे के लिए किया जाने वाला प्रतिक्रमण द्रव्य प्रतिक्रमण है और वह उपादेय नहीं है। सच्चे अन्तःकरण से, किये हुए दोषों के

प्रति ग्लानिपूर्वक जो दोष-संशोधन किया जाता है, वह भावप्रतिक्रमण है। भाव-प्रतिक्रमण से ही आत्मा निर्मल होता है।

(५) कायोत्सर्ग--धर्मध्यान अथवा शुक्लध्यान के लिए एकाग्रचित्त होकर शरीर पर से ममता का त्याग करदेना कायोत्सर्ग कहलाता है। कायोत्सर्ग से देह की एवं बुद्धि की जड़ता दूर हो जाती है। इससे शरीर संबंधी आसक्ति में न्यूनता आ जाती है और सुख-दुःख में समभाव रखने की शक्ति प्रकट होती है। ध्यान के अभ्यास के लिए भी कायोत्सर्ग की आवश्यकता है।

कायोत्सर्ग के समय लिये जाने वाले श्वासोच्छ्वास का समय श्लोक के एक चरण के उच्चारण के समय जितना बतलाया गया है। कायोत्सर्ग के विषय में कहा गया है--

प्र०--काउस्सग्गेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०--काउस्सग्गेणं तीयपडुप्पण्णं पायच्छित्तं विसोहेइ। विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरिय भरुव्वभारवहे पसत्थझाणोवगए सुहं सुहेणं विहरइ।

अर्थात्--प्रश्न--भगवन् ! कायोत्सर्ग करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—कायोत्सर्ग से जीव भूतकालीन एवं भविष्यकालीन प्रायश्चित्त की विशुद्धि करता है। प्रायश्चित्त की विशुद्धि करने वाला जीव निर्वृत्त-हृदय होता है और बोझ उतार डालने वाले भारवाहक के समान-हल्का होकर-प्रशस्त ध्यान धारण करके सुखपूर्वक विचरता है।

(६) प्रत्याख्यान—प्रत्याख्यान का अर्थ है त्याग करना। त्यागने योग्य वस्तुएं दो प्रकार की हैं, अतएव प्रत्याख्यान भी दो प्रकार का है—(१) द्रव्य प्रत्याख्यान और (२) भाव प्रत्याख्यान। वस्त्र, आहार आदि बाह्य पदार्थों का त्याग करना द्रव्य-प्रत्याख्यान और राग-द्वेष, मिथ्यात्व, अज्ञान आदि का त्याग करना भावप्रत्या-ख्यान है।

प्रत्याख्यान करने से आस्रव का निरोध होता है और संवर की वृद्धि होती है। जीव में जो अनन्त तृष्णा है वह सीमित होकर शनैःशनैः नष्ट हो जाती है और सम-भाव की जागृति होती है। ज्यों-ज्यों समभाव जागृत होता जाता है त्यों-त्यों सुख की उपलब्धि होती है। शास्त्र में कहा है--

प्रश्न—पच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—पच्चक्खाणेणं जीवे आसवदाराइं निरुम्भइ। पच्चक्खाणेणं इच्छा-निरोहं जणयइ। इच्छानिरोहं गए च णं जीवे सव्वदव्वेसु विणीयतण्हे सीईभूए विहरइ।

अर्थात्--प्र० भगवन् ! प्रत्याख्यान से जीव को क्या लाभ होता है ?

उ०—प्रत्याख्यान से जीव कर्मों के आगमन का मार्ग रोक देता है। प्रत्याख्यान से इच्छा का निरोध होता है। इच्छा का निरोध करने वाला जीव सब द्रव्यों में तृष्णा

से रहित होने पर, शान्ति का अनुभव करता है।

आहार आदि के त्याग में काल की अपेक्षा अनेक प्रकार होते हैं और उनके प्रत्याख्यान भी अलग-अलग हैं। *

---

* (१) नमोकारसी का प्रत्याख्यानः—

'उग्गए सूरे नमुक्कारसहियं पच्चक्खामि असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं सहस्सागारेणं।'

(२) पौरुषी का प्रत्याख्यानः—

"उग्गए सूरे पोरसिहियं पच्चक्खामि, असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, पच्छन्नकालेणं, दिसामोहेणं, साहुवयणेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरे।

[३] एकाशन का प्रत्याख्यानः—

'एगासणं पच्क्खामि असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, आउट्टणपसारेणं, गुरुअब्भुट्ठाणेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं, वोसिरे।'

(४) एकलठाणा का प्रत्याख्यान।

'एकलठाणं पच्चक्खामि असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, गुरु अब्भुट्ठाणेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरे।'

(५) निव्विगई का प्रत्याख्यानः—

'निव्विगइयं पच्चक्खामि—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, गिहत्थसंसट्ठेणं, उक्खित्तविवगाणं, पडुच्चविगएणं, परिट्ठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहियावत्तियागारेणं वोसिरे।'

इस प्रत्याख्यान में विगय का त्याग करके प्रायः रूखी-सूखी रोटी और छाछ या ऐसा ही कुछ खाया जाता है।

(६) आयंबिल का प्रत्याख्यानः—

'आयंबिलं पच्चक्खामि—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, लेवालेवेणं, उक्खित्तविवगाणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरे।

(७) उपवास का प्रत्याख्यानः—

'सूरे उग्गए अभत्तं पच्चक्खामि—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरे।'

(८) दिवस चरम का प्रत्याख्यानः—

आवश्यकों का अनुष्ठान करने वाला ही धर्म का आराधक है। अतएव प्रत्येक साधु और श्रावक को अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार उनका आचरण करना चाहिए।

मूल:-सावज्जजोगविरई, उक्कित्तण गुणवओ य पडिवत्ती। खलिअस्स निंदणा, वणतिगिच्छ गुणधारणा चेव ॥१८॥

छाया:—सावद्ययोगविरतिः, उत्कीर्त्तनं गुणवतश्च प्रतिपत्तिः।
स्खलितस्य निन्दना, व्रणचिकित्सा गुणधारणा चैव ॥ १८ ॥

शब्दार्थ:—हे गौतम! सावद्य योग से निवृत्ति, ईश्वर के गुणों का कीर्त्तन, गुणी पुरुषों का आदर, अपनी स्खलना की निन्दा, व्रण (घाव) के समान आचरित दोष के लिए प्रायश्चित्त रूपी चिकित्सा और त्याग रूप गुण को धारण करना चाहिए।

भाष्य:—जीवन को विशुद्ध बनाने के लिए जिन-जिन बातों की आवश्यकता है, यहां शास्त्रकार ने उनका उल्लेख किया है।

सावद्य का अर्थ है—पाप। जो पापयुक्त हो वह सावद्य कहलाता है। मन, वचन और शरीर की क्रिया को योग कहते हैं। योग का स्वरूप पहले बतलाया जा चुका है। तात्पर्य यह है कि जीवन-शुद्धि के लिए सर्वप्रथम मन, वचन और काय को निष्पाप बनाना चाहिए। पाप में इनका प्रयोग नहीं करना चाहिए।

'उक्कित्तण' अर्थात् परमेश्वर के गुणों का कीर्त्तन करना। कुछ लोगों की ऐसी भावना है कि दयावान् परमेश्वर के गुणों की स्तुति करने से वह प्रसन्न हो जाता है और स्तुति करने वाले के पापों को क्षमा कर देता है। किन्तु वास्तव में यह सत्य नहीं है। किये हुए पापों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। ईश्वर कोई ऐसा चापलूसी-पसन्द नहीं है कि पाप करने वाले उसकी प्रशंसा करें तो वह पाप के फल से मुक्त कर दे। ऐसा होना संभव भी नहीं है। यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, अगर ऐसा नहीं है तो ईश्वर का गुण-कीर्त्तन किस उद्देश्य से किया जाता है? इस प्रश्न का संक्षिप्त समाधान इस प्रकार है।

वास्तव में आत्मा और ईश्वर में केछ भी मौलिक अन्तर नहीं है। जो कुछ भी अन्तर है, वह अवस्था का अन्तर है। जो आत्मा अपने अज्ञान, कालुष्य आदि को सर्वथा नष्ट कर चुकता है, जिसने आत्मा की स्वाभाविक स्थिति प्राप्त कर ली है वह ईश्वर है और जो आत्मा अज्ञान आदि विकारों से ग्रस्त है वह संसारी आत्मा कह-

---

'दिवसचरिमं पच्चक्खामि—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरे।'

इत्यादि अनेक प्रकार की छोटी-बड़ी तपस्याओं के प्रत्याख्यान हैं, जिनमें थोड़ा-थोड़ा अन्तर होता है।

लाता है। इस स्थिति में, ईश्वर के गुणों का कीर्त्तन करना आत्मा के वास्तविक और स्वाभाविक गुणों का कीर्त्तन करना ही है। अपने श्रेष्ठ गुणों का स्मरण करने से उन गुणों के प्रति आकर्षण बढ़ता है और उन गुणों को आच्छादित करने वाली प्रवृत्तियों से घृणा उत्पन्न होती है। ऐसा होने पर आचरण में पवित्रता आती है आत्मा स्वयं परमात्मा बनने के लिए अग्रसर होता है। इस प्रकार ईश्वर का स्मरण एवं कीर्त्तन आत्मा को पवित्रता की ओर प्रयाण करने की प्रेरणा करता है, अतएव उसे जीवन-शुद्धि का कारण माना गया है।

जीवन-शुद्धि का तीसरा तत्त्व है गुणवान् पुरुषों—गुरुजनों को वंदना-नमस्कार आदि नम्रतापूर्ण व्यवहार से यथोचित आदर प्रदान करना। गुणवान् गुरुओं को वन्दना-नमस्कार करने का प्रयोजन गुणों की प्राप्ति, अवगुणों के प्रति त्याग का भाव और गुरुप्रसाद है।

चौथा जीवनशोधक उपाय है—स्खलित की निन्दा करना। कोई पुरुष कितना ही सावधान रहे, क्रिया करते समय कितनी ही सावधानी करते, फिर भी मन से, वचन से या काय से स्खलना होना अनिवार्य है। संयम का अभ्यास करने वाला कभी न कभी अपने पद से, अपने कर्त्तव्य से, च्युत हो ही जाता है। मगर च्युत होना जितना बुरा नहीं है उतना उसकी निन्दा-गर्हा न करना बुरा है। स्खलना होते ही अगर आत्मसाक्षी से या गुरुसाक्षी से उसकी निन्दा की जाय, उसके लिए पश्चात्ताप प्रकट किया जाय तो स्खलना का शीघ्र संशोधन हो जाता है। स्खलना की निंदा को आलोचना या 'आलोयणा' कहते हैं। आलोचना करने से पाप के प्रति घृणा का भाव उत्पन्न होता है और चित्त को आश्वासन मिलता है।

जीवनशुद्धि के लिए पांचवां उपाय 'व्रणचिकित्सा' है। व्रण का अर्थ है—घाव। जैसे शरीर में घाव हो जाने पर उसकी चिकित्सा की जाती है, उसी प्रकार प्रमाद आदि से आचरित दोषों का प्रायश्चित्त करना आत्मिक 'व्रणचिकित्सा' है। प्रायश्चित्त का वर्णन पहले किया जा चुका है।

इन पांचों उपायों का अवलम्बन करने से छठा उपाय—गुणधारणा स्वयं प्रादुर्भूत हो जाता है। सद्गुणों का स्वरूप समझना, गुणीजनों की संगति करना, गुण धारण करने का संकल्प करना, गुण के विरोधी दोषों के प्रति अरुचि स्थिर करना, इत्यादि प्रकार से गुणों को धारण किया जाता है। यहां संयम रूप गुण को जीवन-शुद्धि का कारण बतलाया गया है। संयम ही समस्त गुणों में मूर्धाभिषिक्त गुण है।

इन छह उपायों के अवलम्बन से आत्मा, शुद्ध, निष्कलंक, निर्विकार, निरंजन अवस्था प्राप्त करता है। अतएव क्या साधु और क्या श्रावक, सभी को इन गुणों का यथाशक्ति धारण-पालन करना चाहिए।

मूलः—जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासियं ॥ १९ ॥

छाया:—यः समः सर्वभूतेषु, त्रसेषु स्थावरेषु च ।
तस्य सामायिकं भवति, इति केवलिभाषितम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थः—जो पुरुष त्रस और स्थावर रूपी सभी प्राणियों में समभाव रखता है, उसी के सामायिक होती है, ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने कहा है।

भाष्य—आवश्यक क्रिया में सामायिक प्रधान है। सामायिक साध्य है, शेष क्रियाएँ साधन हैं। अतएव उसकी महत्ता प्रदर्शित करने के लिए यहां सामायिक का पृथक् निरूपण किया गया।

जो पुरुष त्रस अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों पर तथा स्थावर अर्थात् एकेन्द्रिय वनस्पतिकाय आदि प्राणियों पर समभाव रखता है, उसी की सामायिक सच्ची सामायिक है। केवली भगवान् ने ऐसा कथन किया है।

सामायिक शब्द का अर्थ बतलाते हुए पहले कहा जा चुका है कि जिस क्रिया से समभाव की प्राप्ति होती है, उसे सामायिक कहते हैं। किन्तु समभाव का आधार क्या है? समभाव किस पर होना चाहिए? इस प्रश्न का स्पष्टीकरण यहां किया गया है। जगत् के समस्त जीव त्रस और स्थावर-इन दो श्रेणियों में समाविष्ट हो जाते हैं। उन पर समभाव रखना अर्थात् प्राणिमात्र पर समभाव रखना सामायिक कहलाता है।

तात्पर्य यह है कि अपने ऊपर जैसी भावना रहती है, वैसी ही भावना अन्य प्राणियों पर रहनी चाहिए। हमें सुख प्रिय है, तो दूसरों को भी सुख प्रिय है। हमारे सुख-साधनों का अपहरण होना हमें रुचिकर नहीं है तो अन्य प्राणियों को भी उनके सुख साधनों का विनाश रुचिकर नहीं है। जैसे हम अपने सुख के लिए प्रयास करते हैं, उसी प्रकार अन्य प्राणी भी अपने-अपने सुख के लिए निरन्तर उद्योगशील रहते हैं। दुःख और दुःख की सामग्री से हम बचना चाहते हैं, दुःख हमें अनिष्ट है और दुःख पहुँचाने वाले को हम अच्छा नहीं मानते, इसी प्रकार अन्य प्राणी भी दुःख से और दुःख की सामग्री से बचना चाहते हैं। उन्हें जो कष्ट पहुँचाता है उसे वे भी अच्छा नहीं मानते। इसी प्रकार जैसे हमें जीवन प्रिय और मरण अप्रिय है, उसी प्रकार अन्य प्राणियों को भी जीवन प्रिय और मरण अप्रिय है। जब कोई क्रूर पुरुष हमारा जीवन नष्ट करने पर उतारु होता है तब हमारे अन्तःकरण में उसके प्रति जैसी भावना उत्पन्न होती है, ठीक इसी प्रकार की भावना अन्य प्राणियों के हृदय में भी उनके हिंसक के प्रति उत्पन्न होती हैं। अपने लिए कठोर एवं मर्मवेधी वाक्य सुनने से हम असाता अनुभव करते हैं, उसी प्रकार दूसरे प्राणियों को भी असाता का अनुभव होता है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक प्राणी का सुख-दुःख समान है। अतएव प्रत्येक प्राणी को दूसरे प्राणी के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए, जैसा वह अपने प्रति करता है अथवा अपने लिए अभीष्ट समझता है। यह समभाव है।

त्रस और स्थावर जीवों पर समभाव धारण करने पर अधिकांश में राग-द्वेष रूप परिणति में न्यूनता आ जाती है। विषम-भाव का विष समता रूप सुधा के

संसर्ग से हट जाता है और साम्यसुधा अजर-अमर पद का कारण हो जाती है।

त्रस और स्थावर जीवों को उपलक्षण समझकर अजीव पदार्थों का भी ग्रहण करना चाहिए। जैसे जीव मात्र पर समता भाव आवश्यक है उसी प्रकार इन्द्रियों के विषय रूप, रस, गंध, स्पर्श एवं शब्द आदि पर भी समभाव का होना आवश्यक है। मनोज्ञ विषयों में राग करना और अमनोज्ञ में द्वेष धारण करना हेय है। चित्त को इतना समभावी बनाना चाहिए कि किसी भी विषय पर राग या द्वेष उत्पन्न न होने पावे।

इस प्रकार जीव और अजीव पदार्थों पर समभाव रखने वाला ही सच्ची सामायिक करता है। इस प्रकार की सामायिक के द्वारा ही आत्मा का कल्याण होता है। कहा है—

कर्म जीवं च संश्लिष्टं परिज्ञातात्मनिश्चयः।
विभिन्नीकुरुते साधुः सामायिक-शलाकया ॥

अर्थात् आत्मा के स्वरूप का ज्ञाता साधु पुरुष मिले हुए कर्म और जीव को सामायिक रूपी सलाई से जुदा-जुदा कर देता है।

साम्यभाव की महिमा अपार है। जिसके चित्त में साम्यभाव उदित हो जाता है वह किसी का शत्रु नहीं रहता और न कोई उसका शत्रु रह जाता है। साम्यभावी का वर्णन इस प्रकार किया गया है:—

स्निह्यन्ति जन्तवो नित्यं, वैरिणोऽपि परस्परम्।
अपि स्वार्थकृते साम्यभाजः साधोः प्रभावतः ॥

अर्थात्—अपने हित के लिए साम्यभाव धारण करने वाले साधु के प्रभाव से, स्वाभाविक वैरी प्राणी भी आपस में स्नेह करने लगते हैं। अर्थात् साधु पुरुष समताभाव अपने लिए धारण करता है, पर लाभ उससे अन्य प्राणियों को भी होता है, यह साम्यभाव का कितना माहात्म्य है।

समभाव के प्रभाव से ही तीर्थंकर भगवान् के समवसरण में सिंह और हिरन जैसे परस्पर विरोधी जीव एकत्र बैठते हैं। इस प्रकार समताभाव का माहात्म्य जान कर, प्राणी मात्र पर 'सव्वभूअप्पभूअ' अर्थात् सर्वभूतात्मभूत प्रशस्त भाव धारण करना चाहिए। इस श्रेष्ठ भावना के बिना सच्ची भाव-सामायिक नहीं हो सकती।

शास्त्रकार ने स्वरुचिविरचितता दोष का परिहार करने के लिए कहा है— 'इइ केवलिभासियं' अर्थात् सर्वज्ञ भगवान् ने इस प्रकार का कथन किया है, अतएव वह सर्वथा निःशंक है।

मूलः—तिण्णि य सहस्सा सत्त सयाइं, तेहुत्तरिं च ऊसासा।
एस मुहुत्तो दिट्ठो, सव्वेहिं अणंतनाणीहिं ॥२०॥

छाया—त्रीणि सहस्राणि सप्त शतानि, त्रिसप्ततिश्च उच्छ्वासः।
एष मुहूर्त्तो दृष्टः, सर्वैरनन्तज्ञानिभिः ॥ २० ॥

शब्दार्थः—तीन हजार, सात सौ, तिहत्तर उच्छ्वास परिमित काल समस्त सर्वज्ञों ने एक मुहूर्त्त देखा है।

भाष्यः—प्रकृत अध्ययन में आवश्यक कृत्यों का विधान किया है और आवश्यक कृत्यों के लिए नियत काल की आवश्यकता होती है। तथा इससे पहले सामायिक का निरूपण किया गया है और सामायिक का समय पूर्वाचार्यों ने एक मुहूर्त्त नियत किया है। अतएव मुहूर्त का परिमाण बतलाना आवश्यक है। इसीलिए यहां मुहूर्त्त का काल-परिमाण बताया गया है। तीन हजार, सात सौ तिहत्तर उच्छ्वास में जितना समय लगता है, उतना समय एक मुहूर्त्त कहलाता है। स्वस्थ पुरुष का, स्वाभाविक क्रम से उच्छ्वास लेना, कालगणना में ग्रहण किया जाता है।

निर्ग्रन्थ-प्रवचन-सोलहवां अध्याय समाप्त
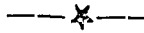
❀ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ❀

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

॥ सत्रहवां अध्याय ॥

—:-☆-:—

नरक-स्वर्ग-निरूपण

श्री भगवान् उवाच—

मूलः—नेरइया सत्तविहा, पुढवी सत्तसु भवे ।
रयणाभा सक्कराभा, वालुयाभा य आहिया ॥१
पंकाभा धूमाभा, तमा तमतमा तहा ।
इय नेरइआ एए, सत्तहा परिकित्तिया ॥ २ ॥

छायाः—नैरयिकाः सप्तविधाः, पृथ्वीषु सप्तसु भवेयुः ।
रत्नाभा शर्कराभा, बालुकाभा च आख्याता ॥ १ ॥
पङ्काभा धूमाभा, तमः तमस्तमः तथा ।
इति नैरयिका एते, सप्तधा परिकीर्त्तिताः ॥ २ ॥

शब्दार्थः - हे इन्द्रभूति ! सात पृथ्वियों में रहने के कारण नरक सात प्रकार के कहे गये हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं। रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा और तमतमप्रभा।

भाष्यः—सोलहवें अध्याय में आवश्यक कृत्यों का वर्णन किया गया है। जो विवेकी पुरुप आवश्यक क्रियाओं का अनुष्ठान करते हैं उन्हें इस पंचम काल में भी स्वर्ग की प्राप्ति होती है। और जो आवश्यक क्रियाओं में निरादर की बुद्धि रखते हुए पापकार्यों में आसक्त रहते हैं, हिंसा आदि घोर एवं क्रूरतापूर्ण कार्य करते हैं, उन्हें नरक का अतिथि बनना पड़ता है। अतः आवश्यक क्रियाओं के निरूपण के पश्चात् नरक और स्वर्ग का निरूपण किया गया है।

नरक का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए लोक का वर्णन करना आवश्यक है, अतएव संक्षेप में यहां लोक का स्वरूप लिखा जाता है। अनन्त और असीम आकाश के जितने भाग में जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि द्रव्य पाये जाते हैं, उस भाग को लोक कहते हैं। लोक को तीन प्रधान विभागों में विभक्त किया गया है—ऊर्ध्व लोक, मध्य लोक और अधो-लोक।

मेरु पर्वत के समतल भूमि भाग से नौ सौ योजन ऊपर ज्योतिष चक्र के ऊपर

स्परिका (२) आसुरी और (३) क्षेत्रजा।

नरक के जीव विभंग अज्ञान के द्वारा दूर से ही अपने पूर्वभव के वैरी को जान कर अथवा समीप में एक दूसरे को देख कर आग बबूला हो जाते हैं। उनकी क्रोधाग्नि सहसा भड़क उठती है। तत्पश्चात् वे अपनी ही विक्रिया से तलवार, फरसा आदि अनेक प्रकार के शस्त्र बनाकर एक-दूसरे पर प्रहार करते हैं। इतना ही नहीं, वे अपने हाथों से, पैरों से, दांतों से भी आपस में छेदन-भेदन करते हैं। इससे उन्हें असीम कष्ट होता है। इस प्रकार का व्यापार निरन्तर जारी रहता है। यह वेदना पारस्परिक वेदना कहलाती है।

दूसरी वेदना आसुरी है। परमाधामी असुर जाति के देवता तीसरे नरक तक जाते हैं और वे नारक जीवों को घोर यातना पहुँचाते हैं। नरक रूप क्षेत्र के कारण से उत्पन्न होने वाली वेदना क्षेत्रजा वेदना कहलाती है।

इस प्रकार की वेदनाओं को सहन करने पर भी नारक जीवों की अकाल-मृत्यु नहीं होती, क्योंकि वे अनपवर्त्य आयु वाले होते हैं। उन्हें अपनी परिपूर्ण आयु भोगनी ही पड़ती है। पहले रत्नप्रभा नरक में उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) आयु एक सागरोपम की है। शर्करा प्रभा में तीन सागरोपम की, वालुका प्रभा में सात सागरोपम की, पंकप्रभा में दस सागरोपम की, धूमप्रभा में सत्तरह सागरोपम की तमप्रभा में बाईस सागरोपम की और तमतमा प्रभा में तेंतीस सागरोपम की उत्कृष्ट आयु है। पहले नरक में (कम से कम) आयु दस हजार वर्ष की है। तत्पश्चात् पहले-पहले नरक की उत्कृष्ट आयु का जितना परिमाण है, अगले-अगले नरक की जघन्य आयु का वही परिमाण है। अर्थात् दूसरे नरक की जघन्य आयु एक सागरोपम, तीसरे नरक की तीन सागरोपम इत्यादि।

नरक गति में कौन जीव, किस कारण से जाते हैं और उनकी वहां कैसी दुर्दशा होती है, यह शास्त्रकार स्वयं आगे निरूपण करते हैं।

मूलः—जे केइ बाला इह जीवियट्ठी,
पावाइं कम्माइं करेंति रुद्दा।
ते घोररूवे तमिसंधयारे,
तिव्वाभितावे नरए पडंति ॥ ३ ॥

छायाः—ये केऽपि बाला इह जीवितार्थिनः, पापानि कर्माणि कुर्वन्ति रुद्राः।
ते घोररूपे तमिस्रान्धकारे, तीव्राभितापे नरके पतन्ति ॥ ३ ॥

शब्दार्थः—इस संसार में कितनेक अज्ञानी क्रूर पुरुष अपने जीवन के लिए पाप कर्म करते हैं, वे अतीव भयानक, अत्यन्त अन्धकार से युक्त और तीव्र संताप वाले नरक में जाकर गिरते हैं।

भाष्य:—गाथा का अर्थ स्पष्ट है। भावी हित-अहित का विचार न करने वाले मिथ्यादृष्टि अज्ञानी कहलाते हैं। मिथ्यात्वजन्य अज्ञान के वशीभूत होकर जो जीव पापमय जीवन व्यतीत करने के लिए घोर हिंसा करते हैं, महान् आरंभ एवं महान् परिग्रह से युक्त होते हैं, उन्हें नरक में जाना पड़ता है। नरक घोर रूप अर्थात् अत्यन्त भयंकर है, घोर अन्धकार से व्याप्त है और दुस्सह यातनाओं का धाम है।

आशय यह है कि विविध प्रकार की वेदनाओं से व्याप्त नरक से बचने की अभिलाषा रखने वालों को पाप कर्मों से विरत हो जाना चाहिए।

मूल:-तिव्वं तसे पाणिणो थावरे य,
जे हिंसती आयसुहं पडुच्च।
जे लूसए होइ अदत्तहारी,
ण सिक्खइ सेयवियस्स किंचिआ ॥ १४ ॥

छाया:—तीव्रं त्रसान् प्राणिनः स्थावरान् च, यो हिनस्ति आत्मसुखं प्रतीत्य।
यो लूपको भवत्यदत्तहारी, न शिक्षते सेवनीयस्य किंचित् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ:—जो जीव अपने सुख के लिए त्रस और स्थावर प्राणियों की तीव्रता के साथ हिंसा करता है, जो प्राणियों का उपमर्दन करता है, बिना दिये दूसरे के पदार्थों को ग्रहण करता है और सेवन करने योग्य (संयम) का तनिक भी सेवन नहीं करता, वह नरक का पात्र बनता है।

भाष्य:—जो पुरुष अपने सुख के लिए अन्य प्राणियों के दुःख की चिन्ता नहीं करता, दूसरे मरें या जीयें इस बात का विचार न करके अपने ही सुख के लिए प्रयत्न किया करता है, साथ ही त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है अर्थात् उनके प्राणों का व्यपरोपण करता है, अन्य प्राणियों को सताता है, चोरी जैसे कुत्सित कार्य करता है और संयम का किंचित् मात्र भी सेवन नहीं करता, वह नरक में जाकर घोर वेदनाएं भोगता है।

प्रकृत गाथा में 'हिंसइ' और 'लूसए' दो क्रिया पद एक-सा अर्थ बतलाते हैं, पर दोनों का अर्थ एक नहीं है। 'हिंसइ' का अर्थ है—किसी जीव को शरीर और प्राणों से भिन्न करना अर्थात् मार डालना। 'लूसए' का अर्थ है—किसी जीव का उपमर्दन करना, उन्हें सताना, कष्ट पहुँचाना।

पंचम गुणस्थानवर्त्ती देशविरत श्रावक भी कृषि एवं वाणिज्य आदि कार्य करता है और उससे आरम्भजन्य हिंसा भी अवश्य होती है। फिर भी वह नरक में नहीं जाता। इसका कारण यह है कि वह हिंसा संकल्पजा न होने के कारण तीव्रभाव से नहीं की जाती। इसी आशय को व्यक्त करने के लिए शास्त्रकार ने 'हिंसइ' का विशेषण 'तिव्वं' दिया है। 'तिव्वं' पद यहां क्रिया विशेषण है। अतिशय क्रूर परिणामों

से की जाने वाली संकल्पजा हिंसा का फल नरक है। आरम्भजा हिंसा में हिंसात्मक भावना न होने से उसे तीव्रभाव से की गई हिंसा नहीं कहा जा सकता।

'ण सिक्खइ सेयवियस्स किंचि' इस पद से उक्त आशय की अधिक पुष्टि होती है। तात्पर्य यह है कि नरक का अधिकारी वह होता है जो संयम का किंचित् भी--एक देश भी पालन नहीं करता। जो पुरुष किसी वस्तु का भी त्याग नहीं करता, अतएव जो सर्वथा असंयमी होता है वही नरक का पात्र होता है। श्रावक देशसंयम का पालन करता है, अतएव वह सर्वथा असंयमी नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि आरम्भजा हिंसा करने पर भी, परिणामों में सौम्यता, दयालुता, आदि सद्गुणों के कारण वह नरक में नहीं जाता है।

इस कथन से त्याग की महिमा स्पष्ट हो जाती है। त्यागी पुरुष के लिए नरक का द्वार वन्द हो जाता है। अतएव प्रत्येक विवेकशील पुरुष को अपनी शक्ति एवं परिस्थिति के अनुसार पाप का त्याग अवश्य करना चाहिए।

इस गाथा से यह भी प्रकट है कि बुद्धिमान् पुरुष को अपने ही सुख के लिए अन्य प्राणियों को कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिए। जो लोग अपना जीवन अत्यन्त विलासितापूर्ण, असंयममय और असन्तोषशील वनाते हैं वे अपने सुख के लिए तीव्र आरम्भ और अपरिमित परिग्रह करके अन्य प्राणियों की पीड़ा की परवाह नहीं करते। उन्हें शास्त्रकार के इस कथन पर ध्यान देना चाहिए। अल्पकालीन और कल्पित सुख के लिए दीर्घकालीन घोरतर वेदनाओं को आमन्त्रण देना बुद्धिमत्ता नहीं है। अतएव नरक के स्वरूप को समझकर पाप से वचने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए।

मूलः-छिंदंति बालस्स खुरेण नक्कं,
उट्ठे वि छिंदंति दुवे वि कण्णे।
जिब्भं विणिक्कस्स विहत्थिमित्तं,
तिक्खाहिसूलाभितावयंति ॥ ५ ॥

छायाः—छिन्दन्ति वालस्य क्षुरेण नासिकाम्, ओष्ठावपि छिन्दन्ति द्वावपि कर्णौ।
जिह्वां विनिष्कास्य वितस्तिमात्रं, तिक्ष्णाभिः शूलाभिरभितापयन्ति ॥ १५ ॥

शब्दार्थः—परमाधार्मिक देवता विवेकहीन नारकियों की नाक काट लेते हैं, दोनों ओठ और दोनों कान काट लेते हैं और विलात भर जीभ वाहर निकालकर उसमें तीखे शूल चुभाकर 'पीड़ा' पहुँचाते हैं।

भाष्यः—नरक गति के कारणों का निरूपण करने के पश्चात् यहां आसुरी वेदना का कथन किया गया है। परमाधार्मिक जाति के असुर नरक में नारकियों को भीषण वेदना पहुँचाते हैं। यह परमाधार्मिक पन्द्रह प्रकार के हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं:--

अंबे अंबरिसी चेव, सामे य सबले वि य।
रोद्दोवरुद्द काले य, महाकाले त्ति आवरे॥
असिपत्ते धणुं कुंभी, वालु वेयरणीत्ति य।
खरस्सरे महाघोसे, एवं पण्णरसाहिया॥

अर्थात्—(१) अम्ब (२) अम्बरीष (३) श्याम (४) शबल (५) रौद्र (६) उपरौद्र (७) काल (८) महाकाल (९) असिर (१०) पत्रधनुष (११) कुंभी (१२) वालुका (१३) वैतरणी (१४) खरस्वर और (१५) महाघोष, यह परमाधार्मिक असुरों के पन्द्रह भेद हैं।

यह असुर नारकी जीवों को जो वेदना पहुंचाते हैं, उसका संक्षेप में, निम्नलिखित गाथाओं में वर्णन किया गया है:—

धाडेंति य हाडेंति य, हणंति विंधंति तह निसुंभंति।
मुंचंति अम्बरतले, अम्बा खलु तत्थ नेरइया॥
ओहयहये य तहियं, णिस्सन्ने कप्पणीहि कप्पंति।
विदुलग—चडुलगच्छिन्ने, अंबरिसी तत्थ नेरइए॥
साडण पाडण तोडण, वंधणरज्जुलयप्पहारेहिं।
सामा णेरइयाणं पवत्तयंती अपुण्णाणं॥
अन्तगयफिप्फि साणि य हिययं कालेज्ज फुप्फुसे वक्के।
सवला णेरइयाणं कड्ढेंति तहिं अपुण्णाणं॥
असि सत्ति कुंत तोमर सूलतिसूलेसु सूइचियगासु।
पोयंति रुद्दकम्मा उ णरगपाला तहिं रुद्दा॥
भंजंति अंगमंगाणि ऊरू बाहू सिराणि करचरणे।
कप्पेंति कप्पणीहिं उवरुद्दा पावकम्मरया॥
मीरासु सुंठएसु य कंडूसु य पयंडएसु य पयंति।
कुंभीसु य लोहिएसु य पयंति काला उ णेरइए॥
कप्पंति कागिणीमंसगाणि छिंदंति सीहपुच्छाणि।
खावंति य णेरइए महाकाला पावकम्मरए॥
हत्थे पाये ऊरू, बाहुसिरापाय अंगमंगाणि।
छिंदंति पगामं तु असि णेरइए निरयपाला॥
कण्णोट्ठणासकरचरणदसणट्ठणफुग्गऊरुबाहूणं।
छेयणभेयणसाडण असिपत्त धणूहिं पाडंति॥
कुंभीसु य पयणेसु य लोहियसु य कंदुलोहि कुंभीसु।
कुंभी य णरयपाला हणंति पायंति णरएसु॥
तडतडतडस्स भज्जंति भज्जणे कलंवु वालुकापट्ठे।
वालूगा णेरइया लोलंती अंबरतलम्मि॥
पूयरुहिरकेसट्ठिवाहिणी कलकलेंतजलसोया।

वेयरणि णिरयपाला णेरइए उ पवाहंति ॥
कप्पेंति करकएहिं तच्छिंति परोप्परं परसुएहिं ।
सिंवलि तरुमारुहन्ती खरस्सरा तत्थ नेरइए ॥
भीए य पलायंते समंततो तत्थ ते णिरुंभंति ।
पसुणो जहा पसुवहे महघोसा तत्थ णेरइए ॥

—सूयगडांग निर्युक्ति ७०-८४ ।

अर्थात् अम्ब नामक परमाधार्मिक अपने भवनों से नरक में जाकर नारकी जीवों को शूल आदि के प्रहार से कष्ट पहुँचा कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर फैंक देते हैं, उन्हें इधर-उधर घुमाते हैं और आकाश में उछाल कर नीचे गिरते हुए नारकियों को पीड़ा पहुँचाते हैं । गला पकड़ कर भूमि पर पटक देते हैं ।

पहले मुद्गर आदि द्वारा और फिर तलवार आदि द्वारा उपहत होने के कारण नारकी जीव मूर्च्छित हो जाते हैं । फिर कर्पणी नामक शस्त्र के द्वारा अम्बरिसी उनका छेदन करते हैं और उन्हें चीर डालते हैं । यह नरकपाल नारकी जीवों को चीर कर दाल के समान अलग-अलग टुकड़े कर डालते हैं ।

श्याम नामक परमाधार्मिक तीव्रतर असातावेदनीय के उदय वाले उन अभागे नारकियों के अंगोपांगों का छेदन करते हैं, पर्वत पर से नीचे वज्रभूमि पर पटकते हैं, सूल आदि से वेध डालते हैं, सुई आदि से नाक आदि छेद देते हैं और रस्सी आदि से बांध देते हैं । इस प्रकार वे नारकियों को शातन, पातन, छेदन-भेदन और बंधन आदि के अनेक कष्ट पहुँचाते हैं ।

सबल नामक नरकपाल नारकी जीवों की अँतड़ियां काट कर फैंफड़े को, हृदय को और कलेजे को चीरते हैं तथा पेट की अँतड़ियों को और चमड़े को खींचते हैं ।

अपने नाम के अनुसार अत्यन्त क्रूरता पूर्वक पीड़ा पहुँचाने वाले रौद्र नामक नरकपाल नारकियों को तलवार, शक्ति आदि नाना प्रकार के तीखे शस्त्रों में पिरो देते हैं ।

उपरुद्र नामक परमाधार्मिक नारकी जीवों के सिर, भुजा, जांघ, हाथ पैर आदि अंगों और उपांगों को तोड़ते हैं और आरे से उन्हें चीर देते हैं । पाप कर्म में आसक्त यह नरकपाल सभी प्रकार की यातनाएँ देते हैं ।

काल नामक नरकपाल दीर्घचुल्ली-भट्ठी, शुंठक; कन्दुक, प्रचण्डक आदि नाम वाले अतिशय संतापकारी स्थानों में नारकियों को पकाते हैं । तथा ऊँट के आकार वाली कुंभी में एवं लोहे की कढ़ाई में डालकर जीवित मछली की तरह पकाते हैं ।

पाप-रत महाकाल नामक परमाधार्मिक नारकियों को काट-काट कर कौड़ी के बराबर मांस का टुकड़ा बनाते हैं, पीठ की चमड़ी काटते हैं और जो नारकी पूर्वभव में मांस भक्षण करते थे उन्हें उनका ही मांस खिलाते हैं ।

असि नामक नरकपाल हाथ, पैर, जांघ, भुजा, सिर, पसवाड़े आदि अंगों और उपांगों को काट-कर टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं।

तलवार जिनका मुख्य शस्त्र है ऐसे पत्रधनुष नामक परमाधार्मिक असुर असिपत्र वन को अत्यन्त वीभत्स बनाकर छाया के लिए वहां आये हुए नारकी जीवों को तलवार के द्वारा काट डालते हैं तथा कान, ओठ, नाक, हाथ, पैर, दांत, छाती, नितम्ब, जांघ और भुजा आदि का छेदन-भेदन शातन करते हैं। यह असुर पवन चलाकर तलवार के समान असिपत्र वन के तीक्ष्ण पत्तों से नारकियों को ऐसी वेदना पहुंचाते हैं।

कुंभी नामक परमाधार्मिक ऊंट के समान आकार वाली कुंभी में, कढ़ाई के आकार के लोहे के पात्र में, गेंद के आकार की लोह-कुंभी में तथा कोठी के समान आकार की कुंभी में और इसी प्रकार के अन्यान्य पात्रों में नारकी जीवों को पकाते हैं।

वालुका नामक परमाधार्मिक असुर नारकियों को गरमागरम वालू से पूर्ण पात्र में चने के समान भूंजते हैं, तब तड़-तड़-तड़ शब्द होने लगता है। कदम्ब के फूल के समान, अग्नि से लाल हुई वालुका कदम्बवालुका कहलाती है। यह असुर नारकी जीवों को उस वालुका पर रखकर आकाश में इधर-उधर घुमाकर भूंजते हैं।

वैतरणी नामक नरकपाल वैतरणी नदी को अत्यन्त विकृत कर डालते हैं। वैतरणी नदी में पीव, रक्त, केश आदि घृणित चीजें बहती रहती हैं। वह बड़ी ही भयानक है। उसका जल बहुत ही खारा और गर्म होता है। उसे देखते ही घृणा उत्पन्न होती है। वैतरणी नाम के नरकपाल उस नदी में नारकियों को ढकेल कर बहा देते हैं।

खरस्वर नामक नरकपाल नारकियों के शरीर को खंभे की भांति सूत से नाप कर मध्य भाग में आरे से चीरते हैं और उन्हें आपस में कुठार से कटवाते हैं। उनके शरीर के अव यव छीलकर पतला कर डालते हैं। साथ ही चिल्ला-चिल्ला कर वज्रमय महा भयंकर कांटों वाले सेमल वृक्ष पर चढ़ाते हैं और फिर उन्हें नीचे घसीट लेते हैं।

महाघोष नामक परमाधार्मिक असुर भयभीत हो कर इधर-उधर भागने वाले नारकी जीवों को पीड़ा पहुँचाने के स्थान पर रोक लेते हैं। जैसे कसाई या पशुहिंसा करने वाले अन्य शिकारी भागने वाले पशुओं को घेर लेते हैं इसी प्रकार महाघोष नामक असुर नारकी जीवों को घेर कर घोर से घोर यातनाएं पहुँचाते हैं।

इस प्रकार पाप-कर्म का आचरण करके नरक में जाने वाले नारकी जीवों को आसुरी वेदना का शिकार होना पड़ता है। इतनी भीषण वेदना सहन करने पर भी उनकी अकाल मृत्यु नहीं होती क्योंकि उनकी आयु निकाचित बद्ध होती है। अतः जब तक उनकी आयु पूर्ण नहीं हो जाती तब तक उन्हें निरन्तर इसी प्रकार की यातनाएं भोगनी पड़ती है।

मूलः-ते तिप्पमाणा तलसंपुडं व,
राइंदियं तत्थ थणंति बाला।
गलंति ते सोणिअपूयमंसं,
पज्जोइया खारपइद्धियंगा ॥ ६ ॥

छायाः—ते तिप्यमानास्तालसम्पुटा इव, रात्रिदिवं तत्र स्तनन्ति वालाः।
गलन्ति ते शोणितपूयमांसं, प्रद्योतिताः क्षारप्रदिग्धाङ्गाः ॥ ६ ॥

शब्दार्थः--वे नारकी जीव अपने अंगों से रुधिर टपकाते हुए सूखे ताल पत्र के समान शब्द करते रहते हैं। परमाधार्मिकों के द्वारा आग में जला दिये जाते हैं और फिर उनके अंगों पर क्षार लगा दिया जाता है। इस कारण रात-दिन उनके शरीर से रक्त, पीव और मांस झरता रहता है।

भाष्यः--परमाधार्मिक असुरों द्वारा दी जाने वाली यातनाओं का कुछ दिग्दर्शन ऊपर कराया गया है। यहां पर भी यही बात बतलाई गई है।

परमाधार्मिक नारकी जीवों के अंग-उपांग काटते हैं और आग से जला देते हैं। इतने से ही उन्हें सन्तोष नहीं होता, वे उस जले पर नमक आदि क्षार लगा देते हैं। नारकी जीवों के घावों से रुधिर टपकता रहता है, पीब झरता रहता है और मांस के लोथ गिरते रहते हैं।

ऐसी वेदना उन्हें कभी-कभी ही होती हो सो बात नहीं है। रात-दिन उनकी ऐसी ही दशा बनी रहती है। इस प्रकार की विषम वेदना से व्याकुल होकर नारकी जीव ऐसे रोते हैं जैसे हवा से प्रेरित ताल-पत्र आक्रन्दन करते हों।

जिन्होंने क्रूरतापूर्वक अन्य जीवों को वेदना पहुँचाई थी वे नारकी-भव में उस से सहस्रगुनी वेदना के पात्र बनते हैं। यह इस कथन से स्पष्ट है।

मूलः-रुहिरे पुणो वच्चसमुस्सिअंगे,
भिन्नुत्तमंगे परिवत्तयंता।
पयंति णं णेरइए फुरंते,
सजीवमच्छेव अयोकवल्ले ॥ ७ ॥

छायाः—रुधिरे पुनः वर्चः समुच्छ्रिताङ्गान्, भिन्नोत्तमाङ्गान् परिवर्त्तयन्तः।
पचन्ति नैरयिकान् स्फुरतः, सजीवमत्स्यानिवायसकवल्याम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थः--मल के द्वारा जिनका शरीर सूज गया है, जिनका सिर चूर-चूर कर दिया गया है और जो पीड़ा के कारण छटपटा रहे हैं, ऐसे नारकी जीवों को परमाधार्मिक असुर जीवित मछली के समान लोहे की कढ़ाई में पकाते हैं।

भाष्यः—यहां भी नरकपाल असुरों द्वारा पहुंचाई जाने वाली पीड़ा का दिग्दर्शन कराया गया है।

नरकपाल नारकी जीवों को [illegible]। गर्म कढ़ाई में डाल उन्हें पकाते हैं। उस कढ़ाई में जो औंधे पड़े हैं उन्हें सीधा करते हैं, जो सीधे पड़ते हैं उन्हें औंधा करते हैं। इस प्रकार इधर-उधर उलट-पुलट कर अत्यन्त क्रूरता के साथ पकाते हैं। नारकी जीवों का शरीर जलन के कारण सूज जाता है। उनका सिर कुचल-कुचल कर चूर्ण कर डाला जाता है।

जीवित मछली को कढ़ाई में पकाने पर जैसी वेदना उसे होती है, उसी प्रकार की दुस्सह वेदना नारकी जीवों को होती है। उस वेदना के कारण वे छटपटाते रहते हैं। मगर जिन्होंने पूर्वभव में अपने पापी पेट की पूर्ति के लिए अन्य जीवों को मार कर उनका मांस पकाया था, उन्हें नरक में जाकर इस प्रकार स्वयं पकना पड़ता है। वहां उनका कोई रक्षक नहीं होता, किसी का शरण नहीं मिलता। अपने पूर्वकृत पापों का फल भोगे विना उन्हें छुटकारा नहीं मिलता। क्षण भर के रसास्वाद के लिए प्राणी हिंसा करने वालों को दीर्घकाल पर्यन्त इस प्रकार की यातना सहनी पड़ती है।

मूलः—नो चेव ते तत्थ मसीभवंति,
ण मिज्जती तिव्वभिवेयणाए।
तमाणुभागं अणुवेदयंता,
दुक्खंति दुक्खी इह दुक्कडेणं ॥ ८ ॥

छायाः—नो चैव ते तत्र मषीभवन्ति, न म्रियन्ते तीव्राभिर्वेदनाभिः।
तदनुभागमनुवेदयन्तः, दुःख्यन्ति दु खिन इह दुष्कृतेन ॥ ८ ॥

शब्दार्थः—नारकी जीव नरक की अग्नि में जलकर भस्म नहीं हो जाते और न नरक की तीव्र वेदना से मरते ही हैं। भूर्वभव में किये हुए पापों का फल भोगते हुए अपने ही पाप के उदय के कारण वे दुःख पाते रहते हैं।

भाष्यः—पूर्व गाथा में नारकी जीवों को पकाने का कथन किया गया है और आग में जलाने का भी वर्णन किया जा चुका है। अतएव यह आशंका हो सकती है कि इस प्रकार जलाने और पकाने पर उनकी मृत्यु क्यों नहीं हो जाती या वे जलकर भस्म क्यों नहीं हो जाते?

इस आशंका का यहां समाधान किया गया है। घोर से घोर वेदना भोगने पर भी न वे मरते हैं और न भस्म ही होते हैं। उन्होंने पूर्वभव में जो पाप-कृत्य किये हैं उनका फल भोगते हुए वे नरक में ही रहते हैं और अपनी आयु सम्पूर्ण करके ही वहां से निकलते हैं। 'स्वयंकृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्' अर्थात् पहले आत्मा ने शुभ या अशुभ जैसे कर्म किये हैं, उनका वैसा ही शुभ या अशुभ फल

वह पाता है। इस कथन से स्पष्ट है कि नारकी जीव अपने ही कर्मों का फल भोगते हैं। यद्यपि परमाधार्मिक असुर उन्हें कष्ट पहुँचाते हैं, किन्तु वे उनके स्वकीय कर्मफल भोग में निमित्त मात्र हैं। उनके दुःखों का असली कारण तो वे स्वयमेव हैं। इसी आशय को स्पष्ट करने के लिए शास्त्रकार ने गाथा में 'दुक्कडेणं' पद दिया है।

मूलः—अच्छिनिमीलयमेत्तं, नत्थि सुहं दुक्खमेव अणुबद्धं।
नरए नेरइयाणं, अहोनिसं पच्चमाणाणं ॥ ९ ॥

छायाः— अक्षिनिमीलनमात्रम्, नास्ति सुखं दुःखमेवानुबद्धम्।
नरके नैरयिकाणाम्, अहर्निशं पच्यमानानाम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थः—रात-दिन पचते हुए नारकी जीवों को नरक में एक पलभर के लिए भी सुख नहीं मिलता। उन्हें निरन्तर दुःख ही दुःख भोगना पड़ता है।

भाष्यः—गाथा का भाव स्पष्ट है। आंख टिमटिमाने में जितना अल्प समय लगता है, उतने समय के लिए भी नारकी जीवों को कभी सुख प्राप्त नहीं होता। वेचारे नारकी निरन्तर नरक में पचते रहते हैं। उन्हें दुःख ही दुःख भोगना पड़ता है।

यद्यपि तीर्थंकर भगवान् के जन्म के समय एक क्षण के लिए नारकी जीव परस्पर में लड़ना, मारना-पीटना आदि बन्द करते हैं, तथापि उसे भी सुख नहीं कहा जा सकता, उस समय भी उन्हें क्षेत्रजा वेदनाएं भोगनी पड़ती हैं। अतएव नरक में किसी भी समय सुख का लेशमात्र भी प्राप्त नहीं होता।

मूलः—अइ सीयं अइ उण्हं, अइ तिण्हा अइक्खुहा।
अइभयं च नरए नेरइयाणं, दुक्खसयाइं अविस्सामं १०

छायाः—अति शीतम् अत्यौष्ण्यम्, अति तृषाऽति क्षुधा।
अति भयं च नरके नैरयिकाणाम्, दुःखशतान्यविश्रामम् ॥१०॥

शब्दार्थः—नरक में नारकी जीवों को अति शीत, अतिताप, अत्यन्त तृषा, अत्यन्त क्षुधा और अत्यन्त भय-इस प्रकार सैकड़ों दुःख निरन्तर भोगने पड़ते हैं।

भाष्यः—आसुरी वेदना का दिग्दर्शन कराने के पश्चात् यहां क्षेत्रजा वेदना का वर्णन किया गया गया है। नरक रूप क्षेत्र के प्रभाव से होने वाली वेदना क्षेत्रजा वेदना कहलाती है।

नरक में अत्यन्त शीत का कष्ट भोगना पड़ता है। और तीव्रतर गर्मी भी सहनी पड़ती है। नरक की गर्मी-सर्दी के विषय में कहा गया है:—

मेरु समान लोह गल जाय,
ऐसी शीत उष्णता थाय ॥

अर्थात् यहां इतनी अधिक सर्दी और गर्मी पड़ती है कि मेरु पर्वत के बराबर

लोहे का पिंड भी पिघल सकता और बिखर सकता है।

प्रथम, द्वितीय और तृतीय नरक में गर्मी की वेदना होती है और शेष नरकों में सर्दी की वेदना। जिस नरक में गर्मी की वेदना है वहां के नारकी को उठाकर अगर जलती हुई भट्ठी में डाल दिया जाय तो उसे बड़ा आराम मिले और उसे निद्रा आ जाय। इसी प्रकार शीत वेदना वाले नरक के नारकी को उठाकर अगर हिमालय के हिम पर सुला दिया जाय तो वह आनन्द का अनुभव करेगा। इससे नरक के शीत-औष्ण्य की कल्पना की जा सकती है।

नरक में क्षुधा और तृषा अर्थात् भूख-प्यास का भी ऐसा ही कष्ट भुगतना पड़ता है। भूख इतनी अधिक लगती है कि तीन लोक में जितने खाद्य पदार्थ हैं उन सब को खा लेने पर भी तृप्ति न हो, पर नारकियों को मिलता एक दाना भी नहीं है। इसी प्रकार जगत् के समस्त समुद्रों का जल एक नारकी को पिला दिया जाय तो भी उसकी प्यास नहीं बुझे, इतनी अधिक प्यास उसे लगती है। मगर जब नारकी पानी की याचना करता है तो परमाधार्मिक असुर पिघला हुआ गर्म शीशा उसे पिलाते हैं। नारकी कहता है—बस रहने दीजिए, मुझे प्यास नहीं रही, मगर वे जबर्दस्ती मुंह फाड़कर गर्मागर्म शीशा उड़ेल देते हैं।

नारकी जीवों को अत्यन्त भय का भी सामना करना पड़ता है। नरक का स्थान घोर अन्धकार से परिपूर्ण है। अंधकार इतना सघन है कि करोड़ों सूर्य मिलकर भी उस स्थान को प्रकाशमान नहीं कर सकते। नारकी जीवों का शरीर भी अत्यन्त कृष्णवर्ण और महा विकराल होता है। तिस पर वहां ऐसा हो-हल्ला मचा रहता है, जैसे किसी नगर में आग लगने पर मचता है परमाधार्मिकों की तर्जना और ताड़ना से तथा 'इसे मारो, इसे काटो, इसे पकड़ो, इसे छेद डालो, इसे भेद डालो, इसे फाड़ कर फैंक दो' इत्यादि भयंकर शब्दों से नरक का वातावरण निरन्तर भय से परिपूर्ण बना रहता है। कौन नारकी या परमाधार्मिक, किस समय, क्या यातना देगा इस विचार से भी नारकी सदा त्रस्त रहते हैं। इन कारणों से नारकी जीवों को अनन्त भय का कष्ट भोगना पड़ता है।

यहां क्षेत्रजा वेदना पांच प्रकार की बतलाई गई है। वह उपलक्षण मात्र है। उससे पांच प्रकार की अन्य वेदनाओं का भी ग्रहण करना चाहिए। जैसे—अनन्त महाज्वर, अनन्त खुजली, अनन्त रोग, अनन्त अनाश्रय और अनन्त महाशोक।

नारकी जीवों के शरीर में सदैव महाज्वर बना रहता है और उससे उनके शरीर में तीव्र जलन बनी रहती है। उनके शरीर में खुजली भी इतनी अधिक होती है कि वे हमेशा अपना शरीर अपने ही हाथों खुजलाते रहते हैं। उनके शरीर में जलोदर, भगंदर, खांसी, श्वास, कोढ़, शूल आदि सोलह बड़े-बड़े रोग और अनेकों छोटे-छोटे रोग बने रहते हैं। इन पापी जीवों को कोई आश्रय देने वाला नहीं होता। तनिक भी सान्त्वना किसी से उन्हें नहीं मिलती। व्यंग से उनका हृदय दुःखी

बनाया जाता है। उन्हें महा शोक में निमग्न रहकर ही समय व्यतीत करना पड़ता है।

इस प्रकार क्षेत्रजा वेदनाएँ भोगते-भोगते नारकी जीव उकता जाते हैं, पर भी विश्राम नहीं, कभी चैन नहीं, कभी आराम नहीं। निरन्तर वेदना, निरन्तर व्याधि, निरन्तर मार काट और निरन्तर पारस्परिक कलह, ही उनके भाग्य में है।

तीसरे नरक तक परमाधार्मिक असुर पहुँचते हैं, उससे आगे वे नहीं जाते। फिर भी क्षेत्रजा वेदना और नारकी जीवों द्वारा आपस में दी जाने वाली वेदना वहां और भी अधिक होती है। जैसे जब नया कुत्ता आता है तो पहले के समस्त कुत्ते उस पर झपट पड़ते हैं उसी प्रकार नरक में उत्पन्न होने वाले नारकी पर पहले के नारकी बुरी तरह झपटते हैं और उसे घोर से घोर कष्ट पहुँचाते हैं। वे परस्पर में लातों से, घूंसों से मारते हैं, विक्रिया से शस्त्र बनाकर एक दूसरे पर प्रहार करते हैं, मारामारी करते हैं। कहीं-कहीं नारकी जीव वज्रमय मुखवाले कीट का रूप धारण करके दूसरे नारकी के शरीर में आरपार निकल जाते हैं। नारकी के शरीर को चालनी के समान छिद्रमय बना डालते हैं। इस प्रकार सैकड़ों उपायों से नारकी आपस में एक दूसरे को विकराल पीड़ा पहुँचाते हैं। अतएव परमाधार्मिकों द्वारा दी जाने वाली वेदना के अभाव में भी आगे के नरकों के नारकी अधिक दुःख के पात्र बनते हैं।

मूलः-जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं,
तमेव आगच्छति संपराए।
एगंतदुक्खं भवमज्जणित्ता,
वेदंति दुक्खी तमणंतदुक्खं ॥ ११ ॥

छायाः—यत्यादृश पूर्वमकार्षीत् कर्म, तदेवागच्छति सम्पराये।
एकान्तदु खं भवमर्जयित्वा, वेदयन्ति दुःखिनस्तमनन्तदुःखम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थः—जीव ने पहले जो और जैसे कर्म किये हैं, वही कर्म-उन्हीं कर्मों का फल उसे संसार में प्राप्त होता है। एकान्त दुःख रूप भव-नारक पर्याय-उपार्जन करके वे दुःखी जीव अनन्त दुःख भोगते हैं।

भाष्यः—नारकीय यातनाओं का जो कथन ऊपर किया गया है, उससे यह आशंका हो सकती है कि आखिर नारकियों को इतना भीषण कष्ट क्यों भोगना पड़ता है? क्या उन्हें उस दुःख से छुड़ाया नहीं जा सकता? इसका समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—जिस जीव ने पूर्व भव में जैसे कर्म किये थे उसे उस कर्म के अनुरूप ही फल की प्राप्ति होती है। जो दूसरों को सताता है वह स्वयं दूसरों से सताया जाता है। जो अन्य को पीड़ा पहुँचाता है उसे अन्य जीव पीड़ा पहुँचाते हैं। जो इतर प्राणियों का मांस पकाकार अपनी जिह्वा को तृप्त करता है, उसका मांस भी पर भव में पकाया जाता है। जो परस्त्री को विकार की दृष्टि से देखता है और उसका आलिंगन करता है उसे नरक में जलती हुई फौलाद की पुतलियों का प्रगाढ़

फंसकर उनके सुख के लिए नाना प्रकार का पाप करने में संकोच नहीं करते।

कुछ ही काल अनन्तर पाप कर्म करने वाला अपने कुटुम्बियों को यहीं छोड़ कर अकेला ही परलोक की यात्रा करता है और कृत पापों के फल-स्वरूप नरक गति का अतिथि बनता है। पाप कर्म के द्वारा उपार्जित धन का भंडार यहीं रह जाता है। जिनके लिए धनोपार्जन किया था, वे कुटुम्बी उस समय तनिक भी सहायक नहीं होते। नरक की यातनाओं में वे जरा भी हिस्सा नहीं बंटाते। अपने पापों का फल अकेले कर्त्ता को ही भोगना पड़ता है।

अतएव जो भव्य जीव नरक से बचना चाहते हैं, उन्हें कुमति का त्याग करना चाहिए और कुटुम्बीजनों के मोह के कारण पाप-कर्म में प्रवृत्त होकर धनोपार्जन नहीं करना चाहिए। न्याय-नीति पूर्वक किया हुआ परिमित धनोपार्जन नरक का कारण नहीं है। ऐसा विचार कर अन्याय एवं अधर्म से विमुख होकर नरक गति से बचने का प्रयत्न करना चाहिए।

मूलः—एयाणि सोच्चा णरगाणि धीरे,
न हिंसए किंचण सव्वलोए।
एगंतदिट्ठी अपरिग्गहे उ,
बुज्झिज्ज लोयस्स वसं न गच्छे ॥१३॥

छायाः—एतान् श्रुत्वा नरकान् धीरः, न हिंस्यात् कञ्चन सर्वलोके।
एकान्तदृष्टिरपरिग्रहस्तु, बुध्वा लोकस्य वशं न गच्छेत् ॥ १३ ॥

शब्दार्थः—शुद्ध सम्यक् दृष्टि वाले और ममत्व से रहित बुद्धिमान् पुरुष इन नरकों के स्वरूप को सुनकर, समस्त लोक में किसी भी जीव की हिंसा न करें। कर्म रूप लोक का स्वरूप समझकर उसके अधीन न होवें।

भाष्यः—नरक के स्वरूप का वर्णन करके तथा नरक में होने वाली घोर वेदनाओं का कथन करके अब उसका उपसंहार करते हुए शास्त्रकार शिक्षा देते हैं—

जिन्हें तीव्र पुण्य के उदय से शुद्ध सम्यक्त्व की प्राप्ति हो गई है और साथ ही जिनकी ममता क्षीण हो गई है, ऐसे ज्ञानवान् पुरुषों का यह कर्त्तव्य है कि वे नरक का दुःखपूर्ण कथन सुन कर धन आदि के लिए अथवा इन्द्रियलोलुपता से प्रेरित हो कर किसी भी प्राणी की हिंसा न करें। कर्मों का यथार्थ स्वरूप समझ कर—उनके विपाक की दारुणता का अवधारण करके कर्मों के वश न हो जावें।

अनेक लोग यह आशंका करते हैं कि नरक का घृणाजनक, भयंकर और वीभत्स वर्णन करने की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार का वर्णन करके लोगों में मानसिक दुर्वलता क्यों उत्पन्न की जाती है? नरक वास्तव में है या नहीं, इस बात का क्या भरोसा है?

शास्त्रकार ने पहले प्रश्न का इस गाथा में प्रत्यक्ष रूप से समाधान किया है। नरक का वर्णन करने का उद्देश्य यह है कि लोग नरक का वास्तविक स्वरूप समझ कर उसके प्रत्येक कारण से बचने का प्रयत्न करें। इसीलिए कहा है—'एयाणि सोच्चा णरगाणि धीरे, न हिंसए किंचण सव्वलोए।' अर्थात् नरक का स्वरूप समझ कर बुद्धिमान् पुरुष को हिंसा का त्याग कर देना चाहिए।

जब तक वस्तु का स्वरूप जाना नहीं जाता तब तक उसका ग्रहण या त्याग नहीं किया जा सकता। अगर नरक का स्वरूप न बतलाया जाय तो लोग उससे बचने का प्रयत्न नहीं कर सकते और परिणाम यह होगा कि नरक गति के कारणों की अर्थात् हिंसा, परिग्रह आदि की प्रचुरता लोक में हो जायगी।

नरक के वर्णन से श्रोता में मानसिक दुर्बलता नहीं आती है, यह कहना निराधार है। अगर नरक की प्राप्ति प्रत्येक प्राणी के लिए अनिवार्य होती तो कदाचित् मानसिक दुर्बलता उत्पन्न होने की आशंका की जा सकती थी। पर यहां तो नरक के वर्णन के साथ यह भी स्पष्ट कर दिया जाता है कि हिंसा आदि पाप-कर्म करने वालों को ही नरक गति में जाना पड़ता है। धर्म, पुण्य, संयम एवं सदाचार का अनुष्ठान करने वाले नरक में नहीं जाते। ऐसी स्थिति में लोग अधर्म का त्याग करके नरक से निर्भय हो सकते हैं। उसमें मानसिक दुर्बलता उत्पन्न होने का कोई कारण ही नहीं है।

नरक गति के अस्तित्व पर आशंका करने वाले लोग अपने पैर पर कुठाराघात करते हैं। आंख मींच लेने से आसपास के पदार्थों का अभाव नहीं हो जाता, इसी प्रकार नरक को अस्वीकार कर देने मात्र से नरक का अस्तित्व नहीं मिट सकता। नरक को अमान्य कह कर जो लोग पापों के प्रति निर्भय हो जाना चाहते हैं वे पर-लोक को ही नहीं, इस लोक को भी बिगाड़ते हैं। वे स्वयं पापों में प्रवृत्त होते हैं और अन्यों को भी पाप में प्रवृत्त करते हैं। इससे संसार में हिंसा का ताण्डव होता है और अमर्यादित परिग्रहशीलता बढ़ती है।

नरक का अस्तित्व स्वीकार करके पापों से पराङ्मुख हो कर सदाचार में रत रहने वालों का कल्याण ही होगा। नरक को स्वीकार करने से हानि कुछ भी नहीं हो सकती। मगर जो लोग नरक को स्वीकार नहीं करते, उन्हें क्या लाभ होगा? वे पाप कर्म में लिप्त होकर अपना अहित करेंगे और दूसरों के समक्ष भी दूषित आदर्श उपस्थित करेंगे। इस प्रकार नरक गति का अस्तित्व स्वीकार करना कल्याणकारी ही है और उसका अस्तित्व न मानना एकान्ततः अहितकर है।

अतएव नरक गति के संबंध में किसी प्रकार की कुशंका न करके नरक के कारणों से बचने का ही प्रयत्न करना चाहिए। इसीमें आत्मा का कल्याण है, इसी में जगत् का कल्याण है। इसी से वर्त्तमान जीवन की शुद्धि होती है और इसी भावना से आगामी जीवन विशुद्ध बनता है।

देवगति का निरूपण

मूलः—देवा चउव्विहा वुत्ता, ते मे कित्तयओ सुण।
भोमेज्ज वाणमन्तर-जोइसवेमाणिया तहा ॥ १४ ॥

छायाः—देवाश्चतुर्विधा उक्ताः, तान्मे कीर्त्तयतः शृणु।
भौमेया वानव्यन्तराः, ज्योतिष्का वैमानिकास्तथा ॥ १४ ॥

शब्दार्थः—हे इन्द्रभूति! देव चार प्रकार के कहे गये हैं। उनका वर्णन करते हुए मुझ से सुन। (१) भोमेय-भवनवासी (२) वानव्यन्तर (३) ज्योतिष्क और (४) वैमानिक—यह चार प्रकार के देव होते हैं।

भाष्यः—पहले नरक गति का वर्णन किया गया है और नरक के कारणभूत हिंसा आदि पापों के त्याग का उपदेश दिया गया है। जो सम्यग्दृष्टि उस उपदेश के अनुसार अनुष्ठान करते हैं, उन्हें कौन-सी गति प्राप्त होती है? इस प्रकार की शंका उठना स्वाभाविक है। इस शंका का समाधान करने के लिए यहां देवगति का वर्णन किया गया है।

अथवा चार गति रूप संसार में से मनुष्य गति और तिर्यञ्च गति तो प्रत्यक्ष से दृष्टिगोचर होते हैं, मगर नरक गति और देवगति का अल्पज्ञ जीवों को ज्ञान नहीं होता। इसलिए नरक गति का वर्णन करके अब अवशिष्ट रही देवगति का वर्णन यहां किया जाता है।

'देवगतिनामकर्मोदये सत्यभ्यन्तरे हेतौ बाह्यविभूतिविशेषात् द्वीपाद्रिसमुद्रादिषु प्रदेशेषु यथेष्टं दीव्यन्ति-ते देवाः।'

अर्थात् देवगति नाम कर्म रूप आभ्यन्तर कारण के होने पर बाह्य विभूति की विशेषता से जो द्वीपों, पर्वतों एवं समुद्रों में इच्छानुसार क्रीड़ा करते हैं, वे देव कहलाते हैं। देवों के चार प्रधान निकाय हैं—(१) भवनवासी (२) वानव्यन्तर (३) ज्योतिष्क और वैमानिक।

चारों निकायों के नाम अन्वर्थ हैं। 'भवनेषु वसन्तीत्येवंशीला भवनवासिनः' अर्थात् जिनका स्वभाव भवनों में निवास करना है वे भवन-वासी कहलाते हैं। 'विविधदेशान्तराणि येषां निवासास्ते व्यन्तराः' अर्थात् विविध देशों में निवास करने वाले व्यन्तर कहलाते हैं। 'ज्योतिःस्वभावत्वाज्ज्योतिष्काः' अर्थात् प्रकाश-स्वभाव वाले होने के कारण ज्योतिष्क देव कहे जाते हैं।

'विशेषेणात्मस्थान् सुकृतिनो मानयन्तीति विमानानि। विमानेषु भवा वैमानिकाः' अर्थात् जिनमें रहने वाले अपने-आपको पुण्यात्मा मानते हैं, उन्हें विमान कहते हैं और विमानों में उत्पन्न होने वाले या रहने वाले देव वैमानिक कहलाते हैं।

चारों जाति के देवों का वर्णन शास्त्रकार आगे स्वयं करेंगे।

मूलः—दसहा उ भवणवासी, अट्ठहा वणचारिणो।
पंचविहा जोइसिया, दुविहा वेमाणिया तहा ॥ १५ ॥

छायाः—दशधा तु भवनवासिनः, अष्टधा वनचारिणः।
पञ्चविधा ज्योतिष्काः, द्विविधौ वैमानिकौ तथा ॥१५॥

शब्दार्थः—भवनवासी देव दस प्रकार के हैं, वाणव्यन्तर आठ प्रकार के हैं, ज्योतिष्क देव पांच प्रकार के हैं और वैमानिक देव दो प्रकार के हैं।

भाष्यः—गाथा स्पष्ट है। पूर्व गाथा में चार निकायों का नाम निर्देश करके प्रकृत गाथा में क्रमशः उनके अवान्तर भेदों की संख्या का उल्लेख किया गया है। भवनवासियों के दस, वाणव्यन्तरों के आठ, ज्योतिष्कों के पांच और वैमानिकों के दो भेद हैं। इन भेदों का नामकथन अगली गाथाओं में क्रमशः किया जायगा।

मूलः—असुरा नाग सुवण्णा, विज्जू अग्गी वियाहिया।
दीवोदहिदिसा वाया, थणिया भवनवासिणो ॥१६॥

छायाः—असुरा नागाः सुवर्णाः, विद्युतोऽग्निय : व्याहृताः।
द्वीपा उदधयो दिशो वायवः, स्तनिता भवनवासिनः ॥१६॥

शब्दार्थः—भवनवासी देवों के दस प्रकार यह हैं—(१) असुर (२) नाग (३) सुपर्ण (४) विद्युत (५) अग्नि (६) द्वीप (७) उदधि (८) दिशा (९) वायु और (१०) स्तनित।

भाष्यः—सर्व प्रथम भवनवासी का नाम-निर्देश किया गया था अतएव यहां सबसे पहले उसी के भेद बतलाये गये हैं। प्रत्येक नाम के साथ 'कुमार' शब्द का प्रयोग किया जाता है। यद्यपि देवों की उम्र अवस्थित रहती है, उनमें मनुष्यों एवं तिर्यञ्चों की भांति शैशव, बाल्य, कुमार, युवा, तथा बुढापे का अवस्थाभेद नहीं है, तथापि भवनवासी देवों का वेषभूषा, आयुध, सवारी और क्रीड़ा कुमारों के समान होती है अतएव उनके नामों के साथ 'कुमार' शब्द जोड़ा जाता है। इसलिए उनके नाम इस प्रकार हैं—(१) असुरकुमार (२) नागकुमार (३) सुपर्णकुमार (४) विद्युत्कुमार (५) अग्निकुमार (६) द्वीपकुमार (७) उदधिकुमार (८) दिशाकुमार (९) वायुकुमार (१०) स्तनितकुमार।

भवनवासियों में असुरकुमारों के भवन रत्नप्रभा पृथ्वी के एक भाग में हैं और शेष नव कुमारों के भवन खरपृथ्वी के ऊपर और नीचे के एक-एक हजार योजन भाग को छोड़ कर शेष चौदह हजार योजन के भाग में हैं।

असुरकुमारों के भवनों की संख्या दक्षिण दिशा में चवालीस लाख है। इनके इन्द्र का नाम चमरेन्द्र है—यह इन देवों के अधिपति हैं। चमरेन्द्र के परिवार में ६४००० सामानिक देव, २५६००० आत्मरक्षक देव, छह महिषी (पटरानियां) हैं।

एक-एक पटरानी के छह-छह हजार का परिवार है। सात प्रकार की (गंधर्व की, नाटक की, अश्वों की, हाथियों की, रथों की, पदातियों की और भैंसों की) उनकी सेना है। तीन प्रकार के परिषद देव हैं। उनमें आभ्यन्तर परिषद् के २४००० देव, मध्य परिषद् के २८००० देव और बाह्य परिषद् के ३२००० देव हैं। इसी प्रकार अभ्यन्तर परिषद् की ३५० देवियां हैं, मध्य परिषद् की ३०० देवियां और बाह्य परिषद् की २५० देवियां हैं।

उत्तर दिशा में असुर कुमारों के चालीस लाख भवन हैं। यहां के अधिपति (इन्द्र) बलेन्द्र हैं। बलेन्द्र के ६०००० सामानिक देवों का, २४०००० आत्मरक्ष देवों का, छह अग्रमहिषी अर्थात् पटरानियों का परिवार है। प्रत्येक अग्रमहिषी का छह-छह हजार का परिवार है। सात प्रकार की सेना और तीन प्रकार की परिषद् है। आभ्यन्तर परिषद् में २०००० देव, मध्यपरिषद् में २४००० देव और बाह्य परिषद् में २८००० देव हैं। आभ्यन्तर परिषद की ४५० देवियां, मध्य परिषद की ४०० देवियां और बाह्य परिषद की ३५० देवियां हैं।

नाग कुमार भवनवासियों के दक्षिण-विभाग में चवालीस और उत्तर विभाग में चालीस लाख भवन हैं। दक्षिण विभाग के इन्द्र का नाम धरणेन्द्र और उत्तर विभाग के अधिपति का नाम भूतेन्द्र है।

सुपर्ण (सुवर्ण) कुमारों के दक्षिण विभाग में अड़तीस लाख और उत्तर दिशा में चौतीस लाख भवन हैं। दक्षिण विभाग के अधिपति का नाम वेणु-इन्द्र है और उत्तर विभाग के अधिपति का नाम वेणुधारी है।

विद्युत कुमार देवों के दक्षिण भाग के इन्द्र हरिकान्त और उत्तर भाग के इन्द्र हरिकान्तेन्द्र हैं। इसी प्रकार अग्नि कुमारों के दक्षिण और उत्तर विभागों के इन्द्रों के नाम क्रमशः अग्निशिखेन्द्र तथा अग्निमाणवेन्द्र है। द्वीपकुमारों में पूर्णेन्द्र तथा विशिष्टेन्द्र उदधिकुमारों में जलकातेन्द्र तथा जलप्रभेन्द्र, दिशा कुमारों में अमितेन्द्र और अमितवाहनेन्द्र, वायु कुमारों में वैलम्बेन्द्र तथा प्रभंजनेन्द्र, स्तनितकुमारों में घोषेन्द्र और महाघोषेन्द्र नामक अधिपति इन्द्र हैं। तात्पर्य यह है कि भवनवासियों में सब बीस इन्द्र हैं। प्रत्येक भेद के दो-दो इन्द्र होते हैं। ऊपर लिखे हुए नाम क्रमशः दक्षिण और उत्तर दिशा के समझने चाहिए।

असुर कुमार के अतिरिक्त शेष नौ निकायों के इन्द्रों का ऐश्वर्य एक समान है। दक्षिण भाग में सब के छह-छह हजार सामानिक देव हैं, चौबीस हजार आत्म-रक्षक देव हैं, पांच अग्रमहिषियां हैं, और प्रत्येक के पांच-पांच हजार का परिवार है, सात-सात प्रकार की सेना और तीन-तीन प्रकार की परिषद है। सभी की आभ्यन्तर परिषद में साठ हजार देव, मध्य परिषद में सत्तर हजार देव और बाह्य परिषद में अस्सी हजार देव हैं। आभ्यन्तर परिषद की एक सौ पचहत्तर देवियां, मध्य परिषद की एक सौ पचास देवियां और बाह्य परिषद की एक सौ पच्चीस देवियां हैं।

उत्तर भाग के इन्द्रों का ऐश्वर्य भी लगभग इसी प्रकार का है। परिषदों के

देवों की संख्या में कुछ अन्तर है। वह इस प्रकार है--आभ्यन्तर परिषद् में पचास हजार देव, मध्य परिषद् में साठ हजार देव और बाह्य परिषद् में सत्तर हजार देव हैं। आभ्यन्तर परिषद् की देवियां दो सौ पच्चीस, मध्य परिषद् की दो सौ और बाह्य परिषद् की एक सौ पचत्तर देवियां हैं।

विद्युत्कुमारों से लगाकर स्तनित कुमारों तक के भवनों की संख्या दक्षिण में चालीस-चालीस लाख और उत्तर में छत्तीस-छत्तीस लाख है।

भवन पति देवों की अलग-अलग जाति के शरीर का वर्णन आदि भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। यथा—

जाति का नाम	शरीर का वर्ण	वस्त्र का वर्ण	मुकुट का चिह्न
(१) असुर कुमार	कृष्ण	रक्त	चूड़ामणि
(२) नाग कुमार	श्वेत	हरित	नाग-फण
(३) सुपर्ण कुमार	सुनहरा	श्वेत	गरुड़
(४) विद्युत्कुमार	रक्त	हरित	वज्र
(५) अग्निकुमार	रक्त	हरित	कलश
(६) द्वीपकुमार	रक्त	हरित	सिंह
(७) उदधिकुमार	रक्त	हरित	अश्व
(८) दिशाकुमार	रक्त	श्वेत	हस्ती
(९) वायुकुमार	हरित	गुलाबी	मगर
(१०) स्तनितकुमार	काञ्चन	श्वेत	शराव

भवनवासी देवों की स्थिति का वर्णन आगे किया जायगा।

मूल:–पिसायभूय जक्खा य, रक्खा किन्नरा किंपुरिसा।
महोरगा य गंधव्वा, अट्ठविहा वाणमन्तरा ॥ १७ ॥

छाया: –पिशाचा भूता यक्षाश्च, राक्षसा किन्नराः किंपुरुषाः।
महोरगाश्च गन्धर्वा, अष्टविधा व्यन्तराः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ:—वान व्यन्तर देव आठ प्रकार के हैं— (१) पिशाच, (२) भूत, (३) यक्ष, (४) राक्षस (५) किन्नर (६) किंपुरुष (७) महोरग और (८) गंधर्व।

भाष्य—प्रकृत गाथा में क्रमप्राप्त व्यन्तर देवों की जातियों के नामों का उल्लेख किया गया है।

रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपर एक हजार योजन का पृथ्वीपिंड है। उसके सौ-सौ योजन ऊपरी और नीचे के भाग को छोड़कर बीच में आठ सौ योजन में व्यन्तर देव रहते हैं।

ऊपर के छूटे हुए सौ योजन के ऊपरी और निचले भाग के दस-दस योजन छोड़कर बीच में भी आनपन्नी, पानपन्नी, आदि व्यन्तर रहते हैं। दोनों स्थानों पर

व्यन्तर देवों के असंख्यात नगर हैं।

आठ व्यन्तर और आठ वाणव्यन्तर मिल कर व्यन्तरों की संख्या सोलह होती है। व्यन्तरों की यह सोलह जातियां हैं। एक-एक जाति के दो-दो इन्द्र होने के कारण कुल बत्तीस इन्द्र व्यन्तरों में होते हैं। प्रत्येक इन्द्र के चार हजार सामानिक देव, सोलह हजार आत्मरक्षक देव, चार अग्रमहिषियां, सात प्रकार की सेना और तीन प्रकार की परिषद् होती है। व्यन्तर इन्द्रों के नाम इस प्रकार हैं:—

(१) पिशाच—	कालेन्द्र,	महाकालेन्द्र
(२) भूत—	सुरूपेन्द्र,	प्रतिरूपेन्द्र
(३) यक्ष—	पूर्णभन्द्रे न्द्र,	मणिभद्रेन्द्र
(४) राक्षस—	भीमेन्द्र,	महाभीमेन्द्र
(५) किन्नर—	किन्नरेन्द्र,	किंपुरुषेन्द्र
(६) किंपुरुष—	सुपुरुषेन्द्र,	महापुरुषेन्द्र
(७) महोरग—	अतिकायेन्द्र,	महाकायेन्द्र
(८) गंधर्व—	गीतरति-इन्द्र,	गीतरसेन्द्र

वाण व्यन्तर देवों के इन्द्रों के नाम—

(१) आनपन्नी—	सन्निहितेन्द्र,	पन्मानेन्द्र
(२) पानपन्नी—	धातेन्द्र,	विधातेन्द्र
(३) इसिवाई (ऋषिवादी)-	ऋषि,	ऋषिपाल
(४) भूतवाई—	ईश्वरेन्द्र,	महेश्वरेन्द्र
(५) कन्दित—	सुवत्स,	विशाल
(६) महाकन्दित—	हास,	रति
(७) कोहंड—	श्वेत,	महाश्वेत
(८) पतंग—	पतंग,	पतंगपति

जैसा कि पहले कहा गया है, व्यन्तर देव विविध देशों में भ्रमण करते रहते हैं। टूटे-फूटे घरों में, जंगलों में, जलाशयों पर, वृक्षों पर तथा इसी प्रकार के अन्यान्य-स्थानों पर रहते हैं। आठ प्रकार के वाणव्यन्तर गंधर्व देवों के ही भेद हैं। यह आठों देव अत्यन्त विनोदशील, हास्यप्रिय, चपल और चंचल चित्त वाले होते हैं। इन सब के शरीर का वर्ण और मुकुट का चिह्न इस कोष्ठक से प्रतीत होगा:—

देव नाम	शरीरवर्ण	मुकुटचिह्न
(१) पिशाच	कृष्ण	कदंब वृक्ष
(२) भूत	„	शालिवृक्ष
(३) यक्ष	„	वटवृक्ष
(४) राक्षस	श्वेत	पाटलीवृक्ष
(५) किन्नर	हरित	अशोकवृक्ष

(६) किंपुरुष	श्वेत	चम्पकवृक्ष
(७) महोरग	कृष्ण	नागवृक्ष
(८) गन्धर्व	,,	तिन्दुकवृक्ष

आनपन्नी आदि वाणव्यन्तरों के शरीर का वर्ण और मुकुट का चिह्न क्रमशः पूर्वोक्त कोष्टक के अनुसार ही समझना चाहिए।

मूलः—चंदा सूरा य नक्खत्ता, गहा तारागणा तहा।
ठिया विचारिणो चेव, पंचहा जोइसालया ॥ १८ ॥

छायाः—चन्द्राः सूर्याश्च नक्षत्राणि, ग्रहास्तारागणास्तथा।
स्थिरा विचारिणश्चैव, पञ्चधा ज्योतिषालयाः ॥१८॥

शब्दार्थः—ज्योतिषी देव पांच प्रकार के हैं—(१) चन्द्र, (२) सूर्य (३) नक्षत्र (४) ग्रह और (५) तारागण। यह स्थिर और चर के भेद से दो-दो प्रकार के हैं।

भाष्य—व्यन्तर देवों का कथन करने के पश्चात् क्रमप्राप्त ज्योतिष्क देवों का वर्णन यहां किया गया है। ज्योतिष्क देव पांच प्रकार के हैं—[१] चन्द्र [२] सूर्य [३] ग्रह [४] नक्षत्र और [५] तारागण। इनके चर और अचर के भेद से दो-दो प्रकार होते हैं। अढ़ाई द्वीप में सूर्य आदि गतिमान होने के कारण चर हैं और बाहर स्थितिशील होने के कारण अचर हैं।

इस प्रकार सम्पूर्ण ज्योतिष चक्र समतल भूमि से नौ सौ योजन की ऊंचाई पर समाप्त हो जाता है। नौ सौ योजन ऊंचे तक मध्यलोक गिना जाता है, अतएव ज्योतिष चक्र मध्य लोक में ही अवस्थित है।

जम्बूद्वीप में दो सूर्य और दो चन्द्रमा हैं। लवण समुद्र में चार सूर्य और चार चन्द्रमा हैं। धातकीखंड द्वीप में बारह सूर्य और बारह चन्द्रमा हैं। पुष्करार्द्ध द्वीप में बहत्तर सूर्य और बहत्तर चन्द्रमा हैं। इस प्रकार अढ़ाई द्वीप अर्थात् सम्पूर्ण मनुष्य क्षेत्र में एक सौ बत्तीस सूर्य और इतने ही चन्द्रमा हैं। अढ़ाई द्वीप के सूर्य और चन्द्रमा निरन्तर गति से मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करते रहते हैं।

अढ़ाई द्वीप के बाहर असंख्यात सूर्य और असंख्य चन्द्रमा हैं, पर वे अचर अर्थात् स्थिर हैं। उनकी लम्बाई-चौड़ाई और ऊंचाई, अढ़ाई द्वीप के सूर्य आदि से आधी-आधी है।

ज्योतिष्क देवों में सूर्य और चन्द्रमा-दो इन्द्र हैं। आश्विन और चैत्र मास की पूर्णिमा के दिन जिस सूर्य और जिस चन्द्रमा का उदय होता है, वही सूर्य-चन्द्र इनके इन्द्र हैं, ऐसा उल्लेख ग्रंथों में पाया जाता है।

एक-एक सूर्य एवं चन्द्रमा के साथ अठ्यासी ग्रह, अठाईस नक्षत्र और छिया-सठ हजार, नौ सौ पचहत्तर कोड़ा-कोड़ी तारे हैं। ज्योतिष्क देवों का विस्तृत वर्णन अन्यत्र देखना चाहिए। विस्तार भय से यहां सामान्य कथन किया गया है।

मूलः—वेमाणिया उ जे देवा, दुविहा ते वियाहिया।
कप्पोवगा य बोद्धव्वा, कप्पाईया तहेव य ॥ १९ ॥

छायाः—वैमानिकास्तु ये देवाः, द्विविधास्ते व्याहृताः।
कल्पोपगाश्च बोद्धव्याः, कल्पातीतास्तथैव च ॥ १९ ॥

शब्दार्थः—जो वैमानिक देव हैं, वे दो प्रकार के कहे गये हैं (१) कल्पोत्पन्न और (२) कल्पातीत।

भाष्यः—तीन निकायों के देवों का कथन करने के पश्चात् अब चौथे वैमानिक देव निकाय का वर्णन किया जाता है। वैमानिक देवों के मूलतः दो भेद हैं—कल्पो-त्पन्न और कल्पातीत। जिन वैमानिकों में इन्द्र, सामानिक आदि का विकल्प होता है वे कल्पोत्पन्न कहलाते हैं और जिनमें इस प्रकार भेदों की कल्पना नहीं होती—जहां किसी प्रकार का भेदभाव नहीं है—सभी अहमिन्द्र हैं, वे कल्पातीत कहलाते हैं।

कल्पोत्पन्न देवों में दस भेद होते हैं:—(१) इन्द्र (२) सामानिक (३) त्राय-स्त्रिंश (४) पारिषद् (५) आत्मरक्षक (६) लोकपाल (७) अनीक (८) प्रकीर्णक (९) आभियोग्य और (१०) किल्बिषिक। इनका परिचय इस प्रकार है:—

(१) इन्द्र—अन्य देवों से विशिष्ट ऐश्वर्य वाला, मनुष्यों में राजा के समान शासक देव इन्द्र कहलाता है।

(२) सामानिक—जो देव इन्द्र के समान आज्ञा नहीं चला सकते, इन्द्र के समान ऐश्वर्य भी जिनका नहीं है, फिर भी जो इन्द्र के समान ही आयु, शक्ति, परिवार और उसी के समान भोगोपभोग की सामग्री से युक्त होते हैं, ऐसे राजा के पिता, गुरु आदि समान देव सामानिक कहलाते हैं।

(३) त्रायस्त्रिंश—राजा के मंत्री और पुरोहित के समान देव त्रायस्त्रिंश कहलाते हैं।

(४) पारिषद्—राजा के मित्र या सभासदों के समान देव पारिषद कहलाते हैं।

(५) आत्मरक्षक—जैसे राजा के अंगरक्षक होते हैं, उसी प्रकार इन्द्र के अंगरक्षक देव आत्मरक्षक कहलाते हैं। यद्यपि इन्द्र को किसी प्रकार का भय नहीं रहता और उसे दूसरों से रक्षा कराने की आवश्यकता भी नहीं है, फिर भी अंगरक्षक देवों का होना एक प्रकार का इन्द्र का ऐश्वर्य है।

(६) लोकपाल—प्रजा के रक्षक के समान देव लोकपाल हैं।

(७) अनीक—सैनिकों के स्थानीय देव अनीक कहलाते हैं। इन्द्र की सेना पदाति आदि सात प्रकार की है। उसका उल्लेख पहले आ चुका है।

(८) प्रकीर्णक—मनुष्यों में प्रजा के समान देवप्रजा को प्रकीर्णक देव कहते हैं।

(९) आभियोग्य—मनुष्यों में दास के समान देव, जो इन्द्र की सवारी आदि के भी काम आते हैं।

(१०) किल्विषिक मनुष्यों में चाण्डालों के समान, पापी देव किल्विषिक कहलाते हैं।

यह भेद प्रत्येक निकाय में ही होते हैं। मगर व्यन्तर एवं ज्योतिष्क देवों में त्रायस्त्रिंश तथा लोकपाल के सिवाय सिर्फ आठ ही विकल्प हैं। वैमानिकों और भवनवासियों में दस-दस भेद पाये जाते हैं।

शंका—जब चारों निकायों में इन्द्र आदि विकल्प हैं तब सभी निकायों में कल्पोत्पन्न तथा कल्पातीत भेद करना चाहिए। यहां केवल वैमानिकों में दो विकल्प क्यों बताये गये हैं ?

समाधान—वैमानिकों के अतिरिक्त शेष तीन निकायों में कल्पोत्पन्न देव ही होते हैं, कल्पातीत नहीं, अतः उनमें दो भेद नहीं हैं। वैमानिक देवों में दो प्रकार के देव हैं। इस कारण वैमानिकों के दो भेद बतलाये गये हैं।

'कप्पोवगा' और 'कप्पाईया' पदों का बहुवचनान्त प्रयोग उनके अनेक अवान्तर भेदों को सूचित करता है। इन भेदों का निरूपण शास्त्रकार स्वयमेव आगे करते हैं।

मूलः—कप्पोवगा बारसहा, सोहम्मीसाणगा तहा।
सणंकुमार माहिंदा, बंभलोगा य लंतगा ॥ २० ॥
महासुक्का सहस्सारा, आणया पाणया तहा।
आरणा अच्चुया चेव, इइ कप्पोवगा सुरा ॥ २१ ॥

छायाः—कल्पोपगा द्वादशधा, सौधर्मैशानगास्तथा।
सनत्कुमारा माहेन्द्राः, ब्रह्मलोकाश्च लान्तकाः ॥ २० ॥
महाशुक्राः सहस्राराः आनताः प्राणतास्तथा।
आरणा अच्युताश्चैव, इति कल्पोपगाः सुराः ॥ २१ ॥

शब्दार्थः—कल्पोत्पन्न देवों के बारह भेद हैं—(१) सौधर्म (२) ईशान (३) सनत्कुमार (४) महेन्द्र (५) ब्रह्म (६) लान्तक (७) महाशुक्र (८) सहस्रार (९) आनत (१०) प्राणत (११) आरण और (१२) अच्युत।

भाष्यः—कल्पोत्पन्न वैमानिक देव अपने निवास-स्थान की अपेक्षा बारह प्रकार के होते हैं।

शनैश्चर के विमान से डेढ़ राजू ऊपर, जम्बूद्वीप के सुमेरु पर्वत से दक्षिण दिशा में पहला सौधर्म देवलोक है और उत्तर दिशा में दूसरा ऐशान देवलोक है। इन दोनों देवलोकों में तेरह-तेरह प्रतर हैं। उनमें पांच-पांच सौ योजन ऊंचे और सत्ताईस-सत्ताईस सौ योजन की नींव वाले ३२००००० विमान पहले देवलोक में और २८००००० विमान दूसरे देवलोक में हैं। पहले देवलोक का इन्द्र शक्रेन्द्र या सौधर्मेन्द्र कहलाता है और दूसरे का ऐशानेन्द्र।

इन दोनों देवलोकों के ऊपर दक्षिण दिशा में तीसरा सनत्कुमार और उत्तर दिशा में चौथा महेन्द्र नामक देवलोक है। इन दोनों देवलोकों में बारह-बारह प्रतर-मंजिल हैं, जिनमें छह-छह सौ योजन के ऊंचे और छब्बीस-छब्बीस सौ योजन की नींव वाले तीसरे देवलोक में १२००००० विमान हैं और चौथे देवलोक में ८००००० विमान हैं।

इनके ऊपर मेरु पर्वत के ठीक मध्य में ब्रह्म नामक पांचवां स्वर्ग है। उसके छह प्रतर हैं। उसमें सात सौ योजन ऊंचे और २५०० योजन नींव वाले ४०००० विमान हैं। इस स्वर्ग के तीसरे प्रतर के पास,दक्षिण दिशा में,आठ कृष्ण राजियां हैं। इनके अंतराल में आठ विमान हैं और आठ विमानों के बीच एक और विमान है। इस प्रकार नौ विमानों में नौ लौकान्तिक जाति के देवों का निवास है। अर्चि नामक विमान में सारस्वत नामक लौकान्तिक रहते हैं, अर्चिमाली नामक विमान में आदित्य नामक देव रहते हैं, वैरोचन विमान में वह्नि नामक देव रहते हैं, प्रभंकर विमान में वरुण, चन्द्राभ विमान में गर्दतोय, सूर्याभ विमान में तुषित, शुक्राभ विमान में अव्याबाध, सुप्रतिष्ठित विमान में अग्नि देव, और अरिष्टाभ विमान में अरिष्ट देव रहते हैं।

'नव लोकान्तिक देव सम्यग्दृष्टि होते हैं, तीर्थंकर भगवान् की दीक्षा के समय उनके वैराग्य की सराहना करने वाले हैं, आसन्न मोक्षगामी के समान होते हैं।

पांचवें स्वर्ग के ऊपर छठा लान्तक स्वर्ग है। इसके पांच प्रतर हैं, जिनमें सात सौ योजन के ऊंचे और पच्चीस सौ योजन की नींव वाले ५०००० विमान हैं।

छठे स्वर्ग के ऊपर सातवां महाशुक्र देव लोक है। इसके चार प्रतर हैं, जिनमें ८०० योजन ऊंचे और २४०० योजन की नींव वाले ४०००० विमान हैं।

सातवें देवलोक के ऊपर आठवां सहस्रार देव लोक है। सहस्रार देव लोक में चार प्रतर हैं, जिनमें ८०० योजन ऊंचे और २४०० योजन की नींव वाले ६००० विमान हैं।

आठवें देवलोक के ऊपर प्रारंभ के चार देवलोकों के समान बराबरी पर दो-दो देवलोक आरंभ होते हैं। मेरु से दक्षिण दिशा में नववां आनत देव लोक और उत्तर दिशा में प्राणत नामक दसवां देवलोक है। इन दोनों में चार-चार प्रतर हैं, जिनमें नौ सौ योजन ऊंचे और २२०० योजन की नींव वाले दोनों के चार सौ विमान हैं।

इन देवलोकों के ऊपर मेरु से दक्षिण की ओर ग्यारहवां अरुण देवलोक और उत्तर दिशा में बारहवां अच्युत देवलोक है जिनमें एक हजार योजन ऊंचे और बाईस सौ योजन की नींव वाले दोनों के तीन सौ विमान हैं।

इस प्रकार कल्पोपपन्न देवों के बारह भेद हैं। बारहवें देवलोक के ऊपर कल्पातीत देव रहते हैं। उनका वर्णन आगे किया जा रहा है।

मूलः—कप्पाईया उ जे देवा, दुविहा ते वियाहिया।
गेविज्जाणुत्तरा चेव, गेविज्जा नवविहा तहिं ॥२२॥

छाया:—कल्पातीतास्तु ये देवा, द्विविधास्ते व्याख्याताः।
ग्रैवेयका अनुत्तराश्चैव, ग्रैवेयका नवविधास्तत्र ॥२२॥

शब्दार्थः—जो कल्पातीत देव हैं वे दो प्रकार के कहे गये हैं—ग्रैवेयक देव और अनुत्तर देव। उनमें से ग्रैवेयक देवों के नौ भेद हैं।

भाष्यः—कल्पोपपन्न देवों के भेद बताने के पश्चात् यहां कल्पातीत देवों के मूल दो भेद—ग्रैवेयक देव और अनुत्तर देव—और ग्रैवेयक देवों की भेदसंख्या का कथन किया गया है।

ग्रैवेयक विमान नौ हैं, अतः उनमें निवास करने वाले देव भी नौ प्रकार के हैं। इसी प्रकार कल्पातीत देवों के दो भेद भी आश्रय-भेद से किये गये हैं। जो देव नौ ग्रैवेयकों में रहते हैं वे ग्रैवेयकदेव कहलाते हैं और अनुत्तर विमानों में रहने वाले अनुत्तर देव कहलाते हैं।

ग्यारहवें और बारहवें देवलोक के ऊपर, एक दूसरे के ऊपर नौ विमान हैं, जिन्हें ग्रैवेयक कहा गया है। इन नौ विमानों में नीचे से तीन विमानों का एक त्रिक, मध्य के तीन विमानों का दूसरा त्रिक और ऊपर के तीन विमानों का तीसरा त्रिक है। प्रथम त्रिक में भद्र, सुभद्र और सुजात नामक ग्रैवेयक हैं, इन तीनों में एक सौ ग्यारह विमान हैं। मध्यम त्रिक में सुमनस, सुदर्शन और प्रियदर्शन नामक तीन ग्रैवेयक हैं। इन तीनों में एक सौ सात विमान हैं। तीसरे त्रिक में अमोह, सुप्रतिबद्ध और यशोधर नामक तीन ग्रैवेयक हैं। इन तीनों में सौ विमान हैं। यह सब विमान एक हजार योजन ऊंचे और २२०० योजन विस्तार वाले हैं। ग्रैवेयक के देवों का शरीर दो हाथ ऊंचा होता है।

नव ग्रैवेयक के ऊपर चारों दिशाओं में चार विमान और मध्य में एक विमान है। इन पांचों को अनुत्तर विमान कहते हैं। इनके नामों का उल्लेख अगली गाथाओं में होगा।

मूलः-हेट्ठिमाहेट्ठिमा चेव, हेट्ठिमा मज्झिमा तहा।
हेट्ठिमा उवरिमा चेव, मज्झिमाहेट्ठिमा तहा ॥२३॥
मज्झिमामज्झिमा चेव, मज्झिमाउवरिमा तहा।
उवरिमाहेट्ठिमा चेव, उवरिमामज्झिमा तहा ॥२४॥
उवरिमाउवरिमा चेव, इय गेविज्जगा सुरा।
विजया वेजयंता य, जयंता अपराजिया ॥२५॥
सव्वत्थसिद्धगा चेव, पंचहाणुत्तरा सुरा।
इइ वेमाणिया एएऽणेगहा एवमायओ ॥२६॥

छायाः—अधस्तनाधस्तनाश्चैव, अधस्तना मध्यमास्तथा।
अधस्तनोपरितनाश्चैव, मध्यमाऽधस्तनास्तथा ॥२३॥
मध्यमामध्यमाश्चैव, मध्यमोपरितनास्तथा।
उपरितनाऽधस्तनाश्चैव, उपरितनमध्यमास्तथा ॥२४॥
उपरितनोपरितनाश्चैव, इति ग्रैवेयकाः सुराः।
विजया वैजयन्ताश्च, जयन्ता अपराजिताः ॥२५॥
सर्वार्थसिद्धकाश्चैव, पञ्चधाऽनुत्तराः सुराः।
इति वैमानिका एते, अनेकधा एवमादयः ॥२६॥

शब्दार्थः—ग्रैवेयक देवों के वासस्थान रूप नवग्रैवेयक इस प्रकार हैं—(१) अधस्तनाधस्तन अर्थात् नीचे के त्रिक में नीचे वाला, (२) अधस्तनमध्यम अर्थात् नीचे के त्रिक का बीच वाला, (३) अधस्तन उपरितन अर्थात् नीचे के त्रिक में से ऊपर का, (४)

मध्यमाधस्तन अर्थात् मध्य के त्रिक में नीचे वाला, (५) मध्यममध्यम अर्थात् मध्य के त्रिक में बीच वाला, (६) मध्यमोपरितन अर्थात् मध्य के त्रिक में ऊपर वाला, (७) उपरितनाधस्तन-ऊपर के त्रिक में नीचे वाला, (८) उपरितनमध्यम-ऊपर के त्रिक में बीच का, और (९) उपरितनोपरितन-अर्थात् ऊपर के त्रिक में ऊपर वाला। यह नव ग्रैवेयक हैं।

पांच अनुत्तर देवों के आश्रयस्थान की अपेक्षा पांच भेद इस प्रकार हैं—(१) विजय (२) वैजयन्त (३) जयन्त (४) अपराजित और (५) सर्वार्थसिद्ध। इस प्रकार वैमानिक देव अनेक प्रकार के हैं।

भाष्यः—नव ग्रैवेयक विमानों के अवस्थान के क्रम से यहां ग्रैवेयकों का उल्लेख किया गया है। अतएव पूर्वोक्त नामों के साथ इन नामों का विरोध नहीं समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि अधस्तनाधस्तन ग्रैवेयक का नाम 'भद्र' है, अधस्तन-मध्यम का नाम 'सुभद्र', और अधस्तनोपरितन का नाम 'सुजात' है। इसी प्रकार शेष छह ग्रैवेयकों के नाम अनुक्रम से समझ लेने चाहिए।

अनुत्तर विमानों के (१) विजय (२) वैजयन्त (३) जयन्त (४) अपराजित और (५) सर्वार्थसिद्ध, यह पांच भेद हैं।

कल्पातीत देवों में इन्द्र, सामानिक आदि का कोई अन्तर नहीं है। न कोई बड़ा देव है, न कोई छोटा है। सब देव समान ऋद्धिधारी हैं। अतएव यह सब 'अहमिन्द्र' कहलाते हैं। यह देव कौतूहल से रहित, विषयवासनाओं से विरक्त और सदैव ज्ञान-ध्यान में लीन रहते हैं।

देवों का आयु मनुष्यों की अपेक्षा बहुत अधिक होता है। वह इस प्रकार है:—

भवनवासी—असुरकुमार-उत्कृष्ट एक पल्योपम से कुछ अधिक, जघन्य दस हजार वर्ष का, और नागकुमार आदि शेष नव का उत्कृष्ट डेढ़ पल्योपम का तथा जघन्य दस हजार वर्ष का।

व्यन्तर देव · समस्त व्यन्तरों एवं वाणव्यन्तरों की आयु उत्कृष्ट एक पल्योपम और जघन्य दस हजार वर्ष की होती है।

ज्योतिष्क देव · तारा देव की आयु जघन्य पाव पल्योपम, और उत्कृष्ट पाव पल्योपम से कुछ अधिक है। सूर्य विमान में रहने वाले देवों की आयु ज० पाव पल्योपम और उत्कृष्ट एक पल्योपम तथा एक हजार वर्ष की है। चन्द्र विमानवासी देवों की जघन्य पाव पल्योपम और उत्कृष्ट एक पल्योपम एवं एक लाख वर्ष की आयु है। नक्षत्र विमान के देवों की जघन्य पाव पल्योपम और उत्कृष्ट आधे पल्योपम की आयु है। ग्रह विमानों में रहने वाले देवों का आयुष्य जघन्य पाव पल्योपम का और उत्कृष्ट एक पल्योपम का है। बुध, शुक्र, मंगल और शनि ग्रहों में रहने वाले देवों की भी आयु इतनी ही है।

वैमानिक देवों की स्थिति (आयु) इस प्रकार है:—

(१) सौधर्म	ज०	एक पल्योपम	उ०	दो सागरोपम
(२) ऐशान	”	” से कुछ अधिक	”	” से कुछ अधिक
(३) सनत्कुमार	”	दो सागर	”	सात सागर
(४) माहेन्द्र	”	” (कुछ अधिक)	”	” (कुछ अधिक)
(५) ब्रह्म	”	सात सागर	”	दस सागर
(६) लान्तक	”	दस सागर	”	चौदह सागर
(७) महाशुक्र	”	चौदह सागर	”	सत्तरह सागर
(८) सहस्रार	”	सत्तरह सागर	”	अठारह सागर
(९) आनत	”	अठारह सागर	”	उन्नीस सागर
(१०) प्राणत	”	उन्नीस सागर	”	बीस सागर
(११) आरण	”	बीस सागर	”	इक्कीस सागर
(१२) अच्युत	”	इक्कीस सागर	”	बाईस सागर

इन देवलोकों की स्थिति देखने से ज्ञात होगा कि पिछले देवलोक में जितनी उत्कृष्ट आयु है, आगे के देवलोक में उतनी जघन्य आयु है। नव ग्रैवेयक विमानों में एक-एक सागर की आयु बढ़ती जाती और नववें ग्रैवेयक में इकतीस सागर की उत्कृष्ट स्थिति है। अर्थात् प्रथम ग्रैवेयक में जघन्य बाईस सागर, उत्कृष्ट तेईस सागर, इसी क्रम से नौ ही ग्रैवेयकों में एक-एक सागर की वृद्धि होती है। पांच अनुत्तर विमानों में से पहले के चार विमानों के देवों की जघन्य आयु इकतीस सागर की है और उत्कृष्ट तेतीस सागर की है। पांचवें सर्वार्थसिद्धि विमान में जघन्य-उत्कृष्ट का भेद नहीं हैं। वहां के समस्त देवों की तेतीस सागर की ही स्थिति होती है।

देवगति में सांसारिक सुखों का परम प्रकर्ष है। वहां नियत आयु अवश्य भोगी जाती है-अकाल मृत्यु नहीं होती। देव मृत्यु के पश्चात् नरक गति में नहीं जाते। सम्यक्त्व, संयमासंयम, बाल तप और अकाम निर्जरा आदि कारणों से देव-गति प्राप्त होती है। देवगति में मिथ्यादृष्टि देव भी होते हैं और सम्यग्दृष्टि भी। मिथ्या-दृष्टि देव तिर्यञ्च आदि गतियों में उत्पन्न होकर संसारभ्रमण करते हैं और कोई-कोई सम्यग्दृष्टि देव वहां से च्युत होकर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर मुक्ति प्राप्त करते हैं, कोई भरतक्षेत्र में मनुष्य होकर, मोक्षगमन योग्य काल की अनुकूलता हो तो मुक्त होते हैं अथवा पुनः देव लोक में जाते हैं।

देवगति का विस्तार पूर्वक वर्णन अन्य शास्त्रों में देखना चाहिए, यहां संक्षिप्त कथन ही किया गया है।

मूलः—जेसिं तु विउला सिक्खा, मूलियं ते अइत्थिया।
सीलवंता सवीसेसा, अदीणा जंति देवयं ॥ २७ ॥

छाया: - येषां तु विपुला शिक्षा, मूलं तेऽतिक्रान्ताः ।
शीलवन्तः सविशेषाः, अदीना यान्ति देवत्वम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ: - जिन्होंने विपुल शिक्षा का सेवन किया है, वे शीलवान्, उत्तरोत्तर गुणों की वृद्धि करने वाले और अदीन वृत्ति वाले पुरुष मूल धन रूप मनुष्य भव को अतिक्रमण करके देव भव को प्राप्त करते हैं।

भाष्य: - देवगति का वर्णन करने के पश्चात् उसके कारणों पर यहां प्रकाश डाला गया है। जिन पुरुषों ने धर्म का आचरण किया है, वे प्राप्त मानव-जीवन रूपी पूंजी को बढ़ा लेते हैं। जो शील का अर्थात् सम्यक् चारित्र का पालन करते हैं, निरन्तर आत्मिक गुणों के विकास में तत्पर रहते हैं तथा आत्मिक गुणों को आच्छादित करने वाले विकारों के उपशमन में उद्यत रहते हैं और विविध प्रकार के परीषह तथा उपसर्ग आने पर भी दीनता नहीं धारण करते--उन्हें धैर्य एवं अदैन्य के साथ सहन करते हैं, वे पुरुष देवगति प्राप्त करते हैं।

मानवजीवन रूप पूंजी के विषय में एक कथानक है। किसी साहूकार ने अपने तीन पुत्रों को एक-एक सहस्र मुद्रा दे कर व्यापार के लिए विदेश में भेजा। उनमें से एक ने सोचा – 'अपने घर में पर्याप्त धन है। भोगोपभोग के साधनों की भी कमी नहीं है ?' इस प्रकार विचार कर उसने अपने पास की मूल पूंजी खो दी।

दूसरा पुत्र, पहले पुत्र की अपेक्षा कुछ अध्यवसायशील था। उसने विचार किया—'धनवृद्धि करने की तो आवश्यकता है नहीं, मगर पिताजी की दी हुई मूल पूंजी समाप्त कर देना भी अनुचित है। अतएव मूल धन स्थिर रखकर उपार्जन किये हुए धन का उपभोग करना चाहिए।' इस प्रकार विचार कर उसने मूल पूंजी ज्यों की त्यों स्थिर रक्खी, पर जो कुछ उपार्जन किया वह सब ऐश-आराम में समाप्त कर दिया।'

तीसरा पुत्र विशेष उद्योगशील था। उसने मूल पूंजी को स्थिर ही नहीं रक्खा, वरन् उसमें पर्याप्त वृद्धि की।

यही बात संसार के जीवों पर घटित होती है। मनुष्यभव मूल पूंजी के समान है। सभी मनुष्यों को यह पूंजी प्राप्त हुई है। मगर कोई-कोई प्रमादशील मनुष्य इस का उपयोग मात्र करते हैं, परन्तु आगे के लिए कुछ भी नवीन उपार्जन नहीं करते। वे अन्त में दुःख, शोक एवं पश्चात्ताप के पात्र बनते हैं और चिरकाल पर्यन्त भवभ्रमण का कष्ट उठाते हैं। कुछ मनुष्य दूसरे पुत्र के समान हैं, जो पुण्य रूप धन की वृद्धि तो नहीं करते मगर कुछ नवीन उपार्जन करके प्राप्त पूंजी को स्थिर रखते हैं। कुछ मनुष्य तृतीय पुत्र के समान उद्योगी होते हैं। वे मनुष्य जन्म रूप पूंजी को बढ़ाने में सदा उद्योगशील रहते हैं। ऐसे मनुष्य पुण्य रूप पूंजी को बढ़ा कर देवगति प्राप्त करते हैं और अनुक्रम से मुक्ति-लाभ भी करते हैं।

तात्पर्य यह है कि इस समय जो मनुष्य पर्याय की प्राप्ति हुई है सो इसके लिए पूर्वजन्म में काफी पुण्याचरण करना पड़ा था। उस पुण्य का व्यय करके यह उत्तम पर्याय प्राप्त की है। इसे प्राप्त करके ऐसा प्रयत्न करना चाहिए, जिससे पुण्य में वृद्धि हो। जीवन के अन्त में दरिद्रता न आने पावे। जो पुरुष ऐसा नहीं करते वे पूर्वोपार्जित पुण्य क्षीण होने पर घोर दुःख के पात्र बनते हैं।

शील का पालन करना और ज्ञान आदि गुणों का उत्तरोत्तर विकास करना यही पुण्योपार्जन के साधन हैं। इन साधनों का प्रयोग करके जीवन को सार्थक बनाने की चेष्टा करनी चाहिए। साथ ही चारित्र पालन करते समय आने वाले दैविक मानवीय आदि उपसर्गों से, क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण आदि परिषहों से जो पराभूत नहीं होते, कातरता का त्याग करके इन्हें दृढ़तापूर्वक सहन करते हैं, जो चित्त में दीनता नहीं आने देते, उन्हें जीवन की सन्ध्या के समय दीनता नहीं धारण करनी पड़ती। अतएव उक्त गुणों को धारण करके, देवगति की सामग्री एकत्र करके अन्त में मुक्तिलाभ का प्रयत्न करने में ही मानव जीवन की सफलता है।

मूलः—विसालिसेहिं सीलेहिं, जक्खा उत्तर-उत्तरा।
महासुक्का व दिप्पंता, मरणंता अपुणच्चवं ॥२८॥
अप्पिया देवकामाणं, कामरूवविउव्विणो।
उड्ढं कप्पेसु चिट्ठंति, पुव्वा वाससया बहू ॥२९॥

छाया—विसदृशैः शीलैः, यक्षा उत्तरोत्तरः।
महाशुक्ला इव दीप्यमानाः, मन्यमाना अपुनश्चयम् ॥२८॥
अर्पिता देवकामान्, कामरूप वैक्रियिणः।
ऊर्ध्वं कल्पेषु तिष्ठन्ति, पूर्वाणि वर्षशतानि बहूनि ॥ २९ ॥

शब्दार्थः—विविध प्रकार के शीलों द्वारा प्रधान से प्रधान, महाशुक्ल अर्थात् चन्द्रमा के समान सर्वथा स्वच्छ, देदीप्यमान, फिर च्यवन न होगा। ऐसा मानते हुए इच्छित रूप बनाने वाले, बहुत से सैकड़ों पूर्व वर्ष पर्यन्त उच्च देवलोक में, दिव्य सुख प्राप्त करने के लिए सदाचार रूप व्रतों का अर्पण करने वाले देव बनकर रहते हैं।

भाष्यः—यहां देवगति के कारणों का उल्लेख करते हुए शास्त्रकार ने देवलोक का साधारण परिचय कराया है।

जो पुरुष विविध प्रकार के शील का अनुष्ठान करता है उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है। स्वर्ग के देव विमानों में निवास करते हैं। देवों में अत्यन्त श्रेष्ठ और चन्द्रमा के समान चमकदार होते हैं। उनकी दीप्ति अनुपम होती है।

जैसे मनुष्यों में शैशव, बाल्य, वृद्ध आदि विभिन्न अवस्थाएं होती हैं वैसे देवों में नहीं। देव उत्पन्न होते ही बहुत शीघ्र तरुण अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं और

उनकी यह अवस्था अन्त तक बनी रहती है। उन्हें कभी बुढ़ापा नहीं आता। 'देवगति से हमें च्युत होना पड़ेगा' ऐसा उन्हें विचार नहीं आता, क्योंकि वे स्वर्गीय सुखों में डूबे रहते हैं तथा एक ही अवस्था में रहते हैं। देवों को वैक्रियक शरीर प्राप्त होता है। इस शरीर में यह विशेषता होती है कि उससे मनचाहा रूप बनाया जा सकता है। छोटा-बड़ा, एक अनेक इत्यादि यथेष्ट रूप धारण करने की क्षमता होने के कारण देवों को आनन्द रहता है और सुखों के आधिक्य के कारण वे भविष्य की चिन्ता से मुक्त रहते हैं।

देवों की यह अवस्था मनुष्यों के समान सौ-पचास वर्ष तक ही कायम नहीं रहती, वरन् सैकड़ों पूर्व वर्ष पर्यन्त रहती है। पूर्व एक बड़ी संख्या है, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। देवलोकों की स्थिति का वर्णन भी किया जा चुका है। इस प्रकार आचरण किये हुए शील के प्रभाव से उत्तम देवगति की प्राप्ति होती है।

देव ऊर्ध्वलोक में रहते हैं। यह पहले बताया गया है कि मेरु पर्वत के समतल भाग से नौ सौ योजन ऊपर तक मध्यलोक गिना जाता है और उससे आगे ऊर्ध्वलोक आरम्भ होता है। वहीं देवों के विमान हैं। शनैश्चर ग्रह के विमान की ध्वजा-पताकों से डेढ़ राजु ऊपर प्रथम सौधर्म नामक स्वर्ग है और उसी की बराबरी पर दूसरा स्वर्ग है। शेष स्वर्ग इनके ऊपर-ऊपर हैं। सर्वासिद्ध नामक विमान सब से ऊपर है और सिद्धशिला वहां से सिर्फ बारह योजन की ऊंचाई पर रह जाती है।

देवगति के सुख आदि का वर्णन जिज्ञासुओं को अन्यत्र देखना चाहिए।

मूलः—जहा कुसग्गे उदगं, समुद्देण समं मिणे।
एवं माणुस्सगा कामा, देवकामाण अंतिए ॥ ३० ॥

छायाः—यथा कुशाग्रे उदकं, समुद्रेण समं मिनुयात्।
एवं मानुष्यका कामाः, देवकामानामन्तिके ॥ ३० ॥

शब्दार्थः—जैसे कुश की नौंक पर ठहरी हुई बूंद का समुद्र के साथ मिलान किया जाय वैसे ही मनुष्य सम्बन्धी काम-भोग देवों के कामभोगों के समाने हैं।

भाष्यः—शास्त्रकार ने यहां देवगति के काम-सुखों को थोड़े ही शब्दों में प्रभावशाली ढंग से चित्रित कर दिया है।

देवगति के सुख समुद्र के समान हैं तो उनकी तुलना में मनुष्यगति के सुख कुश नामक घास की नौंक पर लटकने वाली एक बूंद के समान हैं। कहां एक बूंद और कहां समुद्र की असीम जलराशि! दोनों में महान् अन्तर है। इसी प्रकार मनुष्यों और देवों के सुखों में भी महान् अन्तर है। मनुष्य की बड़ी से बड़ी ऋद्धि भी दैविक ऋद्धि के सामने नगण्य है। संसार के सर्वश्रेष्ठ सुख देवगति में ही प्राप्त होते हैं।

इतना होने पर भी मनुष्यभव में एक विशेषता है। देवभव भोगप्रधान भव है,

कर्म प्रधान नहीं। यही कारण है कि देवता धर्म की विशिष्ट आराधना कर
भव से मुक्ति नहीं पाते। यहां तक कि सर्वार्थसिद्ध विमान के देवों को भी म
धारण करना पड़ता है और मनुष्यभव से ही उन्हें मुक्ति प्राप्त होती है।
आत्मिक विकास की दृष्टि से मनुष्यभव सर्वोत्कृष्ट है और सुख-भोग की दृष्टि से
भव सर्वोत्कृष्ट है।

विवेकशील पुरुषों को विविध प्रकार के शील का पालन करना चाहिए,
से उन्हें स्वर्ग एवं अपवर्ग की प्राप्ति हो।

मूलः-तत्थ ठिच्चा जहाठाणं, जक्खा आउक्खए चुया।
उवेंति माणुसं जोणिं, से दसंगेऽभिजायई ॥ ३१

छायाः - तत्र स्थित्वा यथास्थानं, यक्षा आयुःक्षये च्युताः।
उपयान्ति मानुषीं योनिं, स दशाङ्गेऽभिजायते ॥ ३१ ॥

शब्दार्थः- देवलोक में यथास्थान, रहकर आयुष का क्षय होने पर वहां से च्युत हो जाते हैं और मनुष्य योनि प्राप्त करते हैं। वहां वे दस अंगों वाले-समृद्धि से सम्पन्न मनुष्य होते हैं।

भाष्यः—देवभव उत्कृष्ट से उत्कृष्ट वैषयिक सुखों का धाम है, फिर भी वह अक्षय नहीं है। अन्यान्य भवों के समान उसका भी क्षय हो जाता है। बंधी हुई आयु भोग चुकने के पश्चात् देव उस भव का त्याग करते हैं। फिर भी पूर्वाचरित शील से उत्पन्न हुए पुण्य के अवशेष रहने के कारण वे मनुष्य योनि प्राप्त करते हैं। मनुष्य योनि में उन्हें दस प्रकार की ऋद्धि प्राप्त होती है।

दस प्रकार की ऋद्धि का कथन स्वयं शास्त्रकार अगली गाथा में करेंगे। यहां यह समझ लेना आवश्यक है कि प्रत्येक देव च्युत होकर मनुष्य ही हो, ऐसा नियम नहीं है। कोई देव मनुष्य और कोई तिर्यञ्च भी हो सकता है। मिथ्यादृष्टि देव मर कर तिर्यञ्च होता है और सम्यग्दृष्टि देव मनुष्य भव पाते हैं। यहां विशिष्ट शीलवान सम्यग्दृष्टि देव का प्रसंग होने के कारण मनुष्य योनि की प्राप्ति का कथन किया गया है।

मूलः-खित्तं वत्थुं हिरण्णं च, पसवो दासपोरुसं।
चत्तारि कामखंधाणि, तत्थ से उववज्जई ॥ ३२ ॥

छायाः—क्षेत्रं वास्तु हिरण्यञ्च, पशवो दासपौरुषम्।
चत्वारः कामस्कन्धाः, तत्र स उत्पद्यते ॥ ३२ ॥

शब्दार्थः—क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, पशु, दास, पौरुष और चार कामस्कन्ध, जहां होते हैं, वहां वह देव जन्म लेता है।

भाष्य: - इससे पहली गाथा में जिन दस अंगों का उल्लेख किया था, उनका यहां नामनिर्देश किया गया है। जहां वैभव के यह दस अंग उपलब्ध होते हैं, वहां वह देव, मनुष्य रूप में अवतीर्ण होता है।

दस वैभव के अंग यह हैं:-(१) क्षेत्र-जमीन आदि (२) वास्तु-महल, मकान आदि (३) हिरण्य-चांदी-सोना आदि (४) पशु-गाय, भैंस, घोड़ा, हाथी आदि (५) दास दासी-नौकर-चाकर, वगैरह (६) पौरुष-कुटुम्ब-परिवार एवं पुरुषार्थ आदि (७-१०) चार कामस्कन्ध-इन्द्रियों के विषय, इस प्रकार दस तरह के वैभव वाला मनुष्य होता है।

ठाणांगसूत्र में अन्य प्रकार से भी दस तरह के सुखों का कथन किया गया है। वे इस प्रकार हैं:—

(१) आरोग्य-शरीर का स्वस्थ रहना, किसी प्रकार का दोष न होना। आरोग्य-सुख सभी सुखों का मूल है, क्योंकि शरीर में रोग होने पर ही अन्य सुखों का उपभोग किया जा सकता है।

(२) दीर्घ आयु--शुभ दीर्घ आयु भी सुख रूप है। उत्तम से उत्तम भोगोपभोग प्राप्त होने पर भी यदि आयु अल्पकालीन हुई तो सब सुख वृथा हो जाते हैं।

(३) आढ्यता--विपुल धन-सम्पत्ति का होना।

(४) काम--पांच इन्द्रियों में से चक्षु और श्रोत्र इन्द्रिय के विषयों को काम कहा गया है। इष्ट रूप और इष्ट शब्द की प्राप्ति होना काम-सुख की प्राप्ति कहलाती है।

(५) भोग--स्पर्शन, रसना और घ्राण-इन्द्रियों के इस विषय की प्राप्ति होना भोग-सुख है। इन विषयों के भोग से संसारी जीव सुख मानते हैं। सुख-साधन होने के कारण उन्हें भी सुख रूप कहा गया है।

(६) सन्तोष--इच्छा का सीमित होना या अल्प इच्छा होना संतोष कहलाता है। संतोष, सुख का प्रधान करण है। विपुल वैभव और भोगोपभोग की प्रचुर सामग्री की विद्यमानता होने पर भी जहां असंतोष नहीं होगा वहां सुख नहीं हो सकता। अत: संतोष सुख का साधन है, और उसकी सुखों में गणना करना उचित ही है।

(७) अस्ति सुख--जिस समय जिस पदार्थ की आवश्यकता हो उसी समय उसकी प्राप्ति हो जाना भी सुख है। इसे अस्ति सुख कहा गया है।

(८) शुभ भोग--प्रशस्त भोग को शुभ भोग कहते हैं। ऐसे भोगों की प्राप्ति और उन भोगों में भोग क्रिया का होना भी सुख रूप है। यह भी सातावेदनीय जन्य पौद्गलिक सुख है।

(६) निष्क्रमण--निष्क्रकण का अर्थ है दीक्षा ग्रहण करना। अविरति रूप दु:ख से छूट कर दीक्षा अंगीकार करना वास्तविक सुख का अद्वितीय साधन है। अतएव निष्क्रमण को सुखों में परिगणित किया गया है।

(१०) अनाबाध सुख--अबाध अर्थात् जन्म, जरा, मरण आदि से रहित सुख अनाबाध सुख कहलाता है। इस प्रकार का सुख समस्त कर्मों से मुक्त होने पर प्राप्त होता है। कहा भी है--

न वि अत्थि माणुसाणं, तं सोक्खं न वि य सव्वदेवाणं।
जं सिद्धाणं सोक्खं, अव्वाबाहमुवगयाणं॥

अर्थात् सब प्रकार से अव्याबाध को प्राप्त हुए सिद्ध भगवान् को जिस सुख की प्राप्ति होती है, वह सुख न तो मनुष्यों को प्राप्त होता है और न किसी भी देव को ही उसकी प्राप्ति होती है। वह मोक्ष-सुख अनुपम है, अनिर्वचनीय है, अतुल है और अटल है।

अनाबाध सुख, साक्षात देव भव से प्राप्त नहीं होता, किन्तु देवों को परम्परा से प्राप्त हो सकता है। अतएव देवों के प्रकरण में भी उसका उल्लेख किया जाना असंगत नहीं है।

मूल:-मित्तवं नाइवं होइ,
उच्चागोये य वण्णवं।
अप्पायंके महापण्णे,
अभिजाए जसोबले॥ ३३॥

छाया:—मित्रवान् ज्ञातिमान् भवति, उच्चैर्गोत्रश्च वर्णवान्।
अल्पातंको महाप्राज्ञः—अभिजातो यशस्वी बली॥ ३३॥

शब्दार्थ:--स्वर्ग से आने वाला जीव मित्र वाला, कुटुम्बवाला, उच्चगोत्रवाला, कान्तिमान्, अल्प व्याधिवाला, महाप्राज्ञ, विनयशील, यशस्वी और बलशाली होता है।

भाष्य: - शील को पालन करके स्वर्ग में गया हुआ जीव जब वहां से फिर मृत्युलोक में आता है, तब उसे निम्नलिखित विशेषताएं प्राप्त होती हैं--(१) उसके अनेक हितैषी मित्र होते हैं। (२) स्नेही कुटुम्बीजन मिलते हैं (३) वह लोक में प्रतिष्ठित समझे जाने वाले प्रसिद्ध कुल में जन्म ग्रहण करता है (४) वह दीप्तिमान होता है (५) उसके शरीर में कदाचित् ही कोई अल्प व्याधि होती है (६) वह तीव्र बुद्धि से विभूषित होता है (७) विनीत होता है (८) लोक में उसकी कीर्त्ति का प्रसार होता है और (९) वह विशिष्ट बल से सम्पन्न होता है।

तात्पर्य यह है कि एक जन्म में पालन किये हुए शील का फल अनेक जन्मों तक प्राप्त होता है। अतएव प्रत्येक आत्महितैषी को वीतरागोक्त शील का आचरण करना चाहिए।

निर्ग्रन्थ-प्रवचन-सत्तरहवां अध्याय समाप्त

❀ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ❀

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

॥ अठारहवां अध्याय ॥

—:-☆-:—

मोक्षस्वरूप

श्री भगवान्-उवाच—

मूलः—आणाणिद्देसकरे, गुरूणमुववायकारए ।
इंगियागारसंपन्ने, से विणीय त्ति वुच्चई ॥ २ ॥

छायाः—आज्ञानिर्देशकरः, गुरूणामुपपातकारकः ।
इगिताकारसम्पन्नः, स विनीत इत्युच्यते ॥ १ ॥

शब्दार्थः—जो आज्ञा का पालन करने वाला, गुरुओं के समीप रहने वाला, गुरुजनों के इंगित एवं आकार को समझने में समर्थ होता है वह विनीत कहलाता है ।

भाष्य—पिछले अध्ययन के अन्त में स्वर्ग का वर्णन किया गया है और यह भी निरूपण कर दिया गया है कि शील को पालन करने वाला पुरुष स्वर्ग से च्युत होकर उत्तम मनुष्य होता है। मनुष्य गति का लाभ करके फिर वह कहां जाता है, यह बताने के लिए मोक्ष-स्वरूप नामक अठारहवां अध्ययन कहा गया है। इससे यह स्वतः फलित हो जाता है कि शीलवान महापुरुष मुक्तिलाभ करता है।

अनादि काल से आत्मा, पर-द्रव्यों के संयोग के कारण विविध योनियों में निरन्तर भ्रमण कर रहा है। असंख्य वार आत्मा ने नरक गति प्राप्त की है, असंख्य बार देवगतिलाभ किया है, असंख्यात वार मनुष्यभव पाया है। जन्म-मरण का यह चक्र मुक्ति प्राप्त होने पर ही मिटता है। मुक्ति आत्मा की अन्तिम अवस्था है । अनेक योनियों में भ्रमण करके अन्त में मुक्ति प्राप्त होती है। अतएव यहां अन्त में मुक्ति का स्वरूप बतलाया गया है।

जैनधर्म विनयमूल धर्म है । 'धम्मस्स विणओ मूलं' अर्थात् धर्म का मूल विनय है, ऐसा शास्त्र में कहा गया है । जैसे मूल के विना वृक्ष नहीं टिकता, उसी प्रकार विनय के विना धर्म की स्थिति नहीं होती । अतएव धर्म की साधना के लिए सर्वप्रथम विनय की अपेक्षा रहती है । धर्म साधना का चरम और परम फल मोक्ष है । इससे यह भली-भांति स्पष्ट है कि मुक्ति की प्राप्ति में विनय अनिवार्य है और उसका स्थान प्रथम है। यही कारण है कि मुक्ति का स्वरूप प्रतिपादन करने से पहले यहां विनय के सम्बन्ध में वर्णन किया गया है।

विनय का सामान्य विवेचन पहले किया जा चुका है। अतएव यहां विनीत का स्वरूप बतलाया जाता है।

जो अपने गुरुजनों की आज्ञा का पालन करता है, उनके समीप रहने में अपना अहोभाग्य समझता है, जो उनकी विधि या निषेध को सूचित करने वाली भ्रकुटि आदि चेष्टाओं को तथा मुख आदि की आकृति को भलीभांति समझता है और उन्हीं के अनुसार प्रवृत्ति करता है, वह विनीत पुरुष कहलाता है।

शिष्य का धर्म है—गुरु का अनुसरण करना। कदाचित् ऐसा अवसर आ सकता है जब गुरु के आदेश का रहस्य शिष्य की समझ में न आवे। उस समय वह उनके आदेश के विरुद्ध अपनी बुद्धि का प्रयोग करे तो वह विनयशील नहीं कह-लाता। गुरु के आदेश में तर्क-वितर्क को अवकाश नहीं होता। गुरु बनाने से पहले उनके गुरुत्व की समीचीन रूप से परीक्षा कर लेना उचित है, पर परीक्षा की कसौटी पर कस लेने के पश्चात्, गुरु रूप में स्वीकार कर लेने पर आलस्य के वशीभूत होकर, उद्दण्डता से प्रेरित होकर या अश्रद्धा की भावना से उनकी आज्ञा का उल्लंघन करना उचित नहीं है। सच्चा सैनिक अपने सेनापति की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता। आज्ञा उल्लंघन करने वाला कठोर दण्ड का पात्र होता है। इसी प्रकार विनीत शिष्य अपने गुरु की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता। आज्ञा-उल्लंघन करने वाले शिष्य को संयम रूप जीवन से हाथ धोना पड़ता है। आज्ञापालन, प्रगाढ़ श्रद्धा का सूचक है। जिस शिष्य के हृदय में अपने गुरु के प्रति गाढ़ श्रद्धा होगी उसे उनकी आज्ञा की हितकरता में संशय नहीं हो सकता। श्रद्धालु शिष्य यही विचार करेगा कि—'भले ही गुरुजी की आज्ञा का रहस्य मेरी समझ में नहीं आता, फिर भी उनकी आज्ञा अहित-कर नहीं हो सकती। इसमें अवश्य ही मेरा हित समाया हुआ है।' इस प्रकार विचार कर वह तत्काल आज्ञापालन में प्रवृत्त हो जायगा। जिसके अन्तःकरण में अपने गुरु के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धाभाव विद्यमान नहीं है, वह अध्यात्म के दुर्गम पथ का पथिक नहीं बन सकता। आध्यात्मिक साधना में अनेक अज्ञेय रहस्य सन्निहित रहते हैं, जिन्हें उपलब्ध करने के लिए सर्वप्रथम गुरु के आदेश पर ही अवलम्बित रहना पड़ता है। उन रहस्यों को सुलझाने के लिए जिस दिव्य दृष्टि की आवश्यकता है वह यकायक प्राप्त नहीं होती। वह दृष्टि नेत्र बन्द करके गुरु के आदेश का पालन करने पर ही प्राप्त होती है। अतएव साधनाशील शिष्य को गुरु के आदेश का पालन अव-श्यमेव करना चाहिए।

विनीत शिष्य का दूसरा लक्षण है—गुरु के समीप रहना। शिष्य का दूसरा पर्यायवाची शब्द 'अन्तेवासी' है। गौतम स्वामी भगवान् महावीर के 'अन्तेवासी' थे और जम्बू स्वामी आर्य सुधर्मा स्वामी के 'अन्तेवासी' थे। यह पर्याय शब्द ही इस बात को सूचित करता है कि गुरु के समीप वास करना शिष्य का कर्त्तव्य है। अन्ते-वासी या निकट निवासी दो प्रकार के होते हैं:—द्रव्य से और भाव से। शरीर से गुरु महाराज की सेवा में उपस्थित रहने वाला द्रव्य अन्तेवासी है। जो शिष्य अपने

सदाचार से, नम्रता से एवं अनुकूल व्यवहार से गुरु के हृदय में घर कर लेता है अर्थात् गुरु का हार्दिक प्रेम सम्पादन कर लेता है वह भाव-अन्तेवासी कहलाता है। द्रव्यतः अन्तेवासी और भावतः अन्तेवासी की चौभंगी बनती है। वह इस प्रकार है:—

(१) द्रव्य से अन्तेवासी हो और भावसे भी अन्तेवासी हो।
(२) द्रव्य से अन्तेवासी हो, भाव से अन्तेवासी न हो।
(३) भाव से अन्तेवासी हो द्रव्य से न हो।
(४) भाव से भी अन्तेवासी न हो और द्रव्य से भी न हो।

इन चार भंगों में प्रथम भंग पूर्ण शुद्ध है और चौथा पूर्ण अशुद्ध है। दूसरा भंग देशतः अशुद्ध है और तीसरा दूसरे की अपेक्षा अधिक देश-शुद्ध है।

गुरु के समीप सदा उपस्थित रहने वाला शिष्य श्रुत और चारित्र का अधिक अधिकारी बन जाता है। उस पर गुरु का कृपाभाव रहता है। अतएव विनीत शिष्य को अन्तेवासी (समीप रहने वाला) बनना चाहिए।

विनीत शिष्य का तीसरा लक्षण है—इंगिताकारसम्पन्नता। भौंहों आदि की चेष्टा इंगित कहलाती है और मुख की आकृति को यहां आकार कहा गया है। गुरु अपने इंगित एवं आकार से शिष्य को प्रवर्त्तनीय विषय का बोध करा देते हैं। शिष्य का धर्म है कि वह उन चेष्टाओं का बारीकी से अध्ययन करे और वचन द्वारा विधि निषेध करने का अवसर आने से पहले ही प्रवृत्त या निवृत्त हो जाय। इस प्रकार व्यवहार करने वाला शिष्य, गुरु की प्रीति का पात्र बनता है।

विनीत शिष्य के लक्षणों से सम्पन्न पुरुष के अन्तःकरण का अपने गुरु के अन्तःकरण के साथ एक प्रकार का सूक्ष्म संबंध स्थापित हो जाता है। इस एकता की स्थापना से गुरु के हृदय की अनेकानेक विशेषताएं शिष्य के अन्तःकरण में आविर्भूत हो जाती हैं। इससे शिष्य का दुर्गम साधनापथ सुगम बनता है। लोक में भी उसकी प्रतिष्ठा होती है। इस प्रकार उक्त तीन लक्षणों से सम्पन्न शिष्य कहलाता है।

मूलः—अणुसासिओ न कुप्पिज्जा,
खंतिं सेवेज्ज पंडिए।
खुड्डेहिं सह संसग्गिं,
हासं कीडं च वज्जए ॥ २ ॥

छायाः— अनुशासितो न कुप्येत, क्षान्ति सेवेत पण्डितः।
क्षुद्रैः सह संसर्गं, हास्यं क्रीडां च वर्जयेत् ॥ २ ॥

शब्दार्थः—बुद्धिमान् शिष्य शिक्षा देने पर कोप न करे, किन्तु क्षमा का सेवन करे। क्षुद्र-अज्ञानी जनों के साथ संसर्ग न करे और हास्य तथा क्रीड़ा का त्याग करे।

भाष्यः—विनीत शिष्य के लक्षणों का कथन करने के पश्चात् उसके कर्त्तव्यों का निरूपण करने के लिये यह गाथा कही गई है।

पंडा अर्थात् हित-अहित का विवेचन करने वाली बुद्धि जिसे प्राप्त हो वह पण्डित कहलाता है। पंडित अर्थात् विवेकी शिष्य, गुरु द्वारा अनुशासन करने पर-शिक्षा देने पर क्रोध न करे वरन क्षमा का सेवन करे। उसे मिथ्यादृष्टियों का संसर्ग भी नहीं करना चाहिए और हंसी मजाक एवं खेल-तमाशे का भी त्याग करना चाहिए।

गुरु यद्यपि शान्ति के सागर और क्षमा के भंडार होते हैं, वे अपने शिष्य की दुर्वलताओं को भली-भांति समझते हैं, तथापि कभी प्रशस्त क्रोध के वश होकर, शिष्य पर अनुग्रह-बुद्धि होने के कारण कुपित हो जावें अथवा कुपित हुए विना ही शिष्य को संयम-मार्ग पर आरूढ़ करने के लिये शिक्षा देवें-अनुशासन करें तो उस समय शिष्य को क्रोध नहीं करना चाहिए। उसे क्षमा भाव धारण करके विचारना चाहिए कि—'गुरु महाराज का मुझ पर अत्यन्त अनुग्रह है जो वे मुझे संयम से विचलित होने पर पुनः संयमारूढ़ करने का प्रयत्न करते हैं। मेरे व्यवहार से उनके ज्ञान-ध्यान में बाधा उपस्थित हुई, परन्तु वे मेरे ऐसे अलौकिक उपकारी हैं कि मेरा अनुशासन करते हैं। धन्य है गुरुदेव की परहितकरता! धन्य है उनका अनुग्रह! उन्होंने मुझे उचित ही शिक्षा दी है। यह शिक्षा मेरे लिए उपकारक होगी। मैं उनका अनुगृहीत हूँ। आगे इस प्रकार का अपराध करके उनका चित्त क्षुब्ध नहीं करूंगा!' इस प्रकार सोचकर शिष्य को क्षमा का सेवन करना चाहिए।

जो पुरुष क्षुद्र हैं—अज्ञानी एवं मिथ्यादृष्टि हैं उनकी संगति का त्याग करना चाहिए। 'संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति' अर्थात् संसर्ग से अनेक दोष और गुण आ जाते हैं। सत्पुरुषों की संगति से गुणों की एवं क्षुद्र पुरुषों के संसर्ग से दोषों की उत्पत्ति होती है।

असत्संगति के समान हास्य और क्रीड़ा का भी त्याग करना आवश्यक है। हास्य नोकषाय चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले भाव को हंसी कहते हैं और मनोरंजन के लिए की जाने वाली क्रिया-विशेष क्रीड़ा है। सुयोग्य शिष्य को इनका आचरण नहीं करना चाहिए। हास्य आदि के प्रयोग से मिथ्या भाषण आदि अनेक दोषों का प्रसंग आता है, अनर्थदण्ड होने की संभावना रहती है और शासन के गौरव को क्षति पहुँचती है।

मूलः—आसणगओ न पुच्छिज्जा,
णेव सेज्जागओ कयाइ वि।
आगम्मुक्कुडुओ संतो,
पुच्छिज्जा पंजलीउडो ॥ ३ ॥

छाया:—आसनगतो न पृच्छेत्, नैव शय्यागतः कदापि च।
आगम्य उत्कुटुकः सन्, पृच्छेत् प्राञ्जलिपुटः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ:--आसन पर बैठे-बैठे गुरुजनों से कभी प्रश्न नहीं करना चाहिए और शय्या पर बैठे-बैठे भी नहीं पूछना चाहिए। गुरुजन के समीप आकर उकडूं आसन से अवस्थित होकर, हाथ जोड़कर पूछना चाहिए।

भाष्य:—विनीत शिष्य के कर्त्तव्यों के निरूपण का प्रसंग चल रहा है, अतएव वही पुनः प्रतिपादन किया गया है। अपने आसन पर बैठे-बैठे या शय्या पर बैठ कर गुरु महाराज से कोई प्रश्न पूछना-शंका निवारण करना, उचित नहीं है ऐसा करना शिष्टाचार से विपरीत है। अतएव गुरु महाराज से जब किसी प्रश्न का समाधान प्राप्त करना हो तो अपने आसन या शय्या से उठकर गुरूजी के पास आवे और नम्रभाव से उकडू आसन से बैठकर, दोनों हाथ जोड़ कर प्रश्न पूछे।

जैसे पानी स्वभावतः उच्च स्थान से नीचे स्थान की ओर जाता है, नीचे से ऊपर की ओर नहीं जाता, इसी प्रकार ज्ञान भी उसी को प्राप्त होता है जो अपने गुरु को उच्च मानकर अपने को उनसे नीचा समझता है। जो अविनीत शिष्य अभिमान के वश होकर अपने आपको उच्च मानता है और गुरु को नीचा समझता है वह ज्ञान-लाभ नहीं कर सकता। अतः श्रुत आदि के लाभ की अभिलाषा रखने वाले शिष्य को नम्रता एवं विनीतता धारण करनी चाहिए।

मूलः-जं मे बुद्धाणुसासंति, सीएण फरुसेण वा।
मम लाभो त्ति, पेहाए, पयओ तं पडिस्सुणे ॥ ४ ॥

छाया:—यन्मां बुद्धा अनुशासंति, शीतेन परुषेण वा।
मम लाम इति प्रेक्ष्य, प्रयतस्ततं प्रतिश्रणुयात् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ:—मुझे ज्ञानी जन शान्त तथा कठोर शब्दों से जो शिक्षा देते हैं, इसमें मेरा ही लाभ है, ऐसा विचार कर जीव मात्र की रक्षा करने में यत्नावान् शिष्य उनकी बात अंगीकार करे।

भाष्य:—गुरु जब शिष्य को शिक्षा देते हैं या उसका अनुशासन करते हैं, तब शिष्य को क्या करना चाहिए, यह बात प्रकृत गाथा में स्पष्ट की गई है।

कोमल अथवा कठोर शब्दों से अनुशासन करने पर शिष्य को इस भांति विचार करना चाहिए:—'गुरु महाराज मुझे जो शिक्षा देते हैं उसमें उनका रंच मात्र भी लाभ या स्वार्थ नहीं है। वे केवल मेरे ही लाभ के लिए मुझे कठोर शब्दों द्वारा या कोमल शब्दों द्वारा शिक्षा देते हैं। मैंने जो अनुचित आचरण किया है उसके लिए अगर वे चेतावनी न देते तो उनकी क्या हानि हो जाती? हानि तो मेरी ही होती। अतएव उनके अनुशासन का उद्देश्य मेरा हितसाधन ही है। मैं गुरु देव का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने भविष्य के लिए मुझे अनुचित आचरण न करने के लिए प्रेरित

किया है।' इत्यादि विचार करके विनीत शिष्य को गुरु महाराज का कथन अंगीकार करना चाहिए। अंगीकार करने से यहां यह अभिप्राय है कि अपना दोष स्वीकार करने के साथ भविष्य में ऐसा न करने के लिए गुरु के समक्ष अपना संकल्प प्रकट करना चाहिए।

मूलः-हियं विगयभया बुद्धा फरुसं पि अणुसासणं।
वेसं तं होइ मूढाणं, खंतिसोहिकरं पयं ॥ ५ ॥

छायाः—हितं विगतभया बुद्धाः, परुषमप्यनुशासनम्।
द्वेषं भवति मूढानां क्षान्तिशुद्धिकरं पदम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थः—भय से अतीत और तत्त्वज्ञानी पुरुष गुरु के कठोर अनुशासन को भी अपने लिए हितकर मानते हैं और मूढ़ पुरुषों के लिए क्षमा एवं आत्मशुद्धि करने वाला ज्ञानरूप एक पद भी द्वेष का कारण बन जाता है।

भाष्यः-प्रस्तुत गाथा में विवेकवान् और मूढ़ शिष्य का अन्तर प्रतिपादन किया गया है। दोनों की मानसिक रुचि का यहां चित्रण किया गया है।

निर्भय और ज्ञानवान् शिष्य कठोर से कठोर गुरु के अनुशासन को भी अपने लिए हित रूप मानते हैं और मूढ़ शिष्य क्षमायुक्त एवं आत्मशुद्धिजनक एक पद को भी द्वेष का कारण बना लेता है। अर्थात् गुरु द्वारा कोमल वचनों से समझाये जाने पर भी मूर्ख शिष्य उनसे द्वेष करने लगता है।

विवेकी शिष्य को यहां 'विगयभया' अर्थात् भय से मुक्त विशेषण दिया गया है, वह विशेष ध्यान देने योग्य है। अनादिकालिक अभ्यास के कारण इन्द्रियां विषयों की ओर से रोकने पर भी कभी-कभी उनमें प्रवृत्त हो जाती हैं। चपल मन कभी-कभी असन्मार्ग में घसीट ले जाता है और किसी समय अज्ञान के कारण भी अकर्त्तव्य कर्म कर लिया जाता है। ऐसा होने के पश्चात् कर्त्ता को अपनी भूल मालूम हो भी जाती है, पर संसार में अनेक ऐसे पुरुष हैं जो उस भूल को छिपाने का प्रयत्न करते हैं। एक भूल को छिपाने के लिए उन्हें मिथ्याभाषण, मायाचार आदि अनेक भूलें करनी पड़ती हैं। ऐसा करने का मुख्य कारण है—कीर्ति या प्रतिष्ठा के भंग हो जाने का भय। लोक में मेरी भूल की प्रसिद्धि हो जायगी तो मेरी प्रतिष्ठा चली जायगी। मेरी अपकीर्ति होगी, इस प्रकार के मनःकल्पित भय से अनेक पुरुष भूल का संशोधन करने के बदले भूल पर भूल करते जाते हैं। किन्तु ऐसा करने से फल विपरीत ही होता है। इस प्रकार का भय आत्मशुद्धि के मार्ग में बाधक होता है। इस भय का त्याग करके अपनी भूल को नम्रता के साथ स्वीकार करना चाहिए। वास्तव में इससे प्रतिष्ठा घटती नहीं, बढ़ती है। आत्मिक शुद्धि के लिए भी ऐसा करना अत्यन्त आवश्यक है। यह बताने के लिए शास्त्रकार ने 'विगयभया' विशेषण का प्रयोग किया है।

निर्भय होकर अपने अपराध को स्वीकार कर लेना और भविष्य में उससे

बचते रहने के लिए सदा उद्यत रहना संत पुरुष का लक्षण है। मूढ़ पुरुष अपने अपराध को छिपाने का प्रयत्न करता है और हितैषी गुरुजनों के समझाने पर उनसे द्वेष करने लगता है।

मुलः-अभिक्खणं कोही हवइ, पबंधं च पकुव्वई।
मेत्तिज्जमाणो वमइ, सुयं लद्धूण मज्जइ ॥६॥
अवि पावपरिक्खेवी, अवि मित्तेसु कुप्पइ।
सुपियस्सावि मित्तस्स, रहे भासइ पावगं ॥७॥
पइण्णवाई दुहिले, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे।
असंविभागी अवियत्ते, अविणीए त्ति वुच्चई ॥८

छाया:--अभीक्ष्णं क्रोधी भवति, प्रबन्धञ्च प्रकरोति।
मैत्रीयमाणो वमति, श्रुतं लब्ध्वा माद्यति ॥ ६ ॥
अपि पापपरिक्षेपी, अपि मित्रेभ्यः कुप्यति।
सुप्रियस्यापि मित्रस्य, रहसि भाषते पापकम् ॥७॥
प्रकीर्णवादी द्रोहशील:, स्तब्धो लुब्धोऽनिग्रहः।
असंविभाग्यप्रीतिकर:, अविनयीत्युच्यते ॥ ८ ॥

शब्दार्थ:-जो पुरुष बारम्बार क्रोध करता है, कलह करने वाली बात कहता है, मैत्री का वमन करता है, शास्त्रज्ञान पाकर मद करता है, गुरुजनों की साधारण भूल की निन्दा करता है, हितैषी-मित्रों पर कुपित होता है, परोक्ष में अत्यन्त प्रिय मित्र के दोषों को उघाड़ता है, असंबद्ध भाषण करता है, द्रोह करने वाला होता है, अभिमानी होता है, जिह्वा आदि इन्द्रियों के विषयों में लुब्ध होता है, अपनी इन्द्रियों का निग्रह नहीं करता, जो संविभाग करके-बंटवारा करके वस्तुओं का उपयोग नहीं करता, कोई बात पूछने पर भी अस्पष्ट भाषण करता है, वह अविनीत कहलाता है।

भाष्य—अविनीत किसे कहना चाहिए ? अथवा अविनय का त्याग करने के लिए किन-किन दुर्गुणों का त्याग करना आवश्यक है, यह विषय प्रकृत गाथाओं में स्पष्ट किया गया है। निम्नलिखित दुर्गुण अविनीत के लक्षण हैं:—

(१) सदा क्रोधी होना—बात-बात पर नाक भौं सिकोड़ना, छोटी, एवं तुच्छ बातों पर भी क्रोध करते रहना।

(२) कलह उत्पन्न करने वाला भाषण करना। संघ में, गण में, कुल में, तथा देश में, जाति में या अन्य किसी भी समूह में अनेकता उत्पन्न करने वाली, परस्पर संघर्ष उत्पन्न कर देने वाली, लड़ाई-झगड़ा जगा देने वाली बातें कहना या ऐसा प्रयत्न करना।

(३) मैत्रीभाव का वमन करना-जिनके साथ मैत्री का सम्बन्ध स्थापित किया है, उनकी मैत्री को स्वार्थ में बाधक समझकर त्याग देना तथा दूसरे मैत्री करना चाहें तब भी प्रतिकूल व्यवहार करके मैत्री को भंग करने की चेष्टा करना।

(४) श्रुत का अभिमान करना-किञ्चित् शास्त्र का बोध प्राप्त कर लेने पर यह समझना कि संसार में मेरे सदृश कौन ज्ञानवान् शास्त्रवेत्ता है ? शास्त्रीय ज्ञान में कौन मेरा सामना कर सकता है ?

(५) पापपरिक्षेपी होना—गुरुजनों से कभी साधारण भूल हो जाय तो उसका ढिंढोरा पीटना या अपना पाप दूसरे पर डालना।

(६) मित्रों पर कोप करना—हितैषी जन हित से प्रेरित होकर सु-शिक्षा दें तो उलटे उन पर क्रोध करना।

(७) परोक्ष में निन्दा करना--अपने प्रिय से प्रिय जन की भी परोक्ष में निन्दा करना।

(८) भाषा समिति का विचार न करके असंबद्ध-अंट-संट भाषण करना, निरर्थक बहुत बोलना, अप्रिय भाषा का प्रयोग करना।

(९) द्रोही होना—गुरुद्रोह करना, संघद्रोह करना, अपने साथियों के साथ द्रोह करना।

(१०) अभिमान करना--श्रुत का, चारित्र का, तपस्या का, प्रतिष्ठा का, या अन्य किसी विशेषता का मद करना।

(११) लुब्ध होना--इन्द्रियों के रस आदि विषयों में लोलुपता धारण करना, इष्ट विषयों की प्राप्ति की अभिलाषा करना, उसके लिए प्रयत्न करना।

(१२) इन्द्रियों का निग्रह न करना-नेत्ररंजक रूप और श्रुति-मधुर शब्द आदि में प्रवृत्त होने वाली इन्द्रियों को नियंत्रित न करना-इन्द्रियों का अनुसरण करना।

असंविभागी होना—प्राप्त हुए आहार आदि का अपने साथियों में यथायोग्य बँटवारा न करके सारा का सारा आप ही खा लेना अथवा अच्छा-अच्छा आप खा लेना और निःस्वादु भोजन आदि अप्रिय पदार्थ अन्य को देना।

(१४) अव्यक्त होना—अव्यक्त अर्थात् अस्पष्ट, भाषण करना । कोई किसी बात को पूछे तो गोलमोल बोलना।

यह लक्षण जिसमें पाये जाते हैं वह अविनीत कहलाता है । विनीत बनने के लिए इन दोषों का परित्याग करना चाहिए।

मूलः—अह पण्णरसहिं ठाणेहिं, सुविणीए त्ति वुच्चई।
नीयावित्ती अचवले, अमाई अकुऊहले ॥ ६ ॥

छाया—अथ पञ्चदशभिः स्थानैः, सुविनीत इत्युच्यते ।
नीचैर्वृत्तिरचपलः, अमायी अकुतूहलः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ :—पन्द्रह स्थानों से पुरुष विनीत कहलाता है। वे इस भांति हैं—(१) नम्रता (२) अचपलता (३) निष्कपटता (४) कुतूहलरहितता। (शेष ग्यारह स्थान अगली गाथाओं में वर्णित हैं)।

भाष्य—अथ का अर्थ है—अनन्तर। अर्थात् अविनीत के लक्षण बतलाने के अनन्तर सुविनीत का स्वरूप यहां बताया जाता है।

सुविनीत के पन्द्रह लक्षण हैं। इन पन्द्रह लक्षणों से संपन्न पुरुष सुविनीत कहलाता है। पन्द्रह में से प्रकृत गाथा में चार लक्षण बतलाये हैं। शेष लक्षणों का अगली गाथाओं में निर्देश किया जायगा। चार लक्षण इस प्रकार हैं :—

[१ [नीचैर्वृत्ति—नम्रता को कहते हैं। स्वभाव में नम्रता होना अर्थात् जो अपने से गुणों में बड़े हैं-विशिष्ट ज्ञानी, विशिष्ट संयमी और विशिष्ट सम्यग्दृष्टि हैं, उन्हें यथा-योग्य प्रणाम करना, उनके सामने अवनत रहना आदि।

[२] अचपलता—गुरुजनों के समक्ष चंचलता प्रदर्शित न करना, उनके भाषण करते समय बीच में न बोलना: जब वे कोई उपदेश दे रहे हों इधर-उधर न ताकना, उनके समक्ष व्यर्थ न चलना फिरना-टहलना आदि।

[३] निष्कपटता—पापाचार का सेवन न करना।

[४] कुतूहलरहितता—खेल-तमाशा आदि कौतुकवर्द्धक बातों से रहित होगा।

मूलः—अप्पं च अहिक्खिवई, प्रबंधं च न कुव्वई।
मेत्तिज्जमाणो भयइ, सुयं लद्धुं न मज्जई ॥१०॥
न य पावपरिक्खेवी, न य मित्तेसु कुप्पई ॥
अप्पियस्स वि मित्तस्स, रहे कल्लाण भासई ॥ ११ ॥
कलहडमरवज्जए, बुद्धे अभिजाइए।
हिरिमं पडिसंलीणे, सुविणीए त्ति वुच्चई ॥ १२ ॥

छायाः—अल्पञ्चाधिक्षिपति, प्रबन्धञ्च न करोति।
मैत्रीयमाणो भजते, श्रुतं लब्ध्वा न माद्यति ॥ १० ॥
न च पापपरिक्षेपी, न च मित्रेषु कुप्यति।
अप्रियस्यापि मित्रस्य, रहसि कल्याणं भाषते ॥ ११ ॥
कलहडमरवर्जकः, बुद्धोऽभिजातकः।
ह्रीमान् प्रतीसंलीनः सुविनीत इत्युच्यते ॥ १२ ॥

शब्दार्थ:—गुरुजनों का तिरस्कार न करने वाला, कलहजनक बात न कहने वाला, मित्रता को निभाने वाला, श्रुत का लाभ करके अहंकार न करने वाला, अपनी भूल को दूसरों पर न थोपने वाला, मित्रों पर क्रोध न करने वाला, अप्रिय मित्र के परोक्ष में भी गुणानुवाद करने वाला, वाग्युद्ध एवं कायिक युद्ध से दूर रहने वाला, तत्वज्ञ, कुलीनता आदि गुणों से युक्त, लज्जाशील और इन्द्रियविजेता पुरुष सुविनीत कहलाता है।

भाष्य:—विनीत के चार लक्षण पूर्व गाथा में बतलाये गये थे। प्रकृत गाथाओं में शेष ग्यारह लक्षण बतलाये हैं। वे इस प्रकार हैं:--

(५) अधिक्षेप न करना--'ज्ञान आदि गुणों से श्रेष्ठ गुरुजनों का अपमान-तिरस्कार न करना।

(६) प्रबंध अर्थात् कलह उत्पन्न करने वाली बात न करना।

(७) मैत्री करने पर उसका वमन न करना अर्थात् मैत्री का भलीभांति निर्वाह करना।

(८) शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करके अभिमान न करना।

(९) पाप परिक्षेपी अर्थात् गुरुजनों की साधारण-सी भूल को सर्वत्र फैलाने वाला न हो।

(१०) हितैषी-मित्रों पर, उनके हितोपदेश देने पर या किसी अनुचित कार्य से रोकने पर कुपित न होना।

(११) अप्रिय मित्र अगर सामने न हो तो भी उसका गुणानुवाद करना अर्थात् गुणग्राही होना, किसी की प्रत्यक्ष में या परोक्ष में निन्दा न करना।

(१२) वाचनिक युद्ध कलह कहलाता है और कायिक युद्ध डमर कहलाता है। इन दोनों का त्याग करना।

(१३) कुलीनता के योग्य गुणों से युक्त होना।

(१४) लज्जावान् होना-बड़े-बूढ़े के सामने निर्लज्जता पूर्वक हंसी-दिल्लगी, बात-चीत आदि न करना।

(१५) इन्द्रियों पर अंकुश रखना।

इन पन्द्रह लक्षणों से सम्पन्न पुरुष विनीत कहलाता है। इस लोक और पर-लोक-दोनों में सुख-शान्ति प्राप्त करने का सरल उपाय विनय है। अतएव विनय के उक्त लक्षणों को धारण कर विनीत बनना चाहिए।

मूलः—जहाहिअग्गी जलणं नमंसे,

नाणाहुईमंतपयाहिसित्तं।

एवायरियं उवचिट्ठइज्जा,
अणंतनाणोवगओ वि संतो ॥ १३ ॥

छाया:—यथाऽऽहिताग्निर्ज्वलनं नमस्यति नानाऽऽहुतिमन्त्रपदाभिषिक्तम् ।
एवमाचार्यमुपतिष्ठेत्, अनन्तज्ञानोपगतोऽपि सन् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ:—जैसे अग्निहोत्री ब्राह्मण, नाना प्रकार की घृत-प्रक्षेप रूप आहुतियों एवं मंत्रों से अभिषेक की हुई अग्नि को नमस्कार करता है, इसी प्रकार अनन्त ज्ञान से युक्त होने पर भी शिष्य को आचार्य की सेवा करनी चाहिए।

भाष्य:—प्रकृत गाथा में उदाहरण पूर्वक आचार्य-विनय का विधान किया गया है। जैसे अग्निहोत्री ब्राह्मण अपने घर अग्नि की स्थापना करता है और घृत, दुग्ध, मधु आदि पदार्थों की आहुति देकर 'अग्नये स्वाहा' इत्यादि प्रकार के मंत्र-पदों से अग्नि का अभिषेक करता है और अग्नि की पूजा करके उसे नमस्कार करता है, इसी प्रकार शिष्य अपने आचार्य की यत्न से सेवा-भक्ति करे। उदाहरण एकदेशीय होता है, अतएव यहां इतना अभिप्राय लेना चाहिए कि जैसे अग्निहोत्री ब्राह्मण अत्यन्त भक्तिभाव से अग्नि का आदर-सेवन करता है उसी प्रकार शिष्य को आचार्य महाराज की विनय-भक्ति करनी चाहिए। 'अणंतणाणोवगओ वि संतो' अर्थात् अनन्तज्ञानी होने पर भी, आचार्य की भक्ति का जो विधान किया गया है, सो यहां अणंत ज्ञान का अर्थ केवलज्ञान नहीं समझना चाहिए। केवली पर्याय की प्राप्ति होने पर वन्द्य-वन्दक भाव नहीं रहता। अनंत पद से अनन्त पर्यायों वाला होने से 'वस्तु' अर्थ लिया गया है। उसे जानने वाले विशिष्ट ज्ञान का ग्रहण करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि शिष्य कितना ही विशिष्ट ज्ञानी क्यों न हो जाय, फिर भी उसे आचार्य का विनय अवश्य करना चाहिए।

मूल:-आयरियं कुवियं णच्चा, पत्तिएण पसायए।
विज्झवेज्ज पंजलिउडो, वइज्जा ण पुणोत्ति य ॥१४॥

छाया:—आचार्यं कुपितं ज्ञात्वा, प्रीत्या प्रसादयेत् ।
विध्यापयेत् प्राञ्जलिपुटः, वदेन्न पुनरिति च ॥ १४ ॥

शब्दार्थ:—आचार्य को कुपित जानकर प्रीतिजनक शब्दों से उन्हें प्रसन्न करना चाहिए, हाथ जोड़कर उन्हें शान्त करना चाहिए और 'फिर ऐसा न करूंगा' ऐसा कहना चाहिए।

भाष्य:—शिष्य का कर्त्तव्य यह है कि वह विनय के अनुकूल ही समस्त व्यवहार करे। किन्तु कदाचित् असावधानी से भूल में कोई कार्य ऐसा हो जाय, जिससे आचार्य के क्रोध का भाजन बनना पड़े, तो उस समय शिष्य को प्रीतिजनक वचन कहकर आचार्य को प्रसन्न कर लेना चाहिए। आचार्य जब कुपित हों तो शिष्य भी मुँह लटकाकर एक किनारे बैठ जाए, यह उचित नहीं है। उसे विनयपूर्वक दोनों

हाथ जोड़कर आचार्य महाराज का कोप शान्त करना चाहिए।

आचार्य केवल मधुर भाषण एवं विनम्रता-प्रदर्शन से ही प्रसन्न नहीं होते। उनके कोप का कारण शिष्य का अनुचित आचार होता है। अतएव जब तक पुनः वैसा आचार न करने की प्रतिज्ञा न की जाय तब तक कोप का कारण पूर्ण रूप से दूर नहीं होता। इसलिए शास्त्रकार ने यह बताया है कि शिष्य को 'ण पुणत्ति' फिर ऐसा आचरण न करूंगा, यह कहकर आचार्य को आश्वासन देना चाहिए।

आचार्य का कोप शिष्य के पक्ष में अत्यन्त अहितकर होता है। अतएव आचार्य की अवहेलना करके उन्हें कुपित करना योग्य नहीं है। आचार्य की अवहेलना के संबंध में शास्त्र में लिखा है—

सिया हु से पावय नो डहेज्जा, आसीविसो वा कुविओ न भक्खे।
सिया विसं हालहलं न मारे, न यावि मोक्खो गुरुहीलणाए॥

अर्थात्—स्पर्श करने पर भी कदाचित् अग्नि न जलावे, कुपित हुआ सर्प भी कदाचित् न डँसे और कदाचित् हलाहल विष से मृत्यु न हो, मगर गुरु की अवहेलना करने से मुक्ति की प्राप्ति कदापि संभव नहीं है। तथा—

जो पव्वयं सिरसा भेत्तुमिच्छे, सुत्तं व सीहं पडिवोहइज्जा।
जो वा दए सत्ति-अग्गे पहारं, एसोवमाऽऽसायणया गुरूणं॥

अर्थात्—गुरु की आसातना करना मस्तक मार-कर पर्वत को फोड़ने के समान है, सोते हुए सिंह को जगाने के समान है अथवा शक्ति नामक शस्त्र की तीक्ष्ण धार पर हाथ-पैर का प्रहार करने के समान अनर्थकारक है। अतएव—

जस्संतिए धम्मपयाइं सिक्खे, तस्संतिए वेणइयं पउंजे।
सक्कारए सिरसा पंजलीओ, कायग्गिरा भो मणसा अ निच्चं॥

अर्थात्—जिससे धर्मशास्त्र सीखे उसके सामने विनयपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। मस्तक झुकाकर, हाथ जोड़कर, मन, वचन, काय से उसका सत्कार करना चाहिए।

धर्मशास्त्र के इस विधान से आचार्य की भक्ति की महत्ता स्पष्ट हो जाती है। अतएव अपने कल्याण की कामना करने वाले शिष्य को गुरु का समुचित विनय करना चाहिए और अपने अनुकूल सद्व्यवहार से प्रसन्न रखना चाहिए।

मूलः—णच्चा णमइ मेहावी, लोए कित्ती से जायइ।
हवइ किच्चाण सरणं, भूयाणं जगई जहा॥ १५॥

छायाः—ज्ञात्वा नमति मेधावी, लोके कीर्तिस्तस्य जायते।
भवति कृत्यानां शरणं, भूतानां जगती यथा॥ १५॥

शब्दार्थः—विनय के सम्यक् स्वरूप को जानकर बुद्धिमान् पुरुष को विनयशील होना चाहिए। इससे लोक में उसकी कीर्त्ति होती है। जैसे प्राणियों का आधार पृथ्वी है

उसी प्रकार विनीत पुरुष पुण्यक्रियाओं का पात्र बनता है।

भाष्यः--विनय और विनीत का व्याख्यान करने के बाद यहां विनय का फल बतलाया गया है।

बुद्धिमान् अर्थात् हिताहित के ज्ञान से युक्त पुरुष को विनय का पूर्वोक्त स्वरूप भलीभांति समझकर अपने स्वभाव में विनय-शीलता लानी चाहिए। विनयशील पुरुष की संसार में सुकीर्ति फैलती है और वह पुण्यानुष्ठानों का इसी प्रकार भाजन बन जाता है जिस प्रकार पृथ्वी प्राणियों का आधार होती है।

यहां विनीत पुरुष को पृथ्वी की उपमा देकर यह सूचित किया गया है कि जैसे पृथ्वी प्राणियों द्वारा रौंदी जाती है, कुचली जाती है, फिर भी वह उनके लिए आधारभूत है और कभी कुपित नहीं होती, इसी प्रकार विनीत पुरुष प्रतिकूल व्यवहार होने पर भी कभी कुपित न हो और निरन्तर शान्ति धारण करे।

मूलः-स देवगंधव्वमणुस्सपूइए,
चइत्तु देहं मलपंकपुव्वयं।
सिद्धे वा हवइ सासए,
देवे वा अप्परए महिड्ढिए ॥ १६ ॥

छाया.--स देवगन्धर्वमनुष्यपूजितः, त्यक्त्वा देहं मलपंकपूर्वकम्।
सिद्धो भवति शाश्वतः, देवो वापि महर्द्धिकः ॥ १६ ॥

शब्दार्थः--विनय से सम्पन्न पुरुष देवों, गंधर्वों और मनुष्यों से पूजित होता है और इस रुधिर एवं वीर्य आदि अशुभ पदार्थों से बने हुए शरीर को त्याग कर शाश्वत सिद्धि प्राप्त करता है। अथवा महान् ऋद्धि वाला देव होता है।

भाष्यः--विनय का अन्तिम फल क्या है, इस प्रश्न का यहां स्पष्टीकरण किया गया है। जो पूर्ण रूप से विनय युक्त होता है वह इस लोक में देवों, गंधर्वों और मनुष्यों द्वारा पूजा जाता है तथा जीवन का अन्त आने पर शाश्वत--अनन्त अक्षय-सिद्धि प्राप्त करता है।

कदाचित् कर्म शेष रह जाते हैं तो वह महान् ऋद्धि का धारक देव होता है। पहले देवों का वर्णन किया जा चुका है। नीचे-नीचे देवलोकों की अपेक्षा ऊपर-ऊपर के देवों की स्थिति, सुख, द्युति, लेश्या, प्रधान एवं ऋद्धि अधिकाधिक होती है। अनुत्तर विमानों के देवों की ऋद्धि सर्वोत्कृष्ट होती है। ऐसे विनयसम्पन्न, अल्पकर्मा महापुरुष अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होते हैं।

देवलोक के परमोत्कृष्ट सुखों का उपभोग करने के पश्चात् देव का वह जीव फिर मनुष्य योनि में अवतीर्ण होता है और फिर विनय का विशिष्ट आराधन करके,

तपस्या द्वारा कर्मों का समूल क्षय करके सिद्धि प्राप्त करता है।

मूलः—अत्थि एगं धुवं ठाणं, लोगग्गंमि दुरारुहं।
जत्थ नत्थि जरा—मच्चू, वाहिणो वेयणा तहा ॥१७॥

छायाः—अस्त्येकं ध्रुवं स्थानं, लोकाग्रे दुरारोहम्।
यत्र नास्ति जरामृत्यु-व्याधयो वेदनास्तथा ॥ १७ ॥

शब्दार्थः—हे गौतम ! लोक के अग्रभाग में एक ऐसा स्थान है जिस पर आरोहण करना कठिन है; जहां जरा नहीं है, मृत्यु नहीं है, व्याधियां नहीं हैं और वेदनाएं नहीं हैं।

भाष्यः—पूर्वगाथा में विनय के फल का दिग्दर्शन कराते हुए शाश्वत सिद्ध होना कहा गया था। वे सिद्ध कौन हैं ? कहां हैं ? इत्यादि प्रश्नों का समाधान करने के लिए प्रकृत गाथा कही गई है।

चौदह राजू विस्तार वाले पुरुषाकार लोक के अग्रभाग में, सर्वार्थसिद्ध विमान से बारह योजन ऊपर, पैंतालीस लाख योजन की लम्बी-चौड़ी, गोलाकार, मध्य में आठ योजना मोटी और फिर चारों ओर से पतली होती-होती किनारों पर अतीव पतली, एक करोड़, बयालीस लाख, तीस हजार, दो सौ उनपचास योजन के घेरे वाली, श्वेत वर्ण की छत्राकार एक जगह है, जिसे सिद्धशिला कहते हैं। सिद्धशिला के बारह नाम आगम में बताये गये हैं। जैसे—(१) ईषत् (२) ईषत्प्राग्भार (३) तन्वी (४) तनुतरा (५) सिद्धि (६) सिद्धालय (७) मुक्ति (८) मुक्तालय (९) ब्रह्म (१०) ब्रह्मावतंसक (११) लोकप्रतिपूर्ण और (१२) लोकाग्रचूलिका।

सिद्धशिला से एक योजना ऊपर, मनुष्यलोक की सीध में, पैंतालीस लाख योजन विस्तृत एवं तीन सौ तेतीस धनुष तथा बत्तीस अंगुल प्रमाण क्षेत्र में सिद्ध भगवान् विराजमान हैं।

सिद्ध भगवान् वह हैं जिन्होंने समस्त कर्मों का क्षय करके आत्मा को सर्वथा शुद्ध कर लिया है। आत्मा की पूर्ण विशुद्धि का क्रम दशवैकालिक सूत्र में, सरलता और संक्षेप पूर्वक इस प्रकार बतलाया गया है।

जया जीवमजीवे अ, दो वि एए वियाणइ।
तया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ।

अर्थात्—जीव को सर्वप्रथम जब जीव और अजीव का या आत्मा-अनात्मा का पार्थक्यज्ञान होता है, वह जब पुद्गल आदि से आत्मा को भिन्न समझने लगता है, तब उसे जीवों की अनेक गतियों का भी ज्ञान हो जाता है।

जया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ।
तया पुण्णं च पावं च, बंधं मुक्खं च जाणइ ॥

अर्थात्—जीव को जब यह विदित हो जाता है कि, जीव नाना गतियों में

भ्रमण करता रहता है अर्थात् आत्मा शाश्वत है और वह एक ही गति में नष्ट नहीं हो जाता किन्तु एक गति से दूसरी गति में जाता है अर्थात् परलोक गमन करता है, तब वह नाना गतियों में भ्रमण करने से उसे पुण्य और पाप का ज्ञान होता है और बंध तथा मोक्ष का भी ज्ञान होता है, क्योंकि पुण्य एवं पाप के कारण ही जीव को नाना गतियों में भ्रमण करना पड़ता है। पुण्य एवं पाप कर्म-बंध के आश्रित हैं अतएव उसे बंध का भी ज्ञान होता है और बंध का सर्वथा अभाव रूप मोक्ष भी वह जान लेता है।

जया पुण्णं च पावं बंधं मुक्खं च जाणइ।
तया निव्विदए भोए, जे दिव्वे जे य माणुसे॥

अर्थात्--जीव को जब पुण्य, पाप, बंध और मोक्ष का भलीभांति परिचय हो जाता है, तब वह देव और मनुष्य संबंधी कामभोगों को हेय समझ कर त्याग देता है। तात्पर्य यह है कि सत्यज्ञान होने पर भोगों के प्रति स्पृहा नहीं रह जाती और फिर मनुष्य विरक्त बन जाता है।

जया निव्विदए भोए, जे दिव्वे जे अ माणुसे।
तया चयइ संजोगं, सब्भिंतरबाहिरं॥

अर्थात्--भोगों के प्रति निर्वेद-अनासक्ति होने के अनन्तर मनुष्य आभ्यन्तर संयोग--क्रोध, मान, माया, लोभ-और बाह्य संयोग- माता पिता, पुत्र-पौत्र, पत्नी आदि के संबंध का परित्याग कर देता है।

जया चयइ संजोगं, सब्भिंतरबाहिरं।
तया मुंडे भवित्ताणं, पव्वइए अणगारियं॥

अर्थात्--आभ्यन्तर और बाह्य संयोग का त्याग करने के पश्चात् मनुष्य मुंडित होकर अनगारवृत्ति धारण करता है। वह केश आदि का द्रव्य मुंडन करके और इन्द्रियनिग्रह आदि रूप भावमुंडन करके गृहवास का त्याग कर देता है और साधु पर्याय अंगीकार करता है।

जया मुंडे भवित्ताणं, पव्वइए अणगारियं।
तया संवरमुक्किट्ठं, धम्मं फासे अणुत्तरं॥

अर्थात्--मनुष्य जब मुंडित हो कर अनगार अवस्था अंगीकार करता है तब वह उत्कृष्ट संवर और सर्वोत्कृष्ट धर्म को स्पर्श करता है। संवर के द्वारा नवीन कर्मों का बंध रोक देता है। अनुत्तर धर्म का अथवा संवर का आचरण करने वाले पुरुष के कर्म-बंध का अभाव हो जाता है।

जया संवरमुक्किट्ठं, धम्मं फासे अणुत्तरं।
तया धुणइ कम्मरयं, अबोहिकलुसंकडं॥

अर्थात्--मनुष्य जब उत्कृष्ट संवर-धर्म का स्पर्श करता है तब मिथ्यात्व आदि के कारण पूर्व संचित कर्म-रज को आत्मा से हटा देता है।

जया धुणइ कम्मरयं, अवोहिकलुसंकडं।
तया सव्वत्तगं नाणं, दंसणं चाभिगच्छइ ॥

अर्थात्—मनुष्य जब मिथ्यात्व आदि से संचित कर्मरज को हटा देता है तब उसे सर्वग ज्ञान और सर्वग दर्शन अर्थात् सर्वज्ञता तथा सर्वदर्शित्व की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि कर्म-रज दूर होने पर आत्मा का स्वाभाविक अनन्तज्ञान और अनन्त दर्शन प्रकट हो जाता है। सुवर्ण में से मल हटने पर जैसे सुवर्ण अपने स्वाभाविक तेज से चमकने लगता है उसी प्रकार कर्म-रज से मुक्त आत्मा भी अपने नैसर्गिक ज्ञान-दर्शन पर्याय से विराजमान हो जाता है।

जया सव्वत्तगं नाणं, दंसणं चाभिगच्छइ।
तया लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली ॥

अर्थात्—जब जीव सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो जाता है तब वह राग-द्वेष को जीत लेने वाला केवलज्ञानी लोक और अलोक को जान लेता है।

जया लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली।
तया जोगे निरुंभित्ता, सेलिसिं पडिवज्जइ ॥

अर्थात्—जब केवली जिन अवस्था प्राप्त कर लेता है तब मन, वचन, काय के योगों का निरोध करके, पर्वत के समान निश्चल परिणाम—शैलेशीकरण-को प्राप्त होता है।

जया जोगे निरुंभित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ।
तया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ ॥

अर्थात्—जीव जब योगों का निरोध करके शैलेशीकरण प्राप्त कर लेता है तब समस्त कर्मों को क्षीण करके, कर्म-रज से सर्वथा मुक्त होकर सिद्धि प्राप्त करता है।

जया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ।
तया लोगमत्थयत्थो, सिद्धो हवइ सासओ ॥

अर्थात्—जीव जब कर्मों का क्षय करके सिद्धि प्राप्त करता है और कर्म-रज से मुक्त हो जाता है तब लोक के मस्तक पर (उच्च भाग पर) स्थित हो जाता है और शाश्वत सिद्ध हो जाता है। तात्पर्य यह कि सांसारिक पर्यायें जैसे अनित्य एवं अध्रुव हैं, सिद्ध पर्याय वैसी अनित्य नहीं है। नर-नारक आदि पर्यायें औदयिक भाव में हैं, कर्म के उदय से उत्पन्न होती हैं और जब तक कर्म का उदय रहता है तब तक रहती हैं। कर्म का उदय समाप्त होते ही उनकी भी समाप्ति हो जाती है। सिद्ध पर्याय औदयिक नहीं है। वह क्षायिक भाव में है—समस्त कर्मों के आत्यन्तिक क्षय से उसका लाभ होता है, अतः एक वार उत्पन्न होने के पश्चात् फिर उसका अभाव कदापि नहीं होता। इसी कारण सिद्ध का विशेषण 'शाश्वत' दिया गया है।

उपर्युक्त क्रम से यह भलीभांति ज्ञात हो जाता है कि शाश्वत सिद्ध गति प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम जीव-अजीव या आत्मा-अनात्मा का भेद—विज्ञान होना

आवश्यक है। जिसे यह भेद प्रतीति हो जाती है वही सम्यग्दृष्टि कहलाता है। सम्यग्दृष्टि से पहले जो जड़-दशा होती है, जिसमें आत्मा-अनात्मा का विवेक नहीं, आत्मा की अमरता का विचार नहीं और सत्-असत् का परिज्ञान नहीं होता, वह मिथ्यात्व दशा कहलाती है।

शास्त्रों में आत्मा का विकास-क्रम चौदह गुणस्थानों के रूप में वर्णित किया गया है। उल्लिखित विकास क्रम गुणस्थानों का ही एक प्रकार से क्रम है। तथापि सुगमता के लिए यहां गुणस्थानों का भी दिग्दर्शन करा दिया जाता है। गुणस्थान चौदह हैं और आत्मा निम्नतम अवस्था से उच्चतम अवस्था में किस क्रम से पहुँचता है, यह जानने के लिए उनका जानना अत्यावश्यक है।

मोह और योग के कारण होने वाली आत्मा की दर्शन, ज्ञान और चारित्र की अवस्थाओं की तरतमता को गुणस्थान कहते हैं। गुण शब्द से यहां आत्मा की शक्तियों का ग्रहण किया गया है और स्थान का शब्द का अर्थ है अवस्था। यद्यपि सभी आत्माओं का स्वभाव एक सरीखा शुद्ध चैतन्य, अनन्त सुख रूप है, फिर भी उनके ज्ञान और चैतन्य में जो अन्तर पाया जाता है वह औपाधिक है कर्मजन्य है। कर्मों की तरतमता के कारण ही आत्माओं के ज्ञान आदि में तारतम्य पाया जाता है। जैसे मेघपटल से सूर्य का प्रकाश आच्छादित हो जाता है और जैसे-जैसे मेघ छंटते जाते हैं तैसे-तैसे सूर्य का प्रकाश बढ़ता जाता है। इसी प्रकार कर्म रूपी मेघ ज्यों-ज्यों हटते हैं त्यों-त्यों आत्मशक्ति रूपी सूर्य का प्रकाश बढ़ता जाता है। जब कर्मों का आवरण अत्यन्त तीव्र होता है तब आत्मा अत्यन्त अविकसित अवस्था में रहता है और जब आवरणों का पूर्ण रूप से विनाश हो जाता है तब आत्मा अपने विकास की चरम सीमा को अर्थात् विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। आवरणों की तीव्रतम अवस्था को मिथ्यात्वदशा और विकाश की चरम दशा को सिद्ध दशा कहा जाता है। निम्नतम दशा से उच्चतम दशा प्राप्त करने में अनेक माध्यमिक दशाएं पार करनी पड़ती हैं। यह दशाएं एक आत्मा के लिए भी असंख्य हैं और उन्हें शब्दों द्वारा कहना संभव नहीं है। अतएव स्थूल दृष्टि से समस्त अवस्थाएं चौदह विभागों में विभक्त की गई हैं। उन्हीं को चौदह गुणस्थान कहते हैं।

चौदह गुणस्थानों के नाम इस प्रकार हैं,--(१) मिथ्यादृष्टि (२) सास्वादन (३) सम्यक्-मिथ्यादृष्टि (४) अविरत सम्यक् दृष्टि (५) देशविरति (६) प्रमत्तसंयत (७) अप्रमत्तसंयत (८) निवृत्ति बादर गुणस्थान-अपूर्वकरण (९) अनिवृत्ति बादर गुण--स्थान-अनिवृत्ति करण (१०) सूक्ष्मसम्पराय (११) उपशान्तमोह (१२) क्षीणमोह (१३) सयोग केवली और (१४) अयोग केवली।

गुणस्थानों का स्वरूप समझने के लिए इतना जान लेना चाहिए कि आरंभ के चार गुणस्थान दर्शन मोहनीय कर्म के निमित्त से, पांचवें से लगाकर बारहवें गुणस्थान तक चारित्र मोहनीय के निमित्त से और अन्तिम दो गुणस्थान योग के

निमित्त से होते हैं। यद्यपि प्रथम चार गुणस्थानों में भी चारित्रमोह और योग विद्यमान रहता है, फिर भी उनमें जो अवस्थाभेद है उसका कारण दर्शनमोहनीय कर्म है। चारित्रमोहनीय कर्म और योग उनमें समान रूप से पाया जाता है। गुणस्थानों का स्वरूप इस प्रकार है:—

(१) मिथ्यात्व गुणस्थान—आत्मा के अत्यन्त अविकास की यह अवस्था है। इस अवस्था में आत्मा, आध्यात्मिक विकास की ओर जरा भी अग्रसर नहीं होता। उसे आत्मा-अनात्मा का भी ठीक-ठीक बोध नहीं होता। विकास के वास्तविक पथ पर चलने की रुचि भी उसमें जागृत नहीं होती। इस अवस्था में दर्शन-मोहनीय कर्म का प्रबल उदय विद्यमान रहता है। कहा भी है—

मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहणं तु तच्च अत्थाणं।
एयंतं विवरीअं विणयं संसइअमण्णाणं॥

अर्थात्—मिथ्यात्वदर्शनमोहनीय के उदय से मिथ्यात्व गुणस्थान होता है। इसमें तत्त्वों की श्रद्धा नहीं होती। इस गुणस्थान वाला कोई जीव एकान्त मिथ्यात्व वाला, कोई विपरीत मिथ्यात्व वाला, कोई वैनयिक मिथ्यादृष्टि, कोई सांशयिक मिथ्या-दृष्टि और कोई अज्ञानमिथ्यादृष्टि होता है।

जैसे पित्त-ज्वर से ग्रस्त पुरुष को मधुर दूध भी कटुक लगता है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि को सद्धर्म अप्रिय लगता है।

प्रथम गुणस्थान वाले सब जीव सर्वथा समान परिणाम वाले नहीं होते। उनमें कोई-कोई ऐसे भी होते हैं जिनके मोह की तीव्रता कुछ कम होती है। ऐसे जीव आध्यात्मिक विकास की ओर अग्रसर होने को उन्मुख होते हैं। वे अनादि कालीन तीव्रतम राग-द्वेष की जटिल ग्रंथि को भेदने योग्य आत्मबल प्राप्त कर लेते हैं।

शारीरिक अथवा मानसिक दुःखों के कारण कभी-कभी अनजान में ही आत्मा का आवरण कुछ शिथिल हो जाता है। जैसे नदी में बहता-टक्करें खाता हुआ पत्थर घिसते-घिसते गोलमटोल हो जाता है, उसी प्रकार दुःखों को भोगते-भोगते आत्मा का आवरण भी कुछ ढीला पड़ जाता है। इससे जीव के परिणामों में कुछ कोमलता बढ़ती है और राग-द्वेष की ग्रंथि को भेदने की कुछ योग्यता आ जाती है। इस योग्यता को यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं, यथाप्रवृत्तिकरण को प्राप्त करने वाला जीव ग्रंथि का भेद नहीं कर पाता, पर ग्रंथिभेद करने के समीप होता है।

यथाप्रवृत्तिकरण के पश्चात् जिस जीव की विशुद्धता कुछ और बढ़ती है, वह ऐसे परिणाम प्राप्त करता है, जो उसे पहले कभी नहीं प्राप्त हुए थे, उसमें अपूर्व आत्मबल आ जाता है। इसे शास्त्र में अपूर्वकरण कहते हैं। अपूर्वकरण की अवस्था में राग-द्वेष की वह तीव्रतम ग्रंथि भिदने लगती है और आत्मा में अपेक्षाकृत अधिक बल आ जाता है।

अपूर्वकरण के अनन्तर आत्मा की शक्ति की कुछ और वृद्धि होती है। उस

समय वह उस ग्रंथि को सर्वथा नष्ट कर डालता है और अधिकतर विशुद्धता प्राप्त करता है। इसका नाम है-- अनिवृत्ति-करण।

इन तीन परिणामों द्वारा राग-द्वेष की गांठ का नाश होते ही मिथ्यात्व दर्शन-मोहनीय कर्म पर विजय प्राप्त हो जाती है। आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूप का भान हो जाता है। उसकी दृष्टि सम्यक् हो जाती है। उस समय आत्मा चौथे गुणस्थान में पहुँच जाता है। चतुर्थ गुणस्थान का स्वरूप आगे बतलाया जायगा।

(२) सास्वादन गुणस्थान—सम्यक्त्व से गिर कर मिथ्यात्व की अवस्था में जा पहुँचता है। जो जीव दर्शनमोहनीय कर्म को क्षय करके नहीं वरन् सिर्फ उप-शान्त करके-दबा करके चौथे गुणस्थान में पहुँचा था, उसे दर्शनमोहनीय कर्म का फिर उदय हो आता है और वह चौथे गुणस्थान से पतित होने लगता है। इस कोटि का जीव जब सम्यक्त्व से च्युत हो जाता है परन्तु मिथ्यात्व दशा को प्राप्त नहीं हो पाता, उस समय की उसकी स्थिति सास्वादन गुणस्थान कहलाती है। इस स्थिति में जीव अत्यन्त अल्पकाल तक ही रहता है, फिर वह प्रथम गुणस्थान में जा पहुँचता है। कहा भी है:--

सम्मत्तरयणपव्वयसिहरादो मिच्छभूमिसमभिमुहो।
णासियसम्मत्तो सो सासणणामो मुणेयव्वो॥

अर्थात्--सम्यक्त्व रूपी रत्नमय पर्वत के शिखर से च्युत होकर, मिथ्यात्व की भूमि की ओर जीव जब अभिमुख होता है और जब उसका सम्यक्त्व नष्ट हो चुकता है, उस समय की उसकी अवस्था को सास्वादन गुणस्थान कहते हैं।

(३) सम्यग्-मिथ्यादृष्टि गुणस्थान-जिस अवस्था में जीव के परिणाम कुछ अंशों में शुद्ध और कुछ अंशों में अशुद्ध होते हैं, अर्थात् जब सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का सम्मिश्रण-सा होता है, वह अवस्था सम्यग्-मिथ्या-दृष्टि गुणस्थान कहलाती है। पहले गुणस्थान से भी इस गुणस्थान में जीव आता है और चौथे आदि ऊपर के गुणस्थानों से गिर कर भी आ सकता है। इसे मिश्रगुण-स्थान भी कहते हैं, क्योंकि इसमें जीव की श्रद्धा मिश्रित-सम्यक्त्व-मिथ्यात्वमय होती है। कहा भी है:--

दहिगुडमिव वा मिस्सं, पुहभावं णेव कारिदुं सक्कं।
एवं मिस्सयभावो सम्मामिच्छोत्ति णादव्वो॥

अर्थात्—दही और गुड़ को मिला देने पर जैसा खट्टा-मीठा स्वाद हो जाता है, और उसकी खटास या मिठास अलग-अलग नहीं की जा सकती वैसी सम्यक्त्व-मिथ्यात्व की मिश्रित अवस्था सम्यक्त्व-मिथ्यात्व गुणस्थान है।

इस गुणस्थान का स्वरूप सुगम करने के लिए एक दृष्टान्त प्रचलित है। किसी नगर में एक मुनिराज पधारे। कोई श्रावक मुनिराज को वन्दना करने चला। रास्ते में एक दुकान पर एक सेठजी बैठे थे। श्रावक ने कहा—'सेठजी, नगर के बाहर

मुनिराज पधारे हैं। उनके दर्शन करने चलिये।' सेठजी बोले—सौभाग्य की बात है। चलिए, मैं भी चलता हूँ। 'इसी समय उनका मिथ्यात्वी मुनीम बोला—सेठ साहब, आप कहां जाते हैं? यह आवश्यक पत्र हैं, इनका आज ही उत्तर भेजना जरूरी है। मुनीम की बात सुनकर सेठजी काम में लग गये। वह श्रावक मुनिदर्शन करके वापस लौटा। तब सेठजी ने कहा—भाई, आप वन्दना कर आये, मैं तो अब जाता हूँ।' इतना कहकर सेठजी वन्दना करने चले। इतने में मुनिराज वहां से विहार करके अन्यत्र चले गये थे। सेठजी जब वापस लौट रहे थे तो रास्ते में उन्मार्गगामी पाखण्डी साधुवेषधारी व्यक्ति मिले। सेठजी ने उन्हें वन्दना की और सोचा—'मेरे लिए वे और ये दोनों समान हैं।' सेठजी की यह दृष्टि सम्यग्-मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि उसमें सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का सम्मिश्रण है।

तृतीय गुणस्थान वाला जीव न संयम ग्रहण करता है, न देशनियम को स्वीकार करता है। वह नवीन आयु का बंध भी नहीं करता और न इस गुणस्थान में मृत्यु होती है। सम्यक्त्व अथवा मिथ्यात्व रूप परिणाम प्राप्त होने पर ही मृत्यु होती है।

(४) सम्यग्दृष्टि गुणस्थान—अनन्तानुबंधी कषाय और दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय या उपशम होने पर आत्मा में शुद्ध दृष्टि जागृत होती है, उसे सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहते हैं। यह गुणस्थान प्राप्त होने पर आत्मा के परिणामों में अपूर्व निर्मलता आ जाती है। उसे सत्-असत् का, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का भी विवेक हो जाता है। यह अवस्था पाकर आत्मा अनुपम शान्ति का अनुभव करता है। इसमें श्रद्धा सम्यक् हो जाती है!

अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय, इन सात प्रकृतियों के नौ भंग होते हैं। वे इस प्रकार हैं:— (१) सातों प्रकृतियों का क्षय होने पर जो सम्यक्त्व होता है वह क्षायिक कहलाता है। (२) सातों का उपशम होने पर होने वाला सम्यक्त्व औपशमिक कहलाता है। (३) चार अनन्तानुबंधी प्रकृतियों का क्षय हो और दर्शन मोह की तीन प्रकृतियों का उपशम हो (४) पांच प्रकृतियों का क्षय और दो का उपशम हो (५) छह प्रकृतियों का क्षय और एक का उपशम हो, इन तीन भंगों से होने वाला सम्यक्त्व क्षायोपशमिक कहलाता है। (६) चार प्रकृतियों का क्षय, एक का उपशम और एक का वेदन होने से (७) पांच का क्षय, एक का उपशम और एक का वेदन होने से (८) छह प्रकृतियों का क्षय और एक का वेदन होने पर तथा (९) छह का उपशम और एक का वेदन होने पर क्षायिक वेदक और औपशमिक वेदक सम्यक्त्व कहलाता है। तात्पर्य यह है कि चतुर्थ गुणस्थान प्राप्त करने के लिए उल्लिखित सात प्रकृतियों का क्षय उपशम या कुछ का क्षय और कुछ का उपशम करना आवश्यक होता है।

चौथे गुणस्थान का स्वरूप अन्यत्र इस प्रकार कहा है—

सत्तण्हं उवसमदो, उवसमसम्मो खयादु खइओ य।
विदियकसाउदयादो, असंजदो होदि सम्मो य॥

सात प्रकृतियों के उपशम से उपशमसम्यक्त्व और क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है। मगर अप्रत्याख्यानावरण कपाय का उदय होने से जब जीव एक देश संयम की भी आराधना नहीं कर पाता, उस समय की जीव की अवस्था को अविरत-सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहते हैं।

सम्यक्दृष्टि जीव प्रवचन पर श्रद्धान करता है। कभी भूल से उसकी श्रद्धा असत् पदार्थ विषयक हो तो भी वह सम्यक्दृष्टि ही रहता है। हां, शास्त्र-प्रमाण उपस्थित कर देने पर भी अगर वह अपनी श्रद्धा का संशोधन न करे तो फिर मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

सम्यक्त्व के प्रभाव से जीव नरक गति, तिर्यञ्चगति आदि से बच जाता है और अर्द्ध पुद्गल परावर्त्तन काल में मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

(५) देशविरति गुणस्थान—जीव सम्यग्दृष्टि प्राप्त कर लेने के पश्चात् जब चारित्रमोहनीय कर्म की दूसरी प्रकृति अप्रत्याख्यानावरण कर्म का भी क्षय या उपशम कर लेता है, तब उसे देशसंयम की प्राप्ति होती है। जीव की इस अवस्था को देशविरतिगुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान वाला जीव यथाशक्ति तप और प्रत्याख्यान करता हैं, अणुव्रतों का पालन करता है। कहा भी है—

जो तसवहाउ विरदो, अविरदओ तह य थावरवहाओ।
एगसमयम्मि जीवो, विरदाविरदो जिणेगमई॥

अर्थात्—जो जीव एक ही साथ त्रस जीवों की हिंसा से विरत और स्थावर जीवों की हिंसा से अविरत होता है, जिन धर्म पर जिसकी अटल श्रद्धा होती है वह विरताविरत या देशविरत कहलाता है। उस जीव की वह अवस्था देशविरति गुण-स्थान कहलाती है।

देशविरति गुणस्थान वाला जीव कम से कम तीन भव में और अधिक से अधिक पन्द्रह भवों में मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

(६) प्रमत्तसंयत गुणस्थान—जब आत्मा विकास की ओर अधिक प्रगति करके प्रत्याख्यानावरण कपाय के क्रोध, मान माया और लोभ का भी क्षय वा उपशम करके पूर्ण संयम को धारण करता है और अहिंसा आदि महाव्रतों का, पांच समि-तियों का, तीन गुप्तियों का पालन करता है, अर्थात् मुनि-दशा अंगीकार कर लेता है किन्तु प्रमाद का अस्तित्व रहता है, उस समय की उसकी अवस्था प्रमत्तसंयत-गुणस्थान कहलाती है। कहा भी है—

संजलणणोकसायाणुदयादो संजमो भवे जम्हा।
मलजणणपमादो वि य, तम्हा तु पमत्तविरदो सो॥
वत्तावत्तपमादे जो वट्टइ, पमत्तसंजदो होइ।
सयलगुणसीलकलिओ, महव्वई चित्तलाचरणो॥

अर्थात्—संज्वलन कपाय और नोकपाय का ही उदय रह जाने से जहां सकल

संयम की प्राप्ति हो जाती है, किन्तु किंचित् अशुद्धि उत्पन्न करने वाला प्रमाद विद्यमान रहता है, उस अवस्था को प्रमत्तविरत अवस्था कहते हैं। जो जीव व्यक्त या अव्यक्त प्रमाद में वर्त्तता है वह प्रमत्तसंयत कहलाता है। ऐसा जीव समस्त गुणों एवं शीलों से संपन्न और महाव्रती होता है।

प्रमत्तसंयत गुणस्थान वाला जीव उसी भव से मुक्ति लाभ कर सकता है और उत्कृष्ट सात-आठ भवों में मोक्ष प्राप्त करता है। ऐसा जीव, मनुष्य अथवा देवगति में ही उत्पन्न होता है।

[७] अप्रमत्तसंयत गुणस्थान--छठे गुणस्थान में आत्मा को जो शान्ति और निराकुलता का अनुभव होता था उसमें प्रमाद बाधा पहुँचा देता था। आत्मा जब इस प्रमाद रूप बाधा को भी दूर कर देता है और आत्मिक स्वरूप की अभिव्यक्ति के साधन रूप ध्यान, मनन, चिन्तन आदि में ही लीन रहता है, उस समय की उसकी अवस्था को अप्रमत्त-संयत गुणस्थान कहते हैं। जब आत्मा सातवें गुणस्थान में वर्त्तता है तब वह बाह्य क्रियाओं से रहित होता है। बाह्य क्रिया करने पर सातवां गुणस्थान छूट कर छठा आ जाता है इस प्रकार आत्मा कभी छठे में और कभी सातवें में आता-जाता रहता है।

मद, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा यह पांच प्रकार के प्रमाद हैं। इनसे रहित होने पर अप्रमत्त गुणस्थान प्राप्त होता है। यहां इतना ध्यान रखना चाहिए कि सातवें गुणस्थान में कषाय का सर्वथा नाश नहीं होता। संज्वलन कषाय और नो-कषाय की मन्दता उस समय भी रहती है। कहा भी है:—

संजलणणोकसायाणुदओ मंदो जदा तदा होदि।
अपमत्तगुणो तेण य अपमत्तो संजदो होदि॥

अर्थात्—संज्वलन कषाय और नोकषाय का जब मंद उदय होता है और प्रमाद से रहित हो जाता है तब आत्मा अप्रमत्त संयत कहलाता है।

नट्ठासेसपमादो वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी।
अणुवसमओ अखवओ, झाणणिलीणो हु अपमत्तो॥

अर्थात्—जिसने सब प्रमादों का नाश करदिया है, जो व्रतों से, गुणों से और शीलों से मंडित है, जिसे अपूर्व आत्मज्ञान प्राप्त हो गया है, परन्तु जो अभी तक उपशमक या क्षपक नहीं हुआ है और जो ध्यान में लीन है, ऐसा आत्मा अप्रमत्त संयत कहलाता है।

सातवां गुणस्थान एक अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त ही रहता है।

[८] निवृत्ति बादर गुणस्थान—अपूर्वकरण—सातवें गुणस्थान में प्रमाद का अभाव करके आत्मा अपनी शक्तियों को विशेष रूप से विकसित कर विशिष्ट अप्रमत्तता प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था में आत्मा में अद्भुत निर्मलता आती है। शुक्लध्यान यहां से आरंभ हो जाता है। इसी अवस्था को अपूर्वकरण गुणस्थान

भी कहते हैं।

इस गुणस्थान से आत्मविकास के दो मार्ग हो जाते हैं। कोई आत्मा ऐसा होता है जो मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का उपशम करता हुआ आगे बढ़ता चला जाता है और कोई आत्मा मोहनीय के प्रभाव का क्षय करता हुआ—मोह की शक्ति का समूल उन्मूलन करता हुआ, आगे बढ़ता है। इस प्रकार आठवें गुणस्थान से आगे बढ़ने वाले आत्मा दो श्रेणियों में विभक्त हो जाते हैं। प्रथम मार्ग को उपशम श्रेणी और दूसरे मार्ग को क्षपकश्रेणी कहते हैं।

जैसे आग को राख से दबा दिया जाता है मगर थोड़ी देर बाद हवा का झौंका लगने पर वह भड़क जाती है और संताप आदि अपना कार्य करने लगती है। इसी प्रकार उपशम श्रेणी वाला जीव मोह का उपशम करता है—उसे दबाता है, नष्ट नहीं करता। इसका परिणाम यह होता है कि थोड़े समय के पश्चात् मोहनीय कर्म फिर उदय में आ जाता है और वह आत्मा को आगे बढ़ने से रोकता ही नहीं वरन् नीचे गिरा देता है। ऐसा जीव ग्यारहवें गुणस्थान में जाकर उससे आगे नहीं बढ़ता।

क्षपक श्रेणी वाला जीव मोहकर्म की प्रकृतियों का क्षय करता हुआ आगे बढ़ता है, अतएव उसके पतित होने का अवसर नहीं आता। वह दसवें गुणस्थान से सीधा बारहवें गुणस्थान में जाता है और सदा के लिए अप्रतिपाती बन जाता है।

जो जीव आठवें गुणस्थान को प्राप्त कर चुके हैं, जो जीव प्राप्त कर रहे हैं और जो प्राप्त करेंगे, उन सब जीवों के अध्यवसायस्थानों की अर्थात् परिणामों की संख्या असंख्यात लोकाकाशों के प्रदेशों की बराबर है। आठवें गुणस्थान की स्थिति अन्तमुहूर्त्त प्रमाण है। एक अन्तमुहूर्त्त में असंख्यात समय होते हैं, जिनमें से प्रथम समयवर्त्ती सब जीवों के अध्यवसाय भी असंख्यात लोकाकाशों के प्रदेशों के तुल्य हैं। इसी प्रकार द्वितीय समयवर्त्ती, तृतीय समयवर्त्ती त्रैकालिक जीवों के अध्यवसायों की संख्या असंख्यात लोकाकाशों के प्रदेशों के बराबर होने पर भी सब समयों में वर्त्तमान जीवों के अध्यवसायों की संख्या भी असंख्यात है, पर दोनों असंख्यातों में बहुत अन्तर है। असंख्यात के असंख्यात भेद होने के कारण दोनों संख्याएं असंख्यात कहलाती हैं।

यद्यपि आठवें गुणस्थानवर्त्ती तीनों कालों के जीव अनन्त हैं तथापि उनके अध्यवसायस्थान असंख्यात ही होते हैं, क्योंकि बहुत से जीव ऐसे होते हैं जो समसमयवर्त्ती हैं और जिनके अध्यवसायों में भिन्नता नहीं होती।

प्रत्येक समय के अध्यवसायों में कुछ कम शुद्धि वाले और कुछ बहुत अधिक शुद्धि वाले होते हैं। कम शुद्ध अध्यवसायों को जघन्य और अधिक शुद्ध अध्यवसायों को उत्कृष्ट अध्यवसाय कहते हैं। इन दोनों प्रकार के अध्यवसायों के बीच मध्यमश्रेणी के भी असंख्यात प्रकार के अध्यवसाय होते हैं।

आठवें गुणस्थान में जीव पांच वस्तुओं का विधान करता है। वे इस प्रकार हैं:—(१) स्थितिघात (२) रसघात (३) गुणश्रेणी (४) गुणसंक्रमण और (५) अपूर्व स्थितिबंध।

(१) स्थितिघात-जो कर्मदलिक आगे उदय में आने वाले हैं उन्हें अपवर्त्तनाकरण के द्वारा, उदय के नियत समय से हटा कर शीघ्र उदय में आने योग्य कर देना। अर्थात् ज्ञानावरण आदि कर्मों की लम्बी स्थिति को घटाकर थोड़ी करना।

(२) रसघात--कर्मों का फल देने की शक्ति को रसघात कहते हैं। तीव्र फल देने वाले कर्मदलों को मन्द रस देने वाला बना डालना रसघात कहलाता है।

(३) गुणश्रेणी -जिन कर्मदलिकों का स्थितिघात किया गया था उन्हें पहले अन्तमुहूर्त्त में उदय होने योग्य बनाना गुणश्रेणी है।

(४) गुणसंक्रमण--वर्त्तमान में बंधने वाली शुभ प्रकृतियों में, पहले बंधी हुई अशुभ प्रकृतियों का संक्रमण कर देना, अर्थात् पहले जो अशुभ प्रकृतियां बंधी हुई थीं उन्हें वर्त्तमान में बंधने वाली शुभ प्रकृतियों के रूप में परिणत कर लेना गुण-संक्रमण कहलाता है।

(५) अपूर्वस्थितिबन्ध—इतनी अल्प स्थिति वाले कर्मों का बंध होना, जैसे कि पहले कभी नहीं हुआ था।

उल्लिखित पांच बातें यद्यपि आठवें गुणस्थान से पहले भी होती हैं, मगर वहां उनकी मात्रा नगण्य सी होती है, आठवें गुणस्थान की परिणामों की विशुद्धता के कारण स्थितिघात आदि बहुत अधिक परिमाण में होता है, इसी कारण इस गुणस्थान में इनका उल्लेख किया जाता है।

(९) अनिवृत्तिबादरगुणस्थान—आठवें गुणस्थान में अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियां, इन पन्द्रह प्रकृतियों का उपशमश्रेणी वाले ने उपशम किया था और क्षपक श्रेणी वाले ने क्षय किया था। इसके अनन्तर जब हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा, इन छह नोकषायों का भी उपशम या क्षय हो जाता है तब नववां गुणस्थान प्राप्त होता है। इस गुणस्थान में संज्वलन का मंद उदय बना रहता है। इस गुणस्थान की भी स्थिति अन्तमुहूर्त्त ही है।

एक अन्तमुहूर्त्त में जितने समय होते हैं, नववें गुणस्थान में अध्यवसायस्थान भी उतने ही हैं। इस गुणस्थान में समसमयवर्त्ती सब जीवों के अध्यवसाय समान होते हैं। अतएव इस गुणस्थान संबंधी अध्यवसायों की उतनी ही श्रेणियां हैं जितने समय की इस की स्थिति है। मगर प्रथम समयवर्त्ती अध्यवसायस्थान से द्वितीय समयवर्त्ती अध्यवसायस्थान अनन्तगुना अधिक विशुद्ध होता है। इसी प्रकार पूर्व पूर्व समय के अध्यवसायों की अपेक्षा उत्तरोत्तर समय के अध्यवसाय विशुद्धतर ही

होते जाते हैं। आठवें गुणस्थान और नौवें गुणस्थान संबंधी अध्यवसायों में यह विशेषता है कि आठवें गुणस्थान वाले समसमयवर्त्ती जीवों के अध्यवसायों में शुद्धि की तरतमता होती है, इस कारण वे असंख्यात श्रेणियों में विभक्त हो सकते हैं परन्तु नववें गुणस्थान वाले सम-समयवर्त्ती जीवों के अध्यवसाय एक ही कोटि के होते हैं।

(१०) सूक्ष्मसाम्पराय-गुणस्थान--पूर्वोक्त इक्कीस प्रकृतियों के अतिरिक्त स्त्री-वेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, संज्वलन क्रोध, मान और माया, इन छह प्रकृतियों का भी जब उपशम या क्षय हो जाता है तब सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवां गुणस्थान प्राप्त होता है। इस गुणस्थान में मोहनीय कर्म के अट्ठाईस भेदों में से सिर्फ एक संज्वलन लोभ शेष रहता है और वह भी सूक्ष्म रूप में ही रह जाता है। कहा भी है:—

धुवकोसंभियवत्थं, होदि जहा सुहुमरायसंजुत्तं।
एवं सुहुमकसाओ, सुहुमसरागो त्ति णादव्वो॥

अर्थात्--कुसुंमी रंग से रंगे हुए वस्त्र को धो डालने पर जैसे उसमें हल्का-सा रंग रह जाता है इसी प्रकार केवल सूक्ष्म संज्वलन लोभ के रह जाने पर जो जीव की अवस्था होती है उसे सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान कहते हैं।

इस गुणस्थान में आने पर जीव संज्वलन लोभ का उपशम या क्षय करता है और ज्यों ही लोभ का उपशम हुआ, त्यों ही ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँच जाता है। क्षपकजीव लोभ का क्षय करके दसवें गुणस्थान से सीधा वारहवें गुणस्थान में पहुँ-चता है।

(११) उपशान्तमोहनीय-गुणस्थान--पूर्वकथनानुसार मोहनीय कर्म की सभी प्रकृतियों का उपशम होने पर जीव की जो अवस्था होती है वह उपशान्त मोहनीय गुणस्थान है। इस गुणस्थान की जघन्य स्थिति एक समय की और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है।

ग्यारहवें गुणस्थान में गया हुआ जीव आगे प्रगति नहीं कर पाता। उसे पिछले गुणस्थानों में लौटना पड़ता है। उपशमश्रेणी वाला जीव ही इस गुणस्थान में पहुँचता है। इस श्रेणी के जीवों ने मोह को क्षय नहीं किया था वरन् उसका उपशम किया था। उपशान्त किया हुआ मोह यहां आकर उदय में आता है और उसी समय जीव का अधःपतन हो जाता है।

ग्यारहवें गुणस्थान से पतित होने वाला जीव, जिस क्रम से ऊपर चढ़ा था उसी क्रम से गिरता है। ग्यारहवें गुणस्थान से दसवें में आता है, फिर नववें में आता है, इस प्रकार कोई-कोई जीव छठे गुणस्थान तक, कोई पांचवें तक, कोई चौथे तक, और कोई दूसरे गुणस्थान में होता हुआ पहले गुणस्थान तक जा पहुँचता है।

एक वार गिरजाने पर दूसरी वार उपशम श्रेणी के द्वारा जीव ग्यारहवें गुण-थान तक पहुंच सकता है और फिर उसी प्रकार गिरता भी है। इस प्रकार एक जीव

एक जन्म में दो बार उपशम श्रेणी कर सकता है। जिसने एक बार उपशम श्रेणी द्वारा ग्यारहवां गुणस्थान प्राप्त किया और फिर वह गिर गया वही जीव दूसरी बार अपने प्रबल पुरुषार्थ से क्षपक श्रेणी करके मुक्ति भी प्राप्त कर लेता है। पर कर्मग्रंथों के अनुसार दो बार उपशमश्रेणी करने वाला इतना क्षीणवीर्य हो जाता है कि वह उसी जन्म में क्षपकश्रेणी करके मुक्ति-लाभ करने में समर्थ नहीं होता। शास्त्रों में ऐसा भी उल्लेख है कि एक जीव, एक जन्म में एक ही श्रेणी कर सकता है। ग्यारहवें गुण-स्थान के विषय में कहा है -

> कदकफलजुदजलं वा सरए सरपाणियं व णिम्मलयं।
> सयलोवसंतमोहो, उवसंतकसायओ होदि ॥

अर्थात्—जैसे फिटकरी आदि डालने पर पानी का मैल जब नीचे जम जाता है और पानी निर्मल हो जाता है अथवा शरद ऋतु में कूड़ा-कचरा नीचे बैठ जाने से जैसे तालाब का पानी निर्मल हो जाता है उसी प्रकार जिसका समस्त मोह उपशान्त हो गया हो उसे उपशान्तमोहनीय कहते हैं। जीव की ऐसी अवस्था उपशान्त-मोहनीय गुणस्थान कहलाती है।

(१२) क्षीणमोहनीय गुणस्थान—ऊपर कहा जा चुका है कि क्षपकश्रेणी वाला जीव मोहनीय कर्म का पूर्ण रूप से जब क्षय कर डालता है, तब वह दसवें गुणस्थान से सीधा बारहवें में पहुँचता है। यह अप्रतिपाती गुणस्थान है। इसमें पहुँचने वाला वीतराग हो जाता है। फिर उसके पतन का कोई कारण नहीं रहता। आत्मा के साथ प्रबल संघर्ष करने वाले, कर्म-सैन्य के अग्रसर मोह का क्षय हो जाने से आत्मा अतीव निर्मल और विशुद्ध हो जाता है। कहा भी है: —

> णिस्सेसखीणमोहो, फलिहामलभायणुदयसमचित्तो।
> खीणकसाओ भण्णइ, णिग्गंथो वीयराएहिं ॥

अर्थात्—सम्पूर्ण मोह का क्षय करने वाला, स्फटिक के निर्मल पात्र में स्थित जल के समान स्वच्छ चित्त वाला निर्ग्रन्थ, वीतराग भगवान् द्वारा क्षीणकषाय कहा गया है।

बारहवें गुणस्थान की स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त्त है। इस गुणस्थान के अन्तिम समय में शेष घातिया कर्मों का—ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का—क्षय हो जाता है।

(१३) सयोग-केवली-गुणस्थान · चारों घाति कर्मों का क्षय हो जाने पर जिस वीतराग महापुरुष को केवलज्ञान, केवलदर्शन तथा अनन्तवीर्य प्राप्त हो जाता है, किन्तु जिसके योग विद्यमान रहते हैं वह सयोगकेवली कहलाता है और उसकी अवस्था विशेष को सयोगकेवली गुणस्थान कहते हैं।

यह अवस्था सशरीर मुक्ति, जीवन्मुक्ति, आर्हन्त्य अवस्था, अपर मोक्ष आदि के नाम से विख्यात है। इस अवस्था पर पहुँचे हुए केवली भगवान् संसार के प्राणियों के परम पुण्य के प्रभाव से मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं। इस गुणस्थान में

कोई-कोई महात्मा एक अन्तमुहूर्त तक ही रहते हैं और कोई-कोई कुछ कम करोड़ पूर्व तक रहते हैं। कहा भी है:—

केवलणाणदिवायरकिरणकलावप्पणासियण्णाणो।
णवकेवललद्धुग्गमसुजणियपरमप्पववएसो॥

अर्थात्—केवलज्ञान रूपी दिवाकर की किरणों के समूह से जिनका अज्ञान सर्वथा नष्ट हो गया है और जो नव केवल लब्धियों के उत्पन्न हो जाने से 'परमात्मा' नाम से व्यवहृत होते हैं उन्हें केवली कहते हैं।

असहायणाणदंसणसाहिओ इदि केवली हु जोगेण-
जुत्तोत्ति सजोगिजिणो अणाइणिहणारिसे उत्तो॥

अर्थात्—जो इन्द्रिय आदि किसी भी निमित्त की अपेक्षा न रखने वाले ज्ञान और दर्शन से सहित होने के कारण केवली हैं तथा योग से युक्त हैं, उन्हें अनादि-निधन आगम में सयोगी केवली कहते हैं।

इस गुणस्थान में केवल चार अघातिक कर्मों का उदय रहता है।

(१४) अयोग-केवली-गुणस्थान—जिन केवली भगवान् ने योगों का निरोध कर दिया है वे अयोग या अयोगी केवली कहलाते हैं। उनकी अवस्था-विशेष अयोग केवली गुणस्थान है।

योग तीन प्रकार के हैं। तीनों प्रकार के योगों का निरोध करने से अयोगी दशा प्राप्त होती है। तेरहवें गुणस्थान में, जिन केवली की आयु कर्म की स्थिति कम रह जाती है और तीन अघातिक कर्मों की अधिक होती है वे समुद्घात करते हैं। मूल शरीर को विना छोड़े, आत्मा के प्रदेशों को बाहर निकाल कर, समस्त लोकाकाश में व्याप्त करके विशिष्ट निर्जरा करना समुद्घात कहलाता है। समुद्घात सात तरह के होते हैं, उनमें से केवली का समुद्घात केवलिसमुद्घात कहलाता है। यह समुद्-घात आठ समयों में होता है। प्रथम समय में केवली दण्ड के रूप में आत्मप्रदेशों की रचना करते हैं। उस समय आत्मप्रदेश मोटाई में शरीर के बराबर और लम्बाई में ऊपर तथा नीचे लोकान्त को स्पर्श करने वाले होते हैं। दूसरे समय में आत्मप्रदेश पूर्व और पश्चिम में तथा तीसरे समय में उत्तर और दक्षिण दिशा में फैलाते हैं। इस प्रकार जब चारों ओर आत्मप्रदेश फैल जाते हैं तब मथानी का आकार प्राप्त होता है और चौथे समय में खाली रहे हुए बीच-बीच के भाग को भरते हैं। इस प्रकार आत्म प्रदेशों से सम्पूर्ण लोकाकाश व्याप्त हो जाता है। पांचवें, छठे, सातवें और आठवें समय में उन फैले हुए प्रदेशों को, जिस क्रम से फैलाया था उससे विपरीत क्रम से संकुचित करते हैं और आठवें समय में आत्मप्रदेश ज्यों के त्यों शरीरस्थ हो जाते हैं।

इस क्रिया से नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मों की स्थिति कम होकर चारों कर्म समान स्थिति वाले हो जाते हैं। अन्तर्मुहूर्त में मोक्ष प्राप्त करने वाले केवली ही यह समुद्घात करते हैं। जिन केवली भगवान् के चारों अघातिक कर्मों की स्थिति बराबर होती है उन्हें यह समुद्घात करने की आवश्यकता नहीं होती।

सभी केवली तेरहवें गुणस्थान के अन्त में योगों का निरोध करते हैं। योगों के निरोध का क्रम इस प्रकार है।

सर्वप्रथम स्थूल काययोग का अवलंबन करके स्थूल मनोयोग तथा स्थूल वचनयोग का निरोध किया जाता है। तत्पश्चात् सूक्ष्म काययोग से स्थूल काययोग का निरोध होता है और उसी से सूक्ष्म मनोयोग और सूक्ष्म वचनयोग रोका जाता है। अन्त में सूक्ष्मक्रियाऽनिवृत्ति नामक शुक्लध्यान के बल से सूक्ष्म काययोग को रोक देते हैं। इस प्रकार सयोग केवली अवस्था से अयोग केवली दशा प्राप्त हो जाती है।

तत्पश्चात् समुच्छिन्नक्रिया—अप्रतिपाती शुक्ल ध्यान प्राप्त करके, मध्यम रीति से अ, इ, उ, ऋ, ऌ इन पांच स्वरों का उच्चारण करने में जितना समय लगता है, उतने समय का शैलेशीकरण करते हैं और शैलेशीकरण के अन्तिम समय में चारों अघातिक कर्मों का क्षय करके मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं।

मुक्ति प्राप्त होते ही जीव चौदह गुणस्थानों से अतीत हो जाता है। गुणस्थानों से अतीत हो जाने पर ऐसे ध्रुव-नित्य, लोक के अग्रभाग में स्थित, साधारण जनों द्वारा जो प्राप्त नहीं किया जा सकता, और जहां जरा नहीं, मरण नहीं, व्याधियां नहीं और वेदनाएं नहीं है, ऐसे परम विशुद्धतम स्थान को प्राप्त करते हैं।

जन्म, जरा, मरण, व्याधि और वेदना का मूल कारण कर्म हैं। कर्मों का आत्यन्तिक अभाव हो जाने से जरा मरण आदि मुक्ति में स्पर्श नहीं करते। मोक्ष को ध्रुव स्थान कहने से यह प्रमाणित है कि मुक्त जीव मोक्ष से लौट कर फिर संसार में अवतीर्ण नहीं होते। जिन्होंने पुनरागमन स्वीकार किया है वे मोक्ष के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ हैं इस संबंध की चर्चा पहले की जा चुकी है अतएव यहां पुनरावृत्ति नहीं की जाती।

इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि मुक्त जीव सिद्धशिला स्थान पर विराजमान रहते तो हैं मगर उस स्थान को मोक्ष नहीं कहते। आत्मा की पूर्ण निरावरण दशा, आत्मा की स्वाभाविक शक्तियों का पूर्ण विकास ही मोक्ष है। मुक्तात्मा अपने निखालिस आत्मस्वरूप में विराजमान रहते हैं।

मूलः—निव्वाणं ति अबाहं ति, सिद्धी लोयग्गमेव य।
खेमं सिवमणाबाहं, जं चरंति महेसिणो ॥ १८ ॥

छायाः—निर्वाणमिति अबाधमिति, सिद्धिलोकाग्रमेव च।
क्षेमं शिवमनाबाधं, यच्चरन्ति महर्षयः ॥ १८ ॥

शब्दार्थः—हे इन्द्रभूति! वह ध्रुवस्थान निर्वाण कहलाता है, अबाध कहलाता है, सिद्धि कहलाता है, लोकाग्र कहलाता है, क्षेम कहलाता है, शिव कहलाता है, अनाबाध कहलाता है, जिसे महर्षि अर्थात् सिद्ध भगवान् प्राप्त करते हैं।

भाष्यः—पूर्व गाथा में जिस ध्रुव स्थान का निरूपण किया गया था, उसी के सार्थक नामों का यहां उल्लेख किया गया है। उस स्थान का एक नाम निर्वाण है, क्योंकि उसे प्राप्त करने पर किसी प्रकार की तृष्णा आदि रूप संताप नहीं रहता। उसका 'अबाध' नाम भी है क्योंकि वहां किसी प्रकार की बाधा नहीं होती। शारीरिक या मानसिक बाधा का न कोई कारण है और न वहां शरीर तथा मन ही रहता है। अतएव सिद्ध भगवान् सब प्रकार की बाधाओं से अतीत हैं। उस स्थान का नाम सिद्धि भी है, क्योंकि आत्मा का सर्व प्रधान, परम और चरम साध्य प्राप्त कर लेने पर ही सिद्ध होता है। इस साध्य की सिद्धि हो जाने पर फिर किसी प्रकार की सिद्धि की कामना नहीं रहती। सांसारिक साध्यों की सिद्धि क्षणिक होती है, अपूर्ण होती है और प्रायः असिद्धि का मूल होती है। यह सिद्धि शाश्वत है, सम्पूर्ण है और इसमें असिद्धि को अवकाश नहीं है। अतएव आत्मा के प्रबल पुरुषार्थ की यही वास्तविक सिद्धि है। योगीजन इसी सिद्धि के लिए निरन्तर उद्योग करते हैं।

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, यह ध्रुव स्थान लोक के अग्रभाग पर स्थित है अतएव उसे लोकाग्र नाम से भी कहते हैं। आत्मा को शाश्वत सुख की प्राप्ति का कारण होने से उसे 'क्षेम' कहते हैं, सब प्रकार के उपद्रवों का सर्वथा अभाव होने से उनका नाम शिव है, और वहां स्वाभाविक, शाश्वत, अनिर्वचनीय, अनुपम, अनन्त और अव्यबाध सुख प्राप्त होता है अतएव उसे अनाबाध भी कहते हैं।

जैसा कि पहले कहा गया है, यह सब नाम उस स्थानवर्त्ती आत्मा के समझने चाहिए। आधार-आधेय के सम्बन्ध से यहां अभेद-कथन किया गया है।

इस स्थान को अर्थात् सिद्ध दशा को महर्षि ही प्राप्त करते हैं। असंयम का सेवन करने वाले, अज्ञानपूर्वक कायक्लेश करने वाले और विषयभोगी जीव इसे प्राप्त नही कर सकते।

मूलः—नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एय मग्गमणुप्पत्ता जीवा गच्छंति सोग्गइं ॥१६॥

छायाः—ज्ञानं च दर्शनं चैव, चारित्रं च तपस्तथा।
एतन्मार्गमनुप्राप्ताः, जीवा गच्छन्ति सुगतिम् ॥१६॥

शब्दार्थः—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—इस मार्ग को प्राप्त हुए जीव सिद्धि रूप सद्गति का लाभ करते हैं।

भाष्यः—मुक्ति का स्वरूप बतला कर उसके कारणों का प्रकृत गाथा में निरूपण किया गया है।

मुक्ति के चार कारण हैं। यहां प्रत्येक के साथ सम्यक् शब्द का प्रयोग करना आवश्यक है। अतएव—(१) सम्यक्ज्ञान (२) सम्यक्दर्शन (३) सम्यक्चारित्र और (४) सम्यक्तप, इन चार कारणों से मुक्ति प्राप्त होती है।

चारों कारण स्वतन्त्र—अन्यनिरपेक्ष मोक्ष के मार्ग नहीं, वरन् परस्पर सापेक्ष ही मोक्ष के मार्ग बनते हैं। आशय यह है कि अकेला सम्यग्दर्शन, अकेला सम्यग्ज्ञान, अकेला सम्यक्चारित्र या अकेला सम्यक्तप भी मोक्ष का कारण नहीं है। जब चारों कारणों का समन्वय होता है तभी मोक्ष-लाभ की योग्यता जागृत होती है। अतएव दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि मोक्ष का मार्ग एक ही है और उसके अंग चार हैं।

सूर्योदय होने पर जैसे प्रकाश और प्रताप-दोनों एक साथ ही उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार सम्यक्त्व होते ही ज्ञान और दर्शन दोनों एक ही साथ सम्यकदर्शन और सम्यक्-ज्ञान रूप हो जाते हैं। अतएव कहीं-कहीं दर्शन, ज्ञान में ही सम्मिलित कर लिया जाता है। तप, चारित्र का ही एक अंग है, अतएव चारित्र में तप का अन्तर्भाव हो जाता। इस प्रकार ज्ञान और चारित्र से भी मुक्ति का कथन देखा जाता है। कहा भी है—'ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः' अर्थात् ज्ञान से और चारित्र से मोक्ष प्राप्त होता है। कहीं-कहीं केवल तप को चारित्र में अन्तर्भूत करके तीन को मोक्ष का मार्ग निरूपण किया गया है। जैसे-'सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।' अर्थात् सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान, और सम्यक्-चारित्र मोक्ष का मार्ग है। अतः इस प्रकार के किसी कथन में विरोध नहीं समझना चाहिए।

भारतीय दर्शनों में कुछ ऐसे हैं जो अकेले ज्ञान से ही मुक्ति की प्राप्ति मानते हैं और कुछ ऐसे भी हैं जिन्होंने अकेले चारित्र से ही मोक्ष प्राप्त होना माना है। किन्तु समीचीन विचार करने से यह एकान्त रूप मान्यताएं सत्य प्रतीत नहीं होती। हमारा अनुभव ही इन मान्यताओं को मिथ्या प्रमाणित कर देता है। जगत् के व्यव-हारों में पद-पद पर हमें ज्ञान और चारित्र दोनों की आवश्यकता अनिवार्य प्रतीत होती है। न तो अकेला ज्ञान ही हमारी इष्टसिद्धि का कारण होता है और न अकेली क्रिया ही। भोजन के ज्ञान मात्र से क्षुधा की निवृत्ति नहीं होती और भोजन-ज्ञान के बिना भोजन संबंधी क्रिया का होना संभव नहीं। अतएव प्रत्येक कार्य में दोनों का होना आवश्यक है।

जीवादि नव पदार्थों को यथार्थ रूप से जानना सम्यक्-ज्ञान है। यथार्थ श्रद्धा करना सम्यक्-दर्शन है। अशुभ क्रियाओं से निवृत्त होना और शुभ क्रियाओं में प्रवृत्त होना सम्यक्-चारित्र है। विशिष्ट कर्म-निर्जरा के लिए अनशन आदि तथा स्वाध्याय आदि क्रिया करना तप कहलाता है। इन चारों के मिलने पर ही और पूर्णता होने पर ही मुक्ति प्राप्त होती है। चारों सम्मिलित होकर मोक्ष का एक मार्ग है। यह सूचित करने के लिए शास्त्रकार ने यहां 'मग्गं' एकवचनान्त पद का प्रयोग किया है।

मूलः—नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झई ॥ २० ॥

छाया:--ज्ञानेन जानाति भावान्, दर्शनेन च श्रद्धत्ते।
चारित्रेण निगृह्णाति, तपसा परिशुद्धयति ॥ २० ॥

शब्दार्थ:—आत्मा ज्ञान से जीव आदि भावों को जानता है, दर्शन से श्रद्धान करता है। चारित्र से नवीन कर्मों का आगमन रोकता है और तप से निर्जरा करता है।

भाष्य:--सम्यक्-ज्ञान आदि को मोक्षकारणता का निरूपण करके यहां उनके कार्य का व्याख्यान करते हुए उनकी उपयोगिता का वर्णन किया है।

सम्यक्ज्ञान से जीव आदि पदार्थों को आत्मा जानता है, सम्यग्दर्शन से उन पदार्थों के यथार्थ स्वरूप पर श्रद्धा करता है और चारित्र से नवीन कर्मों के आस्रव का निरोध करता है तथा तप से पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।

यहां पर भी एकान्त ज्ञान से और एकान्त चारित्र से मोक्ष मानने वालों का निरास किया गया है। एकान्त ज्ञानवादी कहते हैं--अकेला ज्ञान ही मोक्ष-साधक होता है, क्रिया नहीं। अगर क्रिया को मोक्ष का कारण माना जाय तो मिथ्याज्ञान पूर्वक की जाने वाली क्रिया से भी मोक्ष प्राप्त होना चाहिए। कहा भी है—

विज्ञप्तिः फलदा पुंसां, न क्रिया फलदा मता।
मिथ्याज्ञानात् प्रवृत्तस्य, फलाऽसंवाददर्शनात् ॥

अर्थात्:--ज्ञान ही आत्मा को फलदायक होता है, क्रिया नहीं। अगर क्रिया फलदायक होती तो मिथ्याज्ञान पूर्वक की जाने वाली क्रिया भी फलदायक-मोक्षप्रद-होती, क्योंकि वह क्रिया भी तो क्रिया ही है।

इसके विपरीत केवल क्रिया से मुक्ति मानने वाले ज्ञान को व्यर्थ बतलाते हैं। उनका कथन है:--

क्रियैव फलदा पुंसां, न ज्ञानं फलदं मतम्।
यतः स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो, न ज्ञानात् सुखितो भवेत् ॥

अर्थात्--क्रिया ही फलदायक होती है, ज्ञान फलदायक नहीं होता। स्त्री, भक्ष्य और भोग को जानने वाला पुरुष, सिर्फ जान लेने मात्र से ही सुखी नहीं हो सकता---स्त्री के ज्ञान मात्र से कोई तृप्त नहीं होता, भोजन को जान लेने से ही किसी की भूख नहीं मिटती और भोगोपभोगों का ज्ञान मात्र सन्तोष नहीं देता। अतएव ज्ञान व्यर्थ है और अकेली क्रिया ही अर्थसाधक है।

और भी कहा है:--

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्।
संचिन्त्यतामौषधमातुरं हि, न ज्ञानमात्रेण करोत्यरोगम् ॥

अर्थात्--शास्त्रों का अध्ययन करके भी लोग मूर्ख रहते हैं, दरअसल विद्वान् वह है जो क्रियावान् होता है। कोई भी औषध, चाहे कितनी ही सोची-समझी हुई हो, अकेले जान लेने से नीरोगता प्रदान नहीं करती।

इस प्रकार दोनों एकांतवादी आपस में एक-दूसरे के विरुद्ध कथन करते हैं। परन्तु दोनों ही भ्रम में हैं। वस्तुतः ज्ञान के विना क्रिया हो नहीं सकती, अगर हो भी तो विपरीत फलप्रद भी हो सकती है और क्रिया के विना ज्ञान निरुपयोगी है। अतएव मुक्ति प्राप्त करने के लिए दोनों ही परमावश्यक हैं।

मूलः—णाणस्स सव्वस्स पगासणाए,
अण्णाणमोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य संखएणं,
एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं ॥२१॥

छायाः—ज्ञानस्य सर्वस्य प्रकाशनया, अज्ञानमोहस्य विवर्जनया।
रागस्य द्वेषस्य च संक्षयेण, एकांतसौख्यं समुपैति मोक्षम्॥ २१॥

शब्दार्थः—सम्पूर्ण ज्ञान के प्रकाशित होने से, अज्ञान और मोह के छूट जाने से तथा राग और द्वेष का पूर्ण रूप से क्षय हो जाने से एकांत सुख रूप मोक्ष प्राप्त करता है।

भाष्यः—सम्पूर्ण ज्ञान अर्थात् तीन काल और तीन के समस्त पदार्थों को, उन पदार्थों की त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पर्यायों को, युगपत् स्पष्ट रूप से जानने वाले केवलज्ञान के प्रकट हो जाने से अज्ञान का सर्वथा नाश हो जाता है। अतएव अज्ञान और मोह का सर्वथा अभाव हो जाने से तथा क्रोध एवं मान रूप द्वेष तथा माया और लोभ रूप राग का क्षय होने से एकांत सुखमय मुक्ति होती है।

तात्पर्य यह है कि अज्ञान, मोह-राग, द्वेष आदि समस्त विकारों का पूर्णरूपेण क्षय होने पर ही मुक्ति प्राप्त होती है।

वैशेषिक मत वाले मुक्ति में सुख का अभाव मानते हैं। उनके मत का निराकरण 'एगंतसोक्खं' पद से हो जाता है। एकांत सुख का अर्थ है-जिस सुख में दुःख का लेश मात्र भी न हो और जिस सुख से भविष्य में दुःख की उत्पत्ति न होती हो। संसार के विषयजन्य सुख, दुःखों से व्याप्त हैं और भावी दुःखों के जनक हैं। मोक्ष का सुख आत्मिक सुख है, परम साता रूप है। अतएव मोक्ष प्राप्त होने पर ही उसका आविर्भाव होता है। वैशेषिक लोग सांसारिक सुख को ही सुख मानते हैं इस कारण उन्होंने मुक्ति में सुख का अभाव स्वीकार किया है।

शंका—अगर मोक्ष को सुख स्वरूप मानेंगे तो सुख की कामना से प्रेरित होकर योगी मोक्ष के लिए प्रवृत्ति करेंगे। ऐसी दशा में उन्हें मुक्ति प्राप्त ही न हो सकेगी, क्योंकि निष्कामभाव से साधना करने वाले योगी ही मोक्ष के अधिकारी होते हैं। अतः मोक्ष को सुखमय मानना उचित नहीं है।

समाधान—मोक्ष को सुखमय न मानने पर भी आप दुःखाभावमय मानते हैं

या नहीं ? अगर मोक्ष दुःखाभाव रूप नहीं है अर्थात् दुःखमय है तब तो वह संसार से भिन्न नहीं है फिर संसार में और मोक्ष में अंतर ही क्या रहा ? ऐसी स्थिति में कौन बुद्धिमान् पुरुष प्राप्त सुखों को त्याग करके दुःख रूप मोक्ष की प्राप्ति के लिए शीत, उष्ण, क्षुधा, पिपासा आदि के नाना कष्ट सहन करेगा ? मगर ज्ञानीजन संसार के सर्वोत्कृष्ट सुखों का त्याग करके भीषण कष्ट सहन करते हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि मोक्ष सुखमय है।

शंका--संसार में जो सुख हैं वे दुःखों से व्याप्त हैं। यहां थोड़ा-सा सुख है और बहुत दुःख है। मोक्ष में सुख नहीं है मगर दुःख भी नहीं है। दुःख से बचने के लिए थोड़े से सुख का भी त्याग करना पड़ता है, क्योंकि उस सुख का त्याग किए बिना दुःख से बचना संभव नहीं है। अतएव योगीजन सुख प्राप्त करने के लिए नहीं वरन् दुःख से बचने के लिए ही मोक्ष की प्राप्ति में प्रवृत्त होते हैं।

समाधान--दुःख से बचने की कामना भी कामना ही है। उस कामना से प्रेरित होकर प्रवृत्त होने वालों को भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होनी चाहिए।

दूसरी बात यह है कि बहुत सुख की प्राप्ति के लिए थोड़े सुख का त्याग करना तो उचित है मगर सुख का सर्वथा नाश करने के लिए थोड़े सुख का त्याग करना बुद्धिमत्ता नहीं है। जिन्हें विशेष सुख प्राप्त करने की इच्छा होती है वही दुःखमय सुख का परित्याग करते हैं। अगर मोक्ष में सुख का समूल नाश हो जाता है तो उसे प्राप्त करने के लिए क्यों प्रवृत्ति की जाय।

विषयजन्य सुखों की अभिलाषा करने वाले पुरुष विषयभोगों की प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार के सावद्य कार्य करते हैं। इस कारण वैषयिक सुखों की अभिलाषा पाप-रूप है। किन्तु मोक्षसुख की अभिलाषा करने वाले सावद्य कार्यों से विरत होते हैं अतएव मोक्ष-आकांक्षा पाप रूप नहीं है। इसके अतिरिक्त योगी जब आत्मविकास की उच्चतर स्थिति प्राप्त करता है तब उसे मुक्ति की भी आकांक्षा नहीं रहती। इस लिए मोक्ष को सुख स्वरूप मानना ही युक्तियुक्त है।

मूलः-सव्वं तओ जाणइ पासए य, अमोहणे होइ निरंतराए।
अणासवे झाणसमाहिजुत्ते, आउक्खए मोक्खमुवेइ सुद्धे ॥

छायाः-सर्वं ततो जानाति पश्यति च, अमोहनो भवति निरन्तरायः।
अनास्रवो ध्यानसमाधियुक्तः, आयुःक्षये मोक्षमुपैति शुद्धः ॥ २२ ॥

शब्दार्थः—तत्पश्चात् जीव सबको जानता है, सबको देखता है, मोह रहित हो जाता है, अन्तराय कर्म से रहित हो जाता है, आस्रव से रहित हो जाता है, शुक्लध्यान रूप समाधि में तल्लीन होता है और आयु कर्म का क्षय करके मोक्ष प्राप्त करता है।

भाष्यः--जब ज्ञान का आवरण करने वाले ज्ञानावरण कर्म का नाश होता है तब अनन्त केवलज्ञान प्रकट हो जाता है। ज्ञानावरण कर्म के क्षय के साथ ही दर्शना-

वरण कर्म का भी क्षय होता है, और उसके क्षय होने से अनन्त केवलदर्शन का आविर्भाव हो जाता है। इस प्रकार केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रकट हो जाने पर जीव संसार के समस्त पदार्थों को युगपत् साक्षात् जानने-देखने लगता है। इन्हीं के साथ अन्तराय कर्म का भी क्षय होता है और इससे अनन्तवीर्य-शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है। इन घातिक कर्मों से अन्तर्मुहूर्त पहले मोहनीयकर्म का क्षय होने से वीतराग संज्ञा प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार चार घातिक कर्मों का क्षय होते ही वीतराग जीव अनन्त चतुष्टय प्राप्त कर लेते हैं।

वीतराग दशा में जीव अनास्रव हो जाता है। यहां अनास्रव से साम्परायिक अर्थात् कषायों के निमित्त से होने वाले आस्रव का अभाव समझना चाहिए। योग-निमित्तक ईर्यापथिक आस्रव तेरहवें गुणस्थान में भी विद्यमान रहता है। किन्तु उस समय आने वाले कर्मों की न तो स्थिति होती है और न अनुभाग ही होता है। कर्मों की स्थिति और अनुभाग कषाय पर अवलंबित है और वीतराग अवस्था में कषायों का सद्भाव नहीं रहता। उस समय कर्म आते हैं और चले जाते हैं--आत्मा में बद्ध होकर ठहरते नहीं हैं।

आत्मा सर्वोत्कृष्ट शुक्लध्यान रूप समाधि में तल्लीन रहता है और शैलेशीकरण करके आयु कर्म का अन्त करके, सर्वथा निष्कर्म, निर्विकार, निरंजन, निर्लेप, निष्काम, निवारण और नीराग होकर मुक्ति प्राप्त करता है।

आयु कर्म का क्षय यहां उपलक्षण है। उससे नामकर्म, गोत्रकर्म, और वेदनीय-कर्म का भी ग्रहण करना चाहिए। यह चार अघातिक कर्म कहलाते हैं। इन सब का एक ही साथ क्षय होता है अतएव आयुकर्म के क्षय के कथन से ही इनके क्षय का भी कथन हो जाता है।

मुक्त-अवस्था ही जीव की शुद्ध-अवस्था है। जब तक जीव के प्रदेशों के साथ अन्य द्रव्य (पुद्गल) का संस्पर्श है तब तक वह अशुद्ध है। सब प्रकार के बाह्य संस्पर्श से हीन होने पर वह शुद्ध होता है।

मूलः-सुक्कमूले जहा रुक्खे, सिच्चमाणे न रोहति।
एवं कम्मा ण रोहंति, मोहणिज्जे खयं गए ॥२३॥

छायाः-शुष्कमूलो यथा वृक्षः, सिच्यमानो न रोहति।
एवं कर्माणि न रोहन्ति, मोहनीये क्षयं गते ॥ २३ ॥

शब्दार्थः—जिसकी जड़ सूख गई है वह वृक्ष सींचने पर भी हरा-भरा नहीं होता। इसी प्रकार मोहनीय कर्म के क्षीण हो जाने पर कर्मों की उत्पत्ति नहीं होती – कर्मबंध नहीं होता।

भाष्यः—पूर्व गाथा में मोक्ष-प्राप्ति का वर्णन करने के पश्चात् प्रकृत गाथा में मोक्ष की शाश्वतिकता का उदाहरणपूर्वक निरूपण किया गया है।

जैसे मूल के सूख जाने पर वृक्ष को जल से कितना ही सींचा जाय पर वह फिर हरा-भरा नहीं हो सकता, इसी प्रकार कर्मबंध के मूल कारण रूप मोहनीय कर्म का सर्वथा अभाव हो जाने पर फिर कर्म का कभी बंध नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि जो आत्मा एक वार निष्कर्म हो गया है वह फिर कालान्तर में सकर्म नहीं हो सकता।

कर्मों का प्रध्वंसाभाव होने पर सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है। प्रध्वंसाभाव सादि अनन्त होता है--वह अभाव एक वार होकर फिर मिटता नहीं है।

कर्मबंध का कारण मोहनीय कर्म है। मोहनीय कर्म रूप विकार ही आत्मा में नवीन विकार उत्पन्न करता है। पूर्वबद्ध कर्म जब उदय में आते हैं तब जीव राग-द्वेष आदि रूप विभाव रूप परिणत होता है और उस परिणति से नवीन कर्मों का बंध होता है। इस प्रकार पूर्वोपार्जित कर्म नवीन कर्मार्जन के कारण होते हैं। यह कार्य-कारण-भाव अनादिकाल से चला आता है। जब आत्मा विशिष्ट संवर के द्वारा नवीन कर्मों का आस्रव रोक देता है और विशिष्ट निर्जरा के द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करता है तो एक समय ऐसा आ जाता है जब पहले के समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं और नवीन कर्मों का आगमन नहीं होता। ऐसी अवस्था में जीव निष्कर्म हो जाता है। और फिर सदा निष्कर्म ही रहता है।

किस-किसी मत में मुक्त जीवों का फिर संसार में आगमन होना माना गया है, पर जो जीव संसार में पुनरवतीर्ण होता है वह वास्तव में मुक्त नहीं है। कहा भी है:--

> दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवति नाङ्कुरः ।
> कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुरः ॥

अर्थात्--जैसे बीज जल जाने पर उससे अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता, उसी प्रकार कर्म रूप बीज के जल जाने पर संसार रूपी अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता।

जैन धर्म की यह विशेषता है कि वह आत्मा को परमात्मा के पद पर प्रतिष्ठित करता है, जब कि अन्य धर्म परमात्मा-मुक्त पुरुष को भी आत्मा बना देते हैं! जैन धर्म चरम विकास का समर्थक और प्रगति का प्रेरक धर्म है। वह नर को नारायण तो बनाता है पर नारायण को नर नहीं बनाता। अन्य धर्मों की आराधना का फल लौकिक उत्कर्ष तक ही सीमित है, जब कि जैन धर्म की आराधना का फल परमात्म-पद की प्राप्ति में परिसमाप्त होता है, जिससे बढ़कर विकास की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

समस्त कर्मों का क्षय कर देने पर आत्मा मुक्त अर्थात् परमात्मा बन जाता है और उसकी परमात्मदशा शाश्वतिक होती है। उसका कभी अन्त नहीं होता।

मूल:-जहा दड्ढाण बीयाणं, ण जायंति पुणंकुरा ।
कम्मबीएसु, दड्ढेसु न जायंति भवंकुरा ॥ २४ ॥

छाया:—यथा दग्धानामङ्कुराणां, न जायन्ते पुनरङ्कुराः ।
कर्मबीजेषु दग्धेषु, न जायन्ते भवाङ्कुराः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ:—जैसे जले हुए बीजों से फिर अंकुर उत्पन्न नहीं होते, उसी प्रकार कर्म-रूपी बीजों के जल जाने पर भव रूप अंकुर उत्पन्न नहीं होता ।

भाष्य:—पूर्व गाथा में जिस विषय का प्रतिपादन किया गया है उसी को यहां दूसरे उदाहरण से पुष्ट किया गया है ।

जले हुए बीज अगर खेत में बो दिये जावें तो चाहे जैसी अनुकूल वर्षा होने पर भी अंकुर उत्पन्न न होंगे, क्योंकि उन बीजों में अंकुर-जनन सामर्थ्य का ही अभाव हो गया है । जब उपादान कारण ही तद्विषयक शक्ति से विकल है तब निमित्तकारण कार्य को कैसे उत्पन्न कर सकते हैं ? इसी प्रकार कर्मों रूपी बीज के जल जाने पर, जब आत्मा में भवावतार की शक्ति ही नहीं है तो फिर बाहरी कारण उसे संसार में कैसे अवतीर्ण कर सकते हैं ? अतएव कर्म-बीज के दग्ध होने पर भवांकुर उत्पन्न नहीं होता अर्थात् समस्त कर्मों का आत्यन्तिक क्षय हो जाने पर आत्मा फिर संसार में कभी अवतीर्ण नहीं होता ।

श्री गौतम उवाच—

मूल:-कहिं पडिहया सिद्धा, कहिं सिद्धा पइट्ठिया ।
कहिं बोदिं चइत्ता णं, कत्थ गंतूण सिज्झइ ? ॥२५॥

छाया:—क्व प्रतिहताः सिद्धाः, क्व सिद्धाः प्रतिष्ठिताः ।
क्व शरीरं त्यक्त्वा, कुत्र गत्वा सिद्ध्यन्ति ॥ २५ ॥

शब्दार्थ:—भगवन् ! सिद्ध भगवान् जाकर कहाँ रुक जाते हैं ? सिद्ध भगवान् कहाँ स्थित हैं ? वे कहां शरीर का त्याग करके, कहाँ जाकर सिद्ध होते हैं ?

भाष्य:—मुक्त जीवों के विषय में ऊपर जो निरूपण किया गया है, उससे उठने वाले प्रश्न सर्वसाधारण भव्य जीवों के लाभ के लिए, गौतम स्वामी सर्वज्ञ श्रीमहावीर प्रभु के समक्ष उपस्थित करते हैं ।

सिद्ध भगवान् कहाँ जाकर रुक जाते हैं ? कहाँ विराजमान रहते हैं ? कहाँ शरीर का त्याग करके सिद्ध होते हैं ? इन प्रश्नों का समाधान अगली गाथा में किया जायगा ।

इन प्रश्नों के पठन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अगर सिद्धान्त संबंधी कोई गूढ़ बात समझ में न आवे तो अपने से विशिष्ट श्रुतवेत्ता से प्रश्न करके समझ लेनी

चाहिए। शंका को हृदय में बनाये रखना उचित नहीं है। जो पुरुष शंकित-चित्त रहता है उसकी स्थिर बुद्धि नहीं रहती। बुद्धि की अस्थिरता से धर्म संयम आदि के अनुष्ठान में एकाग्र नहीं हो सकता। हाँ, शंका भी श्रद्धापूर्वक ही होनी चाहिए। श्रद्धापूर्वक शंका (प्रश्न) करने से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है और अन्तःकरण निश्शल्य बनता है।

श्री भगवान् उवाच

मूलः—अलोए पडिहया, सिद्धा, लोयग्गे अ पइट्ठिया।
इहं बोंदिं चइत्ताणं, तत्थ गंतूण सिज्झई ॥ २६ ॥

छाया:—अलोके प्रतिहताः सिद्धाः, लोकाग्रे च प्रतिष्ठिताः।
इह शरीरं त्यक्त्वा, तत्र गत्वा सिद्धयन्ति ॥ २६ ॥

शब्दार्थः—सिद्ध भगवान् अलोक में रुक जाते हैं, लोक के अग्रभाग में स्थित हैं, इस लोक में शरीर को त्याग कर लोकाग्र में जाकर सिद्ध होते हैं।

भाष्यः—पूर्व गाथा में किये हुए प्रश्नों के उत्तर प्रकृत गाथा में दिये गये हैं।

आत्मा जब समस्त कर्मों से, चौदहवें गुणस्थान के अन्त में मुक्त होता है तब उसकी ऊर्ध्वगति होती है। कर्मरहित होते ही अविग्रह गति के द्वारा एक ही समय में आत्मा लोकाकाश के अग्रभाग पर पहुँच जाता है और वहां पूर्ववर्णित सिद्धशिला पर विराजमान हो जाता है।

शंकाः—जीव की गति कर्म के अधीन है। सिद्ध जीव समस्त कर्मों से रहित हैं। न उनमें गति नामकर्म का उदय है, न विहायोगति नामकर्म का उदय है, न त्रसनामकर्म का ही उदय है। ऐसी स्थिति में उनमें ऊर्ध्वगति रूप चेष्टा किस प्रकार हो सकती है ?

समाधानः—समस्त कर्मों का क्षय होने पर जीव में एक प्रकार की लघुता आ जाती है अतएव उसकी स्वाभाविक ऊर्ध्वगति होती है। इसके अतिरिक्त सिद्ध जीव की गति में निम्नलिखित कारण हैं:—

(१) पूर्वप्रयोग—संसार में स्थित आत्मा ने मुक्ति प्राप्त करने के लिए बार-बार प्रणिधान किया था। मुक्त हो जाने पर उसके अभाव में भी पूर्व संस्कार के आवेश से ऊर्ध्वगति होती है। कुम्हार चाक को घुमाता है। जब चाक घूमने लगता है तो वह घुमाना बन्द कर देता है, फिर भी पहले के प्रयत्न से चाक घूमता रहता है। इसी प्रकार पूर्व प्रयत्न से सिद्ध जीव ऊर्ध्वगमन करते हैं।

(२) असंगता—सिद्ध जीव कर्मों के संसर्ग से रहित हो जाते हैं अतः उनका ऊर्ध्वगमन होता है। तूंबे पर मिट्टी का लेप करके उसे जल में छोड़ दिया जाय तो मिट्टी के लेप के कारण गुरुता होने से वह नीचे चला जाता है। काल-क्रम से मिट्टी अलग हो जाने पर हल्का हो जाने से तूंबा जल के ऊपर आ जाता है। इसी

प्रकार कर्मों के लेप से भारी आत्मा इस लोक में रहता है और जब कर्म-मुक्त होने पर निर्लेप होता है तब स्वभावतः ऊर्ध्वगमन करता है।

(३) बन्धविश्लेपः—जैसे बीजकोश में बंधा हुवा एरण्ड का बीज, बीजकोश से अलग होते ही ऊर्ध्वगमन करता है उसी प्रकार कर्म-बन्धन से बंधा हुआ जीव, बन्धन का विश्लेप होने पर स्वभावतः ऊर्ध्वगमन करता है।

(४) स्वाभाविकगति परिणामः—पृथक्-पृथक् पदार्थों का पृथक्-पृथक् स्वभाव होता है। जैसे वायु का स्वभाव तिर्छी गति करना है और अग्निशिखा का स्वभाव ऊपर की ओर गति करना है, इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव ऊपर की तरफ गमन करता है। उसकी गति का प्रतिबंधक कोई भी कारण जब नहीं रहता तो उसकी स्वाभाविक ऊर्ध्वगति होती है।

प्रश्नः—आपने जीव का स्वभाव ऊर्ध्वगमन बतलाया है परन्तु जीव अमूर्त्त है और अमूर्त्त पदार्थ सब निष्क्रिय होते हैं। काल, आकाश आदि जितने भी अमूर्त्त पदार्थ हैं उनमें से एक भी सक्रिय नहीं है, अतः जीव भी सक्रिय नहीं होना चाहिए। क्रिया के अभाव में ऊर्ध्वगमन कैसे करेगा ?

समाधानः—अमूर्त्त होते हुए आकाश अचेतन है, काल अचेतन है, तो क्या जीव भी अमूर्त्त होने से अचेतन माना जायगा ? नहीं। यद्यपि अमूर्त्तत्व गुण काल और आकाश के समान जीव में भी है किन्तु चेतना आत्मा का विशेष गुण है, इसी प्रकार क्रिया भी आत्मा का विशेष गुण है। जैसे आकाश में चेतना नहीं है फिर भी आत्मा में उसका सद्भाव है इसी प्रकार क्रिया आकाश में नहीं है तो भी आत्मा में हैं। ऐसा मानने में कुछ भी बाधा नहीं आती।

प्रश्नः—यदि आत्मा का गुण क्रिया है और वह ऊर्ध्वगमन करता है तो उसकी स्थिति कभी नहीं होनी चाहिए। आकाश अनन्त है उसकी कहीं समाप्ति नहीं है, सो सिद्ध जीव की गति क्रिया की भी समाप्ति नहीं होनी चाहिए। वह अनन्तकाल पर्यन्त ऊर्ध्वगति ही निरन्तर करता रहना चाहिए। सिद्ध जीव को लोक के अग्रभाग पर स्थित क्यों स्वीकार किया गया है ?

समाधानः—जीव और पुद्गल की गति का निमित्त धर्मास्तिकाय है। जैसे मछली की गति में जल सहायक होता है, रेलगाड़ी की गति में लोहे की पटरी सहायक होती है, इसी तरह जीव और पुद्गल की गति में धर्मास्तिकाय सहायक होता है। अतएव जहाँ तक धर्मास्तिकाय है वहीं तक सिद्ध जीव की गति होती है, जहाँ धर्मास्तिकाय का अभाव है वहाँ गति नहीं होती।

लोक और अलोक का नियामक धर्मास्तिकाय है। जहाँ तक धर्मास्तिकाय है, उतने आकाश को लोक कहते हैं और धर्मास्तिकाय से शून्य आकाश अलोक कहलाता है। इसी कारण सिद्ध जीव को लोक के अग्रभाग पर प्रतिष्ठित कहा गया है। तात्पर्य यह है कि जहाँ तक धर्मास्तिकाय है वहाँ तक सिद्ध जीव गति करता है, जहाँ धर्मा-

स्तिकाय का अभाव है वहीं गति का भी अभाव हो जाता है।

सिद्ध जीव यहीं बोदि* का त्याग करके लोकाग्र में जाकर सिद्ध हो जाते हैं। अनादिकाल से अब तक अनन्तानन्त जीव सिद्ध हो चुके हैं, अब भी विदेह क्षेत्र से सिद्ध होते हैं और भविष्य में भी होते रहेंगे। वे सब जीव परिमित सिद्धक्षेत्र में कैसे समा सकते हैं इसका समाधान यह है कि अमूर्त्त वस्तु के लिए अलग स्थान की आवश्यकता नहीं होती। सिद्ध भगवान् अमूर्त्त होने से एक ही स्थान में अनेक समा जाते हैं। कहा भी है:—

जत्थ य एगो सिद्धो, तत्थ अणंता भवक्खयविमुक्का।
अन्नोन्नसमोगाढा पुट्ठा सव्वे य लोगंते ॥
फुसइ अणंते सिद्धे, सव्वपएसेहिं नियमसो सिद्धा।
ते वि असंखेज्जगुणा, देसपएसेहिं जे पुट्ठा ॥

अर्थात्—जहाँ एक सिद्ध है वहीं भव-क्षय से मुक्त हुए अनन्त सिद्ध विराजमान रहते हैं। सब सिद्ध लोक के अन्तिम भाग में एक-दूसरे को अवगाहन करके स्पष्ट रूप से रहे हुए हैं।

प्रत्येक सिद्ध अपने समस्त प्रदेशों से अन्य अनन्त सिद्धों को स्पर्श करता है और जो देश-प्रदेशों से स्पृष्ट हैं वे भी उसे असंख्यात गुने हैं अर्थात् एक सिद्ध के एक-एक देश-प्रदेश से भी अनन्त सिद्धों का स्पर्श हो रहा है। इस प्रकार एक सिद्ध के असंख्यात प्रदेशों में से प्रत्येक प्रदेश के साथ अनन्त सिद्धों का स्पर्श है।

जैसे एक ज्ञेय पदार्थ में अनेक ज्ञानों का समावेश हो जाता है, एक ही रूप में अनेक दृष्टियों का समावेश हो जाता है, एक ही आकाश के प्रदेश में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय पुद्गल आदि अनेक का समावेश हो जाता है, इसी प्रकार एक सिद्ध की अवगाहना रूप प्रदेश में अनन्त सिद्धों का समावेश हो जाता है।

व्यवहारनय की अपेक्षा यहीं सिद्धि प्राप्त होती है, क्योंकि सिद्धि का कारण सम्यक्त्व आदि यहीं है, निश्चयनय की अपेक्षा सिद्धि क्षेत्र में जाने पर सिद्धि प्राप्त होती है।

शरीर का तीसरा भाग पोला है, जब उसे जीव अपने प्रदेशों से पूर्ण करता है तो आत्मप्रदेशों की अवगाहना तृतीय भाग न्यून हो जाती है। इसी कारण सिद्ध जीव की अवगाहना उनके शरीर से तीसरा भाग न्यून कही गई है। अवगाहना की यह न्यूनता योगनिरोध के समय ही हो जाती है।

---

* यहां शरीर के अर्थ में 'बोदि' शब्द का प्रयोग किया गया है। यही शब्द अंग्रेजी भाषा में 'बोडी' (Body) रूप से इसी अर्थ में प्रचलित है। भाषाशास्त्र की दृष्टि से यह महत्त्व की बात है। इससे पौर्वात्य एवं पाश्चात्य भाषाओं के एक आदि स्रोत का समर्थन होता है।

इस प्रकार अपने अन्तिम शरीर से तृतीय भाग न्यून अवगाहना से युक्त सिद्ध भगवान् ऊर्ध्वगति करके, लोक के ऊर्ध्वभाग में विराजमान हो जाते हैं और अनिर्वचनीय अनुपम अद्‌भुत, अनन्त और असीम आनन्द का अनुभव करते हुए सर्व काल वहीं विराजमान रहते हैं।

मूल:-अरूविणो जीवघणा, नाणदंसणसन्निया।
अउलं सुह संपन्ना, उवमा जस्स नत्थि उ ॥ २७ ॥

छाया:—अरूपिणो जीवघनाः, ज्ञानदर्शनसंज्ञिताः।
अतुलं सुखं सम्पन्नाः, उपमा यस्य नास्ति तु ॥ २७ ॥

शब्दार्थ:—सिद्ध भगवान् अरूपी हैं, जीवघन रूप हैं, ज्ञान और दर्शन रूप हैं, अतुल सुख से सम्पन्न हैं, जिसकी उपमा भी नहीं दी जा सकती।

भाष्य:—सिद्ध भगवान की स्थिति आदि का वर्णन करने के पश्चात् उनके सुख आदि का यहां वर्णन किया गया है।

आत्मा स्वभावतः अरूपी है किन्तु नाम कर्म के अनादिकालीन संयोग के कारण वह रूपी हो रहा है। रूपी होना आत्मा का स्वभाव नहीं, विभाव है। यह विभाव-परिणति तभी तक रहती है जब तक उसका कारण विद्यमान रहता है। विभाव-परिणति के कारण का अभाव होने पर विभाव परिणति का भी अभाव हो जाता है। इस विभावपरिणति का कारण कार्माण पुद्‌गलों का संयोग जब नष्ट हो जाता है तब आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में आ जाता है। अरूपीपन या अमूर्त्तिकता ही आत्मा का असली स्वभाव है, अतएव कर्मों का नाश होने पर सिद्ध भगवान् अरूपी हो जाते हैं।

सिद्ध भगवान् के आत्मप्रदेश सघन हो जाते हैं क्योंकि शरीर संबंधी पोल को वे परिपूर्ण कर देते हैं और इसी कारण उनकी अवगाहना शरीर से त्रिभाग न्यून होती है।

सिद्ध भगवान् ज्ञान-दर्शन-स्वरूप हैं। तात्पर्य यह है कि आत्मा का स्वभाव उपयोग है। तत्त्वार्थसूत्र में कहा भी है—'उपयोगो लक्षणम्' अर्थात् आत्मा का लक्षण या असाधारण धर्म उपयोग है। उपयोग का अर्थ है-ज्ञान और दर्शन। सिद्ध भगवान् आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं, इसका अर्थ यही हुआ कि वे शुद्ध ज्ञान-दर्शन-स्वरूपता प्राप्त कर लेते हैं। अतएव ज्ञान-दर्शन-रूप से ही उनका कथन किया जा सकता है।

सिद्ध भगवान् अतुल सुख से सम्पन्न हैं। अतुल का अर्थ है-जिसकी तुलना, किसी से नहीं हो सकती, जो अनुपम है। सिद्ध भगवान् को जो सुख प्राप्त है उसकी तुलना संसार के किसी भी सुख से नहीं हो सकती।

कुछ लोगों का खयाल है कि मुक्त अवस्था में इन्द्रियों का अभाव होने के

कारण सुख का संवेदन नहीं हो सकता। उनके विचार से अनुकूल स्पर्श, रस, गंध रूप और शब्द की प्राप्ति ही सुख है। जहां इन्द्रियों नहीं, इन्द्रियों के विषय का भोग नहीं, भोग का आधार शरीर नहीं, वहां सुख कैसा? अतएव सिद्ध-अवस्था में सुख का सद्भाव नहीं हो सकता।

वास्तविक बात यह है कि मोक्षसुख किसी संसारी जीव को प्राप्त नहीं होता अतएव वे उसकी कल्पना ही नहीं कर सकते। वह मुक्त जीवों को ही प्राप्त होता है, परन्तु मुक्त जीव उस सुख का वर्णन करने नहीं आते। यही कारण है कि इन्द्रियजन्य सुख के अभ्यासी लोग वास्तविक सुख की कल्पना न कर सकने के कारण मोक्ष-सुख के सद्भाव को ही स्वीकार नहीं करते।

संसारी जीव जिस सुख को सुख मानता है वह वास्तव में सुख नहीं, सुखाभास है। दुःख का कारण होने से उसे दुःख विशेष कहना चाहिए। प्रथम तो उस सुख को प्राप्त करने के लिए अनेक दुःख सहने पड़ते हैं, फिर भी वह मिलता नहीं। अगर पुण्य के उदय से मिल जाता है तो स्थायी नहीं रहता। वह सुख अपना बीते हुए सुखों की दुःखप्रद स्मृति शेष रख कर विलीन हो जाता है और घोर संताप का पात्र बना जाता है। अगर ऐसा न हुआ तो भोगे हुए सुख का बदला परलोक में व्याज समेत चुकाना पड़ता है।

कुत्ता सूखी हड्डी चबाता है और अपने ही दांतों से निकलने वाले रुधिर का आस्वादन करके सुख का अनुभव करता है। खुजली रोग वाला शरीर खुजाते समय ऐसा समझता है मानों स्वर्ग ऊपर से नीचे उतर आया है, पर कुछ ही क्षण बीतने के बाद उसे वास्तविकता का परिज्ञान होता है। इन उदाहरणों में जैसे दुखः को सुख मानने की भ्रान्ति प्रदर्शित की गई वैसी ही भ्रान्ति इन्द्रियजन्य सुख को सुख मानने वालों को हो रही है।

सच्चा सुख वह है जो दूसरे किसी भी पदार्थ पर निर्भर नहीं होता, जो काल से सीमित नहीं है, जो परिमाण से सीमित नहीं है और जो भविष्य में दुःख का कारण नहीं है। सिद्धों का सुख ऐसा ही सुख है। वह इन्द्रियों या उनके विषयों पर अवलंबित नहीं है, काल उसका अन्त नहीं कर सकता, उसकी मात्रा अनन्त है, उसमें दुःखजनकता नहीं है। अतएव वही वास्तविक सुख है।

किसी के हृदय में एक कामना उत्पन्न हुई। वह उसकी पूर्त्ति के लिए निरन्तर उद्योग करता है। नाना प्रकार की आपदाएं सहन करता है-भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि के भयंकर कष्टों को सहन कर अपनी उत्कट कामना को परिपूर्ण करता है। इस प्रकार विविध कष्टों को सहने के बाद जब कामना की पूर्ति होती है तब वह सुख का अनुभव करता है।

दूसरा व्यक्ति वह है जिसके अन्तःकरण में उस प्रकार की कामना ही जागृत नहीं है और वह तद्विपयक संतोष का सुख भोग रहा है। अब विचार किजिए दोनों में अधिक सुखी कौन है?

वस्तुतः कामना की पूर्ति से उत्पन्न होने वाला सुख वैसा ही है जैसे किसी रोगी को रोग मिट जाने पर होता है। कामना की अनुत्पत्ति से होने वाला सुख पहले से ही स्वस्थ रहने वाले पुरुष के सुख के समान है। जो लोग कामनाओं के अभाव से सुख की कल्पना नहीं करते और सिर्फ कामना-पूर्तिजन्य सुख को ही स्वीकार करते हैं, उनके मन से स्वस्थता का सुख, सुख नहीं है, वे तो बीमारी होने के पश्चात् उसके मिटने पर ही सुख का सद्भाव स्वीकार करेंगे! यह कैसी विपरीत बुद्धि है।

कामनाओं से ही दुःख की सृष्टि होती है। ज्यों-ज्यों कामनाएँ न्यून से न्यूनतर होती जाती हैं त्यों-त्यों सुख अधिक से अधिकतर होता जाता है। इस प्रकार काम-नाओं के अपकर्ष पर सुख का उत्कर्ष निर्भर है। जब कामनाएँ पूर्ण रूप से नष्ट हो जाती हैं तब सुख पूर्ण रूप से प्रकाशमान होता है। कामनाओं के अभाव में योगी-जनों को निराकुलताजन्य जो अद्भुत आनन्द उपलब्ध होता है, वह संसार के बड़े से बड़े चक्रवर्त्ती को भी नसीब नहीं हो सकता। अगर चक्रवर्त्ती को विषयभोगों में उस सुख की उपलब्धि होती तो वे अपने विशाल साम्राज्य को ठुकराकर अनगार तपस्वी क्यों बनते ?

जैसे ज्ञान और दर्शन आत्मा का स्वरूप है, इसी प्रकार सुख भी आत्मा का स्वाभाविक धर्म है। इन्द्रियजन्य सुख उस सुख गुण का विकार है और यह सुख सातावेदनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होता है। सातावेदनीय कर्म का आत्यन्तिक क्षय हो जाने पर स्वाभाविक सुख की अभिव्यक्ति होती है। वह सुख मुक्ति में ही प्राप्त होता है।

वैशेषिक दर्शन के अनुयायी सुख को आत्मा का स्वभाव नहीं मानते। उनके मत में सुख अलग वस्तु है और वह आत्मा में समवाय संबंध से रहता है। मोक्ष-अवस्था में सुख का सर्वथा नाश हो जाता है। यह मान्यता विचार करने से खंडित हो जाती है। सुख स्वतंत्र पदार्थ है, वह आत्मा का धर्म नहीं है, इस अभिमत की सिद्धि में कोई भी संतोषजनक प्रमाण नहीं दिया जा सकता। जैसे घट आदि पदार्थों में 'यह घट है' ऐस प्रतीति होती है, और इस प्रतीति से घट का स्वतन्त्र अस्तित्व प्रतीत होता है, उस प्रकार 'यह सुख है' ऐसी प्रतीति कभी नहीं होती है। 'मैं सुखी हूँ' इसी प्रकार का बोध अवश्य होता है और उससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा ही सुख-स्वरूप है।

इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि सिद्ध भगवान् को अनन्त, अचिन्त्य, और असीम परमान्द प्राप्त होता है। वह सुख अतुल है। संसार के किसी भी सुख से उसकी तुलना नहीं हो सकती। उस सहज सुख को समझाने के लिए संसार में कोई उपमा नहीं है—वह अनुपम है, अनुत्तर है।

मूलः—एवं से उदाहु अणुत्तरणाणी,
अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसणधरे ।
अरहा नायपुत्ते भयवं,
वेसालिए विआहिए त्ति वेमि ॥ २८ ॥

छाया—एवं स उदाहृतवान् अनुत्तरज्ञानी अनुत्तरदर्शी अनुत्तरज्ञानदर्शनधरः ।
अर्हन् ज्ञातपुत्रः भगवान्, वैशालिको विख्यातः । इति ब्रवीमि ॥ २८ ॥

शब्दार्थः—उत्तम ज्ञानी, उत्तम दर्शनी तथा उत्तम ज्ञान-दर्शन के धारक, अर्हन्, ज्ञातपुत्र भगवान् वैशालिक ने अपने शिष्यों से इस प्रकार कहा है ।

भाष्यः—निर्ग्रन्थप्रवचन सुधर्मा स्वामी ने अपने शिष्य जम्बू स्वामी आदि के समक्ष प्रतिपादन किया है। मगर यह निर्ग्रन्थप्रवचन उनका स्वरुचिविरचित नहीं है—उन्होंने अपनी इच्छा से इसका आविष्कार नहीं किया है । ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर स्वामी ने गौतम आदि शिष्यों को जिस प्रवचन का उपदेश दिया था वही प्रवचन श्री सुधर्मा स्वामी ने अपने शिष्यों के समक्ष निरूपण किया है ।

प्रथम तो इस निर्ग्रन्थ-प्रवचन की प्रामाणिकता इसी से प्रमाणित है कि इसके मूल उपदेशक भगवान् महावीर स्वामी हैं। फिर भी उसमें विशेषता बताने के लिए भगवान् के अनेक विशेषणों का कथन किया गया है । भगवान् अनुत्तर अर्थात् सर्वोत्कृष्ट ज्ञान से सम्पन्न हैं, सर्वोत्कृष्ट दर्शन से सम्पन्न हैं और सर्वोत्कृष्ट ज्ञान-दर्शन से सम्पन्न हैं । तात्पर्य यह है कि वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं । सर्वज्ञ और सर्वदर्शी के वचनों में किसी प्रकार का विसंवाद नहीं होता । उनकी सत्यता असंदिग्ध होती है अतएव निर्ग्रन्थप्रवचन संशय से परे हैं, प्रमाणभूत है ।

यहां 'अणुत्तरनाणी' और 'अणुत्तरदंसी' इन विशेषणों के बाद फिर 'अणुत्तरनाणदंसणधरे' कहा गया है सो बौद्धमत का निराकरण करके जीव को ज्ञानाधार रूप सिद्ध करने के लिए है ।

इन्द्र आदि देवों के द्वारा भी पूज्यनीय होने के कारण भगवान् अर्हन् कहलाते हैं । अन्य मत में इन्द्र ही पूजनीय माना गया है और वेदों के अनुसार वही सब से बड़ा देव है, मगर सर्वज्ञ भगवान् महावीर को वह भी पूजनीय मानता है । अतएव भगवान् देवाधिदेव हैं, यह बात 'अर्हन्' विशेषण से ध्वनित की गई है ।

भगवान् महावीर स्वामी ज्ञात (णाय) वंश में उत्पन्न हुए थे अतएव वे ज्ञातपुत्र (नायपुत्त) नाम से भी प्रसिद्ध हैं। उन्होंने विशाला नगरी में निर्ग्रन्थ प्रवचन का उपदेश दिया था अतएव वे वैशालिक नाम से भी प्रसिद्ध हैं । हा भी है:—

विशाला जननी यस्य, विशालं कुलमेव च ।
विशालं वचनं चास्य, तेन वैशालिको जिनः ॥

अर्थात्--श्री महावीर भगवान् की माता विशाला थी, उनका कुल भी विशाल था और उनका प्रवचन भी विशाल था, अतः वे 'वैशालिक' जिन इस संज्ञा से प्रसिद्ध हैं।

वैशालिक शब्द से ऋषभदेव भगवान् का भी ग्रहण होता है, क्योंकि उनका कुल भी विशाल था। उनका अर्थ बोध होने से यह निष्कर्ष निकलता है कि निर्ग्रन्थ-प्रवचन आद्य तीर्थंकर ने भी इसी रूप में निरूपित किया था। अर्थात् भगवान् ऋषभदेव द्वारा उपदिष्ट वस्तुरूप ही भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट हुआ है। तीर्थंकरों का उपदेश एक दूसरे से विलक्षण नहीं होता। सत्य सदा एक रूप रहता है, अतएव उसका स्वरूप-कथन भी एक रूप ही हो सकता है। इस प्रकार यह निर्गन्थ प्रवचन सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अर्हन् वैशालिक भगवान् द्वारा उपदिष्ट हुआ है। इसका अध्ययन करना परम मंगल रूप है।

'त्ति बेमि' अर्थात् 'इति ब्रवीमि' यह वाक्य प्रायः प्रत्येक अध्ययन और प्रत्येक शास्त्र के अन्त में प्रयुक्त होता है। इसका अभिप्राय यह है कि श्रीसुधर्मा स्वामी, श्रीजम्बू स्वामी से कहते हैं—हे जम्बू, हे अन्तेवासी, मैं जिस तत्त्व का कथन करता हूँ, उसका श्रेय मुझे नहीं, भगवान् महावीर को है क्योंकि जैसा उन्होंने कहा है वैसा ही मैं तुम्हें कहता हूँ। यह तत्त्वनिरूपण मेरी कल्पना नहीं है, यह सर्वज्ञ भगवान् के अनुत्तर ज्ञान में प्रतिबिम्बित हुआ सत्य वस्तुस्वरूप है।